डॉ. जी. डी. तिवारी

पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास

प्लेटो से मार्क्स

प्रस्तावना

पाश्चात्य जगत में क्रमबद्ध राजनीतिक चिन्तन का श्रीगणेश ग्रीस में हुआ। ईसा की चौथी-पाँचवी शताब्दी पूर्व ग्रीस को सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तू की विद्वत्‌त्रयी उत्पन्न करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। सुकरात तथा उससे पूर्व के ग्रीक विद्वानों के राजनीतिक विचारों में क्रमबद्धता का अभाव है। परन्तु सुकरात के शिष्य प्लेटो ने अपनी अमर रचनाओं द्वारा सुकरात के विचारों को भी अमर बनाया और साथ ही राजनीतिक चिन्तन को भी क्रमबद्ध दर्शन का रूप प्रदान किया। उस के शिष्य अरस्तू ने राजनीतिक चिन्तन को वैज्ञानिक एवं शास्त्रीय बनाया। इनके पश्चात् विविध ऐतिहासिक युगों में जो भी चिन्तक हुए हैं और उन्होंने समय-समय पर राजनीतिक समस्याओं के सम्बन्ध में जिन ग्रन्थों की रचना की या जो विचार रखे, वही सब पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन के इतिहास की सामग्री हैं और इस साहित्य के विकास का अपना अलग इतिहास है, जिसे हम 'पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास' कहते हैं।

पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन के इतिहास को मुख्यतया निम्नांकित पाँच युगों मे विभक्त किया जा अकता है : (1) ग्रीक युग, (2) रोमन युग, (3) मध्य युग, (4) राष्ट्रीय राजतन्त्रों के विकास का युग, तथा (5) आधुनिक युग। प्रस्तुत पुस्तक में उपर्युक्त युगों में उत्पन्न हुए चिन्तकों के विचारों में से 'प्लेटो से मार्क्स तक' की अवधि के राजनीतिक चिन्तन का विवेचन किया गया है।

भारतीय विश्वविद्यालयों की स्नातकोत्तर एवं आनर्स कक्षाओं में राजनीतिशास्त्र विषय के अन्तर्गत पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन के इतिहास का अध्ययन अनिवार्य है। अधिकांश विश्वविद्यालयों में हिन्दी के माध्यम से राजनीतिशास्त्र की शिक्षा प्राप्त करने की लोकप्रियता बढ़ती जा रही है। परन्तु उक्त विषय पर मूल रूप से हिन्दी भाषा में लिखी गई पुस्तकों का अभी अभाव ही है। इस कारण हिन्दी भाषा के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने वाले भारतीय छात्रों की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए इस पुस्तक की रचना की गई है। पुस्तक में इस बात का निरन्तर प्रयास किया गया है कि मूल चिन्तकों के विचारों तथा धारणाओं को पर्याप्त स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया जाये।

प्रस्तुत संस्करण में पाठकों एवं प्राध्यापकों के द्वारा दिये गये सुझावों को दृष्टिगत रखते हुए अपेक्षित परिवर्तन किया है। आशा है, इससे पुस्तक अधिक उपयोगी सिद्ध होगी।

—गंगादत्त तिवारी

विषय-सूची

पहला अध्याय

पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन की जन्मभूमि—ग्रीस

राजनीतिक चिन्तन का आरम्भ

यह बताना सरल नहीं है कि राजनीतिक चिन्तन का आरम्भ कब और कहाँ से हुआ। प्रारम्भ में जब मानव एकाकी तथा असामाजिक जीवन व्यतीत करता रहा होगा तो राजनीतिक चिन्तन का प्रश्न ही नहीं था। उस अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति स्वयं शासक तथा शासित था। उसका विवेक या संवेग ही उसका कानून था। राजनीति की उत्पत्ति तभी हुई जब मानव संगठित होकर राजनीतिक समाज में रहने लगे और राज्य की स्थापना की गयी होगी। जब राज्य है, तभी राजनीति है क्योंकि राजनीति राज्य की समस्याओं का ही अध्ययन तथा विवेचन है। मनुष्य एकाकी तथा असामाजिक स्थिति में कब तक रहे और कब तथा किस प्रकार समाज में प्रविष्ट हुए, इसका विवेचन करना समाजशास्त्र का विषय-क्षेत्र है। जब मनुष्य समाज के रूप में संगठित होने लगे तभी से किसी न किसी रूप में सत्ता की धारणा आरम्भ हुई होगी। चाहे आरम्भिक समाज परिवार के रूप में उत्पन्न हुआ हो अथवा कबाइली जन-समूह के रूप मे, ज्यों ही सामूहिक जीवन का श्रीगणेश हुआ त्यों ही सत्ता, कानून, अधिकार, शासन आदि की धारणाओं की भी उत्पत्ति होती गयी। सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव का सामाजिक जीवन भी जटिल होता गया। परिणामस्वरूप मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्धों, व्यक्तिगत तथा सामाजिक समस्याओं एवं जीवन की विविध आवश्यकताओं में भी जटिलता आती गयी। इनके समाधान के लिए सामाजिक संगठनों का स्वरूप भी जटिल होता गया। मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है, अतः उसने संगठन तथा सत्ता की आवश्यकता को समझा। आरम्भिक सामाजिक संगठन राजनीतिक संगठनों अर्थात् राज्य के रूप में कब, कहाँ और किस रूप में परिणत हुए यह भी हमारे प्रस्तुत अध्ययन के क्षेत्र से बाहर है। यहाँ पर हम इतना ही मान लेना आवश्यक समझते हैं कि संसार के विविध भागों में ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता गया, त्यों-त्यों किसी न किसी रूप में सामाजिक संगठनों की समस्याओं को हल करने के सम्बन्ध में चिन्तन होता गया और जब सामाजिक संगठनों का स्वरूप राजनीतिक संगठनों के रूप में परिवर्तित होता गया, तो धीरे-धीरे राजनीतिक चिन्तन भी विकसित होता गया।

स्वतन्त्र रूप से क्रमबद्ध राजनीतिक चिन्तन की परम्परा

यद्यपि क्रमबद्ध राजनीतिक चिन्तन का साहित्य हमें सर्वाधिक मात्रा में यूरोप में प्राप्त हुआ है, तथापि ज्ञान के अन्यान्य विविध क्षेत्रों में यूरोप पूर्व के देशों—भारत, मिस्र, चीन, मेसोपोटामिया आदि—का ऋणी है। सभ्यता का विकास सर्व-

प्रथम इन्हीं देशों में हुआ, यहाँ की राजनीतिक संस्थाएँ भी यूरोप की अपेक्षा प्राचीनतर हैं। परन्तु पूर्व के इन देशों में यूरोपीय देशों की अपेक्षा विशुद्ध रूप से राजनीतिक समस्याओं का अध्ययन करने और उनका शास्त्रीय आधार पर विवेचन करके राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने की प्रवृत्ति कम रही। उनका दार्शनिक चिन्तन ज्ञान के अन्यान्य क्षेत्रों—धर्म, आध्यात्मिकता, कला, साहित्य आदि—की ओर अधिक प्रवृत्त था। राजनीतिक समस्याओं तथा धारणाओं के बारे में इन अन्यान्य विषयों के अन्तर्गत ही विवेचन किया जाता रहा। उदाहरण के लिए, भारत में वेद, संहिताएँ, महाकाव्य, स्मृतियों आदि की विवेच्य वस्तु सम्पूर्ण मानव-दर्शन है, जिनके अन्तर्गत राजनीति भी आ जाती है। इन महान् ग्रन्थों में यत्र-तत्र राजनीतिक विचार भी मिलते हैं। यूरोप में सभ्यता का विकास ग्रीस तथा रोम से प्रारम्भ हुआ। ग्रीस में राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान एथेंस का है। मैक्सी ने कहा है, 'राजनीतिक विचारों के इतिहास में एथेंस का स्थान अद्वितीय है। बैंजनी ताज के इस अतुलनीय नगर से संसार के सर्वप्रथम क्रमबद्ध राजनीतिक दर्शन का सूत्रपात हुआ और साथ ही संसार के सर्वाधिक गत्यात्मक तथा स्थायी रूप से रहने वाले महत्त्वपूर्ण राजनीतिक विचारों का भी।'[1] यद्यपि हैलेनिक ग्रीस की सभ्यता, संस्कृति, कला, व्यापार तथा शासनिक संस्थाएँ यूरोप, एशिया तथा अफ्रीका के विभिन्न भागों में फैलीं, तथापि वहाँ का राजनीतिक दर्शन पूर्णतया एथेंस में ही प्रस्फुटित हुआ। 'राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में एथेंस का मस्तिष्क न केवल ग्रीस के मस्तिष्कों के मध्य श्रेष्ठतम था, अपितु उसे सम्पूर्ण प्राचीन जगत में श्रेष्ठतम बताया जा सकता है तथा यह भी कहा जा सकता है कि वह समस्त युगों से श्रेष्ठतम सिद्ध हुआ है।'

ग्रीस के तीन महान् दार्शनिक—सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तू—जिनका नाम यूरोपीय राजनीतिक चिन्तन में अग्रणी है, एथेंस में ही उत्पन्न हुए थे अथवा एथेंस में ही उन्होंने अपने राजनीतिक विचारों का विकास तथा प्रकाशन किया था। इनमें से सुकरात ने कोई ग्रन्थ नहीं लिखा, परन्तु उसके समस्त विचार उसके शिष्य प्लेटो ने अपनी रचनाओं द्वारा व्यक्त किये हैं। प्लेटो तथा अरस्तू के ग्रन्थ राजनीतिक चिन्तन की अद्वितीय रचनाएँ हैं। इन रचनाओं में जो विचारधाराएँ तथा चिन्तन पद्धतियाँ इन महापुरुषों द्वारा प्रस्तुत की गयीं उन्होंने सदियों तक के भावी राजनीतिक चिन्तकों के विचारों को प्रभावित किया है।

प्राचीन ग्रीस की राजनीतिक संस्थाएँ

ग्रीक नगर-राज्य—राजनीतिशास्त्र एवं राजनीतिक चिन्तन की परम्परा के सृष्टा इन दोनों महान् दार्शनिकों के विचारों को समझने के लिए हमें सर्वप्रथम तत्कालीन ग्रीस की राजनीतिक संस्थाओं, परम्पराओं तथा व्यवहारों का ज्ञान करना आवश्यक है, क्योंकि किसी भी युग तथा स्थान-विशेष का राजनीतिक चिन्तन उस युग तथा स्थान की राजनीतिक संस्थाओं, परम्पराओं तथा आदर्शों के सन्दर्भ में ही किया जाता है। गैटल ने कहा है, 'यद्यपि ग्रीक राजनीतिक चिन्तन राजनीतिक

[1] 'In the history of political ideas, the place of Athens is unique. From this incomparable city of violet crown emanated the world's first systematic political philosophies, and also many of the world's most dynamic and permanently vital political ideas.' —C. C. Maxey, *Political Philosophies*, 1950, 26.

जीवन के सार्वभौम सिद्धान्तों की रूपरेखा प्रस्तुत करता है, तथापि वह मुख्यत: उन्हीं संस्थाओं के द्वारा निर्धारित हुआ है जिनके अन्तर्गत वह विकसित हुआ था।'[1] ग्रीस भूमध्य सागर के एक प्रायद्वीप में बसा देश है, जिसके अनेक भाग कटे-फटे समुद्रतट से घिरे हैं अथवा छोटे-छोटे द्वीपों के रूप में हैं। देश की भूमि छोटी-छोटी पहाड़ियों से घिरी है। इन पहाड़ियों के बीच अनेक उपजाऊ घाटियों में ईसवी सदी से लगभग सात-आठ सौ वर्ष पूर्व ग्रीक सभ्यता पर्याप्त मात्रा में विकसित हो चुकी थी। सैकड़ों जन-समूह भिन्न-भिन्न घाटियों में स्वतन्त्र तथा आत्म-निर्भर जीवन व्यतीत करते थे। यातायात की सुविधाओं के अभाव में ये जन-समूह एक-दूसरे से पृथक् स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करते थे। परन्तु बहुधा पड़ौसी जन-समूहों के मध्य संघर्ष तथा प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति भी बनी रहती थी। राजनीतिक दृष्टि से ही विभिन्न जन-समूह एक-दूसरे से स्वतन्त्र राजनीतिक अस्तित्व रखते थे, जिन्हें नगर-राज्यों के नाम से जाना जाता था। पूर्व के देशों की भाँति ग्रीस एक विशाल साम्राज्य के रूप में विकसित नहीं हो पाया। प्रत्युत् इन जन-समूहों ने अपने पृथक् नगर-राज्यों के रूप में ही अपने राजनीतिक संगठन कायम किये। नगर-राज्य ग्रामीण तथा शहरी दोनों प्रकार की जनता का सम्मिश्रण था। बहुधा, नगर सम्पूर्ण आबादी के केन्द्र में एक सुरक्षित स्थल होता था, जो सम्पूर्ण जन-समूह का सामूहिक मिलन-स्थल अथवा राजधानी हुआ करता था। नगर-निवासी ग्रामवासियों से पृथक् नहीं माने जाते थे, बल्कि वे समय-समय पर ग्रामों में भी निवास करते, कृषि-कार्य में भाग लेते तथा वहाँ के लोगों के जीवन में घुले-मिले रहते थे। इसी प्रकार ग्रामवासी भी नगर में व्यापार-व्यवसाय तथा अपनी सामूहिक समस्याओं के समाधान हेतु एकत्र होते थे। सम्पूर्ण जन-समूह एक नगर-राज्य का निर्माण करता था।

ग्रीक नगर-राज्य और सामाजिक वर्ग—चूँकि पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का प्रारम्भ ग्रीक नगर-राज्यों से हुआ है, अत: इन नगर-राज्यों की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति तथा इनके प्रतिद्वन्द्वी नगर-राज्यों की स्थिति का ज्ञान करना समुचित होगा। ग्रीक नगर-राज्यों की एक बड़ी विशेषता यह थी कि ज़हाँ एक नगर-राज्य दूसरे से बिल्कुल पृथक् तथा आत्म-निर्भर था, वहाँ एक नगर-राज्य की जनता में वास्तविक सामुदायिकता की भावना थी। सबके सामुदायिक हित समान रूप के थे। राज्य का प्रत्येक नागरिक राजनीतिक कार्य-कलापों में भाग लेता था। धार्मिक उत्सव सामूहिक रूप से मनाये जाते थे; जनता के सामाजिक, आर्थिक, नैतिक एवं राजनीतिक हित सम्पूर्ण समाज के हित माने जाते थे, यहाँ तक कि व्यक्ति अपनी आजीविका के लिए राज्य पर अधिक निर्भर रहता था। इस प्रकार जैसा सैबाइन ने कहा है, 'ग्रीक के लिए नगर सामूहिकता का जीवन था; इसका संविधान एक जीवन-प्रक्रिया थी, न कि एक कानूनी संरचना, और इसके परिणामस्वरूप समस्त ग्रीक राजनीतिक विचारधाराओं का मूलभूत चिन्तन भी इस सामूहिक जीवन की एकरूपता था।'[2] ये नगर-राज्य आकार तथा जनसंख्या की दृष्टि से बहुत छोटे थे।

[1] 'Greek political thought, while outlining universal principles of political life, was determined primarily by the institutions within which it developed.' —R. G. Gettell, *History of Political Thought*, 1924, 36.

[2] 'For the Greek...the city was a life in common ; its constitution...was a 'mode of life' rather than a legal structure ; and consequently the fundamental thought in all Greek political theory was the harmony of this common life.' —G. H. Sabine, *A History of Political Theory*, 1948, 25.

एथेंस का क्षेत्रफल 1000 वर्ग मील से कुछ ही अधिक रहा होगा। उसकी जनसंख्या भी तीन-चार लाख के मध्य थी।[1] यह जनसंख्या तीन सामाजिक वर्गों में विभाजित थी जो राजनीतिक तथा कानूनी दृष्टियों से एक-दूसरे से भिन्न स्थिति रखते थे। इनमें से प्रथम वर्ग एथेंस के जन्मजात नागरिकों का था। नागरिकता का अर्थ नगर-राज्य के शासन सम्बन्धी कार्यकलापों में भाग लेना माना जाता था। शासन में भाग लेने की मात्रा शासन-प्रणाली पर निर्भर थी जो सभा में भाग लेने, प्रशासनिक तथा न्यायिक कार्यों में भाग लेने आदि के रूप में होती थी। यह माना जाता था कि नागरिक के लिए सक्रिय रूप से राज्य के कार्य-कलापों में भाग लेना आवश्यक है। इस वर्ग में सम्पूर्ण राज्य की जनसंख्या का बहुत छोटा-सा भाग शामिल था। इस वर्ग के लोग भू-सम्पत्ति के मालिक अथवा कृषि अर्थव्यवस्था से सम्बद्ध थे। दूसरा वर्ग निवासी-विदेशियों (metics or resident foreigners) का था। ये लोग मुख्यत: व्यापार-व्यवसाय का कार्य करते थे। कभी-कभी उन्हें नागरिकता के अधिकार भी प्राप्त हो जाते थे। परन्तु बहुधा वे कई पीढ़ियों तक भी नागरिक हो ही नहीं पाते थे। अत: इस वर्ग के लोग नगर-राज्य के राजनीतिक जीवन में भाग नहीं लेते थे। तीसरा वर्ग दासों का था। यह वर्ग कुल जनसंख्या के एक तिहाई भाग का निर्माण करता था। उस युग में दास-प्रथा बहुत अधिक प्रचलित थी। इसके समर्थन तथा विरोध दोनों के सम्बन्ध मे धारणाएँ व्यक्त की जाती रहीं। परन्तु व्यवहार में यह प्रथा चलती रही। कृषि अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक नागरिक को दास रखने की आवश्यकता पड़ती थी, ताकि उसे नागरिक कार्यों का सम्पादन करने के लिए यथोचित समय तथा आराम मिल सके। यह दास वर्ग नागरिकता सम्बन्धी अधिकारों तथा कर्तव्यों से वंचित था। परन्तु उस युग के एथेंस के दास की स्थिति 19वीं सदी के अमरीकी दासों से उच्चतर थी। वह मालिक की सम्पत्ति माना जाता था, परन्तु मालिक उसके साथ क्रूर व्यवहार नहीं कर सकता था। कुशल दास कभी-कभी राज्य के छोटे-छोटे पदों पर नियुक्त भी किये जाते थे।

स्पार्टा का नगर-राज्य—एथेंस की भाँति उस युग का एक प्रमुख नगर-राज्य स्पार्टा था जिसे एथेंस का प्रतिद्वन्द्वी भी कहा जा सकता है। ग्रीस के इन तत्कालीन नगर-राज्यों में भिन्न-भिन्न प्रकार की शासन-प्रणालियाँ प्रचलित थीं। राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र, धनिक-वर्गतन्त्र, लोकतन्त्र, स्वेच्छाचारी-अत्याचारी-तन्त्र आदि विविध प्रकार की शासन-प्रणालियाँ इनमें प्रचलित थीं, जिनका उल्लेख वहाँ के राजनीतिक चिन्तकों ने किया है। ईसा की पाँचवीं-छठी शताब्दी पूर्व एथेंस तथा स्पार्टा के नगर-राज्यों की व्यवस्थाएँ सर्वाधिक महत्त्व की थीं। स्पार्टा में वर्गतन्त्री व्यवस्था (oligarchy) कायम थी। वह एक प्रकार का सैनिकतन्त्र था। तीन सामाजिक वर्गों के जीवन-क्रम तथा उनकी सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति में पर्याप्त भिन्नता थी। नागरिक वर्ग के लिए साम्यवादी व्यवस्था थी। वे एक साथ सामूहिक रूप से भोजन करते थे। सात वर्ष की अवस्था से राज्य द्वारा सब बच्चों के लिए अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था थी। शासन-व्यवस्था हेतु समस्त नागरिकों की सभा, 28 सदस्यों की सीनेट, जो जन्म भर के लिए चुने जाते थे, तथा समान अधिकारों से युक्त दो राजा होते थे। प्रति वर्ष चुने जाने वाले पाँच सदस्यों (ephors) की एक परिषद् राजाओं तथा सीनेट के मध्य नियन्त्रण रखने के लिए होती थी।

[1] Maxey, *op. cit.*, 28.

कालान्तर में शासन-सत्ता का रूप वर्गतन्त्री हो गया।

एथेंस का नगर-राज्य—स्पार्टा के प्रतिद्वन्द्वी नगर-राज्य एथेंस की शासन-व्यवस्था लोकतन्त्रात्मक थी। यद्यपि सातवीं शताब्दी से पाँचवीं शताब्दी ई० पू० तक एथेंस में भी वर्गतन्त्र तथा अत्याचारीतन्त्र कायम रहे, तथापि पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में पेरिक्लीज (Pericles) के नेतृत्व में वहाँ लोकतन्त्र कायम हो गया था। एथेंस की सामाजिक व्यवस्था स्पार्टा की भाँति कठोर नहीं थी। अर्थव्यवस्था भी उद्योग तथा व्यापार की अधिक थी, कृषि की कम। राज्य की सर्वोच्च सत्ता समस्त नागरिकों की सभा में विहित थी। स्थापित परम्परागत कानून को सर्वोच्चता की स्थिति प्रदान की जाती थी। सभा उसी कानून के अन्तर्गत व्यवस्थापन कार्य करती थी। प्रशासनिक व्यवस्था के लिए सभा द्वारा पर्ची-प्रथा (by lots) से निर्वाचित 500 सदस्यों की एक सीनेट होती थी। 10 जनरलों की एक परिषद् सैनिक तथा वैदेशिक मामलों को देखती थी। न्यायिक कार्य पर्ची पद्धति से जनता के द्वारा निर्वाचित ज्यूरियों के न्यायालयों द्वारा सम्पन्न किया जाता था। स्थानीय शासन के लिए सारा राज्य लगभग 100 खण्डों (demes) में बँटा हुआ था। डेम्स स्थानीय शासन के साथ-साथ नागरिकों का पंजीकरण करने तथा केन्द्रीय शासन संस्थाओं के उम्मीदवारों को छाँटने का कार्य भी करते थे। राज्य के शासन में यद्यपि सम्पूर्ण नागरिकों की सभा को, जो प्रतिवर्ष 10 बार समवेत होती थी, सम्प्रभु शक्ति प्राप्त थी, तथापि 500 सदस्यों की परिषद् कार्यकारी शक्तियों का प्रयोग करती थी। प्रशासनिक तथा न्यायिक कार्यों में न्यायालयों का कार्यभाग सबसे महत्त्वपूर्ण था। सैबाइन ने कहा है कि 'वास्तव में एथेंस के न्यायालय वहाँ की सम्पूर्ण लोकतन्त्री पद्धति की आधार-शिला का कार्य करते थे।'[1] विविध क्षेत्रों में वे अधिशासनिक, व्यवस्थापिका तथा न्यायिक सभी प्रकार के कार्य सम्पन्न करते थे। एथेंसवासी अपनी शासन-व्यवस्था पर अत्यन्त गर्व रखते थे। उनमें देश-प्रेम की भावना कूट-कूट कर भरी थी।

एथेंस तथा स्पार्टा के मध्य संघर्ष—पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में ग्रीस को, विशेष रूप से एथेंस तथा स्पार्टा को, ईरान के आक्रमणों का सामना करना पड़ा और इन दोनों राज्यों की देशभक्त सेनाओं ने आक्रमणकारी को पृथक्-पृथक् तथा एक बार सम्मिलित रूप से बुरी तरह हराया। परिणामस्वरूप स्पार्टा की स्थल सेनाएँ तथा एथेंस की नौ सेनाएँ ग्रीक जगत की सिरमौर सिद्ध हो गयीं। परन्तु कालान्तर में इनके मध्य भी परस्पर युद्ध छिड़ गया जिसका कारण पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता थी। इस पेलोपोनेशियन युद्ध के पश्चात् एथेंस तथा स्पार्टा के मध्य ग्रीस का नेतृत्व करने की प्रतिस्पर्धा बढ़ने लगी और वे दोनों आपस में दुश्मन हो गये। ये ग्रीक नगर-राज्य अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता तथा स्वायत्तता के इतने प्रेमी थे कि कई अवसरों पर इनके संघात्मक स्वरूप में संगठित होने के प्रयत्न भी निष्फल हो गये।

इसी अवधि में एथेंस में सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तू हुए। ग्रीक राजनीतिक चिन्तन के सम्बन्ध में जो कुछ प्लेटो तथा अरस्तू कह गये हैं, सम्भवतः उससे आगे और कुछ कहना या सोचना बाकी नहीं रह जाता। इनके विचार हमें उनके द्वारा लिखे गये ग्रन्थों से उपलब्ध होते हैं। परन्तु इनसे पूर्व भी ग्रीक राजनीतिक चिन्तन का अस्तित्व था। मैक्सी के अनुसार, 'ग्रीक राजनीतिक चिन्तन का आरम्भ सुकरात

[1] Sabine, *op. cit.*, 22.

से बहुत पहले का था ।'[1] इसका आभास थूसीडाइड्स (Thucydides), होमर (Homer), हिसियोड (Hesiod), लिकरगस (Lycurgus) आदि की रचनाओं से तथा सुकरात के पूर्ववर्ती सॉफिस्ट (Sophist) शिक्षकों के विचारों से होता है ।

ग्रीक चिन्तन की विशेषताएँ

ग्रीक दार्शनिकों के राजनीतिक चिन्तन को समझने से पूर्व उसकी विशेषताएँ जान लेना अप्रासंगिक न होगा । बहुधा यह कहा जाता है कि राजनीतिक चिन्तन का आरम्भ ग्रीस से हुआ । निस्सन्देह ग्रीस को यह श्रेय प्रदान करने में वहाँ की बौद्धिक पृष्ठभूमि की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है; उसी ने वहाँ के चिन्तन को एक ऐसी विशिष्टता दी है जो उस समय के किसी अन्य देश मे नही देखी जा सकती थी । उन विशिष्टताओं को निम्न प्रकार वर्णित किया जा सकता है—

बौद्धिक उत्कण्ठा—ग्रीक मस्तिष्क स्वाभाविक रूप से वस्तुओं एवं तथ्यों के कारणों की खोज की ओर आकर्षित था । ज्ञान प्राप्त करने की उनमें अमिट लालसा थी और यह लालसा लगभग उसी प्रकार की थी जैसी किसी बच्चे मे पायी जाती है । सम्भवतः इसी तथ्य का अवलोकन करने के उपरान्त प्लेटो की पुस्तक 'टाइमियस' में उल्लिखित एक चीनी यात्री ने ग्रीकों को सम्बोधित करते हुए कहा था 'तुम ग्रीक हमेशा बच्चे हो, तुममें कोई भी वृद्ध नहीं है ।' प्राचीन ग्रीकों ने प्रत्येक वस्तु के कारणों को जानने का प्रयास किया । उन्होंने इस प्रकार के सुस्पष्ट प्राकृतिक तथ्यों को भी, कि सूर्य पूर्व में निकलता है तथा पश्चिम में अस्त हो जाता है बिना किसी तर्क के स्वीकार नहीं किया । उन्होंने यह जानने का प्रयत्न किया कि आखिर सूर्य का उदय पूर्व में ही क्यों होता है । ग्रीक मस्तिष्क की इस विशिष्टता की अभिव्यक्ति स्वयं अरस्तू ने उस समय की थी जबकि उसने लिखा कि 'सभी मनुष्य स्वभाव से ज्ञान प्राप्त करने की आकांक्षा से प्रेरित हैं ।' निस्सन्देह इस प्रकार की उत्कण्ठा चिन्तन के उदय के लिए समीचीन पृष्ठभूमि का निर्माण करती है ।

सरकारों और राज्य का अस्तित्व तो ग्रीस के अतिरिक्त अन्य देशों में भी था; परन्तु उनके सम्बन्ध में विधिपूर्वक चिन्तन केवल ग्रीस में ही हुआ । इसका कारण स्पष्ट था । ग्रीकों की रुचि बुनियादी प्रश्नों के उत्तर को प्राप्त करने में थी । उनके सम्मुख प्रश्न थे कि राज्य और समाज की उत्पत्ति कैसे हुई, कानून की प्रकृति क्या है, मनुष्य का राज्य अथवा समाज के प्रति तथा स्वयं अपने प्रति क्या कर्त्तव्य हैं, प्रभुसत्ता की प्रकृति क्या है, क्रान्तियाँ क्यों होती हैं आदि । स्पष्टतः इन प्रश्नों के उत्तर के खोजने के प्रयास ने उस पृष्ठभूमि को विकसित किया जिसमें राजनीतिक चिन्तन का उदय अत्यधिक स्वाभाविक था ।

विवेकपूर्ण उपागम—ग्रीकों ने जीवन की विभिन्न समस्याओं के प्रति जो दृष्टिकोण अपनाया वह मूलतः विवेक-प्रधान था । यह सही है कि प्राचीन काल के अन्य देशों की ही भाँति ग्रीस में भी जनसाधारण का चिन्तन धार्मिक पूर्वाग्रहों से अभिभूत था । परन्तु ग्रीक धर्म अन्य देशों के धर्म से एक अर्थ में भिन्न था; ग्रीस में धर्म—चिन्तन का अंग बन गया था । अतः उसे तर्क की कसौटी पर परखा जा सकता था । ग्रीक देवता न केवल प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक थे, अपितु वे राज्य के संस्थापक तथा उसके पालनकर्ता भी थे । ग्रीकों ने मनुष्य को भी देवत्व के

[1] Maxey, *op. cit.*, 34.

ही एक अंग के रूप में स्वीकार किया था। अतः इस सन्दर्भ में यह उचित ही था कि ग्रीक सद्जीवन को मनुष्य के सर्वोच्च लक्ष्य के रूप में स्वीकार करते। अपने विवेक से वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि सद्जीवन सामूहिक जीवन-पद्धति की अपेक्षा करता है। इस प्रकार ग्रीक मस्तिष्क ने व्यक्ति के नैतिक एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए उसे राज्य के साथ अनिवार्य रूप से जोड़ दिया। इस मान्यता को प्रतिपादित करने में उन्हें नगर-राज्य के आकार से भी सहायता प्राप्त हुई थी। इस प्रकार अपने विवेक से ही ग्रीक मनीषियों ने व्यक्ति और राज्य के बीच एकता को एक बौद्धिक आदर्श के रूप में स्वीकार किया।

सत्य की खोज—ग्रीकों को उनकी विवेक बुद्धि ने कड़वे सत्य को भी स्वीकार करने की प्रेरणा दी थी; फलतः उन्होंने उससे बचने का प्रयत्न नहीं किया। इस तथ्य का सबसे बड़ा प्रमाण सुकरात को बताया जा सकता है जिसे पारम्परिक मूल्यों में अन्तर्निहित मूर्खता का भण्डा फोड़ने में कभी कोई संकोच नहीं हुआ। उसकी मान्यता थी कि जिन मूल्यों और मान्यताओं को तर्क की कसौटी पर आँका नहीं जा सकता, वास्तव में स्वीकार करने योग्य नहीं हैं। यही बात प्लेटो और अरस्तू के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। बाद में स्टॉइक दार्शनिकों ने भी ग्रीस की इस परम्परा को जीवित रखा।

इहलौकिकता में रुचि—ग्रीक चिन्तन पारलौकिक विषयों की विवेचना नहीं करता, उसकी रुचि मुख्यतः इहलौकिक है। वस्तुतः ऐसा होना स्वाभाविक भी था क्योंकि ग्रीक विवेक-प्रधान होने के नाते मनुष्य की ही कसौटी पर सभी वस्तुओं एवं तथ्यों का मूल्यांकन करते थे। उनके लिए मनुष्य ही सभी वस्तुओं को परखने का मानदण्ड था। स्वयं सुकरात का कहना था कि मनुष्य का अध्ययन ही समस्त अध्ययनों में सर्वश्रेष्ठ है। प्लेटो और अरस्तू का दर्शन भी इसी दृष्टिकोण को व्यक्त करता है। स्टॉइकों ने भी मनुष्य को प्रकृति का प्रयोजन (purpose of nature) घोषित किया था।

व्यक्तिवादी तत्त्व—ग्रीक चिन्तन की इहलौकिकता ने वहाँ के विचारकों को एक प्रकार के व्यक्तिवादी दर्शन के प्रतिपादन की प्रेरणा प्रदान की थी। यदि मनुष्य ही सभी तथ्यों को परखने का आधार है तो यह स्पष्ट ही है कि मनुष्य को अपने स्वयं के लिए चिन्तन करने, अपने विचारों को व्यक्त करने तथा अपने विचारों के अनुसार आचरण करने का अधिकार है। व्यक्ति ही अपने हितों का सर्वश्रेष्ठ निर्णायक है। इस दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति पेरिक्लीज (Pericles) के इस भाषण में भली प्रकार अवलोकित होती है: 'अपने निजी जीवन में हम अपने पड़ोसी को केवल इसलिए सन्देह की दृष्टि से नहीं देखते और न उससे क्रोधित होते हैं क्योंकि वह अपनी इच्छा के अनुसार आचरण करता है।' यह सही है कि प्लेटो ने व्यक्ति-वादी दृष्टिकोण का खण्डन किया था, परन्तु उसने भी 'रिपब्लिक में' इस बात को दर्शाया है कि उसके समय में कुछ विचारक ऐसे थे जो राज्य और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों को व्यक्तिवादी मान्यताओं पर आधारित मानते थे। ऐसे विचारकों में ग्लॉकन और थ्रैसीमाकस प्रमुख थे। उत्तर-अरस्तूकालीन ग्रीक चिन्तन में एपीक्यूरियन विचारक मूलतः व्यक्तिवादी थे।

प्रत्ययवादी तत्त्व—यदि ग्रीक चिन्तन में व्यक्तिवादी तत्त्व सन्निहित है तो उसमें प्रत्ययवादी तत्त्वों (Idealistic elements) का भी अभाव नहीं है। प्लेटो

और अरस्तू दोनों ने राज्य को एक नैतिक एवं प्राकृतिक संस्था के रूप में स्वीकार किया था। उनकी मान्यता थी कि व्यक्ति का विकास राज्य में रहकर ही हो सकता है। अतः उन्होंने यह कभी स्वीकार नहीं किया कि राज्य और व्यक्ति के बीच कभी संघर्ष की स्थिति भी उत्पन्न हो सकती है। उनकी दृष्टि में राज्य व्यक्ति की आकांक्षाओं और विवेक का साकार रूप था। इसलिए उनका कहना था कि व्यक्ति को राज्य के आदेशों का पालन केवल इस कारण नहीं करना चाहिए क्योंकि उसमे उन्हें भौतिक लाभ प्राप्त होते हैं अपितु इस कारण करना चाहिए क्योकि उसके बिना उनके व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता। यही कारण है कि सुकरात ने कारागार से भागने से इनकार कर दिया तथा सहर्ष राज्य द्वारा दिये गये मृत्यु-दण्ड को स्वीकार किया।

प्लेटो से पूर्व ग्रीक राजनीतिक चिन्तन का स्वरूप

ग्रीक राजनीतिक दर्शन के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हमें प्लेटो और अरस्तू की विचारधाराओं से होता है। इन दो दार्शनिकों ने उसे एक क्रमबद्ध दर्शन का रूप प्रदान करके पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का शिलान्यास किया। परन्तु यह भी ज्ञातव्य है कि इनकी विचारधाराएँ इनके पूर्ववर्ती राजनीतिक चिन्तन एवं अतीत की तथा तत्कालीन राजनीतिक संस्थाओं एवं उनके संचालन सम्बन्धी व्यवहारों से प्रभावित और उन्हीं सन्दर्भ में व्यक्त की गयी हैं। न केवल प्लेटो तथा अरस्तू का ही राज्य-दर्शन, अपितु उससे पूर्व की ग्रीक विचारधाराएँ भी ग्रीक नगर-राज्यों की पृष्ठभूमि में ही प्रतिपादित हुई हैं। इस दृष्टि से प्लेटो से पूर्व ग्रीक राजनीतिक चिन्तन के स्वरूप की निम्नांकित विशेषताएँ थीं—

(1) **व्यक्ति राज्य का अभिन्न अंग**—ग्रीक नगर-राज्य आत्म-निर्भर छोटे-छोटे जन-समूह थे। अतः उनके अन्तर्गत व्यक्ति के जीवन तथा नगर-राज्य के जीवन में भेद नहीं माना जाता था। राज्य या जन-समूह से बाहर व्यक्ति आत्म-निर्भर जीवन व्यतीत नहीं कर सकता था। अतएव ग्रीक विचारक व्यक्ति को राज्य का अभिन्न अंग मानते थे और राज्य के जीवन में उसके सक्रिय योगदान की कामना करते थे।

(2) **धर्मनिरपेक्ष राजनीति**—ग्रीक लोग अपने परम्परागत ढंग से माने जाते रहे देवी-देवताओं पर आस्था रखते थे। परन्तु उन्हें रहस्यमय शक्तियों से युक्त नहीं मानते थे। वरन् उन्हें मनुष्य की अपेक्षा अधिक विवेकशील माना जाता था। अतः ग्रीक लोग यह विश्वास करते थे कि उनके देवी-देवता मानवों की तुलना में अधिक विवेकशील हैं जिसके कारण उनकी आराधना करने से मानवों को उच्चतर विवेक की प्राप्ति होगी और देवी-देवता उनके ऊपर अपनी कृपा-दृष्टि बनाये रखेंगे। धार्मिक विश्वासिता व्यक्ति का निजी मामला मानी जाती थी। सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में धार्मिक कट्टरता या विश्वासिता को प्रभावी नहीं माना जाता था। धर्म के आधार पर किसी विशिष्ट वर्ग का अस्तित्व नहीं था और न सामाजिक जीवन में ऐसे किसी वर्ग की विशिष्ट स्थिति होने की धारणा थी। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक विश्वास की स्वतन्त्रता प्राप्त थी।

(3) **प्रकृति तथा मानव विवेक के मध्य सामंजस्य**—ग्रीक लोग प्रकृति को मानव विवेक द्वारा बोधगम्य मानते थे न कि एक रहस्यमय शक्ति के रूप में। उनके

मत से सम्पूर्ण विश्व सृजनात्मक विवेक (creative reason) की उपज है। प्रकृति के रहस्यों को मानव विवेक द्वारा समझा जा सकता है। प्रकृति तथा विवेक मानव आचरण की नियामक शक्तियाँ है। अतः सामाजिक तथा राजनीतिक आचरण प्रकृति तथा विवेक के द्वारा नियमित होने चाहिए। मानव एक विवेकशील प्राणी है। अतः वह सामाजिक जीवन व्यतीत करता है। ऐसा जीवन उसे श्रेष्ठ बनाता है।

(4) **राज्य का उद्देश्य मनुष्य के लिए उत्तम जीवन**—मानव विवेक उसे उत्तम जीवन प्राप्त करने की प्रेरणा देता है। उत्तम जीवन की प्राप्ति सामाजिक जीवन द्वारा ही सम्भव है। सामाजिक जीवन की उत्तमता के लिए राजनीतिक दृष्टि से उसके संगठित होने पर निर्भर करती है। इस दृष्टि से मनुष्य को एक 'राजनीतिक प्राणी' मानने तथा राजनीतिक जीवन की अपरिहार्यता को मानने की धारणा ग्रीक चिन्तन की विशेषता थी। राज्य तथा मनुष्य के हितों को एक-दूसरे के विरुद्ध होने की कोई धारणा मान्य नहीं थी। राज्य को एक जीवित व्यक्तित्व के रूप में माना जाता था जो व्यक्तियों के व्यक्तित्व को अपने में विलीन करता था। राजनीतिक समाज को व्यक्ति के जीवन का सर्वोच्च रूप माना जाता था। इस प्रकार जैसा विलोबी ने कहा है, 'जहाँ पूर्व के देशों में कानून तथा राज्य की अधीनता को व्यक्ति किसी बाहरी तथा विदेशी सत्ता की आज्ञाकारिता के अधीन होने के रूप मे लेता था, वहाँ एक ग्रीक इन धारणाओं को केवल अपने ही उच्च रूप की अधीनता के रूप में स्वीकार करता था, जिसके अन्तर्गत वह अपनी इच्छा को उस इच्छा में विलीन कर देता था जिसके निर्माण में उसका भी भाग था।'[1] यह धारणा लगभग वैसी ही है जैसी 18वीं सदी में रूसो की सामान्य इच्छा की धारणा में व्यक्त की गयी थी। इस प्रकार ग्रीक लोगों ने आदर्शवादी राज्य-व्यवस्थाओं को अपने दर्शन का सर्वोच्च केन्द्र-बिन्दु बनाया।

(5) **लोकतन्त्र पर आस्था**—ग्रीकों की यह धारणा लोकतन्त्री व्यवस्था की सूचक है कि राज्य के कार्य-कलापों में व्यक्ति का सक्रिय भाग लेना आवश्यक माना जाता था। चूँकि नागरिकों का ऐसा कार्य-भाग छोटे-छोटे जन-समूहों में ही सम्भव था, अतः ग्रीक चिन्तन छोटे-छोटे नगर-राज्यों की व्यवस्था का समर्थन करता है। ग्रीक राजनीतिक चिन्तन में ऐसी कोई धारणा नहीं पायी जाती जिससे यह प्रकट हो कि व्यक्ति के ऐसे प्राकृतिक अधिकार भी हैं जिनका राज्य की सत्ता से विरोध हो (ऐसी धारणा सत्रहवीं एवं अठारहवीं शताब्दी के राजनीतिक चिन्तन में है)। राज्य तथा व्यक्ति के हित एक-दूसरे के विपरीत होने की कल्पना ग्रीकों के अन्दर नहीं थी। गैटल के अनुसार, 'ग्रीक लोकतन्त्र ने राजनीतिक अधिकारों की धारणा के लिए योगदान किया, न कि नागरिक अधिकारों की धारणा के लिए।'[2]

(6) **कानून की श्रेष्ठता तथा उसकी सत्ता पर विश्वास**—कानून के सम्बन्ध में भी ग्रीकों की धारणा विवेकमय तथा सामाजिकतापूर्ण है। 'मोटे तौर पर कानून का अर्थ व्यवहार के ऐसे नियम या सिद्धान्त से लिया जाता था जिसके अनुरूप

[1] 'While the Oriental, in his subjection to the law and to the state viewed his subordination as an obedience rendered to an alien and external power, the Greek saw in it but the yielding to a higher self, a giving up of his will to a will in the formation of which he participated.'—W. W. Willoughby, *Political Theories of the Ancient World*, 1903, 57.

[2] Gettell, *op. cit.*, 40.

मनुष्य अपने को बनाये, क्योंकि कानून वस्तुओं की प्राकृतिक व्यवस्था का अंग था।'[1] धर्म, परम्पराएँ, दैवी आदेश, मानव विवेक, सभा द्वारा पारित नियम, आदि को कानून का स्रोत माना जाता रहा था। कानून के प्रति निष्ठावान् आज्ञाकारिता की धारणा को पर्याप्त महत्त्व दिया जाता था। कानून का स्वरूप धर्मनिरपेक्ष था। ग्रीकों का कानून के स्थायित्व तथा पूर्णता पर पूरा विश्वास था। उसे जन-सभा द्वारा स्वेच्छा से संशोधित करने की धारणा का विरोध किया जाता था। परिवर्तन तभी आवश्यक समझा जाता था जबकि राज्य-व्यवस्था की सामान्य प्रकृति में परिवतन आ जाय।

ग्रीक चिन्तन पर सॉफिस्टों का प्रभाव

पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में एथेंस अपनी पतनावस्था मे प्रविष्ट होने लगा था। लोकतन्त्र के कारण जनसाधारण की चेतना में विकास होने लगा था। भू-सम्पत्ति के मालिक कुलीन वर्ग तथा नवीन वाणिज्य-व्यवसाय के मालिक वर्गों के मध्य राजनीतिक सत्ता के लिए संघर्ष बढ़ने लगा था। विचार-स्वातन्त्र्य के कारण कुछ क्रान्तिकारी विचारधाराएँ भी व्यक्त होने लगी थीं। इसी बीच एथेंस के राजनीतिक चिन्तन को प्रभावित करने वाले एक नये तत्त्व का विकास हुआ। अनेक व्यवसायगत शिक्षक जिन्हें सॉफिस्ट कहा जाता था ग्रीकों को दर्शन, राजनीति आदि की शिक्षा देने लगे। जो लोग इन्हे पारिश्रमिक दे सकने में समर्थ होते थे, वे इनसे शिक्षा ग्रहण करते थे। इन लोगों की शिक्षा ग्रीस की प्राचीन परम्परा से भिन्न थी। ये लोग सार्वभौम सत्य तथा न्याय के भावनामूलक सिद्धान्तों को नहीं मानते थे। इनका विश्वास था कि मनुष्य स्वयं समस्त बातों का निर्णायक है। अतः उसे अपने विवेक तथा विश्वास के आधार पर सत्य का ज्ञान करना चाहिए। इनकी शिक्षा का एक विशिष्ट सिद्धान्त यह था कि मनुष्य स्वार्थी है। सब मानव समान शक्ति नहीं रखते। अतः राजनीतिक सत्ता का आधार शक्ति होता है। दूसरी धारणा यह थी कि मनुष्य स्वभावतः असामाजिक है, उसे कृत्रिम रूप से किसी शर्त के आधार पर सामाजिक तथा राजनीतिक प्राणी बनाया जाता है। इस दृष्टि से सॉफिस्ट शिक्षकों ने व्यक्तिवादी विचारधारा का तथा राज्य के निर्माण में संविदा की धारणा का सर्वप्रथम सूत्रपात किया। कानून के सम्बन्ध में इन्होंने यह शिक्षा दी कि समस्त कानून परम्परागत होता है न कि प्रकृति के अनुकूल। जो बातें कानून के अनुकूल मानी जाती हैं वे प्रकृति के विरुद्ध होती हैं। कानून पर आधारित न्याय निरर्थक है, वह न तो हानि को रोकता है न हानि का सुधार करता है। इस प्रकार सॉफिस्ट शिक्षाएँ नैतिकता-विहीन भौतिक व्यक्तिवाद के अनुरूप थीं।

सुकरात
(Socrates)

सुकरात का जन्म 469 ई० पू० एथेंस में हुआ था। वह एक पत्थर की मूर्ति बनाने वाले का पुत्र था। उसे बचपन में साधारण शिक्षा मिली थी। वह मूर्ति-निर्माण कला के व्यवसाय में लगा, परन्तु वह उसे पसन्द नहीं आया। कालान्तर में अपनी प्रतिभा के फलस्वरूप वह सेना में तथा साधारण शासकीय पदों पर भी रहा।

[1] Maxey, *op. cit.*, 35.

परन्तु वह एक दार्शनिक था, अतः उसने अपने दार्शनिक विचारों का प्रचार करना आरम्भ किया। सुकरात को ईश्वर ने ज्ञान तो दिया, परन्तु एक सुन्दर रूप नहीं दिया। फिर भी उसके ज्ञान ने उसकी शारीरिक कुरूपता को छिपाकर, सहस्रों एथेंसवासियों को उसकी ओर आकर्षित किया।

प्रारम्भ में सुकरात को सॉफिस्ट शिक्षकों की भाँति माना जाता था। परन्तु वास्तव में वह उनसे बिल्कुल भिन्न था। सॉफिस्टों के विपरीत शिक्षा देना न उसका व्यवसाय था और न वृत्ति का साधन। उसकी शिक्षण-पद्धति विचित्र थी। उसके अनेक शिष्य निरन्तर उसके साथ भ्रमण करते रहते थे। वह किसी भी स्थान पर किसी ज्ञान-पिपासु से मिल जाता। शिक्षार्थी जब उससे कोई प्रश्न करता तो सुकरात उसका उत्तर न देकर उससे प्रति-प्रश्न करता। इस प्रकार प्रश्नों का क्रम चलता रहता था, जिनका उत्तर स्वयं प्रश्नकर्ता को खोजना पड़ता था और अन्त में वह अपने मूल प्रश्न का सन्तोषजनक तथा सही उत्तर प्राप्त कर लेता था। सुकरात ने न कोई ग्रन्थ लिखा और न उसके विचारों या व्याख्यानों का संकलन किया गया है। उसके विचार प्लेटो की कृतियों से ज्ञात होते हैं, जिन्हें प्लेटो ने संवादों के रूप में लिखा है और उनमें सुकरात को मुख्य पात्र के रूप में चित्रित किया है।

सुकरात के विचार भी सॉफिस्ट शिक्षकों से मिलते-जुलते नहीं हैं। निस्सन्देह वह सॉफिस्टों की भाँति व्यक्तिगत विचार-स्वातन्त्र्य का समर्थक था। उसकी धारणा थी कि यदि व्यक्ति की अन्तरात्मा किसी बात की सत्यता पर विश्वास करती है तो उस व्यक्ति को इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त रहनी चाहिए कि वह उस सत्य की अभिव्यक्ति कर सके। इसी विश्वास पर उसे अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ी जिसे उसने प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण किया। 'एक सच्चा ग्रीक होने के नाते वह यह मानता था कि मनुष्य के लिए राजनीतिक समाज अपरिहार्य है, परन्तु वह इस बात पर विश्वास नहीं रखता था कि एथेंस की तत्कालीन शासन-पद्धति समुचित सिद्धान्तों पर आधारित है।'[1] सुकरात ने सॉफिस्टों की नैतिकता-विहीन व्यक्तिवादी शिक्षाओं का विरोध करके मानवीय नैतिकता से युक्त शिक्षाओं का प्रसार करने की आवश्यकता पर बल दिया। उसकी शिक्षा थी कि मानव में सर्वोत्तम चीज उसकी आत्मा है। उसका विकास नैतिक जीवन के द्वारा ही होता है। अतः मनुष्य के कार्य उसकी आत्मा की प्रकृति के अनुरूप होने चाहिए। सुकरात की शिक्षा का सार था 'स्वयं अपने को समझो' (Know thyself)। उसकी धारणा थी कि मानव के समस्त कार्य-कलापों का निदेशन पूर्णतया ज्ञान के द्वारा होना चाहिए। सुकरात की यह सुप्रसिद्ध धारणा थी कि 'सद्गुण ही ज्ञान है, इसकी खोज की जा सकती है, इसकी शिक्षा दी जा सकती है और इसे सीखा जा सकता है।' सच्चे ज्ञान के द्वारा ही सत्य की खोज की जा सकती है, जो कि सार्वभौम तथा शाश्वत होता है।

सुकरात इस बात पर विश्वास नहीं रखता था कि एथेंस की लोकतन्त्री शासन-पद्धति सही ढंग की थी क्योंकि उसमें अल्पसंख्यकों की उपेक्षा होती थी, जो कि बहुसंख्यकों की अपेक्षा अधिक सद्गुण सम्पन्न सिद्ध हो सकते थे। उसके मत से जो सरकार बहुत से व्यक्तियों के द्वारा चलायी जाती है उसे सद्गुण-हीनों की सरकार कहा जाना चाहिए। अतः उसका कोई औचित्य नहीं है। सुकरात राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के अधिकारों की नीति का समर्थक नहीं था। उसकी यही धारणा थी कि

[1] *Ibid.*, 34.

राज्य का शासन ऐसे व्यक्तियों के हाथ में रहना चाहिए जो सद्‌गुणयुक्त तथा विवेकशील हों। इसी प्रकार धर्म के सम्बन्ध में भी उसने मनुष्य की अन्तरात्मा को सर्वोपरिता दी। एथेंस के तत्कालीन शासकों ने उसके ऊपर यह अभियोग लगाया कि वह स्थापित कानून तथा परम्पराओं के विरुद्ध शिक्षा देकर लोगों को पथभ्रष्ट कर रहा है, और ऐसे आरोप के लिए तत्कालीन एथेंस में मान्य कानून के अन्तर्गत उसे फांसी का दण्ड दिया गया (399 ई० पू०)। सुकरात भाग सकता था या क्षमा याचना द्वारा अपने जीवन को बचा सकता था। परन्तु उसने अपनी अन्तरात्मा द्वारा सत्य का प्रतिपादन करने के समक्ष अपने प्राणों को तुच्छ समझा और प्रसन्नतापूर्वक फांसी का दण्ड स्वीकार करते हुए यह आदर्श प्रस्तुत किया कि कानून का मानना एक नागरिक के लिए उतना ही आवश्यक है जितना अपनी अन्तरात्मा द्वारा ज्ञात सत्य का प्रतिपादन करना। इसके लिए प्राणों की आहुति भी देनी पड़े तो भी मनुष्य को कोई संकोच नहीं करना चाहिए।

दूसरा अध्याय

स्वप्नलोकी आदर्शवाद : प्लेटो

परिचयात्मक

प्लेटो का जन्म पेलोपोनेशियन युद्ध के आरम्भिक वर्षों में ग्रीस के नगर-राज्य एथेंस में 429 ई० पू० में एक अभिजात-वर्गीय परिवार में हुआ था। यह उल्लेखनीय है कि इसी वर्ष एथेंस के सैनिक दार्शनिक पेरिक्लीज का निधन हुआ था। अपने जीवन के आरम्भिक वर्षों में ही वह सुकरात के सम्पर्क में आ चुका था और जब सुकरात को मृत्यु-दण्ड दिया गया था, उसकी आयु 30 वर्ष थी। सुकरात के साथ अपने सम्पर्क को वह अपने जीवन की अमूल्य निधि मानता था। उसे इस बात पर गर्व था कि उसका जन्म सुकरात के युग में हुआ था। प्लेटो के ही शब्दों में, 'मैं अपने भाग्य की इसलिए सराहना करता हूँ कि मैं ग्रीक पैदा हुआ हूँ, बर्बर नहीं, मैं स्वतन्त्र जन्मा हूँ, दास नहीं, मैं पुरुष पैदा हुआ हूँ, स्त्री नहीं; उससे भी अधिक इसलिए क्योंकि मैं सुकरात के युग में पैदा हुआ हूँ।' जिस एथेंस में उसका जन्म हुआ था, वह ग्रीक नगर-राज्यों में निस्सन्देह सर्वोत्कृष्ट था। पेलोपोनेशियन युद्ध के उपरान्त अपने पराभव के युग में भी वह ग्रीक जगत् का शिक्षक था।

सुकरात के मृत्यु-दण्ड ने प्लेटो के चिन्तन को व्यापक रूप से प्रभावित किया था। उसके फलस्वरूप प्लेटो का हृदय लोकतन्त्र के लिए घृणा से भर गया, उसे भीड़ के शासन से अरुचि हो गई और वह ऐसी शासन-प्रणाली की कल्पना करने लगा जिसका संचालन सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों के द्वारा होता हो। अपने गुरू एवं मित्र सुकरात के निधन के उपरान्त वह एथेंस छोड़कर चला गया। पारम्परिक किंवदन्तियों के अनुसार, इस काल में उसने मिस्र, साइरीन आदि देशों की यात्रा की। एक किंवदन्ती के अनुसार, वह इस काल में भारत भी आया। परन्तु यह बात निस्सन्देह है कि वह इटली गया जहाँ उसने पाइथागोरस के अनुयायियों के साथ सम्पर्क स्थापित किया। इसके पश्चात् उसने सिसली की भी यात्रा की और वहाँ उसने सिराकूज के अत्याचारी शासक डायनीसियस प्रथम के दरबारी डियन से मैत्री स्थापित की। 386 ई० पू० में वह एथेंस वापिस लौट आया और इसके बाद वहाँ उसने प्राचीन ग्रीक के सबसे पहले विश्वविद्यालय 'एकाडेमी' की स्थापना की। इस संस्था में वह जीवन-पर्यन्त अध्यापन करता रहा; इस काम में केवल दो बार व्यवधान उस समय पड़ा था जबकि डायनीसियस द्वितीय के निमन्त्रण पर वह 367 ई० पू० में सिराकूज गया था।

प्लेटो का विश्वास था कि डायनीसियस की सहायता से वह राज्य की शासन प्रणाली में वांछित सुधारों को लाने में सफल हो सकेगा। दार्शनिक का व्यावहारिक राजनीति को प्रभावित करने का यह एकमात्र प्रयास था, परन्तु अपने इस प्रयत्न में

निराशा ही उसके हाथ लगी। फलतः बाद में प्लेटो ने सार्वजनिक जीवन से संन्यास ले लिया। सुकरात की मृत्यु ने लोकतन्त्र के प्रति उसके हृदय में अरुचि को जन्म दिया था, पेलोपोनेशियन युद्ध के उपरान्त स्थापित तीस व्यक्तियों द्वारा संचालित अल्पतान्त्रिक शासन (oligarchy) ने भी प्रचलित शासन-तन्त्रों के प्रति उसके हृदय में घृणा का संचार कर दिया। फलतः प्लेटो के समक्ष एक बड़ी समस्या यह थी कि वह एक ऐसे शासन-तन्त्र के लिए समीचीन शासकों का प्रशिक्षण किस प्रकार करे जो प्रचलित शासन-प्रणालियों की बुराइयों से मुक्त हो। 'एकाडेमी' की स्थापना यथार्थ में इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ही की गयी थी।

प्लेटो के जीवन के अन्तिम वर्ष अत्यन्त सुख एवं आनन्द के वातावरण में व्यतीत हुए और वह अपने शिष्यों के काम से अत्यधिक सन्तुष्ट था। वास्तव में वह कभी वृद्ध नहीं हुआ; वह जीवन-पर्यन्त अपने शिष्यों का मार्ग-दर्शन करता रहा तथा उन्हें प्रेरणा देता रहा। उसकी मृत्यु भी बहुत शान्तिपूर्वक उसके एक शिष्य के निवास स्थान पर हुई जहाँ वह एक वैवाहिक समारोह में भाग लेने के लिए गया था।

प्लेटो से पूर्व एथेंस ग्रीस के नगर-राज्यों के मध्य सर्वोत्कृष्टता का दावा करता था। परन्तु पेलोपोनेशियन युद्ध के बाद एथेंस की प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का लगा। प्लेटो की इच्छा थी कि वह एथेंस को भ्रष्ट होने से बचाये। अतः अपनी दार्शनिक मान्यताओं का प्रतिपादन करते समय, उसका उद्देश्य सदैव यह रहा कि राज्यों की बुराइयों को किस प्रकार समाप्त किया जाये। उसके दर्शन का उदय ग्रीक नगर-राज्यों के सन्दर्भ में हुआ था, अतः उसके दर्शन का मुख्य स्रोत भी वे समस्याएँ हैं। जिनसे तत्कालीन ग्रीक राज्य ग्रसित थे। उसके विचारों पर भी उसके पूर्ववर्ती ग्रीक विचारकों का प्रभाव पड़ा था जिनमें पाइथागोरस, हेरेक्लिटस और सुकरात प्रमुख हैं।

पाइथागोरस ने मानव आत्मा को तीन भागों में विभाजित किया था—विवेक, शौर्य और तृष्णा। प्लेटो ने भी आत्मा के इस त्रिवर्गीय विभाजन को स्वीकार किया तथा उसके आधार पर अपने न्याय के सिद्धान्त की रचना की। हेरेक्लिटस ने यह प्रतिपादित किया था कि जीवन में जो कुछ भी है, वह निरन्तर होने वाले परिवर्तन की प्रक्रिया में है, जो इस समय दृष्टिगोचर है, वह कुछ समय पहले नहीं था और जो अब दिखाई पड़ रहा है, वह कुछ समय बाद नहीं रहेगा। इस मत के आधार पर प्लेटो ने यह मान्यता स्थापित की कि इन्द्रियों से पहचाने जाने वाले विश्व में कोई भी वस्तु स्थायी नहीं है, और न कोई भी वस्तु वास्तविक है। प्लेटो ने कहा कि यथार्थ को इन्द्रियों के द्वारा नहीं पहचाना जा सकता, उसे केवल विवेक के द्वारा जाना जा सकता है।

प्लेटो पर सर्वाधिक प्रभाव सुकरात का था। इस सम्बन्ध में मैक्सी का यह कथन उल्लेखनीय है कि 'प्लेटो में सुकरात का पुनः अभ्युदय हुआ।'[1] प्लेटो का समूचा दर्शन सुकरात की इस शिक्षा पर आधारित है कि 'सद्गुण ही ज्ञान है।' इस कथन को ध्यान में रखकर प्लेटो ने व्यक्ति, राज्य एवं समाज के सम्बन्ध में विभिन्न धारणाएँ व्यक्त कीं। फलतः इस सम्बन्ध में मैक्सी ने उचित ही कहा है कि प्लेटो के विचारों में वे सब बातें हैं जो सुकरात में नहीं थीं (Superficially Plato was everything that Socrates was not)।

[1] 'In Plato Socrates lived again.' —*Ibid.*, 39.

प्लेटो के दार्शनिक विचार

(1) **सद्गुण ही ज्ञान है**—सुकरात के इस कथन को कि 'सद्गुण ही ज्ञान है' अपने दर्शन का केन्द्रीय तत्त्व बनाते हुए प्लेटो का मत है कि सद्गुण तथा ज्ञान एक चीज है। अत: मानव को सद्गुणयुक्त जीवन की उपलब्धि ज्ञान के द्वारा ही हो सकती है। इस अर्थ में ज्ञान नैतिकता है। यह मानव के व्यक्तित्व को प्रभावित करता है और उसे उत्तम बनाता है। नैतिकता या उत्तमता ही सद्गुण है। मानव की उत्तमता के लिए उसमें विवेक, उत्साह, आत्म-संयम, न्याय आदि के सद्गुणों का विकास ज्ञान के द्वारा ही हो सकता है। प्लेटो के अनुसार, ज्ञान का तात्पर्य मस्तिष्क में कुछ तथ्यों का संग्रह कर लेना मात्र नहीं है। उसके दर्शन का सार 'वास्तविकता' है, जिसका अर्थ है, 'उन वस्तुओं का विचार जो पूर्ण, स्थायी तथा स्वयं अपना अस्तित्व रखती हैं।' सुकरात का मत था कि मानव जिस ज्ञान को प्राप्त कर लेने की कल्पना करते हैं वह वास्तव में ज्ञान नहीं है, बल्कि वह केवल दूसरों की राय अथवा विश्वास है। प्लेटो इस सिद्धान्त का अनुगमन करते हुए यह विश्वास करता है कि ज्ञान प्राप्त करने की सर्वोत्तम विधि वैधानिक विधि है। गणित तथा रेखागणित का ज्ञान व्यक्ति को वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने में सहायक सिद्ध होता है। गणित के सिद्धान्त व्यक्ति को स्थायी सत्य का ज्ञान करने की टेव उत्पन्न करने में सहायता देते हैं, क्योंकि गणित के नियम सर्व सत्य होते हैं। अत: ऐसी ही अध्ययन-विधि अन्य शास्त्रों के ज्ञान के लिए भी अपनायी जानी चाहिए। दार्शनिकों का कार्य ऐसी पद्धतियों का सृजन करना है। राजनीति तथा विधि-निर्माण के कार्यों में भी यही पद्धति उचित है। बहुधा राजनेता तथा नागरिक कानूनों को उचित समझ कर ही उनका परिपालन तथा पालन करते हैं। परन्तु वे यह नहीं जानते थे कि वे कानून केवल जनता के रीति-रिवाजों तथा भावनाओं पर आधारित विश्वास मात्र हैं। वास्तविक ज्ञान (वैज्ञानिक ज्ञान) द्वारा इस बात का निर्धारण किया जाना चाहिए कि कौन-से कानून वास्तविक अथच सर्वोत्तम हैं।

(2) **प्रत्ययात्मक ज्ञान में ही वास्तविकता**—प्लेटो के दार्शनिक विचारों का दूसरा सिद्धान्त 'वास्तविकता का सिद्धान्त' है। इसे भी उसने सुकरात से ग्रहण किया था। प्लेटो के मत से वास्तविक ज्ञान की निदेशक शक्ति प्रत्यय (idea) है। प्लेटो इस प्रक्रिया को समझाते हुए कहता है कि दर्शन के वास्तविक ज्ञान की विषय-वस्तु सामान्य पर्यवेक्षण हेतु प्रस्तुत की गई वस्तुएँ नहीं हैं, बल्कि वे वस्तुएँ हैं जो भावात्मक प्रत्यय के रूप में प्रस्तुत होती हैं। उदाहरणार्थ, 'घोड़ा' का वास्तविक ज्ञान करना है तो यह, वह या अन्य कोई घोड़ा विशेष उसका ज्ञान नहीं करा सकता, अपितु सामान्य अर्थ में 'घोड़ा' का विचार वास्तविक घोड़ा है। इसी प्रकार यह, वह या अन्य कोई राज्य-व्यवस्था विशेष नहीं, अपितु सामान्य अर्थ में राज्य-व्यवस्था का विचार (प्रत्यय) राजनीति विज्ञान का वास्तविक विषय है। प्लेटो का मत था कि भावात्मक प्रत्यय भौतिक पदार्थों के अभाव में भी अपना अस्तित्व रखते हैं। उसके मत से 'सुन्दरता' सुन्दर पदार्थ की अनुपस्थिति में भी अपना अस्तित्व रखती है। अतएव सौन्दर्य वास्तविकता है न कि सुन्दर पदार्थ।

(3) **दर्शन तथा चिन्तन का उद्देश्य सत्य की खोज**—प्लेटो के ऐसे प्रत्यय-मूलक एवं यथार्थ के तथ्यों से रहित विचारों के कारण मैक्सी ने उसे सबसे पहला

स्वप्नलोकी विचारक (the first utopian) कहा है। उसके अनुसार, 'प्लेटो के विचार अपने युग के चिन्तन के समस्त पक्षों को समाविष्ट करते हैं और वे ग्रीस के ज्ञान तथा संस्कृति का प्रभावकारी सारांश प्रस्तुत करते हैं।' चूँकि उस काल में व्यक्ति के जीवन को पूर्णतया राज्य में विलीन माना जाता था, अतः उस काल की समस्त ग्रीक रचनाओं में राजनीतिक चिन्तन शामिल था। राजनीतिक धारणाओं के सम्बन्ध में भी प्लेटो अपने आदर्श 'सत्य की खोज' का अनुगमन करते हुए राज्य के आदर्श की खोज करता है। उसका आदर्श किसी सर्वोत्तम या अनेक में से सर्वाधिक सन्तोषजनक राज्य का चयन करना तथा उसका विवेचन करना नहीं था अपितु राज्य के पूर्ण आदर्श का प्रतिपादन करना था, जिसकी पुष्टि शास्त्रीय ज्ञान की प्रक्रियाओं, तुलना, आलोचना आदि सभी दृष्टियों से की जा चुकी हो और वह तर्क, चिन्तन, ज्ञान आदि सभी दृष्टियों से पूर्ण सिद्ध हो। ऐसा आदर्श सार्वभौम सत्य होगा। प्लेटो के मत से, 'सामान्यीकरण हेतु केवल ऐसे ही निरपेक्ष आदर्शों का उपयोग करना चाहिए और केवल इन्हीं आदर्शों के आधार पर राजनीतिक चिन्तन तथा राजनीतिक कार्य-कलापों की आधारशिला निर्मित करनी चाहिए।'

(4) **व्यक्ति तथा राज्य के मध्य घनिष्ट सम्बन्ध**—प्लेटो के दार्शनिक विचारों की विषय-वस्तु व्यक्ति है। परन्तु वह न तो व्यक्तिवादी है और न सॉफिस्ट दार्शनिकों की भाँति व्यक्ति का समाज से पृथक् उत्तम जीवन हो सकने की धारणा की कल्पना करता है। वह व्यक्ति तथा राज्य (समाज) दोनों को विश्वात्मा के अभिन्न अंगों के रूप में लेता है। राज्य विश्व का अंग है, उसी प्रकार व्यक्ति भी राज्य का अंग है। व्यक्ति की अपेक्षा राज्य अधिक वास्तविक है। वह मानवीय सद्गुणों के उच्चतम विकास का प्रतिनिधित्व करता है। एक पूर्ण राज्य में ही व्यक्ति पूर्णता को प्राप्त हो सकता है। उत्तम जीवन की प्राप्ति राज्य तथा व्यक्ति दोनों का लक्ष्य है। राज्य-दर्शन का कार्य इसी का अध्ययन है।

(5) **ज्ञानवानों के द्वारा शासित राज्य ही आदर्श राज्य**—अपने युग के ग्रीक नगर-राज्यों के पतन के कारणों का निष्कर्ष प्लेटो ने यही निकाला था कि उनके अन्तर्गत राज्य या समाज की व्यवस्था का दायित्व अज्ञानियों के ऊपर था। अतएव उनके द्वारा नियमित तथा नियन्त्रित व्यवस्थाओं के अन्तर्गत व्यक्तियों को सद्गुणयुक्त जीवन प्राप्त हो सकने की कल्पना नहीं की जा सकती थी। इसीलिए प्लेटो ने एक आदर्श राज्य व्यवस्था का चित्र अपनी रचनाओं के द्वारा प्रस्तुत किया जिसका आधार न्याय, नैतिकता तथा ज्ञान था और जिसमें राज्य के संचालन का दायित्व दार्शनिक शासकों के ऊपर रखने तथा शासकों को निरन्तर ज्ञानवान बनाते रहने की व्यवस्था सुझायी गयी थी।

प्लेटो की रचनाएँ—प्लेटो ने प्रारम्भ में एपोलोजी (Apology), क्रीटो (Crito), गौरगियास (Gorgias), तथा प्रोटेगोरस (Protagoras) नाम की पुस्तकें लिखी थीं। उसके समस्त ग्रन्थ संवादों के रूप में हैं। इनके अतिरिक्त उसने अनेक छोटे-छोटे संवाद भी लिखे थे यथा चारमिडीज (Charmedes), यूथीडेमस (Euthydemus), लेचेज (Laches), मेनो (Meno), आदि। परन्तु जहाँ तक प्लेटो के राजनीतिक दर्शन का सम्बन्ध है, उसकी सबसे महान् रचना रिपब्लिक (The Republic) अपना कोई सानी नहीं रखती। इसे प्लेटो ने 40 वर्ष की अवस्था में

लिखा था। इसके पश्चात् उसने स्टेट्समैन (The Statesman) लिखा, और अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में लॉज (The Laws) लिखा, जिसे वह पूरा नहीं कर पाया। सम्भवत: उसका अन्तिम भाग (12वीं पुस्तक) उनके कुछ शिष्यों ने पूरा करके प्रकाशित कराया था। अत: प्लेटो के राजनीतिक विचारों का ज्ञान करने के लिए रिपब्लिक, स्टेट्मैन तथा लॉज ही प्रमुख ग्रन्थ हैं, इनमें भी प्रथम तथा अन्तिम ग्रन्थों का विशेष महत्त्व है।

रिपब्लिक में प्लेटो के राजनीतिक विचार

रिपब्लिक की विशेषताएँ

(1) **सम्पूर्ण मानव जीवन का विवेचन**—रिपब्लिक प्लेटो की सर्वोत्कृष्ट रचना है। इसे उसने अपने जीवन की परिपक्व अवस्था में लिखा था, जबकि उसके विचारों में पूर्ण ओज तथा उत्साह था। इसमें प्लेटो की सर्वोच्च प्रतिभा परिलक्षित होती है। रिपब्लिक नाम उसके शाब्दिक अर्थ 'गणतन्त्र' का सूचक न होकर 'एक सामान्य राजनीतिक संविधान' (A General Political Constitution) का द्योतक है। इससे प्लेटो के शास्त्रीय दर्शन का आभास होता है। वह केवल एक राजनीतिक दर्शन का ग्रन्थ नहीं, बल्कि इसमें युग-युगों के प्राचीन तथा नूतन विचार भरे पड़े हैं। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'न्याय का विषय' (Concerning Justice) भी दिया गया है। न्याय से प्लेटो का अभिप्राय परोक्ष में सद्गुण या नैतिकता ही था। सैबाइन के मत से, 'रिपब्लिक किसी निश्चित प्रकार का ग्रन्थ नहीं है, न यह राजनीति का या नीतिशास्त्र का या अर्थशास्त्र का या मनोविज्ञान का ही ग्रन्थ है, यद्यपि यह इन सबका समावेश करता है, अथवा और अधिक विषयों का भी; क्योंकि इसमें कला, साहित्य तथा दर्शन को भी छोड़ा नहीं गया है।'[1] संक्षेप में प्लेटो का रिपब्लिक सम्पूर्ण मानव जीवन का दर्शन है।

(2) **सम्पूर्ण विचार ज्ञान, सद्गुण तथा न्याय की धारणाओं पर आधारित**—रिपब्लिक मे प्लेटो मानव-जीवन का मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक विवेचन करता है। विभिन्न सामाजिक संस्थाएँ, धर्म, कला, कानून आदि सब मानव-आत्मा की उपज हैं। अत: इस ग्रन्थ में मानव के नैतिक एवं नागरिक जीवन का अध्ययन किया गया है, और यह दर्शाने का प्रयास किया गया है कि मानव अपने जीवन में अपने सच्चे रूप को कैसे समझ सकता है और किस प्रकार उत्तम जीवन की प्राप्ति कर सकता है। एक उत्तम व्यक्ति को एक उत्तम नागरिक भी होना चाहिए। सत् का ज्ञान (the idea of the good) मानव आत्मा के विकास की अन्तिम मन्जिल है। यही रिपब्लिक के विचारों का अन्तिम उद्देश्य है। प्लेटो की यह धारणा थी कि मानव अपनी आत्मा का विकास राज्य में रहकर ही कर सकता है। अत: उसका उद्देश्य राज्य का ऐसा आदर्श प्रस्तुत करना था, जिसमें व्यक्ति को जीवन के उपर्युक्त लक्ष्यों को प्राप्त करने का अवसर मिले। ज्ञान ही वह सद्गुण है जो इस उद्देश्य की प्राप्ति करा सकता है। अत: राज्य का संचालन ज्ञान के द्वारा होना चाहिए और ज्ञान के मार्ग की बाधाओं का निराकरण होना चाहिए। इन्हीं उद्देश्यों को लेकर रिपब्लिक में राज्य के संगठन तथा संचालन के सम्बन्ध में जिन विविध आदर्शों का प्रतिपादन

[1] Sabine, *op. cit.*, 58.

किया गया है, वे ज्ञान, सद्गुण तथा न्याय की धारणाओं पर आधारित हैं।

(3) **राजनीति के साथ-साथ नीतिशास्त्र का भी ग्रन्थ**—रिपब्लिक नीतिशास्त्र का ग्रन्थ है अथवा राजनीति का, इस विषय पर मतभेद हो सकता है। सुकरात तथा प्लेटो राजनीति एवं नीतिशास्त्र के मध्य भेद नहीं करते। उनके मत से, 'राजनीति नैतिक नियमों का ही विशद् रूप है।'[1] नैतिक नियम व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिए समान हैं। नैतिकता का सम्बन्ध वैयक्तिक जीवन से ही नहीं है, बल्कि सामाजिक जीवन से भी है। प्लेटो मानव आत्मा तथा राज्य मे समान गुणों (तत्वो) के अस्तित्व को मानता है। वह राज्य को व्यक्ति का ही विस्तृत रूप कहता है। मानव के समस्त व्यापार उसकी राज्य की नागरिकता से सम्बद्ध हैं। एक उत्तम व्यक्ति को उत्तम नागरिक भी होना चाहिए। जो बात राज्य के लिए हितकर है वह व्यक्ति के लिए भी हितकर है। अत: मनोवैज्ञानिक और सामाजिक प्रश्नों तथा नैतिक एवं राजनीतिक समस्याओं का पारस्परिक विवेचन रिपब्लिक की मुख्य विषय-वस्तु हैं। इस दृष्टि से 'रिपब्लिक नैतिक-राजनीतिक व्यवस्था का एकाकी ग्रन्थ है जिसमें व्यक्ति का अध्ययन राज्य के एक अभिन्न सदस्य के रूप में तथा राज्य का अध्ययन नैतिक समाज के रूप में किया गया है।' प्लेटो के मत से राजनीति सम्पूर्ण समाज की नैतिकता है, इस दृष्टि से रिपब्लिक राजनीति एवं नीति-शास्त्र दोनों का ग्रन्थ है, क्योंकि यह दोनों विषय एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखते है।

(4) **विषय-वस्तु राजनीतिक अर्थशास्त्र की द्योतक**—राजनीति का आधार आर्थिक होता है, इस तथ्य को प्लेटो ने रिपब्लिक में पूर्णतया अपनाया है। वह राज्य की उत्पत्ति की दार्शनिक विवेचना प्रस्तुत करने के साथ-साथ राज्य की उत्पत्ति के आर्थिक आधार को भी स्पष्ट करता है। व्यक्तियों की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के उद्देश्य से राज्य का निर्माण होता है। राज्य के आर्थिक आधार के सम्बन्ध में प्लेटो ने कहा है कि राज्य की उत्पत्ति मानव-जाति की आवश्यकताओं के कारण होती है। मानवों की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति पारस्परिक सहयोग से होती है। आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर राज्य में ही व्यक्ति उत्तम जीवन की प्राप्ति कर सकता है। प्लेटो के सम्पत्ति सम्बन्धी विचारों का आधार भी आर्थिक ही कहा जा सकता है। रिपब्लिक में आदर्श राज्य के सिद्धान्त का निरूपण करते हुए प्लेटो तत्कालीन नगर-राज्यों के पतन का कारण ढूँढ़ता है। नगर-राज्यों की सरकारों के अस्थायी रहने का कारण सम्पत्तिहीनों तथा सम्पत्तिशालियों के मध्य हितों का संघर्ष था, जिसके कारण दलबन्दी स्वार्थ आदि को बढ़ावा मिलने से शासन निर्बल हो जाते थे। प्लेटो ने कहा है कि 'प्रत्येक राज्य में दो पृथक् राज्य होते हैं। उनमें से किसी एक को राज्य नहीं कहना चाहिए, बल्कि कई राज्य कहना चाहिए, क्योंकि राज्य चाहे कितना ही छोटा क्यों न हो, वास्तव में दो राज्यों में विभक्त रहता है—एक निर्धनों का राज्य तथा दूसरा धनिकों का राज्य—और वे एक-दूसरे के साथ युद्धरत रहते हैं।' प्लेटो की इस उक्ति के दो निष्कर्ष निकलते हैं। प्रथम यह कि व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा धनी तथा निर्धन वर्गों को उत्पन्न करती है जिसके कारण समाज में व्यक्तियों के मध्य कलह तथा संघर्ष उत्पन्न होते हैं। वे राज्य की एकता के मार्ग में बाधक हैं। अत: व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा का अन्त किया जाना चाहिए, अथवा अधिकतम और न्यूनतम सम्पत्ति की सीमा निर्धारित की जानी चाहिए। दूसरा

[1] 'Politics is ethics writ large.'

निष्कर्ष यह भी निकलता है कि प्लेटो तत्कालीन ग्रीस के नगर-राज्यों की शासन-व्यवस्थाओं में इन दो तत्त्वों मे से एक की प्रधानता को अवाछित मानता है। स्पार्टा मे धनिकतन्त्र (oligarchy) था और एथेंस मे लोकतन्त्र, जिनमें सत्ता क्रमशः अत्यधिक धनिकों या पूर्णतः निर्धनों के हाथों में थी। दोनों पद्धतियों में शासन की कुशलता का अभाव था। इन व्यवस्थाओं के अन्तर्गत या तो अत्यधिक व्यक्तिवादिता थी, या अविशेषज्ञों का भ्रमजाल (amateurish meddlesomeness) बिछा हुआ था। इन दोनों में धनी तथा निर्धन दो वर्गों के मध्य सदैव शत्रुता का वातावरण बना रहता था। धन का मोह समस्त बुराइयों की जड़ था। ऐसे राज्यों में नागरिकों (व्यक्तियों) को उत्तम जीवन की प्राप्ति तथा सत् का ज्ञान सुलभ नहीं हो सकता था। इन दो राज्यों के मध्य भी परस्पर संघर्ष तथा प्रतियोगिता की भावना बनी रहती थी। बार्कर का मत है कि 'प्लेटो का एक राज्य के अन्दर ऐसे दो राज्यों का विचार स्वभावतः डिजराइली के 'दो राष्ट्र' का तथा आधुनिक समाजवादी 'वर्ग-संघर्ष' के विचारों का आभास कराता है।'[1] सैबाइन के अनुसार, 'एक राज्य के अन्दर धनिकों तथा निर्धनों के दो पृथक् राज्यों के अस्तित्व की धारणा यह भी प्रदर्शित करती है कि राज्य में धनिक वर्ग शासन से अपने ही हितों की पूर्ति की अपेक्षा करेगा चाहे उससे निर्धनों को कितनी ही हानि हो। दूसरी ओर निर्धन वर्ग यह प्रयत्न करेगा कि धनिकों पर अधिकाधिक करारोपण करके निर्धन वर्ग हेतु सार्वजनिक कार्य किये जायें।'[2] इस प्रकार धनिकों तथा निर्धनों के मध्य निरन्तर संघर्ष की स्थिति बनी रहने से राज्य में एकता तथा शान्ति नहीं बनी रह सकती। रिपब्लिक में प्लेटो ने इन तथ्यों का पर्याप्त विवेचन करके आदर्श राज्य के निर्माण हेतु सम्पत्ति के साम्यवाद, श्रम विभाजन तथा कार्यों के विशेषीकरण पर बल दिया है। प्लेटो के आदर्श राज्य में राजनीतिक अर्थव्यवस्था (political economy) का भी पर्याप्त विवेचन मिलता है।

(5) **शिक्षाशास्त्र की भी एक अद्वितीय रचना**—शिक्षा ज्ञान-प्राप्ति का साधन है। यदि राज्य का शासन ज्ञान द्वारा संचालित होना है तो शासकों को शिक्षा द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने का अवसर दिया जाना चाहिए। प्लेटो ने रिपब्लिक में इस तथ्य को पूर्णतया प्रदर्शित किया है। उसकी शिक्षा-योजना इतनी पूर्ण तथा पर्याप्त है कि रूसो ने रिपब्लिक को 'शिक्षाशास्त्र की महानतम रचना' माना है।[3] ग्रीक लोग राज्य तथा समाज में भेद नहीं करते थे। प्लेटो ने रिपब्लिक में जिस आदर्श व्यवस्था का विवेचन किया है वह वास्तव में एक आदर्श समाज की व्यवस्था है। उसने सामाजिक जीवन के विविध पक्षों पर विचार किया है। इस दृष्टि से रिपब्लिक समाजशास्त्र की भी एक अनुपम रचना सिद्ध होती है। संक्षेप में, ज्ञान के क्षेत्र में जितने भी शास्त्र होते हैं उनमें से कोई भी ऐसा नहीं जिसके सम्बन्ध में रिपब्लिक में विचार न किया गया हो।

(6) **संवादात्मक रचना शैली के कारण अपने गुरु सुकरात के विचारों को पुनर्जीवित किया**—प्लेटो के समस्त ग्रन्थ वर्णनात्मक न होकर संवादों के रूप में हैं।

[1] 'The Platonic view of the two states within each state naturally suggests Disraeli's phrase of the 'Two Nations', and the Modern Socialist idea of the class war.' —Barker, *Plato and His Predecessors*, 174.

[2] Sabine, *op. cit.*, 52.

[3] 'It (Republic) is the finest treatise on education that ever was written.'

संवादों के पात्रों में सुकरात मुख्य है। प्लेटो के जो भी विचार थे, उन्हे वह सुकरात के मुँह से वर्णित कराता है। प्रश्न तथा समस्याएँ अन्य पात्रों के द्वारा प्रस्तुत की जाती हैं। वास्तव में सुकरात की शिक्षण-पद्धति को प्लेटो ने अपने सवादों में निरूपित किया है। प्लेटो पर सुकरात की शिक्षा का इतना अधिक प्रभाव था कि प्लेटो ने अपने इस महानतम ग्रन्थ में अपने गुरु के विचारों को उसी के मुँह से व्यक्त करवाया है। इसीलिए मैक्सी के इस कथन—'प्लेटो मे सुकरात पुन: जीवित हुआ है' (In Plato Socrates lived again), का यह अर्थ है कि सुकरात की शिक्षा का प्लेटो पर इतना अधिक प्रभाव था कि उसकी सभी रचनाओ मे 'उसके गुरु की प्रतिमा उसके मस्तिष्क से कभी भी ओझल नहीं हुई।'[1] मैक्सी ने लिखा है कि 'प्लेटो ने अपनी रचनाओ मे जितना सुकरात से कहलाया है, वह सचमुच में सुकरात के मौलिक विचार हैं।'[2] प्लेटो स्वयं एक कवि भी था। अत: रिपब्लिक में उसने काव्य की भाषा-शैली का अनुगमन करके उसे एक उत्कृष्ट प्रकार की साहित्यिक रचना का रूप भी प्रदान किया है।

प्लेटो का न्याय सिद्धान्त

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, 'रिपब्लिक' का शाब्दिक अर्थ 'गणराज्य' भी होता है। परन्तु प्लेटो की सर्वोत्कृष्ट रचना 'रिपब्लिक' को इस अर्थ में नहीं लिया जाना चाहिए कि इस रचना में प्लेटो केवल राज्य या गणराज्य विषयक बातों का ही विवेचन करता है। इस ग्रन्थ का नाम 'न्याय का विषय' (Concerning Justice) भी रखा गया है। ग्रन्थ के सम्वाद 'न्याय' शब्द के विवेचन से प्रारम्भ होते हैं। संवाद के पात्र सुकरात, थ्रैसीमाकस, सिफेलस, ग्लॉकन, पोलीमारकस आदि है। वाद-विवाद 'न्याय' शब्द की व्याख्या पर चलता है। न्याय क्या है, इस सम्बन्ध में जो विभिन्न दृष्टिकोण पात्रों द्वारा व्यक्त किये गये थे उनका समाधान सुकरात के मुख से करवाया गया है और जो निष्कर्ष अन्त में निकाला गया वही प्लेटो का न्याय सम्बन्धी सिद्धान्त है।

प्लेटो से पूर्व प्राचीन ग्रीस में न्याय के मुख्यत: तीन सिद्धान्त प्रचलित थे। प्लेटो ने न्याय के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण को व्यक्त करने के पूर्व इन तीनों सिद्धान्तों का खण्डन किया।

पहला परम्परावादी सिद्धान्त था जिसकी अभिव्यक्ति 'रिपब्लिक' में सिफेलस और पोलीमारकस के द्वारा हुई थी। दूसरा सिद्धान्त थ्रैसीमाकस का था जो क्रान्तिकारी सिद्धान्त के नाम से जाना जाता था और तीसरा अनुभववादी सिद्धान्त ग्लॉकन का था। यहाँ इन तीनों सिद्धान्तों की प्लेटो द्वारा की गयी विवेचना अपेक्षित है।

न्याय के सम्बन्ध में भ्रामक मान्यताएँ

(1) **परम्परावादी सिद्धान्त** (Traditional Theory)—इस सिद्धान्त के प्रथम प्रतिपादक सिफेलस का कहना था कि सत्य बोलना तथा अपना ऋण चुकाना

[1] 'The image of his (Plato's) teacher never faded from his mind.'

[2] 'How much of what is ascribed to Socrates in the works of Plato is of genuine Socratic origin.' —Maxey, *op. cit.*, 39.

ही न्याय है। सिफेलस के पुत्र पोलीमारकस ने इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए कहा कि मित्रों के साथ भला करना तथा शत्रुओं को हानि पहुँचाना न्याय है। प्लेटो ने इन दोनों स्थापनाओं का खण्डन किया है। उसने कहा कि न्याय केवल सत्य बोलने मे अथवा अपने ऋण को चुकाने मात्र में निहित नहीं है। कभी-कभी शासकों के लिए राज्य के न्यायपूर्ण हितो को ध्यान में रखकर असत्य भी बोलना होता है जिसे किसी भी दृष्टि से अन्यायपूर्ण नहीं कहा जा सकता। कभी-कभी आर्थिक दृष्टि से वंचित व्यक्ति के लिए अपने ऋणों को चुकाने से इनकार कर देना भी न्यायपूर्ण होता है।[1] इसी प्रकार प्लेटो को पोलीमारकस की यह बात भी मान्य नहीं है कि मित्र के साथ भलाई करना तथा शत्रु के साथ बुरा करना न्याय है। 'दाँत के बदले दाँत तथा आँख के बदले आँख' की नीति का अनुसरण करना न्याय नहीं है। न्याय-प्रिय व्यक्ति किसी के प्रति भी बुरा करने की बात नहीं सोचता। इसके अतिरिक्त मित्र और शत्रु के बीच भेद करने की भी कोई सुनिश्चित कसौटी नहीं है। बहुत सम्भव है कि जिसे हम मित्र मान बैठे हैं वह वास्तव मे मित्र न हो और जिसे हम अपना शत्रु केवल इसलिए मान बैठे हैं क्योंकि वह हमारे दोषों को व्यक्त करने में कोई संकोच नहीं करता, वह यथार्थ में हमारा शत्रु न हो। ऐसी स्थिति में हम कपटी मित्र के साथ भला करेंगे जो वास्तव में हमारा शत्रु है और उस निश्छल व्यक्ति को हानि पहुँचाने की चेष्टा करेंगे जिसे हमने अपने अज्ञान के कारण शत्रु मान लिया है। स्पष्टत: इन मान्यताओं को न्याय की संज्ञा प्रदान नहीं की जा सकती। न्याय एक अपरिवर्तनीय एवं अनुलंघनीय सद्गुण है जिसे नीति अथवा कला का पर्यायवाची नहीं माना जा सकता।

(2) **क्रान्तिकारी सिद्धान्त** (Radical Theory)—थ्रैसीमाकस ने अपने क्रान्तिकारी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए न्याय को 'शक्तिशाली का हित' घोषित किया। थ्रैसीमाकस का तर्क था कि न्याय शक्तिशाली का प्राकृतिक अधिकार है। शक्तिशाली का शासन करने का अधिकार स्वयसिद्ध है, सामाजिक एवं राजनीतिक न्याय उस व्यक्ति के आदेश अथवा हितों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जो शक्ति-शाली है, 'क्योंकि प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपने लिए ही काम करता है और उस वस्तु को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है जो उसकी सामर्थ्य के भीतर है, परन्तु शक्तिशाली जो कुछ भी चाहता है, उसे प्राप्त कर लेता है और चूंकि राज्य मे सरकार ही सबसे अधिक शक्तिशाली है, वह उन सबको प्राप्त करन का प्रयत्न करेगी जिसे वह चाहती है तथा वह उसे प्राप्त कर सकेगी, यह बात असन्दिग्ध है।'

प्लेटो को यह तर्क मान्य नहीं है। उसका कहना है कि शासक आवश्यक रूप से सबसे अधिक शक्तिशाली नहीं होता। यदि न्याय शासक का हित है तो न्यायप्रिय व्यक्ति वह है जो शासक के आदेशों का पालन करता है। परन्तु यदि यह व्यक्ति शासक से अधिक शक्तिशाली है अथवा वह किसी प्रकार शासक की अपेक्षा अधिक शक्ति संगठित कर ले तो उस स्थिति मे उसके लिए शासक के आदेशों का उल्लंघन करना न्यायपूर्ण होगा, यदि उन आदेशों के पालन से उसके स्वयं के हितों पर आघात पहुँचता हो। इस प्रकार प्लेटो ने थ्रैसीमाकस के सिद्धान्त में निहित अन्तर्विरोध को व्यक्त करते हुए यह कहा है कि शासित के लिए शासक की आज्ञाओं का समयानुसार पालन करना तथा उनका उल्लंघन करना दोनों ही न्यायपूर्ण हैं। यही नहीं, यह भी

[1] प्लेटो ने 'लॉज' में इस दृष्टिकोण पर बहुत अधिक बल दिया है।

सम्भव है कि शक्तिशाली को यह मालूम ही न हो कि उसका हित क्या है। सब कुछ करने की क्षमता मात्र से किसी के हित की सन्तुष्टि नही हो सकती। बहुधा ऐसा देखा गया है कि वे सरकारें जो केवल शक्ति के बल पर शासन करती है, सबसे अधिक दुर्बल सरकारें सिद्ध हुई हैं। सरकार केवल वही टिकाऊ रही है जो शासितों के प्रति भला करती हो।

(3) **अनुभववादी सिद्धान्त** (Pragmatic Theory)—इसके प्रतिपादक ग्लॉकन ने न्याय को 'दुर्बल के हित' के रूप मे परिभाषित किया। अपनी इस मान्यता की व्याख्या करते हुए ग्लॉकन ने समाज के ऐतिहासिक विकास का एक चित्र प्रस्तुत किया है और कहा है कि न्याय की अवधारणा का उदय इसलिए हुआ ताकि दुर्बलों के हितों की रक्षा हो सके। आरम्भिक समाज मे जब न सरकार थी और न कानून; व्यक्ति को अनियन्त्रित रूप से आचरण करने का प्राकृतिक अधिकार प्राप्त था। इसके फलस्वरूप दुर्बल व्यक्ति सबलों के आचरण से पीडित थे और चूंकि समाज में सबल थोड़े थे और दुर्बल बहुत, इसलिए जीवन का आनन्द भी केवल थोड़े से लोगों को ही प्राप्त था। इस स्थिति से दुखी होकर दुर्बलों ने आपस में समझौता करके सरकार और कानून की स्थापना की और इसके माध्यम से उन्होंने नियन्त्रित एवं न्यायपूर्ण आचरण का दर्शन प्रस्तुत किया। इस प्रकार ग्लॉकन ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि न्याय की अवधारणा का उद्गम उस सविदा में है जो दुर्बलों के बीच आरम्भिक अवस्था मे हुआ था। इसी आधार पर ग्लॉकन ने यह निष्कर्ष निकाला कि न्याय कृत्रिम है, वह 'सविदा का परिणाम' है तथा 'भय का आत्मज' है। मनुष्य का नैसर्गिक स्वार्थ न्याय के कृत्रिम बन्धनो से जकड़ जाता है, अतः न्याय बहुसंख्यक दुर्बलो का सशक्त अल्पसंख्यकों के विरुद्ध हित है।

प्लेटो को यह सिद्धान्त भी मान्य नहीं है। परन्तु उसने इस सिद्धान्त की आलोचना में वह सिद्धहस्तता प्रदर्शित नहीं की जो वह पहले दो सिद्धान्तों की आलोचना के सम्बन्ध में कर चुका था। उसने केवल यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि न्याय कोई सविदाजन्य अथवा कृत्रिम अवधारणा नही है, अपितु वह मनुष्य का आन्तरिक गुण है। उसने कहा कि ग्लाकन के अनुसार ससार मे कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं हो सकता जो स्वेच्छा से न्यायपूर्ण आचरण करना चाहे; यदि दुर्बल न्याय के अनुसार आचरण करते है तो वह केवल इसलिए क्योंकि उनमे सशक्तों पर अन्याय करने की क्षमता नहीं है; इसी प्रकार शक्तिशाली भी न्याय के अनुसार आचरण करने के लिए कानून की उपस्थिति के कारण बाध्य हैं। परन्तु यह मान्यता जीवन के अनुभवों से मेल नहीं खाती। वास्तविक जीवन में मनुष्य न्याय के अनुसार आचरण भय से प्रेरित होकर नहीं करते। ग्लॉकन के समाज मे 'अन्यायी' मनुष्य सबसे अधिक लाभ और सबसे अधिक ख्याति अर्जित कर सकेगा, जबकि 'न्यायपूर्ण' व्यक्ति को सबसे बड़े मूर्ख के रूप में ही जाना जायेगा। स्पष्टतः इस प्रकार का समाज कभी भी उन्नतिशील नहीं हो सकता। यथार्थ मे ऐसा समाज स्थायी भी नही हो सकता।

न्याय क्या है ?

(1) **शक्तिशाली का हित नहीं**—न्याय की विविध परम्परागत धारणाओं का समाधान करते हुए प्लेटो न्याय की पारिभाषिक व्याख्या करता है। उसके मत से न्याय शक्तिशाली का हित नहीं हो सकता। उसके अनुसार शासक उन गडरियों

की भाँति है जो अपनी भेड़ों की रक्षा में लगे हों। उनका अस्तित्व शासितों के हित में शासन करने में निहित है। सत्ता एक प्रकार की न्यास है (Power is a trust) जिसका दुरुपयोग नहीं किया जाना चाहिए।

(2) **चार मानवीय सद्गुणों में से एक**—प्लेटो के मत से न्याय मानवीय सद्गुणों का एक अग है। किसी व्यक्ति मे सद्गुण (virtue) का अस्तित्व वह विशेषता है जो उसे एक मानव बनाती है और उसे उत्तमता प्रदान करती है। मानवीय सद्गुण मनुष्य के व्यवसायगत सद्गुणों से भिन्न है। कोई व्यक्ति एक उत्तम कारीगर हो सकता है, परन्तु यह आवश्यक नही है कि वह एक उत्तम मानव भी हो। अतः मानवीय सद्गुण वह है जो किसी मानव को श्रेष्ठतम मानव बनाता है। प्लेटो के मत से मानवीय सद्गुण (human virtue) मे चार तत्त्व विद्यमान रहते है—(i) बुद्धि या विवेक (wisdom), (ii) साहस (courage), (iii) निग्रह या आत्म-सयम (temperance or self-control), तथा (iv) न्याय (justice)। एक पूर्णता-प्राप्त उत्तम व्यक्ति मे ये चारो तत्त्व विद्यमान होने चाहिए।

(3) **राजनीतिक समाज के संगठन का मुख्य तत्त्व**—प्लेटो के अनुसार न्याय केवल मानवीय सद्गुणों का एक अंग मात्र नही है। यह मानवो मे वह गुण है जो उन्हें एक-दूसरे के मध्य राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता प्रदान करता है, जिसके कारण राजनीतिक समाजों का निर्माण होता है। यह वह सूत्र है जो कि मानवों को राज्य के अभिन्न अंग या सदस्यों के रूप मे आबद्ध करता है। इसी के कारण मानव सामाजिक एव उत्तम प्राणी बनते है। बार्कर के मत से, 'राज्य के सद्गुण उसके सदस्यों के सद्गुण है जबकि वे राज्य के सदस्यों के रूप मे कार्य करते हैं।'[1] बुद्धि या विवेक राज्य के शासको का सद्गुण है, उत्साह सैनिक वर्ग का गुण है तथा आत्म-संयम उत्पादक वर्ग का। इन तीनों तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करने वाले वर्ग जब अपने-अपने निर्दिष्ट क्षेत्रों में कार्य करते हुए एक-दूसरे के हित मे कार्य करने की भावना रखते हैं तो वही सामाजिक न्याय है। ऐसी भावना से संगठित समाज आदर्श राज्य बनता है। इस प्रकार मानवीय सद्गुण एव राज्य के सद्गुण समान तत्त्वों से युक्त हैं। प्लेटो की न्याय-विषयक इस धारणा के सम्बन्ध मे सैबाइन ने कहा है कि 'न्याय वह बन्धन (bond) है जो समाज के व्यक्तियों को एक सम-रूप संगठन में बाँधकर रखता है, जिसमे विविध तत्त्वो का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्ति अपनी नैसर्गिक योग्यता तथा प्रशिक्षण के अनुसार अपने जीवन भर का कार्य ढूँढ़कर उससे जीवनयापन करते है।'[2] प्लेटो ने कहा है कि 'न्याय वह सद्गुण है जो राज्य में तब भी विद्यमान रहता है जबकि बुद्धि, उत्साह तथा आत्म-संयम के सद्गुण उससे पृथक् हो जाते हैं और अन्ततोगत्वा यही सद्गुण उन तीन सद्गुणों के अस्तित्व का कारण रहता है।'

(4) **प्रत्येक व्यक्ति का नैसर्गिक योग्यता के अनुसार निर्दिष्ट कार्य में लगे रहना**—प्लेटो के मत से न्याय वैयक्तिक एवं सार्वजनिक सद्गुण है, क्योंकि यह व्यक्ति एव राज्य दोनों की उच्चतम अच्छाई को बनाये रखता है। व्यक्ति के लिए सर्वोत्तम बात यही है कि वह अपना निर्दिष्ट कार्य करे और उसे करने के योग्य सिद्ध हो सके। इसी प्रकार राज्य में प्रत्येक व्यक्ति का कार्य-क्षेत्र निर्धारित करने का नियम

[1] Barker, *op. cit.*, 203.
[2] Sabine, *op. cit.*, 60.

यही है कि वह जिस कार्य के लिए सर्वाधिक योग्य हो उसी को करे, यही न्याय की धारणा है। इस धारणा के अनुसार राजनीतिक समाज (राज्य) में उसके निर्माताओं के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहता है। ईबनस्टीन (Ebenstein) ने कहा है कि 'न्याय का विवेचन करने में प्लेटो के राजनीतिक दर्शन के समस्त तत्त्व शामिल है। उसके न्याय सिद्धान्त के अन्तर्गत मानव के प्रकृति के साथ, राज्य के साथ तथा अपने अन्य साथियों के साथ जिन सम्बन्धों का निरूपण किया गया है, वे एक सुसम्बद्ध ढग से बने भव्य भवन का निर्माण करते हैं।'[1] इस उपमा का सारांश यह है कि राज्य रूपी सुन्दर भवन का निर्माण करने वाले व्यक्ति प्लेटो के न्याय-सिद्धान्त के आधार पर ऐसे सामजस्यपूर्ण ढग से एकता के सूत्र में पिरोये गये है कि प्रत्येक सम्पूर्ण का निर्माण करते हुए अपने वास्तविक सौन्दर्य को भी परिलक्षित करता है। राज्य के अन्दर व्यक्ति की स्थिति का जो चित्र अपने न्याय-सिद्धान्त के द्वारा प्लेटो ने दर्शाया है, वह इस बात का द्योतक है कि प्लेटो व्यक्तिवाद का विरोधी है और व्यक्ति को राज्य का अभिन्न अग मानता है। बार्कर ने कहा है कि प्लेटो की धारणा के अनुसार, 'व्यक्ति का स्व कोई पृथक् इकाई नहीं है, अपितु वह एक व्यवस्था का अग है और उस व्यवस्था के अन्तर्गत उसका निश्चित स्थान है, अभिव्यक्ति की पूर्णता तथा सुख की सच्ची चेतना (व्यक्ति को) तभी प्राप्त हो सकती है जबकि वह अपने निर्धारित स्थान पर अपने कर्त्तव्य को सम्पन्न करता है।'[2]

(5) न्याय पर आधारित व्यवस्था व्यक्ति में कर्त्तव्य की भावना को प्रेरित करती है—प्लेटो के न्याय सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति तथा राज्य के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। दोनों के सद्गुण तथा चेतना समान हैं। दोनों में समान तत्त्व हैं। प्लेटो की यह प्रसिद्ध उक्ति है कि 'राज्य ओक के वृक्ष या चट्टान से उत्पन्न नहीं होते, अपितु उनका उद्गम स्रोत उसमें निवास करने वाले व्यक्तियों के आचरण हैं।' अतः व्यक्ति के आचरण का अध्ययन करने के लिए राज्य का अध्ययन आवश्यक है। मानव संस्थाएँ मानव मस्तिष्क की अभिव्यक्ति हैं। न्याय उसके मस्तिष्क का स्वभाव है। राज्य मानव आत्मा की उपज है। मानव आत्मा के तीन तत्त्व विवेक (reason), उत्साह (spirit), तथा तृष्णा (appetite) हैं। यही तीन तत्त्व राज्य में भी विद्यमान हैं। शासक विवेक का, सैनिक उत्साह का, तथा उत्पादक वर्ग तृष्णा तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करते हैं। न्याय का तत्त्व इन तीनों वर्गों के मध्य सामजस्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करते हुए उन्हें एकता में सूत्र में बाँधता है। प्रत्येक वर्ग अपने निर्धारित कार्यों को सम्पूर्ण के हित में करने की भावना से सम्पन्न करता है। न्याय वह सिद्धान्त है जो इस आधार पर राज्य की नींव खड़ी करता है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति केवल उसी कार्य को सम्पन्न करे जिसके लिए प्रकृति ने उसे सर्वोत्तम योग्यता प्रदान की है। इस दृष्टि से प्लेटो के न्याय-सिद्धान्त का यह अभिप्राय है कि राज्य में प्रत्येक व्यक्ति अपने निर्धारित कर्त्तव्यों को सम्पन्न करे और दूसरों के क्षेत्र में प्रविष्ट न हो। अतः न्याय का निवास-स्थान प्रत्येक नागरिक की अन्तरात्मा मे है जिसके अनुसार वह अपने निर्दिष्ट स्थान पर अपना कर्त्तव्य करता है। राज्य के सम्बन्ध में न्याय का अर्थ है, 'नागरिकों में कर्त्तव्यों की भावना का होना।' यह भावना मनुष्य को सामाजिक बनाती है। वह अपने पृथक् व्यक्तिगत अस्तित्व की अपेक्षा अपने को

[1] W. Ebenstein, *Great Political Thinkers*, 1965, 12.
[2] Barker, *op. cit.*, 181.

समाज के एक आवश्यक तथा अभिन्न अंग के रूप में मानता है। 'इस प्रकार सामाजिक न्याय समाज का वह सिद्धान्त है जिसके अन्तर्गत समाज में शासक, सैनिक एवं उत्पादक वर्ग एक-दूसरे के हित में अपनी आवश्यकता की भावना से संयुक्त हों, और एक ही समाज मे अपने इस सयोग तथा अपने-अपने निर्दिष्ट कार्य मे अपने को केन्द्रीभूत करते हुए एक सम्पूर्ण की रचना करें, जो कि हर प्रकार पूर्ण हो, क्योंकि वह सम्पूर्ण समाज समूचे मानव मस्तिष्क की उपज तथा प्रतिबिम्ब होगा।'[1]

(6) **आधुनिक ढंग की न्याय की विधिशास्त्रीय धारणा से पूर्णतया भिन्न**—प्लेटो का सामाजिक न्याय का सिद्धान्त न्याय को समाज मे नैतिक जीवन हेतु एक अपरिहार्य गुण मानता है। यह सिद्धान्त व्यक्ति के अधिकारो की धारणा की अपेक्षा उसके कर्त्तव्यो को महत्त्व प्रदान करता है। सैबाइन के मत से प्लेटो की न्याय की परिभाषा 'किसी भी अर्थ मे विधिशास्त्रीय परिभाषा नहीं है।' इसके अन्तर्गत मनुष्य के अधिकारो तथा कार्यो का सरक्षण कानून द्वारा होने तथा उनका समर्थन राज्य की सत्ता द्वारा किये जाने की धारणा नही है। प्लेटो का न्याय सिद्धान्त इस बात पर आधारित है कि राज्य की सृष्टि व्यक्तियों की पारस्परिक आवश्यकताओं के कारण हुई है। अतः न्याय का अर्थ शक्ति की अपेक्षा सेवा की भावना है। यहाँ तक कि शासक भी इसमे अपवाद नहीं है। उसका केवल यही कार्य है कि वह अपने विवेक तथा बुद्धि के आधार पर अपना निर्दिष्ट कार्य करे। प्लेटो की विचारधारा मे शासक की सत्ता या सम्प्रभुता जैसी धारणा परिलक्षित नहीं है। दार्शनिक राजा बुद्धि तथा विवेक तत्त्व का प्रतिनिधित्व करता है। उसे यह देखना चाहिए कि विशिष्टता के आधार पर समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपना-अपना कार्य करे और शासक उनके मध्य सामजस्य स्थापित करे। चूंकि राज्य का निर्माण करने वाले तत्त्व व्यक्ति है जिनमे वही सब गुण विद्यमान रहते है जो कि राज्य में है, अतः इसका यह निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक न्याय (justice of the state) तथा वैयक्तिक न्याय (justice of the individual) दोनों का प्रदर्शन व्यक्ति के द्वारा किया जायेगा। ऐसा करने में सामाजिक न्याय के सम्बन्ध में तो व्यक्ति समाज के एक अभिन्न अंग के रूप मे न्याय की अभिव्यक्ति करेगा अर्थात् समाज मे वह उन्हीं कार्यों को करेगा जिनके करने के लिए वह स्वाभाविक योग्यता रखता हो, या यों कह सकते हैं कि उसमें विवेक, उत्साह या तृष्णा मे से जिस तत्त्व की प्रधानता होगी वह उसी से सम्बद्ध कार्य को करेगा। वैयक्तिक न्याय के सम्बन्ध में, चूंकि स्वंय उसकी आत्मा मे भी उपर्युक्त तत्त्व विद्यमान है, वह अपने मन (mind) से न्याय का प्रदर्शन करेगा। अर्थात् वह अपनी आत्मा में विद्यमान तीनों तत्त्वो को समुचित स्थान पर रखने का प्रयास करेगा। इस प्रकार प्लेटो के न्याय-सिद्धान्त के अन्तर्गत कार्य-विभाजन तथा कार्यों के विशेषीकरण का अर्थ होगा—सामाजिक सहयोग। दार्शनिक राजा का कर्त्तव्य यह है कि वह इन व्यवस्थाओं को अधिकाधिक लाभ की दृष्टि से नियमित करता रहे।

(7) **शिक्षा तथा साम्यवाद की योजनाएँ न्याय की स्थापना के साधन**—प्लेटो

[1] 'Social justice may thus be defined as the principle of a society consisting of different types of men (the producing type, the military type and the ruling type) who have combined under the impulse of their need for one another, and by their combination in one society, and their concentration on their separate functions, have made a whole which is perfect, because it is the product and the image on the whole human mind.' —*Ibid.*, 204.

का न्याय-सिद्धान्त सार्वभौम न्याय (universal justice) की धारणा का सूचक है। यह कानूनी न्याय (legal justice) से भिन्न है। जिस राज्य का आधार कानून है, उसमें कानूनी न्याय विद्यमान रहता है। यह सार्वभौम न्याय के समान पूर्ण नहीं है। सार्वभौम न्याय एक आदर्श राज्य मे ही विद्यमान रहता है। वितरणात्मक न्याय (distributive justice) के सम्बन्ध में प्लेटो की धारणा यह है कि राज्य मे व्यक्तियों को उनकी योग्यता तथा राज्य के प्रति किये गये कर्त्तव्यो के अनुसार पद प्राप्त हों। योग्यता के निर्धारण का आधार नैतिक तथा बौद्धिक योग्यता होगा। समस्या यह आयेगी कि दार्शनिक राजा ऐसी व्यवस्था को किन साधनों द्वारा स्थापित करेगा और ऐसी व्यवस्था के अन्तर्गत सामजस्य स्थापित करने हेतु क्या साधन अपनायेगा। सैबाइन के विचार से, इसके दो उपाय हो सकते है—या तो उत्तम नागरिकता के मार्ग की बाधाओं को दूर किया जाय, अथवा उत्तम नागरिकता के विकास हेतु विध्यात्मक परिस्थितियों का सृजन किया जाय।[1] प्लेटो ने स्वयं इन दोनों पक्षों का विवेचन किया है। उसके द्वारा प्रतिपादित सम्पत्ति तथा परिवार के साम्यवाद का सिद्धान्त बाधाओं के निराकरण का तथा शिक्षा योजना द्वारा विध्यात्मक परिस्थितियों के सृजन का आयोजन करता है।

निष्कर्ष—प्लेटो के न्याय सिद्धान्त के आधार पर निम्नांकित निष्कर्ष निकलते है—

(1) मानव आत्मा में विवेक, उत्साह तथा तृष्णा तीन तत्त्वों का अस्तित्व है। न्याय वह मानवीय सद्‌गुण है जो मानव आत्मा के इन तत्त्वों में से जिसकी उस मानव में प्रधानता है, उसी के अनुसार अपना जीवन व्यवसाय चुनने की प्रेरणा देता है, इन्हीं तीन तत्त्वो का अस्तित्व राज्य या समाज में होता है। इसके अनुसार ही तीन सामाजिक वर्गों का निर्माण होता है। ये वर्ग है, विवेक का प्रतिनिधित्व करने वाले दार्शनिक शासक, उत्साह का प्रतिनिधित्व करने वाले संरक्षक, तथा तृष्णा का प्रतिनिधित्व करने वाले उत्पादक वर्ग। सामाजिक न्याय यही है कि समाज का निर्माणकारी प्रत्येक वर्ग अपने योग्य कार्य को ही करे और दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप न करे। व्यक्ति का विवेक तत्त्व उसकी आत्मा में विद्यमान अन्य तत्त्वों के मध्य तथा समाज का विवेक तत्त्व समाज के अन्दर विद्यमान अन्य तत्त्वों के मध्य सामंजस्य स्थापित करते हैं। यही न्याय है और इसके आधार पर ही एक सामजस्यपूर्ण आदर्श समाज का निर्माण सम्भव है।

(2) समाज या राज्य का संगठन विभिन्न तत्त्वों से युक्त व्यक्तियों के मध्य कार्य के विशेषीकरण के आधार पर ही होना चाहिए जिसमे प्रत्येक व्यक्ति सम्पूर्ण के हित में केवल उसी कार्य को करे जिसके लिए उसकी नैसर्गिक योग्यता तथा प्रशिक्षण उसे निर्दिष्ट करें। इस प्रकार समाज एक सावयविक एकता का रूप ग्रहण करता है।

(3) विवेक तथा उत्साह तत्त्व से युक्त व्यक्तियों को भौतिक चिन्ताओं से मुक्त रखने के लिए परिवार एवं सम्पत्ति से वंचित रखा जाय ताकि वे निःस्वार्थ भाव से अपने निर्दिष्ट कर्त्तव्य का पालन कर सकें।

(4) शिक्षा की विशद् योजना द्वारा उपर्युक्त वर्ग की शिक्षा तथा दीक्षा का प्रबन्ध किया जाय।

[1] Sabine, *op. cit.*, 61.

(5) महिला वर्ग को पुरुष की दासता से मुक्त किया जाय और सार्वजनिक क्षेत्र मे उन्हें पुरुषों के समान ही अधिकार दिये जाये।

(6) समाज का प्रत्येक व्यक्ति सम्पूर्ण समाज के हित मे कार्य करे और अपने व्यक्तिगत अधिकारों तथा शक्तियो की कामना न करे। वह राज्य का अभिन्न अग रहकर उसके अंग की भांति अपना कार्य करे। इस प्रकार व्यक्ति बनाम राज्य की धारणा को प्लेटो के न्याय-सिद्धान्त में कोई स्थान प्राप्त नहीं है। न्याय व्यक्ति के अधिकारों की अपेक्षा कर्त्तव्यों की धारणा की सूचक है।

(7) प्लेटो का न्याय-सिद्धान्त सार्वभौम न्याय की धारणा है न कि कानूनी या विशेष न्याय की धारणा। इसका मूल आधार सामाजिक तथा व्यक्तिगत नैतिकता है।

आलोचना

प्लेटो का न्याय सम्बन्धी सिद्धान्त व्यक्तिगत तथा सामाजिक नैतिकता का परिचायक है। प्लेटो के रिपब्लिक मे मानव जीवन को एक ऐसे काल्पनिक आदर्श राज्य में प्रदर्शित किया गया है जो उसकी न्याय की धारणा पर निर्मित हो और जिसका शासन सत् के ज्ञान (idea of the good) के आधार पर संचालित हो। परन्तु अनेक दृष्टियों से इसकी आलोचना की जाती है :

(1) **प्लेटो का न्याय सिद्धान्त भावनामूलक है**—प्लेटो ने सारा सिद्धान्त भावनामूलक धारणा में परिणत कर दिया है। इसके अनुसार समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपने कार्यक्षेत्र में ही सीमित रहने की बात कही गयी है। इस बात का कोई समाधान नही बताया गया कि व्यक्तिगत इच्छाओं के मध्य सघर्ष की स्थिति आने पर क्या युक्ति काम मे लायी जायेगी। विविध क्षेत्रों मे कार्य करने वाले व्यक्तियों के हितों में संघर्ष हो सकता है। प्लेटो के सिद्धान्त के अनुसार आत्म-सयम का गुण इसका समाधान होगा। परन्तु आत्म-सयम तो एक नैतिक सिद्धान्त है न कि कानूनी। वह व्यक्ति की अन्तरात्मा का विषय है न कि समाज मे व्यक्ति के आचरण को निदेशित करने वाली बाह्य परिस्थितियाँ। इस दृष्टि से यह सिद्धान्त नैतिक कर्त्तव्य तथा कानूनी दायित्व के मध्य स्पष्ट भेद नही करता। इसके पीछे कानूनी अनुशास्ति नहीं है। अत: इसे लागू नहीं किया जा सकता।

(2) **समाज के व्यक्ति के अधिकारों की उपेक्षा उसे समाज के हित में अपने को बलिदान कर देने के तुल्य**—प्लेटो की न्याय की धारणा न्याय शब्द की विधिशास्त्रीय ढंग से पारिभाषिक व्याख्या नहीं करती। यह न्याय की नकारात्मक व्याख्या है। यह सामाजिक नैतिकता की धारणा है। यह समाज को एक ऐसे सावयव के रूप में लेती है जिसका व्यक्ति एक अभिन्न अंग है और अपना निर्धारित कार्य करता है। इसके अन्तर्गत समाज तथा उसके अग व्यक्तियों के अधिकारो का कोई कानूनी आधार नहीं है। राज्य मे व्यक्ति के राजनीतिक अधिकार जैसी कोई न्यायिक धारणा इस परिभाषा में नहीं है। अत: नैतिकता के नाम पर व्यक्ति के अधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं की धारणा का बलिदान हो जाता है। सामाजिक नैतिकता की धारणा रूसो की सामान्य इच्छा की धारणा की ही भाँति एक भावनामूलक विचार है। राजनीतिक समाज में उसकी सम्प्रभुता बनी रहेगी। प्लेटो के अनुसार, उसका नियमन विवेक तत्त्व के द्वारा किया जायेगा। इस दृष्टि से विवेक तत्त्व का प्रतिनिधित्व करने वाले दार्शनिक

शासक का सर्वसत्तावाद ही सामाजिक नैतिकता का निर्धारक तत्त्व रहेगा ।

(3) **स्वेच्छाचारी शासन का द्योतक है**—इस धारणा के अनुसार यह सम्भव है कि विवेक का शासन सत्ताधारी वर्ग की तानाशाही में परिणत हो जाय । सत्ताधारी वर्ग अपने वर्गगत हितों को सार्वजनिक हितों से समीकृत करने लगेंगे । प्लेटो को जनतन्त्र से सहानुभूति नहीं थी, अतएव वह राजनीतिक सत्ता के सम्बन्ध में उत्पादक वर्ग की जो कि राज्य के विशाल अंग का निर्माण करते है, उपेक्षा करके उसके दायित्वों पर ही बल देता है, न कि अधिकारों पर । इस दृष्टि से प्लेटो का न्याय सिद्धान्त सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्र मे व्यक्ति को साधनमात्र प्रदर्शित करता है । ऐसी व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति का अस्तित्व राज्य के लिए होगा न कि राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के लिए ।

(4) **विशेषीकरण के आधार पर कार्य विभाजन के दोषों को उपेक्षित रखना उचित नहीं है**—प्लेटो कार्य-विभाजन तथा कार्यों के विशेषीकरण के सिद्धान्त को सामाजिक न्याय की वास्तविक अभिव्यक्ति समझता है । वह विशेषीकरण की बुराइयों का ध्यान नहीं रखता । यह निर्धारित करना सरल कार्य नही है कि किस मनुष्य मे कौन-सा तत्त्व प्रमुख है । व्यक्ति को एक ही प्रकार का कार्य करने तक सीमित रखना उचित प्रतीत नही होता । यह सम्भव है कि किसी व्यक्ति में एक तत्त्व की प्रमुखता के साथ-साथ अन्य तत्त्व भी प्रभावपूर्ण ढग से विद्यमान हों । मानव अपने पूर्ण विकास हेतु विविध व्यवसाय करना चाहता है । यह सिद्धान्त व्यक्तित्व के 2/3 भाग की उपेक्षा करता है । विशेषीकरण का सिद्धान्त उसकी आत्मा में विद्यमान अन्य तत्त्वों के समुचित विकास को अवरुद्ध कर देगा । प्लेटो की अवस्था में उत्पादक वर्ग की शासन-सत्ता के सम्बन्ध में इतनी उपेक्षा की गई है कि उस वर्ग के किसी ऐसे व्यक्ति को जिसमें विवेक तथा उत्साह तत्त्वों की प्रधानता हो भी तो उसे इन वर्गों मे आने के साधन तथा सुविधाएँ प्राप्त नहीं हो सकेंगी । यह उचित ही कहा गया है कि 'प्लेटो के लौहकार निरन्तर लौहकार ही बने रहेंगे, उन्हें स्वर्णकार बनने के अवसर नहीं मिलेंगे ।'

(5) **प्लेटो की धारणा में राज्य के अन्तर्गत शासन तथा शासितों के मध्य वर्ग-संघर्ष की सम्भावना**—प्लेटो ने एक राज्य के अन्दर दो संघर्षरत राज्यों के अस्तित्व की बात कही है जो वर्ग-संघर्ष की द्योतक है । यद्यपि उसकी दो राज्यों की धारणा दो आर्थिक वर्गों के अस्तित्व तथा राजनीतिक क्षेत्र मे उनके मध्य संघर्ष की द्योतक है, तथापि उसके न्याय सिद्धान्त के अनुसार समाज मे कार्य के विशेषीकरण के आधार पर जिन वर्गों की सृष्टि होती है वे भले ही आर्थिक वर्ग न हों, तथापि उनमें से शासन सत्ता के मालिक एक ही वर्ग के लोग होंगे । स्वभावतः अन्य वर्ग शासक वर्ग के प्रति ईर्ष्या रखेंगे । इस प्रकार राज्य एक ऐसा वर्ग-राज्य बन जायेगा जिसमें सत्ता एक वर्ग-विशेष का विशेषाधिकार होगी । प्लेटो इस उक्ति की उपेक्षा करता है कि 'सत्ता भ्रष्ट होती है, और असीम सत्ता असीम ढंग से भ्रष्ट होती है ।' शासक वर्ग भले ही ज्ञानी तथा विवेकशील हों, तथापि वे देवता तो नहीं हैं । वे मानव ही हैं और मानवीय दुर्बलताएँ अवश्य होंगी, जो उन्हें भ्रष्ट कर देंगी । ऐसी स्थिति में जो अन्याय उनसे होंगे, उन्हें दूर करने की कोई युक्ति प्लेटो ने नहीं बतायी है । आधुनिक न्याय की धारणा का आधार समानता होता है, परन्तु प्लेटो इसकी उपेक्षा करता है ।

(6) इस सिद्धान्त को लागू करने के साधन भी औचित्यपूर्ण नहीं—प्लेटो के न्याय सिद्धान्त को आदर्श राज्य में लागू करने का निषेधात्मक साधन अर्थात् सम्पत्ति तथा परिवार का साम्यवाद मानव मनोविज्ञान के विरुद्ध है। यह विवेक तथा उत्साह तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करने वाले वर्गों को उनकी नैसर्गिक इच्छाओं को तृप्त करने से वंचित रखेगा। अतएव उसे व्यवहृत करने में जो कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी, उनके बारे में प्लेटो ने जरा भर भी सोचने की परवाह नहीं की। इसी प्रकार विध्यात्मक साधन, अर्थात् शिक्षा का लाभ भी समाज के इस विशाल वर्ग को न मिलना न्याय नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार प्लेटो का न्याय सिद्धान्त एक कल्पना-मूलक आदर्श था जिसका आधार यथार्थ से बहुत दूर है।

सम्पत्ति तथा परिवार का साम्यवाद

न्याय सिद्धान्त के आधार पर प्लेटो ने जिस आदर्श समाज अथवा राज्य की कल्पना की है, उसकी समुचित व्यवस्था हेतु उसने एक साधन के रूप में सम्पत्ति तथा परिवार के साम्यवाद की व्यवस्था का प्रतिपादन किया है। प्लेटो का साम्यवाद राजनीतिक सत्ता एवं आर्थिक प्रलोभनों की बुराई को दूर करने के निमित्त एक साहसपूर्ण उपचार है। साम्यवाद के द्वारा प्लेटो शासक वर्ग को व्यक्तिगत सम्पत्ति एवं पारिवारिक जीवन की चिन्ताओं से मुक्त रखना चाहता है। ऐसी व्यवस्था का आधार उसका न्याय-सिद्धान्त है तथा उद्देश्य आध्यात्मिक उन्नति है। प्लेटो *न्याय* को मानव मस्तिष्क की उपज मानता है। अत: न्याय की सच्ची अभिव्यक्ति के लिए मानव में उत्तम आदतों का सृजन किया जाना चाहिए। ऐसा तभी हो सकता है जबकि मनुष्य भौतिक चिन्ताओं से मुक्त रहे। प्लेटो बुद्धि तत्त्व का प्रतिनिधित्व करने वाले वर्ग को समाज के शासन-सचालकों की स्थिति प्रदान करता है। अतएव प्लेटो यह मानकर चलता है कि जब तक वे व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा पारिवारिक जीवन की चिन्ताओ से मुक्त नहीं रहेंगे, तब तक वे सामाजिक व्यवस्था का संचालन तथा अन्य तत्त्वों का निदेशन उचित रूप से नहीं कर पायेंगे। प्लेटो की धारणा के आदर्श राज्य की व्यवस्था में शासक-वर्ग सम्पूर्ण राज्य के हित में तभी अपने निर्दिष्ट कार्य-क्षेत्र में रत रह सकते हैं जबकि उनकी अपनी कोई व्यक्तिगत सम्पत्ति न हो और वे कौटुम्बिक जीवन की चिन्ताओं से पूर्णतया पृथक् रहें, क्योंकि सम्पत्ति तथा परिवार वासना तत्त्व के प्रतीक हैं। विवेक तथा उत्साह तत्त्वों से युक्त शासकों को वासना से पृथक् रखना आवश्यक है। इस प्रकार प्लेटो दो प्रकार के साम्यवाद की व्यवस्था बताता है :

(1) सम्पत्ति का साम्यवाद—शासक तथा सैनिक वर्ग जिन्हें वह सरक्षक (guardians) कहता है किसी प्रकार की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं रख सकेंगे। उनके न तो निजी मकान होंगे, न निजी भूमि, न धन। वे राज्य द्वारा व्यवस्थित बैरेकों (barracks) में निवास करेंगे और सार्वजनिक भोजनालयों में उनके खाने-पीने की व्यवस्था भी राज्य द्वारा की जावेगी। यह व्यवस्था उस प्रकार की होगी जैसी कि आधुनिक युग में सेना के कर्मचारियों के निमित्त की जाती है, जबकि वे सैनिक कैम्पों में रहते है। यह सम्पत्ति का साम्यवाद है।

(2) परिवार का साम्यवाद—उपर्युक्त वर्ग के लिए दाम्पत्य जीवन व्यतीत करना वर्जित होगा। उनके लिए स्थायी वैवाहिक जीवन व्यतीत करना एवं परिवार

में पृथक् रूप से रहना भी वर्जित होगा। परिवार-प्रथा व्यक्तिगत सम्पत्ति को तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति लोभ, मोह आदि वासनाओं को जन्म देती है। संरक्षक वर्ग को इससे दूर रखना सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। परन्तु प्लेटो ऐसे वर्ग के व्यक्तियों के प्रजनन की आवश्यकता का भी ध्यान रखता है। अत: इस वर्ग के सुयोग्य स्त्री-पुरुषों के राज्य के निरीक्षण में यौन-सम्बन्धों की व्यवस्था सुझायी गयी है। राज्य द्वारा नियमित आकस्मिक यौन-सम्बन्धों द्वारा उत्तम सन्तान उत्पन्न की जा सकेगी और उस सन्तान का पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा आदि राज्य द्वारा की जायेगी और भविष्य में वही सन्तान संरक्षक वर्ग का निर्माण करेगी। यह व्यवस्था परिवार के साम्यवाद की है।

प्लेटो ने यह व्यवस्था सम्पूर्ण समाज के लिए निर्धारित नहीं की है। आत्म-संयम अथवा वासना तत्त्व का प्रतिनिधित्व करने वाले विशाल वर्ग के लिए वह इस व्यवस्था को आवश्यक नहीं मानता। प्लेटो द्वारा प्रस्तुत साम्यवाद की योजना के निम्नांकित आधार हैं :

(1) **न्याय सिद्धान्त**—समाज का निर्माण करने वाले विविध वर्गों द्वारा अपनी नैसर्गिक योग्यता तथा प्रशिक्षण के आधार पर अपने निर्धारित कार्य को ही समुचित ढंग से करना न्याय है। अत: यह आवश्यक है कि किसी एक तत्त्व का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों में अन्य तत्त्व नहीं आने चाहिए। इसी आधार पर प्लेटो विवेक तथा उत्साह तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करने वाले शासकों तथा संरक्षकों को वासना तत्त्व से पृथक् रखने के लिए उन्हें सम्पत्ति तथा परिवार से वंचित रखने की योजना प्रस्तुत करता है। अन्यथा उनमें वासना तत्त्व आ जाने से वे अपना निर्धारित कार्य समुचित ढंग से नहीं कर सकेंगे।

(2) **तार्किक एवं मनोवैज्ञानिक आधार**—न्याय सिद्धान्त का तार्किक निष्कर्ष यही है कि विवेक तथा उत्साह को वासना से पृथक् रखा जाय। अत: जहाँ शासकों तथा संरक्षकों को परिवार तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति से वंचित रखा गया है, वहाँ उत्पादक वर्ग के लिए इन्हें रखने की आवश्यकता बतायी गयी है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ऐसी व्यवस्था आवश्यक है।

(3) **व्यावहारिक तथा सामाजिक आधार**—प्लेटो स्वस्थ समाज के निर्माण के निमित्त यह आवश्यक समझता है कि राजनीतिक तथा आर्थिक सत्ताएँ एक साथ न रहें। उसकी धारणा थी कि इन दो सत्ताओं के एक साथ रहने से ही नगर-राज्यों का पतन हुआ। एक ही वर्ग के हाथ में इन दोनों सत्ताओं के रहने से संघर्ष तथा विद्रोह उत्पन्न होते हैं। बार्कर ने कहा है, 'इसी व्यावहारिक विचार से प्लेटो प्रारम्भ करता है, इस अर्थ में यद्यपि उसका साम्यवाद प्रत्ययमूलक लगता है, तथापि यह उसके आदर्श राज्य की सर्वाधिक व्यावहारिक विशेषता है।' अतएव प्लेटो समाज की इन दो सत्ताओं को पृथक् रखना चाहता है। शासक तथा संरक्षक जो राजनीतिक सत्ता धारण करते हैं उन्हें आर्थिक कार्य-कलापों से कोई मतलब नहीं रहना चाहिए। इसी प्रकार आर्थिक शक्ति वाले उत्पादक वर्ग को राजनीति से पृथक् रखा जाना चाहिए।

(4) **ऐसी व्यवस्थाएँ किसी न किसी रूप में ग्रीस के नगर-राज्यों में प्रचलित थीं, अतः उन्होंने प्लेटो के विचारों के निमित्त प्रेरणा दी**—ऐसा नहीं माना जाना चाहिए कि साम्यवाद की जिस व्यवस्था को प्लेटो ने सुझाया है, वह उसका मौलिक विचार था। वास्तव में स्पार्टा तथा क्रीट में किसी न किसी रूप में ऐसी व्यवस्थाएँ

थीं। स्पार्टा में सामूहिक भोजनालयों तथा पत्नियों को राज्य के हित मे प्रजनन के लिए अर्पित करने की पद्धति प्रचलित थी। प्लेटो ने अपने न्याय-सिद्धान्त के आधार पर इसे नये रूप में व्यक्त किया।

(5) **प्लेटो का उद्देश्य राज्य की एकता बनाये रखना था**—प्लेटो एक स्वस्थ समाज के निमित्त समाज मे ऐसी व्यवस्था लाने का उद्देश्य रखता था कि सम्पूर्ण समाज एक परिवार के रूप में गठित हो जाय। व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा इस उद्देश्य के मार्ग में बाधक होती क्योंकि वह प्रतियोगिता तथा ईर्ष्या को उत्पन्न करती है। इससे व्यक्ति-व्यक्ति तथा व्यक्ति और राज्य के मध्य संघर्ष बना रहता है। ऐसी संघर्षमय निष्ठा को समाप्त किये बिना राज्य में एकता नहीं रह सकती। व्यक्तिगत सम्पत्ति से विहीन शासक वर्ग में ऐसी प्रतियोगिता नहीं आयेगी तो वे सम्पूर्ण समाज को एक समझकर कार्य करेंगे। उत्पादक वर्ग व्यक्तिगत सम्पत्ति रखते हैं। परन्तु वे उत्पादन कार्य सम्पूर्ण समाज के लिए करते हैं। उनके हाथ में राजनीतिक सत्ता न होने से वे अपनी शक्ति का दुरुपयोग नहीं कर पायेंगे। राज्य उनकी निष्ठा बनाये रखने की व्यवस्था करेगा। इस प्रकार प्लेटो की राज्य-व्यवस्था एक आदर्श साम्यवाद की व्यवस्था है।

1. सम्पत्ति का साम्यवाद

प्लेटो ने परिवार एवं सम्पत्ति दोनों को ही मनुष्य की अपूर्णता एवं वासना-प्रधान प्रकृति का प्रतीक माना था। दोनों ही एक दूसरे के साथ अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं; निजी परिवार के बिना निजी सम्पत्ति का कोई अर्थ नहीं है और निजी सम्पत्ति को आधार माने बिना किसी परिवार के अस्तित्व को कायम नही रखा जा सकता। परन्तु इन दोनों बुराइयों को समाज से तब तक दूर नहीं किया जा सकता जब तक मनुष्य को उसकी वासना से मुक्त न किया जाय। अतः आदर्श राज्य में कम से कम शासक वर्ग को तो इन बुराइयों से दूर रखने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्लेटो ने साम्यवाद के सिद्धान्त की रचना की थी।

वैयक्तिक सम्पत्ति की बुराइयाँ स्वयंसिद्ध हैं। उससे मनुष्य में धन को संग्रह करने की प्रवृत्ति जागृत होती है और जिससे अन्तिम विश्लेषण में उसके चरित्र का हनन होता है। यदि उसे अनियन्त्रित छोड दिया जाय तो उसके फलस्वरूप सम्पत्ति का केन्द्रीयकरण थोड़े से हाथों में हो जाता है जिससे प्रत्येक राज्य दो राज्यों में विभक्त हो जाता है—सम्पन्न लोगों का राज्य तथा विपन्न लोगों का राज्य। प्लेटो इस तथ्य से भी अवगत था कि जहाँ समृद्धि अमीरों को भ्रष्ट करती है वहाँ विपन्नता गरीबों को भ्रष्ट बनाती है। इसलिए यदि निजी सम्पत्ति का उन्मूलन मनुष्य की दुर्बलताओं के कारण असम्भव है तो कम से कम उसके कुप्रभाव को सीमित तो अवश्य किया जाना चाहिए। प्लेटो की मान्यता थी कि ऐसा उस समय हो सकता है जबकि सम्पत्ति राज्य के विवेकपूर्ण निदेशन में रखी जाय। सम्पत्ति का सामूहिक स्वामित्व से समस्या का समाधान प्राप्त नहीं किया जा सकता। सम्पत्ति का स्वामित्व तो वैयक्तिक ही होना चाहिए। यदि सम्भव हो तो उसका पूर्णरूपेण उन्मूलन अधिक श्रेयस्कर है। परन्तु यदि उस पर किसी का स्वामित्व स्थापित होना है तो वह हर स्थिति में व्यक्ति का ही होना चाहिए। राज्य को सम्पत्तिधारी

अवयवी का रूप नहीं दिया जा सकता। यदि ऐसा किया गया तो राज्य तृष्णा प्रधान अभिकरण बन जायेगा और उस स्थिति में एक विवेकपूर्ण संगठन के रूप में उसके महत्त्व का लोप हो जायेगा। परन्तु वैयक्तिक स्वामित्व का अर्थ यह कदापि नहीं है कि प्लेटो ने सम्पत्तिधारियों को मनमानी करने की छूट दे दी थी। इसके विपरीत उसने कहा कि राज्य को समाज के हित में सम्पत्ति को नियन्त्रित करना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि सम्पत्ति पर व्यक्ति का स्वामित्व तो हो सकता है, परन्तु उसका उपभोग सामूहिक होना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्लेटो सम्पत्ति के स्वामियों को यह अधिकार भी देने को तैयार नहीं है कि वे असीमित रूप से अपने स्वामित्व का विस्तार करें तथा ऐसा करने के लिए वे सभी प्रकार के उपाय काम में लायें। प्लेटो ने कहा कि सम्पत्ति की न्यूनतम और अधिकतम सीमा का निर्धारण होना चाहिए तथा सम्पत्ति कमाने के कुछ तरीकों पर प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, वह अन्धाधुन्ध ब्याज पर धन उधार देने को गलत मानता था। एक स्थान पर तो उसने इस प्रकार उधार लिये गये धन के नकारने को भी उचित ठहराया है। मुनाफा और सूद की प्रणालियों पर आधारित पूँजीवाद प्लेटो को कभी भी रुचिकर नहीं हो सकता था। उसने भौतिक वस्तुओं के लेन-देन में मुनाफे की भावना को बर्बरता तथा पतन की अभिव्यक्ति बताया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्लेटो ने जहाँ तृष्णा-प्रधान वर्ग को सम्पत्ति का अधिकार दिया, वहाँ उसने उसे नियन्त्रित करने की भी पूरी व्यवस्था की।

प्लेटो ने जिस आदर्श सामाजिक व्यवस्था की कल्पना की थी, उसमे सरक्षक वर्गों के लिए सम्पत्ति के स्वामित्व का प्रावधान नहीं था। वस्तुत: इस प्रकार की व्यवस्था को परिवार के उन्मूलन का आवश्यक परिणाम समझा जाना चाहिए। यदि परिवार व्यक्ति को सार्वजनिक हित के कार्यों में भाग लेने से रोकता है तो निजी सम्पत्ति भी उन्हें भ्रष्ट आचरण के लिए प्रेरणा देगी। अत: जहाँ तक वर्गों का सम्बन्ध है, प्लेटो ने कहा कि उन्हें आवश्यकता की सभी वस्तुएँ मुफ्त में उपलब्ध करायी जानी चाहिए तथा उन्हें इन वस्तुओं का उपभोग सामूहिक रूप से करना चाहिए। विवेक के पूर्ण विकास के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि जहाँ तक उनका सम्बन्ध है वासना की प्रतीक निजी सम्पत्ति का उन्मूलन कर दिया जाये। यही नहीं, ऐसा इसलिए भी अपेक्षित है ताकि आर्थिक एवं राजनीतिक सत्ता दोनों पर एक ही प्रकार के आधिपत्य को रोका जा सके। इसके अतिरिक्त इस व्यवस्था में शासक और शासितों में पारस्परिक निर्भरता पायी जायेगी। शासित शासकों को आवश्यकता की वस्तुएँ उपलब्ध करायेंगे तथा शासक उनके लिए सुरक्षा की व्यवस्था करेंगे। शासक का यह दायित्व है कि वह अपना पूरा समय राज्य के हित में लगाये। अत: उसे निजी सम्पत्ति के झंझट से मुक्त करके प्लेटो ने उनके लिए सामूहिक निवास-गृहों तथा सामूहिक भोजनालयों का प्रावधान किया। स्पष्टत: इस व्यवस्था में 'मेरी-तेरी' के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। इस प्रणाली में सभी एक-दूसरे के साथ सहयोग करेंगे और इस प्रकार शासक वर्ग की एकता भी अक्षुण्ण रहेगी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साम्यवाद के द्वारा प्लेटो दो उद्देश्यों को प्राप्त करना चाहता था : पहला, वह शासकों और शासितों के बीच सद्भाव कायम करना चाहता था; तथा दूसरा, वह स्वयं शासकों के बीच उन सभी सम्भावनाओं

को नष्ट करना चाहता था जिससे उनकी एकता के लिए खतरा पैदा होता हो। अतः जैसा सैबाइन ने लिखा है कि प्लेटो के साम्यवाद का उद्देश्य मूलतः राजनीतिक है। वह शासन का उपयोग धन का समीकरण करने के लिए नहीं करता, बल्कि वह धन का समीकरण इसलिए करता है जिससे शासन को भ्रष्ट करने वाले प्रभाव नष्ट हो जायें।

आधुनिक साम्यवाद से तुलना

समानता—मैक्सी का कथन है कि 'समस्त समाजवादी तथा साम्यवादी चिन्तन का मूल प्लेटो में है। यदि प्लेटो आज जीवित होता तो वह उत्कृष्टतम साम्यवादी सिद्ध होता और निस्सन्देह उसी उत्साह से रूस की यात्रा की शीघ्रता करता जिस उत्साह के साथ वह प्राचीन सिराक्यूज के निरंकुश शासक के आमन्त्रण पर वहाँ गया था।'[1] प्लेटो की भाँति आज के साम्यवादी भी व्यक्तिगत सम्पत्ति को समस्त सामाजिक बुराइयों की जड़ मानते हैं। परन्तु प्लेटो के साम्यवाद को आधुनिक साम्यवाद की जड़ें मान लेना पूर्ण सत्य नहीं कहा जा सकता। यह दूसरी बात है कि दोनों व्यवस्थाओं में कई बातों में समता हो। मैक्सी के अनुसार, प्रौफेसर जासजी (Jaszi) भी प्लेटो तथा रूसी साम्यवाद में अनेक बातों के मध्य साम्य देखते हैं।[2] मैक्सी के मत से मार्क्स तथा लेनिन के भौतिकवाद तथा प्लेटो के आदर्शवाद में कोई भिन्नता नहीं है, प्रत्युत् प्लेटो का आदर्शवाद भी भौतिकवाद पर आधारित है। प्लेटो के पश्चात् आदर्शवादी चिन्तन का स्वरूप भावनामूलक (abstract) हो गया। परन्तु इस दृष्टि से प्लेटो को आदर्शवादी मानना सही नहीं है। उसका चिन्तन भौतिक जगत के तथ्यों पर आधारित है। जो विचार उसने प्रस्तुत किये हैं वे तत्कालीन व्यवस्थाओं की भौतिक परिस्थितियों के अनुभव पर प्रस्तुत किये गए हैं। मैक्सी के मत से आधुनिक शब्दावली में प्लेटो को आदर्शवादी (idealist) कहना उपयुक्त होगा।[3] मार्क्स तथा लेनिन की भाँति ही प्लेटो भी इतिहास के साथ-साथ चला है न कि उसके विरुद्ध। प्लेटो के साम्यवाद तथा आधुनिक साम्यवाद में निम्नलिखित बातों में समानता अवश्य है—

(1) दोनों व्यवस्थाएँ व्यक्ति की वैयक्तिकता की उपेक्षा करके राज्य या समाज की सर्वोपरिता को स्वीकार करती हैं।

(2) दोनों के अन्तर्गत व्यक्ति की स्वतन्त्रता को उपेक्षित रखने की प्रवृत्ति विद्यमान है।

(3) दोनों व्यवस्थाओं का आधार आर्थिक है। उत्पादन एवं वितरण अथवा उपभोग पर राज्य के नियन्त्रण को दोनों व्यवस्थाएँ स्वीकार करती हैं।

(4) दोनों व्यवस्थाएँ व्यक्तिगत सम्पत्ति के सम्बन्ध में मानव स्वभाव की नैसर्गिक प्रवृत्ति की उपेक्षा करके व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा का अन्त करना चाहती हैं।

(5) दोनों का उद्देश्य समाज में आर्थिक प्रतियोगिता की प्रवृत्ति का अन्त करके समाज सेवा की भावना से आर्थिक उत्पादन को सुनिश्चित करना और

[1] Maxey *op. cit.*, 55.
[2] *Ibid.*, 56.
[3] *Ibid.*

सम्पूर्ण समाज का राजनीतिक एकीकरण करता है।

(6) दोनों के अन्तर्गत राजनीतिक सत्ता का स्वरूप सर्वाधिकारवादी है।

(7) दोनों व्यवस्थाएँ समाज में विभिन्न वर्गों के अस्तित्व को मानकर चलती हैं।

अन्तर—उपर्युक्त बातों में समानता होते हुए भी प्लेटो के साम्यवाद तथा आधुनिक साम्यवाद के मध्य भारी अन्तर है। इन अन्तरों के आधार पर समानता विषयक तथ्य दब जाते हैं। ये अन्तर निम्नांकित है—

(1) प्लेटो भौतिक सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व से केवल शासक तथा संरक्षक वर्ग को वंचित रखना चाहता है जबकि आधुनिक साम्यवाद भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व सम्पूर्ण समाज को देकर उसके समान वितरण तथा उपभोग का उद्देश्य रखता है।

आधुनिक साम्यवाद का सिद्धान्त है, 'समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमतानुसार कार्य करे और प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकता के अनुसार लाभ मिले।'[1]

(2) प्लेटो की साम्यवादी योजना केवल दो वर्गों पर लागू होती है जो कि सम्पूर्ण समाज में थोड़ी-सी संख्या में है। उत्पादक वर्ग जो समाज के विशाल अंग का निर्माण करते हैं, इस व्यवस्था से अलग रहेंगे। आधुनिक साम्यवाद सम्पूर्ण समाज पर लागू होता है।

(3) प्लेटो राजनीतिक एवं आर्थिक शक्तियों के सम्मिश्रण का विरोध करता है जबकि आधुनिक साम्यवाद राजनीतिक सत्ता, आर्थिक वर्ग अर्थात् उत्पादकों को देने का लक्ष्य रखता है। आधुनिक साम्यवादी व्यवस्था सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का सिद्धान्त मानती है।

(4) प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था समाज में दो वर्गों के अस्तित्व को मान्यता देती है। शासक तथा संरक्षक वर्ग राजनीतिक सत्ता को धारण करते हैं और उन्हीं को सम्पत्ति से वंचित रखा गया है। इस प्रकार प्लेटो का साम्यवाद अभिजातवर्गीय साम्यवाद (aristocratic communism) है। बार्कर के अनुसार, 'यह आत्म-समर्पण का तरीका है, जो कि उत्तमों (best) पर लागू होता है। यह सम्पूर्ण समाज के हित में है, परन्तु सम्पूर्ण समाज के लिए नहीं है।'[2] परन्तु आधुनिक साम्यवाद वर्ग-विहीन समाज की स्थापना का उद्देश्य रखता है। इसके अनुसार, समाज में सम्पत्तिवान (haves) तथा सम्पत्ति-हीन (have-notes) दो वर्गों का अस्तित्व शोषण को जन्म देता है। अतः समाज में ऐसे वर्गों के अस्तित्व को समाप्त कर दिया जाना चाहिए। इस दृष्टि से जहां आधुनिक साम्यवाद वर्ग-विहीन राज्य की स्थापना का उद्देश्य रखता है, वहाँ प्लेटो का साम्यवाद एक वर्ग-राज्य की कल्पना करता है। यह सिद्धान्त बहुत कुछ अंश में गांधीवादी कहा जा सकता है, क्योंकि गांधी जी भी वर्ग-व्यवस्था के समर्थक थे।

[1] आधुनिक समाजवाद तथा साम्यवाद के ये उद्देश्य निम्न प्रकार है—

समाजवाद—'from each according to his ability, to each according to his *work*.'

साम्यवाद—'from each according to his ability, to each according to his *need*.'

[2] Barker, *op. cit.*, 247.

(5) प्लेटो के साम्यवाद में शासन का रूप अभिजाततन्त्री (aristocracy) होगा। शासन सत्ता अभिजात-वर्ग के हाथ में रहेगी जो विवेक तथा उत्साह तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करते हैं और सम्पूर्ण समाज के साथ आत्म-संयम तथा न्याय में भाग लेते हुए सम्पूर्ण समाज की सेवा करेंगे। तृष्णा तत्त्व का प्रतिनिधित्व करने वाला उत्पादक वर्ग शासित रहेगा। वह केवल आत्म-संयम तथा न्याय तत्त्वों के कार्यों में भाग लेगा। शासन तथा उत्पादन दोनों का लाभ सम्पूर्ण समाज को प्राप्त होगा। परन्तु आधुनिक साम्यवाद सर्वहारावर्गीय (prolitarian) है। इसमें सत्ता उत्पादक वर्ग के हाथ में रहती है। उद्देश्य उत्पादन के साधनों तथा उत्पादन-क्रिया के समाजीकरण के द्वारा ऐसी व्यवस्था लाना है जिसमें समाजीकृत सम्पत्ति का नियन्त्रण लोकतन्त्री ढंग से संगठित सर्वहारा-वर्ग के हाथ में रहेगा। बार्कर के मत से प्लेटो केवल उत्पादन से मतलब रखता है, और उसमें से भी वह एक अंश-मात्र का समाजीकरण करता है—यह अंश तृतीय वर्ग द्वारा संरक्षकों को प्रति वर्ष दिया जायेगा, यह संरक्षक वर्ग, यदि हम उसे पूँजीपति वर्ग की संज्ञा दें तो, उसके (प्लेटो के) राज्य के पूँजीपति हैं।[1]

(6) प्लेटो की व्यवस्था उत्पादन की वैयक्तिक प्रथा का उन्मूलन नहीं करती परन्तु आधुनिक साम्यवाद आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिगत प्रयास का विरोधी है और उत्पादन तथा वितरण के राजकीय एकाधिकार पर बल देता है।

(7) प्लेटो का साम्यवाद मुख्यतया राजनीतिक है। उसमें आर्थिक तत्त्व गौण है, जबकि आधुनिक साम्यवाद मूलतः आर्थिक है।

(8) प्लेटो का साम्यवाद छोटे-छोटे ग्रीक नगर-राज्यों के सन्दर्भ में बताया गया था, जबकि आधुनिक साम्यवाद विशाल राष्ट्रीय राज्यों के निमित्त है। इसका प्रसार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में किये जाने की कामना की जाती रही है।

(9) प्लेटो का साम्यवाद केवल वैचारिक रहा और उसे कभी लागू नहीं किया गया। इसके विपरीत आधुनिक साम्यवाद विश्व के लगभग एक तिहाई क्षेत्र में लागू किया जा चुका है।

आलोचना—प्लेटो के साम्यवाद की आलोचना सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से की जाती है। आलोचना के मुख्य आधार निम्नवत् हैं—

(1) **अर्ध-साम्यवाद की योजना**—प्लेटो द्वारा प्रस्तुत साम्यवाद की योजना को बार्कर 'अर्ध-साम्यवाद'[2] कहता है। यह योजना सम्पूर्ण समाज पर लागू नहीं होती बल्कि समाज के एक छोटे से वर्ग के लिए प्रस्तावित की गई है।

(2) **व्यक्तिगत सम्पत्ति के दोषों के निराकरण का समाधान स्पष्ट नहीं**—प्लेटो व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्था को पारस्परिक कलह की जननी मानता है और इसीलिए संरक्षक तथा शासक वर्ग को उससे मुक्त रखना चाहता है, परन्तु तृतीय वर्ग के लिए इस योजना को लागू नहीं करता। व्यक्तिगत सम्पत्ति के दोष तृतीय

[1] 'Plato is concerned only with the product and even of that he would socialise only part—the part to be paid annually to the guardians by the members of the third class, who so far as we may speak of capitalists, are the capitalists of his State.' —*Ibid*, 248.

[2] बार्कर ने इस पद का प्रयोग नेटार्प (Natorp) के कथनानुसार प्रयुक्त किया है। जिसके अनुसार 'The Communism of Plato remains what has been called a half communism.'

वर्ग के व्यक्तियों में भी पारस्परिक कलह उत्पन्न करेंगे और उन कलहों को निबटाने का कार्य शासक वर्ग करेंगे जो स्वयं सम्पत्ति-विहीन हैं। बार्कर का तर्क है कि जो वर्ग सम्पत्ति-विहीन है वह सम्पत्ति से सम्बद्ध उद्देश्यों तथा आचरणों का समुचित ज्ञान कैसा करेगा ? वह वर्ग तो अध्यात्म तथा दर्शन का ज्ञान रखता है न कि भौतिक जगत की समस्याओं तथा संस्थाओं का। वह इन कलहों को नियन्त्रित करने की क्षमता किस प्रकार रखेगा ?

(3) **समाज में दो वर्गों का अस्तित्व साम्यवाद की उपलब्धि के लिए बाधक**—प्लेटो ने एक ओर 'राज्य के अन्दर दो राज्यों' के अस्तित्व की धारणा की निन्दा की है। दूसरी ओर वह साम्यवाद की योजना के अन्तर्गत बलात् दो वर्गों की सृष्टि करके एक राज्य में दो राज्यों की सृष्टि कर देता है। राजनीतिक तथा आर्थिक सत्ता को विभिन्न वर्गों के हाथ में रखना राज्य की एकता बनाए रखने के लिए व्यावहारिक उपचार नहीं माना जा सकता। साथ ही आध्यात्मिक तथा भौतिक दो पक्षों को अलग-अलग कर देना भी असंगत बात है। व्यावहारिक दृष्टि से यदि राजनीतिक तथा आर्थिक सत्ताओं को पृथक् कर दिया जाये तो उसके परिणाम भयावह होंगे। राजनीतिक सत्ताधारी (संरक्षक-वर्ग) अपनी भौतिक आवश्यकताओं के लिए आर्थिक सत्ताधारियों के ऊपर आश्रित रहेंगे। अतएव तृतीय वर्ग (उत्पादक) प्रथम दो वर्गों (शासकों तथा सैनिकों) पर हावी हो जायेंगे। इसी प्रकार आध्यात्मिकता को पूर्णतया भौतिकता से पृथक् नहीं किया जा सकता। यह मानना सही नहीं है कि आध्यात्मिकता के लिए भौतिकता बुराई है। अतः उसका अन्त कर देना चाहिए। अच्छा तो यह है कि उसका कोई आध्यात्मिक उपचार ढूँढ़ना चाहिए न कि बुराई का ही अन्त कर देना चाहिए।

(4) **व्यक्तिगत सम्पत्ति की समाप्ति की योजना प्रस्तुत करना मानव स्वभाव की उपेक्षा करने के तुल्य**—प्लेटो का सम्पत्ति सम्बन्धी साम्यवाद न केवल अधूरे समाज की व्यवस्था है, अपितु जिन वर्गों पर यह लागू किया जायेगा उनके सम्बन्ध में यह मानव इतिहास तथा मनोविज्ञान की उपेक्षा करता है। इतिहास इस बात का प्रमाण है कि व्यक्तिगत प्लेटो के विचार से सम्पत्ति सभ्यता की संस्था है। इसके अभाव में मनुष्य अपनी प्रारम्भिक स्थिति में आ जायेगा। उत्तम जीवन की प्राप्ति तथा सत् का ज्ञान मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। विवेक तथा उत्साह से युक्त वर्ग को सम्पत्ति से विहीन कर देना उन्हें संन्यासी बना देगा। भले ही प्लेटो से पूर्व ग्रीस के नगर-राज्यों में यत्र-तत्र सम्पत्ति के सामूहिक स्वामित्व या उपभोग की व्यवस्था रही थी, किन्तु जिस रूप में प्लेटो शासक वर्ग को सम्पत्ति के स्वामित्व से वंचित कर देना चाहता है वह उन्हें पूर्णतया संन्यासी का जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य कर देगा। यह बात मानव-मनोविज्ञान के अनुसार, तर्क-सम्मत नहीं बैठती कि विवेक तथा उत्साह तत्वों से युक्त व्यक्ति सम्पत्ति के बन्धन से मुक्त रहकर अपने उच्चतम ज्ञान, आध्यात्मिकता तथा दर्शन के द्वारा शासन-व्यवस्था संचालित करने का दायित्व समाज-सेवा की सच्ची लगन से सम्पन्न करेंगे। कभी-कभी यह तर्क दिया जाता है कि प्लेटो के काल में ग्रीस के अभिजात-वर्ग भू-सम्पत्ति के व्यक्तिगत उपयोग से मुक्त हो चुके थे। यह कार्य दास-वर्ग किया करता था और अभिजात-वर्ग को उत्पादन से अपने उपभोग का अंश मिल जाता था और उस व्यवस्था के अन्तर्गत अभिजात-वर्ग सम्पत्ति के स्वामित्व का लाभ उठाते हुए सन्तुष्ट

रहता था। प्लेटो इसी व्यवस्था को और अधिक स्पष्टता तथा व्यापकता प्रदान करना चाहता था। परन्तु इस आधार पर यह निष्कर्ष निकालना सही नहीं है कि अभिजात-वर्ग सम्पत्ति के स्वामित्व से वंचित रहकर सन्तुष्ट रहेगा।

(5) **व्यक्तिगत सम्पत्ति को समाप्त करने सम्बन्धी प्लेटो की योजना अति-वादिता की द्योतक**—यह तर्क भी दिया जाता है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा की नैसर्गिकता ऐतिहासिक प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं होती। यह कृत्रिम संस्था है और मनुष्य की स्वार्थी आकांक्षाओं के फलस्वरूप विकसित हुई है। इसका रूप भी देश काल तथा परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। यदि यह संस्था नैसर्गिक होती तो इसका स्वरूप भी सर्वत्र एक-सा रहता। व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार पर शासन सत्ताएँ हस्तक्षेप करती आई हैं। उस पर करारोपण करना, मृत्यु कर लगाना, उसके संक्रमण के सम्बन्ध में कानून बनाना आदि इस तथ्य के प्रमाण हैं कि व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा मानवकृत है। अतः प्लेटो ने शासक वर्ग को इससे वंचित करना चाहा तो वह भी इसी प्रकार का एक नियन्त्रण कहा जा सकता है। प्लेटो की व्यवस्था व्यक्ति को समाज की वेदी पर बलिदान कर देना चाहती है तो आधुनिक युग में आर्थिक व्यक्तिवाद समाज को व्यक्ति के हित में बलिदान कर देना चाहता है। अतः प्लेटो की व्यवस्था कोरी स्वप्नलोकी धारणा नहीं कही जा सकती। इसके विरुद्ध यह तर्क दिया जा सकता है कि प्लेटो का साम्यवाद इस सम्बन्ध में 'अतिवाद' का प्रतीक है। उसने अपनी व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं का ध्यान न रखकर एक क्रान्तिकारी व्यवस्था का सूत्रपात किया है, जिसे व्यावहारिक रूप प्रदान करने में अनेक कठिनाइयाँ आयेंगी और उनका सामना कर सकना असम्भव भी हो सकता है।

(6) **प्रस्तुत साम्यवाद की योजना राज्य में एकता स्थापित करने का समुचित समाधान नहीं**—प्लेटो के साम्यवाद में स्वतन्त्रता तथा समानता की धारणाओं का भ्रातृत्व तथा दक्षता की भावनाओं के नाम पर बलिदान कर दिया गया है। उद्देश्य यह है कि राज्य की एकता बनी रहे। कार्य-विभाजन का सिद्धान्त कार्य की कुशलता का लक्ष्य रखता है। वर्गयुक्त समाज में समानता का लोप हो जाता है। एक वर्ग के हाथ में राजनीतिक सत्ता आ जाने से वैयक्तिक स्वतन्त्रता नहीं रह सकती। इस प्रकार प्लेटो की योजना में राज्य की एकता को बलात् लाने का प्रयास किया गया है। वास्तविक एकता विविधता में एकता लाने से उत्पन्न हो सकती है, जिसका समर्थन प्लेटो नहीं करता। विविधता में एकता लाने का आधार केन्द्रीकृत एकता नहीं हो सकती। व्यक्तिगत सम्पत्ति का उपभोग करते हुए नागरिक वैविध्यपूर्ण जीवन व्यतीत करके स्वतन्त्रता का अनुभव करेंगे। साथ ही उनमें समाज के अन्य सदस्यों के साथ पारस्परिक सहयोग की भावना से जीवन व्यतीत करने का भाव उत्पन्न हो तो वह वास्तविक एकता होगी, न कि बलात् उनकी इच्छाओं तथा प्रवृत्तियों के दमन द्वारा उनमें एकता लाने के प्रयास से।

(7) **प्लेटो की सम्पूर्ण साम्यवादी योजना अस्पष्ट**—सैबाइन के मत से प्लेटो का साम्यवाद अस्पष्ट है। इसके विरुद्ध यह तर्क दिया गया है कि यह केवल संरक्षक वर्ग के ऊपर लागू होता है जो मानव आत्मा के उच्चतर तत्त्वों से युक्त है। हो सकता है कि निम्न वर्ग में भी ऐसी प्रतिभा वाले व्यक्ति हों। उन्हें उच्चतर वर्ग में रखा जायेगा या नहीं, इस बात का प्लेटो ने कोई विवेचन नहीं किया है। वास्तव में

प्लेटो ने अपनी योजना की विशद् व्याख्या करने की चिन्ता ही नहीं की है। इससे भी अधिक आपत्ति सैबाइन ने यह की है कि प्लेटो ने दास वर्ग के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा। उस युग में ग्रीस में दास-प्रथा इतनी अधिक प्रचलित थी और समाज में दासों की संख्या इतनी अधिक थी कि इस समूचे वर्ग की उपेक्षा करना प्लेटो की एक महान् कमी है। सैबाइन का निष्कर्ष है कि प्लेटो के विचार से दास वर्ग का होना आदर्श राज्य के लिए आवश्यक नहीं है। कॉन्स्टेंटीन रिटर की धारणा का उल्लेख करते हुए सैबाइन का मत है कि प्लेटो के रिपब्लिक में दास-प्रथा 'सिद्धान्ततः समाप्त' कर दी गई है क्योंकि प्लेटो उसे महत्त्वहीन मानता होगा।

2. परिवार का साम्यवाद

सम्पत्ति के साम्यवाद के सम्बन्ध में प्लेटो की योजना में जो भी अस्पष्टताएँ, कमियाँ अथवा अतिवादिताएँ रही हैं, वे इस बात को अवश्य सिद्ध करती है कि प्लेटो का प्रभाव भावी समाजवादियों के ऊपर पड़ा है। सभी समाजवादी तथा साम्यवादी व्यक्तिगत सम्पत्ति के अत्यधिक केन्द्रीकरण के विरोधी हैं, और समाज में भौतिक सम्पत्ति के उत्पादन, वितरण तथा उपभोग के समाजीकरण की दिशा में प्रवृत्त रहे हैं। परन्तु प्लेटो ने सम्पत्ति के साम्यवाद के साथ-साथ परिवार के साम्यवाद को भी इसी से सम्बद्ध करते हुए अपने को एक क्रान्तिकारी साम्यवादी सिद्ध किया है। प्लेटो द्वारा प्रस्तुत परिवार के साम्यवाद के निम्नांकित तीन आधार है—

(1) **प्लेटो का न्याय सिद्धान्त**—प्लेटो का इस सम्बन्ध में यह तर्क अधिक स्पष्ट है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के मूल में परिवार प्रथा है। पारिवारिक जीवन की आवश्यकताएँ व्यक्तिगत सम्पत्ति के संचय तथा उपभोग की प्रेरणाएँ देती हैं। यदि व्यक्तिगत परिवार न हो तो सम्पत्ति के संचय का लालच भी लोगों में नहीं रहेगा। अतः राज्य के शासक वर्ग को इससे भी वंचित रखा जाना चाहिए ताकि शासकों को अपने तथा अपनी सन्तान के लिए सम्पत्ति अर्जन की चिन्ता से मुक्ति मिल सके और उन्हें निःस्वार्थ समाज सेवा की भावना से विवेक तथा उत्साह की अभिव्यक्ति करने का अवसर मिल सके। यह धारणा प्लेटो के न्याय-सिद्धान्त के अनुरूप है।

(2) **तत्कालीन महिला समाज की दासता सदृश स्थिति**—परिवार के साम्यवाद की योजना रखने में प्लेटो के ऊपर तत्कालीन महिला समाज की स्थिति का प्रभाव अधिक है। प्लेटो के काल में ग्रीस में सामाजिक जीवन के क्षेत्र में महिला वर्ग को कोई स्थान प्राप्त न था। वे बचपन से ही एकाकी जीवन व्यतीत करती थीं। सामाजिक जीवन के क्षेत्र में पुरुषों के साथ किसी भी कार्य-कलाप में उनका भाग न था। कन्याओं का विवाह लगभग पन्द्रह वर्ष की अल्पायु में हो जाता था। इसके उपरान्त उनका जीवन-क्षेत्र परिवार की चहारदीवारी में रहता था। वहाँ वह अपने पति की काम-वासना की तृप्ति करने, सन्तान उत्पन्न करने तथा उसका पालन-पोषण करने तक ही अपने जीवन का लाभ प्राप्त करती थी। इस प्रकार ग्रीस का महिला समाज पूर्णतया पुरुष की दासता में एकाकी जीवन व्यतीत करता था। प्लेटो महिलाओं की इस दासता की स्थिति का विरोध करता है। उसके मत से परिवार व्यवस्था स्वार्थ-भावना की जड़ है, जिसके कारण परिवारों के मध्य कलह तथा नागरिक विद्रोह उत्पन्न होते हैं। साथ ही यह महिलाओं की शारीरिक तथा बौद्धिक योग्यता की बरबादी का सूचक है। इसके कारण पुरुष तथा महिलाओं की

अपनी योग्यता तथा क्षमता से समाज के हित में समुचित सेवा सम्पन्न करने से वंचित होना पड़ता है। प्लेटो के न्याय सिद्धान्त के अनुसार यह न तो व्यक्तिगत न्याय है, न सामाजिक न्याय। प्लेटो के अनुसार, जिस दिन ऐसी परिवार-प्रथा का उन्मूलन होगा वह दिन सबसे महान् भलाई 'राज्य की एकता' के उद्‌घाटन का दिन होगा। उसके साथ ही व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा व्यक्ति और राज्य दोनों के लिए न्याय की प्राप्ति होगी। बार्कर का मत है कि 'प्लेटो की इस धारणा का उद्देश्य परिवार का उन्मूलन मानना सही नहीं है। वास्तव में प्लेटो परिवार का सुधार तथा परिवर्तन (transformation) चाहता है।'[1] वह राज्य से परिवार को निकाल देना नहीं चाहता, बल्कि वह राज्य में परिवार का आयात करना चाहता है।

(3) **स्पार्टा में महिलाओं की स्थिति से प्रेरित**—स्पार्टा के नगर-राज्य में परिस्थिति भिन्न थी। वहाँ महिलाएँ पुरुषों के साथ अनेक सार्वजनिक कार्यों में भाग लेती थीं। वहाँ परिवार-प्रथा की कठोरता नहीं थी। यहाँ तक कि लोग अपनी स्त्रियों को राज्य की सेवा के लिए सन्तान उत्पन्न करने के उद्देश्य से अन्यों को उधार दे दिया करते थे। स्वयं सुकरात भी इस बात को मानता था कि प्राकृतिक देन पुरुषों तथा महिलाओं में भिन्न प्रकृति की नहीं होती, भले ही शारीरिक शक्ति तथा निर्णय लेने की क्षणता में महिलाएँ पुरुषों से निर्बल होती हैं। अत: उनकी नैसर्गिक देन का लाभ समाज को न मिलना न्याय नहीं है। इन तथ्यों की पृष्ठभूमि में प्लेटो ने स्त्रियों के साम्यवाद की योजना को अपने न्याय-सिद्धान्त का अंग बनाकर आदर्श राज्य के लिए उसकी योजना को आवश्यक माना।

साम्यवाद का स्वरूप—प्लेटो द्वारा प्रस्तुत परिवार के साम्यवाद की योजना भी सम्पत्ति के साम्यवाद की भाँति केवल संरक्षक वर्ग के लिए ही निर्धारित की गई है। परन्तु इसके उद्देश्य अधिक व्यापक थे। इनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य महिलाओं को न केवल पुरुषों की दासता से मुक्त करना था, अपितु उन्हें राज्य के जीवन में पुरुषों के साथ समानता की स्थिति प्रदान करना भी था, ताकि सामाजिक जीवन में उनकी योग्यता तथा कार्य-क्षमता का लाभ सम्पूर्ण समाज को प्राप्त हो सके। यह धारणा प्लेटो के न्याय-सिद्धान्त से संगति रखती है। प्लेटो की धारणा थी कि समाज के आधे भाग (महिला-वर्ग) को केवल गार्हस्थ्य-जीवन की चहारदीवारी के अन्दर रखने की अपेक्षा जीवन तथा व्यवसाय की उच्चतर स्थिति में रखा जाना चाहिए। मानव आत्मा के तीनों तत्त्वों विवेक, उत्साह तथा तृष्णा का अस्तित्व पुरुष तथा महिला दोनों में होता है। यदि पुरुष तथा महिला मे कोई मौलिक अन्तर है तो ऐसा तो पुरुष-पुरुष के मध्य भी होता है। कुछ विशिष्ट कार्य ऐसे होते हैं जिन्हें पुरुषों की अपेक्षा महिलाएँ अपने स्वाभाविक गुणों के कारण अधिक दक्षतापूर्वक सम्पन्न कर सकती हैं। प्रशासनिक मामलों में प्रकृतित: दोनों लिंगों के मध्य कोई अन्तर नहीं है। प्लेटो की धारणा है कि स्त्रियाँ राज्य की रक्षा का कार्य उसी दक्षता के साथ सम्पन्न कर सकती हैं जिस दक्षता के साथ कुतिया शिकार करती है। वे नागरिक एवं सैनिक दोनों प्रकार के कार्य कर सकती हैं। अन्तर यही हो सकता है कि इन विविध कार्य-कलापों हेतु पुरुष एवं महिलाओं की आयु-सीमा की परिपक्वता अलग-अलग होगी। उदाहरणार्थ, नागरिक-सेवा के लिए यदि पुरुष की निम्नतम आयु सीमा 30 वर्ष है तो महिला के लिए 40 वर्ष होगी। सैनिक-सेवा की आयु

[1] **Barker, *op. cit.*, 255.**

यदि पुरुषों के लिए 20 से 60 वर्ष है तो स्त्रियों के लिए वह उस अवस्था से प्रारम्भ होगी जबकि वे प्रजनन का कार्य समाप्त कर लेती हैं और अधिक से अधिक 50 वर्ष की उम्र तक वे सैनिक-सेवा का कार्य कर सकेंगी। प्लेटो की इस धारणा के सम्बन्ध में मैक्सी ने लिखा है कि 'पुरुष तथा महिला में जो महान् अन्तर है वह केवल प्रजनन तथा सन्तति धारण करने के सम्बन्ध का है और इससे यह सिद्ध नहीं होता कि महिलाओं की प्रकृति ऐसी मान ली जाये कि वे बिल्कुल ही भिन्न प्रकार का जीवन व्यतीत करें।'[1] जिस प्रकार मनुष्य-मनुष्य में शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक आदि विविध गुणों में भिन्नता होती है उसी प्रकार स्त्री-स्त्री में भी ऐसी भिन्नता होती है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि केवल महिला होने के नाते ही उन्हें सार्वजनिक जीवन से पृथक् कर दिया जाये। ऐसा करना प्लेटो की दृष्टि से न्याय-संगत नहीं है।

प्लेटो द्वारा प्रतिपादित स्त्रियों के साम्यवाद का सिद्धान्त राजनीतिक, नैतिक एवं प्रजननात्मक तीन उद्देश्यों पर आधारित है। राजनीतिक दृष्टि से, प्लेटो के आदर्श राज्य की सबसे महान् आवश्यकता एकता (unity) है। राज्य में सरक्षक-वर्ग के मध्य एकता की भावना लाने के उद्देश्य से वह समूचे वर्ग को एक परिवार में संगठित कर देना चाहता है, जिससे सार्वजनिक कर्त्तव्यों तथा व्यक्तिगत हितों के मध्य संघर्ष की स्थिति न आ सके। यह तभी सम्भव था, जबकि संरक्षक-वर्ग वैवाहिक-बन्धन तथा पृथक् पारिवारिक जीवन की प्रथा से मुक्त कर दिये जायें। इस वर्ग के व्यक्तियों के पास न तो व्यक्तिगत सम्पत्ति होगी और न व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में अपनी पत्नी तथा अपने बच्चे। अतएव इन संस्थाओं के अभाव में समूचा संरक्षक-वर्ग सम्पूर्ण समाज के हित में एक परिवार के रूप में संगठित हो जायेगा और उसी के हित मे प्रत्येक अपनी-अपनी योग्यतानुसार कार्य करेगा।

नैतिक दृष्टि से, प्लेटो व्यक्तिगत परिवार-प्रथा का अन्त करके विवाह तथा परिवार-प्रथा में सुधार एवं परिवर्तन करना चाहता है। इसका परिणाम यह होगा कि संरक्षक-वर्ग में भ्रातृत्व तथा पारस्परिक प्रेम की भावना उत्पन्न होगी और प्रतियोगिता की भावना का अन्त होगा। स्वस्थ सामाजिक जीवन की यह महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है।

प्रजननात्मक दृष्टि से, प्लेटो का यह उद्देश्य था कि राज्य के लिए उत्तम प्रकृति की सन्तान पैदा की जाये जो भविष्य में संरक्षक तथा शासक-वर्ग का निर्माण करे। अतः यौन-सम्बन्ध स्थायी तथा व्यक्तिगत प्रकृति के नहीं होंगे। प्लेटो संरक्षक-वर्ग के मध्य मनमाने ढंग से काम-वासना तृप्त करने की प्रवृत्ति को रोकना चाहता है, क्योंकि इसमें फँसकर वे विवेक तथा उत्साह तत्त्वों की समुचित अभिव्यक्ति करने में असमर्थ रहेंगे। परन्तु प्लेटो का यह भी उद्देश्य है कि भावी संरक्षक उच्च कोटि के हों। अतः संरक्षक-वर्ग के स्त्री तथा पुरुष वर्गों में यौन-सम्बन्ध राज्य के अधीक्षण में करवाये जायेंगे। राज्य की आवश्यकता को देखते हुए पुरुषों तथा महिलाओं में उत्तम प्रकृति के जोड़ों का चयन करके उचित अवसरों पर उनका यौन-सम्बन्ध करवाया जायेगा। उत्तम सन्तान की उत्पत्ति के लिए चुने गये स्त्री-पुरुषों की शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक आदि क्षमताओं का ध्यान रखा जायेगा। 25 से 55 वर्ष तक की आयु के पुरुष तथा 20 से 40 वर्ष तक की आयु की महिलाएँ इसके लिए उपयुक्त बतायी गयी हैं। उनकी जो सन्तानें होंगी उनका पालन-पोषण राज्य के द्वारा

[1] Maxey, *op. cit.*, 48.

व्यवस्थित शिशु-गृहों में होगा। उनकी शिक्षा-दीक्षा का दायित्व भी राज्य पर होगा। अत: संरक्षक-वर्ग के स्त्री-पुरुषों को यह ज्ञान तक न हो पायेगा कि अमुक बच्चा किसका है। सब बच्चे राज्य के होंगे।

इस दृष्टि से प्लेटो संरक्षक-वर्ग के मध्य विवाह प्रथा में सुधार की योजना प्रस्तुत करता है। विवाह, सामयिक, अस्थायी तथा सामाजिक उद्देश्य को लेकर होंगे। उनका मुख्य उद्देश्य राज्य की आवश्यकतानुसार उत्तम सन्तान पैदा करवाना होगा। पत्नियों के ऐसे साम्यवाद का यह अर्थ कदापि नहीं था कि काम-वासना की तृप्ति का समाजीकरण होगा तथा सामूहिक रूप से संरक्षक-वर्ग काम-वासना का उपभोग करेंगे। इसके विपरीत काम-तृप्ति पर अत्यधिक नियन्त्रण लग जायेगा और यह सामयिक तथा राज्य के हित में ही होगा। यह व्यवस्था संरक्षक-वर्ग के मध्य जनसंख्या को नियन्त्रित करने का भी साधन सिद्ध होगी। सन्तान पर स्त्री-पुरुष के स्वत्व के अभाव में वैयक्तिक वात्सल्य की भावना नहीं रहेगी। सब बच्चे सबके माने जायेंगे, अत: सब सबको प्यार करेंगे। इस प्रकार समूचा संरक्षक-वर्ग एक परिवार का रूप धारण करेगा जिसमें सब सबके कल्याण तथा सुख की चिन्ता करेंगे।[1]

समस्याएँ—प्लेटो ने पत्नियों के साम्यवाद की योजना के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों पक्षों का निरूपण किया है। उसका उद्देश्य स्त्रियों को पारिवारिक बन्धन से मुक्ति प्रदान करना था। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं माना जाना चाहिए कि वह राज्य में स्त्रियों के अधिकारों की दलील दे रहा था। प्रत्युत्, उसने उनके कर्त्तव्यों पर अधिक बल दिया है। वह उससे उनकी क्षमता के अनुसार समाज के प्रति अपने दायित्वों को सम्पन्न करने की अपेक्षा करता है। साथ ही वह अपने न्याय-सिद्धान्त के आधार पर आदर्श राज्य हेतु महिला समाज के योगदान का लाभ भी प्राप्त करना चाहता है। परन्तु उसके ऐसे साम्यवाद में सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से अनेक समस्याएँ उपस्थित हो सकती है। प्रथम समस्या यह है कि क्या वह महिलाओं की स्वाभाविक प्रकृति तथा मानव-संसार में उनके योगदान का समुचित विश्लेषण कर पाया है? दूसरी समस्या यह है कि उसकी साम्यवादी व्यवस्था सच्चे अर्थ में मनोविज्ञान के तथ्यों से कहाँ तक मेल खाती है? तीसरी समस्या यह है कि ऐसे साम्यवाद को व्यवहार में प्रयुक्त करने के समस्त पहलुओं का उसने सही निरूपण किया है या उसमें जो व्यावहारिक कठिनाइयाँ उपस्थित होंगी वे कहीं उसकी सारी योजना को विफल तो नहीं कर देंगी। अन्तत: इस योजना के परिणाम उसके उद्देश्यों की पूर्ति करने में कहाँ तक सफल होंगे? इन समस्त समस्याओं का विश्लेषण करते हुए प्लेटो के परिवार तथा पत्नियों के साम्यवाद की योजना की अनेक तर्कों के आधार पर आलोचना की गयी है।

आलोचना—बार्कर का मत है कि 'प्लेटो जिन उद्देश्यों को लेकर साम्यवाद की योजना रखता है उनसे सहमत होने में कठिनाई नहीं हो सकती, परन्तु साधनों को स्वीकार करने में कठिनाई होती है। उसके सिद्धान्तों से हम सहमत हो सकते हैं, परन्तु हमें उनके व्यवहृत करने के तरीकों को अमान्य करना पड़ सकता है।'[2]

(1) पारिवारिक दायित्वों से महिलाओं को पृथक् रखना उनकी मातृत्व एवं

[1] The guardians of the State then will come to be one great family in which each will regard all others as kinsfolk, and will say of every individual, 'It is well with my own' or 'It is ill with my own.' —*Ibid.*, 49.

[2] Barker, *op. cit.*, 261.

कौटुम्बिक दायित्वों की स्वाभाविक प्रवृत्ति के विरुद्ध—जहाँ तक मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का सम्बन्ध है, स्त्री तथा पुरुष के मध्य भेद केवल बच्चों के प्रजनन सम्बन्धी व्यापार का ही नहीं है, अपितु सृष्टि के निर्माण तथा संचालन मे दोनों का पूर्णतया पृथक् कार्य-भाग है। स्त्री पारिवारिक जीवन की नैसर्गिक रूप से केन्द्र-स्थली है। स्वस्थ परिवार के संचालन मे कतिपय उत्तरदायित्व ऐसे हैं, जिन्हें न तो वह पुरुष या किसी अन्य व्यक्ति को प्रदान करना चाहेगी और न ही ऐसा करने से वे कार्य उत्तमतया सम्पादित होंगे। सन्तानोत्पत्ति के पश्चात् शायद ही कोई महिला सन्तान के पालन-पोषण का कार्य किसी अन्य व्यक्ति को देने मे सन्तोष करेगी। एक अविवाहित महिला सार्वजनिक कार्यों में रुचि के साथ प्रवेश कर सकती है, परन्तु एक विवाहित महिला से मातृत्व तथा कुटुम्ब के उत्तरदायित्व को छीनना उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के साथ अन्याय करना होगा। मातृत्व तथा पारिवारिक उत्तरदायित्व को सम्पन्न करते हुए महिलाएँ समाज में अपनी नैसर्गिक योग्यता (natural fitness) के अनुसार अपना कार्य-भाग सम्पन्न करती है। अत: वे अपने निर्धारित क्षेत्र का कार्य करती हैं जो प्लेटो की धारणा मे 'न्याय' की अभिव्यक्ति है। स्वभावत: प्रश्न यह उठता है कि क्या प्लेटो ने पत्नियों के साम्यवाद को अपने न्याय-सिद्धान्त से असंगत नहीं बना दिया? बार्कर का मत है कि जहाँ तक स्त्रियों के राजनीतिक जीवन में भाग लेने का प्रश्न है उपर्युक्त तर्क उनके मताधिकार सम्बन्धी अधिकार के विपरीत नहीं है। ये केवल प्लेटो की इस योजना का उत्तर देते हैं जिसके अनुसार वह महिलाओं को पूर्णतया राजनीतिक जीवन तथा कार्य-कलापों मे रख देना चाहता है और कौटुम्बिक उत्तरदायित्वों से उन्हे मुक्ति दिला देना चाहता है।

(2) **स्वस्थ समाज के निर्माण में व्यक्तिगत परिवार के योगदान की उपेक्षा**—परिवार के सम्बन्ध में प्लेटो की योजना अनेक मनोवैज्ञानिक तथ्यों की उपेक्षा करती है, स्वस्थ समाज के निर्माण में वंशानुक्रम, पारिवारिक वातावरण तथा परम्पराओं और परिवार में पाली-पोसी गयी सन्तान का कितना महत्त्वपूर्ण योगदान होता है, उसे प्लेटो बलात् उपेक्षित रखता है। उसका एकमात्र उद्देश्य राज्य की एकता तथा शासक-वर्ग में कुशलता लाना है। परन्तु प्लेटो यह भूल जाता है कि इन उद्देश्यों की पूर्ति में परिवार का कितना महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है। वह महिला-समाज को पुरुषों की दासता में जकड़ा हुआ देखकर, उनकी मुक्ति का आह्वान साम्यवाद की योजना द्वारा करता है। परन्तु वह यह नहीं बताता कि क्या स्वयं महिलाएँ व्यक्तिगत परिवारों में जीवन व्यतीत करते हुए स्वयं भी कभी ऐसी दासता का अनुभव करती थीं? अथवा, क्या यह महिलाओं की आकांक्षा थी कि वे परिवार के बन्धन से मुक्त होकर सार्वजनिक राजनीतिक जीवन में प्रविष्ट होने में सुख का अनुभव करती थीं? यदि महिलाओं में विवेक तथा उत्साह के तत्त्व पुरुषों की भाँति होते हैं तो उनका लाभ परिवार प्रथा के अन्तर्गत भी प्राप्त हो सकता है। योग्य स्त्री-पुरुषों की सन्तान परिवार के वातावरण में पलकर अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती है। यह मानना सही नहीं है कि स्त्री तथा पुरुष का संयोग केवल काम-वासना की तृप्ति के लिए अथवा सन्तानोत्पादन के लिए होता है, अत: इसी हेतु उनका समागम नियमित तथा नियन्त्रित ढंग से होना चाहिए। वास्तविकता यह है कि जैसा अरस्तू ने भी कहा था, स्त्री तथा पुरुष का संयोग आजीवन साथियों के रूप में होता है। यह एक स्थायी

तथा आध्यात्मिक सम्मिलन है, जिसका उद्देश्य पारस्परिक कल्याण तथा उत्तम जीवन की प्राप्ति होता है।

(3) **परिवार के साम्यवाद की व्यवस्था, उसके संचालन एवं नियमन में आने वाली व्यावहारिक कठिनाइयों की उपेक्षा**—व्यावहारिक दृष्टि से भी प्लेटो की योजना त्रुटिपूर्ण लगती है। प्लेटो के समाज को तीन वर्गों में विभाजित करने की कसौटी व्यक्तियों में विवेक, उत्साह तथा वासना तत्त्वों के होने पर आधारित है। समाज में विभिन्न व्यक्तियों के अन्दर इन तत्त्वों के अस्तित्व की खोज करके उन्हें विविध वर्गों में किस प्रकार पृथक् किया जाएगा, इसका समाधान वह नहीं करता। यही समस्या महिलाओं के वर्गीकरण के सम्बन्ध में उपस्थित होगी। इससे भी अधिक जटिल कार्य प्रजनन हेतु संरक्षक वर्गों में से उचित पुरुष तथा स्त्रियों के जोड़ों का चयन करने के सम्बन्ध में होगा। प्लेटो यह मान लेता है कि राज्य के नियन्त्रण में पुरुषों तथा महिलाओं के बीच यौन-सम्बन्धों को नियमित करने से उत्कृष्ट सन्तानें उत्पन्न होंगी। क्या यह मान लेना सही है कि ऐसी व्यवस्था द्वारा ग्रीस में सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तू ही उत्पन्न होते रहेंगे, अथवा क्या सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तू का जन्म ऐसी ही व्यवस्थाओं के अन्तर्गत हुआ था ? राज्य के नियन्त्रण में पुरुष तथा स्त्रियों के यौन-सम्बन्धों का नियमित किया जाना मानवीय नैतिकता से संगति नहीं रखता। यह तो मनुष्यों को पशुता की स्थिति प्रदान करना हो जायेगा। जहाँ तक बच्चों के पालन-पोषण तथा शिक्षा-दीक्षा का प्रश्न है, राजकीय प्रसूति तथा शिशु-गृहों में माता-पिता के अभाव में पाले-पोसे बच्चे अनाथालयों में पाले-पोसे बच्चों की भाँति होंगे। जो परिचारिकाएँ उन बच्चों की देख-भाल करेंगी उनमें बच्चों के प्रति वह स्नेह तथा वात्सल्य नहीं हो सकता, जो कि माता-पिता में होता है। माता अपने बच्चे की देख-रेख आदि में जो त्याग करती है, शायद प्लेटो उसे भूल जाता है। प्लेटो द्वारा प्रस्तुत समूची व्यवस्था अस्वाभाविक एवं अव्यावहारिक सिद्ध होगी।

(4) **जीवशास्त्र के नियमों के विरुद्ध**—प्लेटो के पत्नियों के साम्यवाद की भर्त्सना करते हुए अरस्तू का निष्कर्ष यह है कि इसके द्वारा सामाजिक व्यवस्था में अत्यन्त जटिलता तथा असमरूपता (confusion and disharmony) उत्पन्न हो जायेगी। संरक्षक वर्ग की सन्तान जो सबकी सन्तान मानी जाती है, वह इतनी उपेक्षित रहेगी कि मानो वह किसी की सन्तान नहीं है। मानव के सम्बन्ध में पशुओं के दृष्टान्त देकर उत्तम सन्तानोत्पत्ति के नियम लागू करना बड़ी भद्दी बात है। प्लेटो के मत से साम्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत जो सन्तानें उत्पन्न होंगी वे सबकी मानी जायेंगी। माता-पिता को अपने बच्चों को पहचानने का अवसर नहीं मिलेगा, अतः सन्तान प्रेम की वैयक्तिक भावना उनमें नहीं आयेगी। इससे सामाजिक स्नेह व एकता बढ़ेगी। यह तर्क भी जीवशास्त्रीय नियमों के अन्तर्गत सही नहीं बैठता। बहुधा सन्तान में माता या पिता के शारीरिक लक्षण संक्रमित होते ही हैं। उनकी पहचान करना कठिन नहीं होता। अतः जब सन्तान में कोई संरक्षक अपने सदृश लक्षण देखेंगे तो उस सन्तान के प्रति उनके हृदय में स्वत्व की भावना बढ़ने लगेगी। यह बात प्लेटो की धारणा के विरुद्ध सिद्ध हो सकेगी।

(5) **प्लेटो जिस उद्देश्य के निमित्त साम्यवाद की योजना रखता है, उसकी पूर्ति साम्यवाद की अपेक्षा अन्य साधनों से हो सकती है**—जहाँ तक उद्देश्य का प्रश्न है, अरस्तू ने प्लेटो के विरुद्ध जो तर्क दिये हैं वे काफी बलशाली हैं। वह कहता है

कि आध्यात्मिक रोग का उपचार आध्यात्मिक औषधि से होना चाहिए। शिक्षा के द्वारा संरक्षक-वर्ग में श्रेष्ठ गुणों का संचार किया जा सकता है न कि उन्हे भौतिक सम्पत्ति तथा सुख-भोग से निवृत्त करके। परिस्थितियाँ बुराई का कारण या सक्रिय शक्तियाँ नहीं हैं। अतः अरस्तू सम्पत्ति तथा परिवार प्रथा में शासक वर्ग को भ्रष्ट करने के कोई कारण नहीं देखता। इनके अभाव में शासक वर्ग अधिक असन्तोष तथा क्षोभ उत्पन्न कर सकता है, जो अधिक हानिकारक बात होगी। प्लेटो स्त्रियों की दासता की स्थिति से मुक्ति का आह्वान करता है और उन्हें राज्य के सार्वजनिक जीवन में भाग लेने की स्वतन्त्रता देना चाहता है। दूसरी ओर अपने न्याय-सिद्धान्त के द्वारा वह समाज में प्रत्येक व्यक्ति को उसकी नैसर्गिक योग्यता के अनुसार कार्य देना ही न्याय मानता है। प्रश्न यह उठता है कि क्या गृह का संचालन, बच्चों का पालन-पोषण आदि स्त्रियों की नैसर्गिक योग्यता नहीं है? इसका यह परिणाम होगा कि सार्वजनिक जीवन में स्त्रियों का प्रवेश गृह-व्यवस्था को हानि पहुँचायेगा। स्त्रियों को दासता से मुक्ति दिलाने का उपाय केवल साम्यवाद नहीं है। यदि उन्हें किसी प्रकार का बन्धन है तो उसके अन्य प्रकार के उपचार हो सकते है। सारे संरक्षक वर्ग के लिए साम्यवाद की व्यवस्था न नैतिक कही जा सकती है, न व्यावहारिक और न न्याय-सम्मत। प्लेटो राज्य की एकता पर अत्यधिक जोर देता है। इस दृष्टि से वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को भ्रातृत्व की धारणा में परिवर्तित करने के उद्देश्य से संरक्षक वर्ग के लिए सम्पत्ति तथा परिवार के साम्यवाद की योजना रखता है। परन्तु राज्य की एकता साम्यवाद द्वारा नही आ सकती। अरस्तू का मत है कि राज्य का स्वरूप बहुवादी है (The very nature of the state is the plurality of dissimilars)। वास्तविक एकता अनेकताओं में एकता लाना है, न कि समानों में एकता लाना।

(6) **सम्पत्ति के साम्यवाद की भाँति परिवार के साम्यवाद की योजना भी अर्थ-साम्यवाद**—प्लेटो का पत्नियों का साम्यवाद भी सम्पत्ति के साम्यवाद की भाँति अधूरी व्यवस्था है। यह केवल संरक्षक वर्ग पर लागू होता है। तीसरे वर्ग के लिए इसकी कोई व्यवस्था नहीं है। स्वयं प्लेटो अपने जीवन काल में अनुभव कर चुका था कि उसकी साम्यवादी योजना अव्यावहारिक सिद्ध होगी। अतः अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में 'लॉज' नामक ग्रन्थ में उसने संरक्षक वर्ग के लिए सम्पत्ति तथा परिवार दोनों को मान्य किया।

प्लेटो की शिक्षा-योजना

आदर्श राज्य की उपलब्धि के निमित्त शिक्षा एक विध्यात्मक साधन—न्याय तथा आदर्श राज्य की अभिव्यक्ति के विध्यात्मक साधन के रूप में प्लेटो ने अपने ग्रन्थ रिपब्लिक के अन्तर्गत शिक्षा की एक विशद योजना प्रस्तुत की है। प्लेटो ने कहा है कि 'एक महान् चीज शिक्षा तथा पालन-पोषण है। यदि नागरिक उत्तम ढंग से शिक्षित होंगे तो वे स्वयं अन्य दिशाओं का मार्ग ढूंढ़ लेंगे।'[1] साम्यवाद की योजना बुराइयों को रोकने की निषेधात्मक विधि है। परन्तु शिक्षा एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा व्यक्ति की आत्मा से बुराइयों का निराकरण विध्यात्मक रूप से होगा।

[1] The 'one great thing' is education and nurture : if the citizens are well educated they will easily see their way through other matters.' —*The Republic.*

शिक्षा के सम्बन्ध में प्लेटो ने अपने ग्रन्थ में इतना अधिक विवेचन किया है कि रूसो 'रिपब्लिक को राजनीति का ग्रन्थ मानने की अपेक्षा शिक्षा पर लिखा गया समस्त युगों का सर्वोत्तम ग्रन्थ कहता है।'[1]

ज्ञान तथा सद्‌गुण की प्राप्ति के लिए शिक्षा परमावश्यक—प्लेटो सुकरात के इस कथन का समर्थक है कि 'सद्‌गुण ही ज्ञान है।' यदि सद्‌गुण ज्ञान है, तो ज्ञान की भाँति सद्‌गुण भी शिक्षा द्वारा अर्जित किया जा सकता है। न्याय सद्‌गुण का ही एक अंग है। प्लेटो के मत से न्याय की मान्यता यह है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपना निर्दिष्ट कार्य करे। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को उसके कार्य में कुशल बनाने के लिए उसे शिक्षित किया जाना आवश्यक है। बार्कर के मत से न केवल प्लेटो की ही धारणा में, अपितु सामान्यतया सभी ग्रीकों की धारणा में शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया मानी जाती थी जिसके द्वारा समाज की इकाइयाँ सामाजिक चेतना की ओर प्रवृत्त होती है और सामाजिक माँगों को पूर्ण करना सीखती हैं।'[2] प्लेटो शिक्षा को राज्य का एक प्रमुख कर्तव्य मानता है। उसका ग्रन्थ रिपब्लिक राज्य के संविधान की संरचना का विवेचन करने के साथ-साथ शिक्षा पद्धतियों का भी विवेचन करता है।

आदर्श राज्य में दार्शनिकों के शासन को सुनिश्चित करने के लिए शिक्षा प्रमुख साधन—प्लेटो द्वारा प्रस्तुत शासन-व्यवस्था दार्शनिक राजा के शासन की है। अतः दार्शनिक राजा के शासन को सुनियोजित बनाने के लिए शिक्षा परमावश्यक है। शिक्षा के द्वारा ही व्यक्ति को सत् का ज्ञान हो सकता है। वही उसकी आत्मा को श्रेष्ठ बना सकती है। साथ ही व्यक्ति शिक्षा द्वारा समाज का एक उपयोगी अंग बनने की क्षमता प्राप्त कर सकता है। प्लेटो के विचार से शिक्षा केवल सामाजिक सफलता का साधन ही नहीं है; अपितु वह सामाजिक सदाचार (righteousness) की भावना को उत्पन्न करने का भी साधन हैं और इस प्रकार वह सत् के ज्ञान करने का भी मार्ग है। नैटलशिप (Nettleship) के अनुसार रिपब्लिक में शिक्षा का उद्देश्य 'मानव आत्मा के नेत्रों को प्रकाश की दिशा में मोड़ना है।'[3]

शिक्षा मानव-आत्मा को सत् का ज्ञान कराने का साधन—शिक्षा का उद्देश्य मानव मस्तिष्क में कुछ तथ्यों को संग्रहीत कर देना मात्र नहीं है, बल्कि मानव-आत्मा में जो उत्तम बातें अन्तर्निहित हैं, उन्हें बाहर प्रकाश में लाना है। प्लेटो आत्मा को अमर मानता है, अतः अवांछित ढंग से उनका पोषण (illnurture) यद्यपि उसे पूर्णतया नष्ट तो नहीं कर सकता, तथापि वह बहुत कुछ मात्रा में लगभग ऐसा कर सकेगा। शिक्षा का उद्देश्य आत्मा के सम्मुख ऐसे वातावरण की सृष्टि करना है जिसमें वह अपने पूर्ण विकास के साधन प्राप्त कर सके। शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य मानव-आत्मा को सत् का ज्ञान (the idea of the Good) कराना तथा उसे निरपेक्ष सत्य का ज्ञान करने की क्षमता प्रदान करना है। बार्कर के मत से शिक्षा मानसिक या आध्यात्मिक रोगों के लिए मानसिक या आध्यात्मिक उपचार है।

मानव-आत्मा के सर्वांगीण विकास के लिए शिक्षा सर्वोत्तम साधन—प्लेटो के

[1] 'The *Republic* is not so much a treatise on politics, it is the finest treatise on education that ever was written.'—Rousseau.

[2] Barker, *op. cit.*, 210.

[3] 'Its object is there (Book VII of the *Republic*) said to be to turn the eye, which the soul already possesses, to the light.'—R. L. Nettleship, *Lectures on the Republic of Plato*, 1955, 78.

मत से शिक्षा का उद्देश्य केवल आत्मा का उत्थान ही नहीं है। मानवीय सद्गुण (human virtue) के तीन तत्त्वों—बुद्धि (wisdom), उत्साह (courage), तथा आत्म-संयम (self-control) के विकास हेतु भी शिक्षा आवश्यक है। मैक्सी के अनुसार, प्लेटो की शिक्षा योजना कई दृष्टियों से आधुनिक है। इसका उद्देश्य मनुष्य का शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक विकास करके मानव-आत्मा के तीनों तत्त्वों का विकास करना है। शिक्षा धार्मिक होगी तो वह मनुष्य के आत्मिक विकास में सहायक सिद्ध होगी। इससे वह आत्म-संयम के तत्त्व का विकास करेगी। शारीरिक व्यायाम की शिक्षा द्वारा मनुष्य के शारीरिक स्वास्थ्य का विकास होगा। वह उत्साह तत्त्व की अभिवृद्धि करेगा। साथ ही सैनिक प्रशिक्षण भी इस दिशा में वांछनीय है। दर्शन की शिक्षा जो कि विज्ञान की अधिदेवी (queen of science) है, मनुष्य के ज्ञान तथा बुद्धि का विकास करके उसके मस्तिष्क को स्वस्थ बनायेगी। इससे बुद्धि या विवेक तत्त्व की अभिवृद्धि होगी।[1] यह व्यवस्था प्लेटो के न्याय-सिद्धान्त से संगति रखती है। डनिंग के मत से 'प्लेटो के राज्य का मुख्य कार्य शैक्षिक है।' राज्य का अस्तित्व शिक्षा के लिए है।

प्लेटो के शिक्षा-सिद्धान्त की विशेषताएँ

(1) प्लेटो की शिक्षा योजना का आधार उसका न्याय-सिद्धान्त है जिसकी अभिव्यक्ति शिक्षा के द्वारा हो सकती है। वह मनुष्य के सद्गुणों का विकास करती है, जिसके द्वारा वह अपना पूर्ण वैयक्तिक विकास करते हुए समाज का उत्तम सदस्य बनकर उसकी समुचित सेवा करने में समर्थ हो सकता है। साथ ही अपनी आत्मा के प्रमुख तत्त्वों की सामाजिक अभिव्यक्ति हेतु प्रशिक्षण प्राप्त करके समाज में अपने निर्दिष्ट कर्त्तव्य का भी पालन कर सकता है।

(2) शिक्षा का आधार दार्शनिक भी है। प्लेटो के अनुसार, आत्मा ही समस्त शिक्षा का स्रोत है। मानव-आत्मा समस्त ज्ञान का भण्डार है। शिक्षा उस ज्ञान भण्डार को प्रकाश में लाने का साधन है। शिक्षक विद्यार्थी के लिए उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करता है, जिसके द्वारा विद्यार्थी की आत्मा में अन्तर्निहित ज्ञान प्रस्फुटित होकर बाहर प्रकट होता है। प्लेटो की यह धारणा थी कि मानव-आत्मा का सर्वांगीण विकास उसके वातावरण पर निर्भर करता है और शिक्षा उसके लिए सर्वोत्तम साधन है। प्लेटो राज्य को मानव-मन की उपज मानता है। मानव का मानसिक एवं आत्मिक विकास राज्य में ही होता है। अतः मानव को राज्य-सम्बन्धी विविध बातों का ज्ञान होना चाहिए। इससे उसकी आत्मा का विकास होगा।

(3) प्लेटो की शिक्षा योजना के अन्तर्गत शिक्षा मनुष्य के लिए जीवन-पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है। मनुष्य जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में उसकी आत्मा के तीन तत्त्वों का क्रमशः विकास होता है। यथा बचपन में तृष्णा, युवावस्था में उत्साह तथा वृद्धावस्था में विवेक। इनके समुचित विकास द्वारा ही मनुष्य की आत्मा पूर्णत्व को प्राप्त होती है। अतः शिक्षा मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन में चलती रहनी चाहिए, ताकि जीवन में समय-समय पर उत्पन्न होने वाले तत्त्वों को विकास का

[1] 'Plato's view has been put thus : By physical education you can strengthen the body, steel the courage, and quicken the sword ; by mental education you can expand knowledge and deepen wisdom ; by moral education you can engender self-control, moderation, and alturism.'—Maxey, *op. cit.*, 45-46.

अवसर मिले और उनके द्वारा मनुष्य समाज का उपयोगी सदस्य सिद्ध हो सके। ऐसी योजना मानव-आत्मा को सत् का ज्ञान कराने की क्षमता रखेगी जो उसका अन्तिम लक्ष्य है।

(4) शिक्षा का उद्देश्य सद्गुण तथा न्याय की अभिवृद्धि करना है, ताकि उसके द्वारा मानव को सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, मानसिक एवं शारीरिक सभी दृष्टियों से योग्य बनाया जा सके। साथ ही उसकी आत्मा को सत्यम् शिवम् सुन्दरम् की अनुभूति करने की क्षमता प्राप्त हो सके। शिक्षा वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों पक्षों की अभिवृद्धि करने का उद्देश्य रखती है। उसके द्वारा मनुष्य को सामाजिक संगठनों तथा सम्पूर्ण समाज के प्रति अपने दायित्वों का ज्ञान भी होना चाहिए। अतः शिक्षा सामाजिक न्याय की उपलब्धि का भी साधन है।

(5) राज्य स्वयं एक शिक्षा-संस्था है। अतः राज्य के आदर्श तथा कार्य-विधियाँ शिक्षा के साधन सिद्ध हों। शिक्षा राज्य का प्रमुख कार्य है। अतः शिक्षा पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिए। प्लेटो के काल में एथेंस में शिक्षा व्यक्तिगत शिक्षकों द्वारा दी जाती थी। राज्य को इससे कोई मतलब नहीं था। प्लेटो इस व्यवस्था से असन्तुष्ट था। अतः वह शिक्षा को राज्य का प्रमुख दायित्व मानता है।

(6) प्लेटो की शिक्षा योजना उसके साम्यवाद की भाँति केवल संरक्षक-वर्ग के लिए है। प्लेटो शिक्षा के सम्बन्ध में भी उत्पादक-वर्ग की उपेक्षा करता है। उसका एकमात्र उद्देश्य संरक्षक वर्ग को शिक्षा योजना से लाभान्वित करना है ताकि वे राज्य-व्यवस्था के समुचित संचालन का उत्तरदायित्व निभा सकें।

(7) शिक्षा संरक्षक वर्ग के पुरुष तथा महिला दोनों के लिए एक-सी होनी चाहिए, क्योंकि प्लेटो पुरुष तथा महिला दोनों में एक-से सद्गुणों का अस्तित्व स्वीकार करता है।

(8) प्लेटो की शिक्षा योजना में प्राविधिक तथा व्यावसायिक शिक्षा का समावेश नहीं है। उस युग में सामान्यतया ग्रीक लोग शिक्षा के इन पक्षों को विशेष महत्त्व नहीं देते थे। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य राजनेताओं का सृजन करना तथा उन्हें सार्वजनिक जीवन के विविध क्षेत्रों में कार्यकुशल बनाना था, ताकि उनमें उत्तमतर ज्ञान, अनुभव, बुद्धि तथा आचरण का विकास हो सके।

प्लेटो की शिक्षा योजना : पृष्ठभूमि एवं स्वरूप

योजना की पृष्ठभूमि : (i) एथेंस की शिक्षा पद्धति—उपर्युक्त उद्देश्यों, सिद्धान्तों तथा विशेषताओं से युक्त प्लेटो की विशद शिक्षा योजना का आधार केवल मात्र उसका आदर्शवाद या स्वप्नलोकी विचारधारा नहीं है। प्लेटो ने आदर्श राज्य की प्राप्ति हेतु शिक्षा को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने का प्रयास किया है। शिक्षा के सम्बन्ध में प्लेटो की विचारधारा तत्कालीन ग्रीस के नगर-राज्यों, मुख्यतया एथेंस तथा स्पार्टा, में प्रचलित शिक्षा-पद्धति से प्रभावित हुई है। बार्कर ने कहा है कि 'जिस प्रकार साम्यवाद की योजना को निश्चित करने में प्लेटो एथेंस की अपेक्षा स्पार्टा में प्रचलित व्यवस्था से प्रभावित हुआ है, उसी प्रकार शिक्षा की योजना में भी उसने स्पार्टा की पद्धति को एथेंस की पद्धति की अपेक्षा अधिक अपनाया है।'[1] प्लेटो के काल में एथेंस में शिक्षा का स्वरूप वैयक्तिक तथा अभिजात-

[1] Barker, *op. cit.*, 211.

वादी था। शिक्षा की व्यवस्था करना राज्य का दायित्व नहीं माना जाता था। विद्यालयों को राज्य की ओर से सहायता या प्रोत्साहन भी नहीं मिलता था। सोलन ने प्रारम्भिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने के आदेश दिये थे। परन्तु उच्च शिक्षा पर राज्य का कोई नियन्त्रण नहीं था। शिक्षा प्रारम्भिक, माध्यमिक तथा उच्च, तीन श्रेणियों में विभक्त थी। शारीरिक व्यायाम, संगीत तथा साहित्य, शिक्षा के मुख्य विषय थे। माध्यमिक शिक्षा बहुत व्ययशील थी और केवल धनिक वर्ग ही इसे प्राप्त कर सकते थे। उच्च शिक्षा सैनिक प्रकृति की थी। इसी स्तर पर नागरिक कुछ सामाजिक शिक्षा भी प्राप्त कर सकता था। शिक्षा न केवल धनिक वर्ग को ही उपलब्ध थी, वरन् यह व्यक्तिगत परिवार की इच्छा पर निर्भर था कि वह अपने बच्चों की शिक्षा की व्यवस्था करे या न करे। अत: जैसा बार्कर का मत है शिक्षा राज्य की आवश्यकता से परे थी। यह निष्ठावान् नागरिकों के निर्माण के प्रतिकूल क्रान्तिकारियों के सृजन में सहायक हो सकती थी। प्लेटो ने इस पद्धति को दोषपूर्ण समझा, विशेष रूप से शिक्षा के सम्बन्ध में पारिवारिक उत्तरदायित्व की पद्धति को। प्लेटो ने इस कारण से भी वैयक्तिक परिवार प्रथा को समाप्त करने की योजना रखी थी। राज्य द्वारा शिक्षा की उपेक्षा से उत्तम शासकों का निर्माण सम्भव नहीं था। उत्तम राज्य के निर्माण की यह प्रधान आवश्यकता थी कि राज्य द्वारा शिक्षा की व्यवस्था करके उच्चतम प्रकृति के राजनेताओं तथा प्रशासकों का निर्माण किया जाय।

(ii) **स्पार्टा की शिक्षा पद्धति**—इसके विपरीत स्पार्टा में शिक्षा का दायित्व राज्य पर था। स्पार्टा में सैनिकशाही व्यवस्था थी। अत: बचपन से ही बच्चों की शिक्षा-दीक्षा का भार राज्य ले लेता था। व्यक्तिगत परिवार का शिक्षा पर कोई नियन्त्रण न था। शिक्षा का उद्देश्य वीर नागरिकों का निर्माण करना था, जो युद्ध के लिए सदैव तत्पर रहें। वहाँ की सामाजिक व्यवस्था में भी परिवार का महत्त्व बहुत कम था। इसी प्रकार व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्था पर भी राज्य का नियन्त्रण था। अत: जैसा बार्कर का कथन है, 'ये समस्त विशेषताएँ प्लेटो के रिपब्लिक में वर्णित हैं जिनमें अधिकांश स्पष्टत: स्पार्टा के नमूने की हैं और जिनका प्रेरणा-स्रोत स्पार्टा है।' परन्तु एथेंस की शिक्षा-पद्धति का प्रभाव भी प्लेटो पर कम नहीं है। वहाँ शिक्षा का लक्ष्य मानव में उत्तम गुणों का विकास करना माना जाता था। यद्यपि राज्य द्वारा प्रशिक्षण नहीं दिया जाता था, किन्तु व्यक्तिगत प्रयास द्वारा शिक्षार्थी के मानसिक, बौद्धिक, शारीरिक एवं नैतिक गुणों के विकास का ध्यान रखा जाता था। प्लेटो ने अपनी शिक्षा-व्यवस्था में इन दोनों राज्यों की पद्धतियों का सुन्दर सम्मिश्रण किया है।

प्लेटो की योजना में शिक्षा का स्वरूप—एथेंस तथा स्पार्टा दोनों राज्यों में प्रचलित शिक्षा-व्यवस्था के तत्त्वों को लेकर प्लेटो ने जिस शिक्षा-व्यवस्था की योजना निर्मित की है, उसके दो स्वरूप हैं—(1) शिक्षा का वैयक्तिक स्वरूप, तथा (2) शिक्षा का सामाजिक स्वरूप। पहले पर एथेंस का तथा दूसरे पर स्पार्टा का प्रभाव स्पष्ट है। ये दोनों रूप प्लेटो के न्याय-सिद्धान्त से संगति रखते हैं। प्लेटो शिक्षा द्वारा शिक्षार्थी की आत्मा के विभिन्न तत्त्वों (विवेक, उत्साह, आत्म-संयम तथा न्याय) का पूर्ण विकास करके उसे सत् का ज्ञान कराना व्यक्तिगत जीवन का प्रमुख लक्ष्य मानता है। इस हेतु एथेंस की शिक्षा-पद्धति ने उसे प्रभावित किया था। साथ ही व्यक्ति को

राज्य का उत्तम नागरिक बनाना भी प्लेटो के न्याय-सिद्धान्त का प्रमुख तत्त्व था। व्यक्ति राज्य का अभिन्न अंग है। राज्य का नागरिक होकर तथा राज्य में अपने निर्दिष्ट कार्य-भाग को सम्पन्न करके ही वह पूर्णत्व को प्राप्त हो सकता है। व्यक्ति में ऐसी क्षमता लाने के लिए शिक्षा का स्वरूप सामाजिक होना आवश्यक है। अतः राज्य को स्वयं शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए। यह प्रेरणा उसे स्पार्टा की पद्धति से प्राप्त हुई। प्लेटो की शिक्षा योजना के अन्तर्गत शिक्षा का तीसरा स्वरूप उसका अभिजात प्रकृति का होना भी है। प्लेटो ने साम्यवाद की भाँति शिक्षा की योजना भी केवल उच्च वर्ग के लिए निर्धारित की है। उत्पादक वर्ग को इसमें शामिल नहीं किया है।

शिक्षा के स्तर—यद्यपि प्लेटो ने अपनी विशद शिक्षा योजना को केवल संरक्षक-वर्ग (शासक-वर्ग) के लिए निर्धारित किया है और समाज के एक विशाल भाग (उत्पादक वर्ग) को इसका लाभ पहुँचाने की चिन्ता नहीं की है, तथापि प्लेटो की शिक्षा-योजना अत्यन्त व्यापक है और वह आजीवन चलने वाली प्रक्रिया है। इसका आरम्भ शैशव-काल से ही हो जाता है और वह मृत्यु-पर्यन्त चलती रहती है। प्लेटो ने शिक्षा को कई सीढ़ियों में बाँटकर प्रत्येक स्तर के लिए व्यापक पाठ्यक्रम का निर्धारण किया है। साथ ही शिक्षा का वास्तविक लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से उसने समय-समय पर शिक्षा के क्षेत्र में आने वाली बुराइयों का अनुमान करके उनके निवारण की व्यवस्था भी बतायी है।

शिशु शिक्षा—मैक्सी का कथन है कि 'प्लेटो की शिक्षा योजना के विवरण अनेक दृष्टियों से आधुनिक हैं। उसने संरक्षकों की शिक्षा में अत्यन्त प्रारम्भ से ही अनेक नियन्त्रणों की व्यवस्था की है, ताकि शिक्षार्थी ऐसे प्रभावों में आने से बचे रहें जो कि उनकी शिक्षा से सम्बद्ध उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अवांछनीय सिद्ध होते हैं।'[1] उदाहरणार्थ, बच्चों की परिचारिकाओं (nurses) तथा माता-पिता को उन्हें ऐसी कहानियाँ सुनाने से रोका गया है जो कि बच्चों को अवांछनीय आदर्श सिखाएँ तथा उनके मनों में अनावश्यक जटिलता उत्पन्न करें। धार्मिक शिक्षा के अन्तर्गत नरक सम्बन्धी कोई बातें बच्चों को न बतायी जाएँ। प्लेटो के मत से संरक्षकों के बच्चों में मृत्यु का भय नहीं लाया जाना चाहिए। प्रत्युत् बच्चों को यह बताया जाए कि देवता न्याय तथा सत्य से प्रेम रखते हैं और उत्तम कार्य करने वालों को पुरस्कृत करते हैं। व्यायाम, सैनिक शिक्षा तथा दर्शन की शिक्षा द्वारा व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक विकास का मार्ग प्रशस्त होता है।

प्लेटो की शिक्षा-व्यवस्था को निम्नांकित श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—

(1) **प्रारम्भिक शिक्षा** (Elementary Education)—प्रारम्भिक शिक्षा की प्रथम श्रेणी 6 वर्ष की अवस्था तक के बच्चों के लिए निर्धारित की गयी है। इसमें बच्चों को ऐसी बातें सिखायी जानी चाहिए जिनके द्वारा बच्चा सैद्धान्तिक सत्य का ज्ञान करे, न कि केवल तथ्यगत सत्य का। इस अवस्था में बच्चे को साधारण धार्मिक एवं नैतिक सत्यों का ज्ञान होना चाहिए। उसमें अच्छी आदतों तथा सुरुचि (good taste) की भावना अप्रकट रूप से उत्पन्न की जानी चाहिए।

प्रारम्भिक शिक्षा का दूसरा चरण 7 वर्ष की आयु से 20 वर्ष की आयु तक

[1] Maxey, *op. cit.*, 45.

चलता है। इस अवस्था में पाठ्यक्रम के अन्तर्गत शारीरिक तथा मानसिक विकास करने वाली शिक्षा निर्धारित की गयी है। ग्रीक शिक्षा का एक मुख्य सिद्धान्त यह था कि 'स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन का निवास होता है' (a healthy mind resides in a healthy body)। एथेंस में शिक्षा के इस उद्देश्य को बहुत महत्त्व दिया जाता था। प्लेटो इससे बहुत प्रभावित था। अतः इस अवस्था में शारीरिक शिक्षा के लिए व्यायाम (gymnastics) की तथा मानसिक एवं आत्मिक शिक्षा के लिए संगीत (music) की शिक्षा निर्धारित की गयी है। साहित्य के विषयों के अन्तर्गत कविता तथा नाटकों की शिक्षा में प्लेटो सुधार लाना चाहता है। नाटक बच्चों में अनुकरण की प्रवृत्ति जागृत करता है। अतः यदि कभी बुरे पात्र का अनुकरण करना बच्चा सीखे तो वह अवांछनीय है और वह उसकी आत्मा को भ्रष्ट कर सकता है। इसी प्रकार कविता के सम्बन्ध में उसकी यह धारणा थी कि वह व्यक्ति की भावनाओं को प्रभावित करती है न कि विवेक को। अतः प्लेटो काव्य की शिक्षा बच्चों को देना उचित नहीं मानता। उसके मत से कहानियों को नाटकीय ढंग से प्रस्तुत करना भी बच्चों की शिक्षा में उचित नहीं है। अतः प्लेटो इन सब विषयों की शिक्षा-शैली वर्णनात्मक (narrative) बनाना चाहता था। बार्कर का कथन है कि 'प्लेटो के रिपब्लिक में नाटक की शिक्षा को प्रतिबन्धित कर दिया गया है; परन्तु यह माना जा सकता है कि प्लेटो की दृष्टि में आदर्श पात्रों के नाटकीय अनुकरण सहनीय थे। यह इस आधार पर कि उत्तम पात्रों का अभिनय किया जाए, परन्तु बुरे पात्रों का केवल वर्णन-मात्र किया जाना चाहिए।'[1] प्लेटो की धारणा थी कि संगीत के लय युवकों को प्रिय लगते हैं, अतः वे उनकी आत्मा को भी सत्य तथा न्याय के प्रति प्रेम करने की प्रेरणा देंगे। भले ही इनके द्वारा वैज्ञानिक ज्ञान का अर्जन न हो, परन्तु वे व्यक्ति के विवेक तथा उत्साह तत्त्वों को प्रशिक्षित करने के उत्तम साधन सिद्ध होते हैं। व्यायाम की शिक्षा का उद्देश्य बच्चों को शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ बनाना था। प्लेटो को चिकित्सकों से कोई सहानुभूति नहीं थी। व्यायाम शिक्षक का यह कार्य है कि वह यह जाँच करे कि विविध शिक्षार्थियों की शारीरिक संरचना के अनुसार उनके हेतु उचित व्यायाम की व्यवस्था की जाय। व्यायाम की शिक्षा का महत्त्व प्लेटो ने स्पार्टा से ग्रहण किया था। स्वस्थ बच्चों का निर्माण राज्य को वीर तथा उत्साही संरक्षक-वर्ग प्रदान करेगा। अतएव व्यायाम शिक्षा का उद्देश्य सामाजिक भी है।

प्लेटो ने प्रारम्भिक शिक्षा के इस दूसरे चरण में बच्चों की शिक्षा के अन्तर्गत कुछ प्राकृतिक विज्ञानों का भी समावेश किया है। इन विषयों की शिक्षा का उद्देश्य प्राकृतिक विज्ञानों के तथ्यों का ज्ञान करने के साथ-साथ बच्चों में मनोवैज्ञानिक चिन्तन की टेव विकसित करना तथा सत् को समझने की क्षमता प्रदान करना था। गणित की शिक्षा इसीलिए आवश्यक मानी गयी है कि उसके द्वारा बच्चों में स्पष्ट तथा शुद्ध चिन्तन करने की शक्ति बढ़ती है। इसी के साथ-साथ इस चरण में प्लेटो बच्चों की स्मरण शक्ति को भी प्रशिक्षण देना शिक्षा का उद्देश्य मानता है। शिक्षा की इस सारी योजना तथा पाठ्यक्रम के निर्धारण का उद्देश्य यही था कि प्लेटो संरक्षक-वर्ग के बच्चों को ऐसी शिक्षा देना चाहता था, जिसके द्वारा वे न्याय-सिद्धान्त

[1] 'In *Republic* the drama seems to be banished; but it may be held that Plato would have tolerated dramatic imitation of noble characters, on the principle that a good man may be dramatised but a bad man must only be narrated.'—Barker, *op. cit.*, 233.

का सही प्रतिपादन कर सकें और आदर्श राज्य की व्यवस्था में सफल शासक सिद्ध हो सकें।

18 वर्ष की आयु से 20 वर्ष तक की आयु की अवधि में बच्चों को निरपेक्ष रूप से व्यायाम तथा सैनिक शिक्षा दी जाएगी। इसके उपरान्त 20 वर्ष की आयु तक प्रशिक्षण प्राप्त युवकों के निमित्त एक प्रतियोगिता परीक्षा का आयोजन किया गया है। इसका उद्देश्य उच्च शिक्षा हेतु इन शिक्षार्थियों में से योग्यों का चयन करना था। जो इस प्रतियोगिता में असफल हो जाते उन्हें इतनी ही शिक्षा के आधार पर राज्य के शासन सम्बन्धी तथा सैनिक पदों पर नियुक्त किया जाता। जो सफल होते उन्हें उच्चतर शिक्षा के निमित्त निर्धारित पाठ्यक्रम के अनुसार पुन: शिक्षित करने की योजना बतायी गयी है। इस प्रकार 20 वर्ष की आयु की यह प्रतियोगिता परीक्षा एक प्रकार की व्यावसायिक परीक्षा थी जिसमें चुने गये विद्यार्थी भविष्य में अपनी योग्यतानुसार राज्य के विभिन्न प्रकार के उच्चतर पदों के लिए छाँटे जाते और उन्हें उसी प्रकार से शिक्षित करने की व्यवस्था की जाती।

(2) **उच्चतर शिक्षा** (Higher Education)—प्रारम्भिक शिक्षा की भाँति उच्चतर शिक्षा भी पुरुष तथा महिला दोनों वर्गों के लिए थी। इसे भी शिक्षार्थी की आयु के अनुसार दो स्तरों में बाँटा गया है। प्रथम स्तर 20 से 30 वर्ष तथा द्वितीय स्तर 30 से 35 वर्ष तक की आयु के लिए निर्धारित किया गया है।

प्रथम भाग में शिक्षा का पाठ्यक्रम शारीरिक तथा मानसिक विकास की दृष्टि से निर्धारित किया गया है। इस अवस्था में क्रमिक वैज्ञानिक शिक्षा होनी चाहिए। छात्रों ने जो ज्ञान इससे पूर्व प्राप्त किया है उसके मौलिक तत्त्वों तथा तथ्यों को अब उन्हें समझना है। पाठ्यक्रम का स्वरूप लगभग उसी प्रकृति का बताया गया है जैसा कि आधुनिक काल में विश्वविद्यालयीय शिक्षा का है। पाठ्यक्रम में गणित, प्राकृतिक विज्ञान, रेखागणित, नक्षत्र विद्या, तर्कशास्त्र, द्वन्द्ववाद आदि का समावेश है। ये सब विषय छात्रों के मानसिक विकास का लक्ष्य रखते हैं। साथ ही सैनिक शिक्षा तथा प्रशासकीय प्रशिक्षण की भी व्यवस्था बतायी गयी है।

30 वर्ष की आयु तक इस पाठ्यक्रम की शिक्षा ले लेने के पश्चात् पुन: एक प्रतियोगिता परीक्षा निर्धारित की गयी है। इसके द्वारा पुनः उच्च सेवाओं के लिए चुनाव होगा। जो इस परीक्षा में कम कुशल सिद्ध होंगे उन्हें राज्य के निम्नतर प्रशासकीय या सैनिक पदों पर नियुक्त किया जायगा। जो अधिक निपुण पाये जायेंगे, उन्हें पुन: 35 वर्ष की आयु तक प्रशिक्षित किया जायगा। इस अवधि में शिक्षा का पाठ्यक्रम मुख्य रूप से बौद्धिक होगा। गणित तथा द्वन्द्ववाद (dialectics) पाठ्यक्रम के मुख्य अंग होंगे।

इस प्रशिक्षण को प्राप्त कर लेने के उपरान्त संरक्षकों को राज्य के उच्चतम शासकीय पदों पर नियुक्त किया जायेगा। 50 वर्ष की अवस्था तक वे सार्वजनिक पदों पर प्रशासकों के रूप में कार्य करेंगे, यदि 50 वर्ष की आयु पूर्ण कर लेने के उपरान्त भी वे योग्य तथा कुशल पाये गये तो वे शासकीय पदों पर आगे भी कार्य करते रहेंगे। अन्यथा उन्हें पुन: अन्तिम शिक्षा प्राप्त करने के कार्य में लगा दिया जायेगा। वे चिन्तनात्मक अध्ययन में लग जायेंगे और चिर सत् का ज्ञान प्राप्त करते रहेंगे। इस प्रकार प्लेटो की शिक्षा योजना आजन्म शिक्षा की व्यवस्था है।

मूल्यांकन

शिक्षा का उद्देश्य पर्याप्त व्यापक है—प्लेटो के सम्पूर्ण राजनीतिक दर्शन का आधार उसका न्याय-सिद्धान्त है जिसके अनुसार प्लेटो व्यक्ति एवं उसके विस्तृत स्वरूप (राज्य) दोनों को आदर्श बनाना चाहता है। प्लेटो के मत से व्यक्ति के जीवन का अन्तिम लक्ष्य सत् का ज्ञान (the realisation of the idea of the good) करना है। राज्य का आदर्श भी ऐसी व्यवस्था की स्थापना करना है जिसमें व्यक्ति की आत्मा में निहित सद्गुणों का लाभ सम्पूर्ण समाज को प्राप्त हो और सारा समाज एक विशाल कुटुम्ब के रूप में परिणत हो जाय। उसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने गुणों के अनुसार अपने-अपने निर्दिष्ट क्षेत्र में समाज सेवा की भावना से कार्य करे। न्याय की इस अभिव्यक्ति के लिए प्लेटो ने साम्यवाद तथा शिक्षा की योजनाएँ प्रस्तुत की हैं। भले ही प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था स्वप्नलोकी प्रतीत हो, किन्तु उसकी शिक्षा योजना स्वप्नलोकी नहीं कही जा सकती। शिक्षा का उद्देश्य तथा कार्यक्रम अत्यन्त व्यापक है। वह प्लेटो की कोरी कल्पना न होकर उस युग के ग्रीस में प्रचलित शिक्षा-व्यवस्था के ऊपर सुधार की व्यवस्था है। उसमें कोई बात ऐसी प्रतीत नहीं होती जो कि अव्यावहारिक अथवा कल्पनातीत हो। सैबाइन के अनुसार, 'प्लेटो ने अपने आदर्श की प्राप्ति के लिए साम्यवाद की अपेक्षा शिक्षा पर मुख्यतया विश्वास किया है, क्योंकि शिक्षा वह विध्यात्मक साधन है जिसके द्वारा शासक एक समरूप राज्य के निर्माण के लिए मानव प्रकृति को उचित दिशा में ढाल सकता है।'[1] ईबनस्टीन के अनुसार, 'प्लेटो की शिक्षा योजना यह प्रदर्शित करती है कि उत्तमतर शासन तथा सार्वजनिक सेवा का मार्ग एक समुचित रूप से नियोजित शिक्षा पद्धति द्वारा प्राप्त हो सकता है।'[2] प्लेटो सबसे पहला व्यक्ति था जिसने यह अनुभव किया कि शिक्षा किशोरों एवं प्रौढ़ों के लिए निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है, शिक्षा का अर्थ बचपन तथा किशोरावस्था में कुछ तथ्यों तथा विचारों को हृदयंगम कर लेना मात्र नहीं है। प्रत्युत् ज्ञान-प्राप्ति का व्यवसाय मृत्यु-पर्यन्त चलता रहता है। जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में व्यक्ति में विविध तत्त्वों का अभ्युदय होता रहता है। अतः उनके समुचित विकास हेतु विभिन्न अवस्थाओं में शिक्षा का रूप विविध प्रकार का होना चाहिए, ताकि व्यक्ति अपने पूर्णत्व को प्राप्त करता हुआ समाज का सच्चा सेवक भी बन सके।

शासकों का समुचित प्रशिक्षण—प्लेटो का यह विश्वास है कि राज्य का शासन उन्हीं व्यक्तियों के द्वारा सम्पन्न किया जाना चाहिए जिनकी आत्मा में विवेक तथा उत्साह तत्त्वों की प्रधानता है। सफल शासक के लिए आवश्यक है कि उसे समुचित प्रशिक्षण प्राप्त हो। प्लेटो की विचारधारा में न्याय सिद्धान्त पर आधारित आदर्श राज्य का शासन दार्शनिकों द्वारा संचालित किया जाना चाहिए। उसने कहा है, 'जब तक दार्शनिक लोग राजा नहीं होंगे, अथवा इस संसार के राजाओं तथा शासकों में दर्शन की भावना तथा शक्ति नहीं होगी, तब तक संसार के राज्य

[1] Sabine, *op. cit*, 63.

[2] Plato's plan of education suggests that 'the road to better government and public service is through an appropriately conceived system of education.' —Ebenstein, *op. cit.*, 4.

अपनी बुराइयों से चैन नहीं प्राप्त कर सकेंगे।'[1] प्लेटो के हृदय में जिस आदर्श राज्य की कल्पना थी, उसके शासन के लिए वह सच्चे समाज-सेवी शासकों की आवश्यकता को अपरिहार्य मानता है। अतः जैसा बार्कर ने कहा है प्लेटो की विचारधारा में 'स्वयं राज्य एक शिक्षा व्यवस्था है और उसकी सरकार उसकी प्रवृत्ति का परिणाम है।' प्लेटो द्वारा चित्रित राज्य-व्यवस्था का निदेशन ज्ञान के द्वारा ही हो सकता है, और चूंकि सच्चा ज्ञान दर्शन है, अतः राज्य का निदेशन दार्शनिकों के द्वारा किया चाहिए। शिक्षा शासकों को निःस्वार्थ भाव से अपना काम करने की प्रेरणा देगी। चूंकि ऐसी योजना में शासक वर्ग केवल विद्वान् तथा दार्शनिक होंगे, अतः उनमें कर्त्तव्यपरायणता, समाज-सेवा तथा न्याय की भावना की वृद्धि शिक्षा द्वारा करायी जाएगी। 'इसी उद्देश्य से प्लेटो के आदर्श राज्य की रूपरेखा की पराकाष्ठा उसकी शिक्षा-योजना में होती है जिसके अन्तर्गत शासकों को ऐसा ज्ञान कराया जाएगा जिसमें नई शोधें की जाएँगी और उनके समक्ष नया ज्ञान प्रस्तुत किया जाएगा।'[2]

प्राविधिक तथा व्यावसायिक शिक्षा का अभाव—प्लेटो की शिक्षा योजना शासक वर्ग के लिए व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था प्रस्तुत करती है। परन्तु इसमें आधुनिक अर्थ में व्यावसायिक एवं प्राविधिक शिक्षा का समावेश नहीं है, जिसके अनुसार विविध प्रकार के व्यवसायों में लगे व्यक्तियों को उच्चतर प्राविधिक ज्ञान कराया जाता है, यथा उद्योग, कृषि, आदि। सम्भवतः प्लेटो ऐसी योजना को महत्त्वहीन समझता था। उसकी शिक्षा योजना का लक्ष्य नेतृत्व का विकास करना था। अतः शिक्षा केवल शासक वर्गों के लिए ही निर्धारित की गई थी और उसमें भी ऐसे ही विषयों का समावेश किया गया था जो शासक वर्गों में शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक तत्त्वों का विकास करे; साथ ही उन्हें शासन-कला का ज्ञान भी करा सकें। प्लेटो कलात्मक विषयों की शिक्षा को महत्त्वहीन समझता था, क्योंकि वे केवल व्यक्ति की भावनाओं को रुचिकर लगते हैं, न कि उसके विवेक को। प्लेटो ने द्वन्द्ववाद (dialectics) की शिक्षा पर इसलिए जोर दिया था कि वह मनुष्य के ज्ञान को वास्तविक बनाने का साधन है। वाद-विवाद तथा तर्क-वितर्क के द्वारा मनुष्य क्रमबद्ध रूप से किसी वस्तु की वास्तविक परिभाषा को समझ सकता है। इसके द्वारा व्यक्ति वास्तविक सत्य को समझता है, न कि केवल किसी मान्य धारणा पर विश्वास कर लेता है।

आत्मा का विकास—प्लेटो की शिक्षा-पद्धति व्यक्ति को शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक स्वास्थ्य प्रदान करने का साधन है। उसका उद्देश्य मानव आत्मा में अन्तर्निहित सुप्त शक्तियों को जागृत करना था, ताकि वे शक्तियाँ अपनी आवश्यक माँगों की पूर्ति कर सकें। शिक्षा को उसने समुचित रूप से विभिन्न क्रमों में रखा है। 'वह कलाओं के विकास से प्रारम्भ होती है, फिर विज्ञान के ज्ञान के रूप में विकसित होती हुई अन्त में दर्शन-शास्त्र के ज्ञान में समाप्त होती है।' इसी क्रम से

[1] 'Until philosophers are kings, or the kings and princes of this world have the spirit and power of philosophy, cities will never have rest from their evils.' —*The Republic*.

[2] 'For this reason the outline of the ideal state properly culminates in the plan for education in which such studies will be fostered, in which new investigations would be undertaken and new knowledge placed at the disposal of ruler's —Sabine, *op. cit.*, 66.

मानव जीवन की बौद्धिक विकास की प्रक्रिया भी चलती है। किशोरावस्था तक मनुष्य में कलात्मक अभिरुचि रहती है। प्रौढ़ व्यक्ति वैज्ञानिक सत्य की खोज में प्रवृत्त रहता है और इसके पश्चात् उसमें चिंतनात्मक प्रवृत्तियाँ आने लगती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि शिक्षा की योजना के निर्माण में प्लेटो ने मानव मनोविज्ञान का पर्याप्त अनुसरण किया है।

शिक्षा में लोकतन्त्री विधि का अभाव—प्लेटो की शिक्षा योजना के विरुद्ध यह आरोप लगाया जा सकता है कि उसमें लोकतन्त्री भावना का अभाव है क्योंकि उसकी शिक्षा व्यवस्था में निम्न वर्ग (उत्पादकों) को उपेक्षित रखा गया है। जेलर (Zeller) के मत से प्लेटो का न्याय-सिद्धान्त यह स्वीकार करता है कि एक कृषक का बालक भी अद्भुत प्रतिभा-सम्पन्न होने पर संरक्षकों की श्रेणी में पदोन्नत किया जा सकता है। परन्तु यह एक असंगति है कि समुचित शिक्षा-दीक्षा के अभाव में वह किस प्रकार ऐसी उन्नति का अधिकारी हो सकेगा? इस सम्बन्ध में बार्कर का विचार यह है कि प्लेटो केवल एक आदर्शवादी ही न था, अपितु एक व्यावहारिक विचारक भी था। प्लेटो ने शिक्षा की जैसी योजना प्रस्तुत की है उसके अन्तर्गत यह सम्भव नहीं था कि उत्पादक वर्ग को भी उसका पूरा लाभ पहुँचाया जा सकेगा। प्लेटो की शिक्षा योजना का मुख्य उद्देश्य राज्य के शासकों के चयन तथा उनके समुचित प्रशिक्षण की व्यवस्था बताना था। एक लोकतन्त्रवादी की दृष्टि में इसमें दो आपत्तियाँ हो सकती हैं—

(1) उत्तम जीवन की प्राप्ति तथा सत् का ज्ञान यदि शिक्षा द्वारा हो सकता है तो केवल थोड़े से संरक्षक वर्ग के लिए ही शिक्षा की ऐसी विशद योजना निर्धारित करना तथा उच्च शिक्षा का लाभ केवल थोड़े से चुने गए व्यक्तियों को पहुँचाने की बात कहना अलोकतन्त्री है।

(2) शासकों का चयन केवल संरक्षक वर्ग के बच्चों में से ही करना और निम्न वर्ग में से उनके चयन की विधि को स्पष्ट न करना भी अलोकतन्त्री धारणा है। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि एक लोकतन्त्रवादी सम्भवतः शासकों की नियुक्ति आम जनता के मत द्वारा किये जाने की बात कहेगा। परन्तु जब तक जनता वास्तव में योग्य व्यक्तियों का चयन करने की क्षमता न रखे, तब तक सुयोग्य शासकों के छाँटे जाने की बात केवल कपोल-कल्पना ही रह जायेगी। प्लेटो के आदर्श राज्य का शासन निश्चय ही योग्यों, शिक्षितों तथा दार्शनिकों द्वारा होना था। इस सम्बन्ध में ईबनस्टीन ने कहा है कि 'यद्यपि लोकतन्त्र की धारणा सदैव प्लेटो द्वारा प्रतिपादित कुलीनवर्गीय राजनीतिक शासकों के प्रशिक्षण की योजना का विरोध करती रहेगी, फिर भी वह सार्वजनिक सेवा के कर्मचारियों के समुचित प्रशिक्षण की सम्भावना तथा वांछनीयता के प्रति अधिक सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण रखेगी।'[1]

आलोचना

उत्पादक वर्ग की उपेक्षा—प्लेटो की शिक्षा योजना में उपर्युक्त गुण होने के

[1] 'Whereas democracy will continue to reject Plato's scheme of training an elite of political rulers, it will view more sympathetically the possibility and desirability of training public servants.—Ebenstein, *op. cit.*, 4.

बावजूद कई दृष्टियों से उसमें अनेक कमियाँ तथा दोष भी हैं। सबसे अधिक आलोचना का विषय यह है कि शिक्षा के क्षेत्र में भी प्लेटो समाज के एक विशाल वर्ग की उपेक्षा करता है। यह भी स्पष्ट नहीं है कि वह उत्पादक वर्ग के बच्चों को अपनी शिक्षा योजना में कोई स्थान देता है। सैबाइन के मत से प्लेटो द्वारा चित्रित 'राज्य में शिक्षा के महत्त्व की दृष्टि से यह एक असाधारण बात लगती है कि उसने शिल्पियों के प्रशिक्षण का कभी भी विवेचन नहीं किया है और वह इस बात तक को स्पष्ट नहीं करता कि यदि उन्हें कदाचित् प्रारम्भिक शिक्षा की योजना में शामिल किया जाना है तो किस प्रकार।' एक ओर तो वह इस वर्ग के प्रतिभाशाली बच्चों को उच्च वर्ग में पदोन्नत होने की बात करता है। दूसरी ओर किसी ऐसी लोकतान्त्रिक प्रतियोगिता का उल्लेख नहीं करता जिसके आधार पर उन्हें पदोन्नत किया जा सके। जेलर का निष्कर्ष है कि प्लेटो श्रमजीवियों के प्रति कुलीनतन्त्री घृणा का दोषी (guilty of aristocratic contempt for workers) है। अपनी शिक्षा योजना में उसने शासकों के चयन हेतु 20 तथा 30 वर्ष की अवस्था में परीक्षा का प्राविधान रखा है परन्तु जब तक प्रारम्भिक शिक्षा सभी वर्गों के लिए निर्धारित नहीं हो जायेगी तब तक निम्न वर्ग के बच्चों को उच्च शिक्षा हेतु चुने जाने का प्रश्न ही नहीं उठेगा। इस दृष्टि से प्लेटो का शिक्षा सिद्धान्त उसके न्याय-सिद्धान्त को सफल बना सकने में असमर्थ है। प्लेटो का न्याय-सिद्धान्त कहता है कि राज्य में प्रत्येक व्यक्ति अपने निर्धारित स्थान पर दक्षतापूर्वक कार्य करे। परन्तु तृतीय वर्ग के व्यक्तियों में अपने निर्दिष्ट कार्य को कुशलता के साथ करने की क्षमता प्रदान करने की कोई योजना प्लेटो ने अपनी शिक्षा व्यवस्था में नहीं दी है। भले ही वह उन्हें शासकों की श्रेणी प्रदान करना उचित न समझे, परन्तु उनके लिए भी तो किसी न किसी रूप में प्रारम्भिक व्यावसायिक तथा सामान्य शिक्षा होनी चाहिए ताकि वे भी अपनी आत्मा में अन्तर्निहित तत्त्वों की अभिव्यंजना समुचित रूप से करने तथा अपने वैयक्तिक विकास को सम्पन्न करके राज्य का सफल सदस्य बनने की क्षमता प्राप्त कर सकें। यदि उन्हें शिक्षा के क्षेत्र में भी उपेक्षित रखा जाएगा तो राज्य के प्रति उनकी निष्ठा कैसे प्राप्त होगी? उन्हें इस उपेक्षा का आभास होना असम्भव बात नहीं। तब राज्य की एकता कैसे सम्भव हो सकेगी? एक ओर तो प्लेटो आदर्श राज्य के निर्माण में उनके पूर्ण सहयोग तथा दायित्व की कामना करता है, दूसरी ओर उन्हें पूर्णतया अबोध तथा अज्ञान पशुओं (like dumb driven cattle) की स्थिति में रख देता है। यह न तो उसके न्याय-सिद्धान्त से संगति रखता है न आदर्श राज्य की एकता के सिद्धान्त से।

पाठ्य-विषयों के निर्धारण में लोचपूर्णता का अभाव—जहाँ तक शिक्षा योजना में पाठ्यक्रम निर्धारण का सम्बन्ध है, प्लेटो की योजना पूर्णतया दोष-रहित नहीं मानी जा सकती। मानव आत्मा के विकास में केवल विवेक (reason) तत्त्व को ही प्रमुखता देना सही नहीं है। प्लेटो काव्य, नाटक आदि से घृणा इसलिए करता है कि वे व्यक्ति की भावनाओं को रोचक लगते हैं न कि विवेक को। परन्तु मानव आत्मा के विकास में भावनाओं का भी विशिष्ट स्थान होता है। उन्हें कुंठित कर देना सही नहीं है। प्लेटो सामान्य शिक्षा (general education) की भी उपेक्षा करता है और गणित तथा द्वन्द्ववाद (dialectics) की शिक्षा को ही महत्त्व देता है। इसका यह अर्थ होगा कि प्लेटो की शिक्षा योजना केवल दार्शनिकों का

सृजन करेगी न कि कार्यशील व्यक्तियों (men of action) की। शासन-कला के समुचित संचालन में विवेक, ज्ञान तथा दर्शन के साथ-साथ क्रियात्मक समाज-सेवा भी आवश्यक है। प्लेटो की योजना में इन उद्देश्यों के मध्य समुचित सामंजस्य नहीं है। बार्कर ने कहा है कि प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त में क्रियाशीलता तथा चिन्तन के आदर्शों के मध्य अनिश्चितता है।[1] कभी तो जीवन का उद्देश्य सत् के ज्ञान का अर्जन ज्ञात होता है, कभी वह मानवता का कल्याण प्रतीत होता है और कभी समाज-सेवा। इसी प्रकार शिक्षा का तात्पर्य कभी सामाजिक अनुरूपता (social adaptation) की प्रक्रिया है तो कभी पूर्ण आत्म-विकास है। प्लेटो चिन्तनात्मक तथा क्रियात्मक (contemplation and action) के मध्य समन्वय स्थापित किया जाना देखता है। परन्तु यह कहाँ तक व्यावहारिक सिद्ध होगा इसका अनुमान करना कठिन है। यह ऐसा ही है जैसे कि एक संन्यासी को सांसारिक जीवन में उलझाकर उससे सांसारिक जीवन को व्यवस्थित करने की कामना करना।

शिक्षा में राज्य का एकाधिकार होना दोषपूर्ण है—प्लेटो की शिक्षा योजना के अन्तर्गत राज्य का मुख्य कार्य शिक्षा की व्यवस्था करना है, अथवा यह कहना चाहिए कि शिक्षा की व्यवस्था पूर्णतया राज्य के हाथ में रहेगी। प्लेटो की योजना के अनुसार, वास्तव में शिक्षा का सृजन राज्य या सरकार के द्वारा नहीं होगा, अपितु शिक्षा दार्शनिकों के शासन का सृजन करेगी। इसका यह परिणाम होगा कि शिक्षा मनुष्य की वैयक्तिकता तथा व्यक्तिगत चेतना के विकास के मार्ग में बाधक सिद्ध होगी। राज्य द्वारा शिक्षा की व्यवस्था का तात्पर्य यह होगा कि शिक्षा का स्वरूप वैसा ही बना रहेगा जैसे राज्य के आदर्श होंगे। अतः राज्य सर्वसत्ताधारी (authoritarian) हो जाएगा। परिणामस्वरूप सही तथा सत्य बात वही बात मानी जाएगी जिसे राज्य स्वीकार करेगा। राज्य का स्वरूप आध्यात्मिक होगा, वही नैतिकता का निदेशक होगा। यह शिक्षा के वास्तविक स्वरूप के ऊपर बड़ा प्रतिबन्धकारी कदम होगा। ऐसी शिक्षा योजना साम्यवाद की भाँति संरक्षक वर्ग के जीवन को सैनिकतन्त्री संन्यासवाद में परिणत कर देगी। सैबाइन के अनुसार, 'दार्शनिकों का शासन सरलता से सन्तों के शासन में बदल जाएगा। सम्भवतः प्लेटो के आदर्श राज्य की समता सबसे उत्तम रूप में मठों की व्यवस्था से की जा सकती है।'[2]

शिक्षा की दीर्घ अवधि दक्षता के मार्ग में बाधक—व्यावहारिक दृष्टि से भी प्लेटो की शिक्षा योजना त्रुटिपूर्ण लगती है। प्लेटो की योजना में संरक्षकों को 35 वर्ष की आयु तक शिक्षा प्राप्त करनी होगी। उसके पश्चात् केवल 15 वर्ष तक उनसे राज्य की सेवा अपेक्षित मानी गई है। शिक्षा को जीवन-पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया मानने में आपत्ति नहीं हो सकती। परन्तु 35 वर्ष की अवस्था तक शिक्षा प्राप्त करने में ही शासकों को रखने का अर्थ यह होगा कि एक तो शिक्षा अत्यधिक व्ययशील होगी, दूसरे यह शासकों के उत्साह तथा उपक्रम को कुंठित कर सकती है। 35 वर्ष की आयु के पश्चात् मनुष्य का युवावस्था का उत्साह तो कम हो ही जायेगा, साथ ही उनमें आत्म-निदेशन के कार्य करने की क्षमता भी नहीं रह जायेगी।

[1] 'In Plato's educational theory...there is a certain wavering between the ideal of action and that of contemplation.' —Barker, *op. cit.*, 234.

[2] Sabine, *op. cit.*, 66.

परिणामस्वरूप शासक वर्ग में कुशलता भी नहीं रह पायेगी।

निष्कर्ष

इन कमियों के बावजूद प्लेटो की शिक्षा योजना शिक्षाशास्त्रियों को बहुत ज्ञान करा सकती है। शिक्षा का महान् उद्देश्य शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास माना जाना प्लेटो की महान् देन है। बार्कर के मत से प्लेटो की शिक्षा का उद्देश्य 'मानसिक रोग का मानसिक उपचार' (a cure of a mental malady by mental medicine) था। यह आधुनिक राज्यों को शिक्षा की महत्ता समझाने का उत्तम प्रेरणा-स्रोत है। शासक वर्ग की शिक्षा तथा प्रशिक्षण की महत्ता को जिस रूप में प्लेटो ने दर्शाया है, उस रूप में यदि आधुनिक राज्य उसका अनुकरण करें तो शासनों की कुशलता में अपार सुधार हो सकता है।

दर्शन का शासन

(1) **विवेक-प्रधान लोग ही शासन-संचालन करें**—प्लेटो के न्याय-सिद्धान्त का एक निष्कर्ष यह है कि आदर्श राज्य में शासन वही लोग करें जिनकी आत्मा में विवेक तत्त्व की प्रधानता है। प्लेटो ने जिन विविध शासन-प्रणालियों का उल्लेख किया है वे शासन-प्रणालियाँ यथार्थ राज्यों की हैं न कि प्लेटो के चिन्तन के आदर्श राज्य की। जिस आदर्श राज्य की प्लेटो ने कल्पना की है उसके शासन के शीर्ष पर दार्शनिक-राजा (the philosopher-king) होगा जो विवेक तत्त्व (reason) का प्रतिनिधित्व करता है। उत्साह तत्त्व का प्रतिनिधित्व करने वाले संरक्षक (guardians) सैनिक एवं प्रशासकीय दायित्व सम्पन्न करेंगे और तृष्णा तत्त्व से युक्त उत्पादक वर्ग राज्य के आर्थिक कार्यों में रत रहेंगे। सामाजिक संरचना की ऐसी व्यवस्था प्लेटो की कल्पना का आदर्श राज्य होगा जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने निर्दिष्ट कार्य में अपनी नैसर्गिक क्षमता एवं प्रशिक्षण के अनुसार रत रहते हुए सम्पूर्ण समाज के हित में कार्य करेगा। प्लेटो के विचार से 'यदि राजनीतिक सत्ता तथा वैज्ञानिक ज्ञान (दर्शन) एक ही व्यक्ति के हाथ में संयुक्त नहीं होंगे तो राज्य की बुराइयों का अन्त नहीं हो सकता।' परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि प्लेटो एक व्यक्ति के शासन को ही अच्छा शासन कहता था। यदि एक व्यक्ति राज्य में वास्तव में दार्शनिक-राजा की स्थिति ले सकता हो तो ऐसे एकतन्त्री दार्शनिक-राजा के शासन से प्लेटो को कोई आपत्ति नहीं थी, प्रत्युत् इसे वह सर्वोत्तम शासन-व्यवस्था मानता है। प्लेटो की धारणा यह थी कि दर्शन का ज्ञान, जो कि ज्ञान की सर्वोत्कृष्ट स्थिति है, राज्य के उद्देश्यों का सही निदेशन कर सकता है और यह विशेषाधिकार राज्य में केवल थोड़े-से व्यक्तियों को ही प्राप्त होना चाहिए जो वास्तव में दार्शनिक हों और जिन्हें शासन संचालित करने का समुचित प्रशिक्षण मिल चुका हो। उसका मत था कि 'शासन के रूपों में से मुख्यतः वही रूप यथेष्ट अथच एकमात्र वास्तविक है जिसमें शासक लोग वास्तव में विज्ञान का ज्ञान रखने वाले हों।' विज्ञान के ज्ञान से प्लेटो का अभिप्राय दर्शन के ज्ञान से है, जो वास्तविक ज्ञान है।

अज्ञान शासनों को भ्रष्ट करता है—प्लेटो के ऊपर तत्कालीन ग्रीस के जिन राज्यों की शासन-व्यवस्थाओं का प्रभाव पड़ा था उनमें से स्पार्टा, सिराक्यूज तथा एथेंस मुख्य थे। स्पार्टा का सैनिक-वर्गतन्त्र, सिराक्यूज का अत्याचारी एकतन्त्र तथा

एथेंस का लोकतन्त्र—इन तीनों शासन-व्यवस्थाओं के अध्ययन ने प्लेटो को असन्तुष्ट कर दिया था, क्योंकि इनके अन्तर्गत शासकों में अज्ञान, राजनीतिक स्वार्थ एवं व्यक्तिवाद की सर्वोच्चता विद्यमान थी। प्लेटो अपनी कल्पना के आदर्श राज्य की व्यवस्था के अन्तर्गत ऐसे तत्वों को कोई स्थान प्रदान नहीं करता। उसका विश्वास था कि शासन का प्रवाह शिक्षा द्वारा सुनिश्चित हो सकता है, न कि शिक्षा का प्रवाह शासन द्वारा। सच्चा ज्ञान दर्शन का ज्ञान है, अतः राज्य का नियन्त्रण तथा नियमन दार्शनिकों के द्वारा होना चाहिए। प्लेटो को सबसे कटु अनुभव एथेंस के लोकतन्त्र से हुआ था जिसमें अज्ञान का प्राधान्य था। वह यह अनुभव करता था कि इसकी बुराइयाँ तभी दूर हो सकती हैं जबकि वहाँ दार्शनिकों तथा विद्वानों के शासन की स्थापना की जाये। उसने कहा है कि 'जब तक दार्शनिक लोग राजा नहीं हो जाते अथवा जब तक इस संसार के राजा तथा शासकों में दर्शनशास्त्र की भावना तथा शक्ति नहीं होगी, तब तक संसार के राज्य अपनी बुराइयों से मुक्ति नहीं पा सकेंगे।' प्लेटो का यह विश्वास है कि यदि विद्वान् लोगों को सत्य तथा सुन्दर का ज्ञान हो चुका है तो वे ही यह अनुभव कर सकते है कि शासितों के कल्याण का पवित्र बोझ कैसे उठाया जा सकता है। मैक्सी के कथनानुसार, 'प्लेटो राज्य के शासन का दायित्व ऐसे दार्शनिकों पर नहीं रखना चाहता है जो दार्शनिक हैं, अपितु उन पर जिन्हें दार्शनिक होना चाहिए।'[1]

दार्शनिक के गुण—दर्शन के शासन का समर्थन तथा प्रतिपादन करते हुए प्लेटो दार्शनिक राजा के गुणों का वर्णन करता है। उसके विचार से जिस व्यक्ति को दर्शन का ज्ञान हो चुका है वह त्रिकालदर्शी तथा समस्त सृष्टि का ज्ञान रखने वाला होता है। 'एक सच्चा दार्शनिक विद्वत्ता से प्रेम रखता है न कि किसी के मत (opinion) से। वह क्रोध, घृणा, संकीर्णता, द्वेष, स्वार्थपरता आदि से दूर रहता है। उसे मृत्यु का भय नहीं रहता। वह दया, सुदृढ़ता, न्याय तथा सहनशीलता आदि गुणों से युक्त होता है। वह सुन्दरता के सब रूपों का उपासक होता है।' ये समस्त गुण उसकी आत्मा के विकास के सूचक हैं। जीवन का अन्तिम उद्देश्य 'सत् का ज्ञान' उसे हो चुका होता है। वह न्याय तथा आत्म-संयम के गुणों से युक्त होता है और इन गुणों का संचार शासितों में भी करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। संक्षेप में, प्लेटो का सच्चा दार्शनिक समस्त सर्वोत्कृष्ट मानवीय गुणों से युक्त होता है। अतः वह अन्य मानवों से श्रेष्ठतर है। यदि ऐसे मानव श्रेष्ठ के ऊपर राज्य के शासन का भार रहे, तो निस्सन्देह यह कहा जा सकता है कि उसका शासन जनता के लिए हितकर सिद्ध होगा।

प्लेटो की कल्पना के ऐसे दार्शनिक-राजा द्वारा सम्पन्न शासन 'बुद्धि का शासन' (the rule of intellect) होगा। शासन का यह रूप 'ideocracy' कहलाता है। इसका प्रतिपादन करने में प्लेटो सुकरात की इस उक्ति का अवलम्बन करता है कि 'ज्ञानवान को ही शासन करने का अधिकार होना चाहिए' (they only shall rule who know)। इसका अभिप्राय यह था कि विद्वान् लोग शासन करें और अज्ञानी उनका अनुसरण करें (the wise should rule and the ignorant should follow)। दार्शनिक-राजा में यह क्षमता विद्यमान रहती है। अपने गुणों

[1] 'Not to the philosophers who *are* but to the philosophers who *ought to be*, would Plato entrust the guidance of the state.' —Maxey, *op. cit.*, 50.

तथा ज्ञान के द्वारा वह इस बात का निर्णय करने की क्षमता रखता है कि समुदाय के हित में कौन-सी बात ठीक है। प्लेटो के मत ने दार्शनिक-राजा एक मौलिक वैज्ञानिक चिन्तक होता है। अतः वह कोरे सिद्धान्तों को विवेकजन्य ज्ञान के रूप में परिणत कर सकता है। राजनीतिक समाज के निर्माण में तृष्णा का तत्त्व समस्त व्यक्तियों को एकता के सूत्र में बाँधने का साधन है, उत्साह तत्त्व उसे सुरक्षा तथा कुशलता प्रदान करता है और बुद्धि या विवेक तत्त्व उसकी नियामक शक्ति है। अतएव इस तत्त्व से युक्त दार्शनिक-राजा का शासन समूचे राजनीतिक समाज का वास्तविक शासन होगा। यदि तृष्णा तत्त्व अनियन्त्रित रहेगा तो उसका परिणाम यह होगा कि राज्य में आर्थिक तथा राजनीतिक व्यक्तिवाद का बोलबाला हो जायेगा। अनियन्त्रित उत्साह तत्त्व राज्य में हिंसात्मक गतिविधियों को बढ़ायेगा। विवेक तत्त्व से युक्त दार्शनिक-राजा ही राज्य में अपनी नियामक शक्ति के द्वारा व्यवस्था बनाये रख सकता है।

दर्शन के शासन का स्वरूप—प्लेटो के अनुसार 'दार्शनिक राजा का शासन या तो एकतन्त्री (monarchy) होता है, या कुलीनतन्त्री (aristocracy)। परन्तु प्लेटो इन दोनों को एक ही अर्थ में लेता है।[1] बार्कर के मत से शासन के इस रूप को जो भी नाम दिया जाय, दार्शनिक शासक निरंकुश ही होंगे, क्योंकि उनके ऊपर कानून का कोई प्रतिबन्ध नहीं होगा। यह धारणा तत्कालीन ग्रीक परम्परा से संगति नहीं रखती थी, क्योंकि ग्रीक लोग कानून की सम्प्रभुता पर विश्वास रखते थे। अतः प्लेटो द्वारा प्रतिपादित दार्शनिकों का शासन अत्याचारी शासन (tyranny) में परिणत हो जाने की बात को अमान्य नहीं किया जा सकता। परन्तु प्लेटो की शिक्षा-योजना का उद्देश्य विद्वान् शासकों को उत्पन्न करना था। अतः उसका विश्वास था कि शिक्षा की समुचित व्यवस्था के द्वारा दार्शनिकों का शासन 'विद्वज्जनों के शासन' (rule of intellect) में परिणत हो जायेगा। यद्यपि दार्शनिक-राजा का शासन निरंकुश राजतन्त्र का आभास कराता है क्योंकि दार्शनिक-राजा कानून से ऊपर है, तथापि यह विद्वानों के कुलीनतन्त्र (aristocracy of intellect) का परिचायक होगा। इसे एकतन्त्री-कुलीनतन्त्र (monarcho-aristocracy) कहा जा सकता है। आधुनिक लोकतन्त्र भी एक प्रकार के 'विद्वानों के कुलीनतन्त्र' ही हैं। अन्तर यही है कि इन्हें धनिकों का कुलीनतन्त्र या खानदानी कुलीनतन्त्र (aristocracy of wealth or aristocracy of birth) नहीं कहा जा सकता। बहुधा लोकतन्त्रों में भी सत्ता का संचालन थोड़े-से बुद्धिजीवी नेता ही करते हैं। प्लेटो के दार्शनिक-राजा का शासन कम से कम इस अर्थ में श्रेष्ठतर कहा जा सकता है कि उसमें शासक वर्ग को विशिष्ट प्रशासकीय प्रशिक्षण तथा ज्ञान दिये जाने की व्यवस्था है। परन्तु उसका दोष यह है कि शासक के ऊपर कानून का प्रतिबन्ध न होने से वह निरंकुशतन्त्र में परिणत हो सकता है।

मर्यादाएँ—प्लेटो को दार्शनिक राजा के शासन के निरंकुश हो सकने का भी आभास था। अतः उसने इसे अमर्यादित नहीं रखा है। प्लेटो विवेक को कानून से उच्चता की स्थिति प्रदान करता है। उसके मत से कानून की अपेक्षा विवेक में अधिक लोचपूर्णता होती है। अतः कानून के शासन की अपेक्षा विवेक का शासन उत्तमतर है। परन्तु प्लेटो दार्शनिक राजा के स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश हो जाने की सम्भावना

[1] Barker, *op. cit.*, 237.

से भी इनकार नहीं करता अतएव वह ऐसे शासक के ऊपर अनेक मर्यादाएँ भी आरोपित करता है।

दार्शनिक राजा के ऊपर सबसे बड़ी मर्यादा यह है कि वह स्वेच्छा से राज्य के संविधान को नहीं बदल सकता। संविधान का अभिप्राय किसी लिखित संविधान से नहीं है, जैसा कि आधुनिक राज्यों के अर्थ में लिया जाता है। 'राज्य के सविधान' से प्लेटो का अभिप्राय उन सिद्धान्तों से है जिनके आधार पर उसने आदर्श राज्य का चित्र प्रस्तुत किया है। बार्कर का कथन है कि प्लेटो इस सिद्धान्तों को चार भागों में विभक्त करता है—

(1) शासकों को राज्य की अर्थव्यवस्था में सन्तुलन बनाये रखने का ध्यान रखना पड़ेगा, ताकि राज्य के अन्दर न तो गरीबी का प्रवेश हो सके न सम्पत्ति के अवांछनीय केन्द्रीकरण का।

(2) शासकों को यह देखना आवश्यक है कि राज्य का आकार राज्य की एकता बनाये रखने की दृष्टि से संगति रखे। राज्य का आकार न बहुत बड़ा हो, न बहुत छोटा। अपितु इतना बड़ा हो कि वह आत्म-निर्भर बना रहे और उसके निवासी एकता की भावना से राजनीतिक समाज का निर्माण करें।

(3) शासकों को न्याय के सिद्धान्त को बनाये रखने का ध्यान रखना चाहिए, जिसका अर्थ यह है कि राज्य का प्रत्येक व्यक्ति अपनी नैसर्गिक योग्यता के अनुसार केवल अपने निर्दिष्ट कार्य सम्पूर्ण समाज के हित को ध्यान में रखते हुए सम्पन्न करे और दूसरों के कार्य में हस्तक्षेप न करे।

(4) शासकों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि शिक्षा-पद्धति में कभी भी कोई नवीनीकरण लाने का प्रयास न किया जाय। प्लेटो के विचार से शिक्षा-पद्धति में परिवर्तन करने से विवेक के शासन को सुनिश्चित करने में कठिनाई आ जायेगी।

इन मर्यादाओं से युक्त दार्शनिक-राजा राज्य का तानाशाह नहीं बन सकता, बल्कि वह एक मौलिक तथा अपरिवर्तनशील सामाजिक व्यवस्था का सेवक होगा। प्लेटो के विचार से दार्शनिक राजा न केवल कानून के ऊपर है बल्कि वह स्वार्थपरता से भी ऊपर है। इन गुणों से युक्त होता हुआ वह राज्य में प्रत्येक व्यक्ति के प्राप्य को सुनिश्चित कर सकता है। वह अपने स्वविवेक से शासन करेगा और अपनी स्वतन्त्र आत्म-चेतना के प्रति उत्तरदायी होगा। इस दृष्टि से प्लेटो के आदर्श राज्य के दार्शनिक शासन के ऊपर सबसे बड़ी मर्यादा स्वयं प्लेटो द्वारा चित्रित आदर्श राज्य के सिद्धान्तों की है।

आलोचना—प्लेटो द्वारा चित्रित दर्शन के शासन का सिद्धान्त कई दृष्टियों से दोषपूर्ण सिद्ध होता है। इस सिद्धान्त की निम्नांकित आधारों पर आलोचना की गयी है—

(1) कानून के प्रतिबन्ध से रहित दार्शनिक शासक स्वेच्छाचारी हो सकते हैं—प्लेटो द्वारा चित्रित दार्शनिक राजा के शासन का सिद्धान्त राज्य की शासन व्यवस्था के सम्बन्ध में कानून की उपेक्षा करके उसे ज्ञान के शासन का स्वरूप प्रदान करता है। दार्शनिक शासक जो सच्चे ज्ञान को प्राप्त कर चुका है, कानून के प्रतिबन्ध में नहीं रहेगा। अतएव शासन का रूप प्रबुद्ध स्वेच्छाचारितावाद (enlightened despotism) में परिणत हो जायेगा। ऐसा शासन थोड़े से व्यक्तियों का शासन

होगा। सैबाइन के मत से, 'यह प्रबुद्ध स्वेच्छाचारितावाद राजनीति में अन्तिम शब्द नहीं माना जा सकता।'[1] प्लेटो द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक राजा का शासन एक प्रकार से दानशील स्वेच्छाचारितावाद (benevolent despotism) में परिणत हो जायेगा। परन्तु जहाँ तक शासन संचालन के दायित्व का सम्बन्ध है, ऐसा शासन आवश्यक रूप से दानशील (benevolent) होगा या अत्याचारी शासन, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। दार्शनिक शासक चाहे कितना ही ज्ञानवान् क्यों न हो, वह न तो ईश्वर है, न देवता। वह भी एक मानव प्राणी है। उसमें भी मानवीय दुर्बलताएँ होना अस्वाभाविक नहीं है, विशेष रूप से राजनीतिक सत्ता धारण कर लेने पर। राजनीति का यह सुमान्य तथ्य कि 'सत्ता भ्रष्ट होती है और असीम सत्ता असीम रूप से भ्रष्ट होती है' प्लेटो के दार्शनिक शासकों पर भी लागू हो सकती है। कानून के बन्धन के अभाव में उसे नियन्त्रित करने का कोई बाह्य साधन नहीं हो सकता।

(2) **शासक को कानून के बन्धन से मुक्त रखना उचित नहीं है**—सैबाइन ने उचित ही कहा है कि 'शासन की चिकित्सा-विज्ञान के साथ तुलना करना राजनीति को अ-राजनीति की स्थिति में ला देना है।'[2] प्लेटो के मत से दार्शनिक राजा को कानून के बन्धन में रखना उसी प्रकार का है जिस प्रकार कि एक चिकित्सक को इस बात के लिए बाध्य करना कि वह चिकित्साशास्त्र में वर्णित उपचारों का ही अनुगमन करके अपने रोगियों के लिए औषधि निर्धारित करे। इसका यह परिणाम होगा कि चिकित्सा को विविध रोगियों की विविध स्थितियों का ध्यान रखते हुए औषधि में परिवर्तन न करने से सफल उपचार करने में बाधा उत्पन्न होगी। इसी प्रकार यदि दार्शनिक शासक लिखित कानूनों का पालन करते हुए ही शासन करेगा तो शासन कार्य में लोचपूर्णता का अभाव आ जाने से शासन सफल सिद्ध नहीं होगा। परन्तु इस उपमा को राजनीति तथा शासन-कला के सम्बन्ध में लागू करना सही नहीं है। कानून जनता की परम्पराओं तथा जनमत पर आधारित होते हैं। जन-परम्पराएँ तथा जनमत जनता के हितों तथा उद्देश्यों की अभिव्यक्ति करते हैं। दार्शनिक राजा का वैज्ञानिक ज्ञान सार्वजनिक जीवन की परिवर्तनशील परिस्थितियों का समुचित विवेचन कर सकेगा, इस बात की कोई गारण्टी नहीं है। अतएव कानून के प्रतिबन्धों से रहित दार्शनिकों का शासन निरंकुशतावाद में परिणत हो सकता है।

(3) **शासकों का दर्शन का ज्ञान शासन कला के सम्पादन हेतु पर्याप्त नहीं**—शासन एक कला है, न कि विज्ञान। विज्ञान तथा दर्शन के भाव-मूलक सिद्धान्त, सत् का ज्ञान, द्वन्द्ववादी प्रशिक्षण, सैनिक प्रशिक्षण आदि जो शासकों को प्राप्त होता है, राजनीति तथा शासन-कला के समुचित संचालन तथा सम्पादन हेतु पर्याप्त नहीं है। शासन का सफल संचालन इस बात पर निर्भर करता है कि राजनेता तथा शासक जन-जीवन की समस्याओं, जनमत, लोक-परम्पराओं आदि के प्रत्यक्ष सम्पर्क में रहें तथा उनके अनुकूल व्यवस्था करते रहें। प्लेटो के दार्शनिक शासक जन-जीवन से सदैव ही विलग रहते आयेंगे। अतः उनका शासन किसी भी रूप से लोकतन्त्री नहीं

[1] 'An enlightened despotism...cannot be merely assumed to be the last word in politics.' —Sabine, *op. cit.*, 67.

[2] 'His comparison of government to medicine, carried through to its farthest extreme, reduces politics to that which is not politics.' —*Ibid.*

हो सकता (न आधुनिक, न तत्कालीन ग्रीस के नगर-राज्यों में प्रचलित स्वरूप का)। इस व्यवस्था में नागरिकों का एक विशाल वर्ग यान्त्रिक हो जायेगा। प्लेटो को लोकतन्त्री शासन के किसी भी रूप (प्रत्यक्ष अथवा प्रतिनिध्यात्मक) से कोई सहानुभूति नहीं थी। वह सामूहिक विद्वत्ता की भी उपेक्षा करता है और उसका एकमात्र विश्वास दार्शनिक वर्ग पर है जो व्यावहारिक राजनीति से दूर है। अतः ऐसी सम्भावनाएँ बनी रह सकती हैं कि सामयिक सार्वजनिक समस्याओं का सामना करने के लिए वे असफल सिद्ध होंगे।

(4) **दर्शन के शासन की धारणा तत्कालीन ग्रीक नगर-राज्यों की लोकतान्त्रिक परम्परा के विरुद्ध**—सैबाइन का प्लेटो पर यह आरोप है कि 'रिपब्लिक में वर्णित आदर्श राज्य नगर-राज्य की राजनीतिक निष्ठा को अमान्य करता है जिसमें स्वतन्त्र नागरिकता की धारणा सुस्थापित थी और यह आशा की जाती थी कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति की सीमा के अन्तर्गत नगर-राज्य के शासन में अपने अधिकार तथा कर्त्तव्यों के पालन में भाग लेगा।' कानून के शासन के अभाव में दार्शनिक का निरंकुश शासन नागरिकों की स्वतन्त्रता के लिए अस्वीकारोक्ति सिद्ध होगा। यह एक ऐसा आदर्श था जिसे ग्रीकों से यूरोप की सरकारों ने प्राप्त किया। परन्तु प्लेटो का दार्शनिक राजा का शासन लोकतन्त्र की इस सुमान्य धारणा की उपेक्षा करता है कि 'सरकार अपनी न्यायपूर्ण शक्ति शासितों की राय से प्राप्त करती है।' प्लेटो जिस आदर्श राज्य का स्वप्न देखता था उसकी सफलता हेतु उसका दार्शनिक राजा का सिद्धान्त संगति नहीं रख सकता।

प्लेटो के विचारों में फासीवाद

प्लेटो द्वारा चित्रित राज्य समष्टिवादी तथा शासन का रूप निरंकुशतावादी था। अतः वह राज्य व्यवस्था सर्वाधिकारवादी (totalitarian) लगती है। इसीलिए कुछ विद्वान् प्लेटो को सर्वाधिकारवाद का जनक या इतिहास में सबसे पहला फासीवादी कहते हैं। प्लेटो की धारणा का दार्शनिक-राजा कानून के बन्धन से मुक्त होने के कारण निरंकुश होता। परन्तु केवल इसी आधार पर प्लेटो को फासीवादी या सर्वाधिकारवादी कहना उचित नहीं है। वस्तुतः प्लेटो चौथी शताब्दी ई० पू० का चिन्तक है और उसके राजनीतिक विचार मुख्यतया तत्कालीन ग्रीक नगर-राज्यों की व्यवस्था के सन्दर्भ में व्यक्त किये गये हैं। इसके विपरीत फासीवाद तथा सर्वाधिकारवादी राज्य की धारणाएँ 20वीं शताब्दी की हैं, जबकि विशाल आकार के राष्ट्रीय राज्यों का अस्तित्व था और साम्राज्यवाद अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। इसलिए प्लेटो के विचारों को फासीवादी विचारधारा से समीकृत करना उचित नहीं होगा। फिर भी प्लेटो के विचारों में कुछ ऐसे तत्त्व पाये जाते हैं जिनके आधार पर प्लेटो को सबसे पहला फासीवादी कहने का औचित्य प्रकट होता है। अतएव प्लेटोवाद तथा फासीवाद के मध्य समानता तथा अन्तरों का पृथक् विवेचन करना उचित होगा :

प्लेटो के विचारों तथा फासीवाद में समानता

(1) **वैयक्तिक स्वतन्त्रता की अमान्यता तथा राज्य की सर्वोच्चता की स्वीकारोक्ति**—फासीवाद के ऊपर 19वीं शताब्दी के जर्मन आदर्शवादी चिन्तक हीगल

के विचारों का प्रभाव है। स्वयं हीगल के विचार भी अनेक दृष्टियों से प्लेटो से प्रभावित थे। फासीवादी राज्य के अन्तर्गत व्यक्ति को पूर्णतया राज्य के अधीन माना जाता है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता जैसी कोई धारणा यदि है तो यही कि उसे राज्य के आदेशों का बिना किसी प्रकार का तर्क किये पालन करना चाहिए। मुसोलिनी, जो कि फासीवाद का सर्वोत्तम प्रतिनिधित्व करता है, का मत था 'सब कुछ राज्य के अन्दर है, राज्य के विरुद्ध या राज्य से बाहर कुछ भी नहीं है।'[1] यदि प्लेटो के साम्यवाद को देखा जाय तो उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत जीवन के क्षेत्र में (विवाह के सम्बन्ध तक में) कोई स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है। वैवाहिक तथा यौन-सम्बन्धों के नियमन तक राज्य की देख-रेख में होते।

(2) **लोकतन्त्री समानता की धारणा पर अविश्वास**—फासीवाद तथा प्लेटो-वाद दोनों व्यक्ति की नैसर्गिक असमानता पर विश्वास करते हैं। अतः दोनों यह मानते हैं कि कुछ ही लोग शासन करने की क्षमता रखते हैं जो योग्य हैं। अतः योग्यों द्वारा अयोग्यों के ऊपर शासन किया जाना प्राकृतिक नियम है। यदि प्लेटो को ग्रीक जाति की श्रेष्ठता पर विश्वास था तो नाजीवाद जो फासीवाद का सहचर था, जर्मनी की नॉर्दिक जाति की श्रेष्ठता को स्वीकार करता था। प्लेटो ने शासन के लिए अभिभावक वर्ग को चुना तो फासीवाद के अन्तर्गत फासी दल के अभिजनों (elite) को ही शासन के योग्य माना गया। प्लेटो ने दार्शनिक राजा में जिन गुणों का अस्तित्व देखा, वही गुण फासीवादी मुसोलिनी तथा हिटलर में देखते थे। ऐसा नेता (Fuehrer) प्लेटो के विचारों का दार्शनिक राजा माना जा सकता है। प्लेटो तथा फासीवाद दोनों लोकतन्त्र के विरोधी हैं। दोनों ने ऐसी शासन-व्यवस्था को मूर्खों का शासन माना है। इसके स्थान पर वे एक व्यक्ति के अधिनायकवादी शासन का समर्थन करते हैं। दोनों धारणाएँ अधिनायक (Philosopher-king or Fuehrer) को सर्वसत्तामान, सर्वज्ञाता तथा सर्वगुण-सम्पन्न मानती हैं। ऐसे नेता के अधीन जो शासन संचालित होगा उसमें प्रबुद्ध अभिजाततन्त्र (aristocracy of intellect) के तत्त्व विद्यमान रहेंगे।

(3) **राज्य को साध्य तथा व्यक्ति को साधन मानना**—दोनों व्यवस्थाएँ राज्य को साध्य तथा व्यक्ति को साधन मानती है। व्यक्ति सम्पूर्ण राज्य के कल्याण की अभिवृद्धि का साधन है। उसे राज्य के हित में अपने को बलिदान कर देने के लिए तैयार रहना पड़ेगा।

(4) **अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का अभाव**—अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति या विश्व-बन्धुत्व जैसी कोई धारणा न प्लेटो ने व्यक्त की और न फासीवाद ने। प्लेटो के चिन्तन का केन्द्र नगर-राज्य था और वह उसी को सर्वोच्च वास्तविकता मानता था तो फासीवाद का केन्द्र राष्ट्रीय राज्य था जिसे हीगल की परम्परा में फासीवादी लोग सर्वोच्च वास्तविकता कहते थे। इस प्रकार विश्व मानवता के प्रति दोनों ने संकीर्ण धारणाएँ व्यक्त की हैं।

(5) **राज्य की विशाल जनता के प्रति उपेक्षापूर्ण व्यवहार**—राज्य की सीमा के अन्तर्गत दोनों ने जनता के एक विशाल वर्ग की उपेक्षा की है। प्लेटो ने उत्पादक वर्ग को राज्य के जीवन में कोई दायित्व नहीं सौंपा, इसी प्रकार फासीवाद के अन्तर्गत

[1] 'Every thing within the state, nothing against the state, nothing outside the state.' —Mussolini.

फासी आदर्शों में विश्वास न करने वालों को उपेक्षित रखा गया। यहाँ तक कि शिक्षा के क्षेत्र में भी इनकी उपेक्षा की गयी। शिक्षा, संस्कृति आदि का उद्देश्य भी राज्य के शासकों का प्रशिक्षण मात्र था, न कि आम जनता को इनका लाभ पहुँचाना। दोनों व्यवस्थाएँ व्यक्ति के अधिकारों जैसी धारणा को अमान्य करके व्यक्ति के राज्य के प्रति कर्त्तव्यों तथा दायित्वों पर सर्वाधिक जोर देती हैं।

प्लेटो के विचारों तथा फासीवाद में अन्तर

(1) **दोनों के अभ्युदय की परिस्थितियों में कोई समानता नहीं**—उपर्युक्त समानताओं के बावजूद कुछ ऐसी बातें भी हैं जिनके आधार पर प्लेटोवाद तथा फासीवाद के मध्य भारी अन्तर पाया जाता है। दोनों विचारधाराओं के अभ्युदय में लगभग 2300 वर्षों की लम्बी अवधि का अन्तर है। जिन परिस्थितियों में ये उत्पन्न हुई वे एक दूसरी से बिल्कुल भिन्न थीं। दोनों के स्वरूप, कार्यक्रम एवं उद्देश्यों में भी व्यापक अन्तर है।

(2) **दोनों विचारधाराओं के दार्शनिक आधार एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न**—प्लेटो के दर्शन तथा फासी दर्शन में कोई समानता नहीं है। प्लेटोवाद एक ऐसे दार्शनिक के मस्तिष्क की उपज है जो कुछ मूलभूत मान्यताओं तथा निष्कर्षों को लेकर एक सम्पूर्ण जीवन-दर्शन का प्रतिपादन करता है। इसके विपरीत फासी दर्शन जैसा सैबाइन ने कहा है 'ऐसे विचारों का पुंज है जिन्हें विभिन्न स्रोतों से ग्रहण किया गया है और परिस्थिति की आवश्यकताओं के अनुकूल उन्हें एक साथ मिला दिया गया है।'[1] इसमें विवेक तथा तर्क के तत्त्वों की पूर्णतया उपेक्षा की गयी है। यह एक प्रकार के संवेगों पर आधारित है, भले ही इसके समर्थन में हीगल, नीत्से, जेन्टाइल, मुसोलिनी, हिटलर आदि को उद्धृत किया जाता है। परन्तु मुसोलिनी तथा हिटलर सदृश अधिनायकों को दार्शनिक कहना दर्शनशास्त्र के साथ अन्याय करना होगा। प्लेटो का दार्शनिक राजा विवेक का वैयक्तीकृत रूप है तो फासीवादी नेता संवेगों का पुंज है।

(3) **दोनों व्यवस्थाओं के अन्तर्गत शासकों के गुणों में कोई समता नहीं**—प्लेटो के दर्शन का आधार पूर्ण न्याय तथा सत् (absolute 'justice' and absolute 'good') है। वह पुण्य (virtuc) तथा ज्ञान (knowledge) से युक्त जीवन को मानव तथा समाज का अन्तिम लक्ष्य मानता है। इस प्रकार वह राजनीति तथा नीतिशास्त्र को एक में मिला देता है। उसके मत से राज्य का शासक वही व्यक्ति हो सकता है जिसमें ऐसा पद प्राप्त करने की नैसर्गिक योग्यता होने के साथ-साथ ज्ञान, पुण्य, न्याय आदि नैतिक गुणों के अर्जन का भी पूर्ण प्रशिक्षण प्राप्त हो चुका हो। इसके विपरीत फासी अधिनायक अपने शारीरिक तथा धूर्ततापूर्ण बल पर स्वनिर्मित नेता होता है। पूर्ण सत्, पूर्ण पुण्य या पूर्ण न्याय की जो व्याख्या प्लेटो ने की है, वैसी धारणा का फासी दर्शन में लेश मात्र भी अस्तित्व नहीं है। वहाँ तो पशु-बल द्वारा राजनेता जो भी आकांक्षा करे वही सत्य है, वही न्याय है। इस प्रकार प्लेटो की धारणा का शासक विवेक का पुंज है तो फासीवादी अधिनायक संवेगों का पुंज है।

[1] 'It is a body of ideas taken from various sources and put together to fit the exigencies of the situation.' —Sabine.

(4) **प्लेटोवादी राज्य आत्म-निर्भर ग्रीक नगर-राज्य, परन्तु फासीवादी राज्य साम्राज्यवादी तथा अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों में लीन राज्य**—प्लेटो की धारणा में पूँजीवाद तथा साम्राज्यवाद की धारणाओं को कोई स्थान प्राप्त नहीं है । फासीवादी राज्य साम्राज्यवाद तथा साम्राज्य-विस्तार को आवश्यक मानता है । प्लेटो आत्म-निर्भर नगर-राज्य को आदर्श व्यवस्था मानते हुए आक्रामक या प्रतिरक्षात्मक युद्धों तक को नगर-राज्य के जीवन के मार्ग की एक बुराई मानता था । इसके विपरीत फासीवाद के लिए युद्ध को इतना ही आवश्यक माना गया है जितना कि किसी महिला के लिए मातृत्व को । साम्राज्य-विस्तार फासी राज्य का साध्य है तो युद्ध उसका साधन । फासीवादी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को कायरों का स्वप्न कहते हैं ।

(5) **प्लेटोवाद राजनीतिक आदर्शवाद, परन्तु फासीवाद राजनीतिक यथार्थवाद**—प्लेटो के विचारों में राजनीति को पूर्णतया नैतिकता के अधीन कर दिया गया है । जीवन की उत्तमता उसका साध्य है और राज्य का शासन साधन के रूप में है । परन्तु फासीवादी ऐसे प्रत्ययमूलक आदर्शवाद पर विश्वास नहीं करते । उनका आदर्श राजनीतिक यथार्थवाद है । अतः वह शासन उत्तम है जो उत्तम ढंग से शासन करता है । प्लेटो के विचारों का राज्य एक स्वप्नलोकी आदर्श मात्र रह गया जो कभी भी कार्य रूप में परिणत नहीं हो सका । इसके विपरीत फासीवादी राज्य लगभग दो दशकों की अवधि तक अस्तित्व में आये और यद्यपि द्वितीय विश्व-युद्ध ने उनका विनाश कर दिया तथापि फासीवादी प्रवृत्ति तथा आचरण किसी न किसी रूप में आज के अनेक राज्यों में विद्यमान पाया जाता है ।

(6) **प्लेटो के आदर्शवाद का साम्यवाद की ओर झुकाव, परन्तु फासीवाद साम्यवाद का विरोधी**—प्लेटो ने आदर्श राज्य के लिए सम्पत्ति तथा परिवार के साम्यवाद की योजना रखी थी । यद्यपि यह व्यवस्था आधुनिक साम्यवाद से मिलती-जुलती नहीं है तथापि फासीवाद तो पूर्णतया साम्यवाद विरोधी है । उसकी उत्पत्ति ही लोकतन्त्रों तथा रूसी साम्यवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुई थी ।

(7) **प्लेटो का आदर्श राज्य उसके क्रमबद्ध दर्शन की उपज, जबकि फासीवाद फासीवादी व्यवस्था का समर्थक**—प्लेटो का आदर्श राज्य यदि कभी निर्मित होता तो उसका आधार प्लेटो के दार्शनिक विचार होते । परन्तु फासीवादी राज्य का कोई दार्शनिक आधार नहीं है । इसका अस्तित्व पहले हुआ और उस व्यवस्था के औचित्य को सिद्ध करने के लिए फासीवादी विचारधाराएँ विकसित की जाती रहीं ।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दोनों आदर्शों के मध्य थोड़ी सी समताओं के बावजूद अन्तर इतने मौलिक हैं कि कम से कम प्लेटो को फासीवादी कहना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता । किसी फासीवादी ने अपने विचारों के समर्थन में प्लेटो को उद्धृत तक नहीं किया है । जो थोड़ी सी समता विषयक बातें हैं यदि उनका गहराई से परीक्षण किया जाय तो उनमें भी अनेक मौलिक भेद सिद्ध होंगे । इसलिए प्लेटो को फासीवादी नहीं कहा जा सकता । आज की अनेक अधिनायकवादी व्यवस्थाएँ जिनके अन्तर्गत बीसवीं सदी के फासीवादी राज्यों के अनेक लक्षण स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते हैं, अपने को फासीवादी कहे जाने में आपत्ति करते हैं । ऐसी स्थिति में प्लेटो को फासीवादी कहने का कोई औचित्य सिद्ध नहीं होता ।

आदर्श राज्य का सिद्धान्त

प्लेटो के आदर्श राज्य की धारणा उसके दार्शनिक विचारों की प्रतिफल है। प्लेटो ने अपने जीवन के आरम्भिक वर्षों में ग्रीस के नगर-राज्यों के पतन के लक्षण देखे। उसे न तो एथेंस के लोकतन्त्र से सहानुभूति रह गयी थी, क्योंकि उस लोकतन्त्री व्यवस्था के अन्तर्गत सुकरात सदृश विद्वान् तथा स्वयं उसके अनन्य गुरु को फांसी की सजा दी गयी थी, और न ही उसे स्पार्टा के वर्गतन्त्र तथा सैनिक शासन-व्यवस्था से कोई अभिरुचि थी। अन्य नगर-राज्यों में प्रचलित शासन-प्रणालियों में भी उसने उनके पतन के कारण देखे थे। प्लेटो के विचार से नगर-राज्यों के पतन का कारण उनमें प्रचलित शासन-प्रणालियाँ न थीं, बल्कि जैसा सैबाइन ने कहा है, 'उसका मुख्य कारण समूचे राजनीतिक समाज (body politics) के दोष तथा स्वयं मानव प्रकृति थे।' अत: बिना इन दोषों का निराकरण किये नगर-राज्यों का उत्थान सम्भव नहीं था। अत: प्लेटो के राजनीतिक विचार मानव एवं समाज दोनों के सुधारों से सम्बन्ध रखते है। प्लेटो का न्याय-सिद्धान्त जो उसके दार्शनिक विचारों पर आधारित है उसके आदर्श राज्य की आधार-शिला है।

प्लेटो के राज्य सम्बन्धी विचारों का उद्देश्य किन्हीं निवर्तमान राज्यों में प्रचलित राज्य या शासन व्यवस्थाओं का विवेचन करना नहीं था, वरन् वह ऐसे राज्य की कल्पना करता है जो 'सत् की धारणा' (the idea of the Good) को साकार करे और जिसका उद्देश्य मानव को उत्तम जीवन प्रदान करना हो। अत: प्लेटो की समस्त विचारधारा एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत करती है कि राज्य को कैसा होना चाहिए, यह नहीं कि कोई राज्य कैसा है।[1] प्लेटो की विचारधारा समस्त कालों तथा परिस्थितियों के लिए राज्य का एक आदर्श प्रस्तुत करती है। उसने ऐसी चिन्ता ही नहीं की कि कोई वास्तविक राज्य उस नमूने का हो सकता है या नहीं, प्रत्युत् उसका उद्देश्य यह दर्शाना था कि सिद्धान्त रूप में एक राज्य को कैसा होना चाहिए। उसने ऐसे राज्य की उपयोगिता को दर्शाने का प्रयास किया है। उसे यह चिन्ता भी नहीं थी कि व्यवहार में ऐसा 'विचार' कार्यान्वित हो सकेगा अथवा नहीं। वह तो संसार के समक्ष राज्य का एक आदर्श प्रस्तुत करना चाहता था चाहे ऐसा राज्य पृथ्वी पर स्थापित हो सके अथवा नहीं। अत: प्लेटो का आदर्श राज्य एक स्वप्नलोकी विचार (a utopia) है। इस दृष्टि से प्लेटो द्वारा वर्णित राज्य को 'आदर्श राज्य' कहने की अपेक्षा 'राज्य का आदर्श' कहना उचित होगा।

प्लेटो के आदर्श राज्य सम्बन्धी विचारों के दो मुख्य आधार हैं—

(1) **न्याय सिद्धान्त**—प्लेटो के अनुसार न्याय मानवी सद्गुण का एक अंग है। अन्य अंग हैं विवेक, उत्साह तथा आत्म-संयम। न्याय का अर्थ नैतिकता तथा कर्तव्याकर्तव्य की भावना है। न्याय मानव आत्मा में एक ऐसा गुण होता है जो समस्त मानवों को राज्य के रूप में परस्पर एकता के सूत्र में बाँधता है। इसी के फलस्वरूप मानव सामाजिक तथा श्रेष्ठ प्राणी बनता है। प्लेटो के विचार से जो तत्त्व मानव आत्मा में पाये जाते हैं, वही राज्य अथवा राजनीतिक दृष्टि से सगठित

[1] According to Sabine, 'He was trying to show what inprinciple a state *must be*: if the facts are not like the principle, so much the worse for the facts.' —Sabine, *op. cit.*, 53.

समाज में भी विद्यमान रहते हैं।[1] मानव आत्मा के तीन तत्त्व विवेक (reason), उत्साह (spirit) तथा तृष्णा (appetite) हैं। तृष्णा तत्त्व शरीर का पोषक है। वह पेट के निचले भागों में (below the diaphragm) रहता है, उत्साह तत्त्व वक्षस्थल में रहते हुए कार्यकारी (executive) कार्य करता है और विवेक तत्त्व जो चिन्तन तथा ज्ञान का कार्य करता है, मस्तिष्क में रहता है। इनके पारस्परिक सम्बन्धों के समुचित संचालन द्वारा ही मानव आत्मा का विकास होता है। मानव आत्मा में विद्यमान इन तीन तत्त्वों की श्रेष्ठता मानवी-सद्गुणों को प्रतिबिम्बित करती है। सैबाइन के अनुसार, 'विवेक की श्रेष्ठता विद्वत्ता (wisdom) है, कार्यशीलता की उत्साह (courage), परन्तु प्लेटो को ऐसा कहने में संकोच होता है कि आत्म-संयम (temperance) केवल पोषक आत्मा तक ही सीमित है।'[2] न्याय वह सद्गुण है जो आत्मा के इन तीन तत्त्वों के व्यापारों में समुचित सामंजस्य स्थापित करता है। यह वह गुण है जो मानव को श्रेष्ठ बनाता है।

राज्य का सावयव स्वरूप—प्लेटो की यह मान्यता है कि 'राज्य व्यक्ति का बृहत् रूप है' (State is individual writ large)। मानव आत्मा में विद्यमान ऐसे ही तीन तत्त्वों से राज्य का भी निर्माण होता है। ये तीन तत्त्व समाज का निर्माण करने वाले तीन वर्ग हैं। शीर्ष पर दार्शनिक राजा विवेक तत्त्व का प्रतिनिधित्व करता है। उसके नीचे राज्य के संरक्षक वर्ग हैं जो उत्साह तत्त्व से युक्त हैं। इनमें सैनिक तथा प्रशासक वर्ग आते हैं। अन्त में कृषक, मजदूर, शिल्पी आदि वर्ग हैं, जो पोषक तत्त्वों का कार्य करते हैं। न्याय वह तत्त्व है जो राज्य के इन तीन वर्गों के मध्य सामंजस्य स्थापित करता है। प्लेटो के अनुसार न्याय राज्य के एक सद्गुण के रूप में इन तीन तत्त्वों से युक्त वर्गों को राज्य के रूप में संगठित करता है। प्लेटो के न्याय-सिद्धान्त की यह मान्यता है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपनी नैसर्गिक योग्यता (natural fitness) के अनुसार अपना कार्य करे और दूसरे के कार्य में हाथ न डाले। आदर्श राज्य वही है जिसका संगठन तथा संचालन इन सिद्धान्तों के आधार पर होगा। प्लेटो इसे आदर्श राज्य इसलिए कहता है कि इसमें शासन-संचालन का कार्य दार्शनिक राजा के द्वारा होता है जो वासनाओं तथा पक्षपातों से रहित है। वह क्रियाशील सद्गुण (virtue in action) का प्रतीक है। प्रशासक तथा सैनिक वर्ग को, जो राज्य के संरक्षक हैं, दर्शन, ज्ञान तथा प्रशासन का पर्याप्त प्रशिक्षण मिला रहता है। वे दार्शनिक राजा के निर्देशन में राज्य के समस्त दायित्वों को सम्पन्न करेंगे। स्वयं सम्पत्ति तथा परिवार के बन्धनों से मुक्त रहते हुए वे राज्य के सच्चे सेवक सिद्ध होंगे। उत्पादक वर्ग अपने निर्दिष्ट कार्यों को करते हुए राज्य के भरण-पोषण सम्बन्धी कार्यों को करेंगे। ऐसे राज्य का स्वरूप वर्गगत होगा जिसमें प्रत्येक व्यक्ति तथा वर्ग सम्पूर्ण के हित में अपने निर्दिष्ट कार्य को करता हुआ सम्पूर्ण समाज की सेवा की भावना से कार्य करेगा। इस प्रकार का वर्ग-राज्य (class-state) कार्यों के विशेषीकरण (specialisation of functions) के सिद्धान्त पर निर्मित होगा। इसका आधार मानव स्वभाव के संविधान के मौलिक कानून हैं। प्लेटो की धारणा थी कि मनुष्य ऐसे आदर्श राज्य में ही अपनी पूर्णता को प्राप्त कर सकता

[1] 'Must we not acknowledge that in each of us, there are the same principles and habits that there are in the state.' —*The Republic.*

[2] Sabine, *op. cit.*, 58.

है। इस दृष्टि से प्लेटो के आदर्श राज्य में व्यक्ति तथा राज्य के मध्य सावयविक एकता दर्शायी गयी है। जिस प्रकार व्यक्ति के शरीर के विभिन्न तत्त्वों में सावयविक सम्बन्ध है, उसी प्रकार राज्य के निर्माणकारी तत्त्वों के मध्य भी सावयविक सम्बन्ध होना चाहिए।

(2) **आर्थिक सिद्धान्त**—प्लेटो की कल्पना के आदर्श राज्य का दार्शनिक आधार उसका न्याय सिद्धान्त है। परन्तु राज्य की उत्पत्ति, स्वरूप एवं उद्देश्य के सम्बन्ध में प्लेटो ने उसका आर्थिक आधार भी बताया है। इससे उसकी यथार्थ-वादिता स्पष्ट होती है। उसका कथन है कि 'राज्य की उत्पत्ति मानव की आवश्यकताओं के फलस्वरूप होती है। कोई भी व्यक्ति आत्म-निर्भर नहीं होता, वरन् सबकी अनेक आवश्यकताएँ होती है। उनकी पूर्ति के लिए बहुत व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती है। वे परस्पर अन्योन्याश्रित रहते हैं, जब ऐसी पारस्परिक सहायता चाहने वाले व्यक्ति एक साथ निवास करने लगते हैं, तो उसी सम्पूर्ण समाज को राज्य कहते हैं।' इस धारणा के अनुसार, राज्य के निर्माणकारी तत्त्व व्यक्ति हैं जो किसी निश्चित बन्धन से परस्पर संगठित हुए हैं। यह बन्धन पारस्परिक आर्थिक अन्योन्याश्रितता का बन्धन (the bond of economic mutual inter-dependence) है। कोई भी व्यक्ति अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं कर सकने की क्षमता नहीं रखता। स्वभावतः विभिन्न व्यक्तियों में विशिष्ट प्रकार के कार्यों को करने की क्षमता होती है। अतः एक व्यक्ति एक प्रकार की आवश्यकता की पूर्ति कर सकता है तो दूसरा दूसरी प्रकार की। इस प्रकार प्लेटो की दृष्टि में राज्य विशुद्ध रूप से एक ऐसा मानव संगठन है, जिसका सृजन व्यक्तियों की पारस्परिक आवश्यकताओं के फलस्वरूप हुआ है। इसका आधार उसका निर्माण करने वाले व्यक्तियों के मध्य कार्य-विभाजन तथा पारस्परिक सहयोग है। राज्य के निर्माण का कारण न्याय है। यह मानव आत्मा का वह गुण है जिसके कारण व्यक्ति राजनीतिक समुदाय के निर्माण को सम्भव बनाते हैं। राज्य की उत्पत्ति के आर्थिक आधार की व्याख्या करने में भी प्लेटो राज्य की उत्पत्ति के न्याय-सिद्धान्त को बनाये रखता है।

राज्य की उत्पत्ति का आर्थिक आधार प्रस्तुत करते हुए प्लेटो ने सामाजिक दर्शन के एक अद्भुत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। सैबाइन के मत से, 'इसने समाज के ऐसे पक्ष को प्रकाश में ला दिया है जो कि किसी भी सामाजिक सिद्धान्त के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य है।'[1] इसका निष्कर्ष यह है कि समाज पारस्परिक सेवा की ऐसी पद्धति है जिसमें व्यक्तियों का जीवन पारस्परिक आदान-प्रदान की क्रिया से चलता है। पारस्परिक आदान-प्रदान की इस प्रक्रिया का परिणाम यह होता है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत आवश्यकता से अधिक उत्पादन करेगा। जो व्यक्ति जिस कार्य को करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति तथा क्षमता रखेगा वह अपने को उसी कार्य में लगाये रखेगा। इस प्रकार समाज में प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति भी होती रहेगी, साथ ही उत्पादन का स्वरूप भी उच्चतर होगा। प्लेटो ने कहा है कि 'हमें यह ज्ञात रहना चाहिए कि समस्त पदार्थ आसानी

[1] 'It brought to light an aspect of society which is admittedly of the greatest importance for any social theory, and it stated once for all a point of view which the social theory of the city-state never abandoned.' —*Sabine*, *op. cit.*, 55.

से तथा पर्याप्त मात्रा में उत्पादित किये जायें तथा उनका गुणात्मक स्वरूप भी उच्चतर हो। यह तभी हो सकता है जबकि एक व्यक्ति उसी एक कार्य को करे जो उसके लिए स्वाभाविक हो तथा उसे वह उचित समय पर करे और अन्य कार्यों को छोड़ दे।'

कार्य-विभाजन तथा विशेषीकरण का सिद्धान्त प्लेटो के आदर्श राज्य के आर्थिक सिद्धान्त का निष्कर्ष है। यह प्लेटो के न्याय-सिद्धान्त का व्यावहारिक तथा सबसे आवश्यक तत्त्व है। इसमें वह दार्शनिक राजा को भी अपवाद नहीं मानता। उसकी धारणा यह थी कि यदि विशेषीकरण का अन्त कर दिया जायेगा तो सामाजिक आदान-प्रदान की भावना भी समाप्त हो जायेगी। यदि समाज के व्यक्तियों को विशिष्ट योग्यताओं से युक्त न माना जायेगा तो विशेषीकरण का आधार ही समाप्त हो जायेगा; और यदि अपनी स्वाभाविक योग्यताओं तथा प्रवृत्तियों के अनुकूल व्यक्तियों को प्रशिक्षण नहीं मिलेगा तो विशेषीकरण अर्थहीन हो जायेगा। समाज तथा राज्य को इन तथ्यों पर विश्वास तथा अमल करना चाहिए। दार्शनिक राजा का, जो सत् का ज्ञान रखता है, यह कर्त्तव्य होगा कि वह समाज में प्रत्येक व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति एवं योग्यता के अनुसार उसके कार्य-भाग तथा प्रशिक्षण को सुनिश्चित करे और विभिन्न तत्त्वों के मध्य सामंजस्य स्थापित करे।

इस प्रकार प्लेटो द्वारा चित्रित राज्य एक सशक्त (compact) इकाई होगा जिसमें समस्त नागरिक पारस्परिक सहयोग तथा आर्थिक आदान प्रदान की भावना से संगठित होंगे। समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपनी नैसर्गिक योग्यता तथा क्षमता के अनुसार अपने निर्दिष्ट कार्य को करता हुआ सबकी सेवा करेगा। ऐसे सामाजिक जीवन को सुनियोजित तथा सुनिश्चित करने के लिए प्लेटो ने अन्य अनेक साधनों का विवेचन किया है :

(1) समस्त नागरिक अपने व्यवसायगत विशेषीकरण के आधार पर तीन वर्गों मे विभक्त होगे। शीर्ष में दार्शनिक राजा होगा, यदि वह एक ही व्यक्ति है। प्लेटो ऐसे अनेक दार्शनिक शासकों की भी कल्पना करता है। परन्तु वह एक दार्शनिक राजा पर अधिक विश्वास रखता है। उसके नीचे राज्य के संरक्षक वर्ग होंगे, जिनमें प्रशासन एवं सैनिक कार्यों का उत्तरदायित्व निहित रहेगा। अन्त में, उत्पादक वर्ग होंगे जो विविध व्यवसायों के अन्तर्गत वर्गीकृत रहेंगे, यथा कृषक, शिल्पी, बढ़ई आदि।

(2) प्रथम तथा द्वितीय श्रेणी के वर्ग (शासक तथा संरक्षक वर्ग) को निःस्वार्थ भाव से राज्य की सेवा करने तथा अपनी स्वाभाविक क्षमता एवं योग्यता का समुचित प्रदर्शन समाज के हित में करने के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा व्यक्तिगत परिवार के बन्धन से मुक्त रखा जायेगा। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु प्लेटो इस वर्ग के लिए सम्पत्ति तथा परिवार के साम्यवाद की योजना रखता है।

(3) उपर्युक्त दोनों वर्गों के लिए शिक्षा तथा प्रशिक्षण की योजना को वह अपरिहार्य मानता है। राज्य इनके लिए अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करेगा। प्लेटो ने शिक्षा की व्यापक योजना इसी उद्देश्य की प्राप्ति हेतु प्रस्तुत की है। शिक्षा में वह संरक्षक वर्ग के पुरुष तथा महिलाओं को समानता की स्थिति में रखता है ताकि सार्वजनिक सेवा के कार्य में पुरुषों तथा महिलाओं दोनों की नैसर्गिक क्षमता का पूर्ण लाभ प्राप्त हो सके।

(4) साम्यवाद तथा शिक्षा के क्षेत्र से उत्पादक वर्ग को अलग रखा गया है।

प्लेटो उन्हें व्यक्तिगत परिवार तथा सम्पत्ति से विहीन करना आवश्यक नहीं मानता। साथ ही उनके प्रशिक्षण को भी वह महत्त्वहीन समझता है।

आदर्शवाद अथवा स्वप्नलोकवाद—प्लेटो के आदर्श राज्य का सिद्धान्त ऊपर वर्णित आधारों पर निर्मित तथा उपर्युक्त विशेषताओं से युक्त है। ऐसी राज्य व्यवस्था को आदर्श राज्य कहा जाये अथवा एक स्वप्नलोकी विचारमात्र ? जैनेट (Jannct) के अनुसार, प्लेटो के राजनीतिक विचारों में आदर्शात्मक तथा स्वप्नलोकी दोनों अंग हैं। स्वप्नलोकवाद तो समाप्त हो चुका है और पुनः जीवित नहीं हो सकता परन्तु आदर्शात्मक तत्त्व अमर है।

प्लेटो सामाजिक वर्गों को अपरिवर्तनशील एवं अलोचपूर्ण ढंग से वर्गीकृत कर देने की बात कहता है। यद्यपि वर्गीकरण का आधार जन्मगत तथा जातिगत नहीं है, तो भी वर्गीकरण की अन्य कसौटी क्या होगी, इसका विवेचन नहीं किया गया है। पुरुष तथा महिलाओं को समान कार्य-क्षमता से युक्त मान लेना प्लेटो की हठधर्मिता को प्रदर्शित करता है। समाज में सार्वजनिक एवं राजनीतिक कार्य-कलापों के सम्पादन में पुरुषों तथा महिलाओं को समानता की स्थिति प्रदान करना उनके मध्य लिंगगत नैसर्गिक अन्तर की अनदेखी करना है। संरक्षक-वर्ग के लिए सम्पत्ति तथा परिवार के साम्यवाद की योजना रखी गयी है जिसे व्यवहार में कार्यान्वित करना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव भी प्रतीत होता है। दर्शन के शासन को सर्वोत्तम मानना तथा राज्य के नियन्त्रण में शिक्षा का आयोजन और वह भी केवल उच्च वर्ग के लिए, प्लेटो की हठधर्मिता-जन्य बात ही लगती है। आदर्श राज्य के सम्बन्ध में ये सब योजनाएँ प्लेटो की स्वप्नलोकी धारणा को प्रदर्शित करती हैं। ये समस्त बातें अवास्तविक, कल्पनामूलक, अव्यावहारिक एवं स्वप्नलोकी सिद्ध होती हैं।

परन्तु समाज के सच्चे उद्देश्य के रूप में न्याय के सिद्धान्त को नागरिक-जीवन के अनुरूप मानना स्वप्नलोकी विचार नहीं कहा जा सकता। सद्गुण को राज्य की वास्तविक शक्ति बताना तथा सद्गुण के विकास के लिए शिक्षा को सर्वोत्तम साधन स्वीकार करना तथा इस बात पर विश्वास रखना कि राज्य का निर्देशन तथा संचालन सद्गुणों से युक्त विद्वानों के हाथों में रहे—स्वप्नलोकी नहीं माना जा सकता। इन धारणाओं पर आधारित आदर्श राज्य का विचार प्लेटो की राजनीतिक चिन्तन को एक महत्त्वपूर्ण देन है। इनके आधार पर प्लेटो को आदर्शवादी कहना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

आदर्शवाद अथवा सर्वसत्तावाद—प्लेटो का आदर्श राज्य निरंकुश तथा सर्वाधिकारवादी (absolute and totalitarian) होगा। ऐसा राज्य मानव-जीवन के बौद्धिक एवं आध्यात्मिक पहलुओं सहित सम्पूर्ण क्षेत्रों के नियमन का अधिकारी होगा। ऐसा आदर्श-राज्य सर्वाधिकारवादी (totalitarian) तो होगा, परन्तु उसका संचालन तथा नियमन सर्वोच्च विद्वता के द्वारा होगा। अतएव वह सर्वसत्तावादी (authoritarian) नहीं होगा और न स्वेच्छाचारी ही होगा। दार्शनिक राजा की निरंकुशता तथा एक अत्याचारी शासक की स्वेच्छाचारिता में बहुत अन्तर है। परन्तु प्लेटो के आदर्श-राज्य की व्यवस्था में लोचपूर्णता का प्रायः अभाव है। इसमें गतिशीलता नहीं है। सबसे महान् कठिनाई यह है कि प्लेटो आदर्श-राज्य का चित्रण तो प्रस्तुत करता है परन्तु वह इस बात का विवेचन नहीं करता कि जैसा एक आदर्श-

राज्य को होना चाहिए वैसी स्थिति प्राप्त करने में एक वास्तविक तथा निवर्तमान राज्य किस प्रकार अग्रसर हो सकता है। यदि एथेंस तथा स्पार्टा प्लेटो के आदर्श-राज्य की धारणा से पिछड़ी अवस्था में थे, तो उन्हें वह अपनी कल्पना के आदर्श रूप में कैसे ले जा सकता है, यह प्लेटो ने नहीं बताया। उसने अपने आदर्श का प्रयोग सिराक्यूज के अत्याचारी शासक के राज्य में करने का अवसर प्राप्त किया था। परन्तु उसका यह प्रयोग पूर्णतया असफल सिद्ध हुआ। यही कारण है कि प्लेटो ने अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में अपने आदर्श राज्य के सिद्धान्त को परिवर्तित करके द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन अपने ग्रन्थ 'लॉज' (*The Laws*) में किया है।

आलोचना

(1) **राज्य में सामाजिक वर्गों का कठोर विभाजन राजनीतिक व्यवहार की दृष्टि से अवास्तविक**—आदर्श राज्य की धारणा के निरूपण में प्लेटो ने मानव-आत्मा के तीन तत्त्वों को समाज के विभिन्न वर्गों में खोजा और इन्हीं के आधार पर उन्हें कठोरता के साथ तीन वर्गों में विभाजित करने का प्रयास किया है। व्यक्ति तथा राज्य के मध्य ऐसा सादृश्य दर्शाना प्लेटो की एक महान् भूल है। वास्तव में जैसा सैबाइन का मत है, 'प्लेटो ने इस सिद्धान्त की अधिक विस्तार से विवेचना न करके इसे अस्पष्ट तथा भ्रामक बना दिया है।' वह नीतिशास्त्र तथा राजनीति के मध्य भेद करने में असफल रहा है। राजनीतिक समाज की जटिलताओं तथा समस्याओं का पूर्ण विवेचन किये बिना राज्य को व्यक्ति का ही बृहद् रूप मानना उचित नहीं है। सामाजिक वर्गों का विभाजन कर लेने के उपरान्त दार्शनिकों को निरंकुश शासन का अधिकार देना तथा उत्पादक-वर्ग को राजनीतिक क्षमता और योग्यता से विहीन मानना उनके प्रति न्याय नहीं कहा जा सकता।

(2) **दार्शनिकों के शासन की धारणा लोकतन्त्री सिद्धान्तों तथा मूल्यों की उपेक्षा की सूचक**—प्लेटो के आदर्श-राज्य के सिद्धान्त में लोकतन्त्री समानता की धारणा को कोई स्थान नहीं दिया गया है। उसने यह अन्तिम रूप से स्वीकार कर लिया था कि उत्तम शासन 'ज्ञान का शासन' ही हो सकता है और ज्ञान केवल कुछ विशेष वर्गों का हित है। यह मानना भी उचित नहीं है कि शासन-कला का उत्तम संचालन ज्ञानवानों द्वारा ही होगा। सार्वजनिक जीवन का अनुभव सार्वजनिक सेवा तथा समस्याओं के हल के लिए आवश्यक है। ऐसे अनुभव के अभाव में प्लेटो की धारणा के दार्शनिक तथा संरक्षक असफल शासक सिद्ध हो सकते हैं। प्लेटो के आदर्श राज्य का सिद्धान्त न केवल जनमत तथा लोक-परम्पराओं के महत्त्व को ही अमान्य करता है, अपितु वह तत्कालीन नगर-राज्यों की लोकतन्त्री संस्थाओं के महत्त्व की भी उपेक्षा करता है। नगर-राज्यों के शासन में जन-सभाओं तथा परिषदों के कार्य-भाग की उपेक्षा करके प्लेटो लोकतन्त्र के प्रति घोर अन्याय करता है।[1] उसने बुद्धि तत्त्व की महत्ता को बढ़ा-चढ़ा कर चित्रित किया है और आचरण का न्यूनातिन्यून मूल्यांकन किया है। उसकी व्यवस्था में निम्न वर्ग के उत्थान का कोई प्रावधान नहीं है। उनके लिए सत् का ज्ञान करने का कोई अवसर प्रदान नहीं किया गया है। मजदूर तथा शिल्पी वर्ग की ऐसी उपेक्षा करना इस तथ्य को प्रकट

[1] Sabine, *op. cit.*, 59.

करता है कि प्लेटो को, जो स्वयं एक अभिजात वर्ग में जन्मा था, उत्पादक वर्ग से घृणा थी।

(3) **विशेषीकरण के आधार पर कार्य विभाजन की कठोर व्यवस्था व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए बाधक**—प्लेटो के आदर्श-राज्य का स्वरूप अत्यधिक समष्टिवादी (collectivist) है। इसमें व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य तथा विकास को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। प्लेटो ने कार्यों के विशेषीकरण की धारणा को अत्यधिक बढ़ा चढ़ाकर व्यक्त किया है और उसे कठोरतापूर्वक लागू किये जाने पर बल दिया है और इसके दोषों पर विचार नहीं किया है। इसका यह परिणाम होगा कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने निर्दिष्ट कार्य के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य को करने से वंचित रखा जायेगा। इसके कारण व्यक्ति अपना सर्वांगीण विकास करने के लाभ से वंचित रहेगा। यह ऐसा होगा मानो कि 'प्लेटो द्वारा बताये गये लोहे और पीतल के मनुष्य सदैव लोहा तथा पीतल ही बने रहेंगे।'[1]

(4) **साम्यवाद की योजना अव्यावहारिक तथा अवांछनीय**—प्लेटो ने आदर्श-राज्य की उपलब्धि हेतु शासक वर्ग के लिए निषेधात्मक साधन के रूप में सम्पत्ति तथा परिवार के साम्यवाद की योजना निर्धारित की है। यह व्यवस्था मानव-प्रकृति के नियमों से असंगति रखती है। इसका मनोवैज्ञानिक आधार भी अशुद्ध है। व्यवहार में राज्य के नियन्त्रण में इसे लागू करना असम्भव होगा। यदि लागू किया भी जाये तो उससे प्लेटो की कल्पना के वांछित लाभ मिल सकना असम्भव है।

(5) **दार्शनिकों का शासन निरंकुशतावाद या स्वेच्छाचारितावाद में परिणत**—प्लेटो के आदर्श-राज्य का शासन दार्शनिक राजा के निर्देशन में चलाया जायेगा। उसके ऊपर कानून का प्रतिबन्ध न होने से वह निरंकुश रहेगा। वह ज्ञानवान् हो सकता है, परन्तु दर्शन के ज्ञान तथा शासन-काल के ज्ञान में कोई सादृश्य नहीं है। अतः जब दार्शनिक राजा के हाथ में असीम राजनीतिक सत्ता आ जायेगी तो वह उसे भ्रष्ट कर सकती है। लार्ड ऐक्टन की प्रसिद्ध उक्ति कि 'सत्ता भ्रष्ट होती है और निरंकुश सत्ता निरंकुश रूप से भ्रष्ट होती है' प्लेटो के दार्शनिक शासकों पर भी लागू हो सकती है। निरंकुश दार्शनिक शासक एक अत्याचारी शासक बन सकता है।

(6) **राज्य के शासन के निमित्त कानून की उपेक्षा उचित नहीं**—प्लेटो के आदर्श राज्य में कानून तथा अभिसमयों को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया गया है। ऐसे कानूनों के अभाव में 'विधि के शासन' की कोई धारणा आदर्श राज्य के सिद्धान्त में शामिल नहीं है। अतः दार्शनिक राजा का आदेश ही कानून होगा। ऐसे राज्य में 'ज्ञान की सम्प्रभुता' का सिद्धान्त माना जायेगा। शासन-विधान एवं वैधानिक अभिसमयों के अभाव में पदाधिकारियों की नियुक्ति, न्यायालय-व्यवस्था, अपराधियों के लिए दण्ड-व्यवस्था, कानून की व्यवस्था, प्रशासनिक व्यवस्था आदि का कोई भी आयोजन प्लेटो ने नहीं बताया है। शिक्षा-व्यवस्था को अवश्य पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। उसमें प्रशासकीय प्रशिक्षण की बात भी कही गयी है, परन्तु समस्त शासन तथा प्रशासन की व्यवस्था का कोई वैधानिक प्रावधान हुए बिना यह सब कैसे होगा, इसे प्लेटो अस्पष्ट छोड़ देता है। यह सही है कि उस काल में न्याय-शास्त्र, विधिशास्त्र एवं संविधानवाद का विकास नहीं हो पाया था। साथ ही प्लेटो

[1] 'Plato's men of iron and brass will always remain iron and brass.'

का उद्देश्य आदर्श-राज्य का एक नमूना प्रस्तुत करना मात्र था। उसके राज्य के आदर्श में परम्पराओं तथा अभिसमयों को कानून का स्रोत मानने की कोई धारणा विद्यमान नहीं थी।

(7) **राजनीतिक व्यवहार की समस्याओं को उपेक्षित रखना सारी धारणा को स्वप्नलोकी बना देता है**—प्लेटो के सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि वह एक राजनीतिक नहीं था, बल्कि एक आचारवादी दार्शनिक था। अतः वह समाज तथा व्यक्ति के नैतिक-पक्ष को लेकर ही राज्य विषयक बातों का विवेचन करता है। वह नैतिकता तथा राजनीति के मध्य भेद नहीं करता। वह दार्शनिकों को सर्वज्ञाता मानकर उन्हीं के हाथों राज्य की व्यवस्था को भी सौंप देना चाहता है परिणाम यह होगा कि शासक निरंकुश, स्वेच्छाचारी तथा अलंघ्य शक्ति से युक्त हो जायेंगे और शासित वर्ग पंगु हो जायेंगे। इस दृष्टि से प्लेटो का आदर्श राज्य केवल आदर्श मात्र रह जायेगा; वह केवल एक स्वप्नलोकी विचार मात्र रहेगा।

प्लेटो के 'रिपब्लिक' के विचारों का मूल्यांकन

(1) **रिपब्लिक मात्र काल्पनिक विचारों का पुंज नहीं बल्कि इसके विचार व्यापक व्यावहारिक अनुभवों पर आधारित**—'रिपब्लिक' प्लेटो की एक अमर रचना है। जैसा हम प्रारम्भ में कह चुके है, रिपब्लिक में वर्णित प्लेटो के विचार मानव जीवन के एक सम्पूर्ण दर्शन का विवेचन करते हैं जिनमें राजनीति, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, शिक्षाशास्त्र आदि सभी का समावेश है। इसलिए कहा जाता है कि प्लेटो का रिपब्लिक मात्र प्राथमिक सिद्धान्तों का निगमन नही हैं, प्रत्युत् यह ग्रीक जीवन के तथ्यों से प्राप्त आगमन भी है।[1] बार्कर ने कहा है कि 'रिपब्लिक का निर्वाचन एक काल्पनिक व्यवस्था (utopia) के रूप में करना आसान है, जिसका तात्पर्य है बादलों के बीच एक नगर, एक सूर्यास्त का ताना-बाना जो कि सायंकाल को एक घण्टे तक दिखाई दे और फिर रात्रि के अन्धकार में डूब जाय। परन्तु रिपब्लिक एक अस्तित्वहीन नगर नहीं है। यह यथार्थ की परिस्थितियों पर आधारित है। इसका उद्देश्य वास्तविक जीवन को मोड़ना तथा प्रभावित करना है।'[2] इसी प्रकार यह भी कहा गया है कि 'रिपब्लिक एक काल्पनिक व्यवस्था नहीं है, प्रत्युत् यह एक ऐसे चिन्तक की कृति है जो व्यावहारिक राजनीति में हार्दिक अभिरुचि रखता था।'

(2) **रिपब्लिक के विचार चिन्तन की निगमनात्मक पद्धति द्वारा प्रस्तुत किये जाने के कारण उनमें काल्पनिकता की मात्रा विद्यमान**—उपर्युक्त कथन प्लेटो की इस अमर कृति के दोनों पक्षों (काल्पनिक आदर्शवादिता तथा तथ्यगत यथार्थवादिता) को प्रकाश में लाने की धारणा को व्यक्त करते हैं। सामान्यतया प्लेटो को निगमनात्मक पद्धति अपनाने वाले चिन्तकों की श्रेणी में रखा जाता है। ऐसे चिन्तक कुछ प्राथमिक

[1] Plato's Republic is not only a deduction from the first principles, but also an induction from the facts of Greek life.'

[2] 'It is easy to interpret the Republic as a Utopia, a city in the clouds, a sunset fabric seen for an hour in the evening and thereby fading into the might. But the Republic is not a city of no where. It is based on actual conditions, it is meant to mould or at any rate to influence actual life.'

—Barker.

सिद्धान्तों को मान कर चलते हैं और उन सिद्धान्तों की सत्यता को सिद्ध करने हेतु विविध तर्क प्रस्तुत करते हैं। यह विधि मुख्यतया रेखागणित मे अपनायी जाती है। निस्सन्देह प्लेटो रेखागणित में बहुत अभिरुचि रखता था। परन्तु यह भी स्मरणीय है कि दार्शनिक जिन प्राथमिक सिद्धान्तों या पूर्व मान्यताओं को लेकर चलता है उनका भी कोई आधार होता है। राजनीति को उस रूप में एक विशुद्ध निगमनात्मक विज्ञान नहीं माना जा सकता, जिस रूप मे रेखागणित एक निगमनात्मक विज्ञान है। राजनीति का जो दार्शनिक पक्ष है उसके अन्तर्गत अनेक विद्वानों ने ऐसी पद्धतियाँ अपनायी हैं। ऐसे दार्शनिक जिनमें प्लेटो का नाम सर्वप्रथम आता है, राजनीतिक समाज की वास्तविक परिस्थितियों, समस्याओं अथवा व्यवस्थाओं से प्रेरणा लेते है और अपनी पूर्व मान्यताओं को उनमें लागू करके उनके आधार पर उन समस्याओं के समाधान खोजते है। ऐसा करने में वे बहुधा अनेक ऐसी कल्पनामूलक बातें कह जाते हैं जिनका वास्तविक व्यवहार में प्रयुक्त किया जाना कठिन प्रतीत होता है। यही बात प्लेटो के राजनीतिक विचारों में पायी जाती है जिनका विवेचन उसने रिपब्लिक में किया है। इसलिए रिपब्लिक को बहुधा कल्पनामूलक आदर्श व्यवस्था (utopia) कहा जाता है।

विगत पृष्ठों में प्लेटो के रिपब्लिक में वर्णित प्रमुख सिद्धान्तों का जो संक्षिप्त विवेचन हमने किया है उसके अन्तर्गत न्याय, साम्यवाद, दर्शन का शासन तथा शिक्षा सिद्धान्त प्रमुख हैं। इन्हीं के सन्दर्भ में हम यह दर्शाने का प्रयास करेंगे कि रिपब्लिक कहाँ तक स्वप्नलोकी व्यवस्था है और कहाँ तक व्यावहारिक तथ्यों पर आधारित है :

(1) **रिपब्लिक के विचार प्राथमिक सिद्धान्तों का निगमन प्रदर्शित करते हैं**—प्लेटो की दो मुख्य पूर्व-मान्यताएँ या प्राथमिक सिद्धान्त हैं : पहला, 'सद्‌गुण ही ज्ञान हैं', या 'ज्ञान ही सद्‌गुण है।' मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य सद्‌गुण-युक्त जीवन की प्राप्ति अथवा सत् का ज्ञान (idea of the Good) करना है। यह सिद्धान्त प्लेटो ने अपने गुरु सुकरात से अपनाया था। दूसरा, प्लेटो यह मानकर चलता है कि मानव आत्मा मे विवेक, उत्साह तथा तृष्णा तीन तत्त्व होते हैं, और यही तीन तत्त्व सामाजिक संरचना का निर्माण करते है। विवेक तत्त्व का प्रतिनिधित्व दार्शनिक शासक, उत्साह का सैनिक या संरक्षक वर्ग, तथा तृष्णा का उत्पादक वर्ग (कृषक, शिल्पी, उद्योगों में लगे व्यक्ति आदि) करते हैं। यह सिद्धान्त उसने पाइथागोरस से ग्रहण किया था। इन्हीं दो पूर्व-मान्यताओं पर प्लेटो के रिपब्लिक के समस्त विचार आधारित हैं। इस अर्थ में प्लेटो का रिपब्लिक 'प्राथमिक सिद्धान्तों का निगमन' माना जाता है।

(2) **रिपब्लिक के विचारों की प्रेरणा-स्रोत ग्रीक नगर राज्यों की यथार्थ परिस्थितियाँ**—चूंकि प्लेटो की मान्यता थी कि सामाजिक संरचना तीन तत्त्वों से युक्त व्यक्तियों के वर्गों से होती है, अतः समाज का निर्माण करने वाले तीनों वर्ग कार्यगत विशेषीकरण के आधार पर अपने-अपने ही कार्यों को सम्पादित करें और दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप न करें। यही व्यक्तिगत तथा सामाजिक न्याय है। जिस प्रकार मानव आत्मा को सद्‌गुण-युक्त जीवन तथा सत् का ज्ञान तभी हो सकता है जबकि उसके ऊपर विवेक तत्त्व शासन करे, उसी प्रकार सामाजिक जीवन को सद्‌गुण की प्राप्ति तभी हो सकती है जबकि विवेक तथा ज्ञान से युक्त दार्शनिक उसका

शासन चलाए। यदि मानव के ऊपर उत्साह अथवा वासना तत्त्वों की प्रमुखता बनी रहेगी तो मानव आत्मा भ्रष्टता की दिशा में बढ़ेगी। ये तत्त्व उसे पुण्यमय जीवन व्यतीत करने तथा सत् का ज्ञान प्राप्त करा सकने में बाधक सिद्ध होंगे। इसी प्रकार यदि समाज का शासन उत्साह या तृष्णा तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों अथवा जन-समूह के हाथ में आ जाये तो समाज भ्रष्ट हो जायेगा। अतः जिस प्रकार मानव आत्मा में ज्ञान तथा विवेक का शासन वांछनीय होता है उसी प्रकार समाज में भी ज्ञानवानों का शासन होना चाहिए। यही न्याय है। इस प्रकार न्याय की धारणा पर आधारित दर्शन के शासन का सिद्धान्त प्लेटो की पूर्वोक्त प्राथमिक मान्यताओं का निगमन है। परन्तु प्लेटो ने इन पूर्व-मान्यताओं को क्यों अपनाया, यह उसके यथार्थवाद पर आधारित है। प्लेटो के काल में एथेंस में विशेष रूप से तथा सामान्यतया अन्य अनेक ग्रीक नगर-राज्यों में जहाँ लोकतन्त्री व्यवस्थाएँ कायम थीं, भारी अराजकता, अत्याचार तथा अन्याय छाये हुए थे। प्लेटो ने अनुभव किया कि इसका मुख्य कारण ज्ञानहीन जन-समूह के हाथ में शासन-सत्ता का होना था। प्लेटो का उद्देश्य ऐसी कुव्यवस्थाओं के निराकरण का समाधान ढूँढ़ना था। यह उसकी चिन्तन की आगमनात्मक पद्धति तथा यथार्थ राजनीतिक सूझ-बूझ को दर्शाता है। दर्शन के शासन के जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन उसने किया है वह किसी ऐसे राज्य के लिए नहीं किया है जिसका अस्तित्व इस पृथ्वी के परे असमान या स्वर्गलोक में है, बल्कि उसके मस्तिष्क में सदैव ग्रीक नगर-राज्यों की व्यवस्था में सुधार लाने की कामना थी। यह उसकी व्यावहारिक राजनीति के प्रति अभिरुचि दर्शाती है।

(3) **साम्यवाद की योजना के पीछे व्यावहारिक उद्देश्य**—प्लेटो के ऊपर यह आरोप लगाया जाता है कि उसके द्वारा सुझायी गयी साम्यवाद की व्यवस्थाएँ कोरे स्वप्नलोकी आदर्श हैं, जिनको व्यावहारिक जीवन में प्रयुक्त कर सकना सम्भव नहीं है। वास्तव में, प्लेटो के साम्यवाद की धारणा भी उसकी पूर्वोक्त पूर्व-मान्यताओं का ही तार्किक निष्कर्ष है। यदि ज्ञान ही सद्गुण है तो समाज का शासन करने वालों को ज्ञानवान तथा विवेक-सम्पन्न होना चाहिए। विवेक के मार्ग में आने वाली वासनाओं से उन्हें मुक्त रहना चाहिए। अतः शासक लोगों को सम्पत्ति-अर्जन तथा पारिवारिक सुख-भोग की चिन्ताओं से दूर रहना चाहिए। इसलिए प्लेटो ने सम्पत्ति तथा परिवार के साम्यवाद की व्यवस्था केवल शासक तथा संरक्षक वर्ग के लिए बतायी है। इस सम्बन्ध में भी प्लेटो के विचारों के व्यावहारिक पक्ष की उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्लेटो ने तत्कालीन एथेंस में यह अनुभव किया कि शासन-सत्ता न केवल अज्ञानियों के हाथ में थी, प्रत्युत् जो लोग शासन-सत्ताधारी थे वे ऐसे आराम का तथा भ्रष्टतापूर्ण जीवन व्यतीत करने में लीन रहते थे। उन्हें जनसाधारण के उत्थान की चिन्ता नहीं थी। ऐसी स्थिति में विवेक, ज्ञान, पुण्य, नैतिकता आदि का लोप हो चुका था। महिलाओं की स्थिति तो दासों से भी अधिक बुरी थी। उनकी प्रतिभा का लाभ न समाज को प्राप्त हो सकने की कोई स्थिति थी और न ही उन परिस्थितियों में वे अपनी दासता की स्थिति से मुक्ति पा सकने में समर्थ हो सकती थीं। अतः नारी-उत्थान तथा समाज को अव्यवस्था तथा अराजकता की स्थिति से मुक्ति दिलाना प्लेटो के प्रमुख उद्देश्य थे, जिन्हें व्यावहारिक राजनीति की समस्याएँ माना जा सकता है। इनके समाधान के लिए ही उसने साम्यवाद की योजना

रखी थी।

(4) **प्लेटो की शिक्षा योजना स्वप्नलोकी नहीं**—प्लेटो की शिक्षा योजना भी उपर्युक्त प्राथमिक सिद्धान्तों का ही तार्किक निष्कर्ष है। यदि सद्‌गुण ही ज्ञान है तो ज्ञान की भाँति सद्‌गुण भी शिक्षा द्वारा अर्जित किया जा सकता है। ज्ञानवानों तथा सद्‌गुणी व्यक्तियों को ही शासन करना चाहिए तो यह भी आवश्यक है कि जिन लोगों के ऊपर शासन करने का भार सौंपा जाता है उन्हे समुचित शिक्षा तथा प्रशिक्षण प्राप्त होना चाहिए। शिक्षा मे उन समस्त विषयों का समावेश होना चाहिए जो शासकों को दर्शन तथा विज्ञान का ज्ञान करा सकें, क्योंकि प्लेटो यह मानता था कि नगर-राज्यों को उनकी बुराइयों से बचाने का एकमात्र उपाय यही है कि शासकों को दार्शनिक होना चाहिए अथवा उन्हे दर्शन का ज्ञान प्राप्त होना चाहिए।

इस प्रकार प्लेटो के 'रिपब्लिक' के विचार अवश्य कुछ पूर्व-मान्यताओं तथा प्राथमिक सिद्धान्तों से निकाले गये निगमन या निष्कर्ष हैं, परन्तु उनका आधार तत्कालीन ग्रीक नगर-राज्यों की निवर्तमान परिस्थितियाँ थीं, जिनसे प्रभावित होकर ही प्लेटो ने उक्त निष्कर्ष निकाले थे। उसने जिन व्यवस्थाओं को सुझाया था, वे कोरे काल्पनिक आदर्श नही थे, प्रत्युत् उनका किसी न किसी रूप में ग्रीक नगर-राज्यों में अस्तित्व भी था। उदाहरण के लिए, साम्यवाद की व्यवस्था को उसने स्पार्टा के नगर-राज्य में प्रचलित व्यवस्था से ग्रहण किया था। अपने तर्कों के द्वारा उसने उसमें कुछ परिवर्तन किये। इसी प्रकार उसकी शिक्षा व्यवस्था में भी एथेंस तथा स्पार्टा मे प्रचलित शिक्षा व्यवस्थाओ का सम्मिश्रण है। या यों कहना चाहिए कि प्लेटो की शिक्षा व्यवस्था उक्त दोनों नगर-राज्यों में प्रचलित शिक्षा व्यवस्था के ऊपर एक सुधार तथा विस्तार की योजना है। अतएव इसे स्वप्नलोकी व्यवस्था नहीं माना जा सकता।

(5) **रिपब्लिक के थोड़े से विचार ही काल्पनिक, परन्तु उनका उद्‌देश्य व्यावहारिक राजनीति का सुधार**—अन्ततः हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'रिपब्लिक' में वर्णित प्लेटो के विचारों को कोरे काल्पनिक या स्वप्नलोकी विचार मान लेना उचित नहीं होगा। इनमें से कुछों का दार्शनिक आधार उसकी कुछ पूर्व-मान्यताएँ हैं तो शेष उसके दार्शनिक विचारों के तार्किक निष्कर्ष हैं। भले ही उनमें से कुछ व्यवस्थाएँ व्यवहार्य सिद्ध न हों, तथापि तर्क की दृष्टि से उनमें कोई असंगति नहीं रह जाती। यह मानना भी सही नहीं है कि उसके द्वारा व्यक्त सिद्धान्तों का यथार्थ से सम्बन्ध नहीं है। प्लेटो सचमुच में तत्कालीन ग्रीक के नगर-राज्यों की पतितावस्था से प्रभावित था और उसी से उन्हें उबारना उसका प्रधान लक्ष्य था। अतएव जो कुछ उसने कहा वह सब ग्रीस के नगर-राज्यों, विशेषतः एथेंस की राजनीतिक परिस्थितियों, के सुधार के उद्‌देश्य से कहा। जिस आदर्श राज्य की कल्पना उसने की थी वह उसके स्वप्नों का एथेंस का नगर-राज्य था। यदि यह कहा जाये कि एथेंस के नगर-राज्य के लिए वह जिस दार्शनिक राजा की कल्पना करता था वह स्वयं प्लेटो ही था, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। अतः रिपब्लिक को केवल यूटोपिया न कहकर एक ऐसे दार्शनिक की कृति मानना उचित है जो व्यावहारिक राजनीति में विशेष अभिरुचि रखता था।

'स्टेट्समैन' में प्लेटो के राजनीतिक विचार

आदर्श राज्य की व्यावहारिकता पर सन्देह—प्लेटो के राजनीतिक दर्शन की सम्पूर्ण झाँकी उसके रिपब्लिक में मिलती है जिसे उसने अपने जीवन की यौवनावस्था में लिखा था जबकि उसके क्रान्तिकारी मस्तिष्क में चिन्तन की सम्पूर्ण शक्ति विद्यमान थी। राजनीति के जिन आदर्शों का प्रतिपादन उसने इस ग्रन्थ में किया है उसके कारण 'रिपब्लिक समस्त कालों की रचना सिद्ध हुई है क्योंकि इसके सिद्धान्तों की सामान्यता लगभग कालहीन है।' 40 वर्ष की अवस्था में इस ग्रन्थ की रचना पूर्ण कर लेने के बाद प्लेटो को अपनी आधी आयु और बितानी थी। इस अवधि में प्लेटो ने अनुभव किया कि जिस आदर्श राज्य के सिद्धान्त का उसने प्रतिपादन किया है, वह व्यवहार मे सम्भव नहीं होगा। ऐसे दार्शनिक राजाओं को प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं है। अत: जीवन के अन्तिम वर्षों में प्लेटो ने स्टेट्समैन तथा लॉज ग्रन्थों की रचना की। इन ग्रन्थों में उसने अपने जिन राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, वे वास्तव मे रिपब्लिक के सामान्य सिद्धान्तों पर ही आधारित हैं, परन्तु उनमें न तो वह काव्यगत प्रतिभा है और न ही विचारों की ऐसी क्रान्तिकारिता है, जो कि उसके रिपब्लिक को अमर बनाने में सहायक सिद्ध हुई है। राज्य सम्बन्धी अनेक धारणाओं के सम्बन्ध में उसने अपने विचारों को परिवर्तित किया है, ताकि यदि आदर्श राज्य की उपलब्धि न भी हो सके तो कम से कम आदर्श राज्य के सिद्धान्तों के आधार पर द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य की स्थापना सम्भव हो सके। रिपब्लिक में प्लेटो विवेक के शासन को सर्वोच्च व्यवस्था मानकर दार्शनिक राजा को कानून के बन्धन से मुक्त रखता है। जब उसे अनुभव हुआ कि ऐसे दार्शनिक शासक की उपलब्धि सम्भव नहीं होगी, तब उसने तत्कालीन ग्रीक परम्परा के अनुसार कानून की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को अपनाया। अत: स्टेट्समैन तथा लॉज नामक ग्रन्थों में प्लेटो ज्ञान तथा दर्शन के स्थान पर 'कानून की महत्ता' को चित्रित करता है। परन्तु ज्ञान या विवेक की सर्वोच्चता को अब भी मानते हुए उसका निष्कर्ष था कि कानून ज्ञान की उपज है। इसलिए कानून की सर्वोच्चता के आधार पर शासित राज्य व्यक्ति द्वारा शासित राज्य से श्रेष्ठ होगा।

रिपब्लिक के दार्शनिक राजा तथा स्टेट्समैन के राजनेता के मध्य सैद्धान्तिक सादृश्य—स्टेट्समैन में रिपब्लिक के दार्शनिक राजा का स्थान राजनेता लेता है जो एक ज्ञानी कलाकार है। सैबाइन के शब्दों में, 'रिपब्लिक में यह माना गया था कि राजनेता एक कलाकार है जिसे शासन करने का अधिकार इसलिए है कि वही जानता है कि सत् क्या है। स्टेट्समैन में इस प्रश्न की विवेचना करते हुए रिपब्लिक की मान्यता को विस्तृत रूप से परिभाषित किया गया है।' इसमें प्लेटो ने यह दर्शाया है कि शासन का वह रूप सर्वोत्तम है जिसमें शासक वास्तव में ज्ञानवान् होते हैं, चाहे वे कानून के अनुसार शासन करें अथवा उसके बिना और चाहे प्रजाजन उन्हें चाहें न चाहें। इस ग्रन्थ में प्लेटो लोकतन्त्र के प्रति उतना अधिक विरोध रखता प्रतीत नहीं होता जितना उसने रिपब्लिक में किया है। परन्तु वह अविशेषज्ञों द्वारा शासन करने की धारणा का विरोध पूर्ववत् करता है। उसके मत से राजनीतिक जननेता (political demagogues) यह दावा कर सकते हैं कि वे सार्वजनिक विषयों के शासन करने की 'कला' से भिज्ञ हैं, परन्तु एक राजनेता अपने 'ज्ञान' के

कारण ऐसी जानकारी रखता है। उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह कानून का सदा अनुसरण करे। यह बात उसकी इच्छा तथा विवेक पर निर्भर करती है कि कब तक तथा किस सीमा तक कानून का अनुसरण किया जाये। इस दृष्टि से रिपब्लिक के संरक्षक-वर्ग तथा स्टेट्समैन के राजनेता द्वारा कानून के बन्धन से मुक्त रहकर राज्य का शासन करना सर्वोत्तम व्यवस्था मानने में प्लेटो का दृष्टिकोण पूर्ववत् है। साथ ही स्टेट्समैन में भी प्लेटो ज्ञान को कानून से उच्च मानता है और शिक्षा को राज्य का प्रधान कर्त्तव्य मानता है। इन दृष्टियों से रिपब्लिक के रहते स्टेट्समैन का बहुत महत्त्व नहीं है।

कानून की सर्वोच्चता के आधार पर यथार्थ राज्यों का वर्गीकरण—स्टेट्समैन में प्लेटो वास्तविक व्यवहार में कानून तथा शासन की समस्याओं को व्यक्त करते हुए राज्यों का वर्गीकरण करता है। वह यह मानता है कि इस संसार के यथार्थ राज्यों में आदर्श राजनेताओं तथा दार्शनिक राजाओं का मिल सकना कठिन है। अतः विभिन्न राज्यों में उनकी परिस्थितियों के आधार पर सर्वोत्तम सम्भव व्यवस्था का निरूपण करना आवश्यक है। इसलिए प्लेटो कानून के बन्धन से मुक्त आदर्श राज्य की शासन व्यवस्था की व्यावहारिकता से विश्वास हटा लेता है, और अब वह कानून के महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए राज्यों का वर्गीकरण करता है। वह अब यह मानता है कि कानून का बन्धन ज्ञानहीन शासकों को उचित मार्ग पर लाने के लिए आवश्यक है। दूसरी नई धारणा यह है कि लोकतन्त्र इतनी बुरी शासन-व्यवस्था नहीं, जितनी कि रिपब्लिक में बताई गई थी। स्टेट्समैन मे भी प्लेटो यह मानता है कि आदर्श-राज्य पूर्णता प्राप्त होता है, और संसार की समस्त अन्य राज्य-व्यवस्थाएँ अपूर्णता से युक्त हैं। उन्हें दो श्रेणियों में रखा गया है; प्रथम के अन्तर्गत कानून के अनुसार शासित राज्यों को, और द्वितीय के अन्तर्गत कानून-विहीन राज्यों को।

स्टेट्समैन में राज्यों का वर्गीकरण

(1) **आदर्श राज्य**—जैसा रिपब्लिक में चित्रित किया गया है।
(2) **यथार्थ राज्य**—इनमें से प्रत्येक के दो रूप हैं :

कानून द्वारा शासित	कानून-विहीन
1. राजतन्त्र—एक व्यक्ति का शासन (सर्वोत्तम)	1. अत्याचारी-तन्त्र—एक व्यक्ति का शासन (निकृष्टतम)
2. कुलीनतन्त्र—थोड़े से व्यक्तियों का शासन (द्वितीय सर्वश्रेष्ठ)	2. वर्गतन्त्र—थोड़े से व्यक्तियों का शासन (अत्याचारी-तन्त्र से श्रेष्ठतर)
3. वैधानिक लोकतन्त्र—बहुत से लोगों का संयमित शासन (कानून-विहीन राज्यों से उच्चतर परन्तु कानून द्वारा शासित राज्यों में निकृष्टतर)	3. अवैधानिक लोकतन्त्र—बहुत से लोगों का स्वेच्छाचारी शासन (अत्याचारी-तन्त्र तथा वर्गतन्त्र से उच्चतर परन्तु कानून द्वारा शासित राज्यों से निकृष्टतर)

रिपब्लिक में शासनों का जो वर्गीकरण तथा उनका परिवर्तन चक्र प्लेटो ने माना था, अब वह उसे नहीं मानता। रिपब्लिक में शीर्षस्थ आदर्श राज्य

था, उसका विकृत रूप धनिकतन्त्र (timocracy), धनिकतन्त्र का विकृत रूप वर्गतन्त्र (oligarchy), वर्गतन्त्र का विकृत रूप लोकतन्त्र, और लोकतन्त्र का विकृत रूप अत्याचारी-तन्त्र (tyranny)। इस प्रकार लोकतन्त्र को वह अत्याचारी-तन्त्र के ऊपर तथा अन्य रूपों से हीनतर स्थिति प्रदान करता था।

स्टेट्समैन में राज्यों के वर्गीकरण को दो रूपों में लिया गया है। प्रथम के अन्तर्गत आदर्श राज्य है, जिसका रूप रिपब्लिक का आदर्श-राज्य है। दूसरी श्रेणी में वह संसार के यथार्थ राज्यों को रखता है। यथार्थ राज्यों का वर्गीकरण दो श्रेणियों में किया गया है—कानून द्वारा शासित राज्य तथा कानून के बिना शासित राज्य। यह वर्गीकरण पिछले पृष्ठ पर दी गई सारणी द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।

लोकतन्त्र निकृष्ट शासन नहीं—यथार्थ राज्यों के उपर्युक्त वर्गीकरण के अन्तर्गत कानून द्वारा शासित राज्यों में शासन की निदेशात्मक शक्ति कानून द्वारा अभिव्यक्त ज्ञान को माना गया है। इसके विपरीत कानून-विहीन राज्यों में शासन की निदेशात्मक शक्ति स्वेच्छाचारिता होती है, जिसके ऊपर कानून का कोई भी प्रतिबन्ध नहीं रहता। इस वर्गीकरण की एक विशेषता यह है कि प्लेटो अब लोकतन्त्र को बहुत निकृष्ट नहीं मानता। कम से कम उसने लोकतन्त्र के जिन दो रूपों को माना है वे अत्याचारीतन्त्र और वर्गतन्त्र से उत्तम हैं। प्लेटो के राज्यों के इस वर्गीकरण ने बाद में अरस्तू के राज्यों के वर्गीकरण का आधार प्रस्तुत किया। अरस्तू ने कानून-युक्त तथा कानून-विहीन राज्यों को सामान्य तथा विकृत रूपों में वर्गीकृत किया। परन्तु प्लेटो के इस वर्गीकरण में एक विशेषता यह है कि वह अब यह मानता है कि जिन यथार्थ राज्यों में व्यक्ति पूर्णत्व को प्राप्त नहीं हुए हैं, वहाँ कानून के अनुसार शासन करना ही राज्य के लिए हितकर चीज है। साथ ही स्टेट्समैन के इस वर्गीकरण ने प्लेटो के लॉज नामक ग्रंथ में द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य की धारणा व्यक्त करने का आधार भी प्रस्तुत किया है। द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य का सिद्धान्त कानून द्वारा शासित राजतन्त्र तथा लोकतन्त्र के तत्त्वों का सम्मिश्रण है। यहाँ पर प्लेटो ने कानून द्वारा शासित लोकतन्त्र को कानून-विहीन राज्यों से उच्चतर माना है। यद्यपि प्लेटो अब भी ज्ञान तथा विवेक द्वारा शासित राज्य-व्यवस्था की सर्वोत्कृष्टता को स्वीकार करता है, तथापि रिपब्लिक में जिस आदर्श व्यवस्था के प्रति उसकी आकांक्षा बनी हुई थी, उसमें वह पर्याप्त ढील देता है।

इस दृष्टि से स्टेट्समैन की रचना करते हुए प्लेटो की विचारधारा में स्वप्नलोकी आदर्शवादिता में कुछ कमी आने लग गई और वह यथार्थवादिता की ओर उन्मुख होने लगा। इसका कारण यह था कि प्लेटो यह अनुभव करने लगा कि नगर-राज्यों की गिरती हुई दशा को सुधारने के लिए उसकी आदर्शवादी व्यवस्था व्यावहारिक सिद्ध नहीं हो सकेगी। अतः आदर्श राज्य के सिद्धान्तों के आधार पर यथार्थ राज्यों के लिए कुछ व्यावहारिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाना आवश्यक है। स्टेट्समैन की रचना के बाद प्लेटो लॉज की रचना करने बैठा। उस समय तक उसके विचारों में और अधिक उदारता आ चुकी थी। परन्तु इनसे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि प्लेटो के विचार पूर्णतया परिवर्तित हो गये थे। प्रत्युत्, उसने अपने आदर्शवाद के सिद्धान्त को बहुत कुछ यथार्थवादी रूप प्रदान करने की चेष्टा की। परिणामस्वरूप उसकी बाद की इन रचनाओं ने भविष्य के राजनीतिक चिन्तकों को अधिक प्रभावित किया।

'लॉज' में प्लेटो के राजनीतिक विचार

रिपब्लिक प्लेटो के युवावस्था के क्रान्तिकारी चरमोत्कर्ष के काल की रचना है जिसमें प्लेटो की सम्पूर्ण प्रतिभा परिलक्षित होती है। इस ग्रन्थ में प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य के विचारों को एक क्रमबद्ध दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया है। उसके पश्चात् सिराक्यूज के अत्याचारी शासक डायोनीसियस द्वितीय के प्रशिक्षण का उसे आमन्त्रण मिला। प्लेटो की आकांक्षा थी कि वह डायोनीसियस को अपने रिपब्लिक में चित्रित दार्शनिक राजा के रूप में परिवर्तित करके सिराक्यूज में अपने आदर्श राज्य की धारणा को साकार करेगा। परन्तु वहाँ प्लेटो को भारी असफलता का सामना करना पड़ा। वह डायोनीसियस को परिवर्तित नहीं कर सका। उसे निराश होकर वापस आना पड़ा। रिपब्लिक की रचना के उपरान्त 30 वर्ष की अवधि में प्लेटो ने अनुभव किया कि मानवों का विवेक-स्तर इतना विकसित नहीं है कि उसके स्वप्नों का दार्शनिक राजा उनके मध्य उपलब्ध हो सकेगा। अत: दार्शनिक राजा के अभाव में यदि राज्य का शासन 'कानून' की सर्वोच्च शक्ति के अधीन संचालित होगा तो वह आदर्श राज्य के स्थान पर द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य (the second best state) का स्थान ले सकेगा। अतएव अपने जीवन के अन्तिम दस वर्षों में प्लेटो ने लॉज (जिसका शाब्दिक अर्थ कानून है) नाम से अपना ग्रन्थ लिखना प्रारम्भ किया। इसमें ज्ञान के शासन के स्थान पर कानून के शासन का सिद्धान्त अपनाया गया है। प्लेटो की यह कृति उसके जीवन-काल में पूर्ण नहीं हो सकी थी। अत: उसके शिष्यों ने उसे पूरा किया। बार्कर का मत है कि इसलिए लॉज में अनेक स्थलों पर असंगतियाँ आ गई हैं, क्योंकि प्लेटो के शिष्य अपने गुरु की धारणा को उसकी भावना के सही परिपेक्ष्य में प्रस्तुत नहीं कर पाये।[1] वृद्धावस्था में रचे इस ग्रन्थ में रिपब्लिक के समान न तो साहित्यिक सौन्दर्य है, और न प्लेटो के क्रान्तिकारी विचारों का दर्शन उसमें होता है। फिर भी प्लेटो के रिपब्लिक में व्यक्त अनेक विचारों की छाप लॉज में स्पष्ट है। प्लेटो अब भी यह मानता रहा कि सर्वोत्तम राज्य-व्यवस्था तो रिपब्लिक में वर्णित आदर्श-राज्य की ही है। परन्तु उसके लिए समुचित साधनों के अभाव में द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य (the second best state) स्थापित किया जा सकता है जिसका विवेचन उसने लॉज नामक ग्रन्थ में किया है।

लॉज का दार्शनिक आधार

रिपब्लिक में प्लेटो अपने न्याय सिद्धान्त के आधार पर राज्य की उत्पत्ति, उसके स्वरूप, उद्देश्य तथा रचना का विवेचन करता है। वह सद्‌गुण को ज्ञान मानकर चलता है और मानव-आत्मा में सद्‌गुण के चारों तत्वों—ज्ञान, उत्साह, आत्म-संयम तथा न्याय—में से न्याय को राज्य-निर्माण का कारण मानता है। परन्तु लॉज में प्लेटो न्याय के स्थान पर आत्म-संयम के तत्त्व को प्रमुखता देता है। रिपब्लिक में प्लेटो आदर्श राज्य का चित्रण करता है जिसका आधार न्याय, कार्य-विभाजन का सिद्धान्त तथा कार्यों का विशिष्टीकरण है। आदर्श राज्य का शासन

[1] Barker, *op. cit.*, 338.

दार्शनिक राजा द्वारा किया जाएगा। अतः उसमें ज्ञान का शासन विद्यमान रहेगा। परन्तु लॉज में आत्म-संयम न्याय का स्थान लेता है जिसका अर्थ है 'विवेक तथा तृष्णा-तत्वों का स्वतन्त्र समागम' (a free concord of appetite with reason)। प्लेटो यह मानकर चलता है कि आत्म-संयम तथा न्याय एक-दूसरे के सहचारी हैं। रिपब्लिक में न्याय को आत्म-संयम से उच्चता की स्थिति में रखा गया है। परन्तु लॉज में आत्म-संयम उच्चता की स्थिति प्राप्त कर लेता है। सैबाइन ने इसे 'विधि का स्वर्ण-तार' (golden cord of law) कहा है। इसी से विवेक की उत्पत्ति होती है और विवेक इसी पर निर्भर रहता है। यही बात उत्साह तथा न्याय के सम्बन्ध में भी है। सैबाइन के अनुसार, 'लॉज में वर्णित राज्य के अन्तर्गत विवेक का कानून के रूप में रवीकरण (crystalisation) कर दिया गया है;....परिणाम-स्वरूप ऐसे राज्य में सर्वोच्च सद्गुण आत्म-संयम है जिसका अर्थ है कानून-पालन का व्यवहार, अथवा राज्य की संस्थाओं के प्रति सम्मान की भावना तथा उसकी कानूनी शक्तियों के समक्ष आधीनता की स्वीकारोक्ति।'[1]

कानून सिद्धान्त (The Theory of Law)

(1) **कानून मानव के अतीतकालीन विवेक तथा अनुभवों का समावेश करते हैं**—लॉज ग्रन्थ मे दार्शनिक राजा की सम्प्रभुता के स्थान पर कानून की सम्प्रभुता का सिद्धान्त अपनाया गया है। कानून की परिभाषा जिस रूप में ग्रीक विचारकों ने तथा प्लेटो ने की है वह आधुनिक विधिशास्त्रियों की परिभाषा से भिन्न प्रकृति की है। प्लेटो के अनुसार, 'कानून सभ्यता है, यह उन तमाम युगों में शनैः शनैः संचित की गई उपलब्धि है, जिनमें मानव पशुत्व से मानवता की ओर विकसित हुआ है; यह मानवता का विशिष्ट चिह्न है।' इस परिभाषा को दूसरे शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि 'कानून अतीत काल के व्यावहारिक विवेक तथा अनुभव को समाविष्ट करता है।'[2] प्लेटो कानून तथा नैतिकता में भेद नहीं करता। कानून केवल व्यक्ति के बाह्य आचरण को ही नियन्त्रित नहीं करता अपितु उसकी अन्तरात्मा को भी प्रभावित करता है। यह व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को नियमित करता है। उसका आधार सामाजिक व्यवहार के प्राथमिक सिद्धान्तों का वैज्ञानिक अध्ययन है।

(2) **कानून की उत्पत्ति सभ्य सामाजिक जीवन के विकास के साथ-साथ हुई**—जब मानव परिवारों के रूप में रहने लगे तो उनके विविध रीति-रिवाजों के मध्य विवादों को दूर करने के लिए विधायकों की आवश्यकता हुई, जोकि समुचित नियमों का चयन तथा निर्माण करके उनके मध्य सामंजस्य स्थापित करते थे। युद्ध, अकाल, आर्थिक परिस्थितियों आदि के आधार पर भी अवसरवशात् कानून बनते हैं।

(3) **सभ्य सामाजिक जीवन के लिए कानून आवश्यक**—कानून की

[1] 'In the state of the *Laws* wisdom is crystallized in the law; consequently the supreme virtue in such a state is temperance or self-control, which means a law-abiding disposition or a spirit of respect towards the institutions of the state and readiness to subordinate oneself to its lawful powers.' —Sabine, *op. cit.*, 77.

[2] 'Law embodies the practical wisdom and experience of the past.'

आवश्यकता इसलिए होती है कि व्यक्ति में सामाजिक जीवन की उत्तमता का ज्ञान करने की क्षमता नहीं होती, अथवा व्यक्ति सामाजिक जीवन की उत्तमता के हित में आचरण करने को इच्छुक नहीं रहते। कानून मानव के मन तथा विवेक की उपज है। यह मानव जीवन के समस्त व्यापारों का नियमन करता है, यहाँ तक कि जन्म तथा मरण की संस्कार-क्रियाएँ भी कानून के अनुकूल ही होती हैं। कानून के पीछे सामूहिक शक्ति होती है, अतः समाज के जीवन के लिए कानून की आवश्यकता है। यद्यपि प्लेटो विवेक को सर्वोच्च मानता है, परन्तु सच्चे विवेकशील व्यक्ति के अभाव में वह कानून को आवश्यक समझता है क्योंकि कानून स्वयं विवेक की उपज है।

(4) **कानून विभिन्न मानवीय सद्गुणों के मध्य सामंजस्य स्थापित करने का साधन**—यद्यपि प्लेटो लॉज में भी सर्वोत्तम व्यवस्था आदर्श राज्य की ही मानता है, जिसमें विवेक की सर्वोच्चता रहती है, तथापि उसके अभाव में द्वितीय सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था वह है जिसमें कानून की सर्वोच्चता रहती है। ऐसा राज्य यथार्थ राज्यों से उच्चतर होता है। उसमें सरकार सम्प्रभु कानून के अधीन रहती है, न कि कानून सरकार के अधीन। यदि कानून की सम्प्रभुता नहीं रहेगी तो न्याय नहीं रहेगा। ऐसे राज्य में 'न्याय शक्तिशाली का हित' हो जायेगा। अतः प्लेटो राज्य के लिए मौलिक कानून के अस्तित्व की कल्पना करता है, जिसका पालन शासक तथा शासित दोनों को करना चाहिए। ऐसे मौलिक कानून को परिवर्तित करने का अधिकार सरकार को नहीं होना चाहिए। यदि परिवर्तन आवश्यक ही हो तो समस्त जनता की इच्छा से उसे सम्पन्न किया जाये। इस सम्बन्ध में प्लेटो कानून की प्रस्तावना (preamble) की आवश्यकता पर बल देता है जो आत्म-संयम की धारणा पर निर्मित हो। बार्कर के मत से 'कानून विवेक की अभिव्यक्ति है और चूँकि विवेक सम्प्रभु होता है, अतः कानून को भी सर्वोच्च आदेश देने वाला होना चाहिए। परन्तु कानून के द्वारा आत्म-संयम के गुण की भी अभिव्यक्ति होती है और आत्म-संयम विवेक तथा तृष्णा के मध्य सामंजस्य स्थापित करता है, इसलिए कानून की प्रस्तावना का उद्देश्य भी ऐसा सामंजस्य स्थापित करना होना चाहिए।'[1]

(5) **लॉज में कानून तथा दण्ड-व्यवस्था के मध्य सम्बन्ध स्थापित**—लॉज में प्लेटो ने कानून के संहिताकरण की भी व्यवस्था की है। यह व्यवस्था इंग्लैण्ड के उपयोगितावादी विचारक बेंथम की भाँति है। प्लेटो ने अपराधों तथा उनके हेतु दण्ड-व्यवस्था का भी विवेचन किया है। वह अपराध को मानसिक रोग का प्रतिफल मानता है। अतः वह दण्ड का उद्देश्य अपराधी का मानसिक उपचार करना मानता है। उसकी दृष्टि से कानून सामाजिक बुराइयों को दूर करने वाले होने चाहिए। सामाजिक बुराइयाँ शिक्षा के द्वारा दूर की जा सकती हैं। कानून का उद्देश्य केवल दण्ड देना ही नहीं होना चाहिए, बल्कि व्यक्तियों को स्वस्थ सामाजिक आचरण का प्रशिक्षण देना भी होना चाहिए। दण्ड का उद्देश्य अपराधी को हानि पहुँचाना मात्र नहीं होना चाहिए, बल्कि उसे उत्तम सामाजिक प्राणी बनाना भी होना चाहिए। घोर अपराधों के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था भी बताई गई है। राजद्रोह, सार्वजनिक सम्पत्ति की चोरी, मजिस्ट्रेटों के दुराचरण, घूसखोरी, न्यायालयों की निन्दा आदि जघन्य अपराधों के लिए मृत्यु-दण्ड तक की व्यवस्था बताई गई है।

[1] Barker, *op. cit.*, 353.

मैक्सी ने इसलिए प्लेटो को एथेंस का प्रथम विधि-दाता कहा है।

(6) **कानून का उद्देश्य समानता तथा निष्पक्षता**—प्लेटो का एक प्राकृतिक शाश्वत-कानून के अस्तित्व पर भी विश्वास था। कानून के स्वरूप तथा उद्देश्य के सम्बन्ध में प्लेटो उसे सार्वभौम, विवेक पर आधारित तथा निष्पक्ष स्वरूप देता है। उसका आधार शिक्षा तथा नैतिकता होना चाहिए न कि बल-प्रवर्ती शक्ति। कानून सबके लिए समान होना चाहिए। उसका उद्देश्य शान्ति-स्थापना हो, न कि युद्ध। उसमें जातिगत भेद-भाव की धारणा न हो। वह सबको समान न्याय प्रदान करने वाला हो, उसकी सत्ता सर्वोच्च हो।

राज्य का सिद्धान्त (मिश्रित राज्य)

लॉज प्लेटो के विचारों का व्यावहारिक पक्ष है—लॉज का मुख्य उद्देश्य एक यथार्थ जनसमूह (राज्य) के निमित्त सामाजिक, आर्थिक एवं प्रशासनिक संगठन के लिए ऐसी सामान्य सांविधानिक पद्धति के नियमों का विवरण प्रस्तुत करना था जो कि रिपब्लिक में दर्शाये गए आदर्श से अधिकाधिक समीप्य रखें। प्लेटो के रिपब्लिक में वर्णित राज्य का स्वरूप आदर्शात्मक अथच स्वप्नलोकी था, परन्तु लॉज में जिस राज्य का चित्र प्रस्तुत किया गया है वह प्लेटो के दार्शनिक विचारों का व्यावहारिक पक्ष कहा जा सकता है। इसके निम्नलिखित आधार हैं—

(1) **लॉज में चित्रित राज्य व्यवस्था राजतन्त्र तथा लोकतन्त्र का सम्मिश्रण**—रिपब्लिक का आदर्श-राज्य ज्ञान द्वारा शासित होता, अतः वह दार्शनिक राजा का राजतन्त्र है। परन्तु लॉज में वर्णित राज्य द्वितीय सर्वश्रेष्ठ है, जिसका शासन कानून की सम्प्रभुता पर आधारित होगा। इसमें आत्म-संयम का सिद्धान्त विवेक तथा तृष्णा तत्त्वों के मध्य सामंजस्य स्थापित करेगा, जिसका अभिप्राय है राजतन्त्र तथा लोकतन्त्र का सम्मिश्रण। इस प्रकार अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में प्लेटो के राजनीतिक विचारों में कानून पर आधारित मिश्रित राज्य के सिद्धान्त की प्रमुख धारणा रही है। परन्तु यह भी स्मरणीय है कि लॉज में प्लेटो अपने रिपब्लिक के मूलभूत सिद्धान्तों से पूर्णतया विमुख नहीं हो जाता। अतः लॉज की राज्य-व्यवस्था आदर्श तथा यथार्थ का मध्यम मार्ग सिद्ध होता है। लॉज की राज्य-व्यवस्था में शासक कानून से अप्रतिबन्धित राज्य का संरक्षक होने की अपेक्षा कानून के अधीन रहते हुए कानून का संरक्षक रहता है।

(2) **विशेषीकरण के आधार पर कार्य-विभाजन के कठोर सिद्धान्त तथा साम्यवाद की धारणाओं का परित्याग**—द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य में न्याय का स्थान आत्म-संयम ले लेता है, अतः आदर्श राज्य के अनेक सिद्धान्तों का परित्याग किया गया है। ऐसे राज्य में न तो कार्य विभाजन तथा कार्यों के विशेषीकरण को बल दिया गया है और न संरक्षक वर्ग के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा परिवार रखने का प्रतिबन्ध है। इसमें संरक्षक तथा शासक वर्गों को राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक अधिकार प्राप्त हो जाते हैं, साथ ही उत्पादकों को भी शासकों को चुनने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार मिश्रित राज्य में राजतन्त्र के विवेकमूलक तथा लोकतन्त्र के स्वतन्त्रतामूलक सिद्धान्तों का सम्मिश्रण है।[1] यह सिद्धान्त एक प्रकार

[1] 'The mixed state sketched in the *Laws* is said to be a combination of the monarchic principle of wisdom with the democratic principle of freedom.' —Sabine, *op. cit.*, 78.

से शक्ति-पृथक्करण तथा शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त का पूर्वगामी है जिसका पूर्ण विकास बाद में मॉण्टेस्क्यू ने किया था।

(3) **लॉज में वर्णित मिश्रित राज्य की धारणा ऐतिहासिक आधार पर वास्तविक राज्यों के दृष्टान्तों द्वारा व्यक्त**—मिश्रित राज्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने में प्लेटो दार्शनिक इतिहास का सहारा लेता है कि किस प्रकार राजनीतिक समाजों के उत्थान तथा पतन को ऐतिहासिक घटना-क्रम प्रभावित करते हैं। यद्यपि उसका ऐसा ऐतिहासिक विवेचन अस्पष्ट है। तो भी वह आदर्श राज्य की विश्लेपणात्मक तथा निगमनात्मक पद्धति से अधिक लाभकारी है। राजनीतिक समाजों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्लेटो रूसो की भाँति प्राकृतिक स्थिति के जीवन की कल्पना करता है, और अरस्तू की भाँति परिवारों तथा ग्रामों के मध्य एकता स्थापित करने हेतु राजनेताओं की उत्पत्ति होने के तथ्य को दर्शाता है। परन्तु मिश्रित राज्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने में उसका यह ऐतिहासिक विवेचन अपूर्ण तथा अस्पष्ट है। वह एथेंस के लोकतन्त्र तथा स्पार्टा के सैनिक वर्गतन्त्रों तथा परसिया के अत्याचारी राजतन्त्र की बुराइयों को दर्शाता है कि उनमें अप्रतिबन्धित स्वतन्त्रता, अज्ञान तथा स्वेच्छाचारिता राज्यों के नष्ट होने के कारण थे। अतः वह राज्यों के स्थायित्व के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है कि यदि उनमें राजतन्त्र न हो तो कम से कम राजतन्त्रीय सिद्धान्त अवश्य अपनाया जाय जिसका अर्थ है कानून के अधीन विद्वानों के शासन का सिद्धान्त। इसी प्रकार यदि उनमें लोकतन्त्र न हो तो कम से कम जनता द्वारा शासन-सत्ता में भाग लेने तथा जनता की स्वतन्त्रता के लोकतन्त्री सिद्धान्त को अपनाया जाय। निस्सन्देह ऐसी स्वतन्त्रता कानून के अधीन ही रहेगी।[1]

(4) **लॉज में वर्णित द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य के निमित्त प्लेटो राज्य की भौतिक आवश्यकताओं को दर्शाता है**—मिश्रित राज्य की अन्य आवश्यकताओं के अन्तर्गत उसकी भौगोलिक परिस्थिति, जनसंख्या, संस्कृति आदि के बारे में भी प्लेटो ने विवेचन किया है। वह कृषि अर्थव्यवस्था वाले जनसमुदाय (agricultural community) का विवेचन करता है। राज्य की जनसंख्या इतनी हो कि आत्मनिर्भरता बनी रहे। वह राज्य का समुद्र के समीप होना उपयुक्त नहीं मानता क्योंकि वह विदेशी व्यापार अथच जहाजरानी के विकास का द्योतक है। इस सम्बन्ध में भी प्लेटो एथेंस के लोकतन्त्र तथा स्पार्टा के सैनिकतन्त्र के दोषों से प्रभावित था। जनसमुदाय के लिए भाषा, जाति, कानून तथा धर्म की समानता की आवश्यकता को भी वह महत्त्व देता है।

सामाजिक तथा आर्थिक संरचना (परिवार तथा सम्पत्ति)

लॉज में सामाजिक सम्बन्धों का निरूपण करते हुए प्लेटो न तो रिपब्लिक के सिद्धान्तों का पूर्ण अनुगमन करता है और न परित्याग। वह राज्य के कार्य-कलापों में स्त्री-पुरुषों के समान भाग लेने के सिद्धान्त को मानता है। परन्तु जैसा बार्कर ने कहा है, 'महिलाओं को पुरुषों के समान ही शिक्षा देने तथा राज्य के कार्यों में समान कार्य करने के सिद्धान्त को तो वह पूर्णतया अपनाता है, इसके विपरीत वह इस सिद्धान्त का परित्याग करता है कि राज्य एक परिवार हो और पत्नियाँ तथा बच्चे

[1] *Ibid.*, 79.

सम्पूर्ण समाज के हों।'[1] पुरुष तथा महिलाओं की समान शिक्षा-दीक्षा, राज्य के पदों में समानता के आधार पर उनकी नियुक्ति, यहाँ तक कि सैनिक सेवा में भी महिलाओं के पुरुषों के समान कार्य-भाग पर प्लेटो का विश्वास बना हुआ था। परन्तु चाहे महिलाओं के इन अधिकारों का प्लेटो ने समर्थन किया है, फिर भी उसकी लॉज की व्यवस्था के अन्तर्गत महिलाएँ राज्य के केवल उन्हीं पदों पर नियुक्त की जानी बतायी गयी हैं जिनका सम्बन्ध पारिवारिक जीवन से है, यथा विवाहों का अधीक्षण, दम्पति का अधीक्षण आदि।

लॉज में प्लेटो वैयक्तिक विवाह की सहमति देता है। परन्तु फिर भी वह इन्हें अत्यधिक नियन्त्रित करने का सुझाव रखता है। विवाह सम्बन्ध के निर्धारण में सार्वजनिक उत्सवों के अवसर पर किशोर तथा किशोरियों को अपना साथी छाँटने की व्यवस्था बतायी गयी है। विवाह के पश्चात् दस वर्ष तक दम्पति के जीवन में राज्य के अधीक्षकों का नियन्त्रण रहेगा। विवाह का उद्देश्य राज्य की सेवा के लिए सन्तान पैदा करना है। सन्तानोत्पत्ति पर राज्य का नियन्त्रण रहेगा। विवाह भोग-विलास तथा काम-इच्छा की तृप्ति का साधन नहीं है। उत्तम सन्तान पैदा करने के उद्देश्य से प्लेटो पति-पत्नी के चयन में परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों से युक्त दम्पति को उचित समझता है। विवाह को वह अब आवश्यक ही नहीं मानता बल्कि अनिवार्य भी मानता है। 35 वर्ष की अवस्था के उपरान्त अविवाहित रहने वालों के लिए दण्ड की व्यवस्था बतायी गयी है। बार्कर का कथन है कि 'समूचे रूप में विवाह के बारे में प्लेटो का दृष्टिकोण केवल भौतिक नहीं है। इसका नैतिक तथा धार्मिक पहलू भी है। यदि इसमें कोई भी कमी है तो वह यही कि प्लेटो लॉज में बार-बार विवाह के ऊपर असम्भव प्रकृति के अधीक्षण (impossible supervision) की बात कहता है, जो स्वयं उसकी बड़ी भूल है।'[2] वैवाहिक जीवन के नियन्त्रणात्मक पक्ष के सम्बन्ध में प्लेटो की चाहे भूल रही हो, क्योंकि उसके द्वारा बताये गये नियन्त्रण सही रूप में लागू करना कठिन होगा, परन्तु इस सम्बन्ध में जिन भौतिक एवं नैतिक सिद्धान्तों का लक्ष्य रखा गया है, वे पर्याप्त महत्त्व के हैं। महिलाओं की सामाजिक जीवन में पूर्ण स्वतन्त्रता की बात का समर्थन करना प्लेटो की राजनीतिक क्षेत्र में उदारवाद की नीति का सर्वोत्तम नमूना है।

मिश्रित राज्य का सिद्धान्त (एकतन्त्र तथा लोकतन्त्र का मिश्रण) सामाजिक तथा आर्थिक संगठन के बारे में भी लागू होता है। प्लेटो ने सुझाव दिया है कि विवाह परस्पर भिन्न प्रकृति तथा वर्गों के मध्य होने चाहिए। सम्पत्ति में व्यक्तिगत स्वामित्व एवं सार्वजनिक नियन्त्रण के तत्त्वों का मिश्रण होना चाहिए। धनी तथा गरीब दोनों वर्ग अपनी सम्पत्ति का मिलकर उपभोग करें। लॉज में प्लेटो रिपब्लिक के सम्पत्ति सम्बन्धी साम्यवाद की धारणा का भी परित्याग करता है। द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य में वह संरक्षक वर्ग के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा परिवार को आवश्यक मानता है। इस प्रकार वह राज्य में 5040 नागरिकों[3] की कल्पना करता

[1] Barker, *op. cit.*, 379.
[2] *Ibid.*, 382.
[3] नागरिक शब्द से प्लेटो का अभिप्राय केवल परिवार के मुख्य पुरुष से है। उसका नागरिक आधुनिक लोकतन्त्री राज्यों की भाँति व्यापक अर्थ में नहीं आता। दास वर्ग इस श्रेणी में नहीं था और विदेशी भी इस श्रेणी में नहीं आते।

है। अतः वह सम्पूर्ण सम्पत्ति के 5040 समान खण्ड करके मौलिक रूप में प्रत्येक नागरिक को एक खण्ड देना चाहता है। परन्तु नागरिकों को यह भी ध्यान रखना है कि इन खण्डों में समूचे समाज का भी अधिकार है। यह 5040 मूल भूमि-खण्ड अदेय एवं अविभाज्य हैं। प्लेटो जनसंख्या की वृद्धि पर नियन्त्रण रखना चाहता है। निःसन्तान नागरिक दूसरों के बच्चों को गोद ले सकेंगे। चल सम्पत्ति पर ऐसा नियन्त्रण सम्भव नहीं है। यदि नागरिक ऐसी सम्पत्ति के अर्जन द्वारा सम्पत्ति को बढ़ाते हैं तो समूची चल तथा अचल सम्पत्ति की मात्रा बढ़ जायेगी। अतः प्लेटो मौलिक खण्डों से चौगुनी तक सम्पत्ति रखने का अधिकार नागरिकों को देता है। इस प्रकार राज्य में एक, दो, तीन तथा चार गुने खण्डों के मालिक चार श्रेणी के नागरिकों में विभक्त हो जायेंगे। चार गुने से अधिक की सम्पत्ति राज्य की हो जाएगी उस पर व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं रह सकता। अब भूमि जोतने का कार्य सामूहिक नही होगा।

अर्थव्यवस्था के नियमन हेतु प्लेटो अनेक नियन्त्रणों को भी बताता है। नागरिकों में धन संचय का लोभ नहीं होना चाहिए। वे व्यापार-व्यवसाय तथा उद्योगों में लीन नहीं रहेंगे। कोई नागरिक ब्याज पर ऋण नहीं दे सकेगा। धन का मोह उत्तम जीवन की प्राप्ति के मार्ग में बाधक होता है। प्लेटो द्वारा चित्रित राज्य कृषि-अर्थव्यवस्था (agricultural economy) पर आधारित है। परन्तु प्लेटो व्यापार, उद्योग आदि को समाप्त नहीं करता। उसके सिद्धान्त में नागरिक राजनीति एवं शारीरिक तथा मानसिक उत्थान का, दास कृषि का तथा विदेशी लोग व्यापार व उद्योग का कार्य करेंगे। लॉज में श्रम-विभाजन का सिद्धान्त इसी रूप में माना गया है।[1] इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपना निर्दिष्ट कार्य करने का सिद्धान्त लॉज में भी विद्यमान है। व्यापार-व्यवसाय में अवांछनीय नफाखोरी, वस्तुओं के मूल्य अनावश्यक रूप से बढ़ाना, माल में मिलावट आदि असामाजिक तत्त्वों पर राज्य का नियन्त्रण बना रहेगा।

शासन संगठन (Organization of Government)

रिपब्लिक में आदर्श राज्य का शासन दार्शनिक राजा का उदार स्वेच्छाचारितावाद (benevolent despotism) है तो लॉज में मिश्रित राज्य का शासन ज्ञान (knowledge) तथा स्वतन्त्रता (liberty) के मध्य समन्वय है, अथच उसमें एकतन्त्र तथा लोकतन्त्र का मिश्रण है। ऐसे राज्य में राज्य की सम्प्रभु शक्ति का निर्धारण करना कठिन है। इसमें प्लेटो कानून की सम्प्रभुता के सिद्धान्त को मानता है। परन्तु यह विधि के शासन की धारणा से मिलती-जुलती धारणा भी नहीं है।[2] विधि के शासन का अर्थ जैसा डायसी ने स्पष्ट किया है, यह होता है कि प्रभुत्व-सम्पन्न संसद द्वारा बनाये गये कानून समस्त नागरिकों, अधिकारियों तथा शासन संस्थाओं पर समान रूप से लागू होते हैं, उनका उल्लंघन करने पर न्यायालय समानता के आधार पर अपराधी को दण्ड देंगे। परन्तु प्लेटो के अनुसार विधि के शासन का अर्थ यह है कि विधायक द्वारा एक बार बनाया गया कानून मौलिक

[1] 'To the citizen the art of politics and the pursuit of excellence of body and mind; to the slave agriculture; to the alien commerce and industry—this is the Platonic division of labour in the *Laws*.' —Barker, *op. cit.*, 376.

[2] *Ibid.*, 384.

कानून है। वह समस्त सत्ताओं पर लागू होता है। इसमें संसद की सम्प्रभु शक्ति जैसी कोई धारणा नहीं है। प्रत्येक शासन-संस्था को स्थापित कानून के अनुसार आचरण करना चाहिए न कि शासन-सत्ता कानून को अपने अनुरूप ढालने का प्रयत्न करेगी। मिश्रित राज्य की शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में प्लेटो ने लॉज में शासन-संस्थाओं के संगठन की विशद व्याख्या की है। ये संस्थाएँ निम्नांकित हैं—

(1) **सभा** (Assembly)—व्यक्तिगत सम्पत्ति धारण करने वाले समस्त 5040 नागरिक इसके सदस्य होंगे। चूँकि कम या अधिक खण्ड धारण करने वाले नागरिक चार वर्गों में विभाजित हैं अतः चार या तीन गुनी सम्पत्ति-खण्डों के मालिक प्रथम तथा द्वितीय श्रेणी के माने जाएँगे। सभा में उनकी उपस्थिति अनिवार्य होगी। दो या एक सम्पत्ति-खण्ड के मालिक तृतीय तथा चतुर्थ श्रेणी के होंगे। उनके लिए उपस्थिति अनिवार्य नहीं है। सभा का मुख्य कार्य शासन की विभिन्न संस्थाओं के सदस्यों तथा अधिकारी वर्ग का निर्वाचन करना है।

(2) **परिषद्** (Council)—दैनिक शासन की व्यवस्था करने के लिए एक परिषद् का आयोजन किया गया है जिसमें कुल 360 सदस्य होंगे। प्रत्येक चार वर्गों के नागरिकों में से 90 सदस्य इसमें से चुने जाएँगे। उम्मीदवारों के चयन में अधिक सम्पत्ति वाले वर्गों को विशेष गुरुत्व प्राप्त रहेगा। परिषद् के सदस्य एक साल के लिए चुने जाएँगे। इनमें से बारी-बारी से 30 सदस्य प्रति मास कार्य करेंगे। परिषद् उच्च दो वर्गों के नागरिकों में से स्थानीय अधिकारियों तथा तीन सेना के जनरलों का निर्वाचन करेगी। इनके नाम कानून के संरक्षकों द्वारा प्रस्तावित किये जाएँगे। परिषद् लोक न्यायपालिका के रूप में कार्य करेगी। 20 वर्ष से अधिक अवधि तक राज्य में रहने वाले विदेशियों के निवास काल की वृद्धि करेगी। इस प्रकार यह संस्था मात्र वाद-विवाद करने वाली संस्था नहीं है बल्कि इसे अनेक प्रशासनिक कार्य भी सम्पन्न करने होंगे।

(3) **कानून के संरक्षक** (Guardians of Laws)—कार्यपालिका के रूप में 37 सदस्यों की एक संस्था 'कानून के संरक्षकों' के रूप में होगी। इन संरक्षकों का निर्वाचन सभा के सदस्य तीन बार मतदान की प्रणाली द्वारा करेंगे। प्रथम मतदान में 300 व्यक्ति चुने जाएँगे। द्वितीय मतदान में इन 300 व्यक्तियों में से 100 व्यक्ति चुने जाएँगे और तृतीय मतदान में उक्त 100 व्यक्तियों में से 37 व्यक्ति अन्तिम रूप से चुने जाएँगे। ये कानून के संरक्षक राज्य के अधिशासक होंगे। यह किस वर्ग के नागरिकों में से चुने जाएँगे, ऐसा कोई संकेत नहीं दिया गया है। सम्भवतः इस सम्बन्ध में प्लेटो अभिजात वर्ग का पक्षपात नहीं करता है। संरक्षकों का कार्यकाल 20 वर्ष का होगा। ये संरक्षक 50 से 70 वर्ष की आयु के व्यक्तियों में से चुने जायेंगे।

इनके अतिरिक्त प्लेटो न्यायालयों के श्रृंखलाबद्ध संगठन का भी विवेचन करता है। उनकी अधिकार सीमा का निर्धारण भी लॉज में किया गया है। स्थानीय प्रशासन के लिए मजिस्ट्रेटों, निरीक्षकों आदि की भी व्यवस्था बतायी गयी है। ग्रन्थ की बारहवीं पुस्तक में जिसके बारे में बार्कर का मत है कि वह प्लेटो के मरणोपरान्त जोड़ी गयी है, एक अन्य संस्था नॉक्टर्नल परिषद् (Nocturnal Council) का प्राविधान किया गया है। इसमें सम्भवतः 10 सदस्य होंगे जो राज्य के निदेशक होंगे। यहाँ पर प्लेटो पुनः रिपब्लिक के दार्शनिक राजा के सिद्धान्त की ओर उन्मुख हो गया प्रतीत होता है। यह परिषद् विवेक (reason) का प्रतिनिधित्व करेगी

जिसका अर्थ है वास्तविक स्वतन्त्र मन (genuine free mind)। इसमें कुछ पुराने अनुभवी शासक होंगे और कुछ युवक। ये सदस्य दार्शनिक होंगे।

शिक्षा (Education)

लॉज में भी प्लेटो उत्तम जीवन की प्राप्ति तथा राज्य के शासन को उत्तम ढंग से चलाने के निमित्त शिक्षा के महत्त्व को किसी भाँति कम नहीं समझता। रिपब्लिक के आदर्श राज्य में दार्शनिक राजा के शासन को कुशल बनाने के निमित्त प्लेटो ने निषेधात्मक साधन के रूप में संरक्षक वर्ग के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा परिवार की प्रथा को बन्द करने का सुझाव दिया था। लॉज में कानून के शासन को सुनिश्चित करने के लिए वह दण्ड की व्यवस्था का प्रतिपादन करता है। परन्तु दोनों व्यवस्थाओं के अन्तर्गत राज्य के उद्देश्य की प्राप्ति के निमित्त वह शिक्षा की समुचित व्यवस्था को एक विध्यात्मक साधन के रूप में महत्त्वपूर्ण मानता है। लॉज में शिक्षा का उद्देश्य शासक तथा शासित दोनों वर्गों को अपने-अपने निर्धारित क्षेत्र में क्रमशः शासक तथा शासित होने की क्षमता प्रदान करना माना गया है ताकि वे कानून की भावना को समझ सकें। शिक्षा वह साधन है जो युवकों को कानून को समझने तथा कानून के अनुसार आचरण करने का प्रशिक्षण देती है। प्लेटो के अनुसार, चूँकि कानून निश्चित होता है, अतः शिक्षा का पाठ्यक्रम तथा उद्देश्य भी निश्चित होना चाहिए। रिपब्लिक में प्लेटो की शिक्षा योजना का आधार एथेंस तथा स्पार्टा में प्रचलित पद्धतियों का सम्मिश्रण था, परन्तु लॉज में वह मिस्र की शिक्षा-पद्धति का सन्दर्भ अधिक देता है।

रिपब्लिक की भाँति लॉज में भी वह कविता तथा कला की शिक्षा को नियन्त्रित करने का सुझाव देता है और संगीत तथा नृत्य की शिक्षा को महत्त्वपूर्ण मानता है। नाटकों से अब उसे घृणा नहीं है। परन्तु वह सुखान्त नाटकों का समर्थन करता है। उसकी धारणा है कि दुखान्त नाटकों का मनोवैज्ञानिक प्रभाव दर्शकों पर अच्छा नहीं होता। वह राज्य के नागरिकों के बच्चों द्वारा नाटकीय प्रदर्शन नहीं कराना चाहता। उसके मत से ऐसा कार्य दासों या वेतनभोगी विदेशियों के द्वारा किया जाना चाहिए। व्यायाम की शिक्षा को अब भी वह महत्त्वपूर्ण मानता है। पुरुषों तथा महिलाओं को समान शिक्षा देने, शिक्षा को अनिवार्य बनाने और शिक्षा पर राज्य के नियन्त्रण को वह आवश्यक मानता है।

रिपब्लिक की भाँति लॉज में भी प्लेटो की यह धारणा बनी रही है कि शिक्षा का नियमन पूर्णतया राज्य द्वारा होना चाहिए, अतएव लॉज में शिक्षा को शासन का सबसे महत्त्वपूर्ण विषय माना गया है। शिक्षा का प्रबन्ध प्रधानमन्त्री के हाथ में रहना चाहिए। वह 50 वर्ष से अधिक आयु का हो जिसके स्वयं अपने बच्चे भी हों। उसका निर्वाचन कानून के संरक्षकों द्वारा किया जाना चाहिए। शिक्षा मन्त्रालय का कार्य शिक्षा-पद्धति का निदेशन करना तथा शिक्षा-संस्थाओं का प्रशासनिक नियन्त्रण अपने हाथ में रखना होगा। अधिकारियों को यह देखना होगा कि शिक्षा का पाठ्यक्रम नियमानुसार बरता जा रहा है। सैबाइन का मत है कि 'लॉज का शिक्षा सिद्धान्त, रिपब्लिक के शिक्षा सिद्धान्त के विपरीत, शिक्षा-संस्थाओं की पद्धति का सिद्धान्त है।'[1] शिक्षा संस्थाओं के संचालन तथा कार्य-पद्धति का

[1] 'The theory of education in the *Laws*, unlike that of the Republic, is the theory of a system of educational institutions.' —Sabine, *op. cit.*, 94.

निरीक्षण करने के लिए दो संगीत के तथा तीन व्यायाम के परीक्षक सभा द्वारा उच्च वर्गों में से छाँटे जायेंगे। ये परीक्षक तथा निरीक्षक प्रतियोगिता परीक्षाओं में निर्णायकों के रूप में कार्य करेंगे और योग्यों को पुरस्कार देंगे। अध्यापकों के सम्बन्ध में प्लेटो का दृष्टिकोण संकुचित या अनूठा है। वह एथेंसवासियों को अध्यापक के रूप में रखा जाना सम्मानजनक नहीं मानता। अध्यापक विदेशों के व्यक्ति होंगे, जो राज्य से वेतन प्राप्त करेंगे। सम्भवतः जैसा बार्कर ने कहा है, 'एथेंस में अध्यापक का स्तर एक हस्त-कलाकार से भी निम्नतर माना जाता था।'[1] परन्तु यह भी आश्चर्य की बात है कि प्लेटो ने यह धारणा क्यों बनायी जबकि अपनी अकादमी में स्वयं प्लेटो इतना महान् शिक्षक रहा था। एथेंस की परम्परा के विरुद्ध उसने एकीकृत विद्यालय पद्धति को अपनाया है जिसके अन्तर्गत लोग अपने बच्चों को विभिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करने हेतु अलग-अलग शिक्षकों के पास भेजने की अपेक्षा एक ही विद्यालय में भेजें, जहाँ विविध विषयों की शिक्षा समन्वयात्मक ढंग से दी जा सके। लॉज में प्लेटो बालक-बालिकाओं की सह-शिक्षा का विरोध करता है। शिक्षा की अनिवार्यता पर बल दिया गया है। परन्तु पाठ्यक्रम बालक तथा बालिकाओं के लिए समान होगा।

शिक्षा के स्तर—लॉज में वर्णित शिक्षा-योजना शैशव काल से ही प्रारम्भ हो जाती है। शिशु शिक्षा 6 वर्ष की अवस्था तक की होगी। इसमें बच्चों को कूदना तथा चिल्लाना सिखाया जायेगा जो संगीत तथा नृत्य के रूप में होगा। यह 3 वर्ष तक की आयु तक चलेगा। इसके बाद 6 वर्ष तक की आयु के बच्चों को खेलना सिखाया जायेगा। विद्यालयों की परिचारिकाएँ बच्चों को गोद में विद्यालय ले जाया करेंगी। 6 वर्ष की आयु के पश्चात् प्रारम्भिक शिक्षा का स्तर शुरू होगा। इस अवस्था में बालक-बालिकाओं के पृथक् विद्यालय होंगे। इसमें बच्चों को घुड़सवारी, व्यायाम तथा धनुर्विद्या सिखायी जायेगी। यह सैनिक स्वरूप की शिक्षा बालक तथा बालिकाओं दोनों के लिए सुझायी गयी है।

10 वर्ष की अवस्था प्राप्त कर लेने पर माध्यमिक शिक्षा प्रारम्भ होगी। इसमें पाठ्य विषयों के अन्तर्गत लिखना, पढ़ना, गणित, नक्षत्र विद्या, संगीत आदि की शिक्षा होगी। अध्यापक बालकों को अपने साथ विद्यालय ले जायेंगे और उनके आचरण को देखते रहेंगे। 10 से 13 वर्ष की आयु तक साहित्य का, 13 से 16 वर्ष की आयु तक संगीत का तथा इन दोनों अवधियों के मध्य गणित की शिक्षा का आयोजन होगा। परन्तु व्यायाम की शिक्षा भी साथ-साथ चलती रहेगी।

16 वर्ष की आयु के पश्चात् सामान्यतया शिक्षा समाप्त हो जाती है। परन्तु जो लोग उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिए 25 वर्ष की आयु तक उच्चतर गणित तथा सैनिक शिक्षा जारी रहेगी। लॉज में प्लेटो ने इस शिक्षा-स्तर का विवरण नहीं दिया है। सम्भवतः चूँकि लॉज की रचना प्लेटो स्वयं समाप्त नहीं कर पाया था, अतः उच्च शिक्षा की योजना भी अधूरी रह गयी होगी। इसी प्रकार लॉज में शिक्षा का उद्देश्य शिक्षार्थियों को कानून की भावना समझने की क्षमता प्रदान करना बताया गया है। परन्तु यह स्पष्ट नहीं होता कि शिक्षा व्यवस्था का कौनसा स्तर या पाठ्यक्रम शिक्षार्थियों में ऐसी भावना उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध होगा।

[1] Barker, *op. cit.*, 434.

रिपब्लिक तथा लॉज (तुलनात्मक विवेचन)

प्लेटो के राजनीतिक विचारों के मुख्य स्रोत उसकी रिपब्लिक तथा लॉज नामक दो रचनाएँ हैं। स्टेट्समैन की रचना लॉज से पूर्व की है जिसमें प्लेटो रिपब्लिक के न्याय तथा आदर्श राज्य के सिद्धान्त से विमुख होने तथा कानून के शासन का समर्थन करने की ओर प्रवृत्त होने लगा था। परन्तु प्लेटो के राज्य सम्बन्धी दो प्रमुख विचारों—आदर्श राज्य तथा द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य—का विस्तृत विवेचन क्रमशः रिपब्लिक तथा लॉज में मिलता है। रिपब्लिक प्लेटो के मौलिक विचारों का अद्भुत ग्रन्थ है। इसमें उसने अपने क्रान्तिकारी विचारों को प्रस्तुत करके एक आदर्श राज्य की व्यवस्था चित्रित की है। परन्तु जब स्वयं प्लेटो ने अनुभव किया कि इसमें वर्णित आदर्शों को व्यवहृत करना सम्भव नहीं है तो जीवन के अन्तिम वर्षों में उसने लॉज ग्रन्थ में अपने रिपब्लिक के अनेक सिद्धान्तों को परिवर्तित रूप प्रदान करके आदर्श राज्य के स्थान पर द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। ऐसा करने में उसने रिपब्लिक के आदर्शों का परित्याग तो नहीं किया, बल्कि उन्हीं को दूसरे रूप में प्रस्तुत किया। इस प्रकार कहा जाता है कि 'प्लेटो का रिपब्लिक उसके लॉज को आच्छादित करता है, तो भी जो व्यावहारिक महत्त्व लॉज को प्राप्त है वह रिपब्लिक को प्राप्त नहीं है।'[1] इस उक्ति के आधार पर प्लेटो के उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है।

रिपब्लिक के सम्पूर्ण विचारों का आधार प्लेटो का नैतिक दर्शन है। वह मानव-आत्मा, राज्य तथा विश्वात्मा में समान तत्त्वों को देखता है और जीवात्मा का अन्तिम लक्ष्य 'सत् का ज्ञान' प्राप्त करना मानता है। उसका समूचा राजनीतिक दर्शन इसी लक्ष्य पर आधारित है कि मानव को उत्तम जीवन की प्राप्ति हो, वह सत् का ज्ञान करने की दिशा में अपने जीवन के कार्य-कलापों को नियमित करे। समाज का भी लक्ष्य यही है कि उसके निर्माणकारी तत्त्वों (व्यक्तियों) को उत्तम तथा आत्मनिर्भर जीवन प्राप्त हो सके और समूचे समाज में एकता बनी रहे। समाज का प्रत्येक सदस्य अपने निर्धारित कार्य को करता हुआ समूचे समाज की सेवा की भावना से जीवन व्यतीत करे। यही प्लेटो के न्याय सिद्धान्त का सार है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के निमित्त प्लेटो ने राज्य व्यवस्था का जो आदर्शात्मक एवं काल्पनिक चित्र प्रस्तुत किया है उसकी प्राप्ति के विविध साधन ही प्लेटो के राज्य दर्शन के विविध सिद्धान्त हैं। वे एक-दूसरे से घनिष्टतया सम्बद्ध हैं।

रिपब्लिक में प्लेटो बुद्धि तत्त्व को प्रमुख स्थान देता है। इसलिए बुद्धिमानों के द्वारा राज्य का शासन किये जाने के आदर्श को अपनाता है। लॉज में कानून का शासन मान्य किया गया है। कानून मनुष्य के चिरकालीन विवेक तथा बुद्धि की उपज है। चूँकि प्लेटो एक वास्तविक ज्ञानवान एवं दार्शनिक राजा की उपलब्धि होना कठिन देखता है अतः वह बुद्धि तत्त्व के स्थान पर बुद्धि की उपज कानून की सत्ता को आरोपित करता है। शासकों को वास्तविक दार्शनिक बनाने तथा कुशलता, न्याय और निःस्वार्थ भाव से शासन करने की क्षमता प्रदान करने के लिए रिपब्लिक में प्लेटो संरक्षक वर्ग के लिए शिक्षा की विशद योजना प्रस्तुत करता है।

[1] 'Plato's *Republic* overshadows his *Laws*; yet the latter has a practical value denied to the former.'

शिक्षा द्वारा शासक वर्ग के विवेक का विकास होगा, अत: विवेक या ज्ञान का शासन सफलीभूत हो सकेगा। लॉज में यद्यपि शिक्षा के स्वरूप तथा प्रणाली में कुछ परिवर्तन बताये गये हैं, फिर भी शिक्षा का उद्देश्य वही है। चूँकि द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य में, जिसका प्रतिपादन लॉज में किया गया है, कानून का शासन होगा, इसलिए कानून की भावना का ज्ञान शासक तथा शासित दोनों को होना चाहिए। इसलिए शिक्षा सबके लिए निर्धारित की गयी है। दोनों ग्रन्थों में शिक्षा का व्यापक उद्देश्य शारीरिक मानसिक, आत्मिक एवं बौद्धिक विकास माना गया है। शिक्षा को सार्वजनिक मानना और उसे आजीवन चलने वाली प्रक्रिया न बताकर निश्चित आयु में समाप्त हो जाने की धारणाएँ लॉज के विचारों के व्यावहारिक महत्त्व को प्रदर्शित करती हैं।

स्त्री-पुरुषों की समानता तथा वैवाहिक जीवन पर नियन्त्रण—सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध में प्लेटो महिलाओं की स्थिति को पुरुषों के समान ही मानता है और सार्वजनिक जीवन में उन्हें भी अपनी योग्यता तथा क्षमता के अनुसार पुरुषों के समान पद धारण करने की बात का समर्थन करता है। महिलाओं के इस स्वतन्त्रता तथा समानता के अधिकार को प्लेटो रिपब्लिक तथा लॉज दोनों में मानता है। दोनों वर्गों की समानान्तर शिक्षा पद्धति का समर्थन किया गया है। रिपब्लिक में वह वैयक्तिक विवाह-प्रथा का विरोधी है परन्तु लॉज में इसे आवश्यक मानता है। परन्तु वैवाहिक जीवन तथा परिवार प्रथा के सम्बन्ध में उसके विचारों में बहुत अन्तर नहीं हुआ है। वह विवाह का मुख्य उद्देश्य राज्य के लिए नियन्त्रित रूप से सन्तान उत्पन्न करना मानता है। व्यक्तिगत विवाह या परिवार का उद्देश्य पति-पत्नी को स्वतन्त्र या स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करने या भोग-विलास में रत रहने देने का अवसर प्रदान करना नहीं है। रिपब्लिक में पत्नियों का साम्यवाद स्त्री-पुरुषों के ऊपर नियन्त्रण आरोपित करता है तो लॉज में भी विवाह के अधीक्षकों का दम्पत्ति के ऊपर नियन्त्रण उसी प्रकृति की व्यवस्था है। इस दृष्टि से परिवार तथा पारिवारिक जीवन के सम्बन्ध में प्लेटो रिपब्लिक के मूल सिद्धान्तों से पृथक् नहीं होता। परन्तु लॉज में उसने व्यक्तिगत परिवार प्रथा को मान्य करके व्यावहारिक रुख अपनाया है।

सम्पत्ति पर नियन्त्रण तथा कार्य-विभाजन सिद्धान्त—आर्थिक व्यवस्था के सम्बन्ध में रिपब्लिक में व्यक्तिगत सम्पत्ति का विरोध किया गया है। अर्थोपार्जन का कार्य केवल उत्पादक वर्ग पर छोड़ दिया गया है। शासक वर्ग की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति वही वर्ग करेगा और उसे शासन कार्य में भाग लेने का अधिकार नही है। लॉज में नागरिक सम्पत्ति के मालिक तो हैं और उनके लिए अधिक सम्पत्ति की आवश्यकता भी स्वीकार की गयी है, परन्तु व्यक्तिगत सम्पत्ति की अधिकतम सीमा भी निर्धारित कर दी गयी है। नागरिकों को अत्यधिक सम्पत्ति अर्जन करने से रोका गया है। भूमि जोतना नागरिकों का कार्य नहीं है। वे तो भू-सम्पत्ति के मालिक हैं। उत्पादन का कार्य तो दास-वर्ग करेगा जिसके ऊपर मालिक का नियन्त्रण बना रहेगा। रिपब्लिक में प्लेटो कार्य विभाजन तथा विशेषीकरण के सिद्धान्त को न्याय कहता है लॉज में भी वह इन सिद्धान्तों की उपेक्षा नहीं करता। वह नागरिकों को शासन तथा ज्ञानार्जन का अधिकार तथा कर्तव्य देता है, दासों को कृषि कार्य का तथा विदेशियों को व्यापार, उद्योग आदि का। यही उसका कार्य-विभाजन का सिद्धान्त है। इस प्रकार सम्पत्ति के सम्बन्ध में और विशेषीकरण के आधार पर कार्य विभाजन की धारणा के बारे में प्लेटो रिपब्लिक के विचारों को

लॉज में पूर्णतया अपनाता है। परन्तु नागरिकों को सम्पत्ति रखने की अनुमति देनें की बात लॉज के विचारों को व्यावहारिक बनाती है।

रिपब्लिक में वर्णित शासन-व्यवस्था दार्शनिक राजा के निरंकुश एकतन्त्र की है जिसकी देख-रेख में संरक्षक वर्ग शासन का संचालन करेंगे। परन्तु लॉज में एकतन्त्री व्यवस्था न होकर एकतन्त्र तथा लोकतन्त्र का सम्मिश्रण कर दिया गया है। शासन की विभिन्न संस्थाओं का संविधान निर्मित किया गया है। परन्तु लॉज की 12वीं पुस्तक में जिस नॉक्टरनल परिषद् का उल्लेख है वह इस बात की द्योतक है कि वह परिषद् पुनः रिपब्लिक के दार्शनिक राजा का स्थान ले लेगी। अतः विवेक तथा दर्शन का शासन फिर भी प्लेटो के मस्तिष्क में बना हुआ है।

इन तर्कों के आधार पर यह निष्कर्ष सही है कि प्लेटो का रिपब्लिक उसके लॉज को आच्छादित कर देता है, क्योंकि लॉज में प्लेटो ने जिन नयी व्यवस्थाओं को बताया है अथवा जो परिवर्तन रिपब्लिक की व्यवस्था में किये हैं उनके आधारभूत सिद्धान्त तथा उद्देश्य वही हैं जो रिपब्लिक में थे। अन्तर है स्वप्नलोकी आदर्शवाद एवं व्यावहारिकता का। रिपब्लिक के राज्य सम्बन्धी आदर्श तथा व्यवस्थाएँ न केवल स्वप्नलोकी ही कही जा सकती हैं, अपितु उन्हें व्यवहार में प्रयुक्त किया जा सकना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव भी लगता है। प्लेटो के मस्तिष्क का दार्शनिक राजा यदि किसी काल में कहीं उपलब्ध हो भी जाये तो सर्वत्र तथा सदैव ऐसे शासक की उपलब्धि की कल्पना नहीं की जा सकती। साम्यवाद की योजना न केवल अधूरी है, बल्कि अव्यावहारिक एवं दोषपूर्ण भी है। शिक्षा की योजना की प्रशन्सा की जा सकती है, परन्तु वह न तो सार्वभौम है और न व्यावहारिक। प्लेटो के शासक संन्यासी, ज्ञानी, दार्शनिक एवं वीर हो सकते हैं, परन्तु शासितों के जीवन-क्रम से पृथक् रहते हुए वे शासन कला के कार्य में कितने निपुण सिद्ध होंगे, यह बता सकना कठिन है। इस दृष्टि से रिपब्लिक के विचारों की व्यावहारिक महत्ता संदिग्ध है। सैबाइन ने ठीक ही कहा है कि 'रिपब्लिक के राज्य-सिद्धान्तों के बारे में यह मानना चाहिए कि उनका आरम्भ ही गलत हुआ था।'[1] प्लेटो ने सुकरात के सद्गुण तथा सत् के ज्ञान के सिद्धान्तों द्वारा समाज तथा राज्य के निर्माण के सम्बन्ध में निगमनात्मक पद्धति को अपनाया और शासक तथा शासितों के मध्य विद्वान् तथा मूर्खों का सा भेद किया। परिणामस्वरूप राज्य में कानून तथा स्वतन्त्रता जैसी धारणाओं का परित्याग किया गया है। यह धारणा तत्कालीन ग्रीस के नगर-राज्यों की परम्पराओं से तो विपरीत थी ही, साथ ही भविष्य के लोकतन्त्रों के विकास के मार्ग की भी बाधा बनी रही। अतः रिपब्लिक के सिद्धान्तों को व्यावहारिक मान्यता प्राप्त नहीं हो पायी।

लॉज के विचारों का भविष्य में प्रभाव—यद्यपि लॉज के विचार सैद्धान्तिक दृष्टि से रिपब्लिक के स्वप्नलोकी विचारों का अनुगमन करते हैं, तथापि उनका व्यावहारिक महत्त्व अधिक है। अरस्तू, जिसे राज्य-विज्ञान का जनक कहा जाता है, प्लेटो के लॉज के विचारों से अत्यधिक प्रभावित हुआ था। मिश्रित राज्य का सिद्धान्त अरस्तू ने अपनाया था और यद्यपि प्लेटो तथा अरस्तू के मिश्रित राज्य के तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं तथापि व्यवहार में मिश्रित राज्य का सिद्धान्त अरस्तू के काल से आज तक

[1] 'The theory of the state contained in the *Republic* must be regarded as having made a false start.' —Sabine, *op. cit.*, 85.

किसी न किसी रूप में सर्वत्र पाया जाता है। आज के युग में सभी शासन किसी न किसी रूप में मिश्रित ही हैं। सैबाइन ने कहा है कि 'अरस्तू का आदर्श-राज्य सदैव प्लेटो का द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य है।'[1] विधि के शासन का स्वरूप चाहे भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न स्वरूप का हो, तथापि विधि के शासन के सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्वप्रथम प्लेटो ने ही अपने ग्रन्थ लॉज में किया था, और आज संसार के विभिन्न राज्यों द्वारा उसे व्यवहृत किया जा रहा है। लॉज में शासन की भिन्न-भिन्न संस्थाओं के संगठन तथा कार्यों का जो रूप प्लेटो ने प्रस्तुत: किया है वह विभिन्न राज्यों के संविधान निर्माताओं के लिए सहायक सिद्ध हो सकता है। शासन की विभिन्न संस्थाओं के कार्यक्षेत्र को निर्धारित करना तथा उसमें कार्य-विभाजन के तत्त्व का समावेश करना, शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का द्योतक है। अरस्तू ने इसे अपनाया था। अन्त में, 18वीं शताब्दी में मांटेस्क्यू ने इस सिद्धान्त का विशद विवेचन किया जो आज अमरीकी शासन पद्धति का एक मूलभूत सिद्धान्त बना हुआ है।

दण्ड विधान का संहिताकरण, न्यायालय व्यवस्था का शृंखलाबद्ध संगठन, असामाजिक तत्त्वों का निराकरण, सम्पत्ति सम्बन्धी प्रतिबन्ध आदि ऐसी व्यवस्थाएँ लॉज में वर्णित हैं, जिन्हें प्लेटो के पश्चात् अनेक राजनीतिक चिन्तकों ने व्यक्त किया है। तथा अनेक राज्यों की शासन-व्यवस्थाओं में उन्हें व्यवहृत किया जा रहा है। जनसंख्या की वृद्धि आज के राज्यों के लिए एक समस्या बनी हुई है। परिवार नियोजन हेतु कृत्रिम साधनों के प्रयोग के अभियान चलाये जाते हैं। परन्तु प्लेटो राज्य की आत्मनिर्भरता तथा उत्तम जीवन हेतु जनसंख्या के नियन्त्रण पर नैतिक नियन्त्रणों की व्यवस्था बताता है। भले ही इस दिशा में प्लेटो के विचारों की व्यावहारिकता संदिग्ध हो, पर यह तो मानना पड़ता है कि जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि राज्य के लिए अनुचित है। प्लेटो इससे परिचित था।

शिक्षा के सम्बन्ध में भी रिपब्लिक की अपेक्षा लॉज के विचार अधिक व्यावहारिक हैं। रिपब्लिक में शिक्षा केवल संरक्षक वर्ग के लिए है और वह भी आजन्म चलने वाली प्रक्रिया। परन्तु लॉज में उसे अधिक सार्वभौम, अनिवार्य तथा केवल 16 वर्ष तक की आयु के लिए रखा गया है। उच्च शिक्षा केवल इच्छुक तथा योग्यों के लिए छोड़ दी गयी है। पाठ्य-क्रम भी तत्कालीन ग्रीक तथा मिस्र की परम्पराओं के अनुसार निर्धारित किया गया है। अत: यह व्यवस्था अव्यावहारिक नहीं है।

दोनों ग्रन्थों में व्यक्त प्लेटो के राजनीतिक विचारों का अध्ययन करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्लेटो के राजनीतिक दर्शन को समूचे रूप में लिया जाय। रिपब्लिक में प्लेटो एक आदर्श समाज के सिद्धान्तों का निरूपण करता है, अत: उसका उद्देश्य एक 'राज्य का आदर्श' प्रस्तुत करना है जो यथार्थ से परे हो जाता है। परन्तु लॉज में प्लेटो 'राज्य के सिद्धान्तों' का प्रतिपादन करता है। इस दृष्टि से यह कहना असंगत नहीं होगा कि 'लॉज प्लेटो के राजनीतिक दर्शन का व्यावहारिक रूप है और रिपब्लिक आदर्शात्मक।'

राजनीतिक चिन्तन को प्लेटो का अनुदाय

पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में क्रमबद्ध ढंग से चिन्तन करने

[1] 'What Aristotle calls the ideal state is always Plato's second-best state.'—*Ibid.*, 91.

वाला सबसे पहला चिन्तक—पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में यद्यपि प्लेटो से पूर्व कई दार्शनिकों ने राज्य सम्बन्धी समस्याओं पर अपने विचार रखे थे, तथापि राजनीतिक व्यवस्थाओं, आदर्शों तथा संस्थाओं के सम्बन्ध में क्रमबद्ध ढग से चिन्तन प्लेटो ने ही आरम्भ किया। प्लेटो को एक राजनीति-शास्त्री कहना उचित नहीं होगा, यह श्रेय तो उसके शिष्य अरस्तू को प्राप्त होता है, परन्तु प्लेटो एक दार्शनिक तथा चिन्तक था। उसने अपने दर्शन के द्वारा उन विविध राजनीतिक आदर्शों को व्यक्त किया है जो भविष्य के चिन्तकों के लिए अनुकरणीय सिद्ध हुए हैं। गैटल ने उचित ही कहा है कि 'यद्यपि प्लेटो के अनेक विचार स्वप्नलोकी थे जिनका आज कोई व्यावहारिक महत्त्व नहीं रहा, तथापि उसके अनेक अन्य विचार सुमान्य सत्य हैं।' प्लेटो के स्वप्नलोकी, राजनीतिक विचार मुख्यतः उसके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रिपब्लिक' में हैं। परन्तु 'स्टेट्समैन' तथा 'लॉज' की रचना करते हुए वह बहुत कुछ अंश में यथार्थवादी बन गया था। बहुधा यह माना जाता रहा है कि प्लेटो आदर्शवादी था और अरस्तू यथार्थवादी। अरस्तू का यथार्थवाद प्लेटो की रचना 'लॉज' के विचारों को ग्रहण करके उन्हें अपने ढंग से प्रस्तुत करने के कारण प्रकट होता है। भले ही रिपब्लिक में प्लेटो के अधिकांश विचार स्वप्नलोकी रह गये थे, तथापि उनमें से अनेक का व्यावहारिक महत्त्व भी कम नहीं है।

राज्य के स्वप्नलोकी आदर्श का प्रतिपादक होते हुए भी प्लेटो के विचारों को सार्वभौम मान्यता प्राप्त—प्लेटो के विचारों में जो स्वप्नलोकितावाद है, यद्यपि आज दिन उसका व्यावहारिक राजनीति में कोई महत्त्व नहीं है, तथापि स्वप्नलोकी राज्य व्यवस्था के बारे में चिन्तन करने वाले दार्शनिकों को प्लेटो के विचारों से महान् प्रेरणा मिली है। प्लेटो ने जिस आदर्श राज्य की कल्पना की है, भले ही उसके आदर्शों का राज्य इस पृथ्वी में स्थापित न हो सके तथापि उसका महत्त्व यही है कि यदि समाज का उद्देश्य व्यक्ति एवं सम्पूर्ण समाज को सत् की प्राप्ति तथा उत्तम जीवन उपलब्ध कराना है तो वह प्लेटो द्वारा चित्रित आदर्श राज्य में ही सम्भव है। अतएव प्लेटो ने यह परवाह नहीं की कि वह आदर्श राज्य की स्थापना की व्यावहारिकता पर जाय, प्रत्युत् उसका उद्देश्य राज्य के ऐसे आदर्शों को प्रस्तुत करना था जो युग-युगों के लिए अनुकरणीय सिद्ध हों। उसका उद्देश्य यह बताना था कि एक उत्तम राज्य को वास्तव में कैसा होना चाहिए। वह यह बताना चाहता था कि 'सिद्धान्ततः एक राज्य कैसा हो, यदि तथ्य उसके अनुरूप नहीं हैं तो यह तथ्यों का दोष है, न कि सिद्धान्त का।' यह धारणा उसके विचारों के सार्वभौम स्वरूप (universalism) को चित्रित करती है। प्लेटो ने अपने आदर्शवादी विचार ग्रीस के नगर-राज्यों के सन्दर्भ में व्यक्त किए थे। परन्तु उसके इन विचारों ने भविष्य के अनेक आदर्शवादी तथा स्वप्नलोकी चिन्तकों के विचारों को प्रभावित किया है। स्वप्नलोकी समाजवादियों ने, जिनमें टामस मूर, लुई ब्लांक, सन्त साइमन आदि प्रमुख हैं, प्लेटो से प्रेरणा लेकर ही आदर्श समाजवादी व्यवस्था का स्वप्न देखा था। रूसो, हीगल, ग्रीन, बोसांके, ब्रेडले आदि प्रत्ययवादी विचारक प्लेटो के आदर्शवाद से प्रभावित थे। इस प्रकार राजनीतिक चिन्तन में स्वप्नलोकितावादी तथा आदर्शवादी (या प्रत्ययवादी) चिन्तन एक सार्वभौम सिद्धान्त बना है। प्लेटो के विचारों में जो अन्य स्वप्नलोकी मान्यताएँ हैं, जिनको व्यावहारिक राजनीति में कभी प्रयुक्त नहीं किया जा सका, वे अग्रांकित हैं—

(क) पत्नियों के समाजवाद की व्याख्या—इसे प्लेटो ने अपने युग के स्पार्टा नगर-राज्य में प्रचलित व्यवस्था से ग्रहण करके अपने दार्शनिक विचारों के अनुरूप चित्रित किया। वस्तुतः उसके द्वारा सुझाई गई व्यवस्था आज तक कहीं भी प्रयुक्त नहीं हो पाई है, न वह सम्भव है।

(ख) स्त्री-पुरुषों के मध्य समानता की धारणा को अतिवादिता के साथ मान्य करना—प्लेटो यह मानकर चला था कि पुरुषों तथा महिलाओं के मध्य लिंगगत भेद के अतिरिक्त अन्य क्षमताओं में कोई भेद नहीं हो सकता। अर्थात् सार्वजनिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, यहाँ तक कि सैनिक कार्यों तथा शासनिक कार्यों में भी महिलाएँ आवश्यक प्रशिक्षण प्राप्त करके पुरुषों की ही भाँति पूर्ण कौशल के साथ कार्य कर सकती हैं। व्यवहार में यही देखा गया है कि ऐसे दृष्टान्त अपवाद ही हो सकते हैं, न कि सार्वभौम सत्य। प्लेटो के युग से 1500 वर्ष पश्चात् आज प्रगतिशील युग में राजनीतिक जीवन में महिलाएँ पुरुषों की बराबरी की स्थिति में नहीं आ पायी हैं।

(ग) विशेषीकरण के आधार पर सामाजिक वर्गों का कठोर नियन्त्रण—यह भी प्लेटो का पूर्वाग्रह ही माना जा सकता है। समाज के व्यक्तियों को कठोरता-पूर्वक विशेषज्ञता के आधार पर भिन्न-भिन्न वर्गों में बाँटना और प्रत्येक व्यक्ति को केवल वही कार्य देना जिसके लिए वह नैसर्गिक क्षमता रखता है और उसे दूसरे वर्ग में जाने से रोकना समाज के गत्यात्मक स्वरूप को नष्ट कर देगा। ऐसा कठोर वर्गीकरण कभी सम्भव नहीं हो सका है। यहाँ तक कि हिन्दू वर्णाश्रम धर्म के अन्तर्गत वर्णभेद इस रूप में नहीं चल पाया और जहाँ कठोरता बरती जाने लगी तो वर्ण-व्यवस्था में भारी दोष आ गये।

(घ) दार्शनिक राजा का शासन—प्लेटो की धारणा के आदर्श राज्य का शासन दार्शनिकों द्वारा संचालित किया जाना था। राजनीति में दार्शनिक कहाँ तक सफल होंगे या हुए हैं यह बता सकना कठिन है। राजनीति एक कला है। दर्शन का ज्ञाता इस कला में सफल होगा, यह बता सकना कठिन है। कम से कम व्यवहार में आज तक दार्शनिकों ने कहीं भी शासन नहीं किया है, सफलतापूर्वक शासन करने की बात तो दूर रही। एक सफल शासक वही हो सकता है जिसे सार्वजनिक जीवन का व्यावहारिक ज्ञान हो और जो शासन करने की कला जानता हो। प्लेटो द्वारा सुझाई गई शिक्षा योजना इस दिशा में आंशिक रूप में ही सफलता प्रदान कर सकती है। उसके माध्यम से प्लेटो की कल्पना का दार्शनिक राजा निर्मित नहीं हो सकता।

(ङ) सम्पत्ति का साम्यवाद—पत्नियों के साम्यवाद की भाँति प्लेटो ने शासक वर्ग के लिए सम्पत्ति के साम्यवाद की जो योजना प्रस्तुत की थी, वह भी एक स्वप्न-लोकी विचार था। जो शासक निजी और भौतिक सम्पत्ति से विहीन रहकर संन्यासी हो जाएँगे, वे शासन को कुशलतापूर्वक संचालित करेंगे, ऐसी कोई गारन्टी नहीं हो सकती। यहाँ तक कि आधुनिक साम्यवाद भी, जोकि व्यक्तिगत सम्पत्ति का विरोधी है, ऐसी व्यवस्था का समर्थन नहीं कर पाया है जैसी की प्लेटो ने सुझाई थी। वस्तुतः यह व्यवस्था मानव प्रकृति से असंगति रखती है।

इन स्वप्नलोकी आदर्शों, व्यवस्थाओं तथा विचारों का यद्यपि यथार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है तथापि जिस रूप में प्लेटो ने इनका सुझाव दिया है और

अपने अन्य आदर्शों के अनुसार इनके औचित्य को सिद्ध किया है उनसे प्लेटो के दर्शन की तर्क-संगतता प्रकट होती है। भविष्य के आदर्शवादी चिन्तकों के लिए प्लेटो के विचारों ने आधार प्रस्तुत किया है। इसीलिए उसे राजनीतिक चिन्तन में आदर्शवाद का जनक कहा जाता है। प्लेटो सबसे पहला विचारक था जिसने यह स्पष्ट किया कि वास्तविकता 'प्रत्यय' में निहित रहती है। कोई पदार्थ स्वयं में अपनी वास्तविकता को प्रदर्शित नहीं करता, प्रत्युत् उसकी वास्तविकता उसके विचार-प्रत्यय से प्रदर्शित होती है। अतएव यह या वह राज्य वास्तविक नहीं है, प्रत्युत् राज्य का विचारमात्र वास्तविक राज्य है। इसी आधार पर उसने आदर्श राज्य का विचार व्यक्त किया था। यह परम्परा भविष्य के सभी आदर्शवादी चिन्तकों ने अपनाई है।

परन्तु प्लेटो के विचारों में कुछ धारणाएँ ऐसी हैं, जिन्हें सार्वभौम मान्यता प्राप्त होती रही है। इनकी उपेक्षा कोई विचारक या राजनेता नहीं कर सकता है। ये विचार संक्षेप में निम्नांकित हैं:—

(1) **प्लेटो का न्याय-सिद्धान्त**—प्लेटो ने 'न्याय' शब्द की जो व्याख्या की है वह व्यक्तिगत या विशेष न्याय न होकर सामाजिक न्याय की व्याख्या है जो एक स्वस्थ समाज के निर्माण के लिए सार्वभौम सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त विविधता में एकता लाकर एक ऐसे राजनीतिक समाज के निर्माण का आधार प्रस्तुत करता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को उसका प्राप्य सुनिश्चित रहे और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सम्पूर्ण के हित का ध्यान रखते हुए वही कार्य करे जिसके लिए उसे नैसर्गिक क्षमता प्राप्त हुई है। सामाजिक संरचना का ऐसा विश्लेषण युग-युगों के लिए सत्य सिद्ध होता है। जिस समाज का संचालन इस सिद्धान्त के अनुसार होगा उसमें अन्याय की सम्भावना किसी व्यक्ति के लिए नहीं रह सकती।

(2) **कार्य के विशेषीकरण का सिद्धान्त**—प्लेटो के न्याय-सिद्धान्त का निष्कर्ष विशेषीकरण का सिद्धान्त है। इसके अनुसार समाज में प्रत्येक व्यक्ति को केवल वही कार्य करना चाहिए जिसके लिए वह नैसर्गिक क्षमता तथा प्रशिक्षण प्राप्त किया होता है और उसे दूसरों के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। जिस समाज में प्रत्येक व्यक्ति सम्पूर्ण के हितों का ध्यान रखते हुए इस आधार पर कार्य करता है उस समाज में कुशलता का अभाव नहीं रह सकता। यह सिद्धान्त वर्तमान जटिल सामाजिक जीवन में और भी अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है। प्लेटो ने कहा था 'हमें स्मरण रखना चाहिए कि उत्पादन की प्रचुरता, सत्यता तथा गुणात्मक स्वरूप को बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति एक ही कार्य करे जो कि उसके लिए नैसर्गिक है और वह उसे उचित समय पर करे तथा अन्य कार्यों को छोड़ दे।' यह सिद्धान्त वर्तमान युग के लिए और अधिक उपयुक्त सिद्ध होता है जबकि तकनीकी तथा प्राविधिकता का इतना विकास हो चुका है। इसमें मानव विशेषीकरण की दिशा में प्रवृत्त होते जा रहे हैं।

(3) **योग्यों के द्वारा शासन चलाया जाना**—राज्य में शासन का कार्य दार्शनिकों अर्थात् प्रबुद्ध व्यक्तियों के द्वारा ही संचालित किया जाना चाहिए, यह एक ऐसा सार्वभौम सिद्धान्त है जिसे लोकतन्त्र के वर्तमान युग में एक कट्टर लोकतन्त्रवादी भी उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकता। किसी भी युग में राज्य की

सत्ता सही माने में आम जनता के द्वारा संचालित नहीं हुई है। भले ही लोकतन्त्रों में जनता प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से राज्य की प्रभुसत्ता पर अंकुश रखे परन्तु राज्य के शासन का संचालन वास्तव में थोड़े-से प्रबुद्ध व्यक्तियों के द्वारा ही होता रहा है। संसार में कौन व्यक्ति ऐसा है जो यह न चाहता हो कि शासन का कार्य केवल वही लोग करें जो कि गुणवान हैं और जिन्हें शासन-कार्यों का समुचित ज्ञान तथा प्रशिक्षण प्राप्त हुआ है। शासन का उद्देश्य शासकों का हित नहीं अपितु सम्पूर्ण समाज का हित है। प्लेटो ने जिस दार्शनिक राजा की कल्पना की है वह एक अत्याचारी स्वेच्छाचारी शासक नहीं है। निस्सन्देह प्लेटो उसे कानून के बन्धन में नहीं रखता, क्योंकि कानून का बन्धन उसके दार्शनिक विवेक में बाधक सिद्ध हो सकता है। परन्तु उसके दायित्व भी हैं जो उसे अत्याचारी बनने से रोकेंगे। यदि प्लेटो के विचारों का दार्शनिक शासक उपलब्ध हो तो सम्भवतः कोई भी समाज किसी भी युग में उसके स्थान पर लोकतन्त्र की कल्पना नहीं करेगा। लोकतन्त्रों में भी तो जनता यही कामना करती है कि वास्तविक सत्ता के प्रयोक्ता प्रबुद्ध नेता हों और प्रशासक भी उन्हीं गुणों से सम्पन्न हों। प्लेटो का यह सिद्धान्त एक सार्वभौम सत्य है।

(4) **शिक्षा की महत्ता**—प्लेटो के विचारों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष उसकी शिक्षा योजना है। मानव-जीवन का लक्ष्य पुण्यमय (virtuous) जीवन की प्राप्ति है। पुण्यमय जीवन समुचित शिक्षा द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। शिक्षा आजीवन चलने वाली प्रक्रिया है। प्लेटो की यह धारणा एक सार्वभौम सत्य है। भले ही प्लेटो ने शिक्षा योजना में समाज के एक विशाल वर्ग (उत्पादकों) को उपेक्षित रखा है जिसके कारण उसकी कटु-आलोचना की जाती है, तथापि इससे उसका यथार्थवाद भी सिद्ध होता है। यदि वह सम्पूर्ण समाज के लिए अपनी शिक्षा-व्यवस्था को लागू करने की बात कहता तो वह और अधिक स्वप्नलोकी हो जाता क्योंकि ऐसा सम्भव नहीं होता। वह प्रबुद्ध लोगों का शासन चाहता था ताकि उनके ज्ञान से सम्पूर्ण समाज लाभान्वित हो सके। राज्य के प्रशासकों को समुचित प्रशिक्षण देने के तथ्य को आज के युग के सभी राजनेता महत्त्व देते हैं। वर्तमान लोकतन्त्री जटिल समाजों में जहाँ सामान्य शिक्षा को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है, वहाँ प्रशासकों के लिए सेवा-पूर्व तथा सेवा की अवधि में भी समय-समय पर प्रशिक्षण देते रहने की व्यवस्था की जाती है। इस व्यवस्था के लिए प्लेटो ने जो आधार प्रस्तुत किया है उसे भुलाया नहीं जा सकता। प्लेटो का यह अनुदाय सार्वभौम महत्त्व का है।

(5) **कानून का महत्त्व**—यदि हम प्लेटो का मूल्यांकन केवल उसके 'रिपब्लिक' के विचारों के आधार पर ही करें और उसे स्वप्नलोकी आदर्शवादी मात्र मानें तो यह प्लेटो के साथ अन्याय करना होगा। प्लेटो ने अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में रिपब्लिक में वर्णित व्यवस्थाओं की अव्यावहारिकता को भली-भाँति परख लिया था। अतः स्टेट्समैन तथा लॉज नामक ग्रन्थों में उसने राज्य का द्वितीय आदर्श प्रस्तुत किया। वह लॉज में चित्रित राज्य-व्यवस्था को 'द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य' (second best state) कहता है। इसमें वह 'कानून की श्रेष्ठता' को सर्वाधिक महत्त्व देता है। इसमें दार्शनिक राजा का स्थान कानून ग्रहण करता है। ऐसी राज-व्यवस्था स्वप्नलोकी न रहकर बहुत कुछ अंश में व्यावहारिक है। अरस्तू जिसे एक

यथार्थवादी राजनीति-शास्त्री माना जाता है, प्लेटो के 'लॉज' के विचारों से प्रभावित था। उसने विधि के शासन के जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, वह आधुनिक राज्यों के लिए एक महान् आदर्श सिद्ध हुआ है। इस दृष्टि से विधि के शासन को महत्त्व देने वाले चिन्तक तथा राजनेता प्लेटो के ऋणी हैं।

(6) **विभिन्न विचारधाराओं का जनक तथा अनेक चिन्तकों का प्रेरणा स्रोत**—अन्ततः, राजनीतिक चिन्तन को प्लेटो का सबसे बड़ा अनुदाय यह है कि उसके विचारों से कतिपय आधुनिक राजनीतिक विचारधाराओं के विकास को प्रेरणा मिली है। हम पहले बता चुके हैं कि प्लेटो राजनीति की आदर्शवादी विचारधारा का जनक है। रूसो, कांट, हीगल, ग्रीन, बोसांके आदि सभी प्रत्ययवादी चिन्तकों पर उनका प्रभाव था। प्लेटो सबसे पहला चिन्तक है जिसने राज्य के सावयव स्वरूप को चित्रित किया है। उसके पश्चात् जितने भी सावयव सिद्धान्तवादी विचारक हुए हैं, सबने प्लेटो से प्रेरणा ली है। मैक्सी ने कहा है कि समस्त समाजवादी तथा साम्यवादी चिन्तन के मूल प्लेटो में विद्यमान हैं। यद्यपि समाजवाद तथा साम्यवाद का स्वरूप आज वह नहीं रहा जैसा प्लेटो ने चित्रित किया था, तथापि इनका मूल सिद्धान्त प्लेटो के विचारों में विद्यमान था।

बहुधा प्लेटो को सबसे पहला फासिस्टवादी कहा जाता है। प्लेटो ने दार्शनिक राजा के शासन के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके, उसे पूर्णतया कानून के बन्धन से मुक्त रखा। अतः निरंकुशतावादी चिन्तकों में हम प्लेटो की छाप देखते हैं। प्लेटो के विचारों से हीगल को प्रेरणा मिली थी और उससे 20वीं सदी में फासी तथा नाजीवादी विचारधाराओं तथा व्यवस्थाओं का अभ्युदय हुआ। फासीवाद के अन्तर्गत अधिनायक में जिन लक्षणों को बताया गया है, वे सभी प्लेटो ने दार्शनिक राजा में बताये थे। अतः फासीवाद प्लेटो से प्रेरित विचारधारा है। प्लेटो को क्रान्तिकारियों का जनक भी कहा जाता है। प्लेटो ने अपने युग में एथेंस में जैसी अराजकता तथा भीड़तन्त्र की अत्याचारपूर्ण व्यवस्था देखी थी उसके विरुद्ध उसने रिपब्लिक में क्रान्तिकारी विचार रखे थे। वह ऐसे क्रान्तिकारी परिवर्तन समाज में लाना चाहता था, जो समाज में आ गये दोषों को समाप्त करने में सहायक हों। भविष्य में जितने क्रान्तिकारी विचारक हुए हैं सबने प्लेटो से प्रेरणा ली, यथा रूसो, मार्क्स तथा कुछ अंश में गांधी जी भी, आदि। अन्ततः, मैक्सी ने प्लेटो को कल्पनावादियों का भी जनक उचित ही कहा है। राजनीतिक चिन्तन में कल्पनावादी चिन्तकों की संख्या भी पर्याप्त अधिक रही है। उन सब पर प्लेटो के प्रभाव को माना जाना चाहिए। इस प्रकार पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में प्लेटो के विचारों का प्रभाव युगों तक बना रहा है। अरस्तू, सिसरो, ऑगस्टाइन, दान्ते, मूर, रूसो, हीगल, कांट, ग्रीन, बोसांके, मार्क्स आदि सभी पर किसी न किसी रूप में प्लेटो का प्रभाव है।

तीसरा अध्याय

राजनीति के विज्ञान का अभ्युदय : अरस्तू

परिचयात्मक

ग्रीस के सुविख्यात दार्शनिकों की त्रयी में सुकरात तथा प्लेटो के बाद अरस्तू का नाम आता है। मैक्सी ने प्लेटो को सबसे पहला स्वप्नलोकी (the first utopian) राजनीतिक विचारक कहा है, तो अरस्तू को सबसे प्रथम महान् राजनीतिशास्त्री (the first great political scientist) की श्रेणी प्रदान की है। इन कथनों में वास्तव में शत-प्रतिशत सत्यांश है, क्योंकि प्लेटो ने यदि राजनीतिक समस्याओं का दार्शनिक विवेचन करके राजनीतिक चिन्तन के आदर्शवादी वर्ग के लिए मार्ग प्रशस्त किया है, तो अरस्तू ने राजनीतिक समस्याओं का अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से करके यथार्थवादी विचारकों के लिए प्रचुर सामग्री प्रस्तुत की है।

अरस्तू का जन्म 384 ई० पू० थ्रेस के स्टैगिरा नामक स्थान पर हुआ था। अरस्तू का पिता मैसीडोनिया के राजा का शाही चिकित्सक था। अतः अरस्तू का पालन-पोषण तथा आरम्भिक शिक्षा एक कुलीन घराने में तथा राजसी वातावरण के मध्य हुई थी। उसे स्वयं भी चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन करने का अवसर मिला था। उस काल में एथेंस ग्रीक शिक्षा का केन्द्र था और प्लेटो की एकाडेमी इस दिशा में सुविख्यात हो चुकी थी। 17 वर्ष की अवस्था में अरस्तू ने प्लेटो की एकाडेमी में प्रवेश किया और 20 वर्ष तक (347 ई० पू०) वहीं अध्ययन किया। प्लेटो की मृत्यु हो जाने पर अरस्तू ने विदेश भ्रमण का कार्य प्रारम्भ किया और लगभग 13 वर्ष तक ग्रीस तथा उसके समीपवर्ती विभिन्न राज्यों में गया और सर्वत्र उसने वहाँ की राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन किया। इसी बीच उसे सम्राट सिकन्दर महान् को शिक्षा देने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ। सिकन्दर के साथ रहने के फलस्वरूप उसे व्यावहारिक राजनीति का भी अनुभव प्राप्त हुआ। इस 12 या 13 वर्ष की अवधि में उसने अपने समस्त ग्रन्थों की रचना प्रारम्भ की।[1] विदेश भ्रमण के पश्चात् वह पुनः एथेंस वापस आया और 335 ई० पू० में उसने भी प्लेटो की एकाडेमी के नमूने पर लीसियम (Lyceum) के नाम से अपनी एक शिक्षा संस्था की स्थापना की। यह संस्था अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुई और इसने विभिन्न देशों के शिक्षार्थियों को अपनी ओर आकर्षित किया। 323 ई० पू० में जब सिकन्दर महान् की मृत्यु हो गयी तो अरस्तू को भी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अनेक लोग उसके दुश्मन हो गये थे, अतः अरस्तू को एथेंस से भागना पड़ा।

[1] अरस्तू के सर्व प्रसिद्ध ग्रन्थों में *the Politics, the Ethics, the Rhetoric* को रखा जा सकता है। इस अध्याय में जहाँ-जहाँ अरस्तू की पुस्तक *The Politics of Aristotle* से उद्धरण दिये गये हैं वे बार्कर द्वारा सम्पादित इसी नाम की पुस्तक के 1948 के संस्करण से लिये गये हैं।

सम्भवत: वह इसलिए भागा कि कहीं एथेंस में पुन: लोग दूसरे महान् दार्शनिक की हत्या कर देने का अपयश न लें (प्रथम बार सुकरात को फांसी दी गयी थी)। 322 ई० पू० में अरस्तू की भी मृत्यु हो गयी।

प्रेरणा-स्रोत

प्लेटो की भाँति अरस्तू की विचारधाराएँ भी तत्कालीन ग्रीक नगर-राज्यों की परिस्थितियों से प्रभावित हुई थीं। साथ ही अरस्तू के ऊपर प्लेटो के दर्शन का प्रभाव भी कम नहीं था। चूँकि प्लेटो की एकाडेमी में वह प्लेटो के जीवन के अन्तिम 20 वर्षों में रहा था, अत: अरस्तू के ऊपर प्लेटो की बाद की विचारधाराओं का अधिक प्रभाव है। अरस्तू ने प्लेटो की आरम्भिक रचना रिपब्लिक के कई सिद्धान्तों को न केवल त्यागा ही है, अपितु उनकी कई दृष्टियों से कटु आलोचना भी की है। उसके विचार प्लेटो की अन्तिम रचनाओं—स्टेट्समैन तथा लॉज—पर अधिक आधारित हैं। यद्यपि वह सिकन्दर महान् का भी शिक्षक रह चुका था, तथापि उसके विचारों पर सिकन्दर की साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षाओं का प्रभाव नहीं पड़ा था। उस काल में ग्रीस के नगर-राज्य पतन की दिशा को जा रहे थे। नगर-राज्यों में या तो वर्गतन्त्री (oligarchics) शासन कायम थे, या लोकतन्त्र। प्रथम के अन्तर्गत शासकों की स्वार्थमयी प्रवृत्ति तथा द्वितीय के अन्तर्गत विधि-विहीन अनुशासनहीनता के कारण नगर-राज्यों का जीवन संकटमय हो रहा था। नगर-राज्यों के मध्य पारस्परिक एकता का अभाव था। वे अपनी प्रतिरक्षा के सम्बन्ध में आत्म-निर्भर नहीं थे। उधर रोम अपने साम्राज्य का विस्तार कर रहा था और ऐसी आशंका थी कि वह समूचे ग्रीस को अपने साम्राज्य में मिला लेगा जिसके कारण नगर-राज्यों की स्वायत्तता, नागरिकों की स्वतन्त्रता तथा उनके जीवन की उत्तमता का विनाश हो जाएगा।

अरस्तू के दर्शन के निर्माण में उसकी आर्थिक स्थिति की भूमिका कम महत्त्वपूर्ण नहीं रही है। अरस्तू मध्यम-वर्गीय उदारतावाद का दार्शनिक है। यथार्थ में ऐसा होना स्वाभाविक था, क्योंकि अरस्तू का जन्म एक मध्यम-वर्गीय परिवार में हुआ था। वह न तो सर्वहारा वर्ग से सम्बद्ध था और न भू-स्वामियों के वर्ग से। उसका पिता मेसीडोनिया के राजा फिलिप के यहाँ राज-चिकित्सक था; स्वयं उसको भी चिकित्सक का प्रशिक्षण प्राप्त था। बाद में उसने सिकन्दर के शिक्षक के रूप में काम किया। अरस्तू के दर्शन में उसके वर्ग-चरित्र की अभिव्यक्ति अनेक स्थानों पर हुई है। उसने मध्यम वर्ग को सर्वश्रेष्ठ घोषित किया तथा यह मान्यता स्थापित की है कि राज्य में स्थायित्व लाने के लिए मध्यम-वर्ग के सदस्यों की प्रचुर संख्या आवश्यक है। यदि किसी भी राज्य में मध्यम-वर्ग बहुसंख्यक वर्ग है तो वहाँ क्रान्ति की कोई सम्भावना ही नहीं रहेगी। मध्यम-वर्ग के द्वारा ही गरीबों और अमीरों के बीच सन्तुलन कायम किया जा सकता है। इस प्रकार मध्यम-वर्ग राज्य में आन्तरिक शान्ति स्थापित करने की अपरिहार्य शर्त है। मध्यम-वर्गीय विचारक होने के नाते अरस्तू ने 'अनेकता में एकता' के सिद्धान्त की रचना की। वह उच्च वर्गों से सम्बद्ध दार्शनिकों की भाँति व्यक्तिवादी नहीं था और न वह ऐसा विचारक था जिन्होंने केवल सर्वहारा के हितों को अपने आन्दोलनों का आधार बनाया है। अत: उसने सम्पत्ति के अधिकार का औचित्य प्रतिपादित किया, परन्तु उसने सम्पत्ति के यथा-

सम्भव सामूहिक उपभोग को राज्य में शान्ति और व्यवस्था की स्थापना के लिए आवश्यक बताया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अरस्तू के राजनीतिक दर्शन में कुलीनतान्त्रिक अथवा सर्वहारा के उग्रवाद के लिए कोई स्थान नहीं है।

परन्तु अरस्तू पर इससे भी अधिक प्रभाव उसके गुरु प्लेटो की शिक्षाओं का तथा उसके द्वारा स्थापित परम्पराओं का पड़ा। यह सामान्यतः कहा जाता है कि अरस्तू की 'पॉलिटिक्स' का आरम्भ वहाँ से होता है जहाँ प्लेटो की 'लॉज' का अन्त होता है। अरस्तू के सामाजिक एवं आर्थिक निष्कर्ष प्लेटो के अन्तिम दिनों के निष्कर्षों से भिन्न नहीं हैं। अरस्तू को अपने जीवन के 20 वर्ष प्लेटो के सान्निध्य में व्यतीत करने का अवसर प्राप्त हुआ था और उसका प्रशिक्षण भी 'लॉज' की परम्पराओं के अन्तर्गत हुआ था। अतः यह उचित ही था कि 'पॉलिटिक्स' में अरस्तू ने जो स्थापनाएँ प्रस्तुत कीं, वे प्लेटो द्वारा 'लॉज' में प्रतिपादित मान्यताओं से मेल खातीं। यथार्थ में अरस्तू की मौलिकता इन मान्यताओं में अन्तर्निहित नहीं है; उसकी मौलिकता उस अध्ययन-पद्धति में निहित है जिसका उसने अनुसरण किया था। अरस्तू का आदर्श राज्य वास्तव में प्लेटो का उप-आदर्श राज्य है। चाहे वह कानून की प्रभुसत्ता का प्रश्न हो, चाहे मिश्रित संविधान की अवधारणा हो और चाहे शिक्षा-प्रणाली के महत्त्व की बात हो, अरस्तू सभी मामलों में प्लेटोवादी है। 'लॉज' में यदि प्लेटो ने सम्पत्ति के अधिकार को स्वीकृति प्रदान करने के बाद उसको राज्य द्वारा नियन्त्रित किये जाने की आवश्यकता पर बल दिया तो प्लेटो ने भी मध्यम वर्ग के बाहुल्य को राज्य के स्थायित्व के लिए आवश्यक बताया।

विचार-शैली

यद्यपि अरस्तू 20 वर्ष तक प्लेटो की एकाडेमी में प्लेटो का शिष्य रहा और स्वयं प्लेटो उसका महान् प्रशंसक था, तो भी अरस्तू की विचारधारा तथा शैली पर प्लेटो का बहुत कम प्रभाव पाया जाता है। अरस्तू प्लेटो की तुलना में न तो दर्शन के क्षेत्र में और न काव्यगत प्रतिभा में ही कोई समता रखता है। दोनों की विचार-शैली एक-दूसरे के विपरीत थी। प्लेटो कल्पना के जगत में भ्रमण करता है और संश्लेषण की पद्धति अपनाता है, तो अरस्तू वस्तु-स्थिति का अध्ययन करता हुआ विश्लेषणात्मक विचारक है।

प्लेटो की यह मान्यता थी कि वास्तविकता आदर्श में ही पायी जाती है, जिसका अर्थ है उस सर्वांगपूर्ण विचार या प्रत्यय में जिसे मनुष्य ने अपने तर्क तथा विवेक द्वारा वास्तविक सत्य का रूप समझ लिया हो। परन्तु अरस्तू ऐसे पूर्ण प्रत्ययों में वास्तविकता का अस्तित्व नहीं देखता। उसका यह विश्वास है कि संसार में हम जिस किसी वस्तु को देखते हैं उसका अपना विशिष्ट सार या वास्तविकता होती है। हमें उन समस्त वस्तुओं की वास्तविकता का भली-भाँति निरीक्षण करके तुलना और पर्यवेक्षण द्वारा सामान्य निष्कर्ष निकालने चाहिए। मैक्सी के मत से प्लेटो की विचार पद्धति कभी-कभी सार्वभौम स्वरूपों का दर्शन (the philosophy of universal form) कहलाती है; इसके विपरीत अरस्तू की पद्धति व्यक्तिगत पदार्थों का दर्शन (the philosophy of individual substances) कहलाती है।[1] प्लेटो की विचार-पद्धति 'सामान्य से विशेष की ओर चलने की', तथा अरस्तू की विचार-पद्धति

[1] Maxey, *op. cit.*, 60.

'विशेष से सामान्य की ओर जाने की' है। इसलिए प्लेटो की शैली निगमनात्मक (deductive) तथा अरस्तू की आगमनात्मक (inductive) है। प्लेटो के विचार से सत्य की खोज किसी ठोस पदार्थ विशेष के अन्तर्गत नहीं की जा सकती, बल्कि उसके सामान्य प्रत्यय द्वारा की जा सकती है। अरस्तू के मत से प्रत्येक भौतिक पदार्थ या अनुभव में वास्तविकता होती है, और इस वास्तविकता की खोज वैज्ञानिक पद्धति से तुलना तथा पर्यवेक्षण द्वारा निष्कर्ष निकालकर की जा सकती है। इन दो परस्पर विरोधी विचार-पद्धतियों के कारण प्लेटो कल्पनावादी अथच आदर्शवादी विचारक सिद्ध हुआ है। इसके विपरीत अरस्तू यथार्थवादी विचारकों का गुरु सिद्ध हुआ है।

अरस्तू ने जो कुछ लिखा है उसका अनुसरण कर सकना बहुत सरल कार्य नहीं है। इसका कारण यह है कि उसके विचारों में सम्बद्धता, तारतम्य तथा क्रमबद्धता का प्राय: अभाव है। बहुधा पुनरावृत्ति का दोष भी उनमें पाया जाता है और जहाँ किसी विचार की पुनरावृत्ति है वहाँ पुराने तथा नये विचारों में कुछ अन्तर भी पाया जाता है। प्लेटो की भाँति अरस्तू की रचनाएँ सुसम्बद्ध ग्रन्थो के रूप में नहीं हैं। उदाहरणार्थ, उसका ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' एक सुसम्बद्ध ग्रन्थ न होकर उन व्याख्यान मालाओं के संग्रह के रूप में है, जिन्हें उसने अपने शिक्षालय में अपने विद्यार्थियों के लिए तैयार किया था। इनका संकलन बहुत लम्बे अर्से के बाद एक ग्रन्थ के रूप में किया गया। अत: इस सम्भावना से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि उनमें से कई उपलब्ध नहीं हो सके हों। इसलिए 'पॉलिटिक्स' के सम्पूर्ण विचारों में क्रमबद्धता व तारतम्य न रहने का दोष आ गया हो।

व्यावहारिक ज्ञान के क्षेत्र में अरस्तू प्लेटो से कहीं अधिक आगे था। अरस्तू ने अपने राजनीतिक दर्शन के निर्माण हेतु प्रचुर सामग्री एकत्र की थी। कहा जाता है कि उसने तत्कालीन ग्रीस के 158 संविधानों का अध्ययन किया था। साथ ही उसने विभिन्न संस्कृतियों तथा सभ्यताओं का भी पर्याप्त अध्ययन किया था। उसे सिकन्दर महान् सदृश राजनेता के शिक्षक रहने तथा आजन्म उसका कृपा-पात्र बने रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उसे बचपन में राजसी वातावरण में शिक्षित होने तथा बाद में भी एक राजसी शिक्षक तथा चिकित्सक रहने का अवसर मिला था। स्वयं उसका विवाह एक राजकुमारी के साथ हुआ था। इन समस्त स्रोतों से उसे प्रचुर राजनीतिक सामग्री प्राप्त हुई। अत: उसके निष्कर्ष वास्तविक तथ्यों के परीक्षण, तुलना तथा पर्यवेक्षण पर आधारित थे। इस प्रकार उसका राजनीतिक दर्शन तत्कालीन ग्रीक विचारधाराओं तथा राजनीतिक परिस्थितियों पर आधारित था। उसने ऐतिहासिक तथ्यों तथा वस्तु-स्थितियों को अपने दर्शन हेतु निष्कर्ष निकालने का साधन नहीं बनाया, अपितु उन्हें केवल दृष्टान्तों के रूप में व्यक्त किया है। तथापि उसकी विचार-शैली प्लेटो की तुलना में उतनी उत्कृष्ट नहीं बैठती। मैक्सी ने इस तथ्य को इन शब्दों में रखा है : 'जहाँ प्लेटो अपनी काल्पनिक उड़ानें भरता है, वहाँ अरस्तू तथ्यगत एवं निष्क्रिय है; जहाँ प्लेटो बुद्धिमूलक है, वहाँ अरस्तू यथार्थ है; जहाँ प्लेटो सामान्य प्रत्ययों से तार्किक निष्कर्षों की ओर बढ़ता है, वहाँ अरस्तू विविध तथ्यों से ऐसे निष्कर्षों की ओर मन्द गति से जाता है जो तार्किक हैं, परन्तु अन्तिम नहीं; जहाँ प्लेटो हमें एक आदर्श राज्य का आभास कराता है, वहाँ अरस्तू हमें उस सामग्री को प्रदान करता है जिसके द्वारा परिस्थितियों की अनुकूलता

का अवलम्बन करते हुए एक आदर्श राज्य का निर्माण किया जा सके।'[1] इस दृष्टि से प्लेटो आदर्शवादी तथा अरस्तू यथार्थवादी है।

राजनीति तथा नीतिशास्त्र

प्लेटो ने राजनीति तथा नीतिशास्त्र के मध्य भेद नहीं किया है। उसके विचार से राजनीतिशास्त्र नीतिशास्त्र का ही बृहद् रूप है। उसने समस्त राजनीतिक समस्याओं का अध्ययन नैतिकता की दृष्टि से किया है। परन्तु अरस्तू ने इन दोनों का विवेचन पृथक्-पृथक् किया है। उसकी दो अलग रचनाएँ 'नीतिशास्त्र' (*Ethics*) तथा 'राजनीतिशास्त्र' (*Politics*) इसके प्रमाण हैं। अरस्तू के विचार से नीतिशास्त्र वैयक्तिक हित का ज्ञान है, अर्थशास्त्र पारिवारिक हित का ज्ञान है, तथा राजनीतिशास्त्र जिसे वह समस्त विद्याओं से श्रेष्ठतम (Master Science) होने की स्थिति प्रदान करता है, समस्त सामाजिक हित का ज्ञान है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि अरस्तू नैतिकता को राजनीति से पृथक् तथा असम्बद्ध मानता है। वह प्लेटो की इस धारणा का अनुगमन करता है कि उत्तम या सुखी जीवन, जिसे प्लेटो सद्‌गुणयुक्त जीवन (life of virtue) कहता था, व्यक्ति तथा राज्य दोनों का उद्‌देश्य है। अतः राजनीति तथा नीतिशास्त्र दोनों का उद्‌देश्य राज्य एवं व्यक्ति के लिए सद्‌गुणयुक्त जीवन प्राप्त करने की समस्याओं का अध्ययन है।

मैक्सी का कथन है कि अरस्तू के अगणित प्रशंसक उसे 'ज्ञानवानों में श्रेष्ठतम' (the master of them that know) कहते हैं। वास्तव में अरस्तू का ज्ञान इतना व्यापक था कि उसने अपनी रचनाओं में ज्ञान के लगभग सभी क्षेत्रों का विवेचन किया है और वह भी पूर्ण प्रामाणिकता के आधार पर। 'कई सदियों तक यह अन्तिम रूप से माना जाता रहा कि अरस्तू का तर्कशास्त्र, यान्त्रिकशास्त्र, भौतिकशास्त्र, शरीर-विज्ञान, नक्षत्र विद्या, नीतिशास्त्र, आचारशास्त्र, कला, काव्य, अर्थशास्त्र, राजनीति-शास्त्र ऐसे प्रामाणिक विचार हैं जिन पर कोई अन्य प्रामाणिक विरोध नहीं किए जा सकते।'[2] यद्यपि अरस्तू की समस्त रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं, तो भी जो प्राप्त है, उनसे यह सिद्ध होता है कि जिस विषय पर भी उसने लिखा है, उसे पूर्ण प्रामाणिकता के साथ समझाया है। उसके ग्रन्थ 'पालिटिक्स' (राजनीति) के विषय में कहा जाता है कि यह उसकी सर्वश्रेष्ठ रचना (master piece) है। यह तथ्य चाहे सही हो या न हो, किन्तु यह मानना पड़ता है कि राजनीतिशास्त्र का जिस रूप में क्रमबद्ध तथा वैज्ञानिक विवेचन इस ग्रन्थ में किया गया है, उससे पूर्व कोई भी विद्वान् ऐसा नहीं कर सका। भविष्य में अनेक राजनीतिशास्त्रियों ने अरस्तू के विचारों को अपनाया, विकसित किया अथवा उनमें परिवर्तन, परिवर्द्धन एवं

[1] 'Where Plato lets his imagination take flight, Aristotle is factual and dull; where Plato is eloquent, Aristotle is exact; where Plato leaps from general concepts to logical conclusions, Aristotle slowly works from a multitude of facts to conclusions that are logical but not final; where Plato gives us an ideal commonwealth, Aristotle gives us the material requisites out of which by adapting to circumstances a model state may be constructed.' —*Ibid.*, 61.

[2] 'For centuries Aristotle on logic, Aristotle on mechanics, Aristotle on physics, Aristotle on physiology, Aristotle on astronomy, Aristotle on metaphysics, Aristotle on ethics, Aristotle on art, Aristotle on poetry, Aristotle on economics and Aristotle on politics was almost the last word—the unimpeachable authority than which none was more authentic.' —*Ibid.*, 59.

संशोधन किए। परन्तु उन सबके विचारों में किसी न किसी रूप में अरस्तू की छाप बनी रही है। अतएव यह मानना सर्वथा उचित है कि 'अरस्तू राजनीतिशास्त्र का जनक है।'

राजनीतिशास्त्र के एक वैज्ञानिक अध्ययनकर्ता के रूप में—प्लेटो ने राजनीतिशास्त्र का पृथक् से विवेचन नहीं किया है बल्कि उसने उन आदर्शों का प्रतिपादन किया है जिनके आधार पर एक आदर्श समाज की स्थापना हो सके जिसमें व्यक्ति तथा समाज जीवन के सर्वोत्तम आदर्श की प्राप्ति कर सकें। उसने अपने दार्शनिक विचारों तथा कल्पनाओं का सहारा लेकर उसी सामान्य आदर्श पर पहुँचने के साधनों पर विचार किया है। अतएव उसकी चिन्तन-प्रणाली वैज्ञानिक होने का दावा नहीं कर सकती। इसके विपरीत अरस्तू का भी उद्देश्य वही था जो प्लेटो का था, अर्थात् वह व्यक्ति तथा समाज को सर्वोत्तम सद्गुण-युक्त जीवन की प्राप्ति कराना राज्य का मुख्य उद्देश्य मानता है। अरस्तू व्यक्ति को स्वभावतः एक राजनीतिक प्राणी कहता है। उसका यह विश्वास था कि राज्य का सदस्य रहकर ही व्यक्ति अपने जीवन की पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। अतएव उसने राजनीतिक समस्याओं का पृथक् अध्ययन किया है। उसकी चिन्तन प्रणाली 'विशेष से सामान्य की ओर चलने की' है। वह आगमनात्मक प्रणाली का अनुसरण करता है, जिसकी विशेषता तथ्यों का संग्रह करना, उन्हें समुचित रूप से समायोजित करना, उनका तुलनात्मक परीक्षण तथा पर्यवेक्षण करना और अन्त में निष्कर्ष पर पहुँचना है। अध्ययन की यह विधि वैज्ञानिक कहलाती है। राजनीतिक समस्याओं के सम्बन्ध मे नियमों तथा सिद्धान्तों का निरूपण करने के निमित्त अरस्तू ने तत्कालीन नगर-राज्यों के 158 संविधानों का अध्ययन किया था। साथ ही उसका घनिष्ठ सम्पर्क महानतम राजनेताओं के साथ रहा था, उसने अनेक राज्यों की विविध समस्याओं का ऐतिहासिक अध्ययन भी किया था। लीसियम के शिक्षालय में उसने 12 वर्ष तक अपने शिष्यों को अनुसंधान का निदेशन किया था। 'परिणामस्वरूप उसने अपने ग्रन्थ 'राजनीति' की विषय-वस्तु को ऐसा रूप प्रदान किया जो अनेक तथ्यों से युक्त, दृष्टान्तों से परिपूर्ण, प्रभावशाली ढंग से प्रामाणिक, यद्यपि पढ़ने में कठिन है, तथापि आज तक निरन्तर राजनीति विज्ञान की सर्वोत्तम रचना सिद्ध हुई है।'[1]

सैबाइन का मत है कि 'पॉलिटिक्स' अरस्तू की सुसम्बद्ध रचना नहीं है बल्कि कई वर्षों की अवधि में लिखे गये विचारों का संकलन है। इस दृष्टि से इसमें अरस्तू के विचारों की दो सीढ़ियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। 'प्रथम में वह प्लेटो के दर्शन से प्रभावित था और उसके 'स्टेट्समैन' तथा 'लॉज' के विचारों के आधार पर आदर्श राज्य का चित्रण करना चाहता था।' वह यह मानता था कि उत्तम मनुष्य तथा उत्तम नागरिक एक ही चीज है, अतः राज्य का उद्देश्य उच्चतम नैतिक प्रकृति के मानवों को उत्पन्न करना है। परन्तु कालान्तर में अरस्तू का विचार बदलने लगा और 'वह राजनीति की एक उच्चतर प्रकृति की कला तथा विज्ञान के सृजन की बात सोचने लगा।'[2] उसका विचार था कि राजनीति का यह नया विज्ञान सामान्य

[1] 'The result was that he brought a treatise bristling with citations and replete with illustrative details, not very readable, but impressively authentic that it stands today as it has through all the intervening centuries as a master piece of political science.' —*Ibid.*, 62.

[2] 'He conceived a science or art of politics on a much larger scale.' —Sabine, *op. cit.*, 89.

प्रकृति का होना चाहिए। राजनीति के अन्तर्गत यथार्थ तथा आदर्श दोनों प्रकार की राज्य-व्यवस्थाओं का अध्ययन किया जाना चाहिए ताकि उसके आधार पर विभिन्न प्रकार की राज्य-व्यवस्थाओं के अन्तर्गत समुचित ढंग से शासन का संचालन करने की कला का ज्ञान हो सके। अरस्तू का उद्देश्य यह था कि राजनीति विज्ञान की शिक्षा राजनीतिक व्यवस्था की यान्त्रिकता एवं राजनीतिक उत्तमता दोनों का ज्ञान कराने वाली होनी चाहिए ताकि राजनेता एक बुरे राज्य की शासन-कला का ज्ञान भी रख सके।[1]

इस दृष्टि से अरस्तू द्वारा प्रतिपादित राज्य विज्ञान के सिद्धान्त भावी पीढ़ियों की समस्त सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं पर लागू हो सकते हैं। वह प्लेटो के आदर्शवाद का समर्थन इसलिए नहीं करता कि वह वास्तविकता से दूर था। अरस्तू एक वैज्ञानिक की भाँति किसी नये दर्शन का प्रतिपादक न होकर केवल पूर्व से ही निवर्तमान ज्ञान का क्रमबद्ध ढंग से विवेचन एवं विश्लेषण करता है। उसकी विचार-पद्धति तार्किक एवं वैज्ञानिक है जिसका आधार वास्तविक तथ्य है, जिनका संग्रह उसने विविध स्रोतों से किया था। यह कथन पूर्णतया सही है कि 'जहाँ प्लेटो एथेंस की व्यावहारिक राजनीति से परेशान होकर आदर्श राज्य का निर्माण करता है, वहाँ अरस्तू प्लेटो के आदर्श राज्य की धारणाओं से परेशान होकर पुनः व्यावहारिक राजनीति की ओर मुड़ता है, जिसकी पद्धति प्रायोगिक है।'[2]

मैक्सी ने उचित ही कहा है कि 'प्लेटो एक सर्वश्रेष्ठ मानव की तलाश में है जो एक ऐसे राज्य का निर्माण करेगा जिसे सर्वोत्तम होना चाहिए, अरस्तू एक ऐसे विज्ञान की तलाश करता है जो एक ऐसे राज्य का निर्माण करेगा जो कि सर्वोत्तम हो सकता है।'[3] प्लेटो एक ऐसे आदर्श राज्य की स्थापना की कल्पना करता है जिसमें ज्ञान का निरपेक्ष शासन हो। नगर-राज्यों की समस्त बुराइयों का अन्त तभी हो सकता है जबकि उनके शासकों को दर्शन का ज्ञान हो। ऐसे राज्य के शासन के शीर्ष पर प्लेटो एक दार्शनिक राजा की स्थापना करना चाहता है। शिक्षा, परिवार तथा सम्पत्ति का साम्यवाद और श्रम के विभाजन की व्यवस्थाएँ ऐसे साधन हैं जो शासकों को आदर्श बनाने के लिए आवश्यक समझे गये हैं। शीर्षस्थ दार्शनिक राजा अपने ज्ञान की सत्ता द्वारा शासन का निदेशन करेगा। प्लेटो अपनी कल्पना के दार्शनिक राजा को वास्तविक ज्ञान की प्रतिमूर्ति अथच एक देवता के रूप में चित्रित करता है। आदर्श राज्य के शासन के लिए ऐसे मानव श्रेष्ठ की खोज प्लेटो के राज्य-दर्शन की प्रमुख विशेषता है। अरस्तू भी राज्य तथा शासन का उद्देश्य प्लेटो की ही भाँति व्यक्ति एवं समाज को उत्तम नैतिक जीवन प्रदान करना मानता है। वह भी एक आदर्श राज्य की कल्पना करता है। परन्तु ऐसे आदर्श राज्य के निर्माण हेतु वह सर्वोत्तम शास्त्र की रचना करता है जो कल्पना पर आधारित न होकर यथार्थ तथ्यों के वैज्ञानिक अध्ययन के द्वारा प्रतिपादित किया है। विभिन्न सिद्धान्तों एवं आदर्शों

[1] *Ibid.*, 89–90.

[2] 'Plato tired of practical politics of Athens turned to Ideal State, while Aristotle tired of Plato's Ideal State turned to practical politics based on empirical method.' —Bhandari and Sethi, *Studies in Plato and Aristotle*, 1963, 158.

[3] 'Plato seeks a superman, who will create a state as good as *ought to be*, Aristotle seeks a super science, which will create a state as good as it *can be*.' —Maxey, *op. cit.*, 68.

का प्रतिपादन अतीत एवं वर्तमान के यथार्थ तथ्यों के संग्रह, तुलना एवं पर्यवेक्षणों के आधार पर किया गया है। अरस्तू सबसे पहला विचारक था जिसने राज्य तथा शासन सम्बन्धी विविध समस्याओं का क्रमबद्ध अध्ययन करके राजनीतिशास्त्र को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया है। वह राज्य की पारिभाषिक व्याख्या करके उसकी उत्पत्ति, स्वरूप तथा उद्देश्यों का विवेचन करता है। तत्पश्चात् वह नागरिकता, राज्यसत्ता, कानून, न्याय आदि की धारणाओं को समझाकर राज्यों एवं शासनों के वर्गीकरण द्वारा विविध प्रकार के राज्यों तथा शासन-संगठनों का विवेचन करता है। उसने राज्यों की आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं, क्रान्तियों आदि का विवेचन करने के उपरान्त एक आदर्श राज्य की रूपरेखा प्रस्तुत की है। इस प्रकार अरस्तू का राजनीतिक दर्शन निश्चित रूप से एक आदर्श राजनीति विज्ञान का प्रतिपादन करता है, जिसके अध्ययन द्वारा एक आदर्श राज्य की कल्पना सम्भव हो सके।

मैक्सी ने कहा है कि 'प्लेटो का राज्य भावनामूलक विचारों का पुञ्ज है जिन्हें दार्शनिक राजा वास्तविकता प्रदान कर सकता है जो समस्त प्रचलित संस्थाओं (परम्पराओं) का अन्त करके शिक्षा तथा प्रजनन की नई प्रथा द्वारा एक पूर्णता प्राप्त सामाजिक व्यवस्था के निमित्त मानवों की नई जाति का सृजन करेगा। अरस्तू ऐसी निवर्तमान सामग्री का पुञ्ज है, जिसका पूर्णतया परीक्षण करके उसे हृदयंगम कर लिया गया है और जिसे कोई भी बुद्धिमान राजनेता उपयोग के लिए हर वक्त तैयार पाता है और यदि वह साहस करे तो अपने आदर्श हेतु उन्हें किसी भी रूप में ढाल सकता है।'[1] इसका आशय यह है कि प्लेटो का दर्शन स्वप्नलोकी राज्य का आदर्श प्रस्तुत करता है, जबकि अरस्तू का राज्य-दर्शन राज्य सम्बन्धी सिद्धान्तों का वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत करता है। दोनों के उद्देश्य समान हैं; दोनों के नैतिकता सम्बन्धी आदर्शों, सामाजिक व्यवस्था, संयम के जीवन, न्याय तथा विवेक के प्रति निष्ठा, शिक्षा की महत्ता, मानवीयता एवं उत्तम जीवन की प्राप्ति के लक्ष्यों में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर केवल साधनों का है, न कि साध्य का। 'जो लगभग प्राचीनता के स्थान पर नवीनता पर विश्वास करते है, वे प्लेटो के अनुयायी कहे जा सकते हैं और जो विज्ञान के कठिन तथा अध्यवसायशील उपयोग द्वारा प्राचीन दुनिया को नवीन बनाने पर विश्वास करते हैं, वे अरस्तू के अनुयायी हैं।'[2] प्लेटो तथा अरस्तू की विचारधाराओं, अध्ययन-पद्धतियों तथा राजनीतिक आदर्शों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा मैक्सी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'जहाँ राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में प्लेटो आदर्शवादियों, कल्पनावादियों, क्रान्तिवादियों तथा स्वप्नलोकियों का जनक है, वहाँ अरस्तू यथार्थवादियों, वैज्ञानिकों, व्यवहारवादियों तथा उपयोगितावादियों का जनक है।'[3]

[1] Maxey, *op. cit.*, 78.

[2] 'All who believe in new worlds for old, are disciples of Plato ; all who believe in old worlds made new by the tedious and toilsome use of science are disciples of Aristotle.' —*Ibid.*

[3] 'As Plato is father to idealists, romanticists, revolutionaries and utopians of political philosophy ; so Aristotle is father to realists, scientists, pragmatists and utilitarians.' —*Ibid.*

अरस्तू का राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति तथा परिभाषा

मनुष्य स्वभावतः एक राजनीतिक प्राणी है—एक यथार्थवादी राजनीतिक चिन्तक होने के नाते अरस्तू अपने गुरु प्लेटो की राज्य-सम्बन्धी धारणा के प्रत्ययवादी दृष्टिकोण को नहीं अपनाता। प्लेटो राज्य को एक प्रत्यय के रूप में लेता है और उसे व्यक्ति की आत्मा का ही विशाल रूप मानता है क्योंकि उसके मत से व्यक्ति तथा राज्य दोनों के निर्माणकारी तत्त्व समान हैं। इसके विपरीत अरस्तू राज्य को 'एक जन-समुदाय' मानता है। उसकी मान्यता है कि राज्य एक 'नैसर्गिक जन-समुदाय' है और मनुष्य स्वभावतः 'एक राजनीतिक प्राणी' है। अरस्तू एक जीवशास्त्री भी था। वह जीव-विज्ञान के विकास के नियमों का अनुसरण राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी करता है। उसके मत से कोई भी वस्तु प्रारम्भ में अपनी सरलतम एवं आरम्भिक रूप में रहती है। उसका पूर्ण रूप तभी प्रकट होता है जब वह अपनी विकसित अवस्था को प्राप्त करती है। उदाहरणार्थ, किसी बीज की वास्तविक प्रकृति तभी प्रकट होती है जब वह उगकर पौधे के रूप में विकसित होता है। विभिन्न प्रकार के बीजों के पौधों के रूप में उगने व बढ़ने के क्रम में भौतिक परिस्थितियाँ (मिट्टी, नमी, ताप आदि) उनकी प्रकृति को नहीं बदल सकतीं। वह इसी नियम को मानव समाज पर भी लागू करता है। उसके मत से मानव जन-समुदाय का आरम्भिक रूप परिवार है जिसकी मौलिक प्रकृति श्रम-विभाजन है अर्थात् परिवार के विभिन्न सदस्य भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य करते हुए सम्पूर्ण परिवार एवं उसके प्रत्येक सदस्य के हितों का ध्यान रखते हैं। परिवार की इसी प्रकृति का विकसित रूप समाज या जन-समुदाय होता है। वह जन-समुदाय अपने विकसित रूप में मानव को उच्चतर प्रकृति के विकास का अवसर प्रदान करता है। यह विकसित रूप राज्य है। उसमें मानव प्रकृति का वास्तविक रूप प्रकट होता है। मानव तथा अन्य जीवों में यही अन्तर है कि मानव में विवेक शक्ति है जिसके द्वारा वह सभ्य, सुसंस्कृत एवं सुखी जीवन प्राप्त करने के लिए सचेष्ट रहता है। आरम्भिक जन-समुदाय मनुष्य को केवल प्रजननात्मक तथा भौतिक तृष्णाओं की पूर्ति कराता है, जो अन्य निम्न जीव-धारियों की भी प्रकृति है। परन्तु मानव प्रकृति की विशेषता यह है कि वह उसे सभ्य, उत्तम तथा नैतिक जीवन प्राप्त करने को प्रेरित करती है। इनकी प्राप्ति का माध्यम राज्य है, जिसमें मानव अपनी प्रकृति के वास्तविक रूप का विकास कर सकता है। अतः राज्य प्राकृतिक है क्योंकि मानव प्रकृति के लिए राज्य में अपनी उच्चतम शक्तियों का विकास करना स्वाभाविक है। 'चूंकि राज्य ही मानव को पूर्णत्व प्राप्त एवं आत्म-निर्भर जीवन प्रदान कर सकता है, अतः वह मानव प्रकृति के नियमों के अनुसार नैसर्गिक समुदाय है। इसीलिए अरस्तू मनुष्य को नैसर्गिक रूप से एक राजनीतिक प्राणी कहता है जिसका उद्देश्य राज्य का जीवन व्यतीत करना है।'[1]

मानव की आवश्यकता-पूर्ति के लिए समाज आवश्यक—अरस्तू राज्य तथा समाज के मध्य भेद नहीं करता। उसकी दृष्टि में एक उत्तम व्यक्ति तथा एक उत्तम नागरिक के मध्य कोई भेद नहीं है, अर्थात् एक उत्तम व्यक्ति को एक उत्तम नागरिक भी होना चाहिए। राज्य की उत्पत्ति की व्याख्या अरस्तू मनुष्य की स्वाभाविक

[1] 'Man is a political animal destined by nature for state-life.'—Aristotle.

प्रकृति के सन्दर्भ में करता है। उसकी धारणा है कि मनुष्य स्वभावतः अपनी भौतिक आवश्यकताओं तथा जातिगत प्रवृत्तियों की तुष्टि की अभिलाषा करता है। अरस्तू के अनुसार, विकास-क्रम में जीव तीन चरणों से होकर बढ़ता है। पहले चरण में वह वनस्पति के रूप में है, जिसका गुण वासना या तृष्णा (appetite) है; दूसरे चरण में वह जानवर के रूप में विकसित होता है, जिसका गुण आवेग (passion) है; और तीसरे चरण में वह मानव के रूप में प्रकट हुआ है, जिसका गुण विवेक (reason) है। समाज का विकास भी इन्हीं तीन चरणों मे उक्त गुणों या तत्त्वों के आधार पर होता है। मनुष्य में विवेक है, अतः उसका उद्देश्य अधिकाधिक विवेकयुक्त जीवन व्यतीत करना होता है। यह उसका अन्तिम हेतु (final cause) है। प्रत्येक वस्तु सदैव अपने अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति की ओर बढ़ती है। वह अन्तिम लक्ष्य उस वस्तु का अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करना होता है। मनुष्य का विवेक उसे सुखी व विवेकपूर्ण जीवन व्यतीत करने की ओर प्रेरित करता है क्योंकि ऐसा जीवन ही उसे अपने वास्तविक स्वरूप को प्रदान कर सकता है। अत. मनुष्य इस उद्देश्य की प्राप्ति के निमित्त पहले परिवार में संगठित होता है जो जीव के विकास-क्रम में वनस्पति-आत्मा के वासना गुण की अभिव्यक्ति है। परिवार मनुष्य को उसके अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक नहीं हो पाता। अत नैसर्गिक विकास-क्रम में उसमें जानवर-आत्मा का आवेग गुण उत्पन्न होता है, और इस क्रम में परिवार गाँव के रूप में संगठित होते हैं। परन्तु मानव आत्मा का विवेक-गुण उसे अन्तिम लक्ष्य की ओर बढ़ाता है और इसी के कारण मनुष्य राज्य के रूप में संगठित होते हैं, जो स्वयं विवेक गुण की अभिव्यक्ति है। मानव में तृष्णा, संवेग तथा विवेक तीनों गुण हैं। इन्हीं गुणों के कारण मानव परिवार में, फिर गाँव में, और अन्ततः राज्य में संगठित होते हैं। इस दृष्टि से राज्य परिवारों तथा गाँवों का समूह है। इसकी उत्पत्ति मानव की स्वाभाविक प्रकृति के फलस्वरूप होती है, अतः वह स्वाभाविक है। वह मानव प्रकृति के तत्त्वों के विकास का फल है। इसी अर्थ में मनुष्य भी स्वभावतः एक राजनीतिक प्राणी है।

मनुष्य अपनी निम्नतर इच्छाओं (प्रजनन, भोजन, वस्त्र, आवास आदि) की पूर्ति के लिए परिवार में जीवन व्यतीत करता है। इसमें श्रम-विभाजन के सिद्धान्त के आधार पर पति-पत्नी तथा उनके बच्चे और दास पारिवारिक दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए परस्पर संयुक्त होते हैं। मानव प्रकृति की उच्चतर आवश्यकताओं की पूर्ति परिवार में नहीं हो सकती। मानव प्रकृति में सामुदायिकता (gregariousness) की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। मानव केवल अपनी भौतिक तथा प्रजनन सम्बन्धी तृष्णा की पूर्ति तक ही सन्तुष्ट नहीं रहता। वह जीवन की पूर्णता के लिए सांस्कृतिक एवं अन्य सुविधाओं को भी अर्जित करना चाहता है। अतः सामाजिकता की प्रवृत्ति तथा उच्चतर जीवन की आकांक्षाएँ परिवारों को उच्चतर समुदाय, ग्राम के रूप में संयुक्त करती हैं। अतः ग्राम का उद्देश्य मनुष्य के दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति की अपेक्षा कुछ और अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है। परन्तु ग्राम भी मनुष्य जीवन को पूर्णत्व प्रदान करने का साधन नहीं है। मानव प्रकृति की सम्पूर्ण आकांक्षाओं की पूर्ति जिनके द्वारा मानव मानव बनता है, राज्य में ही हो सकती हैं। राज्य उसे उत्तम जीवन प्रदान करने में सहायक सिद्ध होता है। इसमें मनुष्य अपने 'स्व' का सही स्वरूप प्राप्त कर सकता

है और अपनी नैतिक तथा विवेकमय प्रकृति को प्राप्त कर सकता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ग्राम राज्य के रूप में संयुक्त होते हैं। चूँकि राज्य में मनुष्य प्रकृति अपने पूर्ण 'स्व' का अनुभव करती है, अतः राज्य सर्वोच्च समुदाय है। वह आत्म-निर्भर एवं नैतिक समुदाय है। इसमें समस्त निम्नतर समुदाय सम्मिलित हैं और इसका उद्देश्य मानव को सर्वोत्तम भलाई प्रदान करना है। अरस्तू का कथन है कि राज्य का अस्तित्व उत्तम जीवन के लिए है, न कि केवल जीवन के लिए। राज्य की 'आत्म-निर्भरता' की प्रकृति पर अरस्तू सर्वाधिक जोर देता है। सैबाइन के मत से, 'इसका अर्थ अंशतः राज्य की प्रादेशिकता से तथा आर्थिक निर्भरता का साधन होने से है, साथ ही उसकी राजनीतिक स्वतन्त्रता से भी है, परन्तु मूल रूप से इनसे नहीं है।'[1] यह मनुष्य के लिए सभ्य जीवन की आवश्यकताओं को प्रदान करता है। इसका अस्तित्व जीवन की आवश्यकताओं के लिए है, परन्तु इसका निरन्तर अस्तित्व उत्तम जीवन के लिए होता है।'[2]

राज्य अन्य समुदायों का समूह है, वह सर्वोच्च समुदाय है—इन तर्कों का निष्कर्ष यह है कि जिन आवश्यकताओं की पूर्ति राज्य कराता है वे पूर्णतया विवेक पर आधारित मानवीय जीवन की आवश्यकताएँ हैं। परिवार केवल उन भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कराता है जो सभी जीवों के लिए आवश्यक हैं अर्थात् जो आवेगों की जात हैं। ग्राम सामाजिकता की प्रवृत्ति से सम्बद्ध कुछ ही आवश्यकताओं की पूर्ति कराता है, सम्पूर्ण तथा अन्तिम आवश्यकताओं की नहीं क्योंकि इनके लिए एक विवेकशील प्राणी में भाषण तथा उचित-अनुचित के मध्य भेद कर सकने की क्षमता होनी चाहिए। राज्य इन विवेकशील शक्तियों से भी उच्चतर विकास का अवसर प्रदान करता है। मनुष्य स्पष्टतया एक राजनीतिक प्राणी है। वही एकमात्र ऐसा प्राणी है जो राज्य में रहते हुए कानून के अनुसार आचरण करता है और कला, विज्ञान, धर्म तथा सभ्यता की विविध प्रकार की संस्थाओं का निर्माण करता है। ये संस्थाएँ मानव के पूर्ण विकास की द्योतक हैं, जिन्हें मनुष्य राजनीतिक समाज में ही प्राप्त कर सकता है। राज्य से बाहर रहने वाला प्राणी या तो देवता होगा या जानवर, जो कि मानव से उच्चतर या निम्नतर स्तर का होता है। इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति के क्रम का विवेचन करते हुए अरस्तू राज्य की परिभाषा इस प्रकार करता है, "राज्य परिवारों तथा ग्रामों का समूह है जिसका उद्देश्य एक पूर्ण तथा उत्तम जीवन प्राप्त कराना है।'[3] राज्य की यह परिभाषा अरस्तू के प्रकृतिवादी दर्शन को प्रदर्शित करने के साथ-साथ उसके यथार्थवाद को भी परिलक्षित करती है।

राज्य का स्वरूप

अरस्तू द्वारा दी गई राज्य की परिभाषा के आधार पर राज्य एक राजनीतिक समुदाय है। वह एक नैतिक समुदाय है क्योंकि उसका उद्देश्य नागरिकों को उत्तम जीवन प्राप्त कराना है। साथ ही राज्य अन्य समुदायों की अपेक्षा सर्वोच्च समुदाय

[1] 'This refers in part to its territory and its means of economic support, and also to its political independence, but not primarily to these.' —Sabine, *op. cit.*, 112.

[2] 'State exists for life and it continuous to exist for good life.'

[3] 'State is a union of families and villages having for its end a perfect and good life.'

है और अन्य समुदाय एवं व्यक्ति राज्य के अंग हैं।

राज्य व्यक्ति से पूर्व है—अरस्तू का कथन है कि राज्य व्यक्ति से पूर्व है (State is prior to individual)। इसका आशय यह है कि राज्य मानव-कृत समुदाय नहीं है बल्कि यह एक प्राकृतिक समुदाय है। व्यक्ति, परिवार तथा गाँव सब उसके अंग हैं और राज्य सम्पूर्ण (अंगी) है। जिस प्रकार सम्पूर्ण से उसके एक अंग को अलग कर देने पर वह अंग आत्मनिर्भर नहीं हो सकता, न उसका अपना पृथक् निजी अस्तित्व होता है, उसी प्रकार राज्य से पृथक् रहने पर व्यक्ति या अन्य समुदाय भी आत्म-निर्भर नहीं हो सकते। इसलिए व्यक्ति तथा राज्य का सम्बन्ध अंग तथा अंगी का है। राज्य पूर्ण है, व्यक्ति उसका अंग। अरस्तू का कहना है कि 'जो व्यक्ति समाज में नहीं रहना चाहता अथवा जिसे समाज या राज्य की इसलिए आवश्यकता नहीं है कि वह अपने को आत्म-निर्भर तथा पूर्ण समझता है, वह या तो देवता हो सकता है या जंगली जानवर। उसे राज्य का अंग नहीं माना जा सकता।'[1]

समय की दृष्टि से व्यक्ति राज्य से पूर्व आता है, क्योंकि पहले व्यक्ति है, फिर परिवार है, परिवारों से ग्राम और अन्ततः ग्रामों से राज्य बनता है। परन्तु 'प्रकृतितः' (by nature) राज्य इन सबसे पूर्व है। इसका, सैबाइन के अनुसार, यह अर्थ है कि 'राज्य का विकास अधिक पूर्णता से हुआ है, इसलिए वह समाज में अन्तर्निहित तत्त्वों का द्योतक है।'[2] राज्य का जीवन इस बात को प्रदर्शित करता है कि मानव प्रकृति में कौनसी बातें अन्तर्निहित हैं। इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से राज्य प्राकृतिक एवं मानव सम्बन्धों के विकास का अन्तिम चरण है। विकास का प्रथम चरण परिवार, द्वितीय ग्राम, तथा अन्तिम राज्य है। परन्तु दार्शनिक एवं तार्किक दृष्टि से राज्य व्यक्ति से पूर्व है, क्योंकि तर्क यही मानता है कि सम्पूर्ण वस्तु अपने अंग से पूर्व होती है। उदाहरण के लिए कोई चित्र जो पूर्ण है अपने अंगों से पूर्व है। उसके पूर्ण रूप को देखकर ही उसके अंगों का ज्ञान किया जा सकता है। इसी प्रकार शरीर के विभिन्न अंगों का ज्ञान तभी किया जा सकता है जबकि पहले पूर्ण शरीर का आभास हो। हाथ, पैर, उदर, नाक, कान, मुँह आदि सम्पूर्ण शरीर के अभाव में कोई माने नहीं रख सकते और न उनमें अपने अस्तित्व की पूर्णता विद्यमान रह सकती है। वे तभी अपना वास्तविक अस्तित्व प्रदर्शित कर सकते हैं जब वे सम्पूर्ण शरीर के साथ यथास्थान अस्तित्व रखें। तभी वे अपना वास्तविक उद्देश्य पूर्ण कर सकते हैं। इसी प्रकार राज्य पूर्ण है और समुदाय तथा व्यक्ति उसके अंग हैं, वे राज्य के अंग के रूप में रहकर ही पूर्ण सिद्ध हो सकते हैं। अतः राज्य व्यक्ति से पूर्व है। इस प्रकार अनेक समता विषयक तर्कों के आधार पर अरस्तू यह दर्शाता है कि सम्पूर्ण चीज हमेशा अपने अंगों से पूर्व होती है, तो राज्य भी जो कि पूर्ण है अपने अंगों (व्यक्तियों तथा लघुतर समुदायों, परिवारों तथा ग्रामों) से पूर्व है।

इस सम्बन्ध में अरस्तू 'पदार्थ तथा रूप' (matter and form) तथा उद्देश्य या कारण (end or causes) के सिद्धान्त के आधार पर भी अपनी इस

[1] 'He who is unable to live in society or who has no need of it, because he is sufficient for himself must be either a beast or a God. He is no part of the state.'

[2] 'It (State) is more completely developed and, therefore, the more indicative of what the community has implicit in it.' —Sabine, *op. cit.*, 113.

धारणा की पुष्टि करता है कि राज्य व्यक्ति से पूर्व है। अरस्तू के मत से जिस प्रकार भ्रूण (embryo) एक पदार्थ है और बच्चा उसका रूप तथा उद्देश्य है, बच्चा पदार्थ है और मनुष्य उसका रूप तथा उद्देश्य है; उसी प्रकार परिवार पदार्थ है और गाँव उसका रूप तथा उद्देश्य है, पुनः गाँव पदार्थ है और राज्य उसका रूप तथा उद्देश्य है। विकास-क्रम में राज्य उसी प्रकार व्यक्ति से पूर्व है जिस प्रकार मनुष्य बच्चे से पूर्व है; वृक्ष अपने फल या बीज से पूर्व है, क्योंकि मनुष्य या वृक्ष अन्तिम उद्देश्य हैं और वे पूर्ण हैं। बच्चे की उत्पत्ति पूर्व से विद्यमान मानव के माध्यम से ही हो सकती है। इसी प्रकार मानव अपने वास्तविक स्वरूप में पूर्व से विद्यमान राज्य के माध्यम से ही आ सकता है। इसलिए भी राज्य व्यक्ति से पूर्व है।

राज्य के स्वरूप के सम्बन्ध में अरस्तू का यह मत कि राज्य व्यक्ति से पूर्व है, राज्य के सावयविक स्वरूप को दर्शाता है। साथ ही इस मत की पुष्टि में अरस्तू राज्य को प्राकृतिक या नैसर्गिक मानते हुए अपने प्रकृतिवाद का अवलम्बन करता है। अरस्तू के इस सिद्धान्त की मान्यता यह है कि 'किसी वस्तु की प्रकृति उसका उद्देश्य है और उसका अन्तिम कारण तथा उद्देश्य उसकी सर्वोत्तमता है, जिसका अभिप्राय आत्म-सम्पन्नता है।'[1] कोई भी वस्तु चाहे वह जानवर हो, या मानव, अथवा मानव समुदाय हो या वनस्पति, जब वह अपने पूर्ण रूप में विकसित होती है तो उसी को प्रकृति कहा जाता है, और पूर्ण रूप में विकसित होना अथवा आत्म-निर्भर होना उसका अन्तिम उद्देश्य होता है। इस प्रकार प्रत्येक चीज अपने अन्तिम उद्देश्य की दिशा में विकसित होने की ओर प्रवृत्त रहती है। यही उसकी प्रकृति है और इसी में उसकी सर्वोत्तमता निर्भर करती है। यह प्रकृति का नियम है। राज्य की उत्पत्ति तथा विकास भी इसी प्रक्रिया से होता है। अरस्तू ने कहा है, 'जब अनेक गाँव एक ऐसे एकाकी समुदाय मे संगठित होते हैं, जो पूर्ण हैं और जो इतना विशाल है कि वह लगभग या पूर्णतः आत्म-निर्भर हो सकता है तो उससे राज्य की उत्पत्ति होती है।' इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति जीवन की आवश्यकताओं के लिए होती हैं और उत्तमोत्तम जीवन के लिए वह निरन्तर बना रहता है। इसलिए राज्य प्राकृतिक है, क्योंकि अन्य छोटे समुदायों की भाँति उसकी उत्पत्ति तथा उसका विकास मानव-प्रकृति का प्रतिफल है। इसीलिए अरस्तू ने कहा था कि 'यदि कोई व्यक्ति राज्य से बाहर या उसके बिना आत्म-निर्भर हो सकता है तो वह मानव नहीं है बल्कि या तो कोई देवता है या दानव।'

नैतिक तथा व्यावहारिक तर्क—अरस्तू के इस कथन का कि 'राज्य व्यक्ति से पूर्व है', यह निष्कर्ष है कि राज्य एक ऐसा नैसर्गिक समुदाय है जिसमें रहकर व्यक्ति तथा अन्य समुदाय अपना पूर्ण तथा वास्तविक विकास कर सकते हैं। उसके बिना वे आत्म-निर्भर नहीं हो सकते। राज्य ही ऐसा समुदाय है जो व्यक्तियों के लिए सामाजिक सुरक्षा तथा शान्ति-व्यवस्था प्राप्त करा सकता है और उन्हें जीवन की पूर्णता के लिए विविध सुविधाएँ प्रदान कर सकता है। अपने सदस्यों के उत्तम जीवन के लिए राज्य ही विध्यात्मक रूप से आवश्यक साधन जुटा सकता है और उन नैतिक प्रतिबन्धों अर्थात् कानूनों की व्यवस्था कर सकता है, जो श्रेष्ठ जीवन

[1] 'The nature of a thing is its end, and the final cause and end of a thing is the best, and to be self-sufficing is the end and the best.'

के लिए आवश्यक हैं। अतएव राज्य के कानून मानव की इच्छाओं की पूर्ति के साधन हैं। उनके द्वारा मनुष्य सर्वोत्तम सद्‌गुणों तथा अपनी पूर्णता की उपलब्धि कर सकता है। राज्य के कानून व्यक्ति के उत्तम जीवन के मार्ग में बाहरी प्रतिबन्ध मात्र नहीं होते, बल्कि विध्यात्मक भलाई करते हैं। इस प्रकार राज्य व्यक्ति को आत्म-निर्भर जीवन प्रदान करने में सहायक सिद्ध होता है। परिवार, ग्राम तथा अन्य लघुतर संवास व्यक्तियों को इन सब सुविधाओं की उपलब्धि कराने की क्षमता नहीं रख सकते। राज्य तथा परिवार में जो अन्तर है, वह उनके रूप (kind) का है, न कि मात्रा (degree) का। उदाहरणार्थ, परिवार का मुखिया अपनी पत्नी के ऊपर एक वैधानिक सलाहकार के रूप में शासन करता है, न कि एक स्वेच्छाचारी शासक के रूप में; इसी प्रकार अपने बच्चों के ऊपर वह एक राजा के रूप में शासन करता है, न कि एक अत्याचारी अधिनायक के रूप में; दासों के ऊपर उसका शासन एक स्वेच्छाचारी शासक के रूप में होता है। परन्तु राज्य के प्रत्येक नागरिक के साथ शासक का सम्बन्ध एक-सा होता है। अतः परिवार तथा राज्य के मध्य अन्तर केवल रूप का है। यह इसलिए है कि परिवार तथा ग्राम या अन्य संवास व्यक्ति की कुछ सीमित आवश्यकताओं—भौतिक, सामुदायिक या सांस्कृतिक—की ही पूर्ति करते हैं, परन्तु राज्य उसकी नैतिक एवं श्रेष्ठतम आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, जो उसे मानव बनाती हैं और उसे पूर्णत्व प्रदान करती हैं। अरस्तू ने कहा है, 'यदि समस्त समुदायों का उद्‌देश्य कुछ भलाई है तो राज्य, जो कि राजनीतिक समुदाय है, और समस्त समुदायों से सर्वोच्च समुदाय है और अन्य समुदायों को अपने में शामिल करता है, का उद्‌देश्य, अन्यों की तुलना में सर्वोच्च भलाई है।'

राज्य का सावयव रूप—अरस्तू ने राज्य की तुलना एक जीवधारी से की है। यद्यपि उसने राज्य के सावयव सिद्धान्त की विशद व्याख्या नहीं की है, तथापि इन तुलनाओं द्वारा यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अरस्तू के सिद्धान्त में राज्य के सावयव सिद्धान्त के अंकुर विद्यमान थे। अरस्तू के मत से जीवधारी के शरीर में दो प्रकार के अंग होते हैं जिनमें से एक को आवश्यक (integral) तथा दूसरे को योगदानकारी (contributory) अंग कहा जा सकता है। जीवधारी के शरीर के कुछ अंग यथा हाथ, पैर, उदर, मुख आदि उसके अभिन्न अंग हैं उनके बिना शारीरिक ढाँचा पूर्ण नहीं हो सकता। इसी प्रकार राज्य में उसके सैनिक संगठन, कार्यपालिका, व्यवस्थापिका, न्यायपालिका, उसकी भौगोलिक संरचना आदि उसके अभिन्न अंग हैं क्योंकि इनके अभाव में राज्य की दैहिक संरचना की कल्पना नहीं की जा सकती। दूसरी ओर जीवधारी के शरीर में रक्त, मांस तथा विभिन्न प्रणालियाँ उसके योगदानकारी अंग हैं, वे शरीर को बनाये रखते हैं। इसी प्रकार राज्य में कृषक, शिल्पी, श्रमिक, व्यापारी आदि वर्ग राज्य के योगदानकारी अंग कहे जा सकते हैं।

राज्य के स्वरूप के सम्बन्ध में अरस्तू की प्रकृतिवादी धारणा तथा उसका हेतुवादी (teleological) दृष्टिकोण यह दर्शाते हैं कि वह राज्य को एक सावयव के रूप में मानता है। उसने कहा है कि 'राज्य स्वभावतः परिवार तथा व्यक्ति से पूर्व है, क्योंकि राज्य पूर्ण है और व्यक्ति या परिवार या गाँव उसके अंग हैं। और चूँकि सम्पूर्ण सदैव अपने अंगों से पूर्व होता है अतः राज्य भी अपने अंगों से पूर्व

है।' यह दृष्टिकोण स्पष्टतया राज्य को एक सावयव के सदृश मानने का द्योतक है। अरस्तू ने आगे कहा है, 'यदि सम्पूर्ण शरीर को नष्ट कर दिया जाय तो फिर हाथ या पैरों का अस्तित्व नहीं रहेगा; वे केवल इसी अर्थ में रह सकते हैं जैसे कि पत्थर या लकड़ी के बने हाथ-पैर। किसी भी वस्तु की व्याख्या उसकी कार्य-शक्ति के आधार पर की जा सकती है। सम्पूर्ण जीवित शरीर से पृथक् रहकर हाथ, पैर आदि अंगों की कार्यगत शक्ति समाप्त हो जाती है, अतः वे अपना वास्तविक स्वरूप खो देते हैं। वे केवल नाम की चीजें रह जाते हैं। इसी प्रकार राज्य से पृथक् रहने पर व्यक्ति की स्थिति भी ऐसी ही हो जाएगी। बिना व्यक्तियों, परिवारों तथा ग्रामों के राज्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतः राज्य एवं उसके निर्माणकारी तत्त्वों के मध्य आंगिक सादृश है। राज्य में व्यक्तियों की स्थिति ऐसी ही है जैसी शरीर में उसके विभिन्न अंगों की होती है। राज्य के जीवन की उत्तमता पर ही उसके अंगों की उत्तमता निर्भर करती है।

इस प्रकार राज्य सम्पूर्ण है जिसका निर्माण विविध प्रकार के अंगों से हुआ है जो सम्पूर्ण के हित में विविध प्रकार से उसकी संरचना, कार्यों तथा विशेषताओं का प्रतिपादन करते हैं, परन्तु ये सब अंग सम्पूर्ण पर निर्भर हैं न कि उससे स्वतन्त्र। राज्य तथा व्यक्ति कई दृष्टियों से समरूप (identical) हैं। व्यक्ति की भांति राज्य भी एक ऐसा व्यक्तित्व है जो नैतिक जीवन व्यतीत करता है। व्यक्ति की भाँति उसके जीवन का उद्देश्य भी सद्‌गुणों से युक्त तथा सुखी जीवन की प्राप्ति करना है। राज्य के सद्‌गुण व्यक्ति के सद्‌गुणों के ही विशाल रूप हैं। अरस्तू के ये विचार राज्य के सावयव स्वरूप को प्रदर्शित करते हैं।

राज्य का उद्‌देश्य

राज्य के स्वरूप, उत्पत्ति, पारिभाषिक व्याख्या आदि के सम्बन्ध में अरस्तू प्लेटो की भाँति कल्पनामूलक आदर्शवादी विद्वानों का प्रतिपादन नहीं करता, बल्कि वह यथार्थवादिता के साथ सामान्य निष्कर्ष निकालता है। परन्तु जहाँ तक राज्य के कार्य-क्षेत्र का सम्बन्ध है अरस्तू तथा प्लेटो के दृष्टिकोण में कोई विशेष अन्तर नहीं है। राज्य के कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध में आधुनिक युग में अनेक विचारधाराओं (व्यक्तिवाद, अराजकतावाद, समाजवाद, आदर्शवाद आदि तथा उनके विभिन्न रूपों) का प्रतिपादन किया गया है। इनमें से कुछ तो राज्य के कार्य-क्षेत्र को बहुत विस्तृत मानती हैं, और कुछ राज्य के कार्य-क्षेत्र को सीमित करना चाहती हैं। कुछ विचार-धाराओं के प्रतिपादक राज्य को समाप्त ही कर देना चाहते हैं। लोक-कल्याणकारी राज्य का उद्‌देश्य भी जनता के भौतिक कल्याण की अभिवृद्धि करना है। यह सच है कि आधुनिक राज्यों की स्थिति प्राचीन ग्रीक नगर-राज्यों की स्थिति से बिल्कुल भिन्न है। प्लेटो तथा अरस्तू के मस्तिष्क में आधुनिक काल के विशाल एवं वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप विकसित अर्थव्यवस्था वाले जटिल जीवन से भरे राज्यों की धारणा नहीं हो सकती थी। उनका राज्य ग्रीक नगर-राज्यों के सदृश्य कृषि-प्रधान अर्थव्यवस्था वाला छोटा सा जन-समूह था, जिसे वे पूर्णतया आत्म-निर्भर बनाना अपना उद्‌देश्य रखते थे। उनके मत से आत्म-निर्भर राज्य के अन्दर ही व्यक्ति को सुखी जीवन प्राप्त हो सकता है। अतः राज्य के लिए 'आत्म-निर्भरता' तथा व्यक्ति के लिए उत्तम तथा सद्‌गुण-युक्त जीवन की प्राप्ति इन विचारकों की

दृष्टि में राज्य का मुख्य उद्देश्य है।

सद्गुण-युक्त जीवन की प्राप्ति—अरस्तू की धारणा में उत्तम जीवन का अभिप्राय आन्तरिक एवं बाह्य दोनों दृष्टियों से व्यक्ति का जीवन उत्तम बनाना है। इसका यह अर्थ है कि व्यक्ति को नैतिक, बौद्धिक तथा आत्मिक विकास करने का अवसर मिले। साथ ही उसकी भौतिक आवश्यकताओं की भी पूर्ति पूर्णरूपेण हो सके। चूँकि इन सबकी पूर्ति व्यक्ति राज्य का सदस्य रहकर ही कर सकता है जो कि स्वयं आत्म-निर्भर समुदाय है, अतः राज्य का जीवन व्यक्ति के लिए आवश्यक तथा अपरिहार्य है। आत्म-निर्भरता तथा उत्तम जीवन व्यक्ति एवं राज्य दोनों के लिए आवश्यक हैं। इसलिए अरस्तू ने कहा है कि 'राज्य सद्गुण-युक्त जीवन की प्राप्ति में एक भागीदार है' (State is a partner in the life of virtue)। राज्य की महानता इस बात पर निर्भर नहीं करती है कि वह शक्तिशाली है, बल्कि इस तथ्य पर निर्भर करती है कि उसका नैतिक उद्देश्य है।

सर्वोच्च सद्गुणों का विकास—अरस्तू के राज्य-सम्बन्धी आदर्श में व्यक्तिवाद तथा आदर्शवाद का सुन्दर समन्वय पाया जाता है। वह व्यक्ति की वैयक्तिकता को राज्य के नाम पर बलिदान नहीं कर देना चाहता जैसा कि हीगल के आदर्शवादी विचारों में पाया जाता है। अरस्तू राज्य को सर्वोच्च तथा नैसर्गिक समुदाय तो मानता है परन्तु राज्य की सर्वोच्च इच्छा के समक्ष व्यक्ति को विलीन करके राज्य की निरंकुशता का समर्थन नहीं करता। राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के लिए है और राज्य का कार्य व्यक्ति के उत्तम जीवन की उपलब्धि कराना है। व्यक्ति तथा राज्य दोनों की समरूपता इसी अर्थ में है कि न्याय, सत्य, आत्म-संयम, बुद्धि, उत्साह आदि सद्गुण व्यक्ति तथा राज्य दोनों के हैं। व्यक्ति इनकी प्राप्ति राज्य में रहकर ही कर सकता है। अतः राज्य का उद्देश्य व्यक्ति में इन सद्गुणों का विकास करना है। अरस्तू यह मानता है कि समाज में प्रत्येक संवास का उद्देश्य किसी न किसी भलाई की प्राप्ति करना है, चूँकि राज्य सर्वोच्च संवास है, अतः उसका उद्देश्य भी सर्वोच्च भलाई की प्राप्ति है। इस उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त राज्य को कानून तथा न्याय की भी समुचित व्यवस्था करनी पड़ती है। अरस्तू ने कहा है कि 'एक पूर्णता प्राप्त मानव सब जीवों से श्रेष्ठतम होता है, परन्तु यदि उसे कानून तथा न्याय से पृथक् रखा जायेगा तो वह निकृष्टतम जानवर हो जायेगा।'[1] इस दृष्टि से अरस्तू की धारणा में व्यक्तिवाद तथा आदर्शवाद का सम्मिश्रण है।

शिक्षा—अरस्तू की धारणा में राज्य केवल बल-प्रयोग द्वारा दण्ड देने वाला समुदाय नहीं है। वह विध्यात्मक तथा निषेधात्मक दोनों प्रकार के साधनों से व्यक्तियों को उत्तम जीवन प्राप्त करने की सुविधाएँ प्रदान करता है। वह केवल एक पुलिस राज्य नहीं है जिसका उद्देश्य आन्तरिक तथा बाह्य सुरक्षा की व्यवस्था करना मात्र हो। वह व्यक्ति को पूर्ण तथा आत्म-निर्भर जीवन प्रदान करने की सुविधाएँ देता है। व्यक्ति एवं राज्य दोनों का लक्ष्य सद्गुण-युक्त उत्तम जीवन की प्राप्ति है। इसके अन्तर्गत नैतिकता तथा आध्यात्मिकता एवं भौतिक समृद्धि सभी की प्राप्ति शामिल है। ऐसा श्रेष्ठ जीवन उत्तम प्रकार की शिक्षा के बिना सम्भव नहीं है। अतः शिक्षा की नितान्त आवश्यकता है। शिक्षा की व्यवस्था राज्य का

[1] 'For man, when perfected, is the best of animals but when separated from law and justice, he is the worst of all.' —Aristotle.

सबसे पहला कार्य होना चाहिए। यह व्यक्ति को शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में श्रेष्ठता प्रदान कराती है। ऐसा राज्य जिसका लक्ष्य विस्तारवादी हो, व्यक्तियों को उत्तम जीवन की इन सुविधाओं को प्रदान करने में असमर्थ है। अतः अरस्तू का आदर्श आत्म-निर्भर नगर-राज्य है। भौतिक आत्म-निर्भरता तथा भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति साधन हैं, आध्यात्मिक एवं नैतिक जीवन साध्य है। अतः राज्य का उद्देश्य व्यक्तियों को आध्यात्मिक जीवन सुलभ कराना है, जिस हेतु भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कराना भी आवश्यक है। निषेधात्मक कार्यों के रूप में राज्य दण्ड तथा बल-प्रवर्ती शक्तियों के प्रयोग की व्यवस्था भी करता है, ताकि समाज से उन तत्त्वों का निराकरण किया जा सके जो उत्तम जीवन के मार्ग में बाधक सिद्ध होते हैं।

निष्कर्ष

राज्य की उत्पत्ति, स्वरूप तथा उद्देश्यों के सम्बन्ध में अरस्तू के विचारों के आधार पर राज्य की विशेषताओं को इस प्रकार रखा जा सकता है :

राज्य एक आत्म-विर्भर तथा सर्वोच्च नैसर्गिक जन-समुदाय है, जो व्यक्ति से पूर्व है। वह अपने अन्दर विविध प्रकार के तत्त्वों के मध्य एकता लाने का साधन है। वह आदर्श संवास है, जो मानव के विकास-क्रम का अन्तिम चरण है। राज्य का अन्तिम उद्देश्य श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति है, अतः वही राज्य आदर्श कहा जा सकता है जो अपने सदस्यों को सुखी जीवन प्रदान करा सके। राज्य का आधार शक्ति वहीं है। राज्य की सत्ता तथा बल-प्रवर्त्ती शक्तियाँ केवल वे साधन हैं जिनके द्वारा वह अपनी स्वतन्त्रता तथा सुरक्षा को बनाये रख सकता है, और जिनका प्रयोग स्वयं अपने लिए एवं अपने नागरिकों को सर्वोत्तम भलाई प्रदान कराने के लिए कर सकता है। 'राज्य का अस्तित्व जीवन के लिए है और इसकी निरन्तरता उत्तम जीवन के लिए है।' आत्म-निर्भर जीवन ही उत्तम जीवन है। इसकी प्राप्ति राज्य का चरम लक्ष्य है। अरस्तू आध्यात्मिक जीवन को श्रेष्ठतम जीवन मानता है। उसकी प्राप्ति के लिए शिक्षा आवश्यक है, अतः शिक्षा का विकास करना राज्य का प्रमुख कार्य होना चाहिए। आध्यात्मिक जीवन निवृत्ति का जीवन नहीं है, इसके लिए जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी आवश्यक है। अतः राज्य को अपने व्यक्तियों के सुखी एवं श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति के लिए उनकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कराने का प्रयत्न भी करना चाहिए। अरस्तू इस सम्बन्ध में प्लेटो के 'रिपब्लिक' में चित्रित सम्पत्ति तथा परिवार के साम्यवाद के सिद्धान्त की भर्त्सना करता है। उत्तम जीवन के लिए अरस्तू व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा परिवार को आवश्यक मानता है। परिवार तो राज्य का आधार ही है। साथ ही अरस्तू ने बताया है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के अभाव में नागरिक न तो सुखी जीवन व्यतीत कर सकते हैं और न ही अपने नागरिक दायित्वों को सम्पन्न कर सकते हैं।

राज्य का संगठन

1. नागरिकता (Citizenship)

राज्य के संगठन के सम्बन्ध में अरस्तू की दो विचारधाराएँ महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रथम यह कि राज्य परिवारों तथा ग्रामों का समूह है। परिवारों तथा ग्रामों के निर्माणकारी तत्त्व व्यक्ति हैं। व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही परिवार, ग्रामों के रूप में और ग्राम राज्य के रूप में संगठित होते हैं। दूसरी विचारधारा यह है कि राज्य सम्पूर्ण है और व्यक्ति उसका एक अंग। अरस्तू ने कहा है कि 'राज्य एक यौगिक (compound) है जिसके निर्माणकारी तत्त्व नागरिक हैं।' राज्य एक राजनीतिक संगठन है जिसमें अनेक प्रकार के व्यक्ति रहते हैं, उनमें से किन्हें नागरिक की श्रेणी प्रदान की जाय, इस समस्या पर अरस्तू अनेक तर्कों के आधार पर विचार करता है। उसके विचार से विविध राज्य व्यवस्थाओं के अन्तर्गत नागरिकता की प्रकृति एक सी नहीं होती। उदाहरणार्थ, एक वर्गतन्त्री (oligarchic) राज्य में लोकतन्त्री (democratic) राज्य की अपेक्षा नागरिकता की अर्हताएँ भिन्न प्रकृति की होंगी। प्राचीन ग्रीस की राजनीतिक परम्परा के अन्तर्गत राज्य के राजनीतिक जीवन में भाग लेने वाले कुछ विशिष्ट वर्गों के व्यक्ति ही हुआ करते थे। ग्रीक लोग नागरिकता का अर्थ अधिकारों के सन्दर्भ में इतना नहीं लेते थे, जितना कि राज्य की सेवा करने के सन्दर्भ में लेते थे। अरस्तू के मत से यदि सामूहिक रूप से निवास (common residence) को नागरिकता की अर्हता माना जाये तो वह उचित परिभाषा नहीं होगी क्योंकि दास तथा विदेशी भी इस अर्हता को पूर्ण करते हैं, परन्तु वे नागरिक नहीं हैं। इसी प्रकार यदि सार्वजनिक कानून के अन्तर्गत उन व्यक्तियों को नागरिक माना जाये जिन्हें कानून का सहारा लेकर दूसरे के ऊपर अभियोग चलाने या अभियोगी बनने का (to sue and to be sued) अधिकार प्राप्त है तो वह परिभाषा भी सही नहीं होगी, क्योंकि किसी सन्धि के द्वारा विदेशी भी इस अधिकार को प्राप्त कर लेते हैं परन्तु वे नागरिक नहीं हो सकते। इसी प्रकार अल्प-वयस्कों तथा वृद्धों को भी नागरिक की श्रेणी में नहीं माना जा सकता क्योंकि वे नागरिकता के दायित्वों को सम्पन्न करने की क्षमता नहीं रख सकते। मताधिकार से वंचित व्यक्ति तथा राज्य से निकाल दिये गये व्यक्ति भी नागरिक नहीं माने जा सकते। नागरिक स्त्री या पुरुष की सन्तान को भी नागरिक मानने में कठिनाई हो सकती है, क्योंकि ऐसा सिद्धान्त अपनाने में सबसे पहले के पूर्वज का निर्धारण करना कठिन हो जायेगा।

इन विभिन्न तर्कों का परीक्षण करने के उपरान्त अरस्तू इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि जन्म, निवास, कानूनी विशेषाधिकार आदि नागरिकता के आधारभूत तत्त्व नहीं हैं, बल्कि नागरिक कर्त्तव्यों का सम्पादन करना इसका आधार है। चूँकि अरस्तू ने अनेक प्रकार के संविधानों का अध्ययन किया था, अतः उसका यह भी निष्कर्ष था कि समस्त संविधानों के लिए नागरिकता सम्बन्धी एक परिभाषा उपयुक्त नहीं हो सकती, क्योंकि नागरिक-कर्त्तव्यों तथा नागरिक अधिकारों का स्वरूप सर्वत्र एक-सा नहीं होता। राज्य के जीवन में नागरिक के कर्त्तव्य दो प्रकार के हो सकते हैं—सार्वजनिक समस्याओं के सम्बन्ध में विचार-विनिमय में भाग लेना तथा न्यायिक कार्यों में भाग लेना। अन्यत्र अरस्तू निश्चित तथा अनिश्चित काल तक राज्य के पदों को धारण करना भी नागरिकता की कसौटी मानता है। अन्ततः नागरिक की परिभाषा करते हुए वह कहता है कि राज्य का नागरिक वह है जो किसी निश्चित या अनिश्चित काल तक राज्य के विचार-विनिमय सम्बन्धी या न्यायिक पदों में भाग

लेने के अधिकार का उपभोग करता है।'[1] इसी दृष्टि से वह राज्य की परिभाषा करते हुए कहता कि सामान्यतया राज्य ऐसे ही व्यक्तियों का समूह है जो संख्या में इतने पर्याप्त हों कि वे आत्म-निर्भर अस्तित्व की क्षमता रखते हों। चूँकि न्यायिक कार्य तथा विधायनी कार्य सम्प्रभुता के दो आवश्यक तत्त्व हैं, अतः अरस्तू द्वारा नागरिकता की जो परिभाषा दी गयी है उसके अनुसार नागरिक उसी व्यक्ति को कहा जा सकता है जो राज्य की सम्प्रभु शक्ति के कार्यान्वियन में न्यायिक एवं विधायनी पदों को धारण करते हैं। यह परिभाषा नागरिकता के अधिकार तथा कर्त्तव्य दोनों की द्योतक है। इसका आधार राजनीतिक है, न कि सामाजिक। अरस्तू की धारणा के नागरिक में शासक तथा शासित होने की क्षमता होनी चाहिए।

यह परिभाषा लोकतन्त्र के लिए उपयुक्त है—अरस्तू यह भी मानता है कि उसकी नागरिकता सम्बन्धी यह परिभाषा लोकतन्त्र के लिए है। अन्य शासन-विधानों में यह पूर्णतया सही नहीं सिद्ध होगी। उदाहरणार्थ, राजतन्त्र में शासक होने की क्षमता एक ही व्यक्ति (राजा) मे हो सकती है। वर्गतन्त्र में थोड़े से व्यक्ति ऐसी क्षमता रखते हैं। वहाँ अधिकांश व्यक्ति तो शासित ही रहेंगे। परन्तु लोकतन्त्र की दृष्टि से भी अरस्तू की परिभाषा संकुचित ही कही जा सकती है, क्योंकि अरस्तू राज्य की सम्प्रभु सत्ता के उपयोग में महिलाओं, वृद्धों, अल्प-वयस्कों, दासों, विदेशियों, श्रमजीवियों, व्यावसायियों आदि को नागरिकता की स्थिति प्रदान नहीं करता, क्योंकि उनमें नागरिक गुणों का अभाव है। वे न तो राज्य के पदों को धारण कर सकते हैं, न न्यायिक या विधायी कार्यों में भाग ले सकते हैं।

उत्तम व्यक्ति तथा उत्तम नागरिक—नागरिक के सद्‌गुणों का विवेचन करने में अरस्तू विभिन्न प्रकार के संविधानों का आधार लेता है। उसके विचार से वर्गतन्त्री संविधान के अन्तर्गत जो गुण उत्तम नागरिक में होने चाहिए, वे लोकतन्त्र के लिए अनुपयुक्त हो सकते हैं। अरस्तू उत्तम व्यक्ति तथा उत्तम नागरिक के मध्य भेद करता है। इसकी कसौटी यह है कि एक उत्तम व्यक्ति तो सर्वत्र तथा सदैव वैसा ही रहेगा। परन्तु उत्तम नागरिक के लक्षण सब राज्यों में एक से नहीं हो सकते। यहाँ तक कि एक आदर्श राज्य में भी उत्तम व्यक्ति तथा उत्तम नागरिक के लक्षण अलग-अलग प्रकार के होते हैं। परन्तु एक आदर्श संविधान के अन्तर्गत यदि नागरिक उस नैतिक वृद्धि का प्रदर्शन करे जो कि एक उत्तम शासक के लिए आवश्यक है और साथ ही उसमें एक उत्तम प्रजाजन बनने की क्षमता भी हो तो ऐसी स्थिति में उत्तम व्यक्ति तथा उत्तम नागरिक के मध्य भेद नहीं रहेगा। अतः नैतिक ज्ञान को धारण करना इस प्रश्न के समाधान की कसौटी है।

शासक होने तथा शासित होने की क्षमता को नागरिकता का मुख्य लक्षण मानने का अभिप्राय यह है कि राज्य में श्रमजीवी वर्ग नागरिक गुणों से युक्त नहीं होते, क्योंकि उनमें केवल शासित रहने (आज्ञाकारिता) की ही क्षमता होती है न कि आदेश देने या शासन करने की। इसी प्रकार न्यायिक तथा विधायी कार्यों में भाग लेने वाले व्यक्तियों को भौतिक चिन्ताओं से मुक्त रहना चाहिए। तभी वे इन कार्यों को समुचित ढंग से सम्पन्न कर सकते हैं। अतः नागरिक के पास पर्याप्त

[1] 'He who enjoys the right of sharing in deliberative on judicial office (for any period fixed or unfixed) attains thereby the status of a citizen of his state.' —*The Politics*, Bk. III, ch. I, 12.

सम्पत्ति का होना आवश्यक है। श्रमिकों में यह क्षमता नहीं हो सकती कि वे राज्य के राजनीतिक कार्यों में भाग लेने के लिए पर्याप्त सुविधा (leisure) प्राप्त कर सकें और भौतिक चिन्ताओं से मुक्त जीवन व्यतीत कर सकें। अरस्तू के मत से वे नागरिक तो नहीं हो सकते परन्तु वे राज्य के लिए आवश्यक हैं। इस सम्बन्ध में भी विविध प्रकार के संविधान निर्धारक तत्त्व हैं। उदाहरणार्थ 'एक कुलीनतन्त्री सविधान में यान्त्रिक (mechanics) तथा श्रमिक (labourers) नागरिक नहीं हो सकते; परन्तु वर्गतन्त्र में एक धनी यान्त्रिक नागरिक हो सकता है।'[1]

मूल्यांकन—अरस्तू की नागरिकता सम्बन्धी परिभाषा तत्कालीन ग्रीस के नगर-राज्यों के सन्दर्भ में है। यह आधुनिक विशाल राज्यों के लिए उपयुक्त सिद्ध नहीं हो सकती। आधुनिक लोकतन्त्रों में नागरिकता का क्षेत्र व्यापक होता है। अरस्तू के अनुसार नागरिक वही व्यक्ति हो सकता है जो राज्य की सम्प्रभु शक्ति के प्रयोग में न्यायिक तथा विधायी कार्यों मे भाग लेता है। इन दायित्वों को पूर्ण करने के लिए नागरिक के पास न केवल पर्याप्त सम्पत्ति तथा समय उपलब्ध होना आवश्यक है, बल्कि उनमें इस क्षमता में कार्य कर सकने की योग्यता भी होनी चाहिए। आधुनिक लोकतन्त्रों में यह सम्भव नहीं है कि प्रत्येक नागरिक राज्य की सम्प्रभु सत्ता के प्रयोग में (अर्थात् विधायी एवं न्यायिक कार्यों के सम्पादन में) भाग ले सकेगा। लोक-प्रभुसत्ता की वर्तमान धारणा अरस्तू की विचारधारा में नहीं है। आज के लोकतन्त्र अप्रत्यक्ष हैं, अतः सम्प्रभु जनता (नागरिक) अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करने में ही अपने राजनीतिक अधिकारों का प्रयोग करती है। अरस्तू एक यथार्थवादी विचारक था और उसके काल में नगर-राज्यों में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र सम्भव था। अतः उसकी नागरिकता सम्बन्धी परिभाषा उस युग की आवश्यकता के अनुकूल भले ही सिद्ध हो सकती हो, परन्तु वर्तमान विशाल आकार के राज्यों में यह सम्भव नहीं है। अरस्तू का यथार्थवाद इससे भी सिद्ध होता है कि राज्य के राजनीतिक कार्य-कलापों में वास्तविक भाग लेने वाले व्यक्ति ही नागरिक माने जाएँ, न कि वह विशाल जन-समूह जो इन कार्यों के प्रति उदासीन रहता है। केवल सम्प्रभु शक्ति का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों का निर्वाचन करने का अधिकार ही नागरिकता की कसौटी नहीं है। इस दृष्टि से अरस्तू की नागरिकता सम्बन्धी परिभाषा केवल अधिकारों की द्योतक नहीं है, अपितु उसके पीछे कर्त्तव्य की भावना भी निहित है। नागरिक में शासन करने तथा शासित रहने दोनों प्रकार की क्षमता होनी चाहिए। यह नागरिक के दायित्वों का बोध कराती है। चूँकि उस काल में नागरिकता से सम्बद्ध अधिकार तथा कर्त्तव्य पर्याप्त विस्तृत थे, अतः अरस्तू ऐसी स्थिति समाज के छोटे से वर्ग को ही देना उपयुक्त मानता है। भले ही एक लोकतन्त्रवादी अरस्तू की इस संकुचित परिभाषा से सहमत न हो, तथापि इससे अरस्तू की यथार्थवादिता परिलक्षित होती है, और नागरिकता की आधुनिक धारणाओं के साथ इसकी तुलना करना उचित नहीं होगा क्योंकि अरस्तू ने इसे अपने युग के ग्रीक नगर-राज्यों के सन्दर्भ में व्यक्त किया है।

प्लेटो तथा अरस्तू दोनों का उद्देश्य राज्य की एकता को बनाये रखना था। परन्तु दोनों ही समाज के एक विशाल अंग को राजनीतिक अधिकारों से वंचित रखते हैं। यद्यपि प्लेटो उत्पादक वर्ग को शासन-सम्बन्धी कार्य-कलापों में भाग लेने का

[1] *The Politics*, Bk. III, Ch. V.

अधिकार नहीं देता, तथापि वह उन्हें राज्य का अभिन्न अंग मानता है क्योंकि वे राज्य के जीवन में सक्रिय भाग लेते हैं। प्लेटो की धारणा में केवल दासों तथा विदेशियों को ही नागरिकता से वंचित रखा गया है। अरस्तू की नागरिकता सम्बन्धी परिभाषा की एक कमी यह प्रतीत होती है कि वह ग्रीस के तत्कालीन नगर-राज्यों में प्रचलित विभिन्न संविधानों से मेल नहीं खाती। एक ओर वह लोकतन्त्र के लिए अपनी परिभाषा का समर्थन करता है, दूसरी ओर केवल थोड़े से व्यक्तियों को ही नागरिक की श्रेणी में रखता है। इस प्रकार अरस्तू का राज्य भी वर्ग-राज्य में परिणत हो सकता है। राजनीतिक अधिकार से वंचित समाज का एक विशाल अंग शासन के प्रति निष्ठा न रखने लगेगा तो राज्य की एकता नष्ट हो जायेगी। प्लेटो महिलाओं को राजनीतिक अधिकार देना चाहता है, परन्तु अरस्तू उन्हें नागरिकता के अधिकारों से वंचित रखता है। इस दृष्टि से भी अरस्तू की नागरिकता सम्बन्धी धारणा संकीर्ण है।

अरस्तू न्यायिक कार्य में भाग लेना नागरिकता की एक आवश्यक शर्त मानता है। परन्तु जो राज्य जूरी पद्धति नहीं अपनाते, वहाँ के लिए यह परिभाषा अनुपयुक्त सिद्ध होगी। इसी प्रकार वर्गतन्त्र में यदि कोई व्यक्ति शासन के पद से अलग हो जाये तो वह नागरिक नहीं रहेगा। इस दृष्टि से अरस्तू की परिभाषा वर्गतन्त्र के लिए भी उपयुक्त नहीं है। समाज के एक छोटे से अंग को नागरिकता के अधिकार देने का फल यह भी हो सकता है कि वह अंग एक पृथक् वर्ग बन जायेगा और नागरिकता से वंचित वर्ग की उपेक्षा करेगा। इस प्रकार विधि-निर्माण एक वर्ग-विशेष का हित हो जायेगा। इसका परिणाम यह होगा कि समूचे समाज को उत्तम जीवन का लाभ प्राप्त नहीं हो सकेगा। लोक-कल्याण की बात तभी सम्भव है जबकि जनता का अधिकांश भाग राजनीतिक अधिकारों का प्रयोग करे।

2. राज्य का संविधान (The Constitution)

अरस्तू के मत से राज्य का सारभूत तत्त्व उसका संविधान है। अरस्तू राज्य तथा संविधान को समान अर्थों में लेता है, जिसका आशय यह है कि यदि किसी राज्य का संविधान परिवर्तित हो जाये तो राज्य की वैयक्तिकता भी बदल जाती है। अरस्तू के विचार से 'संविधान नागरिकों की एक व्यवस्था है, अथवा वह जीवन की एक विधि है जो न्यूनाधिक अंश में राज्य के बाहरी संगठन का आदेश देती है।'[1] अरस्तू की राज्य के संविधान की यह परिभाषा उसके राज्य-सम्बन्धी विचारों का 'नैतिक' रूप प्रस्तुत करती है। यह राज्य में नागरिकों के एक साथ जीवन व्यतीत करने की धारणा को दर्शाती है, जिसे 'राज्य का जीवन' (the life of the state) कहा जाता है। इस दृष्टि से अरस्तू नैतिकता तथा राजनीति के मध्य भेद नहीं करता। आगे वह राजनीतिक दृष्टिकोण से संविधान की परिभाषा करते हुए कहता है कि 'संविधान राज्य के पदाधिकारियों तथा मजिस्ट्रेटों की व्यवस्था है।'[2] अरस्तू

[1] 'A constitution (or polity) may be defined as the organization of a polis, in respect of its offices generally, but specially in respect of that particular office which is sovereign in all issues.' —*The Politics*, Bk. III, Ch. VI, 1.

[2] 'Aristotle had, however, defined a constitution also as the arrangement of offices or magistrates, which is closer to a political view of the state in the modern sense.' —Sabine, *op. cit.*, 103–04.

कानून तथा संविधान के मध्य भेद करता है। इस परिभाषा के अनुसार राज्य के मजिस्ट्रेट कानून के अनुसार ही अपने पदों का कार्य सम्पन्न करेंगे। सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से निर्मित विभिन्न समुदाय तथा वर्ग भी राज्य के निर्माणकारी तत्त्व है जो राज्य के किसी राजनीतिक संविधान विशेष की उपयुक्तता तथा अनुपयुक्तता का निर्धारण करने में निर्णायक प्रभाव डालते हैं। परन्तु अरस्तू राज्य की आर्थिक संरचना को संविधान नहीं मानता। सैबाइन के कहा है कि 'अरस्तू आर्थिक वर्गों की तुलना (राज्य रूपी) जीवधारी के अंगों से करता है और कहता है कि राज्यों के उतने ही रूप होते हैं जितने (किसी सामाजिक जीवन के निर्वाह के लिए) उन वर्गों को संयुक्त करने के तरीके होते हैं।'[1]

वर्गीकरण का आधार—अरस्तू ने तत्कालीन ग्रीस के 158 संविधानों का अध्ययन किया था। उनमें विविध प्रकार की शासन-प्रणालियाँ प्रचलित थीं। उनके आधार पर अरस्तू ने राज्यों के वर्गीकरण हेतु दो मुख्य सिद्धान्तों को अपनाते हुए राज्य को छः रूपों में वर्गीकृत किया है। राज्य या संविधान के वर्गीकरण का पहला आधार है उन व्यक्तियों की संख्या जो राज्य की सर्वोच्च सत्ता को धारणा करते हैं या उसके प्रयोग में भाग लेते हैं ; दूसरा आधार है राज्य का उद्देश्य या शासन की भावना। इस दृष्टि से या तो राज्य विशुद्ध रूप का होता है या विकृत रूप का। इन सिद्धान्तों के आधार पर अरस्तू ने राज्यों को छः रूपों में वर्गीकृत किया है जो निम्नांकित तालिका द्वारा व्यक्त किये जा सकते हैं—

सर्वोच्च सत्ता धारण करने वाले व्यक्तियों की संख्या	राज्य का विशुद्ध रूप	राज्य का विकृत रूप
एक व्यक्ति (One)	राजतन्त्र (Monarchy)	अत्याचारी शासन (Tyranny)
थोड़े से व्यक्ति (Few)	कुलीनतन्त्र (Aristocracy)	वर्गतन्त्र (Oligarchy)
समस्त या अधिकांश व्यक्ति (Many)	वैधानिक जनतन्त्र (Polity)	प्रजातन्त्र (Democracy)

राज्य के विशुद्ध रूप का अभिप्राय शासन की भावना से है। अर्थात् यदि राज्य के शासन का उद्देश्य सद्गुणों की वृद्धि करना तथा सम्पूर्ण जन-समुदाय को उत्तम जीवन की प्राप्ति कराना हो तो राज्य या संविधान विशुद्ध रूप का कहा जाता है। इसके विपरीत यदि शासन-सत्ताधारी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह अपने ही हितों का ध्यान रखें, तो राज्य या संविधान विकृत रूप का माना जाता है।

उपर्युक्त संविधानों के लक्षण—राजतन्त्र का उद्देश्य सर्वोच्च सद्गुणों का विकास करना है। अत्याचारी शासन स्वार्थ एवं छल-कपट का द्योतक है। कुलीनतन्त्री

[1] 'Aristotle compares economic classes to an animal's organs and says that there are as many kinds of states as there are ways of combining the classes necessary to support a social life.' —*Ibid.*, 104.

राज्य में सद्गुण तथा धन का सम्मिश्रण पाया जाता है। वर्गतन्त्र का उद्देश्य धन का लालच है। वैधानिक जनतन्त्र मध्यम सद्गुणों की वृद्धि का उद्देश्य रखता है; इसमें राज-सत्ता बहुत से व्यक्तियों के हाथ में रहती है, परन्तु वे मध्यम वर्ग के (अर्थात् धनी वर्ग व जनसाधारण दोनों का सम्मिश्रण) होते हैं। अरस्तू प्रजातन्त्र को राज्य का विकृत रूप मानता है। इसका उद्देश्य समानता, स्वतन्त्रता एवं बहुसंख्यकों का शासन होता है। शासन-सत्ता को धारणा करने वाले बहुसंख्यक व्यक्ति निर्धन होते हैं। ऐसे शासन में राज्य सद्गुणों की अभिवृद्धि करने की क्षमता नहीं रख सकता।

राज्य के उपर्युक्त छः प्रकार के वर्गीकरण में मिश्रित राज्य का कोई उल्लेख नहीं है। सर्वोच्च सत्ता धारणा करने वाले व्यक्तियों की संख्या का सिद्धान्त भी आवश्यक रूप से पर्याप्त स्पष्ट नहीं है बल्कि अवसरवशात् ही सत्य है। जहाँ तक वर्गतन्त्र एवं प्रजातन्त्र का सम्बन्ध है, वास्तविक आधार सामाजिक वर्गों के हाथ में सम्प्रभु शक्ति का होना है। वर्गतन्त्र का अभिप्राय धनिकों के हाथ में सत्ता का होना है जो सामान्यतया अल्पसंख्यक अथवा थोड़े व्यक्ति ही हुआ करते हैं, इसी प्रकार प्रजातन्त्र निर्धन वर्ग का शासन है, जो संख्या में बहुसंख्यक ही होते हैं। अपवादस्वरूप ही इन वर्गों की संख्या विपरीत प्रकृति की हो सकती है। उस स्थिति में संख्यात्मक सिद्धान्त सही नहीं होगा। परन्तु सामान्यतया होता यही है कि धनी वर्ग संख्या में कम तथा निर्धन वर्ग बहुसंख्यक होते हैं। अतः वर्गतन्त्र को धनिकों का तथा प्रजातन्त्र को निर्धनों का शासन कहना अधिक उपयुक्त होगा। यद्यपि अरस्तू उपयुक्त छः प्रकार के संविधानों के अतिरिक्त अन्य किसी रूप के संविधान का उल्लेख नहीं करता है, इसलिए उसके वर्गीकरण में मिश्रित संविधान का उल्लेख नहीं है, तथापि जिस संविधान को अरस्तू पॉलिटी (वैधानिक जनतन्त्र) का नाम देता है, वह मिश्रित संविधान ही है। यह वर्गतन्त्र एवं प्रजातन्त्र का मिश्रण है। अरस्तू इसे सर्वोत्तम व्यावहारिक संविधान मानता है।

राजतन्त्र तथा अत्याचारी एकतन्त्र (Monarchy or Kingship and Tyranny)

राजतन्त्र के रूप—अरस्तू पाँच प्रकार के राजतन्त्रों के अस्तित्व को मानता है। इनमें से पहले प्रकार का राजतन्त्र स्पार्टा के नमूने का बताया गया है जिसका स्वरूप सैनिकतन्त्री है। यह वंशानुगत या निर्वाचित हो सकता है। दूसरा रूप है असभ्य जन-समूहों के राजतन्त्र का जो वंशानुगत होता है। इसमें राजा स्वेच्छाचारिता से शासन करता है। यह अत्याचारी शासन का रूप है। राजतन्त्र का तीसरा रूप प्राचीन ग्रीस के राजतन्त्रों का है जिसे तानाशाही कहा जा सकता है। यह निर्वाचित अत्याचारी शासन का रूप है। चौथा रूप वीरों के युग के राजतन्त्र का है। यह वैधानिक एवं पैतृक है। यह सहमति पर आधारित शासन-व्यवस्था का रूप है। इसमें राजा युद्ध में सेनानायक का कार्य करते थे, धार्मिक क्रियाएँ सम्पन्न करते थे और न्याय सम्बन्धी कार्य भी करते थे। पांचवाँ रूप निरपेक्ष राजतन्त्र का है जिसमें राजा सर्वसत्ताधारी होता था। इसमें राजा का प्रजा के साथ वही सम्बन्ध होता था जो परिवार के मुखिया का परिवार के सदस्यों के साथ होता है। अरस्तू ऐसे ही राजतन्त्र को उत्तम राज्य-व्यवस्था मानता है।

राजतन्त्र तथा विधि का शासन—राजतन्त्र के सम्बन्ध में भी अरस्तू दो सिद्धान्तों के आधार पर उनके गुण-दोषों का विवेचन करता है। यदि राजा का

व्यक्तिगत शासन हो तो उसमें उपक्रम (initiative) का गुण होता है। परन्तु यदि राजा कानून के शासन का अनुगमन करे तो उसमें निष्पक्षता का गुण विद्यमान रहेगा। कानून का शासन श्रेष्ठतर है क्योंकि उसमें राजा कानून के अनुसार शासन करता हुआ वैधानिक शासक रहता है न कि स्वेच्छाचारी। परन्तु जहाँ किसी समस्या के सम्बन्ध में कानून मौन हो, वहाँ राजा को केवल अपने विवेक से निर्णय लेने की अपेक्षा अन्यों की सलाह से निर्णय लेना चाहिए। एक व्यक्ति के निर्णय से अधिक व्यक्तियों का निर्णय उत्तम होता है। अत: राजा को अपने कुछ मित्रों को अपने सलाहकारी सहायकों के रूप मे नियुक्त करना चाहिए। अरस्तू यह भी मानता है कि यदि कोई राजा विशिष्ट ज्ञान (expert knowledge) रखता हो तो उसे निरपेक्ष राजा (absolute king) के रूप में प्रतिष्ठित करना अनुचित नहीं होगा। परन्तु अरस्तू की धारणा यह है कि विशिष्ट ज्ञान एक व्यक्ति की अपेक्षा अधिक व्यक्तियों में होने की सम्भावना ज्यादा होती है। किसी भी संविधान की उत्तमता की परख यही है कि उसके अन्तर्गत जनता को उत्तम जीवन प्राप्त कराने की प्रवृत्ति कहाँ तक विद्यमान है।

अत्याचारी शासन—यद्यपि अत्याचारी शासन (tyranny) को भी संविधानों की एक श्रेणी में स्थान दिया गया है, तथापि अरस्तू इसे निकृष्टतम संविधान मानता है। वैसे राजतन्त्र के दो रूप—(1) असभ्य जन-समूहों के बीच वंशगत राजतन्त्र, तथा (2) प्राचीन ग्रीस में प्रचलित तानाशाही राजतन्त्र, भी अत्याचारी संविधान की श्रेणी मे ही रखे जा सकते हैं। इन्हें अरस्तू अर्ध-राजतन्त्र तथा अर्ध-अत्याचारीतन्त्र मानता है। परन्तु अत्याचारी शासन का विशुद्ध रूप वह है जो एक व्यक्ति का अनुत्तरदायी शासन होता है, जिसमें शासक शासितों के हितों की उपेक्षा करते हुए केवल अपने ही हितों का ध्यान रखता है। यह शक्ति का शासन है। ऐसा संविधान किसी राजनीतिक समाज को मान्य नहीं हो सकता।

कुलीनतन्त्र (Aristocracy)

अरस्तू कुलीनतन्त्र को सर्वोत्तम व्यक्तियों का शासन कहता है। इसमें राज्य की सर्वोच्च सत्ता को धारणा करने वाले व्यक्ति किसी मानदण्ड-विशेष के सन्दर्भ में ही उत्तम नहीं होते, प्रत्युत् नैतिक गुणों के सन्दर्भ में निरपेक्ष रूप से सर्वोत्तम होते हैं।[1] इसमें शासन के पदों का वितरण केवल धन के आधार पर नहीं, बल्कि नैतिक गुणों के आधार पर भी किया जाता है। इसमें धन, उत्तमता तथा संख्या तीनों तत्त्वों को महत्त्व दिया जाता है। बार्कर का कथन है कि अरस्तू के द्वारा दी गई कुलीनतन्त्र की परिभाषा में दो बातें शामिल हैं: (1) इसके सदस्य केवल 'उत्तम' ही न हों बल्कि 'सर्वोत्तम' हों, (2) उनके इस गुण का मापदण्ड भी नैतिक गुण का निरपेक्ष मापदण्ड होना चाहिए।[2] कुलीनतन्त्र का मुख्य लक्षण धनिकों तथा निर्धनों के मध्य सत्ता का सम्मिश्रण मात्र नहीं है बल्कि उसमें योग्यता (merit) का भी सम्मिश्रण है। धनिकों का प्रभाव बढ़ने पर वह वर्गतन्त्र (oligarchy) हो जायेगा और निर्धनों (free-born) का प्रभाव बढ़ने पर प्रजातन्त्र। इन दोनों व्यवस्थाओं

[1] 'An aristocracy is one where members are not merely 'good' in relation to some standard or other, but are absolutely 'the best' (*aristoi*) in point of moral quality.' —*The Politics*, Bk. IV, Ch. VII, 2.

[2] Barker, *The Politics of Aristotle*, 1948, 173.

को अरस्तू ने विकृत रूप के संविधानों की श्रेणी में रखा है। यदि केवल यही दो तत्त्व समान मात्रा में रहेंगे तो वैधानिक जनतन्त्र (polity) कहलायेगा। परन्तु इन दो तत्त्वों की समानता के साथ-साथ उसमें योग्यता (merit) का तत्त्व प्रधान हो तो उसे कुलीनतन्त्र (aristocracy) कहा जायेगा। संक्षेप में, कुलीनतन्त्र थोड़े से योग्य व्यक्तियों का शासन है जिसमें कानून के अनुसार शासन संचालित होता है। इस दृष्टि से वास्तविक कुलीनतन्त्र का निर्धारण एवं ज्ञान कर सकना दुस्तर कार्य है।

वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र (Oligarchy and Democracy)

अरस्तू ने जिन छः प्रकार के संविधानों (राज्यों) का वर्गीकरण किया है उनमें से राजतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र अपने विशुद्ध रूप में सर्वोत्तम व्यवस्थाएँ मानी गई हैं। परन्तु वास्तविक व्यवहार में उनकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। अत्याचारी शासन वाला संविधान विकृत रूप का अथच निकृष्टतम है। इस दृष्टि से संविधानों का विवेचन करते हुए अरस्तू अपनी यथार्थवादिता को दर्शाते हुए शेष तीन रूपों (वर्गतन्त्र, प्रजातन्त्र एवं वैधानिक जनतन्त्र) का विशेष रूप से विवेचन करता है। इनमें से वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र को उसने संविधान के विकृत रूपों (perverted forms) में रखा है। परन्तु एक यथार्थवादी होने के नाते उसका विश्वास है कि यही व्यवस्थाएँ व्यवहार में अधिक प्रचलित रहती हैं। अतः इनकी विशेषताओं तथा गुण-दोषों का विवेचन करते हुए वह सर्वोत्तम व्यावहारिक संविधान (the best practicable constitution) की तलाश करता है। उसका निष्कर्ष यह है कि इन दो विकृत संविधानों (वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र) का मध्यम रूप, अथवा इनके तत्त्वों के सम्मिश्रण से युक्त संविधान सर्वोत्तम व्यावहारिक संविधान है। उसी को वह वैधानिक जनतन्त्र (polity) का नाम देता है। अतः अरस्तू ने वर्गतन्त्र एवं प्रजातन्त्र का परीक्षण एक साथ तुलनात्मक दृष्टि से किया है।

अरस्तू के मत से किसी भी संविधान का सिद्धान्त पदों के सम्बन्ध में वितरणात्मक न्याय (distributive justice) की धारणा है।[1] उदाहरणार्थ, प्रजातन्त्र में समानता के आधार पर पदों के वितरण का सिद्धान्त ही न्याय माना जाता है। परन्तु समानता की इस धारणा का अर्थ होता है समानों के मध्य समानता, न कि सबके लिए समानता। परन्तु वर्गतन्त्र के अन्तर्गत असमानता के आधार पर पदों का वितरण ही न्यायसंगत माना जाता है। यहाँ पर भी सिद्धान्त असमानों के बीच असमानता है, न कि सबके मध्य। इस दृष्टि से वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र के समर्थक अपने-अपने हितों में न्याय का अर्थ लगाते हैं। वर्गतन्त्रवादी यह मानते हैं कि सम्पत्ति की उच्चता का अर्थ सब क्षेत्रों में उच्चता है। इसके विपरीत प्रजातन्त्रवादी जन्मगत समानता को सब क्षेत्रों में समानता मानते हैं। परन्तु दोनों वर्ग राज्य के वास्तविक उद्देश्य (उत्तम जीवन की प्राप्ति) की उपेक्षा करके ही न्याय का ऐसा अर्थ लगाते हैं। वास्तविक न्याय तो यह है कि राज्य के इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु जो व्यक्ति जिस मात्रा में अपना योगदान करते हैं उसी मात्रा में उनके अधिकारों का

[1] 'This distinctive principle is thus, in effect, a conception of justice—that is to say, of *distributive* justice, or, in other words of the justice which distributes the offices of the state among its members on a plan or principle.' —*Ibid.*, 117.

निर्धारण किया जाना चाहिए।

संविधानों के दो रूप—अरस्तू कहता है कि संविधान राज्य के पदों के वितरण की व्यवस्था है। अतः संविधानों के उतने ही रूप हो सकते हैं जितने प्रकार की पदों के वितरण की व्यवस्थाएँ होंगी। परन्तु वह यह भी मानता है कि जिस प्रकार केवल उत्तरी तथा दक्षिणी दो ही प्रकार की हवाएँ होती हैं उसी प्रकार संविधान भी दो ही प्रकार के होते है—वर्गतन्त्री तथा प्रजातन्त्री। कुलीनतन्त्र, वर्गतन्त्र के; तथा वैज्ञानिक जनतन्त्र, प्रजातन्त्र के ही रूप कहे जा सकते है। वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र की परिभाषा करने की कसौटी केवल उन व्यक्तियों की संख्या नहीं है जिनके हाथ में प्रभुत्व शक्ति रहती है, अपितु यह कसौटी सामाजिक वर्ग है। अर्थात् जहाँ धनी वर्ग के हाथ में प्रभुत्व शक्ति रहती है, वहाँ वर्गतन्त्र तथा जहाँ स्वतन्त्र-जन्मे वर्ग (free-born) के हाथ में प्रभुत्व शक्ति रहती है, वहाँ प्रजातन्त्र होता है। इसके साथ ही इन दोनों के मध्य भेद करने की कसौटी बहुसंख्यकों या अल्पसंख्यकों के हाथ में शासन-सत्ता का होना भी है। इस दृष्टि से 'प्रजातन्त्र' वह संविधान है जिसमें शासन का नियन्त्रण निर्धन तथा स्वतन्त्र-जन्मे व्यक्तियों के हाथ में रहता है जो साथ ही बहुसंख्यक भी होते हैं। इसी प्रकार 'वर्गतन्त्र' वह संविधान है जिसमें धनी तथा अभिजात वर्ग का शासन पर नियन्त्रण होता है, जो साथ ही अल्पसंख्यक भी होते हैं।[1]

प्रजातन्त्र के रूप—जहाँ तक प्रजातन्त्र का सम्बन्ध है, अरस्तू प्रजातन्त्र के भी पाँच रूप मानता है। पहले में कानून के अनुसार समानता का निर्धारण होता है, दूसरे में सम्पत्ति-जनित योग्यता पदों के धारण के लिए निर्धारित की जाती है जिसकी मात्रा अल्प होती है, तीसरे में जन्मगत नागरिकता पदों के लिए मान्य रहती है परन्तु उसका निर्धारण कानून द्वारा होता है, चौथे में केवल मात्र नागरिक होना ही पद-धारण की योग्यता रहती है वह भी कानून के आधार पर नियमित होती है। प्रजातन्त्र का पाँचवाँ रूप वह है जिसमें कानून का कोई बन्धन न होते हुए प्रत्येक व्यक्ति पद-धारण कर सकता है। यह प्रजातन्त्र का निकृष्टतम रूप है। यह अत्याचारी शासन की भाँति है। अरस्तू की यह धारणा है कि जिस संविधान में कानून सम्प्रभु नहीं होता वह सच्चा संविधान नहीं है।

वर्गतन्त्र के रूप—इसी प्रकार अरस्तू ने वर्गतन्त्र के भी चार रूप बताये हैं। पहले में सम्पत्ति की योग्यता मान्य रहती है जिसकी मात्रा बहुत अधिक होती है, और इसमें निर्धन बहुसंख्यकों की उपेक्षा की जाती है। दूसरे में भी पर्याप्त सम्पत्ति का होना पद-धारण के लिए वांछनीय माना जाता है और सम्पत्तिशाली व्यक्ति ही पदों के लिए निर्वाचक हो सकते हैं। तीसरे में वंशगत योग्यता पद-धारण के लिए आवश्यक मानी जाती है, और पद वंशानुक्रम से संक्रमित होते हैं। चौथे में वंशगत योग्यता तो स्वीकार की जाती है, परन्तु उसमें कानून का प्रतिबन्ध न होकर व्यक्तिगत शासन की पद्धति चलती है। यह वर्गतन्त्र का निकृष्टतम रूप है। इस प्रकार कुलीनतन्त्र में जहाँ योग्यता को शासन के पद धारण करने की अर्हता मानी जाती है,

[1] 'The proper application of the term 'democracy' is to a constitution in which the free-born and poor control the government—being at the same time a majority, and similarly the term 'oligarchy' is properly applied to a constitution in which the rich and better-born control the government—being at the same time a minority.' —*The Politics*, Bk. IV, Ch. IV, 6.

वहाँ वर्गतन्त्र में जन्म तथा धन के आधार पर पद-धारण की अर्हता का निर्धारण किया जाता है।

कानून की प्रभुसत्ता की आवश्यकता—इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रजातन्त्र के अन्तर्गत धनी तथा अभिजात वर्ग को पद-धारण करने से बहिष्कृत नहीं किया जाता। परन्तु वर्गतन्त्र के अन्तर्गत अधिकांश व्यक्ति इस सुविधा से वंचित रहते हैं, क्योंकि उसमें सम्पत्ति की अर्हता, पद-धारण तथा निर्वाचन में मतदान करने दोनों के लिए अधिकांश व्यक्तियों के लिए बाधक सिद्ध होती है। प्रजातन्त्र में शासन-सत्ता पर बहुसंख्यकों का अधिकार होने से धनिकों, अभिजात वर्गों एवं सुसंस्कृत व्यक्तियों की आवाज दबी रह जाती है। इस प्रकार वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र के मध्य भेद करने की एकमात्र कसौटी न तो सम्पत्ति अथवा निर्धनता है, और न प्रभुसत्ता धारण करने वाले व्यक्तियों की संख्या है। उदाहरणार्थ, वर्गतन्त्र के अन्तर्गत अनेक अल्पसंख्यक गुट ऐसे होते हैं जो न तो धनी हैं न अभिजात वर्ग के, परन्तु उनके हाथ में शासन-सत्ता रहती है, जैसे सेनाध्यक्ष, प्रशासक, प्राविधिक कार्यों में लगे व्यक्ति आदि। चूँकि इन दोनों प्रकार के संविधानों में शासन-सत्ता किसी वर्ग-विशेष के हाथ में रहती है, और प्रत्येक वर्ग अपने हित में ही न्याय की भावना का निर्वचन करता है; इसलिए अरस्तू सम्प्रभु शक्ति को किसी व्यक्ति-विशेष या वर्ग-विशेष के हाथ में न देकर कानून की सम्प्रभुता को श्रेष्ठतर स्थिति में रखता है। परन्तु अरस्तू को यह भी भय है कि कानून भी वर्गतन्त्र अथवा प्रजातन्त्र की ओर झुकने की दिशा में प्रवृत्त हो सकता है, अतः विकल्प के रूप में वह लोक-प्रभुसत्ता की धारणा का समर्थन करता है।

जनता की प्रभुसत्ता पर विश्वास—जनता की प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का समर्थन अरस्तू को अधिक प्रजातन्त्रवादी बनाता है। इस सिद्धान्त के समर्थन में उसका तर्क यह है कि 'भले ही व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक व्यक्ति में उत्तम गुणों का अभाव हो, परन्तु जब सब व्यक्ति सामूहिक रूप से एक निकाय के रूप में संगठित होते हैं तो वे थोड़े-से उत्तम व्यक्तियों की अपेक्षा श्रेष्ठतर सिद्ध होते हैं।' उदाहरणार्थ, बहुत से व्यक्तियों के योगदान से आयोजित दावत एक व्यक्ति के व्यय से आयोजित दावत की अपेक्षा उत्तमतर होती है। इसी प्रकार संगीत तथा काव्य का परीक्षण जब कई व्यक्ति करते हैं तो कुछ उनके एक पक्ष की, तथा शेष अन्य पक्षों का मूल्यांकन करेंगे। इस प्रकार बहुत से व्यक्तियों द्वारा उनके विविध पक्षों का भली-भाँति परीक्षण हो जायेगा। यही बात कानून के सम्बन्ध में भी सत्य सिद्ध होती है। सार्वजनिक नीतियों के सम्बन्ध में विशेषज्ञ के ज्ञान तथा समस्त व्यक्ति-समूह के ज्ञान के मध्य यही अन्तर है। शासन-कला का सम्बन्ध सार्वजनिक हित से है। एक व्यक्ति गृह-निर्माण कला में विशेषज्ञ है तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह जिस मकान का निर्माण करता है, वह दोषपूर्ण नहीं होगा। वास्तव में मकान की उपादेयता का सही ज्ञान मकान में रहने वाले को ही हो सकता है। पाकशास्त्र के विशेषज्ञ द्वारा तैयार किया गया भोजन आवश्यक रूप से सर्वोत्तम नहीं माना जा सकता। उसकी सही जाँच तो खाने वाले ही कर सकते हैं। इसी प्रकार सार्वजनिक नीति तथा कानून यदि विशेषज्ञ द्वारा निर्मित किये जाएँ तो उनका श्रेष्ठतम होना आवश्यक नहीं है। सार्वजनिक मामलों में सामूहिक निर्णय तथा ज्ञान किसी एक विशेषज्ञ अथवा दार्शनिक के निर्णय तथा ज्ञान से उत्तमतर होता है। इसलिए राजनीतिक समाज के संचालन

में सामूहिक रूप से जनता को सम्प्रभु होना चाहिए। सामूहिक निर्णय से निर्मित कानून उत्तम होंगे। यदि कानूनों का निर्माण ठीक ढंग से हुआ हो तो उन्हीं को सम्प्रभु होना चाहिए। उत्तम कानूनों की कसौटी यह है कि वे संविधानों के अनुरूप होने चाहिए। इसका निष्कर्ष यह है कि जो कानून सही संविधानों के अनुरूप होते हैं उन्हें आवश्यक रूप से न्याय-सम्मत होना चाहिए और जो कानून विकृत संविधानों के अनुरूप होते हैं, वे अन्यायपूर्ण होंगे।

वैधानिक तथा लोक प्रजातन्त्र—कानून की सर्वोच्चता की दृष्टि से प्रजातन्त्र के दो भेद होते हैं—(1) वैधानिक प्रजातन्त्र (constitutional democracy) तथा (2) लोक प्रजातन्त्र (populist democracy)। वैधानिक प्रजातन्त्र में कानून सर्वोच्च होता है और कानून द्वारा अल्पसंख्यकों तथा शेष समस्त व्यक्तियों के अधिकारों का संरक्षण किया जाता है। परन्तु लोक प्रजातन्त्र में कानून की सर्वोच्चता के अभाव में जन-नेताओं (demagogues) की उत्पत्ति होती है। वही बहुसंख्यकों की भावनाओं की अभिव्यक्ति करते हैं। समाज में प्रतियोगी गुटों की भी उत्पत्ति होती है, जो अपने-अपने हितों में लीन रहकर परस्पर संघर्षरत रहते हैं। धनी वर्ग जो अल्पसंख्यक होते हैं धन के बल पर अपनी शक्ति का प्रयोग करते हैं। निर्धन वर्ग बहुसंख्यक होने के कारण जन-बल से अपनी शक्ति का प्रयोग करते हैं। अन्य हितों को लेकर अन्य विविध वर्गों की भी उत्पत्ति होती रहती है जो अपनी विशिष्ट स्थिति के कारण अपनी शक्ति का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार सदा एक प्रकार का संघर्षमय वातावरण विभिन्न गुटों के मध्य बना रहता है।

वैधानिक जनतन्त्र (Polity)

वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र के तत्त्वों का सम्मिश्रण—अरस्तू ने वैधानिक जनतन्त्र को वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र के मिश्रण के रूप में वर्णित किया है। वर्गतन्त्र कुलीनतन्त्र का और प्रजातन्त्र वैधानिक जनतन्त्र का विकृत रूप है। अरस्तू ने वैधानिक जनतन्त्र की धारणा को साधारणतया ऐसे मिश्रण के लिए प्रयुक्त किया है जो वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र के तत्त्वों से निर्मित हो परन्तु प्रजातन्त्र की ओर अधिक झुकाव रखता हो। वैधानिक जनतन्त्र धनी तथा निर्धनों एवं सम्पत्ति तथा स्वतन्त्र-जन्म के तत्त्वों का सम्मिश्रण है। जिस संविधान में जन्म, सम्पत्ति तथा योग्यता के तत्त्वों का सम्मिश्रण पाया जाता है, वह कुलीनतन्त्र की ओर अधिक झुकाव रखता है। परन्तु वैधानिक जनतन्त्र में धनी तथा निर्धनों का ही सम्मिश्रण होता है।

तत्त्वों के मिश्रण का सिद्धान्त—वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र के तत्त्वों के समुचित सम्मिश्रण द्वारा वैधानिक जनतन्त्र के निर्माण हेतु अरस्तू वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र के तत्त्वों का परीक्षण करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि उनमें से एक-एक तत्त्व को लेकर उन्हें परस्पर मिश्रित कर दिया जाना चाहिए। इस प्रक्रिया में वह तीन सिद्धान्तों की चर्चा करता है: (1) वर्गतन्त्र में यदि धनी लोग न्यायालय की बैठक से अनुपस्थित रहते हैं तो उन्हें दण्ड दिया जाता है और निर्धनों को उपस्थिति का वेतन नहीं मिलता; प्रजातन्त्र में निर्धनों को ऐसी उपस्थिति के लिए वेतन दिया जाता है और धनिकों को अनुपस्थित रहने पर दण्ड नहीं दिया जाता। मिश्रण का नियम यह होना चाहिए कि इन दोनों का कोई मध्यम मार्ग अपनाया जाय जो दोनों में शामिल हो। (2) वर्गतन्त्र में सभा की बैठक में भाग लेने की अर्हता अत्यधिक

सम्पत्ति का होना मानी जाती है, तो प्रजातन्त्र में या तो सम्पत्ति की कोई योग्यता नहीं रखी जाती अथवा बहुत ही न्यून सम्पत्ति वांछनीय मानी जाती है। अतः सम्मिश्रण का रूप दोनों के मध्य औसत निकालकर निर्धारित किया जा सकता है। (3) प्रजातन्त्र में मजिस्ट्रेटों की नियुक्ति के लिए सम्पत्ति की कोई अर्हता निर्धारित नहीं की जाती और उन्हें पर्ची प्रथा (lot) द्वारा छाँटा जाता है, जबकि वर्गतन्त्र में सम्पत्ति की योग्यता के साथ-साथ मतदान (vote) द्वारा भी उनकी नियुक्ति की जाती है। अत: मिश्रण का तरीका यह हो सकता है कि मजिस्ट्रेटों की नियुक्ति में वर्गतन्त्र के मत द्वारा नियुक्ति के सिद्धान्त को तथा प्रजातन्त्र के सम्पत्ति सम्बन्धी प्रतिबन्ध को न लगाने का सिद्धान्त अपनाया जाय।[1] एक समुचित ढंग के वैधानिक जनतन्त्र से यह आभास होना चाहिए कि उसमें वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र दोनों के तत्त्व विद्यमान हैं, परन्तु यह भी कि उसमें इन दोनों में से किसी एक के तत्त्व पूर्णतया नहीं हैं।[2] इस प्रकार वैधानिक जनतन्त्र, वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र के तत्त्वों का मध्यमान (the mean between two extremes) है, और दोनों में से उसे किसी भी नाम से पुकारा जा सकता है।

सर्वोत्तम व्यावहारिक संविधान (The best practicable constitution)

जिन छ: प्रकार के संविधानों का उल्लेख अरस्तू के वर्गीकरण में किया गया है, उनकी विशेषता अरस्तू की संविधान विषयक इस परिभाषा पर आधारित है कि 'संविधान राज्य के पदों की व्यवस्था है।' अरस्तू केवल इतने से ही सन्तुष्ट नहीं था कि वह विभिन्न प्रकार के संविधानों की विवेचना मात्र कर दे। अत: एक यथार्थवादी राजनीति-शास्त्री होने के नाते वह एक आदर्श संविधान की बात न कहकर इस बात का परीक्षण करता है कि कौनसा संविधान अधिकांश राज्यों के लिए सबसे अधिक मान्य हो सकता है। अत: वह संविधान को 'एक जीवन-प्रणाली' (a way of life) भी कहता है। उसका विचार है कि 'एक वास्तविक सुखमय जीवन समस्त बाधाओं से मुक्त उत्तमता का जीवन है।'[3] उत्तमता मध्यमान (mean) में पायी जाती है। मध्यमान से अरस्तू का अभिप्राय दो परस्पर विरोधी तत्त्वों का औसत है। उदाहरणार्थ, अत्यधिक शौर्य (foolhardiness) तथा कायरता (cowardice) का मध्यमान उत्साह का गुण (virtue of courage) है। जीवन-प्रणाली की उत्तमता या निकृष्टता की माप भी संविधान की प्रकृति के आधार पर की जानी चाहिए।

समाज में तीन प्रकार के नागरिकों के वर्ग पाये जाते हैं: अत्यन्त धनी, अत्यन्त निर्धन तथा मध्यम वर्ग। मध्यम वर्ग प्रथम दो वर्गों का मध्यमान है। अरस्तू का विश्वास है कि मध्यमान सदैव सर्वोत्तम होता है। मध्यम वर्ग के व्यक्ति सदैव विवेक का अनुसरण करते हैं। इसके विपरीत जो व्यक्ति सौन्दर्य, बल, धन आदि की प्रचुरता से युक्त हों, अथवा इनसे अत्यधिक विहीन हों, वे विवेक का अनुसरण नहीं कर पाते। अरस्तू का कथन है कि अत्यधिक धनिकों के बच्चों में आज्ञाकारिता तथा अनुशासित

[1] *The Politics*, Bk. IV, Ch. IX, 5.

[2] 'A properly mixed 'polity' should look as if it contained both democratic and oligarchic elements—and as if it contained neither.' —*Ibid.*, 10.

[3] बार्कर के मत से बाधाओं से मुक्त जीवन का अभिप्राय यह है कि व्यक्ति को सम्पत्ति, उत्तम स्वास्थ्य तथा भौतिक साधन प्रचुर मात्रा में प्राप्त रहें।'

रहने की भावना नहीं रहती है। इसके विपरीत दरिद्रों के बच्चों में शासन करने की भावना नहीं होती। वे केवल इतना ही जानते हैं कि आज्ञापालन कैसे किया जाता है। इस प्रकार वे दासता की स्थिति में रहते हैं। दूसरी ओर धनिकों का वातावरण ऐसा होता है कि वे केवल आज्ञा देना जानते हैं, मानो कि वे दासों के मालिक हैं। इस प्रकार इन दोनों प्रकार के वर्गों के व्यक्तियों में एक साथ शासन करने तथा शासित होने की क्षमता का अभाव रहता है। जिस राज्य में केवल ऐसे दो वर्ग होंगे वह राज्य केवल दासों तथा मालिकों का हो जायेगा, न कि स्वतन्त्र नागरिकों का। ऐसे राज्य में एक ओर स्पर्धा तथा दूसरी ओर घृणा की भावना बनी रहेगी। इसके मध्य मैत्री की भावना नहीं हो सकती जो कि एक राजनीतिक समाज के लिए आवश्यक है। जहाँ तक सम्भव हो, राज्य समानों तथा मित्रों द्वारा निर्मित समाज के रूप में विद्यमान रहने का उद्देश्य रखता है; और अन्य वर्गों की अपेक्षा मध्यम वर्ग ही ऐसे समाज का निर्माण करता है।' मध्यम वर्ग के व्यक्तियों में ही समानता तथा मैत्री की भावना पायी जाती है।

इसलिए अरस्तू इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि 'राजनीतिक समाज का सर्वोत्तम रूप वह है जिसमें सत्ता मध्यम वर्ग में विहित रहती है।' अतः शासन की उत्तमता के लिए यह आवश्यक है कि राज्य में मध्यम वर्ग के व्यक्तियों की संख्या अधिक से अधिक होनी चाहिए। यदि वह धनी तथा निर्धन दोनों वर्गों के योग से अधिक हो तो अच्छा है, नहीं तो कम से कम उपर्युक्त दोनों वर्गों में से प्रत्येक से अधिक तो होनी ही चाहिए, ताकि उन वर्गों में से किसी एक को प्रमुखता की स्थिति प्राप्त कर लेने का अवसर न मिल सके। जिस राज्य के सदस्य पर्याप्त मात्रा में सम्पत्तिशाली होंगे (न अत्यधिक धनी, न अत्यधिक दरिद्र), वह राज्य उत्तम कोटि का होगा। जिस राज्य में नागरिकों के मध्य सम्पत्ति की अत्यधिक विषमता होगी वह या तो पूर्ण प्रजातन्त्र (extreme democracy) होगा या अमिश्रित वर्गतन्त्र (unmixed oligarchy), अथवा वहाँ एक प्रकार का अत्याचारी शासन होगा। ऐसे राज्यों में विभिन्न वर्गों के मध्य असमानता तथा द्वेष बने रहने के कारण क्रान्तियाँ होने की सम्भावना बनी रहती है, जो संविधान अथवा राज्य के स्थायित्व (stability) के लिए घातक है।

जिस राज्य में मध्यम वर्ग के व्यक्तियों की संख्या अधिक होती है, उसमें नागरिकों के मध्य संघर्ष तथा द्वन्द्व की स्थिति नहीं रहती। बड़े राज्यों में मध्यम वर्ग के लोगों की संख्या अधिक होती है, इसलिए उनमें नागरिकों के मध्य कलह कम होती है। छोटे राज्यों में बहुधा जनता केवल दो वर्गों (धनी तथा निर्धनों) में विभक्त हो जाती है। साधारणतया प्रजातन्त्र वर्गतन्त्रों की अपेक्षा इसलिए अधिक स्थायी होते हैं कि उनमें मध्यम वर्ग के लोगों की संख्या अधिक होती है। परन्तु यदि प्रजातन्त्रों में गरीबों की संख्या अत्यधिक हो जाय और मध्यम वर्गों की कमी हो जाय तो वे भी शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। अरस्तू की धारणा यह भी है कि सर्वोत्तम प्रकृति के विधायक मध्यम श्रेणी के व्यक्ति ही होते हैं।

अरस्तू वैधानिक जनतन्त्र (polity) को सर्वोत्तम संविधानों की श्रेणी में रखता है क्योंकि वह वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र का मिश्रण अथवा एक प्रकार का मध्यमान है। परन्तु उसका यह वर्गीकरण केवल संविधान की राजनीतिक संरचना

का द्योतक है। जब अरस्तू मध्यम वर्ग की अधिक संख्या वाले राज्य को सर्वोत्तम राजनीतिक व्यवस्था बनाता है, तो उसका अभिप्राय सामाजिक संरचना (social composition) के आधार पर सर्वोत्तम राजनीतिक व्यवस्था को चित्रित करना है। वैधानिक जनतन्त्र में विभिन्न वर्गों को एक सामूहिक प्रमुख मध्यम वर्ग में या उसके अधीन मिश्रित कर दिया जाता है। यह नया दृष्टिकोण प्रथम दृष्टिकोण से भिन्न है, क्योंकि वैधानिक जनतन्त्र के अन्तर्गत केवल वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र का मिश्रण ही स्वयं अपनी प्रकृति के कारण मध्यम वर्ग की प्रमुखता से युक्त संविधान नहीं माना जा सकता।[1] अतएव अरस्तू की दृष्टि से सर्वोत्तम व्यावहारिक संविधान वैधानिक जनतन्त्र (polity) नहीं है, प्रत्युत् वह है, जिसमें सत्ताधारी व्यक्ति बहुसंख्यक मध्यम वर्ग के व्यक्ति होते हैं। यह संविधान का एक मिश्रित रूप है जिसमें वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र के तत्त्व न्याय-संगत ढंग से संयुक्त कर दिये जाते हैं। इसका सामाजिक आधार पर्याप्त बड़ी संख्या में मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों का अस्तित्व है जो न अत्यन्त धनी हैं और न निर्धन। ऐसा राज्य स्थायी होता है क्योंकि इसमें पूर्णतया अज्ञानियों का शासन नहीं रहता, साथ ही यह शासकों को उत्तरदायी बनाने की ओर प्रवृत्त रहता है। पद-धारण के लिए सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यता शिथिल कर दी जाती है। पदों पर नियुक्ति पर्ची-प्रथा द्वारा भी नहीं की जाती। इस प्रकार ऐसे राज्य में गुण तथा संख्या का समन्वय हो जाता है। इन दो तत्त्वों के मध्य शक्ति सन्तुलन बना रहता है। परन्तु यदि गुण (धन, जन्म, शिक्षा) के तत्त्व का आधिक्य हो जायेगा तो राज्य वर्गतन्त्र में परिणत हो जायेगा। इसके विपरीत यदि संख्या के तत्त्व में विस्तार होगा तो वह प्रजातन्त्र में परिणत हो जायेगा।

अरस्तू के विचार से अधिकांश राज्य या तो वर्गतन्त्र होते हैं या प्रजातन्त्र, और वैधानिक जनतन्त्रों की संख्या प्रायः न्यून ही रहती है। इसका कारण यह है कि या तो अधिकांश राज्यों में मध्यम वर्ग बहुत छोटा होता है और परिणामस्वरूप धनी या निर्धन वर्ग की अधिक मात्रा मध्यमान को विकृत करके वर्गतन्त्र या प्रजातन्त्र, जैसी भी स्थिति हो, में परिणत हो जाती है, अथवा धनी तथा निर्धन वर्ग पारस्परिक संघर्ष के कारण समानता के आदर्श का अनुकरण करते हुए मध्यमान को भूल जाते हैं और जिसकी भी विजय होती है, उसी के अनुसार या तो राज्य-व्यवस्था वर्गतन्त्र में या प्रजातन्त्र में परिणत हो जाती है। तीसरे, ग्रीस की दो प्रमुख राज्य-व्यवस्थाओं—एथेंस के प्रजातन्त्र तथा स्पार्टा के वर्गतन्त्र—ने अपने प्रभावों द्वारा सर्वत्र इन्हीं दो के अस्तित्व को बनाये रखने का प्रयास किया था। इसीलिए अरस्तू की दृष्टि में मध्यम वर्ग की सत्ता से युक्त राज्यों की स्थापना नहीं हो पायी थी। अरस्तू का निष्कर्ष है कि अधिकांश राज्यों के लिए सर्वोत्तम संविधान तो वैधानिक जनतन्त्र ही है। अतः जो सर्वोत्तम से सर्वाधिक सन्निकट है, वह अन्यों की अपेक्षा उत्तमतर होता है, और जो मध्यमान से जितनी ही दूर है वह उतना ही निकृष्टतर होता है।

3. सरकार (The Government)

राज्य तथा शासन में अन्तर—अरस्तू का राज्य दर्शन राज्य एवं शासन का क्रमबद्ध अध्ययन है। एक वैज्ञानिक राजशास्त्री होने के नाते वह राज्य एवं शासन के मध्य स्पष्ट भेद करता है। राज्य नागरिकों एवं नागरिकों के समुदायों का संगठन

[1] Barker, *op. cit.*, 180–81.

है। परन्तु सरकार या शासन राज्य के अन्तर्गत उन नागरिकों का संगठन है जो राज्य की सर्वोच्च राजनीतिक एवं प्रशासनिक सत्ता को धारण किये रहते हैं। अरस्तू के शासनिक संगठनों के विवेचन से स्पष्टतया विदित हो जाता है कि सरकार राज्य के नैतिक एवं राजनीतिक कार्यों एवं उद्दश्यों को सम्पन्न करने का साधन है। अरस्तू राज्य एवं सविधान को एक ही चीज मानता है। उसके विचार से जब संविधान परिवर्तित हो जाता है तो राज्य का स्वरूप (identity) भी बदल जाता है। परन्तु सरकार में परिवर्तन होने का अर्थ है उन व्यक्तियों का परिवर्तन जो राज्य की सर्वोच्च राजनीतिक सत्ता को धारण किये हुए थे। सम्प्रभुता की आधुनिक धारणा से प्राचीन ग्रीक विचारक अनभिज्ञ थे। अत: अरस्तू का भी यही मत है कि राज्य प्रभुसत्ता-सम्पन्न नहीं होता, अपितु राज्य की प्रभुत्व शक्ति सरकार के द्वारा प्रयुक्त की जाती है। शासन का संचालन करने वाले व्यक्ति या निकाय प्रभुसत्ता को धारण किये रहते है।

राज्यों के वर्गीकरण का आधार शासन-व्यवस्था—अरस्तू ने राज्यों (संविधानों) का जो वर्गीकरण किया है, उसका आधार उनमें प्रचलित शासन-व्यवस्था है। एक व्यक्ति या कुछ व्यक्ति या बहुत से व्यक्ति जब राज्य की सर्वोच्च सत्ता को धारण किये रहते हैं तो उनके आधार पर ही संविधानों या राज्यों को तीन प्रकार से वर्गीकृत किया जाता है। राज्यों के यह रूप या उनके विकृत रूप शासन सत्ताधारियों के व्यवहार के आधार पर निर्धारित किये जाते हैं। आधुनिक काल में अनेक विद्वानों यथा गार्नर की धारणा है कि अरस्तू का राज्यों का वर्गीकरण वास्तव में राज्यों का वर्गीकरण न होकर शासनों का वर्गीकरण कहा जा सकता है। यह धारणा इस तर्क पर आधारित है कि अरस्तू के संविधानों (राज्यों) के वर्गीकरण का आधार शासन-सत्ता के प्रयोग करने की पद्धतियाँ हैं। अत: राजतन्त्र में शासन-सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में रहती है और शासन का उद्देश्य समस्त जनता का हित होता है, इसके विपरीत अत्याचारी संविधान (tyranny) एक व्यक्ति का अत्याचारी शासन है। इसी प्रकार कुलीनतन्त्र, प्रजातन्त्र, आदि का भेद भी शासन के स्वरूपों द्वारा किया जाता है। अरस्तू द्वारा किये गये राज्यों के वर्गीकरण को राज्यों का वर्गीकरण न मानकर शासनों का ही वर्गीकरण मानते हुए भी यह तो स्पष्ट है कि अरस्तू की राज्य एवं शासन सम्बन्धी धारणाएँ अलग-अलग हैं। वह सरकार को राज्य (संविधान) का अंग मानता है, जो राज्य के उद्देश्यों की पूर्ति का साधन है।

शासन-संगठन—अरस्तू शासन की तीन प्रकार की शक्तियों (या तत्वों) को बताता है : (1) विचार-विनिमयात्मक (deliberative), (2) अधिशासनिक (executive), तथा (3) न्यायिक (judicial)। शासन विज्ञान को अरस्तू की यह महान् देन हैं। उसके युग से लेकर आज तक शासन विज्ञान के विद्वान् शासन के तीन अंगों व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका को अरस्तू के सिद्धान्त के आधार पर ही मानते आये हैं। यह दूसरी बात है कि शासन के कार्यकलापों तथा उनके कार्यान्वियन में बढ़ती हुई जटिलताओं के आधार पर तब से लेकर आज तक जो विविध प्रकार के विकास हुए हैं उनके फलस्वरूप शासन के इन तीन अंगों की कार्य-प्रणाली, संगठन, शक्तियों तथा पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में अनेक नये-नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन होता आया है। सरकार की इन तीन शक्तियों (तत्वों) तथा उनके संगठन का विवेचन अरस्तू विविध प्रकार के संविधानों (राज्यों) के सन्दर्भ में

करता है।

विचार-विनिमयात्मक (deliberative) तत्त्व या शक्ति का अभिप्राय आधुनिक काल के व्यवस्थापन सम्बन्धी कार्य से है। अरस्तू के मत से इस अंग के कार्य युद्ध तथा शान्ति सम्बन्धी विषयों पर विचार करना, विधि-निर्माण, महानतम दण्ड पर विचार, प्रशासकों की नियुक्ति तथा उन पर नियन्त्रण रखना आदि हैं। इस अंग की कार्य-पद्धति विविध संविधानों में विविध प्रकार की होती है। प्रजातन्त्र में समस्त नागरिक समस्त विषयों पर विचार-विनिमय करते हैं। वर्गतन्त्र में थोड़े-से व्यक्ति समस्त विषयों पर, कुलीनतन्त्र तथा वैधानिक जनतन्त्रों में कुछ विषयों पर सब नागरिक तथा अन्य विषयों पर कुछ नागरिक विचार-विनिमय करते हैं। बार्कर के मत से अरस्तू की धारणा के विचार-विनिमयात्मक अंग को व्यवस्थापिका कहना समुचित नहीं है, क्योंकि अरस्तू ने इसके लिए विधायी, अधिशासनिक तथा न्यायिक तीनों प्रकार के कार्यों का निर्धारण किया है। इसी प्रकार उसके द्वारा वर्णित प्रशासकीय (the magistracies) तथा न्यायिक अंगों को भी आधुनिक युगीन अधिशासनिक एवं न्यायिक अंगों के रूप में नहीं लिया जा सकता क्योंकि उनका संगठनात्मक स्वरूप एवं शक्तियाँ भिन्न प्रकृति की बतायी गयी हैं। इन अंगों के मध्य शक्ति-पृथक्करण अथवा शक्ति समागम की धारणाएँ भी जैसी अमरीकी या ब्रिटिश शासन-पद्धतियों में प्रचलित हैं, अरस्तू की विचारधारा में नहीं हैं।

प्रशासकीय संगठन (magistracies) को आधुनिक शब्दावली के कार्यपालिका अंग से समीकृत करना भी उचित नहीं है, क्योंकि अरस्तू द्वारा वर्णित मजिस्ट्रेटों की व्यवस्था प्रशासनिक पदाधिकारियों की व्यवस्था है न कि अधिशासनिक शक्तियों से युक्त उच्चतम कार्यपालिका इसे आधुनिक शासन व्यवस्थाओं के सन्दर्भ में प्रशासनिक संगठन कहना उचित होगा। अरस्तू ने विविध प्रकार के संविधानों के सन्दर्भ में मजिस्ट्रेटों की नियुक्ति की विविध प्रणालियों का वर्णन किया है। मजिस्ट्रेट राज्य के राजस्व का नियन्त्रण, प्रतिरक्षात्मक कार्य तथा अन्य प्रकार के प्रशासन सम्बन्धी कार्य करते हैं।

सरकार का तीसरा अंग न्यायपालिका है, जिसकी व्यवस्था के सम्बन्ध में अरस्तू मजिस्ट्रेटों की भाँति न्यायिक पदाधिकारियों की नियुक्ति, योग्यता तथा न्यायालय संगठनों का विवेचन करता है। अरस्तू विविध प्रकार के विवादों तथा अपराधों का विवेचन भी करता है जिनके निबटाने के लिए न्यायालय आवश्यक हैं। न्यायालय संगठन का विवेचन भी विविध प्रकार के संविधानों के सिद्धान्तों के आधार पर किया गया है। इस प्रकार भले ही संगठनात्मक दृष्टि से अरस्तू द्वारा वर्णित शासन के तीन अंग आधुनिक शासन व्यवस्थाओं के तीन अंगों से मिलते-जुलते नहीं हैं, तथापि प्रशासन के तीन प्रमुख कार्यों को सर्वप्रथम अरस्तू ने ही चित्रित किया है, जो भविष्य के विचारकों के लिए अरस्तू की एक महान् देन है।

राजनीतिक आदर्श

1. विधि का शासन (The rule of law)

अरस्तू की कानून सम्बन्धी धारणा—प्लेटो ने अपने रिपब्लिक में ज्ञान के शासन का महत्त्व दर्शाते हुए दार्शनिक राजा को विधि के प्रतिबन्ध से मुक्त रखा था।

किन्तु लॉज में उसने ज्ञान के शासन की व्यावहारिकता पर शंका का अनुभव करके ज्ञान की उपज विधि के शासन को द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य की व्यवस्था के लिए अपरिहार्य माना। उसने कानून का संहिताकरण करके एथेंस के प्रथम विधिदाता होने का यश प्राप्त किया है। अरस्तू ने राज्य विषयक विवेचन करने में प्लेटो के लॉज में वर्णित विचारों से ही सर्वाधिक प्रेरणा ली है। परन्तु जैसा बार्कर का मत है, 'अरस्तू ने कानून के पक्ष में कम योगदान किया है, प्रत्युत् यह सामान्यतया तथा सिद्धान्ततः इसकी (कानून की) सम्प्रभुता का उपयुक्त ढंग का प्रतिपादक है।'[1] उसकी दृष्टि से 'सम्प्रभु कानून संहिताबद्ध कानून नहीं है; यह लिखित या अलिखित परम्पराओं का समूह है जिसका विकास राज्य के विकास के साथ-साथ हुआ है।' अरस्तू की धारणा है कि 'एक व्यक्ति के शासन की अपेक्षा विधि के शासन को उच्चतर माना जाना चाहिए, यदि व्यक्तियों के आदेशों को अधिक वांछनीय समझा जाता है तो ऐसे व्यक्तियों को विधि के संरक्षक या विधि-मन्त्रियों के रूप में नियुक्त किया जाना चाहिए।'[2]

अरस्तू की कानून की सम्प्रभुता की धारणा तत्कालीन एथेंस में प्रचलित कानून की धारणा के अनुरूप है। वहाँ कानून को स्थायी तथा अपरिवर्तनीय नियमों का समूह माना जाता था। विधायक या मजिस्ट्रेट कानून में परिवर्तन नहीं कर सकते थे। यदि कभी ऐसे परिवर्तन प्रस्तावित किये भी जाते थे, तो अन्ततः उनका अधिनियमन राज्य के न्यायिक अंग द्वारा किया जाता था। शासक लोगों को सदा कानून के अधीन तथा कानून के अनुसार आचरण करना पड़ता था।[3] कानून की परिभाषा करते हुए अरस्तू कहता है कि 'कानून समस्त वासनाओं से मुक्त विवेक है (यह ईश्वर तथा विवेक की विशुद्ध वाणी है)।'[4]

विधि के शासन का महत्त्व—विधि की सम्प्रभुता अथवा विधि के शासन का समर्थन करते हुए अरस्तू ने जो विचार व्यक्त किये हैं उनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि वह केवल आदर्श की दुनिया में नहीं भटकता। वह प्लेटो के दर्शन अथवा दार्शनिक राजा के शासन का सिद्धान्ततः विरोधी नहीं है, क्योंकि वह स्वयं राजतन्त्र का समर्थन भी एक उत्तम शासन-व्यवस्था के रूप में करता है। ऐसी व्यवस्था प्लेटो द्वारा चित्रित दार्शनिक राजा के शासन की व्यवस्था से बहुत भिन्न नहीं है। परन्तु एक यथार्थवादी होने के नाते उसे यह आभास हुआ कि तृष्णा एक ऐसा तत्त्व है जो उत्तम से उत्तम व्यक्तियों को भी उच्च-पद धारण करने पर भ्रष्ट कर सकता है। अतएव राज्य के शासकों को भ्रष्ट होने से बचाने का उपाय यही है कि उनके ऊपर भी तृष्णा-रहित कानून की प्रभुसत्ता बनी रहे। जिस राजतन्त्र को अरस्तू सर्वोत्तम मानता है वह वैधानिक राजतन्त्र है, न कि स्वेच्छाचारी, जो एक अत्याचारी शासन होता है। वैधानिक राजतन्त्र में एक व्यक्ति (राजा) कानून के अनुसार शासन करता है। अतः अरस्तू प्लेटो के आदर्श राज्य को एक आदर्श के रूप में भी स्वीकार नहीं करता, क्योंकि उसमें दार्शनिक राजा को कानून के अधीन नहीं माना गया है।

[1] 'Aristotle rendered less service to law: on the other hand he was in general and in principle, a steady and consistent advocate of its sovereignty.' —*Ibid.*, IV.

[2] *Ibid.*   [3] *Ibid.*, 128.

[4] Law (as the pure voice of God and reason) may thus be defined as 'Reason free from all passion.' —*Ibid.*, 146.

अरस्तू का आदर्श सदैव वैधानिक शासन है, जिसमें शासक कानून के अनुसार ही शासन करते हैं, न कि अपने स्वविवेक से। सैबाइन के मत से 'अरस्तू कानून की सर्वोच्चता को एक उत्तम राज्य के चिह्न के रूप में स्वीकार करता है, न कि केवल एक दुर्भाग्यपूर्ण आवश्यकता के रूप में।'[1] वह प्लेटो की लॉज में दी गयी इस धारणा को मानता है कि किसी भी उत्तम राज्य में अन्ततोगत्वा कानून को ही सम्प्रभु होना चाहिए न कि किसी व्यक्ति विशेष को, चाहे वह कितना ही गुणवान क्यों न हो। उत्तम से उत्तम शासक भी कानून के अभाव में सफल शासक सिद्ध नहीं हो सकता। कानून एक निष्पक्ष सत्ता है, जो स्वयं मजिस्ट्रेट नहीं हो सकती। परन्तु कानून मजिस्ट्रेट की सत्ता को नैतिक रूप प्रदान कर सकता है। वैधानिक शासन शासितों के सम्मान को बनाये रखता है और शासकों को स्वेच्छाचारी बनने से रोकता है। अत: शासक तानाशाह नहीं बन सकते, बल्कि वे सहमति से शासन करते हैं। सहमति के शासन (rule by consent) का तात्पर्य है, कानून के अनुसार शासन करना। अरस्तू प्लेटो के इस दृष्टिकोण से भी सहमत नहीं है कि जिस प्रकार एक चिकित्सक को चिकित्साशास्त्र के नियमों से प्रतिबन्धित रहकर ही रोगियों की चिकित्सा करने में सफलता मिलना आवश्यक नहीं है उसी प्रकार शासक को कानून के बन्धन में ही रहकर शासन संचालन में सफलता नहीं मिलती। अरस्तू के मत से चिकित्सक तथा राजनेता की कार्यविधि में बड़ा अन्तर है। चिकित्सक के समक्ष पक्षपात का कोई कारण नहीं होता, जबकि राजनेता के समक्ष ऐसा अवसर आ सकता है। अत: उसे निष्पक्ष रखने के लिए कानून की सत्ता आवश्यक होती है।[2]

विधि के शासन के तत्त्व—सैबाइन ने कहा है कि अरस्तू के द्वारा व्यक्त विधि के शासन में तीन तत्त्व विद्यमान हैं—(1) यह जनसाधारण के हित में सम्पन्न होता है न कि किसी व्यक्ति या वर्ग विशेष के हित में, (2) यह विधिगत शासन है क्योंकि इसमें शासक प्रचलित परम्पराओं का उल्लंघन नहीं कर सकते, तथा (3) यह शासितों की इच्छा के अनुकूल सम्पन्न होता है न कि शासकों की इच्छा या शक्ति के आधार पर। परन्तु अरस्तू इन तत्त्वों का परीक्षण क्रमबद्ध ढंग से नहीं करता, न ही उसने कहीं पर वैधानिक शासन की परिभाषा की है।[3] अरस्तू का विश्वास है कि कानून नैतिक एवं सभ्य जीवन की अपरिहार्य स्थिति है। अत: 'जब तक मानव कानून तथा न्याय से पृथक् रहेगा तब तक वह समस्त जानवरों से भी निकृष्टतम होगा परन्तु जब वह पूर्णता को प्राप्त होता है तभी वह सर्वोत्तम प्राणी होता है।'[4] परम्पराएँ तथा रीति-रिवाज कानून की आवश्यक स्थितियाँ हैं जो मानव के क्रमिक अनुभवों तथा विवेक की उपज हैं। एक व्यक्ति का विवेक उनकी समता नहीं रख सकता। अत: कानून का शासन एक व्यक्ति के शासन से सदैव उच्चतर है। इसी प्रकार विधि-निर्माण के सम्बन्ध में भी अरस्तू यही सिद्धान्त अपनाता है कि विधि का निर्माण समस्त जनता के द्वारा सामूहिक रूप से किया जाना उचित है क्योंकि सामूहिक विवेक एक व्यक्ति के विवेक से उच्चतर होता है। विधि-निर्माण के समय जब अनेक व्यक्ति विचार करते हैं तो एक व्यक्ति एक पहलू का, दूसरा, दूसरे का,

[1] 'The supremacy of law is accepted by Aristotle as a mark of a good state and not merely as on unfortunate necessity.' —Sabine, *op. cit.*, 92.

[2] *The Politics*, Bk. III, Ch. XVI, 6–8.

[3] Sabine, *op. cit.*, 93.

[4] *The Politics*, Bk. I, Ch. II, 15.

आदि इसी प्रकार उसके विभिन्न पहलुओं पर विचार करते हैं। अन्ततः कानून के समस्त पहलुओं का विवेचन हो जाने से कानून उत्तम रूप का बनता है। यही गुण कानून के निर्माणकारी तत्त्वों, परम्पराओं तथा अभिसमयों में भी होता है, क्योंकि वे भी मानव-जाति के चिरकालीन अनुभवों तथा विवेकों के आधार पर विकसित होते हैं। अतएव शासन में उनकी सर्वोच्चता वांछनीय ही नहीं, अपितु लाभकारी भी है। इसलिए अरस्तू कानून को सम्प्रभुता की स्थिति प्रदान करता है। वह लिखित कानून की अपेक्षा परम्परागत कानून को श्रेष्ठतर मानता है क्योंकि परम्परागत कानून दीर्घकालीन मानव मस्तिष्क की उपज है और उसमें स्थायित्व आ चुकता है जबकि लिखित कानून में न तो ऐसा स्थायित्व होता है और न लोचपूर्णता।

अरस्तू पर प्लेटो का प्रभाव—जहाँ तक राज्य के उद्देश्य का सम्बन्ध है, अरस्तू प्लेटो के विचारों से भिन्नता नहीं रखता। उसका आदर्श भी ग्रीक नगर-राज्य था, जिसका जीवन आत्म-निर्भर होना चाहिए और जिसका उद्देश्य उत्तम एवं सद्गुण-युक्त जीवन की प्राप्ति हो। इस हेतु अरस्तू प्लेटो के स्टेट्समैन तथा लॉज के विचारों से प्रेरणा लेता है। सैबाइन ने कहा है कि 'अरस्तू के राजनीतिक आदर्श का सिद्धान्त उस आधार पर स्थित है जिसे उसने स्पष्टतया प्लेटो के साथ सहवास के कारण प्राप्त किया था।'[1] अरस्तू ने प्लेटो के लॉज के विचारों से प्रभावित होकर यह सिद्धान्त अपनाया था कि कानून राज्य का अपरिहार्य तत्त्व है। स्वयं प्लेटो ने भी अपने ग्रन्थ लॉज में कानून तथा परम्पराओं को मानव-जाति के सभ्यता के विकास-क्रम में मानव-विवेक तथा अनुभव का प्रतिफल स्वीकार किया है। अरस्तू भी मानता है कि कानून में वास्तविक विवेक अन्तर्निहित रहता है। अतः एक सच्चे शासन में कानून की अधीनता स्वीकार की जानी चाहिए। साथ ही शासितों की सहमति तथा स्वतन्त्रता भी स्वीकार की जानी चाहिए। अरस्तू तो यह मानता है कि शासन का यह रूप जिसमें कानून की सर्वोच्चता विद्यमान रहती है, 'दूसरे सर्वश्रेष्ठ राज्य' का आदर्श नहीं है, अपितु स्वयं 'आदर्श राज्य' का तत्त्व है। सैबाइन ने कहा है कि 'अरस्तू का उद्देश्य एक 'आदर्श राज्य' पर अपने विचार व्यक्त करना न होकर 'राज्य के आदर्शों' पर लिखना था।'

राज्य के आदर्शों के सम्बन्ध में प्लेटो के लॉज के विचारों के आधार पर अरस्तू न केवल विधि के शासन के सिद्धान्त को ही अपनाता है, बल्कि एक आदर्श राज्य की आवश्यकताओं के सम्बन्ध की अन्य धारणाओं को भी लेता है और उनमें अपने दृष्टिकोण से अनेक परिवर्तन प्रस्तुत करता है।

2. सम्प्रभुता (Sovereignty)

अरस्तू की सम्प्रभुता की धारणा आधुनिक सम्प्रभुता की धारणा से भिन्न है—अरस्तू का 'कानून की सम्प्रभुता' का सिद्धान्त आधुनिक युग की राज्य की 'कानूनी सम्प्रभुता' के सिद्धान्त से बिल्कुल भिन्न है। राज्य की कानूनी प्रभुसत्ता की धारणा से प्राचीन ग्रीक विचारक सर्वथा अनभिज्ञ थे। यह सिद्धान्त तो 16वीं शताब्दी के फ्रांसीसी विचारक जीन बोदाँ की देन है, जिसके अनुसार यह माना जाता है कि

[1] 'Aristotle's theory of political ideals, therefore, stands upon ground which he had clearly occupied because of his association with Plato.'—Sabine, *op. cit.*, 94.

राज्य कानूनी दृष्टि से सर्वोच्च है, अर्थात् आन्तरिक दृष्टि से राज्य के अन्तर्गत कोई सत्ता राज्य से उच्चतर नहीं है और बाह्य दृष्टि से भी राज्य की सीमा से बाहर की कोई सत्ता राज्य की सत्ता के ऊपर प्रभावी नहीं हो सकती। इसका यह भी निष्कर्ष निकलता है कि कानून सम्प्रभु का आदेश है। राज्य में जो सत्ता (व्यक्ति या व्यक्ति-समूह) राज्य की सम्प्रभु शक्ति को धारण करे उसी का आदेश कानून माना जाएगा। वास्तव में राज्य की कानूनी सम्प्रभुता की यह धारणा निरंकुश राजतन्त्रों के समर्थन में विकसित हुई थी। परन्तु ग्रीक नगर-राज्यों में सम्प्रभुता के इन तत्त्वों का पूर्णतया अभाव था। अरस्तू जिस कानून को सर्वोच्च या सम्प्रभु मानता है वह न तो सम्प्रभु राज्य का आदेश था, न प्रभुसत्ता धारण करने वाले व्यक्ति या व्यक्ति-समूह का। इस दृष्टि से अरस्तू की सम्प्रभुता सम्बन्धी धारणा आधुनिक युग की सम्प्रभुता की धारणा से नहीं मिलती-जुलती है।

अरस्तू की धारणा में कानून सर्वोच्च सत्ता धारण करता है—संविधानों या राज्यों का वर्गीकरण करने में अरस्तू ने सम्प्रभु (सर्वोच्च) शक्ति को धारण करने वाले व्यक्तियों की संख्या (एक, थोड़े या अधिक) को एक कसौटी माना है। उसी के आधार पर वह तीन विशुद्ध तथा तीन उनके विकृत संविधानों का उल्लेख करता है। विशुद्ध संविधानों (राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा वैधानिक राजतन्त्र) का आधारभूत सिद्धान्त वैधानिक शासन है, जिसका अभिप्राय है कानून की सर्वोच्च सत्ता का शासन। जिन राज्यों में कानून की सर्वोच्चता नहीं मानी जाती बल्कि सर्वोच्च सत्ता धारण करने वाले व्यक्ति कानून की अवहेलना करके स्वेच्छापूर्वक शासन करते हैं, वहाँ वैधानिक शासन के अभाव में शासन का रूप विकृत हो जाता है। अरस्तू की यह मान्यता है कि किसी भी संविधान में कानून सर्वोच्च होता है और बिना कानून के कोई सम्प्रभु नहीं हो सकता। जिस संविधान में कानून सर्वोच्च नहीं है वह संविधान ही नहीं कहा जा सकता। सम्प्रभु कानून का निर्माता नहीं, बल्कि कानून सम्प्रभु का निर्देशन-कर्त्ता है। अतः अरस्तू द्वारा प्रयुक्त 'सर्वोच्च शक्ति' (Supreme power) का अभिप्राय आधुनिक शब्दावली में यथार्थ प्रभुसत्ता (*de facto* sovereignty) लेना अधिक उपयुक्त है, न कि वैध प्रभुसत्ता (*de jure* sovereignty)।

शासक कानून के अभिकर्ता हैं न कि निर्माता—कानून की सम्प्रभुता की धारणा कानून तथा शासन के मध्य सम्बन्ध दर्शाती है, जिसका अभिप्राय यह है कि कानून सम्प्रभु है और शासक कानून का अभिकर्ता मात्र है। यह राज्य की कानूनी दृष्टि से सम्प्रभुता का द्योतक नहीं है। अरस्तू ने कहा है कि 'जहाँ कानून की सत्ता नहीं होती वहाँ कोई संविधान (राज्य) नहीं होता। कानून को सबके ऊपर होना चाहिए और शासकों को विवरणात्मक बातों का निर्धारण करना चाहिए।'

राज्य न तो साध्य है और न सम्प्रभु है—अरस्तू राज्य की प्रभुसत्ता के दो प्रमुख कार्यों के अन्तर्गत न्यायिक (judicial) तथा विचार विनिमय सम्बन्धी (deliberative) कार्यों को मानता है। अरस्तू का राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त राज्य को सर्वोच्च संवास मानता है। राज्य की सर्वोच्चता की धारणा कानूनी सर्वोच्चता (legal supremacy) नहीं है अपितु उनका नैतिक आधार है। राज्य सर्वोच्च संवास इसलिए है कि उसका उद्देश्य व्यक्ति की सर्वोच्च भलाई है। वह व्यक्ति को आत्म-निर्भर जीवन प्रदान करता है। व्यक्ति के विविध हितों की पूर्ति के साधन प्रस्तुत करता है। व्यक्ति राज्य के विविध कार्य-कलापों में भाग लेता है, उनके द्वारा वह

नागरिक प्रशिक्षण प्राप्त करता है और उत्तम जीवन व्यतीत करने में समर्थ हो सकता है। राज्य व्यक्ति के लिए शान्तिमय तथा व्यवस्थित सुखी जीवन के साधन प्रस्तुत करता है। राज्य इस अर्थ में सम्प्रभु नहीं है कि, जैसा हीगल मानता है, 'राज्य की अपनी इच्छा तथा व्यक्तित्व है जिसमें व्यक्ति की इच्छा तथा व्यक्तित्व विलीन हो जाते हैं।' अरस्तू के अनुसार कानूनी दृष्टि से राज्य का आदेश अन्तिम नहीं है।

राज्य की सर्वोच्च सत्ता धारण करने वाले व्यक्ति या व्यक्ति-समूह अथवा वर्ग सम्प्रभु नहीं हैं—अरस्तू की प्रभुसत्ता की धारणा से यह स्पष्ट है कि राज्यों में प्रभुसत्ता का निवास नहीं है, बल्कि कानून सम्प्रभु है। परन्तु राज्य के संविधान का निर्धारण करने में अरस्तू प्रभुसत्ता (सर्वोच्च सत्ता) के प्रयोग में भाग लेने वाले व्यक्तियों की संख्या को एक तत्त्व मानता है। राज्य की सर्वोच्च सत्ता धारण करने वाले व्यक्तियों की संख्या एक, कुछ या अनेक हो सकती है या कोई सामाजिक वर्ग (धनी अथवा निर्धन) उसे धारण करने वाले हो सकते हैं। परन्तु वह व्यक्ति, व्यक्ति-समूह अथवा सामाजिक वर्ग सम्प्रभु नहीं कहे जा सकते। राज्य की सम्प्रभु शक्ति (प्रभुसत्ता) कानून के अधीन है। प्रभुसत्ताधारियों को कानून के अनुसार ही शासन करना पड़ेगा। अरस्तू यह भी मानता है कि यदि सत्ताधारी प्लेटो के दार्शनिक राजा की भाँति अपवाद-स्वरूप विशिष्ट योग्यता सम्पन्न हो तो उसके ऊपर कानून की अधीनता के तथ्य को शिथिल किया जा सकता है।

यद्यपि संविधानों का वर्गीकरण करने में अरस्तू एक, कुछ या अनेक व्यक्तियों को प्रभुसत्ता धारण करने वाले मानकर संविधानों के रूप निर्धारित करता है, तो भी वह न तो एक व्यक्ति को सम्प्रभु शक्ति से विभूषित करने का समर्थक है, न थोड़े से धनिकों को और न अनेक निर्धनों को। वह सामूहिक रूप से अनेक व्यक्तियों को थोड़े से उत्तम व्यक्तियों की अपेक्षा प्रभुसत्ता का प्रयोग करने के लिए अधिक उपयुक्त मानता है। यह अनेक व्यक्तियों का समूह मध्यम वर्ग के व्यक्तियों से युक्त होना चाहिए। ऐसे राज्य को वह वैधानिक जनतन्त्र कहता है जिसमें सर्वोच्च सत्ता मध्यम वर्ग के हाथ में रहती है, जो स्वयं कानून की आधीनता में रहते हैं।

अरस्तू लोक प्रभुसत्ता या राज्य की कानूनी सर्वोच्चता की आधुनिक धारणाओं को भी मान्य नहीं करता—अरस्तू न तो राज्य की कानूनी सर्वोच्चता (legal sovereignty) का समर्थक है और न ही आधुनिक युग की लोक प्रभुसत्ता (popular sovereignty) की धारणा का। प्रथम के अन्तर्गत सांविधानिक कानूनों के निर्माण की सर्वोच्च सत्ता राज्य के किसी अंग विशेष को प्राप्त रहती है, चाहे वह व्यवस्थापिका सभा हो अथवा राज्य की प्रधान कार्यपालिका या अन्य कोई अभिकरण। अरस्तू इस सिद्धान्त का समर्थन नहीं करता कि राज्य के कानूनों का निर्माण करना राज्य का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है, प्रत्युत कानून का स्रोत दीर्घकालीन प्रचलित परम्पराएँ हैं जो स्वयं सम्प्रभु हैं। राज्य उन्हें स्वेच्छा से नहीं बदल सकता। लोक प्रभुसत्ता की आधुनिक धारणा की मान्यता के अनुसार समस्त जनता की स्वाभाविक या नैसर्गिक समानता स्वीकार की जाती है। इसके अनुसार राज्य के अधिकारों को बहुमत के शासन तथा शासितों की सहमति पर आधारित माना जाता है। अरस्तू इस धारणा को नहीं मानता। उसकी दृष्टि से समानता नैसर्गिक नहीं है बल्कि असमानता नैसर्गिक है। समस्त व्यक्ति प्रभुसत्ता के कार्यों में भाग लेने की क्षमता नहीं रखते, अतः प्रभुसत्ता का प्रयोग करने में सामाजिक वर्गों के तत्त्वों का सम्मिश्रण होना

चाहिए। वह प्रभुसत्ता के प्रयोग हेतु सन्तुलित मिश्रित वर्ग (मध्यम श्रेणी) को उपयुक्त मानता है। इस प्रकार अरस्तू की धारणा में सम्प्रभुता या सर्वोच्च सत्ता की धारणा आधुनिक युग की सम्प्रभुता की धारणा से सर्वथा भिन्न प्रकृति की है। यह राज्य की कानूनी सर्वोच्चता की धारणा न होकर कानून की सर्वोच्चता की धारणा है।

3. **न्याय** (Justice)

प्राचीन ग्रीक लोग न्याय का अर्थ इस शब्द के आधुनिक अर्थ में नहीं लेते थे। उनकी दृष्टि में न्याय कानून की अपेक्षा नैतिकता की भावना से अधिक सामीप्य रखता था। न्याय का अर्थ अंग्रेजी भाषा के justice की अपेक्षा righteousness का बोध कराता है। प्लेटो का न्याय-सिद्धान्त जिसके ऊपर उसके आदर्श राज्य की सम्पूर्ण धारणाएँ आधारित हैं, सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था की नैतिक व्याख्या करता है। उसका उद्देश्य मानव जीवन को मानवीय श्रेष्ठता प्रदान करना है। अरस्तू ने 'पॉलिटिक्स' में यत्र-तत्र 'न्याय' शब्द का प्रयोग किया है और उसके आधार पर राजनीतिक व्यवस्थाओं, आदर्शों, व्यवहारों आदि की व्याख्या की है। परन्तु उसने न्याय की धारणा की व्याख्या अपने ग्रन्थ इथिक्स (Ethics) में की है। इस ग्रन्थ में न्याय का विवेचन करते हुए अरस्तू विविध प्रकार के न्याय की धारणाओं की व्याख्या करता है।

अरस्तू न्याय के दो रूप बताता है—(1) सामान्य, तथा (2) विशेष।

सामान्य न्याय (General justice) से अरस्तू का अभिप्राय श्रेष्ठता (goodness or righteousness) से है। सामान्य न्याय पूर्ण श्रेष्ठता है, जिसका उद्देश्य यह है कि जो व्यक्ति इसका प्रयोग करता है वह श्रेष्ठता अपने ही लिए नहीं चाहता, बल्कि अपने पड़ोसियों की श्रेष्ठता की भी कामना करता है। इसमें नैतिक सद्गुण एवं आचरण की श्रेष्ठता निहित है। यह सार्वजनिक सम्बन्धों के विषयों में नैतिक व्यवहार एवं कानून पालन की धारणा को प्रदर्शित करता है। इसे सक्रिय सद्गुण (virtue in action) कहा जा सकता है। राजनीतिक समाज के निर्माण तथा अस्तित्व के लिए आचरण की श्रेष्ठता आवश्यक है, क्योंकि 'न्याय, जिसमें अन्य सब सद्गुण शामिल रहते हैं, ऐसा सद्गुण है जो सामाजिक सम्बन्धों के लिए सक्रिय रहता है। अतः सामान्य न्याय का सिद्धान्त राजनीतिक समाज के अस्तित्व हेतु एक आवश्यक तत्त्व है।'

विशेष न्याय (Particular justice) सामान्य न्याय का ही एक अंग है जिसका क्षेत्र सामान्य न्याय की अपेक्षा संकुचित है। यह श्रेष्ठता के किसी विशिष्ट रूप से ही सम्बन्ध रखता है, न कि पूर्ण श्रेष्ठता से। सामाजिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में ऐसे न्याय का प्रयोग करने वाला व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के साथ 'समानता' का व्यवहार बरतता है। अरस्तू यह मानकर चलता है कि राजनीतिक समुदाय स्वतन्त्र तथा समान व्यक्तियों से निर्मित होता है। इसलिए उसमें प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे के साथ समुपयुक्त (fair) व्यवहार करना चाहिए, जिसका आधार समानता है।

विशेष न्याय को अरस्तू पुनः दो भागों में विभक्त करता है—(1) वितरणात्मक न्याय (Distributive justice), तथा (2) सुधारात्मक न्याय (Rectificatory or Corrective justice)। सुधारात्मक न्याय की व्यवस्था राज्य के द्वारा विभिन्न व्यक्तियों के मध्य पारस्परिक लेन-देन के सम्बन्धों के लिए की जाती है। इसका

उद्देश्य राज्य तथा व्यक्तियों के मध्य सम्बन्धों से नहीं होता। बल्कि इसका उद्देश्य यह होता है कि सामाजिक सम्बन्धों मे व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य समानता (equality) तथा उपयुक्तता (fairness) के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति का प्राप्य उसे मिले। व्यक्ति आपस मे एक दूसरे के साथ की गयी संविदा का उल्लंघन करके दूसरे का प्राप्य न छीने। संक्षेप मे सुधारात्मक न्याय का उद्देश्य व्यक्ति के जीवन, सम्पत्ति, स्वतन्त्रता आदि का संरक्षण करना है। इसमें समानता का तत्त्व विद्यमान रहता है जिसकी रक्षा किया जाना न्याय है।

इसके विपरीत वितरणात्मक न्याय (distributive justice) का सिद्धान्त राजनीतिक व्यवस्था से सम्बन्धित है। इसका उद्देश्य राज्य में नागरिकों के मध्य राज्य के पदों, सम्मानों तथा अन्य लाभों का समुचित वितरण करने की व्यवस्था करना है। राज्य का सदस्य होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति राज्य के जीवन मे अपनी योग्यता, धन तथा क्षमताओं के अनुसार अपना योगदान करता है, उसके बदले में वह राज्य से अपने योगदान के अनुपात में पद, प्रतिष्ठा तथा पुरस्कार के रूप में अपना भाग प्राप्त करने की कामना करता है। इस दृष्टि से वितरणात्मक न्याय का आधार समानता नहीं हो सकता, क्योंकि राज्य में प्रत्येक नागरिक अपना योगदान करने में समान क्षमता नहीं रख सकते। इसलिए उनके योगदान के प्रतिफल के रूप में उन्हें समान लाभ भी प्राप्त नहीं हो सकता। न्याय के इस सिद्धान्त का यह स्वाभाविक निष्कर्ष है कि अरस्तू राजनीतिक समाज को समान व्यक्ति से निर्मित न मानकर 'स्वतन्त्र तथा आनुपातिक अथवा अंकात्मक दृष्टि से ही समान' व्यक्तियो द्वारा निर्मित मानता है। बार्कर का कथन है कि अरस्तू के वितरणात्मक न्याय के सिद्धान्त में आनुपातिक समानता की धारणा के साथ समानता की भावना का विरोध नहीं पाया जाता। सभी व्यक्ति इस तथ्य का समर्थन करेंगे कि किसी भी व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुपात से ही लाभ प्राप्त होना चाहिए। चूँकि समाज में सब व्यक्ति योग्यता के क्षेत्र में असमान होते हैं, अतएव उनका योगदान आनुपातिक होने से उनका लाभ भी आनुपातिक होना चाहिए। इसी सिद्धान्त को बनाये रखने की कामना सब करते हैं। समानता की धारणा यही है कि सब लोग आनुपातिक योग्यता के अनुसार ही लाभ प्राप्त करें।

राज्य में विविध व्यक्तियों की राज्य के जीवन में योगदान करने की योग्यता तथा क्षमता का निर्धारण करने का मापदण्ड अलग-अलग व्यवस्थाओं में अलग-अलग प्रकार का होता है। उदाहरणार्थ, प्रजातन्त्र में जन्म की स्वतन्त्रता (free-birth), वर्गतन्त्र में सम्पत्ति तथा कभी-कभी उत्तम कुल में जन्म, और कुलीनतन्त्र में सद्गुण (goodness or virtue) ऐसे निर्धारक के मापदण्ड माने जाते हैं। एक श्रेष्ठ राज्य वर्गतन्त्री तथा प्रजातन्त्री धारणाओं के आधार पर पदों तथा सम्मानों के वितरण के मापदण्डों को अस्वीकार करेगा। यही वास्तविक वितरणात्मक न्याय है। सच्ची समानता संख्यात्मक नहीं होती, अपितु आनुपातिक होती है जिसमें योग्य तथा अयोग्य के मध्य भेद किया जाता है। वितरणात्मक न्याय असमानों के मध्य समानता को सुनिश्चित करता है क्योंकि इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का लाभ उसी अनुपात से निर्धारित किया जाता है। जिस अनुपात से वह समाज के जीवन में अपनी योग्यता का योगदान करता है। इस सम्बन्ध में अरस्तू राज्य के स्थायित्व को भी एक आवश्यक तत्त्व मानता है। उसका मत है कि असमानता ही राज्य में क्रान्तियों तथा

विद्रोहों को जन्म देती है। अतः राज्य के पदों तथा लाभों का वितरण ऐसा न हो उसमें थोड़े-से ही व्यक्ति लाभान्वित हों और बहुसंख्यकों की उपेक्षा की जाय। सामूहिक रूप से बहुसंख्यक लोग राज्य के जीवन मे महत्त्वपूर्ण योगदान करते हैं। अतः यदि बहुसंख्यकों को उपेक्षित रखा जायेगा तो उनकी नैराश्यपूर्ण भावना राज्य के स्थायित्व के लिए अहितकर सिद्ध होगी।

न्याय के अन्य रूप—न्याय के उपर्युक्त रूपों के अतिरिक्त अरस्तू न्याय के अन्य रूपों का भी विवेचन करता है। न्याय के अन्य रूपों में एक निरपेक्ष न्याय (absolute justice) है। निरपेक्ष न्याय किसी जनसमुदाय विशेष से सम्बन्ध नहीं रखता। इसे मानवीय न्याय कहा जा सकता है। मनुष्य होने के नाते एक व्यक्ति को दूसरे के साथ क्या व्यवहार करना चाहिए, यह निरपेक्ष न्याय है। राज्य का नागरिक होने के नाते एक नागरिक दूसरे नागरिक से क्या व्यवहार करता है, न्याय की इस भावना को राजनीतिक न्याय (political justice) कहा जा सकता है, क्योंकि एक मनुष्य राजनीतिक समाज (राज्य) मे ही नागरिकता की स्थिति प्राप्त करता है। अतएव राजनीतिक न्याय राजनीतिक समाज के सदस्यों (नागरिको) के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों के लिए प्रयुक्त होता है। राजनीतिक न्याय की परिभाषा करते हुए अरस्तू कहता है कि 'यह वह धारणा है जो सामूहिक जीवन में भाग लेने वाले व्यक्तियों में पायी जाती है, जिसके आधार पर वे स्वतन्त्र मानवों के रूप में तथा आनुपातिक अंकात्मक रूप से समान व्यक्तियों के रूप में आत्म-निर्भरता की प्राप्ति का उद्देश्य रखते हैं।'[1] राजनीतिक न्याय की एक आवश्यक शर्त कानून का अस्तित्व है जिसके अनुसार ही राज्यों के सदस्यों के सामाजिक एवं राजनीतिक सम्बन्धों का नियमन होता है। इस दृष्टि से राजनीतिक न्याय के अन्तर्गत सामान्य न्याय तथा विशेष न्याय के दोनों रूप (वितरणात्मक तथा सुधारात्मक) भी शामिल माने जा सकते हैं।

राजनीतिक न्याय परिवार के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों पर लागू नहीं होता, क्योंकि परिवार के सदस्य (स्त्री, बच्चे तथा दास) परिवार के मुखिया या मालिक के ही अंग है, और अगी अपने अगों को हानि नहीं पहुँचा सकता। परिवार के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन ऐसे कानूनों द्वारा नहीं होता जिनका आधार राजनीतिक न्याय है। राजनीतिक न्याय का एक अंग प्राकृतिक है और दूसरा कानूनी।[2] प्राकृतिक का अभिप्राय सार्वभौम प्रकृति के नियमों से है जो सर्वत्र समान रूप से लागू होते हैं। कानूनी का अभिप्राय उन नियमों से है जो लिखित या अलिखित रूप में विभिन्न राज्यों या प्रदेशों में निर्मित कानूनों अथवा प्रचलित परम्पराओं पर आधारित होते है। बार्कर के मत से 'अरस्तू की दृष्टि में न्याय सामान्यतया कानून से सम्बद्ध है। न्याय-सम्मत वही है जो विधिगत है। उत्पत्ति की दृष्टि से न्याय प्राकृतिक या कानूनी हो सकता है और क्षेत्र की दृष्टि से सामान्य या विशेष। परन्तु न्याय-सम्मत तथा विधिगत का एक ही रूप है।'[3] इसका मुख्य कारण यह है कि प्राकृतिक न्याय की उत्पत्ति प्राकृतिक कानून से होती है और कानूनी न्याय की उत्पत्ति का स्रोत कानून है।

[1] 'It is what is found among men who share in a common life, with a view to the attainment of self-sufficiency, as freemen and as equals either proportionately or arithmetically (in a word men living in a *polis*, and under its system of law).' *The Ethics*, Bk. V., Ch. VI, 4.

[2] Barker, *op. cit.*, 365.

[3] *Ibid.*, 366.

1. प्लेटो के विचारों की आलोचना

परिवार का साम्यवाद—'रिपब्लिक' में प्लेटो ने एक आदर्श राज्य का चित्रण किया है जिसे वह एक राजनीतिक समुदाय के रूप में मानता है। उसके सदस्य कई वस्तुओं के पारस्परिक भागीदार होते है। अरस्तू ने प्लेटो के इन विचारों की समीक्षा करते हुए यह प्रश्न उठाये कि राजनीतिक समाज में समस्त नागरिक समस्त वस्तुओं का सामूहिक स्वामित्व रखें, अथवा किसी भी वस्तु का सामूहिक स्वामित्व न रखें, अथवा केवल कुछ वस्तुओं का सामूहिक स्वामित्व रखे। वह यह तो मानता है कि राज्य में किसी भी वस्तु का सामूहिक स्वामित्व न होना असम्भव है, उदाहरणार्थ राज्य की भूमि के अन्दर सामूहिक निवास तो आवश्यक है। प्लेटो के आदर्श राज्य में शासक वर्ग के लिए पत्नियों तथा सम्पत्ति के सामूहिक स्वामित्व की कल्पना की गयी है। अरस्तू ऐसी व्यवस्था का विरोध करता है।

प्लेटो के आदर्श राज्य का एक आधार यह था कि सर्वोच्च भलाई समूचे नगर-राज्य की अधिकतम सम्भव एकता है (the greatest possible unity of the whole polis is the supreme good)। इसलिए वह समूचे संरक्षक वर्ग को एक परिवार के रूप में संगठित करने के उद्देश्य से परिवार के साम्यवाद की व्यवस्था सुझाता है। अरस्तू राज्य को परिवार की भाँति एक इकाई नहीं मानता क्योंकि उसकी धारणा में राज्य परिवारों तथा ग्रामों का समूह है। उसके विचार से राज्य के निर्माणकारी तत्त्व (व्यक्ति) न केवल संख्या में ही बहुत हैं, बल्कि प्रकृति तथा प्रकार में भी वे एक-दूसरे से भिन्न है। उनकी नैसर्गिक योग्यता तथा कार्य-क्षमता भिन्न-भिन्न तरह की है, जिसके कारण वे अपनी विविध क्षमताओं द्वारा समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ पारस्परिक आदान-प्रदान तथा विनिमय की प्रक्रिया द्वारा उच्चतर प्रकृति का जीवन व्यतीत करते हैं। राज्य न तो एक सैनिक इकाई की भाँति है और न एक कबीले की भांति। अरस्तू के विचार से राज्य का उद्देश्य एकता नहीं है बल्कि आत्म-निर्भरता है। उसका विचार है कि राज्य की अत्यधिक एकता की बात करना राज्य का विनाश करना होगा, क्योंकि ऐसी धारणा समाज के अन्दर पाये जाने वाले विविध तत्त्वों की उपेक्षा करने वाली सिद्ध होगी। राज्य की आत्म-निर्भरता विविध तत्त्वों के अस्तित्व पर निर्भर रहती है। जिस समाज में सबके मध्य 'समानता' का सिद्धान्त माना जाता है, उसमें भी शासक-शासितों के मध्य भेद बना रहता है। राज्य के अन्तर्गत विविध तत्त्व विविध प्रकार से अपनी क्षमतानुसार राज्य के जीवन में योगदान करते हैं और अपने योगदान के अनुसार लाभ प्राप्त करते हैं। यही राज्य की आत्म-निर्भरता को सुनिश्चित कर सकता है। अत्यधिक एकता राज्य को 'एक व्यक्ति के राज्य' में परिणत कर देती है। अतः सर्वोत्तम भलाई एकता में नहीं है, बल्कि विविधता में एकता के द्वारा प्राप्त हो सकती है।

प्लेटो राज्य की एकता को सर्वोच्च भलाई (supreme good) मानते हुए उसकी प्राप्ति के एक साधन के रूप में पत्नियों तथा बच्चों के साम्यवाद की योजना (the community of wives and children) का प्रतिपादन करता है। ऐसी व्यवस्था में व्यक्तिगत परिवार का लोप हो जायेगा और पत्नियों तथा बच्चों पर

सबका समान स्वामित्व हो जायेगा। अरस्तू का तर्क है कि यह व्यवस्था अस्वाभाविक है। इसमें जो बच्चे उत्पन्न होंगे उन्हें 'सब' अपना कहेंगे। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति पृथक् रूप से यथा सब सामूहिक रूप से उन्हें अपना कहेंगे। अरस्तू इसका यह निष्कर्ष निकालता है कि ऐसी व्यवस्था में एकता की भावना के लिए यदि प्रत्येक व्यक्ति पृथक् रूप से सबको अपना माने तो अच्छा है, परन्तु यह अव्यावहारिक है। इसके विपरीत यदि सब सामूहिक रूप में सबको अपना मानते हैं तो वह एकता के हित में बुद्धिमानी की बात नहीं है। प्लेटो की व्यवस्था में समस्त बच्चों के उतने ही माँ-बाप होंगे जितने कि राज्य में संरक्षक हैं। यही हाल बच्चों पर स्वत्व रखने वाले माँ-बापों का भी होगा। अत: यदि राज्य में 1000 संरक्षक वर्ग पुरुष हैं तो प्रत्येक बच्चे पर प्रत्येक व्यक्ति का बाप होने का अंश 1/1000वाँ होगा। परिणामस्वरूप राज्य के अन्दर व्यक्तियों के मध्य सजातता या भ्रातृत्व की भावना केवल आंशिक (fractional) होगी। ऐसी स्थिति में सबके बच्चे किसी के बच्चे नहीं रहेंगे। सामान्यतया मानव स्वभाव यह है कि व्यक्ति जिस वस्तु को वास्तव में अपनी मानता है उसकी वह पूरी सावधानी से देख-रेख करता है, सामूहिक स्वत्व की वस्तुएँ सबके द्वारा उपेक्षित रखी जाती हैं। प्लेटो की व्यवस्था में यह भी असम्भव नहीं है कि अनेक बच्चे अपने वास्तविक माँ-बापों से मिलते-जुलते होंगे। ऐसी पहचान हो जाना तो प्लेटो के उद्देश्य में और भी कठिनाई पैदा कर सकता है।

परिवार के साम्यवाद की आलोचना के अरस्तू द्वारा दिये गये अन्य तर्क ये हैं कि ऐसी व्यवस्था में जब कोई व्यक्ति अपने वास्तविक रिश्तेदारों (माँ, बाप, भाई, बच्चों आदि) को नहीं पहचान पायेंगे तो अपराधों की संख्या बढ़ जायेगी। इसमें प्रायश्चित करने की भावना का भी अभाव रहेगा। अरस्तू यह तर्क भी देता है कि इस प्रकार की व्यवस्था शासित वर्ग के लिए तो उपादेय हो सकती थी, परन्तु प्लेटो उनके लिए इस व्यवस्था का निर्धारण नहीं करता। शासक वर्गों के मध्य परिवार के साम्यवाद की व्यवस्था द्वारा एकता लाने का प्रयास निष्फल होगा। अरस्तू ने इसे ऐसे बन्धुत्व की संज्ञा प्रदान की है जो जल की भांति तरल (watery sort of fraternity) है। भ्रातृत्व तथा सजातता का यह सम्मिश्रण ऐसा ही होगा जैसा कि बहुत अधिक मात्रा के जल में दो एक बूँदे मीठी शराब की मिलाकर उसे अस्वादिष्ट घोल बनाना है। इस व्यवस्था की दूसरी कठिनाई यह है कि प्लेटो संरक्षक एवं उत्पादक वर्गों के व्यक्तियों की योग्यता के आधार पर सम्बन्धित श्रेणी में स्थानान्तरण करने की योजना भी बनाता है। यदि इसे व्यवहार में कार्यान्वित किया जायेगा तो फिर एकता के स्थान पर भेदभाव की भावना स्पष्ट हो जायेगी। उदाहरणार्थ, उत्पादक वर्ग के किसी व्यक्ति को संरक्षक वर्ग में स्थानान्तरित करने पर उसकी मूल सामाजिक स्थिति तथा जातीयता तो स्पष्ट रहेगी ही, अत: उसे संरक्षकों के समुदाय में उपेक्षित रखा जायेगा। वह अपनी मूल सजातता से भी पृथक् हो जायेगा। यह दशा भी एकता के उद्देश्य के विरुद्ध सिद्ध होगी।

सम्पत्ति का साम्यवाद—परिवार के साम्यवाद की भांति सम्पत्ति के साम्यवाद की योजना भी रिपब्लिक में केवल संरक्षक वर्ग के लिए निर्धारित की गयी है। इसके अनुसार संरक्षकों के पास अपनी कोई व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं होगी। उत्पादक वर्ग व्यक्तिगत सम्पत्ति रखेंगे और उत्पादन का निर्धारित भाग संरक्षक वर्ग के उपभोग के लिए देकर शेष का उपभोग व्यक्तिगत रूप से करेंगे। उत्पादकों से प्राप्त उत्पादित

वस्तुओं का उपभोग संरक्षक वर्ग सामूहिक रूप से करेंगे।

अरस्तू ने प्लेटो के इस सिद्धान्त की भी आलोचना की है। परन्तु सम्पत्ति के साम्यवाद के सम्बन्ध में अरस्तू द्वारा प्लेटो की आलोचना बहुत संगतिपूर्ण है। वह स्वयं सम्पत्ति (जिससे उसका अभिप्राय कृषि-भूमि से है) के स्वामित्व, उत्पादन तथा उपभोग के सम्बन्ध में शासक एवं शासित सभी वर्गों को एक साथ लेता है। सम्पत्ति के स्वामित्व तथा उपभोग के सम्बन्ध में अरस्तू तीन विकल्पों का परीक्षण करता है : (1) कृषि-भूमि के खण्डों का स्वामित्व वैयक्तिक हो और उत्पादित अनाज को सामूहिक उपभोग के लिए सामूहिक गोदामों में इकट्ठा कर दिया जाय। (2) भूमि का स्वामित्व सामूहिक हो और सामूहिक रूप से उत्पादन कार्य किया जाय, परन्तु उत्पादित अनाज को वैयक्तिक उपभोग के लिए बाँट दिया जाय। (3) भूमि का स्वामित्व तथा उत्पादन का उपभोग दोनों सामूहिक हों। बार्कर के अनुसार अरस्तू एक चौथे विकल्प का उल्लेख नहीं करता जिसके अन्तर्गत भूमि का स्वामित्व तथा उपभोग दोनों वैयक्तिक हों। अरस्तू प्रथम प्रकार की व्यवस्था का पक्ष लेता प्रतीत होता है, अतः दूसरी व्यवस्था का जो प्रथम के विरुद्ध है, परीक्षण नहीं करता। उसकी अपनी विचारधारा यह है कि भूमि का स्वामित्व तो वैयक्तिक हो, परन्तु उत्पादन का उपभोग सामूहिक हो। वह यह मानकर चलता है कि प्लेटो की योजना उपर्युक्त तीसरे विकल्प (सामूहिक स्वामित्व तथा सामूहिक उपभोग) की है। अतः वह इसकी कठिनाइयों का परीक्षण करता है। परन्तु ऐसा करने में अरस्तू प्लेटो के साथ न्याय नहीं करता, क्योंकि जैसा ऊपर कहा जा चुका है, प्लेटो की योजना में भूमि के सामूहिक स्वामित्व की धारणा नहीं है। भूमि के सामूहिक स्वामित्व तथा उपभोग के सम्बन्ध में उस दशा में बहुत कठिनाई नहीं होगी जबकि भूमि के स्वामी नागरिक हों और काश्तकार दास हों। परन्तु यदि नागरिक स्वयं मालिक तथा काश्तकार दोनों होंगे तो कठिनाई आयेगी, क्योंकि सामूहिक काश्तकारी में सब लोग अपनी क्षमता के अनुसार कार्य नहीं करेंगे। परिणामस्वरूप, कार्य के अनुसार लाभ तथा उपभोग अथवा समान लाभ तथा उपभोग की बात सुनिश्चित करने में कठिनाई आयेगी। अरस्तू भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व तथा उत्पादन के सामूहिक उपभोग की व्यवस्था को सामाजिक नैतिकता, श्रेष्ठता तथा स्नेह की भावनाओं को उत्पन्न करने वाली व्यवस्था मानता है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति भूमि को अपनी मानकर उसमें अपनी क्षमतानुसार श्रम करेगा और उत्पादन कार्य अपने साथी-मित्रों के हित में करने की भावना से करेगा। ऐसा करने में प्रत्येक व्यक्ति आनन्द का अनुभव करता है। साथ ही इसमें भलाई (goodness) की भावना भी रहेगी। राज्य के विधायकों को ऐसी ही व्यवस्था को प्रोत्साहित करना चाहिए।

सम्पत्ति के साम्यवाद के सम्बन्ध में भी अरस्तू प्लेटो की आलोचना इसी आधार पर करता है कि प्लेटो इसे राज्य की एकता बनाये रखने के एक साधन के रूप में लेता है। अरस्तू ऐसी एकता की धारणा का विरोधी है क्योंकि उसका सिद्धान्त यह है कि राज्य विविध तत्त्वों से युक्त व्यक्तियों का समूह है, जो विविध तत्त्वों से युक्त होकर राज्य के जीवन में योगदान करते हैं। अतः वास्तविक एकता विविध के मध्य एकता (unity in diversity) में है।[1] अरस्तू के मत से सम्पत्ति का सामूहिक स्वामित्व तथा उपभोग राज्य की एकता का सूचक नहीं हो सकता,

1. अरस्तू का कथन है कि 'The very nature of the state is its plurality.'

क्योंकि सामूहिक स्वामित्व के अन्तर्गत लोगों के संयुक्त हित बहुधा कलह उत्पन्न करते हैं। इससे सामाजिक संगठन ढीला पड़ जायेगा। विविधता से युक्त तत्त्वों का सम्मिश्रण समाज को पूर्णता तथा उत्तमता प्रदान करता है। अत: सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व की योजना के अन्तर्गत विविधता बनी रहेगी और व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध एक दूसरे को लाभान्वित करते रहेंगे। जिस प्रकार संगीत के विविध स्वरों के संयोग से ही उत्तम संगीत का निर्माण होता है और स्वरों की समानता संगीत को नष्ट कर देती है उसी प्रकार समाज में भी विविधता से युक्त तत्त्वों के संयोग से सामाजिक उत्तमता, एकता तथा सुख का निर्माण होता है। सम्पत्ति के साम्यवाद (सामूहिक स्वामित्व तथा उपभोग) की व्यवस्था से वास्तविक एकता नहीं आ सकती। अत: एकता लाने का साधन सम्पत्ति का साम्यवाद नहीं होना चाहिए बल्कि शिक्षा की योजना होनी चाहिए। इसके साथ ही व्यवस्थापन का उद्देश्य भी ऐसी व्यवस्था का निर्माण करना होना चाहिए जिसमें सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व तथा सामूहिक उपभोग को सुनिश्चित किया जा सके।

प्लेटो के साम्यवाद की आलोचना करते हुए अरस्तू का एक तर्क यह भी है कि उसकी (प्लेटो की) धारणा पुराने अनुभवों तथा परम्पराओं के प्रतिकूल है। अतीत में ऐसी व्यवस्थाओं का ज्ञान लोगों को था। यदि वे उचित होतीं तो उन्हें कार्यान्वित किया जाता। यहाँ पर अरस्तू पुन: प्लेटो की योजना को तोड़-मरोड़ कर उसकी आलोचना करता है। वह सम्पत्ति के सम्बन्ध में केवल संरक्षक वर्ग को ही नहीं लेता, जैसा कि प्लेटो ने किया था, बल्कि वह उसमें सम्पूर्ण नागरिकों को लेकर चलता है। एक स्थल पर वह प्लेटो के द्वारा बताये गये संरक्षक वर्ग का ही उल्लेख करता है, परन्तु आगे फिर उत्पादक वर्ग को भी शामिल करता है। बार्कर ने उचित ही कहा है कि 'अरस्तू या तो यह भूल जाता है या इस तथ्य की उपेक्षा करता है कि रिपब्लिक का वास्तविक तर्क क्या है? प्लेटो इस बात को स्पष्टतया कहता है कि कृषक निजी सम्पत्ति तथा परिवार रखेंगे।'[1] वास्तव में सम्पत्ति के साम्यवाद की प्लेटो की व्यवस्था केवल संरक्षक वर्ग के लिए है और उसका उद्देश्य संरक्षक वर्ग को व्यक्तिगत सम्पत्ति से मुक्त रखना है। परन्तु अरस्तू इस व्यवस्था को सम्पूर्ण समाज में सम्पत्ति के सामूहिक स्वामित्व तथा उपभोग की व्यवस्था के अर्थ में लेकर प्लेटो की आलोचना करता है। अरस्तू यह अनुभव करता प्रतीत होता है कि राज्य के एक विशाल अंग के सम्बन्ध में सम्पत्ति के साम्यवाद की व्यवस्था का प्रतिपादन न करना उचित नहीं है।

संक्षेप में, अरस्तू के सम्पत्ति सम्बन्धी विचारों का निष्कर्ष यही है कि भूमि का स्वामित्व वैयक्तिक हो किन्तु उपभोग सामूहिक हो। यद्यपि अरस्तू प्लेटो की योजना की अनेक तर्कों के आधार पर आलोचना करता है, तो भी प्लेटो के सम्पत्ति के साम्यवाद का सिद्धान्त बहुत कुछ अंश में अरस्तू से मिलता-जुलता है। उसमें भूमि का स्वामित्व वैयक्तिक है और उपभोग सामूहिक। परन्तु कठिनाई यह है कि अरस्तू इस सिद्धान्त को समस्त समाज पर लागू करना चाहता है। प्लेटो ने इसे दो वर्गों की व्यवस्था के रूप में चित्रित किया है। उत्पादक वर्ग भूमि का वैयक्तिक स्वामित्व रखते हैं और उनसे प्राप्त उत्पादन के भाग का संरक्षक वर्ग द्वारा सामूहिक उपभोग होता है। दूसरी ओर संरक्षक वर्ग सम्पत्ति के स्वामित्व से वंचित हैं, परन्तु

[1] Barker, *op. cit.*, 52.

उत्पादक वर्ग न केवल भूमि का वैयक्तिक स्वामित्व ही रखते हैं, वरन् उत्पादन के अपने भाग का वैयक्तिक उपभोग भी करते हैं।

प्लेटो के अन्य विचारों की आलोचना—अरस्तू प्लेटो के आदर्श राज्य के अन्य पक्षों की भी आलोचना करता है। उसके मत से आदर्श राज्य में संरक्षक एवं उत्पादक वर्गों को क्रमशः शासक तथा शासितों के रूप में मानना और उनके लिए सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में पृथक् व्यवसायों का प्रतिपादन करना राज्य की एकता के लिए अहितकर है। इसका आशय समाज में परस्पर विरोधी दो वर्गों की सृष्टि करना है जिनमें से एक वर्ग (संरक्षकों) का दृष्टिकोण पृथकतावादी रहेगा। वे उत्पादक वर्ग के समक्ष अपनी श्रेष्ठतर स्थिति का अभिमान करेंगे। साथ ही उत्पादक वर्ग भी उनसे द्वेष की भावना रखेंगे अथवा संरक्षक वर्ग को अपने ऊपर आश्रित समझने लगेंगे। ऐसे वर्गगत राज्य में एकता सम्भव नहीं हो सकती।

आदर्श राज्य में प्लेटो कार्य के विशेषीकरण तथा विभाजन को न्याय की अभिव्यक्ति मानता है। अरस्तू इस सिद्धान्त का भी विरोध करता है कि राज्य की उत्पत्ति का आधार कार्य-विभाजन है। उसके विचार से राज्य प्राकृतिक संवास है। इसी प्रकार वह प्लेटो के दार्शनिक राजा के शासन की धारणा का भी विरोध करता है। उसके विचार से मानव व्यवहारों का नियमन अनुभव तथा व्यावहारिक विवेक द्वारा किया जाना चाहिए, न कि कोरे दार्शनिक ज्ञान के द्वारा।

अरस्तू द्वारा लॉज में वर्णित विचारों की आलोचना—जहाँ तक अरस्तू प्लेटो के रिपब्लिक में वर्णित आदर्श राज्य से सम्बन्धित विचारों की आलोचना करता है, वहाँ तक उसकी कई आलोचनाएँ युक्ति-संगत प्रतीत होती हैं। विशेष रूप से परिवार के साम्यवाद की आलोचना में बहुत कुछ सत्य एवं तथ्य है। सम्पत्ति के साम्यवाद की आलोचना में अरस्तू कई असंगतियाँ करता है, जैसा कि ऊपर दर्शाया जा चुका है। परन्तु जब अरस्तू प्लेटो के 'लॉज' के सिद्धान्तों की आलोचना करता है तो उसमें अनेक असंगतिपूर्ण तथा असत्य तर्क दिये गये हैं। बार्कर ने उचित ही कहा है 'जब अरस्तू आलोचना करने लगता है तो आलोचना ही करता जाता है। जब वह (अपने सिद्धान्त का) प्रतिपादन करता है तो वह अपने पूर्वगामी, जिसकी वह आलोचना करता है, के सुझावों को ग्रहण करने के लिए राजी हो जाता है।'[1] इस बात का स्पष्ट प्रमाण यह है कि अरस्तू जिस आदर्श राज्य का चित्रण करता है उसके आदर्शों के लिए उसने प्लेटो के लॉज में वर्णित सिद्धान्तों को ही अपनाया है। सैबाइन ने कहा है कि 'अरस्तू जिसे आदर्श राज्य मानता है वह सदैव प्लेटो का द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य है।'[2] आदर्श राज्य का चित्रण करने में अरस्तू न केवल प्लेटो के लॉज के सिद्धान्तों को अपनाता है बल्कि विवरण की अनेक बातों को भी उसी रूप में ग्रहण करता है। परन्तु जब वह प्लेटो के लॉज की आलोचना करता है, तो उसके तर्क असत्य तथा असंगत लगते हैं। जोवेट ने उचित ही कहा है कि 'प्लेटो के रिपब्लिक तथा लॉज पर अरस्तू की टीका-टिप्पणियाँ असत्यताओं तथा असंगतियों से भरी पड़ी हैं।'[3] न्यूमैन का मत है कि 'लॉज की अरस्तू द्वारा

[1] *Ibid.*, 62.

[2] 'What Aristotle calls the ideal state is always Plato's second-best state.' —Sabine, *op. cit.*, 91.

[3] 'The comments of Aristotle on Plato's *Republic* and *Laws* are full of inaccuracies and inconsistencies.' —B. Jowett.

आलोचना बड़बड़ाहटपूर्ण है, इससे यह प्रदर्शित होता है कि अरस्तू प्लेटो द्वारा चित्रित द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य के आदर्शों के ऊपर और अधिक सुधार करके अपने आदर्श राज्य के सिद्धान्तों का निरूपण करना चाहता है।'

लॉज की आलोचना का अरस्तू का एक तर्क यह भी है कि लॉज में चित्रित द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य का सिद्धान्त रिपब्लिक के आदर्श राज्य से भिन्न नहीं है। केवल पत्नियों तथा सम्पत्ति के साम्यवाद की बात लॉज में छोड़ दी गई है। शेष सब संस्थाएँ तथा धारणाएँ पूर्ववत् हैं। लॉज में कानून तथा विधायन को बहुत महत्त्व दिया गया है, परन्तु संविधान (शासन-व्यवस्था) के बारे में बहुत कम कहा गया है। जो कुछ कहा भी गया है वह असंगत है। लॉज में प्लेटो विधायकों को राज्य के प्रादेशिक क्षेत्र तथा निवासियों के सम्बन्ध में ही ध्यान देने की बात कहता है। वह इस आवश्यक तथ्य की उपेक्षा करता है कि राज्य के लिए वैदेशिक सम्बन्ध भी होते हैं, जो उसके स्थायित्व के लिए आवश्यक हैं। लॉज में प्लेटो नागरिकों के मध्य सम्पत्ति के विभाजन की व्यवस्था बताता है किन्तु वह स्पष्टतया यह नहीं बताता कि कितनी सम्पत्ति आवश्यक है और उसका क्या उद्देश्य है। साथ ही वह सम्पत्ति तथा जनसंख्या के मध्य सन्तुलन का समुचित प्रावधान भी नहीं करता। सम्पत्ति के मौलिक खण्ड अविभाज्य हैं। अतः बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए सम्पत्ति की समस्या का कोई समाधान प्रस्तुत नहीं किया गया है। अरस्तू का कथन है कि प्लेटो सम्पत्ति के खण्डों का विभाजन निश्चित संख्या के नागरिकों के अनुपात से नहीं करता। परन्तु जैसा बार्कर ने कहा है, इस सम्बन्ध में अरस्तू प्लेटो के साथ न्याय नहीं करता, क्योंकि प्लेटो ने इस समस्या का समाधान स्पष्टतया प्रस्तुत किया है।

लॉज में वर्णित शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में भी अरस्तू द्वारा की गई प्लेटो की आलोचना अस्पष्ट लगती है। लॉज में प्लेटो मिश्रित राज्य का सिद्धान्त अपनाता है, जो राजतन्त्र तथा प्रजातन्त्र (विवेक तथा तृष्णा) के तत्त्वों का मिश्रण होगा। अरस्तू इसे वैधानिक जनतन्त्र (polity) का ही रूप मानता है। परन्तु उसकी आपत्ति यह है कि इसमें वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र दोनों के तत्त्वों का अभाव है। अतः इसे वह प्रजातन्त्र तथा अत्याचारीतन्त्र का मिश्रण मानता है। परन्तु अरस्तू की यह धारणा भी प्लेटो के साथ दोहरा अन्याय करती है। प्लेटो का मिश्रित राज्य का सिद्धान्त स्पष्टतया आदर्श नहीं बल्कि आदर्श के सन्निकट है, जैसा अरस्तू भी मानता है। साथ ही यह प्रजातन्त्र तथा अत्याचारीतन्त्र का मिश्रण कदापि नहीं है। अरस्तू इसे वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र का सम्मिश्रण भी कहता है जिसमें वर्गतन्त्र की ओर अधिक झुकाव है, क्योंकि मजिस्ट्रेटों की नियुक्ति में वर्गतन्त्री तत्त्वों को अधिक गुरुत्व प्रदान किया गया है। अन्त में अरस्तू लॉज में वर्णित परिषद् के निर्वाचन की भी आलोचना करता है। परिषद् के सदस्यों के निर्वाचन की विधि प्लेटो ने स्पष्टतया वर्णित की है। परन्तु अरस्तू अपनी आलोचना के समर्थन में तोड़-मरोड़ कर उसका निर्वचन करता है। परिषद् के 360 सदस्य चार प्रकार के भूमि खण्डों के मालिकों में से समान संख्या में (प्रत्येक से 90) चुने जाते हैं। उम्मीदवारों के चयन में तीन बार निर्वाचन होता है। अरस्तू का निष्कर्ष यह है कि इसमें गुरुत्व प्रथम श्रेणी के नागरिक वर्ग को मिलने से उनका बहुमत हो जाएगा। परन्तु अरस्तू इस धारणा को सही रूप से प्रस्तुत नहीं कर पाया कि ऐसा

किस आधार पर सम्भाव्य है।

राज्य की सामाजिक तथा आर्थिक संरचना के सम्बन्ध में अरस्तू के जो अपने विचार थे उनमें से अनेकों पर प्लेटो के विचारों की छाप है। परन्तु अरस्तू उनको प्रस्तुत करते हुए उनकी व्याख्या करने में असंगतिपूर्ण ढंग से प्लेटो की आलोचना करता है। वह यह भूल जाता है कि स्वयं उसके आदर्श राज्य के सिद्धान्त प्लेटो के 'लॉज' में वर्णित सिद्धान्तों पर आधारित हैं। अतः यदि वह प्लेटो के रिपब्लिक तथा लॉज के विचारों को साथ-साथ लेकर प्लेटो के सम्पूर्ण विचारों को अपनी आलोचना का लक्ष्य न बनाता तो सम्भवतः उसकी आलोचना असंगतिपूर्ण तथा अस्पष्ट न होती क्योंकि रिपब्लिक के कुछ विचारों की आलोचना वह सही रूप में करता है। लेकिन लॉज के विचारों की आलोचनाएँ वह ठीक ढंग से नहीं कर पाया है।

2. दास प्रथा (Slavery)

प्लेटो तथा अरस्तू के युग में ग्रीस में दास प्रथा बहुत अधिक प्रचलित थी। प्लेटो ने रिपब्लिक में इसे महत्त्वहीन मानकर अपने राजनीतिक विचारों में इसका कोई विवेचन नहीं किया है। परन्तु लॉज में सामाजिक वर्गों का विभाजन करते हुए उसने कृषि कार्य के लिए दासों को आवश्यक माना है। अरस्तू की विचारधारा में इसे पर्याप्त महत्त्वपूर्ण संस्था माना गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि अरस्तू परिवार को राज्य की आधारशिला तथा दास को परिवार का अभिन्न अंग मानता है। उस युग में ग्रीक नागरिक अपने परिवार में दासों को रखते थे, जो परिवार की आर्थिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण योगदान करते थे। कृषि अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत बिना दासों के कोई भी परिवार सुखी जीवन व्यतीत नहीं कर सकता था।

अरस्तू के अनुसार परिवार सामुदायिक जीवन की प्रथम इकाई है और राज्य अन्तिम। पारिवारिक सम्बन्ध तीन प्रकार के होते हैं : (1) मालिक तथा दास के मध्य; (2) मालिक का पत्नी के साथ; तथा (3) मालिक का बच्चों के साथ। जहाँ तक मालिक तथा दास का सम्बन्ध है, उस युग में दो धारणाएँ थीं। कुछ लोग दास प्रथा को उचित तथा प्राकृतिक समझते थे, परन्तु कुछ, विशेष रूप से सोफिस्ट लोग, इसे अनुचित मानकर अप्राकृतिक अथवा बल पर आधारित संस्था मानते थे। अरस्तू प्रथम विचारधारा का समर्थक है और उसी के आधार पर दास-प्रथा के औचित्य का विवेचन करता है।

दास की परिभाषा—अरस्तू की धारणा यह है कि सम्पत्ति परिवार का एक आवश्यक अंग है। सम्पत्ति अर्जन के लिए उपकरण आवश्यक हैं। उपकरण दो प्रकार के होते हैं—सजीव (animate) तथा निर्जीव (inanimate)। निर्जीव उपकरण उत्पादन के लिए प्रयुक्त होते हैं और सजीव उपकरण निर्जीव उपकरणों को क्रियाशील रखने के लिए आवश्यक होते हैं। परिवार के संचालन एवं सम्पत्ति अर्जन में इन दोनों प्रकार के उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है। अरस्तू दास को सजीव उपकरण मानता है; करघा निर्जीव उपकरण का दृष्टान्त है। परन्तु बिना सजीव उपकरण के निर्जीव उपकरण स्वयं उत्पादन कार्य नहीं कर सकता। 'दास परिवार के जीवन तथा कार्य-प्रणाली से सम्बद्ध उपकरण है, न कि उत्पादन से; वह वस्तुओं

के निर्माण में सहायता देने वाला नहीं है, बल्कि परिवार के जीवन तथा कार्य-प्रणाली में सहायता देता है।'[1] दास परिवार की सम्पत्ति है, अतः वह परिवार का अंग है। मालिक तथा दास में अन्तर यह है कि मालिक दास का स्वामी है, अतः दास का मालिक पर अधिकार नहीं है; किन्तु दास न केवल मालिक का दास है, अपितु उस पर मालिक का पूर्ण अधिकार भी है। अरस्तू ने दास की परिभाषा इस प्रकार की है : (1) 'कोई व्यक्ति जो अपनी प्रकृति से स्वयं अपना नहीं है बल्कि दूसरे व्यक्ति का है, वह स्वभावतः दास है', (2) 'वह व्यक्ति दास है, जो एक मानव होते हुए भी सम्पत्ति की एक वस्तु है और दूसरे व्यक्ति का है', और (3) 'सम्पत्ति की वस्तु जो कार्य का उपकरण है और जिसे सम्पत्ति के धारक से पृथक् किया जा सकता है, दास है।'[2]

औचित्य—दास प्रथा के औचित्य को दर्शाते हुए अरस्तू प्रकृति के नियमों और अपने दार्शनिक तथा तथ्यगत तर्कों का सहारा लेता है। उसका तर्क है कि 'यह बात आवश्यक एवं व्यावहारिक है कि कुछ लोग शासक होंगे तथा कुछ शासित। जन्म से ही कुछ लोग शासन करने के लिए तथा कुछ शासित बने रहने के लिए निश्चित कर दिये जाते हैं।' यह तो प्रकृति का नियम है कि उच्चतर वस्तु निम्नतर वस्तु के ऊपर शासन करती है। उदाहरणार्थ, मनुष्य का मनुष्य के ऊपर शासन, दास के ऊपर शासन तथा जानवर के ऊपर शासन इत्यादि। इन सब शासनों के रूपों में भिन्नता हो सकती है, क्योंकि प्रत्येक दशा में शासितों की योग्यता का मापदण्ड एक-सा नहीं है, परन्तु प्रकृति का यह नियम सर्वत्र व्याप्त है कि बलवान निर्बल पर शासन करता है, जैसे आत्मा शरीर पर, विवेक तृष्णा पर, पुरुष स्त्री या बच्चों के ऊपर, मनुष्य जानवरों के ऊपर''''शासन करते हैं। यह तथ्य प्राकृतिक होने के साथ-साथ आवश्यक भी है, क्योंकि इन सभी अवस्थाओं में बलवान का निर्बल के ऊपर शासन, केवल बलवान का हित नहीं है, बल्कि दोनों का हित है। इसी प्रकार, मालिक का दास के ऊपर शासन करना भी आवश्यक है। आत्मा का शरीर पर शासन उसी प्रकार का है जैसा मनुष्य का जानवर के ऊपर; विवेक का तृष्णा के ऊपर और एक राजा का प्रजा के ऊपर होता है। मालिक का दास के ऊपर शासन इसी आधार पर औचित्यपूर्ण है कि 'कोई व्यक्ति प्रकृतितः दास इसी अर्थ में माना जाता है कि उसमें स्वयं विवेक का अभाव होता है, परन्तु इतना विवेक उसमें आवश्यक होता है कि वह दूसरे के विवेक का ज्ञान कर सके।' इस दृष्टि से दास तथा जानवर में यह अन्तर है कि जानवर विवेक का ज्ञान नहीं कर सकता, जबकि दास करता है। अतएव यह बात दास के हित में है कि वह मालिक द्वारा शासित हो और इसी में उसकी भलाई है। जहाँ तक मानसिक शक्तियों का प्रश्न है, दास-मालिक सम्बन्ध सर्वथा औचित्यपूर्ण हैं। परन्तु अरस्तू शारीरिक श्रेष्ठता तथा कमी के तत्त्वों का अस्तित्व भी दास तथा मालिक में देखता है। उसके विचार से दास की शारीरिक संरचना यह दर्शाती है कि वह शारीरिक श्रम करने की पूर्ण क्षमता रखता है, जबकि

[1] Barker, *op. cit.*, 11.

[2] *Definitions* : (1) 'Anybody who by his nature is not his own man, but another's, is by his nature a slave.' (2) 'Any body who, being a man, is an article of property, is another's man.' (3) 'An article of property is an instrument intended for the purpose of action and separable from its possessor.' —*The Politics*, Bk. I, Ch. IV, 6.

विवेकशील मालिक की शारीरिक संरचना से उसके उन गुणों का आभास होता है जो उसे उत्तमतर नागरिक कर्त्तव्यों के पालन में सहायक होते है।

मानवों की शारीरिक तथा मानसिक क्षमताओं में विविधता पायी जाती है। जिन व्यक्तियों में उच्च विवेक शक्ति होती है वे आदेश देने तथा निदेशन करने की क्षमता रखते हैं और जिन व्यक्तियों में विवेक की मात्रा इतनी ही होती है कि वे विवेक को समझ मात्र सकते हैं, उनकी क्षमता आज्ञापालन तक सीमित होती है। यह अन्तर मानसिक एवं शारीरिक क्षमता का होता है। दोनों का मिश्रण दोनों प्रकार के व्यक्तियों के हित में, अथच सम्पूर्ण परिवार के हित में है। अतः दास-प्रथा प्राकृतिक है। इसका औचित्य इस आधार पर भी सिद्ध होता है कि दास मालिक के साथ जीवन व्यतीत करता हुआ अपने जीवन को भी उच्चतर बना सकता है, क्योंकि उसका मालिक के साथ सम्पर्क उसे उत्तमता प्रदान करेगा। साथ ही दास का होना मालिक के हित में इसलिए है कि उसके कारण मालिक को अधिक आराम तथा शारीरिक श्रम से अवकाश मिलता है, जिसके फलस्वरूप वह मानसिक कार्य करने का अधिक सुअवसर प्राप्त करता है। जिस प्रकार उत्तम संगीत के लिए संगीत के उपकरण आवश्यक हैं, उसी प्रकार स्वस्थ पारिवारिक जीवन के लिए दास एक उपकरण के रूप में सिद्ध होता है।

दास-प्रथा के औचित्य को व्यक्त करने में अरस्तू की यथार्थवादिता तथा राजनीति का व्यावहारिक ज्ञान परिलक्षित होता है। सॉफिस्ट दास-प्रथा के विरोधी थे। उनका तर्क था कि 'ईश्वर ने समस्त मानवों को स्वतन्त्र पैदा किया है, परन्तु प्रकृति ने मानव को दास बनाया है।' इसके विरुद्ध अरस्तू यह मानता है कि सामाजिक जीवन की उच्च परम्परा में शासक तथा शासित तत्त्वों की व्यवस्था प्राकृतिक है। परिवार तथा समाज की व्यवस्था के लिए दास-प्रथा एक आवश्यक एवं नैसर्गिक संस्था है। उस युग में ग्रीस में दास-प्रथा इतनी अधिक प्रचलित थी कि उसे समाप्त करना राज्यों के मध्य आर्थिक सन्तुलन को नष्ट कर देता। दास-प्रथा नगर-राज्यों की अर्थव्यवस्था तथा स्थायित्व का एक आवश्यक अंग थी। यदि दासों को मुक्त कर दिया जाता तो उनका एक विशाल वर्ग सामाजिक संरचना को विकृत कर देता। अतएव अरस्तू अपनी रूढ़िवादिता तथा यथार्थवादिता का अनुगमन करते हुए दास-प्रथा के औचित्य का समर्थन करता है।

दासों के रूप—अरस्तू के काल में दास-प्रथा के सम्बन्ध में जो दो विरोधी दृष्टिकोण थे उनके समर्थक एक वर्ग के लोग दास-प्रथा की पूर्ण समाप्ति चाहते थे; दूसरे दासों को पकड़-पकड़ कर रख लेने (slave-hunting) की नीति का समर्थन करते थे। अरस्तू दोनों के मध्य का मार्ग अपनाता है। वह दासों को दो रूपों में विभक्त करता है। एक को वह प्राकृतिक दास कहता है जिनके लक्षण उपर्युक्त परिच्छेदों में बताये गये हैं। दूसरे वर्ग में वह कानूनगत दासों (slaves by law or convention) को रखता है। कानूनगत दास से अरस्तू का अभिप्राय ऐसे व्यक्तियों से है जिन्हें युद्ध में पराजित होने के कारण युद्ध के बन्दियों के रूप में विजयी लोगों के द्वारा दास बना लिया जाता था। अरस्तू के विचार से जिन विद्वानों तथा विधि एवं न्यायशास्त्रियों ने दास-प्रथा का समर्थन या विरोध किया है, उनकी धारणाएँ ऐसे ही दासों के सम्बन्ध में हैं। विरोधियों का तर्क यह है कि ऐसे बन्दियों को दास बनाना केवल शक्ति पर आधारित है जिसका अभिप्राय हुआ 'न्याय शक्तिशाली का

हित' है। समर्थकों का तर्क है कि विजय उत्तमता (goodness) का प्रतीक है, अतः उत्तमता के मापदण्ड से विजयी के द्वारा पराजितों को दास बनाना औचित्यपूर्ण है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि 'शक्ति उत्तमता में रहती है' (power goes with goodness)। अरस्तू इन दोनों दृष्टिकोणों में अतिवादिता की मात्रा देखता है। उसके मत से हो सकता है कि युद्ध का कारण ही अनौचित्यपूर्ण हो। अतः उत्तमता विजय में होना न्यायसंगत नहीं है। स्वयं युद्ध गैर-कानूनी हो सकता है। अतः ऐसी स्थिति में कानूनगत दास-प्रथा का कोई औचित्य सिद्ध नहीं होता इसका यह परिणाम भी हो सकता है कि कभी जो व्यक्ति प्राकृतिक रूप से उच्चतर हैं उन्हें ऐसे व्यक्ति युद्ध में विजय द्वारा दास बना लेंगे, जो स्वयं निम्नतर हैं। अरस्तू का निष्कर्ष है कि सभ्य जन-समूह को असभ्यों द्वारा दास बनाया जाना औचित्य नहीं रखता। ग्रीक सभ्य हैं; उन्हें दास नहीं बनाया जा सकता। इस दृष्टि से अरस्तू प्राकृतिक दास तथा प्राकृतिक स्वतन्त्र मानव (natural free man) के मध्य भेद करता है।

अरस्तू दास को मालिक का एक अंग मानता है। मालिक पूर्ण है और दास उसका अंग। दोनों का सम्बन्ध आत्मा तथा शरीर की भाँति है। अतः दोनों में मैत्री-सम्बन्ध तथा पारस्परिक हित की भावना होनी चाहिए। यदि शक्ति की उच्चता होगी तो दास-प्रथा का औचित्य नहीं रहेगा। दास-प्रथा का आधार सद्भावना (goodwill) होना चाहिए जिसके द्वारा मालिकों के उच्चतर गुणों का लाभ दासों को भी प्राप्त हो सके और दासों के अस्तित्व से मालिकों को भी आरामदेह तथा स्वस्थ नागरिक जीवन व्यतीत करने का अवसर मिलता रहे। अरस्तू के विचार से एक राजनेता की सत्ता तथा परिवार के मालिक की सत्ता में यही अन्तर है कि राजनेता ऐसे व्यक्तियों पर सत्ता का प्रयोग करता है जो प्राकृतिक रूप से दासों से सदृश है जिसका स्वरूप राजतन्त्रात्मक है। यों तो दास तथा मालिक का भेद प्राकृतिक देनों का परिणाम है, परन्तु अरस्तू के मत से दोनों के लिए प्रशिक्षण की भी आवश्यकता है। दास को पारिवारिक सेवा-सम्बन्धी कार्यों का प्रशिक्षण मिलना चाहिए। मालिक के लिए भी यह आवश्यक है कि दास का समुचित उपयोग करने की योग्यता उसमें होनी चाहिए। दूसरी बात जो मालिक के लिए आवश्यक है, वह है दासों को प्राप्त करने की योग्यता। इसके दो रूप हैं—युद्ध विजय तथा दासों को पकड़ने की क्षमता।

मूल्यांकन—अरस्तू का दास-प्रथा सम्बन्धी सिद्धान्त न केवल उसके दार्शनिक विचारों पर ही आधारित है अपितु इससे उसका यथार्थवाद भी स्पष्ट होता है। अरस्तू परिवार को राज्य का आधारभूत तत्त्व मानता है और उस युग में दास-प्रथा ग्रीस में इतनी अधिक प्रचलित थी कि दासों के बिना ग्रीस के नगर-राज्यों के नागरिक उत्तम एवं आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने से वंचित हो जाते। इसका प्रभाव नगर-राज्यों की अर्थव्यवस्था पर भी प्रतिकूल पड़ता। अतः अरस्तू ने दास-प्रथा का समर्थन करने में वस्तु-स्थिति का अपने दार्शनिक विचारों के साथ समन्वय किया है। यद्यपि प्लेटो ने दास-प्रथा की अपने राजनीतिक दर्शन में कोई विवेचना नहीं की है, तथापि प्लेटो के विचारों में भी अरस्तू की धारणा विद्यमान है। फॉस्टर ने उचित ही कहा है कि 'अरस्तू द्वारा दास-प्रथा के औचित्य का समर्थन सिद्धांततः वैसा ही है, जैसा कि प्लेटो द्वारा उत्पादक वर्ग को स्थायी रूप से शासित बनाये रखने का

औचित्य है।'[1] अरस्तू इस आधार पर दास-प्रथा को उचित बताता है कि दासों में मानसिक, बौद्धिक एवं शारीरिक क्षमताएँ स्वभावतः इतनी ही होती हैं कि वे केवल शासित रहना ही जानते हैं और दूसरों के विवेक का अनुसरण करके ही वे अपने जीवन को उत्तम बना सकते हैं। प्लेटो भी राजनीतिक व्यवस्था के सम्बन्ध में मानवीय सद्गुणों का विवेचन करते हुए उत्पादक वर्ग में जो कि केवल शारीरिक श्रम करने की क्षमता रखते हैं, तृष्णा तत्त्व की प्रधानता दर्शाता है, और उन्हें स्थायी रूप से विवेक तथा उत्साह तत्त्वों की प्रमुखता से युक्त संरक्षक वर्गों की आधीनता में बनाये रखना चाहता है। वह ऐसे वर्गों को नागरिकों एवं शासनिक अधिकारों के प्रयोग से वंचित रखता है। प्लेटो के आदर्श राज्य की धारणा में दर्शन के शासन एवं कार्य-विभाजन के सिद्धान्त का यही निष्कर्ष है कि शासन कार्य तथा उच्चतर मानसिक एवं आध्यात्मिक चिन्तन उन्हीं को करना चाहिए जो विवेक एवं उत्साह गुणों से युक्त हैं। उन्हें शारीरिक श्रम से मुक्ति मिलनी चाहिए। भौतिक चिन्ताओं, माया-मोह आदि से उन्हें मुक्त रखा जाना चाहिए तथा शिक्षा की व्यवस्था द्वारा उन्हें उच्च आध्यात्मिक, सैनिक, प्रशासनिक एवं नागरिक ज्ञान कराया जाना चाहिए। उत्पादक वर्ग को वह इन सब सुविधाओं एवं उत्तरदायित्वों से मुक्त रखता है। इस प्रकार राज्य में एक विशाल वर्ग को वह सदैव दूसरों के द्वारा शासित बनाये रखना चाहता है।

द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य का विवेचन करने में भी प्लेटो केवल थोड़े से व्यक्तियों को ही नागरिक बनाना चाहता है, जिनके लिए उसने निर्धारित मात्रा में भू-सम्पत्ति के स्वामित्व को स्वीकार किया है। उसके मत से ऐसे ही व्यक्ति शासन-कार्य में भाग ले सकेंगे। परन्तु भू-सम्पत्ति द्वारा उत्पादन कार्य में शारीरिक श्रम करने के लिए वह पुनः दासों को रखने की नीति का समर्थन करता है। जो व्यक्ति व्यापार-व्यवसाय आदि का कार्य करते हैं, वे विदेशी होंगे। यहाँ तक कि प्लेटो शिक्षक वर्ग में भी विदेशियों को ही रखना चाहता है। इस प्रकार द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य में भी उत्पादक, शिल्पी, श्रमजीवी, उद्योग तथा व्यवसाय का कार्य करने वाले व्यक्ति नागरिक नहीं हो पायेंगे। इस दृष्टि से वे स्थायी रूप से उच्च सम्पत्तिशाली नागरिक वर्ग द्वारा ही शासित रहेंगे।

अरस्तू का आदर्श राज्य या सर्वोत्तम राज्य-व्यवस्था वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र का मिश्रण अथवा मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों का शासन है। दूसरी ओर, अरस्तू उन्हीं व्यक्तियों को नागरिक मानता है जो राज्य के विधायी एवं न्यायिक कृत्यों में भाग लेते हैं। इस दृष्टि से अरस्तू भी यह मानकर चलता है कि जो व्यक्ति केवल शारीरिक श्रम करने की क्षमता रखते हैं वे नागरिक कर्त्तव्यों में भाग नहीं ले सकते। परन्तु अरस्तू ऐसी श्रेणी में केवल दासों को ही रखना चाहता है। उसकी दृष्टि में ग्रीस के नगर-राज्यों के मूल निवासी ही जो व्यक्तिगत परिवारों के मालिक हैं, नागरिक अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का उपभोग तथा पालन करेंगे। अतएव उनके लिए पारिवारिक जीवन में शारीरिक श्रम द्वारा उत्पादन कार्य करने के लिए दासों को रखना आवश्यक है। दास पारिवारिक जीवन के अंग रहेंगे, और नागरिक कृत्य

[1] 'Aristotle's justification of slavery is the same in principle as Plato's justification of the permanent subjection of the producing classes.' —Foster, *Masters of Political Thought*, Vol. I, 1949, 138.

परिवार के मालिक करेंगे। चूँकि दास विवेक तत्त्व से रहित हैं, अतः वे नागरिक जीवन के कार्य नहीं कर सकते। वे प्रकृतितः शासित होने के लिए ही उत्पन्न हुए हैं। उन्हें शासन कार्य में भाग लेने की क्षमता प्राप्त ही नहीं है। परन्तु स्वयं अपने तथा नागरिकों के भी हित में उनका होना आवश्यक है। इस दृष्टि से अरस्तू दास-प्रथा के औचित्य को सिद्धान्त रूप में उसी प्रकार स्पष्ट करता है जिस प्रकार प्लेटो उत्पादक वर्ग को सदैव शासित ही रखने की धारणा का औचित्य दर्शाता है।

यद्यपि अरस्तू ने दास-प्रथा का समर्थन करते हुए उसके औचित्य को दर्शाया है, तथापि वह दासों के प्रति निर्दयता के व्यवहार को मान्य नहीं करता। वह दास को परिवार का अंग मानता है। साथ ही यह भी कहता है कि मालिक को दासों के साथ मित्रवत् व्यवहार करना चाहिए, क्योंकि मालिक तथा दास दोनों एक-दूसरे के पारस्परिक हित की वस्तुएँ हैं। वह सॉफिस्टों के मानवों की प्राकृतिक समानता के सिद्धान्त को नहीं मानता। उसकी धारणा में समानता प्राकृतिक नहीं है, बल्कि असमानता प्राकृतिक है और प्रकृति का नियम यही है कि श्रेष्ठ व्यक्ति अ-श्रेष्ठों पर शासन करेंगे, जिसमें दोनों का हित है। कानूनगत दास-प्रथा का वह इसी आधार पर विरोध करता है कि उसमें इस नियम की उपेक्षा होने की सम्भावना है। अरस्तू समस्त दासों की मुक्ति का समर्थन नहीं करता। ऐसा करने में सामाजिक तथा आर्थिक दोनों प्रकार की व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती। वह व्यक्तिगत दासों की मुक्ति का समर्थन अवश्य करता है। इसका आधार यह है कि यदि किसी दास में उसके आचरण से यह प्रतीत होने लगे कि वह प्राकृतिक दासों की अपेक्षा उच्चतर विवेक रखता है तो उसे दासता से मुक्त किया जाना चाहिए। अरस्तू के युग में एथेंस के दासों की स्थिति अन्य राज्यों के दासों की अपेक्षा उत्तमतर थी। वे अपने मालिकों से मित्रवत् व्यवहार प्राप्त करते थे। कभी-कभी मुक्ति के उपरान्त उन्हें राज्य के छोटे-छोटे पदों पर नियुक्त भी किया जाता था।

आलोचना—जिन तर्कों के आधार पर अरस्तू दास-प्रथा के औचित्य को प्रकट करता है, वे सब दोष-रहित नहीं कहे जा सकते। अरस्तू की प्राकृतिक दास की व्याख्या बहुत सन्तोषजनक नहीं मानी जा सकती। उसकी परिभाषा से तो ऐसा लगता है कि मानो वह प्रत्येक शारीरिक श्रमजीवी व्यक्ति को दास की स्थिति प्रदान करता है। वह ग्रीकों को अन्य देशों के नागरिकों की अपेक्षा श्रेष्ठतर या अधिक विवेकशील मानता है, परन्तु ग्रीस में भी ऐसे व्यक्ति रहते होंगे, जो शारीरिक श्रम पर ही आश्रित हों। पर वे दास नहीं हो सकते थे। अरस्तू की यह धारणा ग्रीकों के प्रति पक्षपातपूर्ण है; अरस्तू दास को कार्य का उपकरण (an instrument of action) मानता है, न कि उत्पादन का उपकरण। दास की यह पारिभाषिक व्याख्या सन्तोषजनक नहीं है। पारिवारिक जीवन में कार्य का उपकरण तथा उत्पादन का उपकरण मानकर व्यक्तियों के मध्य भेद करना कठिन है। जब दास पारिवारिक जीवन में भागीदार है तो उसे केवल उपकरण मात्र मानना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। किसी औद्योगिक संस्थान में दास केवल एक साधन नहीं हो सकता, वहाँ तो वह साध्य भी हो जाएगा। यह भी भ्रम हो सकता है कि परिवार के बच्चे तथा मालिक की पत्नी भी दास की श्रेणी में आ सकते हैं, क्योंकि उनके ऊपर भी मालिक शासन का सा व्यवहार करता है। वे उसी के विवेक का अनुसरण करते हैं।

अरस्तू ने दासों के मध्य वैवाहिक सम्बन्धों का कोई उल्लेख नहीं किया है।

वे भी तो अपने समाज में वैवाहिक जीवन एवं प्रजनन प्रक्रिया के भागीदार हैं। यदि उनके बच्चों को भी दास ही माना जाय तो वह भी न्यायसंगत बात नहीं होगी। यह सम्भव है कि कभी दासों के बच्चे विवेकशील हो सकते हैं। तो इन्हें किस श्रेणी में माना जायेगा, ऐसी सम्पूर्ण स्थितियों का विवेचन उपेक्षित रखा गया है। अरस्तू व्यक्तिगत दासों की मुक्ति का समर्थन करता है। यदि विवेकयुक्त दास को मुक्त कर दिया जाय तो अरस्तू की समता विषयक यह धारणा असंगत हो जायेगी कि दास तथा मालिक शरीर तथा आत्मा की भाँति हैं। शरीर आत्मा में कैसे परिणत हो जायेगा? अरस्तू यह भी कहता है कि मालिक को दास के साथ मानव के नाते मित्रवत् व्यवहार करना चाहिए, परन्तु दास के नाते नहीं। यह तर्क भी असंगत लगता है कि दास को मालिक मानव के रूप में मित्रवत् माने परन्तु उसी व्यक्ति को दास के रूप में दास ही माने। यदि किसी दास को मुक्ति दी जाती है तो क्या वह राज्य में एक नागरिक के रूप में कौन सी स्थिति प्राप्त करेगा और उसकी सम्पत्ति तथा परिवार की क्या स्थिति होगी, इन बातों का विवेचन भी उसने नहीं किया है।

क्रान्तियाँ

अर्थ—प्लेटो तथा अरस्तू के काल में ग्रीस के नगर-राज्य पतन की दिशा में बढ़ रहे थे। विभिन्न नगर-राज्यों की आन्तरिक एवं बाह्य परिस्थितियाँ संकटाकीर्ण थीं। आन्तरिक दृष्टि से, राज्यों की शासन व्यवस्थाओं में अनेक बुराइयाँ तथा दोष आ चुके थे और बाह्य दृष्टि से नगर-राज्यों के मध्य पारस्परिक प्रतियोगिता तथा युद्ध की स्थितियाँ आ रही थीं। इनके कारण नागरिकों को उत्तम जीवन व्यतीत करने के मार्ग में जो अनेक बाधाएँ उत्पन्न हो रही थीं, उन्हीं के समाधान के निमित्त प्लेटो तथा अरस्तू ने राजनीतिक चिन्तन किया। नगर-राज्यों की शासन-प्रणालियों का विवेचन करते हुए अरस्तू इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि संविधान तथा राज्य की उत्तमता की एक कसौटी उसका स्थायित्व भी है। उसकी यह धारणा थी कि जब नगर-राज्य का संविधान परिवर्तित होता है, तो राज्य भी बदल जाता है। उदाहरण के लिए, जब वर्गतन्त्र प्रजातन्त्र में अथवा प्रजातन्त्र अत्याचारी-तन्त्र में बदल जाय तो कहा जायेगा कि राज्य बदल गया है या नष्ट हो गया है। अरस्तू ऐसे परिवर्तनों को क्रान्ति या विद्रोह (revolutions) का प्रतिफल मानता है। उस युग में ग्रीक नगर-राज्यों में ऐसे परिवर्तन होते आ रहे थे जिनके कारण उत्तम तथा आत्म-निर्भर जीवन की प्राप्ति का मार्ग अवरुद्ध हो रहा था। अतएव एक व्यवहारवादी राजशास्त्री होने के नाते अरस्तू राज्यों में क्रान्तियों के स्वरूपों, कारणों तथा उनके बचाव के साधनों का भी विवेचन करता है।

प्लेटो का विचार था कि संविधानों के परिवर्तनों का कारण विविध संविधानों में अन्तर्निहित तत्त्वों में परिवर्तन का आ जाना है। उदाहरणार्थ, राजतन्त्र में विवेक तत्त्व, प्रजातन्त्र में तृष्णा तत्त्व, वर्गतन्त्र में सम्मान का तत्त्व, अत्याचारीतन्त्र में स्वार्थ-तत्त्व इत्यादि की प्रधानता रहती है। इन तत्त्वों में परिवर्तन एक क्रम से चलता है, यथा, विवेक के उपरान्त सम्मान, उत्साह, तृष्णा, स्वार्थ आदि के क्रम संविधानों को भी परिवर्तित करते रहते हैं। अरस्तू संविधान परिवर्तन के इस दार्शनिक तार्किक-क्रम को स्वीकार नहीं करता। वह ऐतिहासिक एवं तथ्यगत तर्कों

के आधार पर सांविधानिक क्रान्तियों के कारणों का परीक्षण करता है।

रूप—अरस्तू के विचार से संविधान राज्य के 'पदों की व्यवस्था' है। राज्य के पदों की प्राप्ति की आकांक्षा विविध वर्गों तथा व्यक्तियों में विद्यमान रहती है। इसी उद्देश्य से वे न्याय की विविध प्रकार से व्याख्या करते हैं। उदाहरणार्थ, वर्गतन्त्र के समर्थक असमानता को सब क्षेत्रों में न्यायसंगत मानते हैं, तो प्रजातन्त्र-वादी समानता को ही न्याय मानते हैं। न्याय की ऐसी व्याख्या उक्त दोनों पक्षों की धारणाओं में अशुद्ध है। इसके कारण इन वर्गों के मध्य संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है। ये संघर्ष राज्य में क्रान्ति या विद्रोह को जन्म देते हैं। ऐसी क्रान्तियों के रूपों को अरस्तू ने निम्नांकित श्रेणियों में वर्गीकृत किया है—

(1) कभी-कभी क्रान्ति का उद्देश्य राज्य के संविधान को परिवर्तित करना होता है, जैसे वर्गतन्त्र को प्रजातन्त्र में या प्रजातन्त्र को वर्गतन्त्र अथवा वैधानिक जनतन्त्र में या वैधानिक जनतन्त्र को कुलीनतन्त्र में, आदि।

(2) कभी-कभी क्रान्तिकारियों का उद्देश्य संविधान के स्वरूप को परिवर्तित करना न होकर केवल उसके अन्तर्गत शासन-शक्ति अपने हाथ में लेना होता है।

(3) कभी-कभी क्रान्ति का उद्देश्य स्थापित संविधान को ही अधिक वास्तविक बनाना होता है, यथा, वर्गतन्त्र को और अधिक वर्गतन्त्री या प्रजातन्त्र को और अधिक प्रजातान्त्रिक बनाना।

(4) कभी-कभी क्रान्तिकारी केवल थोड़े से पदों या पदधारियों में परिवर्तन लाना चाहते हैं और संविधान या शासन के स्वरूप को पूर्ववत् बना रहने देना चाहते हैं।

कारण—अरस्तू क्रान्तियों के कारणों को दो श्रेणियों में वर्गीकृत करता है। प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत उसने उन कारणों का विवेचन किया है जो सामान्यतया हर प्रकार की शासन-व्यवस्थाओं के अन्तर्गत पाये जाते हैं तथा जो उपर्युक्त सभी प्रकार की क्रान्तियों में विद्यमान रहते हैं। दूसरी श्रेणी में वह उन विशेष कारणों का उल्लेख करता है जो विविध प्रकार की व्यवस्थाओं में विशेष रूप से प्रभावी होते हैं।

(अ) सामान्य कारण (General Causes)—अरस्तू का मत है कि 'विद्रोह या क्रान्ति का कारण सदैव असमानता में पाया जाता है।'[1] समानता या असमानता के दो रूप होते हैं : (1) संख्यात्मक; तथा (2) आनुपातिक या गुणात्मक। संख्यात्मक समानता का अभिप्राय सबको हर बात में समान मानना है। यह एक प्रजातन्त्रवादी की धारणा है जिसके अनुसार यह माना जाता है कि समस्त मानव समान रूप से स्वतन्त्र जन्मे हैं, अतः राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि सभी क्षेत्रों में सबको समान माना जाना चाहिए। इसके विपरीत आनुपातिक समानता का अर्थ यह है कि विभिन्न व्यक्ति जन्म, धन, योग्यता आदि की दृष्टि से असमान होते हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति को उसकी ऐसी क्षमताओं के अनुपात से ही अन्य व्यक्तियों के मध्य समान या असमान माना जाना चाहिए। वर्गतन्त्र के समर्थकों की धारणा निरपेक्ष समानता का विरोध करके प्राकृतिक असमानता पर विश्वास करती है। स्वयं अरस्तू भी आनुपातिक समानता को ही वास्तविक समानता मानता है। अतः जब वर्गतन्त्री तथा

[1] 'The cause of sedition is always to be found in inequality.' —*The Politics*, Bk. V, Ch. I, 11.

प्रजातन्त्री तत्त्व समानता का अर्थ अपने-अपने पक्ष में लगाते हैं तो वास्तविक समानता का लोप होने लगता है और असमानता का तत्त्व प्रमुख हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप राज्य में व्यक्तियों के हितों में संघर्ष की स्थिति आ जाती है और पारस्परिक प्रतिस्पर्धा बढ़ने से विद्रोह की स्थिति उत्पन्न होने लगती है। जहाँ पर जनता के विभिन्न वर्गों में वास्तविक राजनीतिक क्षमता एवं वास्तविक राजनीतिक सत्ता के मध्य की खाई अधिक चौड़ी हो जाती है, वहाँ क्रान्ति की सम्भावना बढ़ जाती है। अत: आनुपातिक समानता बनाये रखना क्रान्ति की सम्भावना को रोकने का उत्तम साधन है।

अरस्तू के मत से समाज में जन्म तथा धन की श्रेष्ठता से युक्त व्यक्ति थोड़े-से ही होते हैं। अत: वर्गतन्त्र के अन्तर्गत विद्रोह दो प्रकार का होता है। या तो धनिक वर्ग स्वयं आपस में एक दूसरे से विरोध करके शक्ति प्राप्त करने को इच्छुक रहते हैं, अथवा वे निर्धन वर्गों से अपनी असमानता व्यक्त करते हुए उनके विरोधी रहते हैं। इसके विपरीत प्रजातन्त्र में सत्ताधारी वर्गों के मध्य ऐसा विरोध पारस्परिक नहीं होता, अपितु केवल धनिक वर्ग के विरुद्ध रहता है। चूँकि प्रजातन्त्र में अधिकांश व्यक्ति समान होते हैं, अत: पारस्परिक अन्तर्विरोध कम होता है। अरस्तू वैधानिक जनतन्त्र को उत्तम व्यवस्था मानता है। उसकी दृष्टि से प्रजातन्त्र वैधानिक जनतन्त्र के अधिक निकट की व्यवस्था है। इसलिए वह वर्गतन्त्र की अपेक्षा उत्तम होती है। इसमें असमानता का तत्त्व होने से क्रान्ति की सम्भावना भी कम होती है। अरस्तू यह भी मानता है कि 'दरिद्रता समस्त अपराधों तथा विद्रोहों की जननी है।' राज्य की एकता तथा स्थायित्व के हित में सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था में समानता का होना आवश्यक है। अत: यदि थोड़े से स्वार्थी धनिकों का शासन-सत्ता पर अधिकार हो जायेगा अथवा यदि शासन-सत्ता सम्पत्तिहीन जनसमूह के हाथ में चली जायेगी तो समाज में समानता की स्थिति नहीं रह सकेगी। ये दोनों स्थितियाँ राज्य के स्थायित्व के लिए घातक सिद्ध होंगी। इसीलिए अरस्तू मध्यम वर्ग के हाथ में शासन-सत्ता होना तथा समाज में अधिकाधिक मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों का होना उत्तम राज्य व्यवस्था का लक्षण मानता है, क्योंकि उसमें असमानता की दो चरम सीमाओं का अभाव होने से क्रान्ति की सम्भावना नहीं रहती। अरस्तू का कहना है कि 'क्रान्ति का मूल कारण समानता के प्रति तीव्र उत्कंठा है।'[1]

असमानता के सम्बन्ध में तीन दृष्टिकोण—क्रान्ति के सामान्य कारणों में असमानता को प्रमुख मानते हुए अरस्तू तीन दृष्टिकोणों को लेता है। पहला मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण है, जिसका अभिप्राय यह है कि जो लोग समानता की अत्यधिक कामना करते हैं उनके मन में यह विचार रहता है कि उन्हें अन्यों की अपेक्षा समान लाभ नहीं मिल रहा है। इसके विपरीत जो असमानता की अत्यधिक कामना करते हैं वे यह सोचते हैं कि वे अन्यों की अपेक्षा असमान अथच श्रेष्ठतर हैं, और लाभ समानता के आधार पर सबको बराबर मिल रहा है। इस प्रकार के मनोविकार एक-दूसरे से श्रेष्ठतर बनने की समानता की धारणा से निर्देशित होकर निर्बल वर्गों को क्रान्तिकारी बना देते हैं। दूसरा दृष्टिकोण उद्देश्य के संघर्ष का है। इसका अर्थ है लोगों में राजनीतिक लाभ तथा सम्मान की प्राप्ति हेतु संघर्ष, अथवा इसके विपरीत हानि तथा असम्मान से अपने तथा अपने मित्रों के बचाव की कामना

[1] 'It is the passion for equality which is thus at the root of sedition.'

करना। तीसरा दृष्टिकोण है अवसर का। इसके भी दो रूप हैं : पहले के अन्तर्गत ऊपर वर्णित मनोविकारों तथा उद्देश्यों से निर्देशित तत्त्वों को क्रान्ति के लिए सक्रिय करने के अवसर रखे जा सकते हैं और दूसरी श्रेणी में अनेक अन्य अवसरों को रखा जा सकता है जिनके कारण क्रान्ति की सम्भावना उपस्थित हो जाती है।

सत्ताधारियों में दूसरों के प्रति घृणा तथा व्यक्तिगत लाभ की आकांक्षा (insolence and profit making) लोगों को विद्रोही बना देती है। सम्मान (honour) कुछ लोगों को मिले और दूसरों को असम्मान तो वह भी क्रान्ति का अवसर उत्पन्न करता है। किसी रूप में श्रेष्ठत्व का अस्तित्व (presence of some sort of superiority), यथा राजतन्त्र तथा वंशानुगत वर्गतन्त्र में सत्ताधारी असाधारण रूप से श्रेष्ठता का प्रदर्शन करते हैं तो वह भी क्रान्ति का अवसर उपस्थित करता है। भय (fear) भी क्रान्ति का अवसर लाता है। गलत काम करने वालों को दण्ड का भय, या कुछ व्यक्तियों को अन्याय का भय भी विद्रोह का अवसर हो सकता है। वर्गतन्त्र में सत्ताधारियों के हृदय में दूसरों के प्रति घृणा (contempt) की धारणा क्रान्ति का कारण बन सकती है। राज्य के किसी अंग का असमानुपाती विस्तार (disproportionate increase of a part of the state) भी विद्रोह उत्पन्न कर सकता है। वर्गगत असमानुपाती विस्तार राज्य के लिए उसी प्रकार अहितकर है जिस प्रकार शरीर के किसी अंग का अवांछनीय विस्तार। निर्वाचन षड्यन्त्र (election intrigues), प्रशासकों द्वारा मनमाने ढंग से कार्य की उपेक्षा (wilful-negligence), छोटी-मोटी बातों को महत्त्वहीन समझकर उनकी उपेक्षा करना (neglect of trifling changes), राज्य के निर्माणकारी तत्त्वों (जनता) में समरूपता का अभाव (dissimilarity of elements in the composition of a state), राज्य में बाहरी तत्त्वों का प्रवेश, तथा राज्य के प्रदेश में समरूपता का अभाव जोकि राज्य की एकता के लिए प्रतिकूल हो, यह सब ऐसी स्थितियाँ हैं जो क्रान्ति का अवसर उपस्थित करती हैं।

इसके अतिरिक्त कभी-कभी क्रान्ति के अवसर बहुत छोटे भी हो सकते हैं, परन्तु उनसे सम्बद्ध मामले महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं। मामूली घरेलू कलह कभी राजकीय युद्धों का कारण बन सकते हैं। किसी अधिकारी की शक्तियों का अत्यधिक विस्तार क्रान्ति का कारण हो सकता है। कभी बल-प्रयोग, भ्रष्ट आचरण, धोखेबाजी आदि भी क्रान्ति को जन्म दे सकते हैं। यह कारण ऐसे हैं जो समस्त संविधानों में सामान्य रूप से क्रान्ति उत्पन्न कराने वाले होते हैं।

(ब) **विशेष कारण** (Particular Causes)—विशेष कारणों से अरस्तू का अभिप्राय यह है कि क्रान्ति के कुछ विशिष्ट कारण विभिन्न प्रकार के संविधानों में विशिष्ट प्रकृति के होते हैं, जो सामान्यतया सब संविधानों में नहीं पाये जाते।

(i) **प्रजातन्त्र में**—अरस्तू के मत से प्रजातन्त्रों में जन-नेता (demagogues) अनर्गल प्रचार द्वारा अपनी स्वतन्त्रता का लाभ उठाकर सांविधानिक परिवर्तन कराने की चेष्टा करते हैं।[1] कभी वे धनिकों के ऊपर व्यक्तिगत रूप से आक्षेप करते हैं, और उनके ऊपर झूठे दोषारोपण करके उन्हें आपस में एक होने को विवश करते हैं। कभी जन-नेता धनिकों को एक वर्ग के रूप में लेकर उनका विरोध करते

[1] 'In democracies changes are chiefly due to the wanton licence of demagogues.' —*The Politics*, Bk. V, Ch. V, 1.

हैं और जनता को उनके विरुद्ध भड़काते हैं। इस प्रकार धनिकों तथा निर्धनों के मध्य की खाई गहरी होती जाती है। बहुधा ऐसे जन-नेता अत्याचारी शासकों के रूप में परिणत हो जाते हैं।

(ii) **वर्गतन्त्र में**—वर्गतन्त्र में सांविधानिक अस्थायित्व का कारण सत्ताधारी धनिकों द्वारा जनसाधारण के साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार किया जाना होता है। दूसरा कारण स्वयं धनिक सत्ताधारियों के मध्य पारस्परिक विरोध या प्रतिस्पर्धा है। कभी-कभी कुछ धनी लोग पदों से उपेक्षित रहने के कारण विद्रोही बन जाते हैं। परिणामस्वरूप जब उन लोगों को भी पद प्राप्त होने लगते हैं तो वर्गतन्त्र प्रजातन्त्र में या वैधानिक जनतन्त्र में परिणत हो जाते हैं। वर्गतन्त्र के अन्तर्गत सत्ताधारियों के मध्य पारस्परिक विरोध, वैमनस्य तथा स्वार्थपरता भी क्रान्ति का कारण बन जाती है। सत्ताधारी अपनी सत्ता को बढ़ाने में लीन रहते हैं। अतः स्वयं सत्ताधारी वर्गों के मध्य एक आन्तरिक वर्ग का बन जाना भी उन्हें स्वेच्छाचारी बनाता है। वैवाहिक सम्बन्ध भी कभी-कभी आपसी कलह का कारण बन जाते हैं।

(iii) **वैधानिक जनतन्त्र में**—वैधानिक जनतन्त्र में मध्यम वर्ग को अधिक पद प्राप्त होते हैं, जिसके लिए सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यता निर्धारित की जाती है। यदि कालान्तर में राज्य की समृद्धि बढ़ने से सम्पत्ति का विस्तार हो जाये तो सभी लोग पद धारण की योग्यता का दावा करने लगते हैं। यह रूप प्रजातान्त्रिक हो जाता है।

(iv) **कुलीनतन्त्र में**—कुलीनतन्त्र में क्रान्ति का मुख्य कारण केवल सीमित संख्या के व्यक्तियों को पद प्राप्त रहना है। यदि समाज में अधिक व्यक्ति अभिजात-वर्ग के शासकों की सी योग्यता का दावा करें, तो कलह उत्पन्न होना स्वाभाविक है। कुलीनतन्त्र तथा वैधानिक जनतन्त्रों के पतन का एक कारण इनमें निहित न्याय-तत्त्वों में सन्तुलन का अभाव होना है। यह तत्त्व हैं : धन, संख्या तथा योग्यता। इनमें से किसी तत्त्व का आधिक्य संविधान परिवर्तन का कारण हो जाता है।

(v) **राजतन्त्र या अत्याचारीतन्त्र में**—ऐसे राज्यों में क्रान्ति का मुख्य कारण शासकों का योग्य व्यक्तियों के साथ असम्मानपूर्ण व्यवहार का होना है। इनमें प्रतिष्ठा, भय, घृणा, यश की इच्छा आदि प्रतिष्ठित एवं योग्य व्यक्तियों को विद्रोही बनाने में सहायक होते हैं। राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र से तथा अत्याचारीतन्त्र, प्रजातन्त्र तथा वर्गतन्त्र से सामीप्य रखते हैं। अतः उनमें वर्णित क्रान्ति के कारण इन संविधानों में भी लागू होते हैं। अत्याचारीतन्त्र पड़ोसी राज्य में प्रचलित विरोधी संविधान होने से भी पड़ोसी राज्य के द्वारा नष्ट किया जा सकता है।

वैदेशिक प्रभाव भी किसी राज्य के अन्तर्गत क्रान्ति उत्पन्न कराने में सहायक सिद्ध होते हैं, यदि उनमें विरोधी प्रकृति का संविधान प्रचलित हो, विशेष रूप से पड़ोसी राज्य। राज्य में विरोधी तत्त्वों की प्रचुरता विद्रोह का कारण हो सकती है।

उपचार (Prevention)—मैक्सी के अनुसार, 'अरस्तू ने जिस स्पष्टता तथा विवेक के साथ क्रान्तियों के कारणों का विवेचन किया है, उसी रूप में उसने उनके उपचारों का वर्णन भी किया है।'[1] क्रान्तियों को रोकने के जिन उपचारों का विवेचन अरस्तू ने किया है वे पूर्णतया उसके द्वारा वर्णित कारणों से संगति रखते

[1] Maxey, *op. cit.*, 75.

हैं । अरस्तू द्वारा वर्णित अधिकांश कारण असमानता के प्रतिफल हैं । अतः उपचारों का उद्देश्य भी हर रूप में असमानता का निराकरण करना है । जहाँ कानून का उद्देश्य समानता बनाये रखना नहीं होता, वहाँ कानूनहीनता (lawlessness) फैल जाती है । इसी से क्रान्ति का जन्म होता है । अतः अरस्तू निम्न उपचारों का वर्णन करता है—

(1) कानून का पालन करने की भावना का पूर्णरूपेण संचार किया जाना चाहिए । अरस्तू का कथन है कि 'कानूनहीनता उसी प्रकार अज्ञात रूप से आती है जिस प्रकार यदि छोटे-छोटे व्यय लगातार होते रहते हैं तो उनका ज्ञान नहीं होता और वे शनैः शनैः सम्पूर्ण सम्पत्ति को हजम कर जाते हैं ।'[1]

(2) संविधान के कार्यान्वयन में विभिन्न वर्गों का समुचित सहयोग प्राप्त किया जाना आवश्यक है । उदाहरणार्थ, वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र में सत्ताधारियों को सभा की बैठकों में उपस्थित होने या न होने के लिए दण्ड अथवा वेतन देने की प्रथाएँ उचित नहीं हैं । इसी प्रकार किसी वर्ग-विशेष के साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार करके उन्हें पदों से वंचित रखना उचित नहीं है । प्रत्येक वर्ग का महत्त्व समझकर उसमें निहित तत्त्वों को मान्यता दी जानी चाहिए । किसी एक वर्ग के हाथ में अत्यधिक शक्ति का केन्द्रीकरण नहीं होना चाहिए । प्रत्येक वर्ग को यह विश्वास बना रहना चाहिए कि राजनीतिक पदों की प्राप्ति असम्भव नहीं है ।

(3) प्रतिष्ठा तथा पुरस्कार का वितरण न्यायपूर्ण ढंग से किया जाना चाहिए । इस कार्य में न केवल असमानता को ही तिरस्कृत करना चाहिए, बल्कि यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उच्च पदों का कार्यकाल बहुत कम हो । उनमें अधिक व्यक्तियों को नियुक्त होने का अवसर मिलेगा तो उससे हानि होने की आशंका कम रहेगी ।[2] पदाधिकारियों की लम्बी अवधि उन्हें अत्याचारी तथा निरंकुश बनाने में सहायक सिद्ध होती है ।

(4) जनता में देशभक्ति की भावना का संचार किया जाना चाहिए । 'जो शासक संविधान का संचालन करते हैं उन्हें जनता को सदैव चैतन्य रखना चाहिए कि कभी भी बाहर से संकट आ सकता है । अतः उसे (जनता को) रात्रि के सन्तरियों की भांति राज्य की सुरक्षा के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए ।' विदेशियों को शासन के पदों पर कभी भी नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए । उनमें देशभक्ति की भावना नहीं हो सकती ।

(5) राज्य में कानून तथा व्यवहार दोनों दृष्टियों से प्रमुख व्यक्तियों के मध्य कलह तथा विद्रोह उत्पन्न न होने देना चाहिए । जो लोग ऐसे कलहों में उलझ रहे हों उनके सम्बन्ध में ऐसे कलह उत्पन्न होने से पूर्व ही बचाव की व्यवस्था कर ली जानी चाहिए । विशेष रूप से वर्गतन्त्रों में ऐसी सम्भावनाएँ हो सकती हैं । अतः राजनेताओं को इनसे बचाव की व्यवस्था का ध्यान रखना चाहिए ।

(6) पद धारण की सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यता की व्यवस्था के अन्तर्गत समय-समय पर पदधारियों की सम्पत्ति का आगणन करते रहने की व्यवस्था की जानी

[1] 'Lawlessness may creep in unperceived—just as petty expenditures, constantly repeated, will gradually destroy the whole of fortune.' —*The Politics*, Bk. V, Ch VII, 2.

[2] 'Officers with a short tenure can hardly do as much harm as those who have a long tenure.' —*The Politics*, Bk. V, Ch. VIII, 7.

चाहिए और उसमें कमी या बेशी करते रहना चाहिए। अन्यथा यह सीमा स्थायी रहेगी तो कालान्तर में पदाभिलाषियों की संख्या बढ़ती जायेगी और उससे संविधान का रुख बदल जायेगा।

(7) प्रशासकों (magistrates) को ऐसा अवसर प्राप्त न होने दिया जाय कि वे अपने पद का दुरुपयोग अपने लाभ के लिए करने लगें अर्थात् वे अपने पद से धन अर्जित करने की दिशा में प्रवृत्त न होने लगें। अतः पदों का कार्यकाल नियन्त्रित रखा जाना चाहिए और सम्मानों के वितरण की प्रथा द्वारा किसी वर्ग विशेष को शक्तिशाली हो जाने का अवसर नहीं मिलना चाहिए। साधारणतया जनता ऐसी व्यवस्था में विद्रोही बनने लगती है जिसमें उसे यह आभास होने लगता है कि अधिकारी वर्ग सार्वजनिक धन का दुरुपयोग या गबन कर रहे हैं। अतः सार्वजनिक कोष से होने वाले व्यय की सार्वजनिक जाँच की जानी चाहिए।

(8) राज्य में सानुपातिक समानता की स्थापना के साधन अपनाये जाने चाहिए, जिसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना वास्तविक प्राप्य मिल सके। वर्गतन्त्र में सामान्य पद अल्पसंख्यक वर्गतन्त्रियों को तथा प्रजातन्त्र में बहुसंख्यक व्यक्तियों को दिये जाने चाहिए। परन्तु उच्च पद योग्यता, देशभक्ति तथा कार्य-कुशलता के आधार पर ही दिए जाने चाहिए। प्रजातन्त्र में धनिकों की सम्पत्ति की सुरक्षा की तथा वर्गतन्त्र में निर्धनों के अधिकारों तथा सम्मान की सुरक्षा की गारण्टी बनी रहनी चाहिए।

(9) राज्य की अर्थव्यवस्था को सन्तुलित रखा जाना चाहिए जिससे सम्पत्ति के अर्जन में असमानता न आने पाये। निर्धन वर्ग को भी यह अवसर मिलना चाहिए कि वह सम्पत्ति अर्जन तथा पद धारण की योग्यता प्राप्त करने की सुविधा प्राप्त कर सके। प्रजातान्त्रिक जन-नेता धनिकों का विरोध करते हैं। वे राज्य को वर्गों में विभाजित करने की चेष्टा करते हैं, जिनमें परस्पर फूट रहती है। अतः ऐसे जन-नेताओं के अभ्युदय को रोका जाना चाहिए।

(10) वैधानिक जनतन्त्र एवं मध्य श्रेणी के व्यक्तियों का शासन सर्वोत्तम व्यवस्था है, अतः उसकी स्थापना करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

(11) शासन व्यवस्था के अनुरूप शिक्षा की व्यापक व्यवस्था की जानी चाहिए। नवयुवकों को संविधान की भावना का प्रशिक्षण मिलना चाहिए। अरस्तू इस उपचार को सबसे महत्त्वपूर्ण मानता है। उत्तम से उत्तम कानून भी महत्त्वहीन रहते हैं, यदि जनता उनका पालन करने की दिशा में प्रवृत्त नहीं होती। जनता को संविधान की भावना के अन्तर्गत अपने को अनुशासित रखने की शिक्षा प्राप्त होनी चाहिए। उदाहरणार्थ, प्रजातन्त्र में लोग स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता न लें। वर्गतन्त्र में धनिक आरामदेह जीवन व्यतीत करने की ओर ही प्रवृत्त न रहें। संविधान के नियमों का पालन करना दासता नहीं है। ऐसा प्रशिक्षण जनसाधारण को शिक्षा की समुचित व्यवस्था द्वारा ही मिल सकता था।

राजतन्त्र में राजा के विशेषाधिकारों का न्यूनातिन्यून प्रयोग उसे स्थायित्व प्रदान करेगा। राजा को उदारता (moderation) की नीति अपनानी चाहिए। अरस्तू अत्याचारीतन्त्र की सुरक्षा के उपाय भी बताता है। उदाहरणार्थ, अत्याचारी शासक को क्रान्ति से बचने के लिए प्रजाजनों को सदैव कार्यरत रखना चाहिए। उन्हें अधिक धनी न बनने देना चाहिए। गुप्तचर व्यवस्था द्वारा सब सूचनाएँ प्राप्त करते

रहना चाहिए। शासक को सम्मान तथा पुरस्कार स्वयं वितरित करने चाहिए परन्तु दण्ड दूसरों के हाथ से दिलाना चाहिए। शासक में एक प्रकार के सैनिक गुण तथा आचरण होने चाहिए। यदि शासक सदैव भय का वातावरण बनाये रखे और लोगों को किसी भी रूप में क्रान्ति करने के अवसर न दे तो एक अत्याचारी शासक बहुत लम्बी अवधि तक बना रहेगा। शासक को एक राजा की तरह व्यवहार करने की चेष्टा करनी चाहिए। यदि ऐसा शासक राजतन्त्र की भाँति व्यवहार करने लगे, प्रशासन को कुशल बनाये, आत्म-नियन्त्रण का कदम उठाये, श्रेष्ठों का सम्मान करे और समाज के अधिकांश वर्गों तथा व्यक्तियों का समर्थन प्राप्त करता रहे तो उसका स्थायित्व बढ़ सकता है।

यद्यपि अरस्तू अत्याचारीतन्त्र को निकृष्टतम संविधान मानता है, तथापि वह उसके स्थायित्व के साधनों का भी क्रान्ति के उपचारों के साथ विशद विवेचन करता है। किन्तु अरस्तू की रुचि मुख्यतया वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र में थी, अतः वह क्रान्ति के उपचारों का विवेचन अधिकांशतः उन्हीं के सन्दर्भ में करता है। अन्त में, वह अपने आदर्श संविधान के सिद्धान्त का अनुगमन करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि चूँकि किसी भी रूप में असमानता का अस्तित्व ही क्रान्ति को जन्म देता है, इसलिए उसे दूर करना चाहिए और वैधानिक राजतन्त्र ऐसी व्यवस्था है जिसमें असमानता का तत्त्व न्यूनातिन्यून मात्रा में पाया जाता है और मध्य श्रेणी के व्यक्तियों में शासन सत्ता का निहित होना सर्वोत्तम व्यवस्था है, अतः ऐसी व्यवस्था की स्थापना की जानी चाहिए।

इसमें सन्देह नहीं कि अरस्तू ने क्रान्ति के कारणों तथा उनके निराकरण के साधनों का एक ऐसा विवेचन प्रस्तुत किया है जो पूर्णतया वास्तविक तथा व्यावहारिक है। उनका अध्ययन न केवल प्राचीन ग्रीक नगर-राज्यों की शासन-व्यवस्था के लिए ही उपयुक्त है, अपितु वह युग-युग की व्यवस्थाओं में व्यवहार्य हो सकता है। मैक्सी ने उचित ही कहा है कि 'विद्रोहों को रोकने के जिन साधनों का प्रतिपादन अरस्तू ने किया है, क्या आधुनिक राजनीति-विज्ञान उनसे अधिक कोई निश्चयात्मक साधन प्रस्तुत कर पायेगा?'[1]

अरस्तू तथा उदारवाद (Aristotle as the first Whig)

उदारवाद या ह्विगवाद 17वीं शताब्दी में विकसित इंग्लैण्ड की एक विचारधारा है। इसका अभ्युदय इंग्लैण्ड में उस काल में स्थापित ह्विग राजनीतिक दल के साथ हुआ था। उस समय इंग्लैण्ड में टोरी तथा ह्विग दो राजनीतिक दल थे। इंग्लैण्ड का प्रसिद्ध व्यक्तिवादी चिन्तक जॉन लॉक ह्विग दल का एक सक्रिय कार्यकर्त्ता था। 1688 में इंग्लैण्ड में जो रक्तहीन राज्य-क्रान्ति हुई थी उसके परिणामस्वरूप राजा जेम्स द्वितीय को राजपद छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा था। यह क्रान्ति ह्विग दल के आह्वान पर हुई मानी जाती है और लॉक के राजनीतिक विचार इस क्रान्ति के पृष्ठपोषक माने जाते हैं। अतएव लॉक की उदारवादी विचारधारा और उसमें बाद में इस दल के एक प्रमुख नेता तथा चिन्तक बर्क ने जो संशोधन या परिवर्तन किये उन्हें ह्विगवाद की संज्ञा दी जाती है। अरस्तू को सबसे

[1] 'Can modern political science prescribe any surer remedies than these to counteract the virus of revolution?' —Maxey. *op. cit.*, 76.

पहला ह्विग कहने का क्या औचित्य है, इसके निमित्त ह्विगवाद की विशेषताओं का उल्लेख करके उनके साथ अरस्तू के विचारों की तुलना करना ठीक प्रतीत होता है।

1688 के क्रान्तिकारी ह्विग नेता, जैसा लॉक के विचारों से स्पष्ट होता है, व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार को सबसे बड़ा प्राकृतिक अधिकार मानते थे। अतः वे इस अधिकार की सुरक्षा के निमित्त न केवल राज्य की सत्ता को ही मर्यादित रखने का लक्ष्य रखते थे, वरन् वे समाज के गरीब वर्ग द्वारा इसके विरुद्ध आवाज उठाने से भी चिन्तित रहते थे। इसी आधार पर बर्क ने भी लोकतन्त्र का विरोध किया था और वह राज्य की सत्ता को धनी कुलीन वर्ग के हाथ में रखने की धारणा का समर्थक रहा था। यह ह्विगवादी या उदारवादी प्रवृत्ति बाद में 19वीं शताब्दी तक अनेक विचारकों में बनी रही। जॉन स्टुअर्ट मिल भी इसी उदारवादी विचार-धारा का समर्थक था। ह्विगवाद लोकतन्त्र का विरोधी नहीं है प्रत्युत् उसके बहुत से समर्थक निरंकुशतन्त्र के विरोधी हैं और वे शासन को जनता की सहमति द्वारा संचालित किये जाने की नीति के समर्थक हैं। परन्तु वे व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार पर किसी भी प्रकार के नियन्त्रण को स्वीकार नहीं करते। जन-समूह को, जो अधिकांशतः निर्धनों का होता है, शासन-सत्ता के ऊपर अंकुश रखने की शक्ति देना ह्विगवाद के विरुद्ध है। ये लोग उदारवाद के साथ-साथ रूढ़िवाद के भी समर्थक हैं। राजनीतिक परिवर्तनों या सामाजिक तथा आर्थिक सुधारों को शनैः शनैः लाना इनकी प्रमुख नीति थी। ये लोग धार्मिक सहिष्णुता की नीति के समर्थक थे और राजनीति में चर्च के हस्तक्षेप को अवांछनीय मानते थे। इनकी एक प्रमुख धारणा यह थी कि मानव मूलतः असमान होते हैं। वे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के भी समर्थक थे, परन्तु वे राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को शासन करने के लिए सक्षम नहीं मानते। इस प्रकार उदारवादी-रूढ़िवाद (liberal conservation) ह्विगवाद की एक प्रमुख विशेषता थी।

जहाँ तक अरस्तू के विचारों में ह्विगवादी प्रवृत्तियों के समर्थन का प्रश्न है, कुछ बातें तो पूर्णतया स्पष्ट हैं। अरस्तू भी यह मानता है कि प्रकृतितः सब मानव समान नहीं होते। अरस्तू असमानता को प्राकृतिक मानता था, न कि समानता को। इसी आधार पर वह लोकतन्त्र का समर्थक होते हुए भी यह मानता है कि 'कुछ लोग प्रकृतितः शासन करने के लिए तथा कुछ शासित होने के लिए पैदा हुए हैं।' एक प्रकृतिवादी विचारक होने के नाते वह प्राकृतिक असमानता को बनाये रखने का पक्ष लेता है। इसलिए उसने क्रान्तियों का विवेचन करने में भले ही असमानता को क्रान्तियों को कारण माना है, तथापि वह अनुपाती समानता को बनाये रखना ही उचित मानता है, न कि निरपेक्ष समानता को। उसकी नागरिकता सम्बन्धी धारणा स्पष्टतः उसके ह्विगवाद की समर्थक है। उसकी विचारधारा में नागरिकता का अधिकार इतना सीमित है कि राज्य के शासन में भाग लेने वाले नागरिक एक बहुत छोटे वर्ग का निर्माण करते हैं। उसका रूढ़िवाद इससे भी प्रकट होता है कि वह महिलाओं को भी नागरिकता के अधिकार से वंचित रखता है।

सम्पत्ति के आधार पर अरस्तू के विचारों में ह्विगवाद का समर्थन पर्याप्त मात्रा में मिलता है। अरस्तू व्यक्तिगत सम्पत्ति का न केवल समर्थक था, अपितु वह सम्पत्ति धारण करना नागरिकता की एक प्रमुख अर्हता मानता है। उसके मत से नागरिकता की प्रमुख शर्त शासन करने तथा शासित हो सकने की क्षमता का होना

है। शासन करने का अभिप्राय राज्य के विधायी एवं न्यायिक कार्यों में भाग लेना है। अरस्तू का कहना है कि ये दोनों ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य है कि जब तक नागरिक भौतिक चिन्ताओं से मुक्त न हो तब तक वह इन कार्यों को सम्पन्न करने के लिए समुचित अवकाश (leisure) नहीं प्राप्त कर सकता। अतः उसके पास पर्याप्त सम्पत्ति होनी चाहिए। पर्याप्त सम्पत्ति से अरस्तू का अभिप्राय भू-सम्पत्ति से था। उस युग में भू-सम्पत्ति ही उत्पादन का प्रमुख साधन थी। अतः अरस्तू का मत था कि नागरिक के पास पर्याप्त भू-सम्पत्ति तो हो परन्तु नागरिक उसके उपयोग में स्वयं श्रम न करे, बल्कि भू-सम्पत्ति से उत्पादन का कार्य दास लोग करें। शारीरिक श्रम करना नागरिकता के लिए एक अनर्हता मानी गयी है। सम्पत्ति की ऐसी धारणा ह्विगवादी विचारधारा की पूर्वगामी धारणा ही मानी जा सकती है। अन्तर यही है कि अरस्तू सम्पत्ति को सुखी जीवन तथा उत्तम नागरिकता की उपलब्धि का साधन मानता था, न कि उससे लाभ अर्जित करके उसके विस्तार का साधन। इस दृष्टि से उसे ह्विगवाद का समर्थक नहीं माना जा सकता।

शासनों का वर्गीकरण करने के उपरान्त अरस्तू ने सर्वोत्तम शासन प्रणाली उसे माना है, जिसमें राज्य की सत्ता मध्यम श्रेणी के लोगों के हाथ में रहती है। ह्विगों की भाँति अरस्तू भी सामान्य लोकतन्त्र का समर्थन नहीं करता। शासनों के वर्गीकरण में अरस्तू ने लोकतन्त्र को एक विकृत रूप की शासन प्रणाली की श्रेणी प्रदान की है। वह सर्वोत्तम शासन प्रणाली वैधानिक जनतन्त्र (polity) को मानता है, जिसमें कुलीनतन्त्र तथा लोकतन्त्र के तत्त्वों का सम्मिश्रण माना गया है। यद्यपि लॉक की भाँति अरस्तू भी बहुमत के शासन का समर्थन करता है, तथापि अरस्तू का उद्देश्य यह था कि बहुमत संख्यात्मक ही न हो बल्कि गुणात्मक भी हो। वैधानिक जनतन्त्र में योग्यता का संख्या के साथ तथा धन का गरीबी के साथ सम्मिश्रण हो जाता है। अतएव उसमें शासन-सत्ता बहुसंख्यक मध्यम वर्ग के हाथ में रहती है। अरस्तू उदारवादी शिक्षा-व्यवस्था का भी समर्थन करता है, और यह धारणा ह्विगवादी नीतियों में भी थी। ह्विग विचारक बर्क की भाँति अरस्तू भी ऐसी क्रान्तियों को अवांछनीय मानता है जो परम्परागत संस्थाओं को ही समाप्त कर देती हैं। अरस्तू ने क्रान्तियों के विभिन्न रूपों की चर्चा करते हुए क्रान्ति का एक उद्देश्य राज्य या संविधान को ही बदल देना कहा है। अतएव इनसे बचने के निमित्त वह भी बर्क की भाँति अवरोध तथा सन्तुलन को बनाये रखने की आवश्यकता पर बल देता है।

इन दृष्टियों से अरस्तू को सबसे पहला ह्विग कहने में कोई अनौचित्य प्रतीत नहीं होता। यह दूसरी बात है कि जिन परिस्थितियों में 17वीं से 19वीं शताब्दी तक ह्विगवादी प्रवृत्तियों का विकास हुआ था वे अरस्तू के सामने की परिस्थितियों से भिन्न प्रकार की थीं और अरस्तू के कुछ आदर्शों तथा ह्विगवादी आदर्शों मे बहुत भिन्नता भी थी, तथापि अरस्तू के अनेक विचार ह्विग प्रवृत्तियाँ अवश्य रखते हैं।

आदर्श राज्य

अरस्तू की आदर्श राज्य की धारणा प्लेटो से भिन्न प्रकृति की है। प्लेटो का उद्देश्य राज्य के ऐसे आदर्शों का चित्रण करना था जो हर प्रकार से पूर्ण हों और किसी भी देश-काल के लिए आदर्श सिद्ध हों। उसने यह चिन्ता नहीं की कि उसका आदर्श राज्य व्यवहार में स्थापित भी हो सकेगा या नहीं। परन्तु अरस्तू एक

यथार्थवादी था, अतएव आदर्श राज्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने मे वह यथार्थ राज्यों का विश्लेषण करते हुए उनके गुण-दोषों का विवेचन करने के उपरान्त एक सर्वोत्तम राज्य की विविध आवश्यकताओं का परीक्षण करके उसके सिद्धान्तों का निरूपण करता है। अतएव कौनसा राज्य आदर्श कहा जा सकेगा, इसका उसके दर्शन में कोई निश्चित उत्तर नही मिलता। उसके विचार से सर्वोत्तम राज्य का परीक्षण करने के लिए हमें केवल यही नहीं देखना चाहिए कि राज्य का कौनसा रूप आदर्शात्मक दृष्टि से सर्वोत्तम है, बल्कि यह भी देखना चाहिए कि वास्तविक व्यवहार तथा निवर्तमान परिस्थितियों में कौनसा रूप सर्वोत्तम ढंग से प्राप्त किया जा सकता है। अरस्तू राजतन्त्र एवं कुलीनतन्त्र को उत्तम व्यवस्थाएँ मानता है, क्योंकि उनमें योग्यों तथा गुणवानों का शासन विद्यमान रहता है। परन्तु उसे सन्देह है कि ऐसी व्यवस्थाएँ व्यवहार में सुलभ भी हो सकेंगी या नहीं। साथ ही योग्यों तथा गुणवानों द्वारा शासित राज्य ही आदर्श राज्य का आभास करने की कसौटी नहीं है, अपितु आदर्श राज्य की जाँच की कसौटी उसके उद्देश्य एवं अन्य परिस्थितियाँ भी हैं।

राज्य का उद्देश्य उत्तम जीवन की प्राप्ति है—संविधान (राज्य) की परिभाषा करते हुए अरस्तू उसे एक 'जीवन प्रणाली' (a way of life) भी कहता है। राज्य का उद्देश्य केवल उत्तम नागरिकों का सृजन करना नहीं है, बल्कि 'उत्तम नागरिक' वह है जो साथ-साथ 'उत्तम व्यक्ति' भी हो। राज्य के व्यक्ति उत्तम जीवन व्यतीत करते हैं तो उसे उत्तम राज्य कहा जा सकता है। व्यक्तियों को सर्वोत्कृष्ट उत्तमता (the highest good) प्राप्त कराना राज्य का उद्देश्य होना चाहिए। सर्वोत्तम उत्तमता में तीन तत्त्व होने चाहिए—बाह्य, शारीरिक तथा आत्मिक सम्पन्नता (external goods, goods of the body, and goods of the soul)। बाह्य सम्पन्नता का अभिप्राय उस भौतिक सम्पत्ति से है, जो जीवन के भरण-पोषण के लिए आवश्यक है। इसे भू-सम्पत्ति के रूप में माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से स्वस्थ भी हों और उनकी आत्मा विवेक, उत्साह, आत्म-संयम तथा न्याय के गुणों से सम्पन्न हो। जो राज्य स्वयं अपने जीवन को तथा अपने सदस्य नागरिकों को जीवन की इन उत्तमोत्तम भलाइयों को प्रदान करा सकता है वह सर्वोत्तम अथवा आदर्श राज्य कहा जा सकता है। उत्तमत्ता तथा सुख (goodness and happiness) दोनों को व्यक्ति साथ-साथ प्राप्त करता है। 'उत्तमत्ता मनुष्य को कभी नष्ट न होने वाली फसल प्रदान करती है जो सोने से भी उत्तम है, पूर्वजों से भी उत्तम है, जो शान्त निद्रा से भी उत्तम है।'[1] अतः उत्तम जीवन की प्राप्ति तथा सुखमय जीवन प्रदान करना राज्य का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। यह दोनों बातें व्यक्ति तथा राज्य दोनों के लिए समान रूप से आवश्यक हैं। राज्य की सैनिक शक्ति का सुदृढ़ होना राज्य का अन्तिम उद्देश्य नहीं है। वह राज्य के उत्तम जीवन का एक साधन मात्र हो सकता है, ताकि पड़ोसी राज्यों द्वारा आक्रमण किये जाने की स्थिति में राज्य अपने नागरिकों को बचा सके।

संविधान का रूप वैधानिक जनतन्त्र हो—आदर्श राज्य की दूसरी आवश्यकता सर्वोत्तम व्यावहारिक संविधान का होना है। अरस्तू ने जिन छः प्रकार के सविधानों

[1] 'Goodness brings to the mind a harvest undying, better than gold, better than ancestors, better than soft eyed-sleep.'—Barker, *Politics of Aristotle*, 282.

का विवेचन किया है उनके विविध तत्त्वों का परीक्षण करने के उपरान्त उसका निष्कर्ष यह है कि सिद्धान्ततः वैधानिक जनतन्त्र (polity) सर्वोत्तम सविधान है, जो व्यावहारिक दृष्टि से भी सबसे उत्तम व्यवस्था सिद्ध हो सकती है। इसमें सम्प्रभु शक्ति का प्रयोग मध्यम-श्रेणी के व्यक्तियों के हाथ मे रहता है और राज्य में मध्यम-श्रेणी के व्यक्तियों की सख्या अधिक होने से यह व्यवस्था वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र के दोषों से मुक्त रहेगी। जिस राज्य में धनिकों अथवा निर्धनों की सत्ता विद्यमान रहती है, उस राज्य में इन दो में से किसी भी एक तत्त्व का आधिक्य समस्त बुराइयों को जन्म देता है। यदि इन दो वर्गों के मध्य पारस्परिक कलह बढ़ने लगता है तो राज्य के नागरिकों के मध्य बन्धुत्व की भावना नष्ट हो जाती है। इसका परिणाम क्रान्ति होता है। क्रान्ति राज्य के स्थायित्व के लिए घातक है। अतः आदर्श संविधान (राज्य) वह है, जहाँ मध्यम-श्रेणी के व्यक्ति सत्ताधारी होते हैं। इस व्यवस्था में समस्त या अधिकांश नागरिकों को राजनीतिक सत्ता तथा पद प्राप्त रहते है और यह माना जाता है कि राजनीतिक ज्ञान तथा नागरिक गुण केवल थोड़े से व्यक्तियों का विशेषाधिकार नही है।

विधि का शासन—आदर्श राज्य की तीसरी आवश्यकता विधि का शासन है। चूंकि विधि या कानून नागरिकों के मध्य समानता की धारणा का द्योतक है और उसका मूल मानव-विवेक तथा जन-परम्पराएँ है, अतः जिस राज्य में कानून को सर्वोपरि मानकर उसी के अनुसार शासन-व्यवस्था का संचालन होगा उस राज्य में क्रान्ति की सम्भावना नहीं रहेगी। एक व्यक्ति या थोड़े से व्यक्ति चाहे कितने ही विवेकशील, ज्ञानवान तथा दार्शनिक क्यों न हों, उनका आदेश कानून के तुल्य नहीं हो सकता। अतः कानून को सम्प्रभु होना चाहिए।

संरचना—आदर्श राज्य की चौथी आवश्यकता उसकी भौतिक संरचना है। इसका अभिप्राय राज्य के प्रादेशिक आकार, भौगोलिक परिस्थितियाँ, जनसख्या तथा उसके चरित्र से है। यदि इन दृष्टियों से राज्य उपयुक्त वातावरण प्राप्त करता है तो वह अपने उद्देश्य की प्राप्ति में समर्थ रह सकेगा। अरस्तू का आदर्श राज्य सदैव उसके युग का ग्रीक नगर-राज्य है, न कि एक विशाल साम्राज्य या राष्ट्रीय राज्य। राज्य का प्रादेशिक आकार न बहुत बड़ा हो, न अत्यन्त छोटा। वह निवासियों को आर्थिक आत्म-निर्भरता प्रदान करने के लिए पर्याप्त होना चाहिए, जिसमें लोग आरामदेह जीवन व्यतीत कर सकें। प्रदेश की भूमि उर्वर होनी चाहिए और उसमें प्राकृतिक सम्पत्ति (वनस्पति, खनिज आदि) की प्रचुरता होनी चाहिए, ताकि न तो जनता कंजूसी का जीवन व्यतीत करे और न फिजूल-खर्ची का। राज्य की सीमा उसकी प्रतिरक्षा के लिए उपयुक्त होनी चाहिए। प्रतिरक्षा के लिए यह भी आवश्यक है कि राज्य का आकार इतना ही बड़ा हो जिसका ज्ञान समस्त जनता को हो सके। सामुद्रिक एवं प्रादेशिक यातायात सुलभ होने चाहिए जो व्यापार व्यवसाय, प्रतिरक्षा आदि के लिए आवश्यक हैं। राज्य की जनसंख्या न बहुत अधिक हो जिसमें कि कानून तथा व्यवस्था को लागू करने में कठिनाई हो, और न इतनी कम हो कि वह आत्म-निर्भर न हो सके। नागरिक महानता का मापदण्ड अधिक जनसंख्या नहीं है। समुचित नागरिक-कृत्यों के सम्पादन के लिए इतनी जनसख्या हो कि नागरिक एक-दूसरे को जान सकें। अरस्तू का कथन है कि 'राज्य न तो दस व्यक्तियों से निर्मित होता है और न दस लाख व्यक्तियों से।' जनसंख्या के सम्बन्ध में भी प्रदेश की भाँति

अरस्तू आत्म-निर्भरता के तथ्य को प्रमुख मानता है। राज्य की भौतिक परिस्थितियाँ समस्त जनसंख्या को आत्म-निर्भर बना सकें, इसी आधार पर जनसंख्या का आकार होना चाहिए। केवल उपयुक्त मात्रा में जनसंख्या का कम या अधिक न होना पर्याप्त नहीं है। नागरिक दायित्वों को समुचित रूप से सम्पन्न करने की क्षमता भी नागरिकों में होनी चाहिए। अरस्तू उन्हीं व्यक्तियों को नागरिक मानता है जिनमें शासन करने तथा शासित करने तथा शासित होने की क्षमता होती है। परन्तु वह नागरिकों के चरित्र की तुलना अन्य दृष्टान्तों द्वारा भी करता है। उसके विचार से नागरिकों में यूरोप के ठण्डे देशों के निवासियों की भाँति उच्च उत्साह तथा एशिया के लोगों की भांति के चातुर्य तथा बुद्धि का सम्मिश्रण होना चाहिए। इस सम्मिश्रण के गुण के अस्तित्व को अरस्तू ग्रीकों में स्वीकार करता है। जनता में पारस्परिक मैत्री की भावना होनी चाहिए। एक राज्य की जनता दूसरे राज्य की जनता को मित्रवत् समझे ? साथ ही एक राज्य के व्यक्ति एक-दूसरे को भी मित्रवत् समझें। जनता विविध प्रकार के तत्त्वों से युक्त होनी चाहिए। अर्थात् उसमें कृषक, शिल्पी, वीर-योद्धा, धार्मिक पुजारी, प्रशासक तथा धनवान सभी प्रकार के लोग होने चाहिए। इन समस्त तत्त्वों से युक्त व्यक्ति राज्य के जीवन को आत्म-निर्भर बनाने में सफल सिद्ध होंगे। स्वतन्त्र नागरिकता के निर्माण में तथा समानता की भावना के संचार में इन विविध तत्त्वों से युक्त व्यक्तियों का होना आवश्यक है। ऐसे समाज में प्रत्येक नागरिक शासन करने तथा शासित होने की क्षमता रख सकता है।

सामाजिक आर्थिक संगठन—उपर्युक्त छः तत्त्वों से युक्त (कृषक, शिल्पी आदि) राजनीतिक समाज छः वर्गों से युक्त होगा। परन्तु यह छः प्रकार के कार्य विभिन्न प्रकार के नागरिक वर्गों में पृथक्-पृथक् नहीं होंगे। कृषक तथा शिल्पी पूर्ण नागरिक नहीं हो सकते, क्योंकि नागरिकता के लिए शारीरिक श्रम से विश्राम की आवश्यकता होती है। प्रतिरक्षा, धार्मिक कार्य, प्रशासन एवं न्यायिक कार्य कभी एक ही नागरिक जन-समूह द्वारा और कभी-कभी विभिन्न नागरिक जन-समूहों द्वारा सम्पन्न किये जाने चाहिए। जैसे प्रतिरक्षा युवकों का कार्य है, प्रशासनिक कार्य मध्यम उम्र के व्यक्तियों का, तथा धार्मिक कार्य वृद्ध व्यक्तियों का। सम्पत्ति समस्त पूर्ण नागरिकों को रखनी चाहिए। जहाँ तक भू-सम्पत्ति के स्वामित्व का प्रश्न है, कुछ भूमि सार्वजनिक उपयोग के लिए निर्धारित की जानी चाहिए। इसके उत्पादन का उपयोग सामूहिक भोजनालयों के लिए किया जायेगा। शेष सम्पत्ति का स्वामित्व वैयक्तिक होना चाहिए। भूमि में काश्तकारी का कार्य दासों तथा सेवकों द्वारा किया जाना चाहिए। इसके उपरान्त अरस्तू राज्य के केन्द्रीय नगर अर्थात् राजधानी (central city) के नियोजन की व्यवस्था भी बताता है। यहाँ पर स्मरणीय है कि अरस्तू राजधानी के नगर की व्यवस्था को प्राचीन विद्वानों की ही भाँति महत्त्वपूर्ण मानता है। प्राचीन भारतीय राज्य-सप्तांग-सिद्धान्त के अन्तर्गत भी पुर या दुर्ग को राज्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता था। नगर-नियोजन में अरस्तू चार बातों पर ध्यान देने के महत्त्व को समझाता है—स्वास्थ्य, प्रतिरक्षात्मक व्यवस्था, राजनीतिक कार्यों को सम्पन्न करने की सुविधा तथा नगर-सौन्दर्य।

शिक्षा—आदर्श राज्य की उपलब्धि के लिए अरस्तू शिक्षा की व्यवस्था पर भी बहुत महत्त्व देता है। अरस्तू ने प्लेटो की विचारधारा के विविध पक्षों को दोष-पूर्ण बताते हुए उनकी आलोचना की है। यहाँ तक कि प्लेटो के लॉज के विचारों,

जिनके आधार पर ही अरस्तू अपने आदर्श राज्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है, तक की उसने आलोचना की है। परन्तु वह प्लेटो के शिक्षा-सिद्धान्त से बहुत अधिक प्रभावित है और उसकी आलोचना नहीं करता। उत्तमता (goodness) तथा सुख (felicity) मनुष्य जीवन के तथा राज्य के अन्तिम उद्देश्य हैं। चूंकि संविधान एक जीवन प्रणाली है, अतः सर्वोत्तम या आदर्श संविधान सर्वोत्तम जीवन प्रणाली है। अत: एक आदर्श राज्य वह है, जो सर्वोत्तम सुख प्राप्त करने की दिशा में सचेष्ट रहता है। इसके लिए व्यक्तियों के प्राकृतिक चरित्र (natural endowments) के अतिरिक्त उनमें ऐसे विवेक (rational principles) तथा आदतों (habits) का विकास करने की आवश्यकता है जिनके द्वारा व्यक्ति अपने अन्तिम उद्देश्य को प्राप्त कर सकें। यह साधन शिक्षा है। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य व्यक्तियों में उन गुणों का विकास करना है जिनके द्वारा वे शासक तथा शासित होना सीखें, साथ ही वे केवल उत्तम नागरिक ही न बनें बल्कि उत्तम मानव भी बन सकें। यहाँ पर अरस्तू प्लेटो की उस योजना का विरोधी हो जाता है जिसके अनुसार शिक्षा केवल शासक वर्ग के लिए ही निर्धारित की गयी है। अरस्तू की शिक्षा योजना का उद्देश्य शासक तथा शासितों दोनों को अलग-अलग प्रकार की शिक्षा देना है। परन्तु उसके शासित वर्ग (अर्थात् नवयुवक) केवल शासित रहने की शिक्षा ही ग्रहण नहीं करेंगे, बल्कि भविष्य में शासक बनने की शिक्षा भी ग्रहण करेंगे। शिक्षा का उद्देश्य मानव-आत्मा तथा मानव-जीवन के समस्त पक्षों का विकास करना होना चाहिए। इसका आशय यह है कि शिक्षा उत्तम नागरिकता के गुणों का विकास करने तथा नागरिकों को शान्तिपूर्ण तथा आरामदेह जीवन प्रदान करने का साधन हो। अरस्तू स्पार्टा की सैनिक शिक्षा के स्वरूप को शान्ति में बाधक मानता है। परन्तु आराम को वह निष्क्रियता नहीं मानता। उसके विचार से शान्ति, आराम और क्रियाशीलता, मानव-आत्मा के विवेक तथा उत्साह तत्त्वों को विकसित करने के साधन हैं। अत: शिक्षा मानव-आत्मा तथा जीवन को पूर्णता प्रदान करने का साधन होनी चाहिए। शिक्षा का एक उद्देश्य विधायकों को प्रशिक्षण प्रदान करना भी है ताकि आदर्श राज्य की व्यवस्था के लिए समुचित प्रकार के कानून निर्मित करने का ज्ञान उन्हें प्राप्त हो जाये।

शिक्षा के स्तर तथा पाठ्यक्रम के निर्धारण में वह बहुत कुछ अंश में प्लेटो की पद्धति का अनुगमन करता है। सर्वप्रथम वह सन्तानोत्पादन की शिक्षा को महत्त्व देता है। उसके मत से विवाह की उम्र पुरुष के लिए 37 वर्ष तथा स्त्री के लिए 18 वर्ष से न्यून नहीं होनी चाहिए। जनसंख्या को नियन्त्रित रखने के लिए नियोजित परिवार की आवश्यकता पर भी उसने बहुत बल दिया है। अत: विधायकों को कानून द्वारा विवाह के समय, परिस्थितियों, सन्तानोत्पादन तथा सन्तान की शिक्षा-दीक्षा, पालन-पोषण आदि को नियमित करना चाहिए।

शिक्षा का कार्यक्रम जन्म से ही प्रारम्भ हो जाता है। बच्चों की भोजन व्यवस्था तथा उनके शारीरिक विकास का ज्ञान प्रारम्भिक स्तर की शिक्षा है। 5 वर्ष तक की आयु के बच्चों को खेलना, कहानी सुनाना, बुरी संगति से बचाना, अपशब्दों को सुनने से रोकना, बुरे चित्रों को देखने से बचाना आदि आवश्यक हैं। अरस्तू का मत है कि 'प्रथम अनुभव प्रभावशाली होते हैं, अतः इस उम्र में बच्चों को अवांछित तथा तुच्छ बातों के संसर्ग में नहीं आने देना चाहिए। 5 से 7 वर्ष तक

की उम्र के बच्चों को उन कार्य-कलापों को देखने का अवसर मिलना चाहिए जिन्हें कालान्तर में उन्हे स्वय करना पड़ेगा। 7 से 21 वर्ष तक की उम्र की शिक्षा को पुन: दो स्तरों मे बाँटा गया है।

अरस्तू की शिक्षा योजना का अभिप्राय, संविधान का उद्देश्य (जिसे वह 'एक जीवन प्रणाली' कहता है) सम्पन्न करना है। अत: शिक्षा का नियमन राज्य द्वारा किया जाना चाहिए, न कि व्यक्तिगत प्रयास द्वारा जैसा कि अरस्तू के काल में एथेंस में हुआ करता था। शिक्षा का पाठ्यक्रम संविधान के अनुकूल होना चाहिए। शिक्षा के पाठ्यक्रम में ऐसे विषय निर्धारित किये जायें जो उपयोगिता, नैतिक अनुशासन ज्ञान वृद्धि में सहायक हों। इस दृष्टि से अरस्तू पढ़ने-लिखने, चित्रकला, व्यायाम तथा सगीत की शिक्षा[1] पर बल देता है। इनमें से प्रथम दो उपयोगिता की दृष्टि से, तृतीय उत्साह के नैतिक गुण की दृष्टि से तथा चतुर्थ सम्भवत: आराम (leisure) की दृष्टि से आवश्यक है। उसकी दृष्टि से अत्यधिक व्यायाम की शिक्षा अवांछनीय है। अत: इसका प्रयोग इतना ही हो कि वह मानसिक शिक्षा हेतु समुचित शारीरिक श्रम तक सीमित रहे। सगीत विश्राम तथा मनोरंजन के लिए आवश्यक है। साथ ही यह आचारिक प्रशिक्षण प्रदान करता है और मानसिक गुणों का विकास भी करता है।

अरस्तू ने संगीत की शिक्षा पर बहुत विवेचन किया है। परन्तु वह अपने ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' के शेष भाग को पूर्ण न कर पाया। इसलिए शिक्षा का विवेचन अधूरा रह गया। सम्भवत: शिक्षा की पूर्ण योजना प्रस्तुत करने में अरस्तू को बहुत कुछ और कहना था। 21 वर्ष तक की उम्र मे शिक्षा के अन्तर्गत पढ़ने-लिखने में क्या विषय होने चाहिए तथा इस उम्र के पश्चात् नागरिक-कृत्यों के सफल कार्यान्वियन हेतु शिक्षा की क्या व्यवस्था होनी चाहिए, आदि बातों का विवेचन अरस्तू नहीं कर पाया।

अरस्तू द्वारा प्रतिपादित राज्य के आदर्शों का उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन इस बात को दर्शाता है कि उनकी उपलब्धि तथा उनके समुचित कार्यान्वियन द्वारा स्थापित व्यवस्था आदर्श-राज्य (ideal state) की व्यवस्था है। अरस्तू का ऐसा आदर्श-राज्य स्वप्नलोकी आदर्शों को प्रस्तुत नहीं करता। प्लेटो के रिपब्लिक में एक स्वप्नलोकी आदर्श-राज्य का चित्रण किया था, जिसकी अव्यावहारिकता को देखते हुए अरस्तू ने उसकी घोर आलोचना की थी। अरस्तू यथार्थवादी था, अत: उसने यथार्थ राज्यों का अध्ययन करके तुलना, पर्यवेक्षण एवं वैज्ञानिक शोध द्वारा आदर्श-राज्य के निर्माण हेतु ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है जिनका अनुगमन करके राजनेता एक व्यावहारिक आदर्श-राज्य की स्थापना करने में सफल हो सकते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि प्लेटो ने अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में अपने आदर्श-राज्य की व्यावहारिकता पर सन्देह करते हुए, लॉज नामक ग्रन्थ में द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य के आदर्शों का प्रतिपादन किया था। उस काल में अरस्तू प्लेटो का शिष्य था। अत: अरस्तू ने अपने आदर्श-राज्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने में लॉज के अनेक सिद्धान्तों को (यथा, विधि का शासन, मिश्रित राज्य के तत्त्व, शिक्षा, सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था, राज्य की संरचना तथा संगठन) अपनाया है। उन्हीं सिद्धान्तों को अपने ढंग से व्यक्त करके उसने अपने आदर्श-राज्य की नींव

[1] Reading and writing, drawing, gymnastics and music.

सुदृढ़ की है । सैबाइन ने उचित ही कहा है कि 'जिसे अरस्तू आदर्श-राज्य कहता है, वह सदैव प्लेटो का द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य है ।'

अरस्तू के विचारों में प्लेटोवाद

बहुधा ग्रीस के दो प्रसिद्ध दार्शनिकों—प्लेटो तथा अरस्तू—के राजनीतिक विचारों के आलोचक दोनों के मध्य भारी भेद दर्शाते हैं । उदाहरण के लिए प्लेटो को आदर्शवादी, स्वप्नलोकी, कल्पनावादी, क्रान्तिवादी, निगमनात्मक, संश्लेषणवादी आदि प्रवृत्तियों का चिन्तक कहा जाता है तो अरस्तू को यथार्थवादी, वैज्ञानिक, व्यवहारवादी, उपयोगितावादी, आगमनात्मक, विश्लेषणात्मक आदि की पद्धतियों को अपनाने वाला माना जाता है । अरस्तू प्लेटो का शिष्य था । वह उस अवधि में प्लेटो के शिक्षालय में रहा था जबकि स्वयं प्लेटो को अपने 'रिपब्लिक' के विचारों की आदर्शवादिता में सन्देह होने लग गया था और वह अपने ग्रन्थ 'लॉज' की रचना कर रहा था । स्वयं अरस्तू ने प्लेटो के अनेक आदर्शवादी तथा स्वप्नलोकी विचारों की आलोचना की है, विशेष रूप से प्लेटो के 'रिपब्लिक' में वर्णित साम्यवादी विचारों का वह कटु आलोचक रहा है । परन्तु इन आलोचनाओं के बावजूद स्वयं अरस्तू पक्का प्लेटोवादी सिद्ध होता है । दोनों के मध्य विचार-पद्धतियों या निष्कर्षों का वैविध्य मौलिक न होकर केवल दृष्टिगत है । अरस्तू ने प्लेटो की रिपब्लिक की जिन धारणाओं का विरोध किया है उन्हें स्वयं प्लेटो ने लॉज की रचना करते-करते सुधार लिया था । इस दृष्टि से अरस्तू के द्वारा की गयी प्लेटो की आलोचनाएँ असगतिपूर्ण लगती हैं । इनका विवेचन इसी अध्याय में अन्यत्र किया जा चुका है । यहाँ पर हम उन तथ्यों का उल्लेख करते हैं जो इस बात को दर्शाते हैं कि प्लेटो तथा अरस्तू दोनों के विचारों तथा विचार-पद्धतियों में अनेक प्रकार से समानता पायी जाती है और जिनके आधार पर अरस्तू को प्लेटोवादी कहा जा सकता है ।

(1) यह मानना पूर्णतया सही नहीं है कि अरस्तू की विचार-पद्धति पूर्णतः आगमनात्मक थी और प्लेटो की निगमनात्मक । यदि प्लेटो को इस आधार पर निगमनात्मक पद्धति अपनाने वाला चिन्तक कहा जाय कि वह पूर्ण अवधारणाओं को मानकर चला और उनके समर्थन में उसने तर्क दिये, न कि तथ्यों का सग्रह करके तुलना, परीक्षण आदि आगमनात्मक पद्धति द्वारा सामान्य निष्कर्ष निकाले तो ऐसा अरस्तू के बारे में भी कहा जा सकता है । वह भी अनेक पूर्व अवधारणाओं को मानकर चला है और उनकी पुष्टि के तर्क देता रहा, यथा असमानता को प्राकृतिक मानना, दास-प्रथा को प्राकृतिक मानना, महिलाओं को सार्वजनिक जीवन से पृथक् रखना, आदि ।

(2) प्लेटो की भाँति अरस्तू भी सदा नगर-राज्य के जीवन को ही सर्वोत्तम आत्म-सम्पन्न तथा आत्म-निर्भर व्यवस्था मानता रहा । मानव जीवन का उद्देश्य सद्गुणयुक्त, सुखी तथा नैतिक जीवन प्राप्त करना दोनों की धारणाओं में एक-सा था । दोनों यह मानते थे कि मनुष्य को ऐसा जीवन नगर-राज्य में ही प्राप्त हो सकता है ।

(3) राज्य को एक नैतिक संस्था मानना और उसका आधार न्याय को मानना दोनों की धारणाओं में था, भले ही न्याय की धारणा दोनों में अलग-अलग

प्रकार की थी। लॉज में प्लेटो आत्म-संयम (temperance or self-control) के तत्त्व को प्रमुखता देकर दार्शनिक राजा के शासन की रिपब्लिक की धारणा को बदल देता है और कानून की सर्वोच्चता को स्वीकार करता है। अरस्तू की सारी विचारधारा 'विधि के शासन' को सर्वोत्तम मानने की रही है। शासन-सत्ता के निमित्त अरस्तू मध्यम श्रेणी के हाथ में सर्वोच्च सत्ता रहने की व्यवस्था को स्वर्णिम औसत (golden mean) कहता है। यह धारणा प्लेटो के लॉज की धारणा का ही रूप है। वह लॉज में आत्म-संयम को विधि का स्वर्ण-तार कहता है।

(4) शासनों का वर्गीकरण करने में अरस्तू ने प्लेटो के स्टेट्समैन के वर्गीकरण को लगभग ज्यों का त्यों अपनाया है। अगर कोई अन्तर है तो वह नामों का और प्लेटो के सिद्धान्त को अपने ढंग से व्यक्त करने का है। शासनों के सामान्य रूपों को प्लेटो ने विधि-विहित तथा विकृत रूपों को विधि-विहीन कहा था, अरस्तू ने इस भेद को राज्य के उद्देश्य के आधार पर प्रस्तुत किया है। अर्थात् यदि सर्वोच्च सत्ताधारी लोग जन-कल्याण की दृष्टि से शासन करें तो वह सामान्य रूप है, अन्यथा विकृत रूप।

(5) राज्य के स्वरूप तथा उद्देश्य के सम्बन्ध में दोनों की धारणाएँ एक सी हैं। दोनों की दृष्टि में न्याय, नैतिकता, सद्गुण युक्त जीवन तथा जन-कल्याण राज्य का उद्देश्य तथा उसके अस्तित्व का आधार है। दोनों राज्य के सावयव स्वरूप को मानते हैं। प्लेटो गणित तथा दर्शनशास्त्र का ज्ञाता होने के कारण जीवन के मूल्यों का विवेचन गणित तथा दर्शनशास्त्र के तर्कों के आधार पर करता है, तो अरस्तू एक जीवशास्त्री होने के नाते जीवशास्त्र के नियमों के आधार पर इन तथ्यों को व्यक्त करता है।

(6) दोनों ने समाज तथा राज्य के मध्य भेद नहीं किया है और दोनों व्यक्ति को समाज के जीवन में विलीन कर देते हैं। व्यक्ति बनाम राज्य की धारणा दोनों को अमान्य थी। यद्यपि दोनों की विचारधारा में व्यक्ति राज्य में विलीन है, तथापि राज्य का ऐसा प्रत्ययवादी दृष्टिकोण राज्य की निरंकुशता का द्योतक नहीं है, अर्थात् दोनों की धारणा में व्यक्ति राज्य के लिए नहीं है, बल्कि राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के कल्याण, व्यक्ति को उत्तम, नैतिक तथा पुण्यमय जीवन प्रदान करने के लिए है। दोनों यह मानते हैं कि व्यक्ति को ऐसा जीवन राज्य से पृथक् या राज्य के बाहर प्राप्त नहीं हो सकता, बल्कि राज्य का सदस्य रहकर ही प्राप्त हो सकता है।

(7) इस प्रकार दोनों ने राजनीति तथा नैतिकता को पृथक् नहीं माना है बल्कि इन्हें एक दूसरी से घनिष्टतया सम्बद्ध माना है। उनके राजनीतिक आदर्शों का आधार उक्त दोनों शास्त्रों का पारस्परिक मेल-मिलाप है, जो भविष्य के सामाजिक चिन्तकों के लिए विवाद का विषय बना रहा।

(8) दोनों महान् चिन्तकों में जो विचार साम्य बना रहा उसका एक कारण यह था कि दोनों के समक्ष समान राजनीतिक समस्याएँ थीं। दोनों के प्रेरणा-स्रोत ग्रीस के तत्कालीन नगर-राज्यों को पतन की दिशा में जाने से रोकने का समाधान ढूँढ़ना था। अरस्तू प्लेटो का अनन्य शिष्य था। भले ही उसने अपने गुरु के कुछ निष्कर्षों या आदर्शों को अव्यावहारिक मानकर उनकी आलोचना की, तथापि मौलिक बातों में वह सदैव अपने गुरु का अनुसरण करता रहा। चूँकि वह प्लेटो के

जीवन के अन्तिम वर्षों में उसके सम्पर्क में रहा था, अतः उस काल में प्लेटो के विचारों में जो परिवर्तन आ गया था, उनका प्रभाव अरस्तू पर सर्वाधिक मात्रा में पड़ा है। जिस प्रकार 'लॉज' की रचना करने में प्लेटो ने अपने 'रिपब्लिक' के मूलभूत आदर्शों तथा सिद्धान्तों का परित्याग नहीं किया उसी प्रकार अरस्तू ने 'पॉलिटिक्स' की रचना में प्लेटो के 'लॉज' के सिद्धान्तों को सर्वाधिक मात्रा में अपनाया है।

(9) अन्ततः, शिक्षा को दोनों विद्वानों ने समान रूप से सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। नैतिक तथा सद्गुण-युक्त जीवन की प्राप्ति, जो दोनों का प्रधान लक्ष्य था, उसकी उपलब्धि के लिए राज्य को स्वयं एक शिक्षा संस्था मानना दोनों की विचारधारा का महत्त्वपूर्ण अंग था। अतएव दोनों ने शिक्षा-व्यवस्था पर व्यापक जोर दिया है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर अरस्तू को सच्चे अर्थ में प्लेटोवादी कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

अरस्तू के विचारों की दुर्बलताएँ

पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में अरस्तू को राजनीति शास्त्र का सबसे पहला महान् विद्वान् होने की स्थिति प्रदान की जाती है। राजनीति विज्ञान का प्रत्येक चिन्तक बहुधा अपने विचारों को अपने युग तथा अपने राजनीतिक वातावरण की यथार्थता से प्रेरित होकर प्रस्तुत करता है। परन्तु यदि वह अपने निष्कर्षों को सार्वभौम बनाने का प्रयास करे तो उसके विचार या तो स्वप्नलोकी हो जाते हैं या अव्यावहारिक, क्योंकि विविध कालों तथा परिस्थितियों की यथार्थ परिस्थितियों के अन्तर्गत उनका लागू हो सकना सम्भव नहीं हो सकता। प्लेटो, के विचारों में ऐसी कमी रह गयी थी क्योंकि उसके विचारों का आदर्श राज्य सम्पूर्ण कालों व परिस्थितियों के लिए प्रस्तावित किया गया था। अरस्तू ने अपने राजनीतिक दर्शन के निर्माण में जहाँ एक ओर प्लेटो के विचारों को अपनाया, वहाँ उनकी कल्पना-मूलकता, स्वप्नलोकिता तथा प्रत्ययवादिता का परित्याग करके इतिहास, पर्यवेक्षण तथा यथार्थ की परिस्थितियों का व्यापक अध्ययन करके राज्य के सम्बन्ध की विविध धारणाओं को क्रमबद्ध ढंग से चित्रित किया और इस प्रकार एक ऐसे समग्र राजनीतिक दर्शन का प्रतिपादन किया जिसके कारण वह एक महान् राजनीति-शास्त्री (political scientist) सिद्ध होने की स्थिति प्राप्त कर सका है। उसके विचारों तथा सिद्धान्तों को युग-युगों के चिन्तकों ने अपनाया है। इतना सब होने के बावजूद अरस्तू की अनेक धारणाएँ त्रुटियों से रहित नहीं कही जा सकतीं। उनकी दुर्बलताएँ कुछ तो स्वयं अरस्तू के युग के सन्दर्भ में ही सत्य सिद्ध होती हैं और कुछ राजनीति की आधुनिक प्रवृत्तियों, व्यवहार, दर्शन आदि के सन्दर्भ में। इन कमियों को संक्षेप में निम्नांकित श्रेणियों में रखा जा सकता है :

(1) **पूर्व अवधारणाओं को मानकर उनकी पुष्टि में सिद्धान्तों का निरूपण करना अवैज्ञानिक है**—अरस्तू की चिन्तन-पद्धति तथा निष्कर्षों की वैज्ञानिकता में सन्देह किया जा सकता है। एक वैज्ञानिक चिन्तक को पूर्व अवधारणाओं (a priori assumption) के आधार पर अपने विचारों को प्रस्तुत नहीं करना चाहिए। अरस्तू यह मानकर चला था कि 'कुछ लोग शासन करने के लिए तथा कुछ शासित होने के

लिए ही पैदा होते है' यह धारणा वैज्ञानिक नहीं कही जा सकती। जन्म, जाति, लिंग आदि के आधार पर नागरिकता निर्धारण करना, ग्रीकों को अन्य जातियों से श्रेष्ठतर मानना, महिलाओं को सार्वजनिक एवं राजनीतिक जीवन के लिए अक्षम मानना आदि अरस्तू की पूर्व अवधारणाएँ बनी रही। ऐसी पक्षपातपूर्ण धारणाएँ अरस्तू की वैज्ञानिकता पर भ्रम उत्पन्न कर सकती है। इनके आधार पर अरस्तू ने दास-प्रथा के औचित्य को भी समझाया है। यद्यपि अरस्तू ने दास-प्रथा के औचित्य को प्रकट करने मे अपने युग की यथार्थता तथा परम्परा की स्वीकृति दी है, तथापि अपने प्रकृतिवादी दर्शन के आधार पर इसके औचित्य को प्रदर्शित करना उसकी पूर्व अवधारणा ही मानी जा सकती है। पुनः उन्हें परिवार का उपकरण मानना भी एक वैज्ञानिक विश्लेषण सिद्ध नहीं होता। निस्सन्देह वह दासों के उत्थान तथा उनके ऊपर दयालु होने की धारणा व्यक्त करता है, परन्तु उनके उत्थान के निमित्त वह कोई वैज्ञानिक आधार या सुझाव नहीं रख सका। ऐसे ग्रीस पक्षपात के कारण अरस्तू के एक वैज्ञानिक चिन्तक होने में सन्देह किया जाता है। महिलाओं तथा अवयस्कों को पूर्णतया परिवार के प्रमुख पुरुष की दासता में रखना और उसके प्रति उनकी सविनय आज्ञाकारिता (passive obedience) का समर्थन करना वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं है। यह अरस्तू की रूढ़िवादिता का द्योतक है। अरस्तू की अपेक्षा प्लेटो कहीं अधिक प्रगतिवादी दृष्टिकोण रखता था।

(2) **अरस्तू के विचारों में नागरिकों की समानता की धारणा को अस्पष्ट रूप से दर्शाया गया है**—अरस्तू ने विभिन्न राजनीतिक धारणाओं को व्यक्त करने में जो ग्रीकपन दर्शाया है, उसके कारण उसके विचार संकीर्ण हो गए। वह स्वतन्त्रता तथा समानता की धारणाओं का सही ढग से निरूपण नहीं कर पाया। समानता को अप्राकृतिक कहकर उसने प्राकृतिक न्याय की धारणा को ही निर्मूल कर दिया। यदि न्याय की धारणा यह मानी जाय कि 'प्रत्येक व्यक्ति को उसका प्राप्य मिले' तो इसका यह अर्थ नहीं होता है कि समाज में न्याय के क्षेत्र में असमानों को असमान ही रखा जाय। अरस्तू यह मानता प्रतीत होता है कि समानों के मध्य समानता बरतना और असमानों को असमान रहने देना ही न्याय है। निरपेक्ष समानता या निरपेक्ष न्याय की धारणा उसे मान्य नहीं है। उसकी वितरणात्मक न्याय की धारणा भी यही दर्शाती है कि राज्य के पदों का बँटवारा समानता के सिद्धान्त को अपनाकर नहीं होना चाहिए। दूसरी ओर वह क्रान्ति के कारणों का विवेचन करने में समानता बरते जाने की धारणा को महत्त्व देता है। स्पष्ट है कि अरस्तू को आधुनिक अर्थ में लोकतन्त्रवादी नहीं माना जा सकता। अरस्तू के विचारों में नागरिकों की स्वतन्त्रता की धारणा का भी लगभग उपेक्षित ही रखा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वतन्त्रता से उसका अभिप्राय कानून तथा संविधान की सीमा के अन्तर्गत नागरिक द्वारा शासन करने तथा शासित होने के दायित्वों को पूर्ण करने से था। इसी प्रकार अरस्तू इन दो लोकतन्त्री धारणाओं को सही परिपेक्ष मे प्रस्तुत नहीं कर पाया है।

(3) **अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों तथा विशाल साम्राज्यों की राजनीति का विवेचन अरस्तू के विचारों में उपेक्षित है**—अरस्तू के विचारों की एक बड़ी कमी यह थी कि वह ग्रीस के सैंकड़ों नगर-राज्यों की शासन-व्यवस्थाओं से परिचित होने के साथ-साथ उनके मध्य चल रही प्रतियोगिता तथा पार्थक्य की भावना से भी अनभिज्ञ

नही था । इस पर भी वह उनके मध्य अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों के निर्धारण के निमित्त कोई समाधान नहीं बता पाया । वास्तव मे उसने इस समस्या पर कोई विचार ही नहीं किया । आत्म-सम्पन्न तथा आत्म-निर्भर राज्य की धारणा ही उसके विचारों की केन्द्र बनी रही । इससे उसका यथार्थवाद निर्बल पड़ जाता है । स्वय अरस्तू के युग मे अनेक ग्रीस नगर-राज्य सामूहिक सुरक्षा अथवा पारस्परिक सहयोग के निमित्त संघात्मक रूप से सगठित होने की दिशा मे प्रवृत्त होने लग गए थे । एचियन लीग (Achaen League) की स्थापना इस तथ्य को प्रकट करती है । अरस्तू विशाल साम्राज्यों की धारणा से भी अपरिचित नहीं था । स्वयं उसका शिष्य सिकन्दर महान् उसी के युग में विशाल साम्राज्य का निर्माण कर चुका था । उधर रोम भी एक विशाल साम्राज्य के स्वप्न देखने लग गया था । अत: एक यथार्थवादी राजनीति शास्त्री के लिए अपने युग की इन प्रवृत्तियों को अनदेखा करना और उनको अपने राजनीतिक विचारों से उपेक्षित रखना उसकी एक दुर्बलता ही कही जा सकती है । उसकी विचारधारा पूर्णतया नगर-राज्यो तक ही सीमित रहकर सकीर्ण हो गयी ।

(4) **राज्यों तथा सरकारो का वर्गीकरण तथा विवेचन दोषपूर्ण**—अरस्तू का राज्यों तथा सरकारो का वर्गीकरण भी वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता । यह अंकात्मक अधिक है और गुणात्मक इसी अर्थ में है कि शासनों के विकृत रूपों का विवेचन भी इसमे किया गया है । परन्तु अरस्तू के सरकारों के विवेचन मे मिश्रित सरकार की धारणा को उपेक्षित रखा गया है । पॉलिटी तथा डेमोक्रैसी का भेद भी वैज्ञानिक नहीं लगता । पॉलिटी (वैधानिक जनतन्त्र) को दो विकृत शासनों—वर्गतन्त्र तथा लोकतन्त्र—के अच्छे तत्त्वों का सम्मिश्रण मानकर उसे सर्वोत्तम व्यावहारिक संविधान मानना केवल सैद्धान्तिक तर्क है ।

(5) **शासन के अंगों का अस्पष्ट तथा अपूर्ण विवेचन**—शासन के अंगों का विवेचन करते हुए उनके मध्य शक्ति-पृथक्करण या अवरोध और सन्तुलन की कोई व्यवस्था नहीं सुझाई गयी है । यह भी उसके विचारों की एक दुर्बलता है । शासन के विभिन्न अगों के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों का उल्लेख करना आवश्यक था । अरस्तू के शासन के अंगों के विवेचन से यह भी स्पष्ट नहीं होता है कि वह विधायी, न्यायिक एवं प्रशासनिक संगठनों के निमित्त प्रतिनिधित्व या नियुक्तियों की क्या वैज्ञानिक व्यवस्था बताता है ।

(6) **क्रान्ति के कारणों तथा उनके निवारण का विवेचन करते हुए अत्याचारी शासन के स्थायित्व के लिए भी सुझाव देना उसे मैकियाविलीवाद का पृष्ठ-पोषक सिद्ध करता है**—क्रान्तियों के कारणों तथा उनसे बचाव के सुझावों का विवेचन उसके यथार्थवाद को प्रकट करता है, परन्तु अत्याचारी-तन्त्र (tyranny), जिसे उसने निकृष्टतम व्यवस्था घोषित किया है, को भी क्रान्तियों से संरक्षण देने के सुझाव देना उसे मैकियाविलीवादी बना देता है । एक अत्याचारी शासक को अपनी सत्ता बनाए रखने के निमित्त नैतिक या अनैतिक ढंग के साधन अपनाने की सलाह देने की आवश्यकता नहीं थी ।

राजनीतिक चिन्तन को अरस्तू का अनुदाय

(1) **राजनीति का यथार्थवादी तथा शास्त्रीय अध्ययन करने की परम्परा का सृजनकर्त्ता**—मैक्सी ने कहा है, 'राजनीतिक चिन्तन में जहाँ प्लेटो आदर्शवादियों,

कल्पनावादियों, क्रान्तिकारियों तथा स्वप्नलोकवादियों का जनक है, वहाँ अरस्तू यथार्थवादियों, विज्ञानवादियों, व्यवहारवादियों तथा उपयोगितावादियों का जनक है।' यह कथन राजनीतिक दर्शन में अरस्तू के योगदान का समुचित मूल्यांकन करता है। राजनीति की समस्याओं के सम्बन्ध मे प्लेटो ने जो भी विचार किया था, वह इतना कल्पनामूलक तथा आदर्शवादिता से पूर्ण था कि वास्तविक व्यवहार में उन विचारों को प्रयुक्त कर सकना सम्भव नहीं हो सकता। स्वयं प्लेटो को अपने विचारों की व्यावहारिकता पर सन्देह हो गया था। इसलिए उसने अपने जीवन के अन्तिम वर्षो में 'लॉज' नामक ग्रन्थ में राज्य के एक उपादर्श को प्रस्तुत किया है जो बहुत कुछ अंश में व्यावहारिक प्रतीत होता है। अरस्तू ने अपने ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' की रचना में प्लेटो के 'लॉज' के विचारों से प्रेरणा लेकर राजनीति की समस्याओं को यथार्थवादिता के साथ प्रस्तुत किया है। उसने राजनीति के विविध सिद्धान्तों तथा आदर्शों का प्रतिपादन शास्त्रीय ढंग से किया है। प्लेटो के मस्तिष्क में एक आदर्श राज्य की धारणा थी। वह उसी धारणा को साकार करने के निमित्त विविध साधनों के बारे में चिन्तन करता रहा। अत: उसके विचार यथार्थ से दूर रह गए। अरस्तू का उद्देश्य राजनीति के ऐसे विज्ञान या आदर्शों का प्रतिपादन करना था जिसका अनुसरण करके राज्य की व्यवस्था का संचालन किया जाय तो एक श्रेष्ठ राज्य व्यवस्था कायम की जा सकेगी। यह धारणा अरस्तू के यथार्थवाद को प्रकट करती है।

(2) **सदियों तक अनेक महान् राजनीतिक चिन्तकों का प्रेरणा-स्रोत**—वास्तव में अरस्तू यूरोपीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास का वह मूल चिन्तक है जिसने राजनीतिक चिन्तन को वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक बनाने का प्रयास किया था। यही कारण है कि जब-जब राजनीति के क्षेत्र में अस्त-व्यस्तता आती रही विद्वानों तथा चिन्तकों ने काल्पनिक उड़ानों को छोड़ा और अरस्तूवाद का पुनरुत्थान होता गया। रोमन काल में सिसरो ने प्लेटोवाद अपनाया तो बाद में पॉलिबियस अरस्तू के विचारों की ओर आकृष्ट हुआ। मध्य युग में अगस्टाइन ने प्लेटो का अनुसरण करके आदर्शवाद का सहारा लिया तो सन्त टॉमस ऐक्विना मध्य युग का अरस्तू सिद्ध हुआ। कालान्तर में दान्ते के कल्पनामूलक साम्राज्यवाद की धारणा के बाद पुन: मारसीलियो ने अरस्तू का अनुगमन किया। मध्य युग की समाप्ति के समय यूरोपीय पुनर्जागरण काल में मैकियाविली तथा जीन बोदां के विचारों में भी हम अरस्तूवादिता देखते हैं। राजतन्त्रों के युग में हॉब्स तथा लॉक के तर्कवादी तथा विशुद्ध विवेकमूलक विचारों के पश्चात् मांटेस्क्यू ने पुन: अरस्तूवाद का सहारा लेकर अपने को 18वीं शताब्दी का अरस्तू होने की स्थिति प्राप्त की। संक्षेप में, जितने भी चिन्तकों ने यथार्थ की समस्याओं को लेकर राजनीति के सिद्धान्तों का विवेचन किया है वे सब अरस्तू के शिष्य हैं।

(3) **राजनीति के ऐसे विविध सिद्धान्तों तथा आदर्शों का प्रतिपादक, जिन्हें समयानुसार किंचित परिवर्तन के साथ भविष्य के अनेक चिन्तकों ने अपनाया**—अरस्तू एक राजनीति-शास्त्री होने के साथ-साथ एक राजनीतिक दार्शनिक भी था। उसके चिन्तन के मुख्य निष्कर्ष हैं—मनुष्य स्वभावत: एक सामाजिक तथा राजनीतिक प्राणी है, राज्य की उत्पत्ति नैसर्गिक है, राज्य में जनता की सर्वोच्चता, विधि का शासन, वैधानिकतावाद, क्रान्तियों के कारण तथा उनके निराकरण का विवेचन,

राज्य की सामाजिक तथा आर्थिक संरचना का वस्तु-स्थिति के आधार पर विवेचन, आदि ये ऐसी समस्याएँ हैं, जिन पर अरस्तू ने यथार्थ के आधार पर विवेचन किया है और उसके निष्कर्ष सार्वभौम रूप से तबसे लेकर आज तक माने जाते रहे हैं। भले ही समय तथा परिस्थितियों के आधार पर उनमें परिवर्तन सुझाये जाते रहे, जो स्वाभाविक ही था, क्योंकि परिवर्तित राज्य-व्यवस्थाओं के सन्दर्भ में तत्कालीन चिन्तक अरस्तू के युग की राज्य-व्यवस्थाओं के विचारों को यथावत् नहीं अपना सकते थे। परन्तु इससे अरस्तू की यथार्थवादिता स्पष्ट होने के साथ-साथ यह भी सिद्ध होता है कि अरस्तू के विचारों में लोचपूर्णता है, जिन्हें देश काल की परिस्थितियों में किंचित परिवर्तनों के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है।

(4) **विचारों में ग्रीक प्रभाव होने के साथ-साथ वे सार्वभौम महत्त्व के भी सिद्ध हुए हैं**—निस्सन्देह अरस्तू के विचार तत्कालीन ग्रीक नगर-राज्यों के सन्दर्भ में व्यक्त किये गये थे, इसलिए उसके विचारों में ग्रीक प्रभाव (Hellenic) होना स्वाभाविक था और आज के राष्ट्रीय राज्यों के युग में उनका विशेष महत्त्व नही रह जाता, और उनका सार्वभौम महत्त्व भी नहीं है। ये विचार हैं—ग्रीकों को अन्य जातियों से श्रेष्ठतर मानना, दास-प्रथा का समर्थन, नगर-राज्य व्यवस्था को अन्य व्यवस्थाओं से श्रेष्ठतर मानना, नागरिकता के अधिकार सीमित लोगों को ही देना, श्रमिकों को निम्न-स्तर का मानना, आदि। परन्तु अरस्तू के विचारों का सार्वभौम पक्ष अधिक महत्त्व का है। प्रो० डनिंग के शब्दों में अरस्तू के विचारों में ग्रीकपन के अलावा 'हम अनेक ऐसे सिद्धान्तों को भी देखते हैं जो मानव स्वभाव के बिल्कुल अनुकूल हैं और जिस रूप में अरस्तू ने उनका प्रतिपादन किया था ठीक उसी रूप में हम उन्हें वर्तमान राजनीति-शास्त्र के अन्तर्गत भी पाते हैं।'[1] इन सिद्धान्तों तथा आदर्शों को हम निम्नांकित श्रेणियों में वर्गीकृत कर सकते हैं :

(क) **विधि का शासन**—अरस्तू के राजनीतिक विचारों का यह सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। उसकी यह धारणा है कि राज्य में कानून सर्वोच्च होता है, न कि कोई व्यक्ति या व्यक्ति-समूह। कानून शासकों तथा शासितों दोनों के ऊपर समान रूप से लागू होता है। जिस राज्य में कानून की सर्वोच्चता नहीं रहती, उसे राज्य नहीं कहा जा सकता। अरस्तू के द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त को आज भी हम विश्व के महानतम राज्यों मे विद्यमान देखते हैं। ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमरीका तथा भारत आदि देशों में इस सिद्धान्त को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। इसके बिना लोकतन्त्र की कल्पना नहीं की जा सकती। टॉमस ऐक्विना, हूकर, लॉक, मांटेस्क्यू आदि विचारकों ने अरस्तू के इस सिद्धान्त को अपने युगों की राज्य-व्यवस्थाओं में अपनाया और इस सिद्धान्त ने आधुनिक वैधानिकतावाद के सिद्धान्त को प्रश्रय दिया है।

(ख) **लोकतन्त्रवाद**—यद्यपि तत्कालीन ग्रीक नगर-राज्यों के अन्तर्गत जो विविध प्रकार की राज्य-व्यवस्थाएँ तथा शासन-प्रणालियाँ प्रचलित थीं, उनके आधार पर अरस्तू के राज्यों के वर्गीकरण में लोकतन्त्र को एक विकृत राज्य-व्यवस्था की श्रेणी में रखा गया है, तथापि जिसे अरस्तू आदर्श व्यावहारिक राज्य-व्यवस्था मानता

[1] 'We find a long series of principles which are as ultimate as human nature itself, and which in almost the exact shape in which Aristotle formulated them are features of political science at the present day.' —Dunning, *op. cit.*, Vol. 1, 94.

है वह लोकतन्त्र तथा वर्गतन्त्र का मिश्रण अर्थात् वैधानिक लोकतन्त्र (polity) है। अरस्तू के आदर्श राज्य के सिद्धान्त के लोकतन्त्र के उस महान् सिद्धान्त को मान्य किया गया है जिसके अन्तर्गत स्वतन्त्रता तथा सत्ता के मध्य सामंजस्य आवश्यक समझा जाता है। अरस्तू के अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता नहीं है बल्कि संविधान या कानून का पालन करने में ही वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है, क्योंकि कानून वासना-रहित विवेक (dispassionate reason) होता है जो किसी जन-समूह के अति दीर्घकालीन निष्पक्ष विवेक की उपज है। इसीलिए अरस्तू की धारणा थी कि कानून का निर्माण सम्पूर्ण जनता की सभा के द्वारा किया जाना चाहिए। साथ ही कानून का कार्यान्वयन एवं परिपालन कराने वाले मजिस्ट्रेटों तथा न्यायाधीशों का चुनाव जनता के द्वारा किया जाना चाहिए। विधि की सर्वोच्चता तथा शासकों के ऊपर जन-नियन्त्रण रखने की धारणा व्यक्त करके अरस्तू न केवल स्वतन्त्रता तथा सत्ता के मध्य सामंजस्य स्थापित करता है, प्रत्युत् वह लोकतन्त्र का भी समर्थक सिद्ध होता है।

(ग) राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त को सही परिपेक्ष में प्रस्तुत करना—यद्यपि मध्य युग में राज्य की उत्पत्ति को दैवीं बताने की और 17वीं, 18वीं शताब्दी में सामाजिक समझौते द्वारा व्यक्त करने की धारणाएँ बनी रही थीं, तथापि इन धारणाओं में कोई सत्यांश नहीं था और न ये धारणाएँ यथार्थ तथ्यों पर आधारित थीं। इन सिद्धान्तों को इनके प्रतिपादकों की तार्किक बकवास ही कहा जा सकता है, जिनका यथार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है। अरस्तू ने यथार्थ तथा तथ्यगत तर्कों द्वारा घोषित किया कि राज्य एक नैसर्गिक संस्था है जिसकी उत्पत्ति मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर आधारित है। इसीलिए मनुष्य स्वभावत: एक राजनीतिक प्राणी है। वर्तमान राजनीति-शास्त्री राज्य के विकासवादी सिद्धान्त को ही मान्य करते हैं और अरस्तू द्वारा राज्य को नैसर्गिक समुदाय मानने की धारणा की पुष्टि करते हैं। चूँकि राज्य नैसर्गिक संवास है, अत: उसका विकास होता है। अरस्तू की यह मान्यता राजनीतिक चिन्तन को उसका एक महान् अनुदाय है।

(घ) राज्य का उद्देश्य—राज्य के उद्देश्य तथा कार्य-क्षेत्र के बारे में अरस्तू के काल से लेकर आज तक विद्वानों ने विभिन्न मत तथा धारणाएँ व्यक्त की हैं। परन्तु अरस्तू ने जो धारणा व्यक्त की थी, वह कोरे दार्शनिक तर्कों से मुक्त है। उसने संक्षिप्त पदावली में घोषित किया कि राज्य का उद्देश्य एक पूर्ण तथा आत्म-निर्भर जीवन (a perfect and self-sufficiency) जीवन प्रदान करना है। ऐसा पूर्ण तथा आत्म-निर्भर जीवन व्यक्ति एवं समाज दोनों के लिए आवश्यक है। इसकी उपलब्धि तभी हो सकती है जबकि राज्य विध्यात्मक कार्य (positive functions) करे। यह धारणा वर्तमान समय में लोक-कल्याणकारी राज्य की धारणा के तुल्य है जिसका उद्देश्य व्यक्ति तथा समाज दोनों के सर्वांगीण विकास के निमित्त विविध प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करना है। अरस्तू ने कहा था कि 'राज्य जीवन के लिए है और उत्तम जीवन के लिए उसका अस्तित्व बना रहता है' (State exists for life and it continues to exist for good life)। उत्तम जीवन से उसका अभिप्राय सद्गुणयुक्त जीवन (a life of virtue) से था। राज्य के उद्देश्य से सम्बन्धित यह धारणा आदर्शवादी तथा नैतिकतावादी होने के साथ-साथ लोक-कल्याणकारी राज्य की धारणा व्यक्त करती है और इसीलिए इसका सार्वभौम

महत्त्व है ।

(ङ) **क्रान्ति विषयक धारणा**—अरस्तू ने क्रान्तियों के कारणों तथा उनसे बचाव के उपायों का जो विवेचन प्रस्तुत किया है वह युग-युगों की राजनीतिक व्यवस्थाओं के निमित्त एक व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत करता है। असमानता को समस्त राजनीतिक क्रान्तियों का कारण बताना अरस्तू के विचारों की यथार्थता का एक उत्तम आदर्श है। इसी हेतु अरस्तू ने सुझाव दिया था कि राजनीतिक सत्ता मध्यम वर्ग के हाथ में रहनी चाहिए जो न तो अत्यन्त गरीब हैं और न अमीर। ऐसी व्यवस्था में न तो पूँजीवादी शोषण को प्रश्रय मिलेगा और न गरीबों के हाथ में सत्ता होने से मूर्खों के शासन होने की बात आयेगी। इसी प्रकार नागरिकता की एक शर्त सम्पत्ति का होना मानकर अरस्तू ने प्लेटो के सम्पत्ति सम्बन्धी साम्यवाद से होने वाली बुराइयों को प्रकाश में ला दिया। इस तथ्य से कोई इनकार नही कर सकता कि उत्तम नागरिकता के निमित्त सम्पत्ति का होना आवश्यक है। भले ही साम्यवादी सिद्धान्त तथा विचारधारा व्यक्तिगत सम्पत्ति का विरोध करती हैं, तथापि उनका विरोध इसलिए है कि थोड़े से व्यक्तियों के पास सम्पत्ति का केन्द्रीयकरण होना शोषण को जन्म देता है। ऐसी व्यवस्था अनुचित है। अरस्तू भी ऐसी व्यवस्था को अवांछनीय मानता है। वह भी सम्पत्ति के असमान वितरण को राज्य-व्यवस्था के स्थायित्व के लिए अनुचित मानता है। यह भी सत्य है कि जिन कारणों से साम्यवादी क्रान्तियाँ हुई हैं, उन कारणों का विवेचन अरस्तू ने स्वयं किया है।

(च) **सरकार का संगठन का सार्वभौम आधार प्रस्तुत करना**—अरस्तू सबसे पहला चिन्तक है जिसने यह बताया कि सरकार के तीन प्रमुख कार्य—व्यवस्थापन, अधिशासन तथा न्याय—होते है। यह धारणा 17वीं तथा 18वीं शताब्दी में पहले लॉक ने और पुन: मांटेस्क्यू ने अपनायी और आधुनिक राज्यों में सरकार के संगठन का यह एक सार्वभौम सिद्धान्त बन गया है। भले ही शक्ति-पृथक्करण या शक्ति समागम के बारे में विविध शासन-प्रणालियों के सिद्धान्त अलग-अलग है, तथापि सरकार के तीन प्रमुख कार्य तथा अग होने की धारणा सर्वत्र विद्यमान है, जिसे सर्वप्रथम अरस्तू के विचारों में पाया जाता है।

(5) **प्रभाव की दृष्टि से**—अरस्तू के विचारों की महत्ता का एक पहलू यह है कि उसकी विचार-पद्धति तथा विचारों को विभिन्न विचारधाराओं के प्रतिपादकों ने अपनाया। राजनीतिक चिन्तन में जितने यथार्थवादी हुए हैं, सभी अरस्तू के शिष्य हैं। अरस्तू की भाँति वे प्रत्येक वस्तु को इस रूप में लेकर विचार करते हैं कि वह कैसी है, इस रूप मे नहीं कि उसे कैसा होना चाहिए। राजनीतिक चिन्तन की ऐसी यथार्थवादी पद्धति ने राजनीतिक चिन्तन को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया है, जिसका आरम्भ अरस्तू ने किया था। यह प्रभाव हम बाद के उन चिन्तकों में देखते हैं जिन्होंने यह पद्धति अपनायी है। यथार्थवाद के साथ-साथ अरस्तू के विचारों में उपयोगितावाद की भी झलक मिलती है। उसने विभिन्न सस्थाओं का अध्ययन तथा उनके बारे में अपनी धारणाओं को व्यक्त करने में उपयोगिता का अवलम्बन किया है। यथा दास-प्रथा का समर्थन करने में उसने कोरे नैतिक या दार्शनिक तर्कों को न देकर तत्कालीन परिस्थितियों में दास-प्रथा की उपयोगिता को ध्यान में रखकर उसके औचित्य को दर्शाया है। साथ ही दासो के साथ मानवीय व्यवहार करने की सलाह दी है ताकि गुणवान दासों को मुक्ति मिल सके। अरस्तू को अपने युग का

व्यक्तिवादी कहना भी उचित होगा। राज्य के अस्तित्व को व्यक्ति के उत्तम जीवन के लिए मानना, ऐतिहासिक दृष्टि से व्यक्ति को राज्य से पूर्व मानना, राज्य को साधन तथा व्यक्ति को साध्य मानना, व्यक्तिगत सम्पत्ति की व्यवस्था को मान्य करना आदि उसके व्यक्तिवाद की परिचायक धारणाएँ हैं। प्लेटो के विपरीत जो कि समष्टिवादी था और समष्टि के उत्थान मे ही व्यष्टि का उत्थान मानता था, अरस्तू ने व्यष्टि को महत्त्व दिया। अरस्तू का राजनीतिक चिन्तन को एक महत्त्वपूर्ण योगदान यह भी है कि राज्य का आधार उसकी अर्थव्यवस्था है। राज्य में भौतिक सम्पत्ति का वितरण असमानता के आधार पर होने से क्रान्तियों की सम्भावना रहती है। यद्यपि केवल इतने से ही हम अरस्तू को समाजवादी तो नहीं कह सकते, परन्तु उसकी यह धारणा समाजवादियों को भी प्रभावित करने में सहायक सिद्ध हुई है, क्योंकि उसने यह दर्शाया कि आर्थिक प्रभाव राजनीति पर अपना असर डालते है।

अरस्तू के राजनीतिक विचारों का तत्काल कोई प्रभाव नही हो सका। इसका कारण यह था कि उसके पश्चात् रोमन साम्राज्य तथा मैसीडोनिया के साम्राज्यों के विकास ने ग्रीक नगर-राज्यों की व्यवस्था को भारी आघात पहुँचाया। नगर-राज्यों की आत्म-निर्भरता की धारणा समाप्त होती गयी। अरस्तू के पश्चात् इपीक्यूरियन तथा स्टॉइक दार्शनिकों ने एक ओर तो प्लायनवादी व्यक्तिगत सुखवाद की और दूसरी ओर प्राकृतिक कानून की भावनामूलक धारणा के आधार पर सार्वभौमिकतावाद की धारणाओं को व्यक्त करना आरम्भ किया। इसी अवधि में ईसाई धर्म की उत्पत्ति तथा विकास ने विश्व-बन्धुत्व तथा दैवी सार्वभौम विश्व राज्य की धारणाएँ व्यक्त करनी आरम्भ कीं। इस प्रकार वैज्ञानिक राजनीतिक चिन्तन को कोई स्थान प्राप्त नहीं हो पाया। 13वीं शताब्दी में जब इटली में पुनर्जागरण की लहर दौड़ी तब लोग ग्रीक दार्शनिकों के विचारों की ओर मुड़े। तभी सन्त टॉमस ऐक्विना के विचारों में एक बार पुन: अरस्तूवाद जागृत हुआ। इसके बाद समय-समय पर अनेक चिन्तकों ने जिनका उल्लेख पहले किया गया है, अरस्तूवाद को अपनाया। राजनीतिक चिन्तन में अरस्तू की महत्ता जेलर के इस कथन से स्पष्ट होती है कि 'अरस्तू का पॉलिटिक्स वह सम्पन्न खजाना है जो अत्यन्त दीर्घ के अतीत से हमें प्राप्त हुआ है, यह राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में, जो हमें उपलब्ध है, महानतम अनुदाय है।'[1]

[1] 'The Politics of Aristotle is the richest treasure that has come down to us from antiquity, it is the greatest contribution to the field of Political Science that we possess.' —Zeller.

चौथा अध्याय

उत्तर-अरस्तू-युगीन राजनीतिक चिन्तन : इपीक्यूरियन एवं स्टॉइक्स

अरस्तू के पश्चात् की राजनीतिक परिस्थितियाँ : साम्राज्यों का विकास

सिकन्दर महान् का निधन 325 ई० पू० में हुआ था; उसके एक वर्ष बाद अरस्तू की भी मृत्यु हो गई। जैसा कहा जा चुका है सिकन्दर ने अपनी अल्पायु में ही ग्रीक जगत में मूलगामी परिवर्तनों को जन्म दिया था, यद्यपि इन परिवर्तनों की ओर अरस्तू का ध्यान नहीं गया था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका साम्राज्य तीन भागों में विभाजित हो गया—यूरोप एन्टीगोनस के अधिकार में आ गया, अफ्रीका टोलेमी (Ptolemy) के तथा एशिया सेल्यूकस के। शक्तिशाली नेता के अभाव में ग्रीक जगत उच्छृंखलता एवं अराजकता के गर्त में डूब रहा था। सभी जगह असन्तोष व्याप्त था, कदम-कदम पर क्रान्ति की आशंका जन-मानस को व्यथित कर रही थी। ग्रीक मस्तिष्क इन परिस्थितियों में उत्पन्न समस्याओं का समाधान खोजने में असमर्थ रहा। अत: ऐसी परिस्थिति में सार्थक राजनीतिक चिन्तन की अपेक्षा नहीं की जा सकती थी क्योंकि उस समय जीवन का उद्देश्य समस्याओं से पलायन करना मात्र रह गया था, उनका सामना करना नहीं। यह सही है कि इस काल में भी कुछ ऐसे विचारक हुए जिन्होंने ग्रीस की दार्शनिक परम्पराओं को जीवित रखने का प्रयास किया, परन्तु इस प्रयास का कोई वांछित परिणाम नहीं निकला।

प्लेटो और अरस्तू का दर्शन मूलत: नगर-राज्यों का दर्शन था। सिकन्दर ने साम्राज्य की स्थापना करके नगर-राज्यों की अप्रासंगिकता को भली-भाँति व्यक्त कर दिया था। परन्तु इतना होते हुए भी जनसाधारण नगर-राज्यों की धार्मिक अवधारणाओं के प्रभाव से अपने आपको मुक्त नहीं कर पाये थे यद्यपि जीवन का अनुभव यह सिद्ध कर रहा था कि ये अवधारणाएँ बदलती हुई परिस्थितियों में उनकी किसी भी समस्या को हल करने में असमर्थ हैं। ऐसी स्थिति में ग्रीस को एक ऐसे दर्शन की आवश्यकता थी जो जिन्दगी की थपेड़ों से पीड़ित उसकी आत्मा को सन्तोष एवं शान्ति दिला सके। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए इपीक्यूरियन और स्टॉइक दर्शन का उदय हुआ।

नगर-राज्यों के पतन तथा साम्राज्य की स्थापना ने नये राजनीतिक दर्शन के जन्म को इसलिए और आवश्यक बना दिया क्योंकि प्राचीन ग्रीक पूर्वाग्रह कि उनको छोड़कर शेष सभी लोग असभ्य हैं स्वयं ग्रीकों को ही अनुचित प्रतीत होने लगा था। साम्राज्य के विकास ने इस भावना का अन्त करने में योगदान दिया।

फलतः अब लोगों में या तो यह भावना विकसित होने लगी कि वे विश्व के नागरिक हैं और या यह भावना पनपने लगी कि व्यक्ति मूलतः एक ऐसा प्राणी है जो अपने स्वार्थों की पूर्ति में रत है। इस प्रकार उत्तर-अरस्तू युग के राजनीतिक चिन्तन में दो प्रमुख प्रवृत्तियों का विकास हुआ—

(1) **राजनीतिक चिन्तन का स्वरूप अधिकाधिक व्यक्तिवादी होता गया**—ऐसी विचारधारा के प्रतिपादकों ने प्लेटो तथा अरस्तू के 'व्यक्ति को राज्य के जीवन में विलीन कर देने' के सिद्धान्त का विरोध किया। इनका उद्देश्य व्यक्तिगत सुख के साधनों की खोज करना था जिन्हें व्यक्ति, समाज या राज्य से पृथक् रहकर प्राप्त कर सकें। नगर-राज्यों का पतन हो जाने से नगर-राज्यों द्वारा व्यक्ति को उत्तम जीवन प्रदान किये जाने की धारणा भी लुप्त हो गई। साम्राज्य द्वारा इस लक्ष्य की प्राप्ति असम्भव थी। अतः चिन्तकों के एक वर्ग ने व्यक्ति को समाज तथा राजनीतिक समुदाय से पृथक् रहकर व्यक्तिगत सुख प्राप्ति का उपदेश देना आरम्भ किया। इस वर्ग के समुदाय में इपीक्यूरियन दर्शन के प्रतिपादक आते हैं।

(2) **राजनीतिक चिन्तन का स्वरूप अधिकाधिक सार्वभौम या विश्वगत होने लगा**—साम्राज्यों के विस्तार ने विविध जन-समूहों को एक राजनीतिक व्यवस्था में संगठित किया। परिणामस्वरूप विभिन्न जन-समूहों की पृथकतावादी धारणाएँ लुप्त होने लगीं। चिन्तकों के एक वर्ग ने मानवीय समानता के आदर्श का प्रतिपादन करके विश्व-बन्धुत्व तथा विश्व-राज्य की नागरिकता के सिद्धान्त को विकसित किया। यह विचारधारा, नगर-राज्य की नागरिकता के आदर्श के विपरीत थी। इसके प्रतिपादक स्टॉइक थे।

इन दोनों विचारधाराओं ने प्लेटो तथा अरस्तू द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक नैतिकता के आदर्शों की अवहेलना की। चूँकि इन विचारकों में कोई भी प्लेटो या अरस्तू की सी प्रतिभा नहीं रखता था, अतः इनका राजनीतिक दर्शन प्लेटो तथा अरस्तू के विचारों की तुलना में अत्यन्त हीन प्रकृति का था। परन्तु इनके दर्शन ने पर्याप्त लम्बी अवधि तक भविष्य की अनेक विचारधाराओं को प्रभावित किया।

इपीक्यूरियन दर्शन

व्यक्तिगत सुख की विचारधारा का प्रतिपादन एथेंसवासी इपीक्यूरस (Epicurus) नामक व्यक्ति ने प्रारम्भ किया था। इपीक्यूरस का जन्म 342 ई० पू० में हुआ था। उसी के नाम से यह विचारधारा इपीक्यूरियनवाद (Epicureanism) कहलाती है। उसका समर्थन रोमन कवि ल्यूक्रेटियस (Lucretius) ने भी किया। बाद में इनके अनेक समर्थकों ने इनकी शिक्षाओं का प्रचार किया। इस प्रकार इपीक्यूरियन, सॉफिस्टों की भाँति के शिक्षकों का एक सम्प्रदाय है। इपीक्यूरियन सम्प्रदाय का उद्देश्य मानवों को यह शिक्षा देना था कि जीवन की श्रेष्ठता सुखों की प्राप्ति में निहित है। व्यक्तिगत सुख प्राप्त करना ही जीवन का मुख्य उद्देश्य है। व्यक्तिगत सुख का अर्थ इपीक्यूरियन दर्शन में निषेधात्मक रूप में लिया गया है, जिसका अभिप्राय है—दुःखों, चिन्ताओं तथा आकांक्षाओं से निवृत्ति।

इपीक्यूरियन शिक्षा

(1) **मनुष्य सुख की प्राप्ति तथा दुःख से निवृत्ति चाहता है, इच्छाएँ दुःख का**

कारण हैं—इपीक्यूरस का कहना था कि 'मनुष्य सुख की प्राप्ति तथा दुःख से निवृत्ति चाहता है। इच्छाएँ मनुष्य को दुःख देती हैं, क्योंकि उनकी तृप्ति सम्भव नहीं हो पाती। अतः एक बुद्धिमान व्यक्ति को अपनी इच्छाओं को नियन्त्रित करना चाहिए और उन्हें तुष्ट करने की आकांक्षा नहीं रखनी चाहिए।' स्वयं इपीक्यूरस केवल रोटी तथा जल पर जीवन व्यतीत करता था। इपीक्यूरियन शिक्षा सामान्यतया भौतिकवादी स्वरूप की है।

(2) **मनुष्य को सामाजिक या राजनीतिक जीवन से अलग रहना चाहिए**—सामाजिक जीवन को ये लोग उचित नहीं मानते थे। उनकी शिक्षा यह थी कि 'एक बुद्धिमान मनुष्य को राजनीतिक जीवन या नागरिक समाज से कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए, जब तक कि वह उसके व्यक्तिगत सुख की प्राप्ति के लिए आवश्यक न हो।' राजनीतिक समाज में प्रवेश करने का तात्पर्य है, इच्छाओं तथा आकांक्षाओं की वृद्धि करना और इनके कारण ही मनुष्य को दुःख होता है। अतः व्यक्तिगत सुख के लिए राजनीतिक समाज अवांछनीय है।

(3) **मनुष्य को पारिवारिक जीवन से भी अलग रहना चाहिए**—ल्युक्रेटियस का कहना था कि 'एक बुद्धिमान मनुष्य को पारिवारिक जीवन के उत्तरदायित्वों से भी मुक्त रहना चाहिए क्योंकि वे भी उसे दुःख देते हैं।' उसे केवल अन्य मानवों के साथ मैत्री में ही सन्तुष्ट रहना चाहिए। इस प्रकार इपीक्यूरियन शिक्षा, परिवार राज्य एवं समाज किसी भी प्रकार के सामाजिक जीवन को व्यक्तिगत सुख के मार्ग में बाधक एवं दुःख का हेतु मानकर मनुष्य को उनसे पृथक् रहने की प्रेरणा देती है।

(4) **इपीक्यूरियन विचारधारा पूर्णतया भौतिकवादी है और ईश्वर या देवी-देवताओं पर विश्वास को वह अन्धविश्वासिता कहती है**—भौतिकवादी होने के नाते इपीक्यूरियन ईश्वर या दैवी सत्ता पर भी विश्वास नहीं रखते। उनके मत से 'देवता मनुष्य के हित या अहित में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करते।' अतएव मनुष्य को अन्धविश्वासिता से दूर रहना चाहिए। ज्योतिष, दैवी अनुकम्पा आदि पर उनका कोई विश्वास नहीं है।

(5) **न्याय या सद्गुण सदृश मानवीय धारणाओं पर अविश्वास**—न्याय तथा सद्गुण जिनकी विशद दार्शनिक व्याख्या प्लेटो तथा अरस्तू के विचारों में मिलती है, का इपीक्यूरियनों ने एक प्रकार से तिरस्कार किया है। उनके विचार से प्रत्येक व्यक्ति अपने वैयक्तिक सुख की कामना करता है। अतः मानवीय सद्गुणों तथा न्याय जैसी कोई धारणा सत्य नहीं है। समय-समय पर मानवों के मध्य एक-दूसरे को हानि न पहुँचाने तथा वैयक्तिक हितों को बनाए रखने के सम्बन्ध में पारस्परिक व्यवहार की कुछ परम्पराएँ मात्र रहती आई हैं। अतः 'उत्तमता ऐसी भावना है जिसका उपभोग वैयक्तिक है और सामाजिक व्यवस्था का औचित्य इसी बात पर निर्भर करता है कि वह अधिक से अधिक अपने सदस्यों के व्यक्तिगत हितों की पूर्ति करने में सचेष्ट रहे।'

(6) **राज्य सदृश संस्था की उत्पत्ति का आधार सामाजिक समझौता है**—इपीक्यूरियन विचारक प्लेटो तथा अरस्तू की राज्य विषयक धारणा का कि राज्य नैसर्गिक संवास है तथा मनुष्य स्वभावतः एक राजनीतिक प्राणी है विरोध करते हैं। उनके मत से राज्यों की उत्पत्ति मनुष्यों ने पारस्परिक संविदा द्वारा आत्मरक्षा

तथा वैयक्तिक सुख-प्राप्ति के उद्देश्य से की है। उनके विचार से मनुष्य स्वार्थी है और अपने ही हित की चिन्ता करता है। इस प्रकार मनुष्य-मनुष्य के मध्य व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की धारणाएँ उनके निजी स्वार्थों तथा सुखों की प्राप्ति में बाधा उत्पन्न करती हैं। इनका निराकरण करने के लिए ही लोग आपस में समझौता करते हैं कोई किसी व्यक्ति को हानि न पहुँचाये, न किसी को ऐसी हानि का सामना करना पड़े। उनके विचार से 'सर्वोत्तम जीवन वह है जिसमें अन्याय किया तो जाए पर उसे सहन न करना पड़े, और निकृष्टतम जीवन वह है जिसमें अन्याय सहन किया जाय पर अन्याय करने की क्षमता न हो।' प्रथम व्यवस्था असम्भव है और द्वितीय असहनीय। इसलिए लोग आपसी संविदा द्वारा एक-दूसरे के अधिकारों को मान्यता देते हैं। इसी प्रक्रिया द्वारा मानवों के पारस्परिक व्यवहारों को सुविधा प्रदान करने के लिए कानून तथा राज्य की उत्पत्ति होती है।

(7) **कानून, न्याय, राजसत्ता आदि का औचित्य तभी है जबकि वे व्यक्तियों के व्यक्तिगत सुख की प्राप्ति में सहायक हों**—मानवों की स्वार्थमयी प्रवृत्ति का दमन करने के लिए ही एक सामूहिक सत्ता (सरकार) का सृजन किया जाता है। इस दृष्टि से राज्य, सरकार, कानून या न्याय आदि धारणाएँ नैसर्गिक नहीं हैं, बल्कि परम्परागत अथच संविदागत हैं। नैतिकता, व्यावहारिकता का ही रूप है। निरपेक्ष नैतिकता जैसी कोई धारणा नहीं है। जो व्यावहारिक दृष्टि से उचित है, वही नैतिक है। न्याय, कानून तथा शासन के स्वरूप विविध जन-समूह में विविध प्रकार के होते हैं, जो किसी जन-समूह के व्यक्तियों के मध्य हुई संविदा तथा परम्परा पर आधारित होते हैं। अतः इपीक्यूरियन विचारकों की दृष्टि में शासन का कोई भी रूप, यहाँ तक कि निरंकुश स्वेच्छाचारी शासन भी अच्छा है, यदि उसमें व्यक्तियों के वैयक्तिक सुख प्राप्ति के साधन सुलभ हों। इपीक्यूरियन राजतन्त्र को सबसे उत्तम व्यवस्था मानते हैं।

(8) **नैतिकता, कानून, न्याय आदि का स्वरूप सार्वभौम नहीं है**—इसी प्रकार न्याय तथा कानून की धारणा भी निरपेक्ष नहीं है। यह विविध जन-समूहों के मध्य प्रचलित जीवन प्रक्रिया के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। एक कानून जो किसी जन-समूह के मध्य अनुचित माना जाए वह दूसरे जन-समूह के मध्य उचित हो सकता है। इसी प्रकार एक ही जन-समूह के मध्य भी उसमें विभिन्न कालों में विविधता आ सकती है। इस प्रकार कानून न्याय, शासन आदि की उपादेयता का आधार व्यावहारिकता (expediency) है, जिसका उद्देश्य व्यक्तिगत सुख है। इनका कोई नैसर्गिक या सार्वभौम अस्तित्व नहीं है।

(9) **समाज की उत्पत्ति तथा विकास नैसर्गिक नहीं है प्रत्युत् व्यक्तिगत सुख की आवश्यकतावश हुआ है**—सामाजिक संगठन के विकास तथा उत्पत्ति को इपीक्यूरियन विशुद्ध तथा भौतिकवादी सिद्धान्तों के आधार पर समझाते हैं। उनके मत से मानव को व्यक्तिगत सुख के अतिरिक्त समाज की उपादेयता के प्रति कोई रुझान नहीं है। प्रारम्भ में मनुष्य अकेला इधर-उधर भटकता था। वह गुफाओं में रहता था। आग का आविष्कार होने पर उसे कुछ सुविधा प्राप्त हुई। बाद में वह झोपड़ी में रहने लगा और चर्म-वस्त्र पहनने लगा। फिर चिल्लाहट के रूप में भाषा का आविष्कार हुआ। धीरे-धीरे कला, कानून आदि का विकास हुआ। यह सब व्यक्ति के वैयक्तिक सुख की अभिवृद्धि का हेतु था। दैवी शक्ति पर विश्वास मनुष्य

के स्वप्नों की उपज है। अन्यथा दैवी सत्ता मानव के कार्य-कलापों से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। समाज व्यक्ति के लिए नैसर्गिक नहीं है, बल्कि व्यक्तिगत सुख का साधन मात्र हो सकता है।

प्रभाव—इपीक्यूरियन दर्शन ने तत्कालीन विचारधारा को प्रभावित करने में बहुत योगदान नहीं किया। परन्तु उसके भौतिकवादी तथा व्यक्तिवादी दृष्टिकोण ने सत्रहवीं शताब्दी में हॉब्स की विचारधारा को बहुत प्रभावित किया। मानव स्वभाव का जो चित्रण हॉब्स ने किया है और उसके परिणामस्वरूप जिस प्रकार वह राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक संविदा सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है उसमें इपीक्यूरियन दर्शन की स्पष्ट छाप है। जब इस विचारधारा का प्रतिपादन किया जा रहा था, तब लोगों के ऊपर धर्म का पर्याप्त प्रभाव था। अतः दैवी भावना की विरोधी होने के कारण इस विचारधारा को बहुत समर्थन प्राप्त नहीं हुआ। इपीक्यूरियन दर्शन में निहित सुखवाद के सिद्धान्त को 19वीं सदी में बेंथम ने अपनाया; उपयोगितावादी राज्य-दर्शन में इपीक्यूरियन विचारधारा का बहुत बड़ा प्रभाव दिखाई देता है।

यह भी सत्य है कि इपीक्यूरियन विचारधारा का सुखवाद सुख की प्राप्ति का अन्धानुसमर्थन नहीं करता। इन विचारकों ने शारीरिक एवं मानसिक इच्छाओं की संयमित (moderate) तुष्टि का समर्थन किया है। उन्होंने शारीरिक सुखों की अपेक्षा आत्मिक सुखों की तुष्टि पर अधिक जोर दिया है। इनकी शिक्षा का तात्कालिक प्रभाव यही हुआ कि लोग प्रत्येक समस्या पर नैतिकता की दृष्टि से विचार करने की अपेक्षा सुखवाद की दृष्टि से विचार करने लगे। अतः प्लेटो तथा अरस्तू ने सद्‌गुण, न्याय तथा नैतिकता के जिन उच्चतम आदर्शों का प्रतिपादन राजनीतिक दर्शन के निर्माण में किया था उन्हें भौतिकवादी सुख तथा उपयोगिता के इन निकृष्टतम आदर्शों ने गिरा दिया। इपीक्यूरियन शिक्षा ने मानव को सामाजिकता के उच्च आदर्शों से विमुख होने का उपदेश देकर पलायनवादी जीवन बिताने की प्रेरणा लोगों को दी सैबाइन ने उचित ही कहा है कि 'सचमुच में इपीक्यूरियन दर्शन समूचे अर्थ में एक पलायनवादी दर्शन (philosophy of escape) था।' यह केवल व्यक्तिगत रूप में कुछ मनुष्यों के लिए शान्ति तथा सान्त्वना का स्रोत रहा, परन्तु राजनीतिक आदर्शों के विकास में तत्कालीन परिस्थितियों में यह प्रभावहीन ही रहा।

सिनिक दर्शन

उत्तर-अरस्तू काल में इपीक्यूरियनों की भाँति सिनिक (Cynic) सम्प्रदाय के कुछ उपदेशकों का भी ग्रीस में अभ्युदय हुआ। इस सम्प्रदाय का संस्थापक ऐन्टिस्टनीज (Antisthenes) था। इसके अन्य समर्थक डायोजिनीज (Diogenes) तथा क्रेटिस (Crates) और उसकी पत्नी हिप्पार्किया (Hipparchia) थे। यह सभी प्रकार से भिखारी या संन्यासी हो चुके थे। अतः इपीक्यूरियनों की भाँति इनकी शिक्षाएँ भी पलायनवादी विचारधारा की द्योतक हैं। सिनिक लोग ग्रीक नगर-राज्यों की सामाजिक वर्गगत संरचना के विरुद्ध थे। इन्होंने मनुष्य जीवन के लिए किसी भी प्रकार की सम्पत्ति (goods of life) का विरोध किया। इन लोगों का मुख्य उद्देश्य दरिद्रों को उपदेश देना था जिससे कि सम्पत्ति-विहीन दीन लोग उनकी

शिक्षा के प्रभाव में आकर सांसारिक सुख-भोग, आकांक्षाओं आदि की तृप्ति के वशीभूत न रहने पाएँ। सैबाइन ने कहा है कि 'यदि प्राचीन जगत में ऐसी कोई घटना पैदा हुई होती तो सिनिकों को सर्वहारा वर्ग के दार्शनिकों का सर्वप्रथम उदाहरण कहा जा सकता है।'[1]

सिनिक शिक्षा का सार यह है कि एक बुद्धिमान व्यक्ति को पूर्णतया आत्म-निर्भर होना चाहिए। इसका यह अभिप्राय है कि मनुष्य को सम्पत्ति, परिवार, वैवाहिक जीवन, नागरिकता, सामाजिक प्रतिष्ठा, ज्ञान आदि से कोई सरोकार नहीं होना चाहिए। सिनिकों के मत से समस्त मानव समान हैं। नागरिक-अनागरिक, मालिक-दास, धनी-निर्धन आदि के मध्य किसी प्रकार का भेदभाव नहीं है। सिनिक उपदेशक व्यक्ति को एक तपस्वी का सा जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देते हैं। सिनिक राजनीतिक दर्शन अराजकतावाद की स्वप्नलोकी व्यवस्था का प्रतिपादन करता है। उसमें सम्पत्ति, परिवार, सरकार आदि का अस्तित्व नहीं होगा। सब वस्तुएँ सबकी होंगी। ऐसी व्यवस्था में बुद्धि ही नागरिकता की प्रथम आवश्यकता होगी। ऐसे राज्य का न कोई स्थान होगा, न उसमें कानून होगा। सिनिकों की यह धारणा समूचे विश्व को एक राजनीतिक समाज मानने की धारणा की द्योतक है। सिनिक विचारधारा के अनुसार विश्व के समस्त बुद्धिमान व्यक्ति एक एकाकी समुदाय का निर्माण करते हैं। उसे विश्व राज्य कहा जा सकता है। अतः बुद्धिमान व्यक्ति विश्व राज्य का नागरिक है और वह मानव-मात्र को भाई-भाई समझता है।

सिनिक विचारधारा का स्वयं में कोई महत्त्व इसलिए नहीं है कि इसने पलायनवादी दृष्टिकोण अपनाकर मनुष्य को सामाजिक जीवन से पृथक् रहने का उपदेश दिया। परिणामस्वरूप राजनीतिक दर्शन के रूप में यह विश्व-बन्धुत्व तथा सार्वभौम विश्व-राज्य की विध्यात्मक रूपरेखा प्रस्तुत करने में असमर्थ रहा। उसने मानव समाज को प्रारम्भिक असभ्य जीवन की अवस्था के रूप में लिया और इस दृष्टि से वह राजनीतिक संस्थाओं के स्वरूप आदि का विवेचन प्रस्तुत नहीं कर पाया है। परन्तु सिनिक उपदेशकों की विश्व-बन्धुत्व की धारणा तथा मानवीय समानता की धारणा ने स्टॉइक दार्शनिकों को प्रभावित किया। स्टॉइक दर्शन के विकास में दर्शन का प्रभाव होने के कारण ही इसका भी कुछ महत्त्व सिद्ध होता है।

स्टॉइक दर्शन

स्टॉइक (Stoic) का शाब्दिक अर्थ है ऐसा व्यक्तित्व जिसमें कष्ट के समय महान् उत्साह बना रहता हो। स्टॉइक विचारधारा (Stoicism) मनुष्य को अपनी इच्छा को वश में करने के लिए कष्ट-साध्य जीवन व्यतीत करने का उपदेश देती है। यह एक प्रकार की नैतिक विचारधारा है। अरस्तू के पश्चात् ग्रीक राजनीतिक जीवन के क्षेत्र में इपीक्यूरियन विचारकों ने व्यक्तिगत सुख की महत्ता तथा सामाजिक जीवन से निवृत्ति का उपदेश देकर राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में व्यक्तिवादी प्रवृत्ति का सृजन किया था। परन्तु दूसरी ओर विश्व-बन्धुत्व एवं सार्वभौम मानवतावादी प्रवृत्तियाँ भी उत्पन्न हो रही थीं। इस दिशा में तत्कालीन स्टॉइक विचारकों के

[1] 'In so far as the ancient world produced such a phenomenon, the Cynics may be described as the earliest examples of the proletarian philosopher.' —*Ibid.*, 127.

दर्शन ने पर्याप्त योगदान किया। स्टॉइक उपदेशकों के सम्प्रदाय का संस्थापक जैनो (Zeno) नाम का व्यक्ति था जिसने ईसा से लगभग 300 वर्ष पूर्व इस विचारधारा का श्रीगणेश किया। कालान्तर में इस सम्प्रदाय के अन्य विचारक ग्रीस के बाहर के व्यक्ति रहे। क्राइसिप्पस (Chrysippus) ने इस विचारधारा को रोम तक पहुँचाया। ईसवी सदी के कुछ वर्षों तक स्टॉइक विचारधारा ने राजनीतिक चिन्तन को एक नयी दिशा प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। कालान्तर में ग्रीस से प्रारम्भ होने वाली यह विचारधारा रोम में फैली और इसने वहाँ के शिक्षित वर्ग को बहुत प्रभावित किया।

रोमन राजनीतिक दर्शन पर स्टॉइक विचारधारा का व्यापक प्रभाव पड़ा। इस प्रकार स्टॉइक विचारधारा को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(1) इसका वह रूप जिसे इसके प्रारम्भिक संस्थापकों—जैनो तथा क्राइसिप्पस—ने प्रदान किया था, जबकि इसमें इपीक्यूरियन तथा सिनिक दर्शन का प्रभाव था और स्टॉइकों ने उसे शिष्ट तथा नैतिक रूप प्रदान किया था। (2) इसका वह संशोधित रूप जो कार्नीड्स तथा पैनेटियस के विचारों में मिलता है और जिसकी छाप रोमन विचारकों—पोलिबियस तथा सिसरो—के दर्शन में मिलती है।

स्टॉइक विचारधारा की विशेषताएँ

इपीक्यूरियन तथा सिनिक दर्शन से प्रभावित—स्टॉइक विचारक इपीक्यूरियनों की इस धारणा का समर्थन करते है कि मानव जीवन का उद्देश्य सुख प्राप्त करना है। परन्तु वे इसके अर्थ तथा इसकी उपलब्धि के साधनों के बारे में इपीक्यूरियनों से भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं। इपीक्यूरियन संयमित, भौतिक तथा बौद्धिक इच्छा की तुष्टि पर बल देते थे, किन्तु स्टॉइक भौतिक इच्छाओं की तृप्ति की अपेक्षा विवेक पर आधारित नैतिक इच्छा की तुष्टि पर बल देते हैं। उनके मत से वास्तविक सुख आनन्द की प्राप्ति में नहीं है, अपितु सद्गुणों की प्राप्ति में है। अत: मानव को अपने विवेक का अनुसरण करना चाहिए, न कि भावनाओं का। प्रारम्भ में स्टॉइक विचारधारा सिनिक विचारधारा की ही एक शाखा के रूप में थी। इसके संस्थापक जैनो का कहना था कि 'आदर्श राज्य में मानव एक एकाकी 'समूह' (herd) के रूप में जीवन व्यतीत करेगा, जिसमें न उसका परिवार होगा, न सम्पत्ति अथवा कानून।'[1] सिनिकों की प्राकृतिक तथा अराजक समाज की यह धारणा मानव-जीवन को आरम्भिक असभ्य समाज की स्थिति की ओर ले जाती है। अत: ऐसी धारणा में जीवन भद्देपन तथा असभ्यता के कारण बाद में जैनो सिनिकों की इस विचारधारा से विरोध रखने लगा।

सार्वभौम रूप से मानवीय समानता की धारणा का समर्थन—प्लेटो तथा अरस्तू ने शासक-शासितों, नागरिक-अनागरिकों एवं मालिक-दासों के मध्य भेद किया था। उनकी नागरिकों के मध्य समानता की धारणा राज्य के एक छोटे से वर्ग के मध्य समानता की धारणा की परिचायक थी। परन्तु स्टॉइक विचारकों ने मानव मात्र के मध्य समानता की धारणा का प्रतिपादन किया। उनके विचार से नागरिक,

[1] 'In the ideal state, men would live as a single 'herd', without family and presumably without property, with no distinction of race or rank, and without the need of money or courts of law.' —Sabine, *op. cit.*, 133.

विदेशी दास या असभ्य के मध्य भेद नहीं माना जाना चाहिए। सभी मानव ईश्वर की सन्तान हैं अतः वे सब भाई-भाई हैं। यदि मानव-मानव में कोई अन्तर है तो वह विवेक या अविवेक होने के कारण है। क्राइसिप्पस का कहना था कि कोई भी व्यक्ति प्राकृतिक रूप से दास नहीं है। दास को जन्म भर के लिए किराये पर लिये गये श्रमिक के रूप में माना जाना चाहिए। यह धारणा अरस्तू की इस धारणा के विपरीत है कि दास एक जीवित उपकरण के रूप में होता है।

प्राकृतिक कानून की धारणा का सृजन—स्टॉइक विचारधारा के अनुसार मनुष्य विवेकशील है और ईश्वर भी विवेकशील है। मानवों की आत्मा में उसी दैवी अग्नि ने, जो कि समस्त विश्व को दीप्त करती है, एक चिनगारी डाल दी है। अतएव मनुष्य अन्य जीवधारियों की अपेक्षा विवेकशील होने के कारण उनसे श्रेष्ठतर है। मनुष्य में बोलने की शक्ति है। उसे उचित-अनुचित का बोध होता है इसीलिए मनुष्य समाज में रहना आवश्यक समझता है। चूंकि समस्त मानव समान हैं और समान रूप में विवेक रखते हैं, अतः वे सब एक विश्व-राज्य के नागरिक हैं। इस विश्व राज्य का संविधान 'उचित विवेक' है, जो व्यक्तियों को समस्त कार्यों के सम्बन्ध में उचित-अनुचित का बोध कराता है। यही विवेक प्राकृतिक कानून है। अतः स्टॉइक दार्शनिकों के अनुसार प्राकृतिक कानून मानव-मात्र का उचित विवेक है, जो निश्चित एवं अपरिवर्तनीय होता है। यह किसी व्यक्ति-विशेष का विवेक न होकर सार्वभौम-मानव का विवेक है, जिसे सार्वभौम रूप से मानवों का अनुसमर्थन प्राप्त है। सभी विवेकयुक्त मानव एक समान हैं और वे एक ही प्राकृतिक कानून के अधीन हैं। अतः सबके अधिकार समान हैं। प्राकृतिक कानून समस्त मानवों तथा देवताओं पर लागू होता है। वह शासक तथा शासितों के मध्य भेद नहीं करता। अतएव इसकी अनुशास्ति ईश्वरीय है। क्राइसिप्पस ने कहा है कि 'प्राकृतिक कानून देवताओं तथा मानवों के समस्त कार्य-कलापों पर शासन करता है। कौनसी बात सम्माननीय है और कौनसी तुच्छ, इसका निदेशन, शासन तथा निर्णय वही करता है। अतः यह उचित-अनुचित का भेद करने का मापदण्ड है। उन समस्त प्राणियों के सम्बन्ध में जो स्वभावतः सामाजिक हैं, कानून ही इस बात का निदेशन करता है कि कौन-सा कार्य किया जाना चाहिए तथा कौन-सा कार्य वर्जित है।' अतः स्टॉइकों की दृष्टि में, 'प्राकृतिक कानून विवेक का वह सामूहिक, सार्वभौम, दैवी तथा श्रेष्ठ नियम है जो एक प्राकृतिक समुदाय में सम्मिलित समस्त प्राणियों के ऊपर शासन करता है।'[1] स्टॉइक दार्शनिकों के द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक कानून की धारणा ने रोमन विधि के सृजन में बड़ा प्रभाव डाला। साथ ही सम्पूर्ण मध्य युग तथा उसके उपरान्त भी 18वीं सदी तक के अनेक विचारकों ने प्राकृतिक कानून के सिद्धान्त के आधार पर अपने राजनीतिक चिन्तन का विकास किया।

प्राकृतिक कानून तथा परम्परागत कानून के मध्य भेद—स्टॉइक विचारकों के अनुसार मानव दो प्रकार के कानूनों के अधीन है। वह जिस राजनीतिक समाज का सदस्य है उस समाज के परम्परागत कानून का उसे अनुगमन करना पड़ता है। इस परम्परागत कानून (customary law) को राज्य का कानून (law of the city) कहा गया है। साथ ही मानव को विवेक के कानून का भी अनुगमन करना

[1] 'The Law of Nature is that common universal divine and good rule of reason which governs creatures combined in a natural association.'

पड़ता है। यह सम्पूर्ण मानवों का विवेक है, अतः यह विश्व-राज्य का कानून (the law of the world city) है। यही प्राकृतिक कानून है। परम्परागत कानून एक समाज से दूसरे समाज में भिन्न प्रकार का होता है क्योंकि परम्पराएँ विविध प्रकार की होती हैं। परन्तु विवेक एक है, अतः विवेक का कानून समस्त विश्व के लिए एक है। प्रत्येक राजनीतिक समाज उसके अधीन है।

विश्व-बन्धुत्व तथा सार्वभौम विश्व समाज की धारणा का समर्थन—इस प्रकार स्टॉइक दार्शनिक एक विश्व-व्यापी कानून के आधार पर सम्पूर्ण मानव समाज के लिए एक एकाकी विधि व्यवस्था की कल्पना करते हैं, जिसके अधीन अनन्त नागरिक कानून (customary laws) होंगे। परन्तु विश्व-व्यापी कानून की आधीनता में शासित होने वाले समस्त मानवों का एक राज्य होना चाहिए। चूँकि परम्परागत कानून विवेक के कानून, अर्थात् प्राकृतिक कानून का विरोधी नहीं हो सकता, अतः विभिन्न राजनीतिक समाजों के नागरिकों के मध्य विरोध या दुश्मनी नहीं हो सकती। स्टॉइकों की यह धारणा विश्व-बन्धुत्व, मानवीय एकता, समानता तथा एक मानव समाज की धारणा को पुष्ट करती है।

राजत्व के दैवी-अधिकार-सिद्धान्त की स्वीकारोक्ति—स्टॉइक विचारधारा हेलन प्रदेशों से चली थी, जहाँ उस समय राजतन्त्र स्थापित थे। सिकन्दर भी उन्हीं क्षेत्रों का सम्राट था। उस युग में राजाओं को दैवी मानने के प्रभाव से ग्रीस भी अछूता नहीं रहा। धर्म का प्रभाव भी राजा को दैवत्व प्रदान करने में सहायक सिद्ध हुआ। ग्रीस के अनेक राज्यों में राजतन्त्र इसी स्वरूप के माने जाते थे। सैबाइन ने कहा है कि उस काल में 'एक सच्चे राजा को इस दृष्टि से दैवी माना जाता था कि वह अपने राज्य में उसी रूप में समरूपता (harmony) लाता है जिस रूप में ईश्वर समस्त विश्व में समरूपता लाता है।' इस दृष्टि से प्रारम्भ में स्टॉइक विचारधारा निरंकुश राजतन्त्रों के मध्य विकसित होने के कारक राजत्व के दैवी सिद्धान्त से पूर्णतया मुक्त नहीं थी। परन्तु जैसा सैबाइन का मत है, 'राजत्व को दैवी स्वरूप प्रदान करने का आदर्श स्टॉइक विचारधारा के शास्त्रीय रूप (classis form) में ज्ञात नहीं होता।' स्टॉइक विचारकों ने एक सार्वभौम कानून तथा विश्व राज्य की धारणा को अपने दर्शन का मुख्य अंग बनाया जिसके अन्तर्गत राजत्व के दैवी स्वरूप को कोई स्थान प्राप्त नहीं हो सकता था।

नैतिक तथा धार्मिक आदर्श—स्टॉइक विचारधारा एक नैतिकता का दर्शन है जो व्यक्तिगत आत्म-निर्भरता तथा कल्याण का उद्देश्य रखती है। परन्तु इपीक्यूरियन तथा सिनिक दर्शन के विपरीत यह मानव कल्याण हेतु निवृत्ति का मार्ग अपनाने की शिक्षा नहीं देती। यह दृढ़ प्रतिज्ञता, उत्साह तथा कर्त्तव्य-परायणता का उपदेश देती है, न कि केवल भौतिक सुख-प्राप्ति का यह ईश्वर की सर्वोच्च सत्ता पर विश्वास रखती है और मनुष्य को पृथ्वी पर ईश्वर का एक सैनिक मानती है। इस विचारधारा के अनुसार संसार एक नाटक का रंगमंच है। मानव उसके पात्र हैं प्रत्येक मानव को जो पात्रता (कर्त्तव्य) सौंपी गयी है, उसे उसका समुचित रूप से अभिनय करना चाहिए। 'स्टॉइकों की मौलिक शिक्षा प्रकृति की एकता (oneness) तथा पूर्णत्व अर्थात् एक सच्ची नैतिक व्यवस्था पर धार्मिक विश्वासिता थी।'[1]

[1] 'The fundamental teaching of the Stoics was a religious conviction of the oneness and perfection of nature of a true moral order.' —*Ibid.*

राज्य तथा व्यक्ति—प्लेटो तथा अरस्तू का विश्वास था कि व्यक्ति को उत्तम जीवन की प्राप्ति राज्य का सदस्य रहकर ही हो सकती है। राज्य के बाहर व्यक्ति की आत्म-निर्भरता तथा पूर्णता असम्भव है। परन्तु स्टॉइक इस धारणा को नहीं मानते थे। वे व्यक्ति को स्वयं अपने में पृथक् इकाई मानते थे। उनके विचार से आत्म-निर्भरता राज्य या समाज की अपेक्षा व्यक्ति के लिए अधिक अपेक्षित है। मानवों के मध्य नियामक शक्ति राजनीति की अपेक्षा आचार-शास्त्र अधिक है। मानवों के मध्य प्राकृतिक असमानता की धारणा का विरोध करके स्टॉइकों ने राजनीति में स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व की धारणाओं के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

स्टॉइक विचारधारा में संशोधन

कारनीड्स द्वारा संशोधन का सुझाव—स्टॉइक विचारधारा की विशेषताओं का जो संक्षिप्त परिचय उपर्युक्त शीर्षकों में दिया गया है, वह इस विचारधारा का प्रारम्भिक रूप है जबकि वह इपीक्यूरियन तथा सिनिक दर्शन से प्रभावित थी, और उनके भद्देपन को उसने बहुत कुछ अंशों में दूर करने का प्रयास भी किया था। प्रारम्भिक स्टॉइक विचारधारा की कठिनाई यह थी कि मानव को सामाजिक विरक्ति का उपदेश देती रही और प्राकृतिक कानून का सम्बन्ध विविध परम्परागत नियमों तथा रीति-रिवाजों के साथ स्थापित नहीं कर पायी। द्वितीय शताब्दी से इस विचारधारा की कई दृष्टियों से आलोचना की जाने लगी। स्केप्टिक कारनीड्स (Sceptic Carneades) ने इसकी आलोचना धार्मिक, मनोवैज्ञानिक एवं न्याय सम्बन्धी सिद्धान्तों के आधार पर की थी। कारनीड्स के मत से स्टॉइकों का बुद्धिमान व्यक्ति एक अप्राकृतिक रूप का दीर्घकाय मानव था, जो भावनाओं तथा भावावेशों से पूर्णतया विरक्त होकर अमानवीय रहता। कारनीड्स का दूसरा तर्क यह था कि स्टॉइकों के इस विश्वास में कठिनाई थी कि नैतिक विश्वास तथा व्यवहार की कमियों के लिए एक न्याय का सार्वभौम कानून होता है। इस आलोचना का उद्देश्य स्टॉइक दर्शन में प्लेटो तथा अरस्तू द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का समावेश करके उसे संशोधित करना था। तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों की दृष्टि से भी स्टॉइक विचारधारा में संशोधन आवश्यक थे।

पैनेटियस द्वारा संशोधन—ईसा की दूसरी सदी पूर्व के अन्तिम वर्षों तक इस विचारधारा ने रोम के शहरी क्षेत्रों के शिक्षित वर्ग को काफी प्रभावित कर लिया था। अतः स्पष्टतया सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में इसका प्रभाव बढ़ने लगा। इस बीच पैनेटियस (panaetius) ने स्टॉइक विचारधारा को रोम के कुलीनतन्त्री वर्ग के मध्य प्रसारित करने तथा उसे कारनीड्स की आलोचना के आधार पर नये रूप में व्यक्त करने का कार्य प्रारम्भ किया। 'रोम के बढ़ते हुए साम्राज्य की सफलता एवं लोगों में आत्म-संयम, कर्त्तव्य-परायणता तथा सार्वजनीन भावना के संचार के लिए यही विचारधारा सर्वोत्तम सिद्ध हो सकती थी।' पैनेटियस ने इस विचारधारा को अधिक मानवतावादी बनाने का प्रयास किया। सैबाइन के शब्दों में, 'उसने आत्म-निर्भरता के स्थान पर जन-सेवा, मानवता, सहानुभूति तथा दया के आदर्शों को स्थानापन्न किया।' उसने मानवीय समानता की धारणा को अधिक स्पष्ट रूप से समझाया। उसकी यह धारणा थी कि विवेक केवल बुद्धिमानों का

नियम नहीं, अपितु सब मानवों का नियम है। इसलिए सब मानव समान हैं। अतः प्राकृतिक देन, धन आदि की विविधता को किंचित छूट देते हुए भी मानव होने के नाते जो अधिकार मनुष्य के लिए अपेक्षित हैं, वे सबको समान रूप से प्राप्त होने चाहिए। 'न्याय राज्यों के लिए एक कानून है, जो कि उन्हें एक साथ बाँधने का बन्धन है। यह बात इस अर्थ में नहीं है कि राज्य अन्यायी नहीं हो सकता, बल्कि इस अर्थ में है कि यदि वह अन्याय करता है तो वह उस समरूपता (harmony) के आधार को खो देता है, जो उसे एक राज्य बनाता है।' इस प्रकार बाद के स्टॉइक दर्शन के मूलभूत आदर्श—मानव जाति की एकता, मानवीय समानता, राज्य का न्याय, स्त्री-पुरुषों की समान महत्ता, पत्नी तथा बच्चों के अधिकारों का सम्मान, दया, प्रेम, सहिष्णुता, साथियों के प्रति दानशीलता, हर दशा में मानवीयता (यहाँ तक कि घोर अपराध करने वाले व्यक्तियों को मृत्यु-दण्ड देना तक) आदि हैं।

इस दृष्टि से स्टॉइक दर्शन ने न केवल मानवतावाद, मानवीय समानता तथा विभिन्न राजनीतिक समाजों के मध्य एकता की भावना को ही विकसित करने में योगदान किया, बल्कि न्याय तथा दया (justice and mercy) की धारणाओं की भी नये दृष्टिकोण से व्याख्या की। उनकी विचारधारा में न्याय सार्वभौम विवेक का एक रूप है। उसका आधार समानता है, जिसका उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति को अपना प्राप्य उपलब्ध कराना है। दया की धारणा का सम्बन्ध मुख्यतया दासों से था। दासों में विवेक तथा उत्साह तत्त्वों की कमी होने पर भी मानवता के नाते, स्टॉइक विचारक मालिकों को उनके प्रति दया तथा मानवीय व्यवहार करने का उपदेश देते हैं। इस प्रकार स्टॉइक दर्शन ने जहाँ एक ओर प्लेटो तथा अरस्तू के ग्रीक नगर-राज्यों की आत्म-निर्भरता तक सीमित संकीर्ण विचारधारा का विरोध करके सार्वभौम मानव समाज तथा विश्व राज्य की धारणा के विकास को महत्त्व दिया, वहाँ उन्होंने पुनः प्लेटो तथा अरस्तू के न्याय, नैतिकता एवं उत्तम सद्गुणयुक्त जीवन के आदर्शों को अपनाकर उन्हें सार्वभौम रूप से सम्पूर्ण मानवों के सम्बन्ध में लागू किए जाने के आदर्श को प्रस्तुत किया।

राजनीतिक चिन्तन पर प्रभाव

अरस्तू के पश्चात् ग्रीस की राजनीतिक विचारधाराओं में से स्टॉइक विचारधारा ही ऐसी सिद्ध हुई जिसने अत्यन्त दीर्घ काल तक राजनीतिक चिन्तन को प्रभावित किया। रोमन साम्राज्य के विस्तार तथा रोमन विधि के विकास में स्टॉइक विचार ने महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला। प्राकृतिक कानून तथा सार्वभौम विश्व-राज्य की धारणा जो रोमन काल तथा मध्य युग के राजनीतिक चिन्तन में बनी रही, उस पर स्टॉइक दर्शन की स्पष्ट छाप है। ईसाई धर्म की समानता तथा भ्रातृत्व की शिक्षाओं पर भी इसका प्रभाव स्पष्ट है। स्टॉइक दर्शन ने ग्रीक नगर-राज्यों की संकीर्णता भरी राज्य-व्यवस्था का विरोध करके विश्व राज्य की धारणा को बलवती बनाने में पर्याप्त सहायता दी। राजनीतिक चिन्तन में राजाओं के दैवी अधिकार के सिद्धान्त, सामाजिक कर्त्तव्य-परायणता की धारणा तथा स्वतन्त्रता, समानता, न्याय, भ्रातृत्व आदि की धारणाओं के विकास में भी स्टॉइक दर्शन का पर्याप्त प्रभाव है।

पाँचवाँ अध्याय

रोमन राजनीतिक चिन्तन

रोमन साम्राज्य का विकास

पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में ग्रीक राजनीतिक विचारधाराएँ प्रथम युग का निर्माण करती हैं। इसका दूसरा युग रोमन राजनीतिक चिन्तन का है। ग्रीस के नगर-राज्यों की भाँति इटली में रोम भी प्रारम्भ में एक नगर-राज्य था, जिसमें कई कबीले रोम के आस-पास की पहाड़ियों में एक संयुक्त राजनीतिक समाज के रूप में निवास करते थे। उसकी शासन-व्यवस्था राजतन्त्रात्मक थी। परन्तु उसमें ग्रीस के नगर-राज्यों की भाँति लोकतन्त्री तत्त्व भी विद्यमान थे। राजा, उसकी सीनेट तथा एक सभा, यह तीन संस्थाएँ शासन कार्य में भाग लेती थीं। राजा का निर्वाचन सभा करती थी। शासन-व्यवस्था के संचालन में सीनेट राजा को सलाह देने का कार्य करती थी। सभा में कुछ कुलीन वर्ग के लोग (patricians) रहते थे। परन्तु कालान्तर में जनसाधारण वर्ग (plebians) ने भी सभा में अपने प्रतिनिधित्व की माँग की। अतः उनकी भी एक अलग सभा बन गयी।

ईसा के लगभग 500 वर्ष पूर्व रोम एक गणतन्त्र बन गया। 300 ई० पू० के लगभग कुलीन वर्ग तथा जनसाधारण वर्ग के मध्य सत्ता संघर्ष बढ़ जाने से दोनों की एक मिश्रित सभा बन गयी। गणतन्त्रात्मक व्यवस्था में राजा का स्थान कौंसल्स (Consuls) ने लिया जो सभा द्वारा निर्वाचित होते थे और नागरिक तथा सैनिक सत्ता का प्रयोग करते थे। प्रशासनिक व्यवस्था चलाने के लिए कालान्तर में प्रशासकों (magistrates) के पदों का सृजन किया जाने लगा जिन्हें प्रेटर्स (Praetors) तथा सेन्सर्स (Censors) कहा जाता था। इन पदों पर मुख्यतया जनसाधारण वर्ग के लोग रहते थे। धीरे-धीरे जनसाधारण वर्ग की सभा शक्तिशाली होती गयी। इसे कमीटिया ट्रिब्यूटा (Comitia Tributa) कहा जाता था और यह कानून बनाने वाली मुख्य संस्था हो गयी। कुलीन वर्ग की सभा कमीटिया क्यूरियाटा (Comitia Curiata) कहलाती थी जो मुख्यतया धार्मिक मामलों से सम्बन्ध रखती थी। दोनों वर्गों की सम्मिलित सभा को कमीटिया सेन्चुरियाटा (Comitia Centuriata) कहा जाता था। इसका मुख्य कार्य कौंसलों का निर्वाचन करना था। सीनेट का अस्तित्व गणतन्त्र के युग में भी पूर्ववत् एककुलीन वर्गीय संस्था के रूप में बना रहा। इसके सदस्य शासन के उच्च पदों पर कार्य करने वाले अधिकारी हुआ करते थे। यद्यपि यह एक सलाहकारी संस्था ही थी, तथापि यह शासन-व्यवस्था के राजनीतिक, वित्तीय, सामाजिक आदि विविध क्षेत्रों में व्यापक प्रभाव डालती थी।

गणतन्त्र की व्यवस्था सुस्थापित हो जाने पर रोम ने अपने राज्य का विस्तार करना प्रारम्भ किया। ईसा की द्वितीय शताब्दी पूर्व की अवधि में रोम का राज्य

पर्याप्त विस्तृत हो चुका था। उसने अपने आस-पास के अनेक प्रदेशों को अपने अधीन कर लिया था। इस प्रकार वह एक विशाल साम्राज्य के रूप में परिणत हो गया। इसके कारण रोम का नगर-राज्यीय स्वरूप समाप्त हो गया और उसकी शासन-व्यवस्था भी अत्यधिक केन्द्रीकृत होती गयी। साम्राज्य द्वारा विजित राज्य या तो स्वायत्तशासी स्थानीय इकाई राज्यों के रूप में थे, उनकी स्थिति रोम के उपनिवेशों की सी थी। ऐसी स्थिति में साम्राज्य के शासन का रूप भी स्वेच्छाचारी होता गया। केन्द्रीय शासन विजित प्रादेशिक क्षेत्रों में जिन शासकों को नियुक्त करता था, वे भी बहुत कुछ अंश में स्वेच्छाचारी ढंग से शासन करते थे।

साम्राज्य-विस्तार का एक परिणाम यह भी हुआ कि युद्धों में विजय का श्रेय प्राप्त करने वाले सेनानायक सम्राट बनने लगे। जूलियस सीजर तथा आगस्टस सदृश सम्राटों के कार्यकाल में रोमन साम्राज्य के शासन का स्वरूप सैनिक स्वेच्छाचारितावाद में परिणत हो गया। सभाओं की सत्ता क्षीण हो गई। परन्तु सीनेट अपने रूप में बनी रही, यद्यपि शासन-व्यवस्था के संचालन में इसका सलाहकारी कार्य नाम-मात्र का ही रह गया था। सम्राटों की सत्ता इसको पूर्णतया आच्छादित कर देती थी। ऐसी स्थिति में सम्राटों को जनता से सत्ता प्राप्त होने की धारणा भी लुप्त हो गई। सम्राट का आदेश ही कानून माना जाने लगा। ऐसी प्रवृत्ति भी बढ़ने लगी कि सम्राट की सत्ता का स्रोत दैवी है। कभी-कभी तो सम्राट ईश्वर के रूप में पूजे जाने लगे। जब रोमन साम्राज्य ने ईसाई धर्म को राज्य का धर्म स्वीकार कर लिया तो यह धारणा भी बढने लगी कि सम्राट् पृथ्वी पर ईश्वर के अभिकर्त्ता के रूप में शासन करता है। साम्राज्य के युग में शासन की सुदृढ़ता तथा दक्षता बनाए रखने के उद्देश्य से समूचे राज्य में समरूप प्रशासनिक व्यवस्था, समरूप कानून तथा समान भाषा (लैटिन) का प्रसार किया गया, और सम्पूर्ण जनता को एक सम्राट् की आधीनता स्वीकार करने के लिए समानता के आधार पर संगठित किया गया।

इस प्रकार रोम लगभग 1000 वर्ष की अवधि में (500 ई० पू० से लेकर 500 ई० तक) न केवल एक राजतन्त्र से गणतन्त्र में और उसके पश्चात् एक साम्राज्य के रूप में परिणत हुआ, प्रत्युत् उसकी शासन-व्यवस्था भी एक लोकतन्त्रात्मक नगर-राज्य से एक स्वेच्छाचारी निरंकुश विश्व-साम्राज्य के रूप में परिणत हो गई। इस समूचे विकास-क्रम में रोम के राजनीतिक आदर्शों, राजनीतिक परम्पराओं एवं व्यवहारों तथा राजनीतिक दर्शन के विकास का इतिहास भी ग्रीस की अपेक्षा भिन्न प्रकृति का रहा। ग्रीस नगर-राज्य व्यवस्था के अन्तर्गत लोकतन्त्र स्वतन्त्रता तथा स्थानीय स्वाधीनता के आदर्शों के स्थान पर रोम में एकता, व्यवस्था, सार्वभौम कानून तथा विश्वबन्धुत्व के आदर्शों का विकास हुआ। ग्रीस के नगर-राज्यों में जहाँ प्लेटो तथा अरस्तू सदृश महान् राजनीतिक चिन्तकों का जन्म हुआ, वहाँ इतनी लम्बी अवधि में रोम में ऐसी महान् प्रतिभा का कोई चिन्तक पैदा नहीं हुआ। परिणामस्वरूप रोम में स्वतन्त्र वैज्ञानिक राजनीतिक चिन्तन का प्रायः अभाव रहा।

रोमन राजनीतिक विचारक

परन्तु राजनीतिक चिन्तकों के अभाव में भी राजनीतिक चिन्तन हेतु रोम

का पर्याप्त योगदान है। यह योगदान चिन्तनात्मक कम, परन्तु संस्थागत अधिक है। रोम में प्लेटो तथा अरस्तू सदृश दार्शनिक विचारक नहीं पैदा हुए, परन्तु जो हुए, उन्होंने राजनीतिक चिन्तन को किसी न किसी रूप से अवश्य प्रभावित किया। इस दीर्घ अवधि में रोम में पौलिबियस, सिसरो तथा सिनेका को रोम के मुख्य राजनीतिक विचारकों में माना जाता है।

पौलिबियस (204–122 ई० पू०)

जीवन-परिचय—पौलिबियस (Polybius) वास्तव में न तो रोमन था, न ही उसे यथार्थ अर्थ में एक राजनीतिक चिन्तक कहा जा सकता है। वह मुख्यतया एक इतिहासकार था जिसने ग्रीस तथा रोम का इतिहास लिखा। उसमें उसने विविध राजनीतिक संस्थाओं के विकास को समझाया और यह भी दर्शाया कि किस प्रकार रोम एक छोटे से नगर-राज्य से विकसित होकर एक महान् साम्राज्य में परिणत हुआ। उसका राजनीतिक चिन्तन संस्थागत पद्धति का है न कि केवल चिन्तनात्मक। ईबनस्टीन के कथनानुसार, 'उसकी रचनाएँ यह दर्शाती हैं कि किसी राज्य की संस्थाओं का जाल उसकी राष्ट्रीय शक्ति के निर्माण में प्रमुख निर्धारक तत्त्व होता है।'[1] जब रोम ने मैसीडोनिया पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया तो वहाँ के सहस्रों प्रतिष्ठित व्यक्तियों को रोम ले जाया गया और उनके ऊपर अभियोग चलाने की योजना थी, परन्तु यह कार्य कभी किया नहीं गया। पौलिबियस भी इन्हीं ग्रीकों में से एक था। यद्यपि रोम ने ग्रीस को पराजित करके अपने आधिपत्य में कर लिया था, तथापि ग्रीस ने अपनी सभ्यता तथा संस्कृति को बरबाद नहीं किया, प्रत्युत् ग्रीस के दर्शन तथा चिन्तन का प्रभाव वहाँ बना रहा। पौलिबियस ने ग्रीस के राजनीतिक जीवन में सक्रिय भाग लिया था। ग्रीक नगर-राज्यों के संघ 'एचियन लीग' के सम्बन्ध में उसने अपनी पर्याप्य सेवाएँ अर्पित की थीं। जब वह रोम में पहुँचा तो वहाँ उसका सम्पर्क अनेक महानतम राजनयिकों के साथ हुआ। उसकी प्रतिभा के कारण उसे अनेक कूटनीतिक शिष्ट-मण्डलों के साथ विदेशों में भेजा गया। इस प्रकार उसे राजनीतिक संस्थाओं तथा व्यवहारों का व्यापक व्यावहारिक अनुभव प्राप्त हो गया, जिसका उपयोग उसने अपने इतिहास-ग्रन्थों की रचनाओं में किया।

राजनीतिक विचार

(1) **मिश्रित संविधान की धारणा**—पौलिबियस ने अपने ग्रंथों द्वारा पाठकों को इस तथ्य का आभास कराने का प्रयास किया है कि किस प्रकार रोम केवल 43 वर्ष की अवधि में एक विशाल साम्राज्य बन जाने में सफल हुआ।[2] उसका विश्वास था कि राज्यों के उत्थान तथा पतन का एक अवश्यम्भावी नियम होता है। इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए वह राजनीतिक संविधानों के दृष्टान्त देता है। उसकी यह धारणा है कि जिन राज्यों के संविधानों में मिश्रित संविधानों के

[1] 'Polybius was the first to examine the institutional fabric of a state as the chief determining factor in the formation of national strength.'—Ebenstein. *The Great Political Thinkers*, 110.

[2] Sabine, *op. cit.*, 139 ; and Maxey, *op. cit.*, 83,

तत्त्व नहीं होते, वे शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। संविधानों का वर्गीकरण करने में वह अरस्तू के वर्गीकरण का अनुगमन करता है। उसके विचार से राजतन्त्र का तत्त्व शक्ति है, शाही राजतन्त्र (Royal monarchy) का नैतिकता। जब यह अत्याचारी-तन्त्र में परिणत हो जाते हैं तो उनमें स्वेच्छाचारिता का तत्त्व आ जाता है। कुलीनतन्त्र का तत्त्व सद्गुण है और वर्गतन्त्र का तत्त्व स्वार्थ। जनतन्त्र बहुमत का शासन होता है, इसका विकृत रूप भीड़तन्त्र (Ochlocracy) है। संविधानों के यह रूप एक क्रमिक चक्र (cyclic order) में चलते हैं अर्थात् किसी संविधान में जिस तत्त्व का अस्तित्व है वह चिरस्थायी नहीं रहने पाता और उक्त क्रम में वर्णित उसके उपरान्त वाले संविधान के तत्त्व उसमें आ जाते हैं। फलस्वरूप इस क्रम से संविधान बदलते रहने से राज्य का स्थायित्व नष्ट हो जाता है।

(2) **सर्वोत्तम मिश्रित संविधान वह है जिसमें राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा जनतन्त्र के तत्त्व सम्मिलित होते हैं**—पौलिबियस का निष्कर्ष यह था कि रोमन साम्राज्य के स्थायित्व तथा विकास का मुख्य कारण वहाँ के संविधान में सदैव मिश्रित संविधान के तत्त्वों का होना था। प्लेटो ने लॉज के द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य में राजतन्त्र तथा प्रजातन्त्र के तत्त्वों का मिश्रण उचित बताया था और अरस्तू के संविधानों के वर्गीकरण में वैधानिक जनतन्त्र को सर्वोत्तम संविधान माना गया था जिसमें वर्गतन्त्र तथा प्रजातन्त्र के तत्त्व विद्यमान रहते हैं। परन्तु पौलिबियस उस मिश्रित संविधान को सर्वोत्तम मानता है जिसमें राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा जनतन्त्र तीनों (संविधानों के उत्तम रूपों) के तत्त्व विद्यमान रहें। रोम की सांविधानिक प्रणाली के अन्तर्गत राजतन्त्रों के युग में राजा राजतन्त्र के, सीनेट कुलीनतन्त्र के तथा सभा जनतन्त्र के तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करते थे। गणतन्त्र के युग में कौंसल्स राजतन्त्र के तत्त्व का प्रतिनिधित्व करने लगे और सीनेट तथा सभाएँ अपने पूर्व रूप में कुलीनतन्त्री तथा जनतन्त्री तत्त्वों से युक्त बनी रहीं। साम्राज्य के युग में भी राजतन्त्र का तत्त्व सम्राटों में था। अन्य दो तत्त्वों से युक्त संस्थाएँ बनी रहीं, भले ही उनका प्रभाव कम हो गया था।

(3) **संविधान के उपर्युक्त तत्त्वों के मध्य अवरोध तथा सन्तुलन की व्यवस्था होनी चाहिए**—मिश्रित संविधान की उपादेयता का समर्थन करने में पौलिबियस ने सर्वप्रथम 'प्रतिबन्ध तथा सन्तुलन के सिद्धान्त' (the theory of checks and balances) का प्रतिपादन किया था। उसका मत था कि मिश्रित संविधान की उत्तमता का कारण यह है कि उसमें शासन के यह तीनों तत्त्व एक-दूसरे की निरंकुश सत्ता पर प्रतिबन्ध लगाकर किसी को भी स्वेच्छाचारी बनने से रोकते हैं। सैबाइन ने कहा है कि 'पौलिबियस का मिश्रित संविधान अरस्तू की भाँति सामाजिक वर्गों के मध्य सन्तुलन का सिद्धान्त नहीं है, अपितु राजनीतिक शक्तियों के मध्य सन्तुलन का सिद्धान्त है।'[1] यद्यपि पौलिबियस ने प्रतिबन्ध तथा संतुलन के सिद्धान्त की शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त के आधार पर विशद व्याख्या नहीं की, तथापि उसका यह सिद्धान्त उन राजनीतिक चिन्तकों का पूर्वगामी है जिन्होंने इसको सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक रूप प्रदान किया। सैबाइन ने उचित ही कहा है कि 'इस प्रकार पौलिबियस ने मिश्रित शासन को प्रतिबन्ध तथा सन्तुलन की पद्धति का वह रूप

[1] 'His mixed government is not, like Aristotle's a balance of social classes; but of political powers.' —Sabine, *op. cit.*, 140.

प्रदान किया जो मांटेस्क्यू तथा संयुक्त-राज्य अमरीका के संविधान-निर्माताओं को प्राप्त हुआ।'[1] पौलिबियस के काल में रोम की गणतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली के अन्तर्गत कौंसल सर्वोच्च सैनिक तथा प्रशासनिक शक्ति का उपभोग करते थे, सीनेट वित्त का नियन्त्रण एवं न्यायिक कार्य करती थी और जन-सभाएँ अधिकारियों के निर्वाचन, विधायी कार्य, युद्ध तथा सन्धि सम्बन्धी निर्णय लेने के कार्य करती थीं। परन्तु इनमें से कोई भी अंग स्वतन्त्रतापूर्वक बिना दूसरे अंग द्वारा प्रतिबन्धित हुए अपना कार्य स्वेच्छाचारिता से नहीं कर सकता था। परिणामस्वरूप शासन-प्रणाली के पतन होने या किसी एक रूप में (राजतन्त्रात्मक या कुलीनतन्त्रात्मक या प्रजातन्त्रात्मक में) परिणत होने की आशंका नहीं रहती थी। इस प्रकार जैसा मैक्सी का भी मत है 'पौलिबियस का नाम प्रतिबन्ध तथा सन्तुलन के सुप्रसिद्ध सिद्धान्त को पूर्णतया तथा औपचारिक रूप से सर्वप्रथम व्यक्त करने वाले विचारक के रूप में स्मरणीय है।'[2] पौलिबियस के अनुसार, जब शासन का एक अभिकरण (कौंसल, सीनेट या सभा) अन्य दो अंगों के कार्यों पर नियन्त्रण रखता है तो किसी भी अंग के तत्त्वों को स्वेच्छाचारिता से विकसित होने का अवसर नहीं मिल सकता। इस प्रकार यह प्रथा हर आकस्मिक तथा आपात परिस्थितियों का पर्याप्त सफलता के साथ सामना कर सकती है। इसलिए इससे अधिक उत्तम व्यवस्था अन्य कोई नहीं हो सकती। गैटल के शब्दों में 'पौलिबियस का विश्वास था कि स्वार्थ समस्त कार्य-कलापों का प्रेरक होता है, राजनयिकों को ज्ञात होना चाहिए कि स्वार्थ-हित नैसर्गिक राजनीतिक शक्तियाँ हैं। अतः विविध वर्गों के मध्य ऐसे स्वार्थी हितों में सन्तुलन बने रहने से राजनीतिक जीवन का उद्भव होता है। इसीलिए पारस्परिक प्रतिबन्धों की पद्धति के द्वारा व्यक्तियों तथा वर्गों का नियन्त्रण किया जाना चाहिए।'[3]

आलोचना—राजनीतिक चिन्तन को पौलिबियस की महत्त्वपूर्ण देन उसका मिश्रित शासन का सिद्धान्त है। परन्तु उसने इस व्यवस्था की खोज रोमन संविधान के अन्तर्गत करने में वही गलती की, जो कि मांटेस्क्यू ने शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त की खोज तत्कालीन ब्रिटिश शासन-व्यवस्था में करने में की थी। वास्तव में न तो रोमन शासन-व्यवस्था में सही माने में शक्ति-सन्तुलन तथा प्रतिबन्ध का सिद्धान्त था, न ही उसे सही माने में मिश्रित शासन कहा जा सकता था। फिर भी पौलिबियस की ऐतिहासिक विधि से राजनीतिक विचारों का अध्ययन करने की परम्परा ने बाद के राजनीतिक चिन्तकों—मैकियाविली, टॉमस ऐक्विनास, मारसीलियो, लॉक, मांटेस्क्यू आदि—को प्रभावित किया।

[1] 'Polybius thus gave to mixed government the form of a system of checks and balances, the form in which it passed to Montesque and the founders of the American Constitution.' —*Ibid.*

[2] 'Polybius deserves remembrance as the first to state the checks-and-balance theory in a full and formal way.' —Maxey, *op. cit.*, 84.

[3] 'He believed that the motive to action is self-interest, that statesman must treat interests as natural political forces, that political life results in an equilibrium of such interests among different classes, and that individuals and classes must be controlled by a system of mutual restraints.' —Gettell, *History of Political Thought*, 74.

सिसरो (106–43 ई० पू०)

परिचयात्मक—रोमन राजनीतिक चिन्तकों में सिसरो (Cicero) ही एकमात्र उल्लेखनीय राजनीतिक चिन्तक होने की स्थिति रखता है। परन्तु वह प्लेटो तथा अरस्तू की तुलना में न तो एक दार्शनिक था और न उसकी रचनाएँ किसी भी अर्थ में राजनीतिक सिद्धान्तों, परम्पराओं तथा व्यवहारों में प्लेटो अथवा अरस्तू की रचनाओं की बराबरी कर सकतीं। सिसरो एक दार्शनिक होने की अपेक्षा एक कानूनवेत्ता एवं राजनयिक था। उसने रोमन गणतन्त्र के एक साम्राज्य के रूप में परिणत होने की अवधि में रोम की राजनीति में सक्रिय भाग लिया था। वह रोमन गणराज्य में अनेक महत्त्वपूर्ण शासनिक पदों पर आसीन रहा और 5 वर्ष तक कौंसल के पद पर भी निर्वाचित हुआ। परन्तु उसका जीवन शान्तिमय नहीं रहा। कौंसल पद से छूटने पर उसे देश-निर्वासन का दण्ड भी भोगना पड़ा। उसके युग में रोम के सार्वजनिक जीवन में सामाजिक तथा आर्थिक क्रान्तियों का अभ्युदय हुआ। जब श्रमिक वर्ग (prolitarians) ने धनिक वर्ग के विरुद्ध क्रान्ति कर दी तो सिसरो ने क्रान्तिकारियों का निर्दयता के साथ दमन किया। परिणामस्वरूप रोम में गणतन्त्र के स्थान पर राजतन्त्री व्यवस्था जो कि कालान्तर में साम्राज्यशाही में परिणत हुई, प्रारम्भ होने लगी। सिसरो का विश्वास संयम, वैधानिकतावाद तथा पारस्परिक समन्वय पर था जिनके द्वारा शान्ति कायम की जा सके। परन्तु यह नियम तो शान्तिपूर्ण वातावरण में सफल होते हैं न कि क्रान्ति के वातावरण में। सिसरो इन सामाजिक तथा आर्थिक शक्तियों के क्रान्तिकारी प्रभावों को समझने में असमर्थ रहा। 44 ई० पू० में जब सम्राट जूलियस सीजर की हत्या कर दी गई तो उसी के दूसरे वर्ष सिसरो की भी हत्या की गई।

अपने जीवन-काल में सिसरो को दर्शन तथा कानून के अध्ययन करने तथा राजनीति का व्यावहारिक अनुभव प्राप्त करने का पर्याप्त अवसर मिला था। उसने एथेंस में दर्शन की शिक्षा प्राप्त की थी और रोम में कानून की। उसे अनेक विद्वानों के साथ सम्पर्क स्थापित करने का अवसर भी प्राप्त हुआ था। उसने प्लेटो के नमूने पर दो ग्रन्थों की रचना की। उनके नाम भी उसी प्रकार रखे (The Republic या De Republica तथा The Laws या De Legibus)। दोनों की रचना शैली भी प्लेटो की ही भाँति संवादों के रूप में है। इन ग्रन्थों से ही सिसरो के राजनीतिक विचारों का आभास होता है। सिसरो के राजनीतिक विचारों के मुख्य स्रोत हैं—(i) ग्रीक विचारधाराएँ जिनका विकास इपीक्यूरियन, सिनिक तथा स्टॉइकों द्वारा किया गया था; तथा (ii) उसका राजनीतिक जीवन का अनुभव तथा रोमन विधि-व्यवस्था का ज्ञान। उसके विचारों में मौलिकता का अभाव है। वे मुख्यतया या तो उसके पूर्वगामी विचारकों से लिये गए हैं, या उसके काल में निवर्तमान विचारों पर आधारित हैं।

राजनीतिक आदर्श

(1) **विश्व राज्य की धारणा**—सिसरो के विचारों में प्लेटो तथा अरस्तू से भिन्नता होने का मुख्य कारण यह है कि प्लेटो तथा अरस्तू जब कभी राजनीतिक संगठन का जिक्र करते थे, उनके हृदय में नगर-राज्य की धारणा थी। परन्तु सिसरो

का दृष्टिकोण स्टॉइक दर्शन के प्रभाव के कारण विश्व-राज्य की धारणा का था। प्लेटो तथा अरस्तू मानव का अध्ययन संकुचित अर्थ में करते थे। वे केवल ग्रीक व्यक्तियों को ही नागरिक मानते थे। मानवीय समानता की धारणा उनके दर्शन में नहीं मिलती। परन्तु सिसरो इस सम्बन्ध में स्टॉइक दर्शन से प्रभावित था और वह विश्व मानवतावाद एवं विश्वबन्धुत्व के आदर्श का समर्थन करते हुए कहता है कि 'समूचा विश्व एक राज्य है, जिसके सदस्य समस्त देवता तथा मानव हैं, साथ ही इस संसार में एक विश्वव्यापी कानून का अस्तित्व है, जो समस्त राष्ट्रों तथा कालों में समान रूप से लागू होता है।'[1] सिसरो अरस्तू के इस विचार को भी अमान्य करता है कि कुछ लोग शासन करने के लिए तथा कुछ शासित होने के लिए ही पैदा हुए हैं। उसका विश्वास था कि किसी भी जाति के अन्तर्गत कोई मानव ऐसा नहीं हो सकता जो कि समुचित मार्ग-दर्शन तथा प्रशिक्षण प्राप्त कर लेने पर सद्गुणों से युक्त न हो सके। अतः प्रकृतितः किसी व्यक्ति को जन्मजात दास या असभ्य कहना उचित नहीं है।

(2) **राज्य का आधार कानून है**—ईबनस्टीन ने कहा है कि 'प्लेटो तथा अरस्तू की प्रमुख रचनाओं का सार तत्त्व दर्शन है, न कि कानून। परन्तु सिसरो जब कभी राज्य का वर्णन करता है वह उसे सदैव कानूनी दृष्टि से वर्णित करता है।'[2] प्लेटो तथा अरस्तू दोनों ही राज्य को एक नैसर्गिक संस्था मानते हैं। राज्य की सदस्यता व्यक्ति के लिए अनिवार्य तथा आवश्यक ही नहीं है, अपितु उनके मत से व्यक्ति का जीवन राज्य के जीवन में पूर्णतया विलीन हो जाता है। परन्तु सिसरो राज्य की व्याख्या करते हुए कानून सम्बन्धी धारणा का अवलम्बन करता है। वह राज्य को 'जनता की सम्पत्ति' (Commonwealth as the property of a people) या 'विधि-जन्य समुदाय' (a community of law) कहता है। राज्य की उत्पत्ति का कारण मानव की सामाजिकता की प्रवृत्ति है जिसका नियमन कानून के द्वारा ही सम्भव है।

(3) **राज्य की परिभाषा (राज्य जनता की सम्पत्ति है)**—राज्य की पारिभाषिक व्याख्या करते हुए सिसरो उसे एक 'नैतिक समुदाय' कहता है जिसके सदस्य सामूहिक रूप से राज्य तथा उसके कानून के भागीदार होते हैं। इस प्रकार 'राज्य उस जन-समूह की सम्पत्ति है, जो पर्याप्त बड़ी संख्या में पारस्परिक लाभ की इच्छा से कानून तथा अधिकारों के बारे में एक सामूहिक सहमति के द्वारा संगठित हो जाते हैं।'[3] इस प्रकार सिसरो की धारणा में राज्य एक निगमात्मक निकाय (a corporate body) है, जिसकी सदस्यता प्रत्येक नागरिक को सामूहिक रूप से प्राप्त है। सैबाइन ने सिसरो की इस व्याख्या के तीन निष्कर्ष निकाले हैं—

[1] 'The whole universe is one commonwealth of which both gods and men are members, and that there is a law valid for all nations and all times.'
—*Cicero.*

[2] 'Philosophy, not law, is the queen of both Plato's and Aristotle's masterpieces, but Cicero...always speaks of law whenever he discusses the state.' —Ebenstein, *op. cit.*, 123.

[3] 'Commonwealth is the people's affair ; people who come together of a considerable number of men who are united by a common agreement about low and rights and by the desire to participate in mutual advantages.'—Cicero, quoted in Sabine, *op. cit.*, 150.

(*i*) चूँकि राज्य तथा उसका कानून जनता की सामूहिक सम्पत्ति है, अतः राज्य की सत्ता का आधार जनता की सामूहिक शक्ति है।

(*ii*) राजनीतिक शक्ति का समुचित तथा विधिगत ढंग से प्रयोग किया जाना जनता की सामूहिक शक्ति का द्योतक है। सिसरो के शब्दों में, 'चूँकि कानून प्रशासकों के ऊपर शासन करता है, अतः प्रशासक जनता के ऊपर शासन करते हैं। यह सत्य है कि प्रशासक बोलता हुआ कानून है, और कानून मूक प्रशासक है।'[1]

(*iii*) राज्य तथा उसका कानून दैवी अथवा नैतिक अथवा प्राकृतिक कानून के अधीन हैं। राज्य द्वारा बल-प्रयोग का औचित्य तभी है जबकि वह न्याय तथा सत्य के हित में किया जाता है।

(4) **लोक-प्रभुसत्ता की धारणा का समर्थन**—सिसरो राज्य को जनता की सम्पत्ति मानता है, जिसे सत्ता अन्ततोगत्वा जनता से प्राप्त होती है और उसका प्रयोग जनता के हित में होता है। सिसरो की यह धारणा लोकप्रभुसत्ता के सिद्धान्त की पुष्टि करती है। परन्तु यह धारणा कानूनी तथा राजनीतिक सम्प्रभुता के तथ्यों को भी शामिल करती है। सिसरो के अनुसार प्रत्येक अच्छे ढंग से शासित राज्य में कोई अभिकरण ऐसा होना चाहिए जो कि जनता की इच्छा को अभिव्यक्त करे तथा उसे लागू करे। यह सत्ता स्वयं जनता से सर्वोच्च बल-प्रवर्ती शक्ति प्राप्त करती है। यह चाहे राजतन्त्रात्मक हो, चाहे वर्गतन्त्रात्मक, जनसभा राज्य में कानूनी सम्प्रभु होती है। इसके आदेश के पीछे कानून की शक्ति होती है।

(5) **विधि के शासन की मान्यता**—एक रोमन विधि-शास्त्री होने के नाते सिसरो कानून की सर्वोच्चता तथा विधि के शासन को सर्वाधिक महत्त्व देता है। विधि के शासन की आधारभूत धारणा प्रत्येक नागरिक को विधि के समक्ष समान मानती है। सिसरो इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कहता है कि 'यद्यपि हम इस बात से सहमत नहीं हो सकते कि सब व्यक्तियों की धन-सम्पत्ति समान हो तथा सबकी जन्मजात योग्यताएँ समान हों, तथापि एक ही राज्य के समस्त नागरिकों के कानूनी अधिकार तो कम से कम समान होने चाहिए।'

(6) **प्राकृतिक कानून की धारणा का समर्थन**—कानून के स्वरूप को व्यक्त करते हुए सिसरो स्टॉइक दार्शनिकों की प्राकृतिक कानून की धारणा को और अधिक स्पष्ट रूप प्रदान करता है। उसके मत से 'सच्चा कानून प्रकृति से सहमति रखने वाला सत् विवेक है। यह समस्त मानवों पर लागू होता है, यह अपरिवर्तनीय तथा अनन्त काल तक विद्यमान रहने वाला है। इसका आदेश उत्तम कार्यों को करने तथा अनुचित कार्यों को न करने की प्रेरणा देता है। इस कानून की उपेक्षा करना पाप है। इसका संशोधन भी वांछनीय नहीं है। इसे समाप्त करना असम्भव है। सीनेट या जनसभा इसका पालन करने से किसी को रोक नहीं सकती। यह कानून रोम अथवा एथेंस में अलग-अलग नहीं होता और न वर्तमान अथवा भविष्य में अलग प्रकृति का होता है। यह समस्त युगों तथा जन-समूहों के लिए एकमात्र, अनन्त तथा अपरिवर्तनीय कानून है, जिसका निर्माता, लागू करने वाला, शासक तथा निर्वचक ईश्वर है।'

[1] 'For as the laws govern the magistrate, so the magistrate governs the people, and it can truly be said that the magistrate is a speaking law, and the law is a silent magistrate.' —*Ibid.*

(7) **न्याय का आधार कानून है जो सर्वोच्च विवेक है**—सिसरो द्वारा दी गयी प्राकृतिक कानून की उपर्युक्त व्याख्या मानवीय समानता को व्यक्त करती है। उसके मत से कानून सत् विवेक की उपज है, सब मानवों में विवेक शक्ति होती है, जिसे मानवों का सामूहिक विवेक कहते हैं। सामूहिक रूप से विवेक रखने वाले मानवों में सत् विवेक भी सामूहिक रूप से होता है। इसलिए कानून सत् विवेक की उपज होने के कारण सब के लिए समान है। विवेकशील मानवों में उचित-अनुचित के मध्य भेद करने की क्षमता न्याय है जिसका आधार कानून है। सिसरो की दृष्टि से कानून किसी मानव विशेष के मस्तिष्क की उपज नहीं है और न वह समस्त मानवों द्वारा निर्मित अधिनियम है, बल्कि वह एक अविनाश्य नियम है, जो समस्त विश्व में व्याप्त एवं उसका नियामक है। वह अन्ततोगत्वा ईश्वर के मस्तिष्क की उपज है। उसी के द्वारा न्याय-अन्याय तथा उचित-अनुचित के मध्य भेद किया जाता है।

(8) **नागरिक कानून प्राकृतिक कानून की तुलना में निम्न कोटि का और परिवर्तनशील होता है**—स्टॉइक विचारकों की भाँति सिसरो भी प्राकृतिक कानून के साथ-साथ विभिन्न राज्यों में प्रचलित नागरिक कानून (civil law) के अस्तित्व को मानता है और उसकी यह भी धारणा है कि नागरिक उन कानूनों को मानने के लिए बाध्य हैं। परन्तु वह ऐसे कानूनों की निरपेक्षता का समर्थन नहीं करता। अन्य स्टॉइकों की भाँति वह भी यही कहता है कि यदि कोई नागरिक कानून प्राकृतिक कानून से विरोध रखता हो तो नागरिकों का ऐसे कानून का पालन करने के लिए कोई नैतिक दायित्व नहीं है। उसके मत से ऐसे कानून उसी रूप में कानून होने की स्थिति नहीं रखते, जिस रूप में डाकुओं की सभा में पारित नियम कानून कहलाने योग्य नहीं होते।

(9) **प्राकृतिक कानून विश्व राज्य की धारणा को साकार करने में सहायक सिद्ध होगा**—कानून की ऐसी धारणा के आधार पर सिसरो सार्वभौम विश्व-राज्य की धारणा को भी स्पष्ट करता है। उसके विचार से किसी राजनीतिक समाज का निर्माण किसी समरूप कानून की आधीनता में रहने वाले नागरिकों के द्वारा किया जाता है। इस प्रकार जिस सामाजिक बन्धन (कानून) के द्वारा एथेंस के नागरिक एक समाज में संगठित हुए, वह एथेंस का कानून है""। अतः जब समस्त मानवों पर समान रूप से लागू होने वाला एक कानून (प्राकृतिक कानून) है, तो इसका यह निष्कर्ष है कि उस कानून को समान रूप से मानने वाले समस्त मानवों का एकमात्र समाज है, जो विभिन्न जन-समुदायों के मध्य पारस्परिक भेदों को समाप्त कर देता है। यह विश्व-राज्य है। सिसरो के मत से 'जो लोग सामूहिक रूप से किसी कानून के पालन करने में भागीदार हैं, वे न्याय के भी सहभागी हैं। जो इन दोनों के समान सहभागी हैं, उन्हें एक ही राज्य के सदस्य माना जाना चाहिए। इस प्रकार हमें समूचे विश्व के एक राज्य की कल्पना करनी चाहिए जिसके सदस्य सभी देवता तथा मानव हैं।' सिसरो अरस्तू के इस विचार को कि 'मनुष्य स्वभावतः एक राज्य का सदस्य' है और अधिक व्यापक बनाते हुए मानता है कि 'मानव स्वभावतः एक सार्वभौम विश्व-राज्य के सदस्य' हैं। इस प्रकार सिसरो की विचारधारा स्टॉइकों के विश्व-बन्धुत्व एवं विश्व-राज्य की धारणा को पुष्ट करती है।

शासनों के भेद—शासनों का वर्गीकरण करने में सिसरो पोलिबियस के द्वारा किए गए राज्यों के वर्गीकरण का अनुगमन करता है। साथ ही पोलिबियस की

भाँति वह संविधानों के क्रमिक परिवर्तन-चक्र पर भी विश्वास करता है। उसके मत से प्रजातन्त्र सैनिक अधिनायकवाद में परिवर्तित होता है। शासनों के वर्गीकरण के सम्बन्ध मे सिसरो ने ग्रीकियों तथा पोलिबियस के द्वारा किये गये वर्गीकरण को तथा मिश्रित शासन के सर्वोत्तम व्यवस्था होने के सिद्धान्त को अपनाया है। परन्तु वह राज्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने में मौलिकता का समावेश नहीं कर पाया। इसका कारण यह था कि न तो वह ऐसी दार्शनिक व्यवस्था का प्रतिपादन करने की क्षमता रखता था और न वह रोम के इतिहास की व्याख्या करके किसी मौलिक राज्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन करने का साधन ढूँढ़ सका। अपने ग्रन्थ (De Officis) को सिसरो ने स्टॉइक विचारक पैनेटियस के विचारों के आधार पर लिखा था। इसमें उसने अपने ग्रन्थ रिपब्लिक तथा लॉज में वर्णित विचारों की पुनरावृत्ति की है। लोक प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए वह यह दर्शाता है कि शासकों को जनहित के अनुकूल शासन-कार्य करना चाहिए। साथ ही समूचे राज्य के हित को भी ध्यान मे रखना चाहिए। इसमें वह उद्योगपतियों तथा व्यवसायी वर्गों के कार्य-कलापों की निन्दा करता है और अत्याचारी शासकों की हत्या करने की बात का भी समर्थन करता है।

मूल्यांकन—राजनीतिक चिन्तन को सिसरो की महत्त्वपूर्ण देन उसका प्राकृतिक कानून का सिद्धान्त है जिसे उसने पर्याप्त सुन्दर ढग से व्यक्त करके स्टॉइक विचारकों की धारणा के ऊपर एक सुधार के रूप मे प्रस्तुत किया है। उसके इस सिद्धान्त को रोम के विधि-शास्त्रियों ने अपनाया और उन्नीसवीं शताब्दी तक के अधिकांश विचारकों ने उसको अंगीकार किया। प्रोफेसर विलोबी ने कहा है कि 'सिसरो के विचारों के सम्बन्ध मे यह मानना पड़ता है कि उनका महत्त्व स्वयं विशिष्ट राजनीतिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन में नहीं है अपितु इस बात में है कि उन्होंने ग्रीस के आदर्शों को रोमन विचारधाराओं में प्रविष्ट होने में योगदान किया।'[1] सिसरो ने रोम की विधि-व्यवस्था के साथ ग्रीक न्याय तथा न्याय्यता की धारणाओं में तादात्म्य स्थापित करके रोमन विधि-शास्त्र के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

राज्य के सम्बन्ध में सिसरो के इन सिद्धान्तों की, कि राजनीतिक सत्ता का स्रोत जनता है, उसका प्रयोग कानून के अन्तर्गत किया जाना चाहिए और उसका औचित्य नैतिकता पर आधारित है, व्यापक मान्यता प्राप्त हुई। राजनीतिक चिन्तन पर इन धारणाओं का प्रभाव सिसरो के पश्चात् तुरन्त आरम्भ होने लगा और कई शताब्दियों तक वे राजनीतिक चिन्तन के अंग बने रहे। यह दूसरी बात है कि इन सिद्धान्तों की कार्यान्विति समरूप नहीं रही और विभिन्न विचारकों ने इनकी व्याख्या अलग-अलग ढंग से की। परन्तु स्वय इन सिद्धान्तों का खण्डन किसी विचारक ने नहीं किया, विशेष रूप से लोकतन्त्री विचारधाराओं के समर्थकों ने। सैबाइन के मत से 'राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में उसकी (सिसरो की) महत्ता इस आधार पर है कि उसने स्टॉइकों के प्राकृतिक कानून के सिद्धान्त को ऐसा रूप प्रदान किया जिसमें वह स्वयं उसके काल से लेकर 19वीं शताब्दी तक समूचे पश्चिमी यूरोप में

[1] 'One is forced to confess that the largest element consists rather in the part played by them (Cicero's writings) in the transmission of Greek ideas to Romon thought, than in the creation of distinctly new theories.' —Quoted by Maxey, *op. cit.*, 87.

सार्वभौम रूप से मान्य किया गया।'[1] एक विधिशास्त्री होने के नाते सिसरो ने न्याय तथा कानून की धारणाओं को केवल दार्शनिक रूप न देकर उन्हें व्यावहारिक दृष्टि से व्यक्त करके विश्व एकता की भावना के प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। गैटिल ने कहा है कि 'उसके न्याय तथा प्राकृतिक कानून सम्बन्धी विचारों ने रोमन विधि के चिन्तन में गहरा प्रभाव डाला और उन विचारधाराओं ने बाद के सम्राट-शाही न्यायविदों तथा आरम्भिक ईसाई लेखकों को प्रभावित किया। उसकी सार्वभौम कानून तथा विश्व एकता की धारणाओं ने समूचे मध्य युग के राजनीतिक चिन्तन का केन्द्रीभूत तत्त्व होने का यश प्राप्त किया।'[2] यद्यपि सिसरो की विचारधाराओं में मौलिकता का अभाव है और उसकी रचनाएँ तथा विचारधाराएँ ग्रीक विचारकों की पूर्व कृतियों का अनुकरण मात्र लगती हैं, तथापि सिसरो ने ग्रीक विचारधाराओं (प्लेटो, अरस्तू, स्टॉइक तथा पौलिबियस की) को रोमन स्वरूप प्रदान करके रोम का सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक चिन्तक होने का यश प्राप्त किया है। सिसरो का उद्देश्य रोमन गणतन्त्र को सुदृढ़ बनाना था, परन्तु वह अपनी विचारधाराओं के कारण अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में सफल नहीं हो पाया। उसने कानून को अत्यधिक आदर्शवादिता से भर दिया। तो भी उसके कानून-सिद्धान्त का अत्यन्त दीर्घकाल तक राजनीतिक चिन्तकों ने अपनी विचारधाराओं में समावेश किया।

सिनेका (4 ई० पूर्व–65 ई०)

रोमन विचारकों में तीसरा व्यक्ति सिनेका (Seneca) है, जो सिसरो से लगभग एक शताब्दी पश्चात् का विचारक है। उसके काल में रोम एक साम्राज्य के रूप में स्थापित हो चुका था। अतः जहाँ सिसरो के विचार गणतन्त्र के अन्तिम काल के हैं वहाँ सिनेका के विचार आरम्भिक साम्राज्य काल के हैं। उस युग में निरंकुश साम्राज्यशाही के विकास ने राजनीतिक एवं नागरिक आचरण के आदर्शों को विलुप्त कर दिया था। राज्य का नैतिक आदर्श तथा दायित्व समाप्त हो चुका था। स्वेच्छाचारितावाद ने स्वायत्त-शासन की धारणा को नष्ट कर दिया था। राज्य का उद्देश्य विस्तारवादी हो जाने तथा निरंकुशता में परिणत होने से नागरिक सद्‌गुणों की धारणा भी समाप्त हो चुकी थी।

सिनेका एक राजनीतिक चिन्तक होने की अपेक्षा एक नैतिक चिन्तक अधिक था। उसकी विचारधारा में स्टॉइक नैतिकता की छाप थी। सिनेका की राजनीतिक विचारधारा की मुख्य विशेषताएँ निम्नांकित हैं :

(1) **समाज तथा राज्य में भेद करना**—उनके मत से समाज विश्व मानवता का रूप है और राज्य एक राजनीतिक दृष्टि से संगठित जन-समूह। समाज का आधार धर्म तथा नैतिकता है, राज्य का आधार कानून तथा राजनीतिक व्यवहार है।

[1] 'His true importance in the history of political thought lies in the fact that he gave to the Stoic doctrine of natural law a statement in which it was universally known throughout Western Europe from his own day down to the nineteenth century.' —Sabine, *op. cit.*, 147.

[2] 'His ideas of justice and natural law sank deeply into Roman legal thought and influenced the later imperial jurists and the early Christian writers. His idea of world unity and of universal law and authority remained the central principle of political thought throughout the whole medieval period.' —Gettell, *op. cit.*, 76.

सिनेका की यह धारणा मध्ययुग में सन्त ऑगस्टाइन के दो राज्यों के सिद्धान्त के अनुरूप है। प्रत्येक मानव इन दोनों का सदस्य होता है। वह राज्य के साथियों के अतिरिक्त सम्पूर्ण मानवों के प्रति अपनी सेवाएँ अर्पित करता है। इस दृष्टि से सिनेका मानवीय नैतिकता के आदर्श का प्रतिपादन करता है।

(2) **समाज तथा राज्य की उत्पत्ति का हेतु प्राकृतिक स्थिति का जीवन है**—सिनेका के राजनीतिक विचारों में प्राकृतिक स्थिति तथा राजनीतिक समाज बन जाने के उपरान्त की स्थिति का वर्णन रूसो तथा स्वप्नलोकी समाजवादियों की विचारधाराओं को प्रभावित करने में सहायक सिद्ध हुआ। सिनेका स्वर्णयुगीन समाज का चित्रण करता है जिसमें मानव स्वच्छन्द तथा सुखी जीवन व्यतीत करते थे, न कानून था, न शासन और न सम्पत्ति। लोग विद्वज्जनों के आदेशों का सहर्ष पालन करते थे, परन्तु जब व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा तेरा-मेरा की धारणा विकसित होने लगी तो उससे होने वाली बुराइयों को रोकने के लिए कानून तथा शासन की उत्पत्ति हुई। अतः शासन या राज्य की उत्पत्ति बुराइयों को रोकने के लिए हुई। बाद के ईसाई धर्म-प्रचारकों ने राज्य की उत्पत्ति को मनुष्य के पतन या पापों के परिणामस्वरूप मानने की धारणा अपनायी थी। अत: उसमें सिनेका की इस विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट है।

परन्तु सिनेका ने राजनीतिक आदर्शों तथा राज्य-सिद्धान्तों का विवेचन करने की अपेक्षा मानवीय सद्‌गुणों का विवेचन करने में ही अपने विचारों को सीमित रखा है। इस दृष्टि से एक राजनीतिक चिन्तक या विधिवेत्ता के रूप में वह सिसरो की तुलना में नहीं आ सकता। परन्तु मानवीय नैतिकता तथा मानवतावादी विचारों द्वारा वह स्टॉइक प्रभाव से युक्त रोमन विचारक बना रहा।

रोमन विधि-सिद्धान्त

यद्यपि राजनीतिक दर्शन के विकास में प्राचीन रोम का बहुत अधिक योगदान नहीं रहा है, तथापि रोमन विधि के विकास ने राजनीतिक चिन्तन को बहुत अधिक प्रभावित किया है। इस दृष्टि से विधिशास्त्र के विकास में रोमन का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

रोमन विधि का विकास—प्रारम्भ में रोम के कानून धार्मिक विनियमों, परम्परागत नियमों तथा न्याय की लौकिक धारणाओं के सम्मिश्रण के रूप में थे। उस काल में अपराध ईश्वर के प्रति हानि पहुँचाने की धारणा के रूप में लिये जाते थे, न कि राज्य या समाज को हानि पहुँचाने वाले कृत्य। धीरे-धीरे कानून का स्वरूप बदलने लगा और यह माना जाने लगा कि प्रत्यक्ष दैवी आदेशों के नियमों (direct commands of gods) तथा मानवों के परम्परागत आचारों के विवेक-मूलक सिद्धान्तों के मध्य अन्तर है। मानव आचरण के नियमन के निमित्त जिन विवेकमूलक सिद्धान्तों को परम्परागत ढंग से माना जाता है वे धार्मिक तथा दैवी आदेशों के भिन्न प्रकृति के होते हैं। 450 ई० पू० की अवधि में रोम के परम्परागत कानून को द्वादश सूत्र (Twelve Tables) के रूप में संहिताबद्ध किया गया। इसका यह परिणाम हुआ कि रोमन विधि में निहित धार्मिक तत्त्व पृष्ठभूमि में चले गये और कानून का उल्लंघन करना दैवी अपराध न माना जाकर राज्य या समाज के प्रति अपराध माना जाने लगा। कानून के संहिताकरण के कारण यह

धारणा भी लुप्त होने लगी कि परम्पराएँ कानून का स्रोत हैं। साथ ही समाज के कुछ भद्र पुरुषों को कानून के एकमात्र प्रतिपादक, प्रशासक तथा निर्वचक मानने की धारणा भी समाप्त हो गयी। अब यह माना जाने लगा कि कानून की उत्पत्ति मानवीय है और कानून राज्य की इच्छा है। अतएव कानून में संशोधन करने की क्षमता राज्य के विधायी अंग को प्राप्त है, जो जनता की इच्छा के अनुसार विधिगत अधिनियमों द्वारा कानून का संशोधन कर सकती है। अत: सभा, सीनेट तथा कौंसल या सम्राट तीनों की सम्मिलित स्वीकृति से कानून में परिवर्तन किया जा सकता है। इस प्रकार द्वादश सूत्र रोम के व्यक्तिगत कानून का प्रतिनिधित्व करने वाली संहिता मानी जाने लगी।

प्राकृतिक कानून, राष्ट्रों का कानून तथा नागरिक कानून

द्वादश सूत्र के रूप में प्राचीन रोम में जिन कानूनों का संहिताकरण किया गया था, वह वास्तव में रोम का परम्परागत कानून था। परन्तु जब रोमन साम्राज्य का विकास हो गया तो रोम के अधीन अनेक राज्य हो गये। अत: न्याय तथा प्रशासन हेतु द्वादश सूत्र का कानून उस समस्त जनता के लिए उपयुक्त सिद्ध नहीं हुआ जो रोमन साम्राज्य की आधीनता में आने से पूर्व अपनी अलग-अलग परम्पराओं का अनुगमन करती थी। द्वादश सूत्र के कानून में रोम की अपनी धार्मिक परम्पराएँ भी शामिल थीं जो इन विदेशियों के लिए न्यायपूर्ण सिद्ध नहीं हो सकती थीं। रोम के प्रशासकों (Praetors), न्यायाधीशों (Juris Consults) तथा सम्राटों ने न्याय के हित में अपने अधिकार-क्षेत्र के अधीन इन कानूनों के अन्तर्गत अनेक सामान्य सिद्धान्तों का समावेश करके इन कानूनों का अभिनवीकरण (rationalisation) करने की चेष्टा की। दूसरी ओर रोम के विधि-शास्त्रियों पर स्टॉइक विचारधारा के बढ़ते हुए प्रभाव ने भी कानून के विवेकीकरण को प्रभावित किया। इस प्रकार कानून के वर्गीकरण की धारणा ने एक नयी दिशा अपनायी।

राष्ट्रों का कानून (Jus Gentium)—साम्राज्य विस्तार के परिणामस्वरूप रोम में अनेक विदेशियों का आगमन हुआ। उनकी अपनी विशिष्ट परम्पराओं के अनुसार उनके विवादों में न्याय प्रदान करने हेतु विशेष न्यायाधीशों की नियुक्ति की गयी, क्योंकि रोम का नागरिक कानून उन्हें न्याय प्रदान करने में उपयुक्त नहीं प्रतीत हुआ। अतः इन न्यायाधीशों ने विदेशियों के विवादों में उन सामान्य सिद्धान्तों का प्रयोग करने की परम्परा अपनायी, जो रोम तथा उसकी आधीनता में आये हुए विविध जन-समूहों में समुचित रूप से लागू हो सकें। अतएव एक ऐसी विधि-व्यवस्था का सूत्रपात हुआ जो अनेक राष्ट्रीयताओं के ऊपर समान रूप से लागू हो सके। इसे राष्ट्रों के कानून (Jus Gentium) की संज्ञा दी गयी। जस जेन्टियम प्राकृतिक न्याय तथा रोम की आधीनता में लायी गयी विविध राष्ट्रीयताओं के मध्य समान रूप से प्रचलित कानूनों तथा प्रथाओं के सिद्धान्तों को समाविष्ट करता है। अत: इसका आधार विश्व के समस्त मानवों के मध्य प्रचलित प्रथाओं का समावेश किया जाना था। इसका उद्देश्य उन समस्त प्रथाओं तथा प्रचलनों का संग्रह करना था जिनका सम्बन्ध युद्धों, यात्राओं एवं व्यापार से था यह रोम के विध्यात्मक कानून का ही अंग था जिसके अन्तर्गत अन्य राज्यों के व्यक्तिगत कानूनों को भी शामिल किया गया।

प्राकृतिक कानून (Jus Naturale)—प्राकृतिक कानून भावनामूलक सिद्धान्तों तथा सार्वभौम रूप से लागू होने वाले मानव विवेक के आदर्शों का समूह था। इसका आधार न्याय था। जस जेन्टियम के मूल स्रोत रोमन विधि-वेत्ता तथा न्यायशास्त्री थे। परन्तु जस नैचुरेल की धारणा ग्रीक स्टॉइक दार्शनिकों से प्रारम्भ हुई थी। प्रारम्भ में सिसरो तथा अन्य रोमन कानून-वेत्ता इनके मध्य भेद नहीं करते थे। परन्तु बाद में इनमें भेद किया जाने लगा। रोमन विधिशास्त्री अल्पियन ने इनके मध्य भेद करने की कसौटी दास-प्रथा को माना। उसके अनुसार प्रकृतित: समस्त मानव जन्म से समान तथा स्वतन्त्र है। अत: कोई व्यक्ति किसी का दास नहीं हो सकता। यह प्राकृतिक कानून की धारणा है। परन्तु सभी राज्य दास-प्रथा को परम्परागत ढंग से मानते और उसे व्यवहृत करते आये थे। अत: दास-प्रथा समस्त राष्ट्रों में प्रचलित परम्परा थी। समस्त राष्ट्रों में प्रचलित परम्पराएं तथा जेन्टियम का निर्माण करती हैं। अतएव जस जेन्टियम के अनुसार दास-प्रथा अवैध नहीं मानी जाती थी। परन्तु जस नैचुरेल की धारणा ने दास-प्रथा को वैध नहीं माना।

नागरिक कानून (Jus Civile)—जस सिविल का अभिप्राय प्रत्येक राज्य द्वारा बनाये गये कानूनों से था, जिन्हें शासन तथा प्रशासन के संचालन के लिए अपनाया जाता था। इसे राज्य का विध्यात्मक कानून (Positive law) या नागरिक कानून (civil or municipal law) भी कहा जा सकता है। इसका स्वरूप सार्वभौम नही होता। परन्तु इसे प्राकृतिक कानून के विरुद्ध भी नहीं होना चाहिए, क्योंकि प्राकृतिक कानून श्रेष्ठतम विवेक अथच दैवी विवेक की उपज है।

जस्टीनियन संहिता (Code of Justinian or the Corpus Juris)

रोमन साम्राज्य के विकास तथा प्राकृतिक एवं नागरिक कानून की धारणाओं के विकास के फलस्वरूप द्वादश सूत्र के रूप में संहिताबद्ध रोम का कानून अपर्याप्त सिद्ध होने लगा। इस लम्बी अवधि में रोम में अनेक विधि-वेत्ताओं, न्यायशास्त्रियों तथा शासकों ने रोमन कानून की व्याख्याओं एवं टीकाओं के द्वारा बहुत अधिक विकसित कर दिया था। साम्राज्य के युग में साम्राज्य के विभिन्न भागों से न्यायिक अपीलें सम्राटों के पास आया करती थीं और उनका निर्माण करने से पूर्व सम्राट लोग उन मामलों में बड़े-बड़े न्यायशास्त्रियों से सलाह लिया करते थे। ये न्यायशास्त्री जिन कानूनी सलाहों को देते थे उन्हें भी कानून के समान ही महत्त्वपूर्ण माना जाता था। इस प्रकार की वैज्ञानिक टीकाओं ने, जिन्हें सार्वभौम रूप से रोमन विधि में अपनाया गया, रोमन विधि के वैज्ञानिक विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। सम्राट जस्टीनियन (527–65 ई०) ने पुन: रोमन कानून संहिताकरण करवाया, अत: उसी के नाम से उस संहिता-बद्ध रोमन कानून को जस्टीनियन की संहिता या कॉरपस ज्यूरिस का नाम दिया गया। जस्टीनियन संहिता में निम्नांकित बातें शामिल हैं—

(1) इंस्टीट्यूट्स (The Institutes)—गेयस तथा अन्य विधि-वेत्ताओं द्वारा संग्रहीत विविध कानूनी समस्याओं पर मत तथा उनका संकलन।

(2) डाइजेस्ट (The Digest)—प्रसिद्ध विधि-वेत्ताओं द्वारा की गयी उन घोषणाओं का संग्रह जिन्हें उन्होंने अनेक विधि ग्रन्थों अथवा न्यायिक मामलों में किया था। इन विधि-वेत्ताओं में अल्पियन (Ulpian) का नाम सुविख्यात है।

(3) साम्राज्य के प्रारम्भ काल से समय-समय पर विविध सम्राटों द्वारा निर्मित सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत कानूनों तथा उनके द्वारा जारी की गयी आज्ञप्तियों का संग्रह ।

(4) स्वयं सम्राट जस्टीनियन द्वारा निर्मित कानूनों का संग्रह ।

इस संहिता की मुख्य विशेषताएँ निम्नांकित हैं—

(अ) गेयस (Gaius) ने तीन प्रकार के कानून बताये हैं—जस नैचुरेल, जस जेन्टियम तथा जस सिविल । इनमें से जस नैचुरेल (प्राकृतिक कानून) को आदर्श कानून बताया गया है क्योंकि वह औचित्य के सार्वभौम भावनामूलक सिद्धान्तों का समावेश करता है (It represents the abstract principles of right) । कानून के अन्य रूप इसी के तोड़े-मरोड़े रूप हैं । यह वह कानून है जिसे प्रकृति ने समस्त मानवों को सिखाया है । विधिवेत्ता अल्पियन भी इस धारणा से सहमत था । यह कानून उस सादगी के जीवन को प्रदर्शित करता है जिसे सभ्यता के आरम्भिक काल में लोग बिताया करते थे ।

(ब) इस संहिता के अन्तर्गत दास-प्रथा तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति के सम्बन्ध में भी प्रकाश डाला गया है । गेयस दास-प्रथा को अप्राकृतिक मानता था । अल्पियन के मत से यह मनुष्य की बुराइयों का परिणाम है । जहाँ तक प्राकृतिक अधिकारों का सम्बन्ध है, समस्त मानव समान हैं । इन्स्टीट्यूट्स में कहा गया हैं कि प्राकृतिक कानून के अनुसार सब मानव जन्म से समान हैं । डाइजेस्ट में भी दास-प्रथा को प्रकृति के प्रतिकूल संस्था बताया गया है । सिसरो तथा सिनेका ने भी दासों के साथ मित्रवत् व्यवहार करने की सलाह दी थी । अतः रोमन प्राकृतिक कानून की धारणा दास-प्रथा का समर्थन नहीं करती । व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा भी रोमन विधि के अन्तर्गत मनुष्य के पतन की उपज मानी गयी है । यह प्राकृतिक नहीं है बल्कि परम्परागत है । आरम्भिक स्वर्ण युग में सम्पत्ति की प्रथा नहीं थी । अतः सम्पत्ति के अधिकार प्राकृतिक कानून द्वारा मान्य नहीं हैं बल्कि परम्परागत नागरिक कानून द्वारा उनका नियमन होना चाहिए ।

(स) नागरिक कानून के सम्बन्ध में यह धारणा है कि वह न तो प्राकृतिक कानून तथा राष्ट्रों के कानून से पूर्णतया पृथक् है और न पूर्णतया उनका अनुगमन करता है । वह कानूनदाता की इच्छा को अभिव्यक्त करता है । इसका उद्देश्य जैसा डनिंग ने कहा है, 'उन नियमों का निर्माण करना था जिसके आधार पर रोम के नागरिकों के परिवार तथा सम्पत्ति के अधिकारों का नियमन किया जाता था । यह द्वादश सूत्रों पर आधारित था और संविधिगत कानूनों द्वारा इसका संशोधन नहीं किया जाता था ।'[1] इसे उचित-अनुचित के मध्य भेद करने की कसौटी माना जाता था । इसका उद्देश्य मानव को उत्तम बनाना था । इसके अनुसार न्याय का अर्थ प्रत्येक व्यक्ति को उसका प्राप्य प्रदान करना था ।

(द) रोमन विधि-वेत्ता राज्य में लोक-प्रभुसत्ता के सिद्धान्त पर विश्वास रखते थे । साम्राज्य के युग में भी सिद्धान्ततः यह धारणा मानी जाती थी कि सम्राट को प्रभुसत्ता जनता से प्राप्त होती है । चूँकि जनता द्वारा एक बार सम्राट को दी गयी

[1] 'Jus Civile was the body of rules in accordance with which were determined the property and family rights of the Roman citizens. It was based on the code of Twelve Tables, and was rarely subjected to legislative amendments.'

सत्ता उसे जन्म भर के लिए दी जाती थी, अतः उसे कानून से ऊपर तथा नागरिक कानून का स्रोत भी माना जाता था।

रोमन इम्पीरियम का सिद्धान्त (The Roman Theory of Imperium)

प्रभुसत्ता तथा इम्पीरियम—राज्य की प्रभुसत्ता सम्बन्धी वर्तमान धारणा का विकास 15वीं शताब्दी के पश्चात् हुआ है। परन्तु राज्य की प्रभुत्व शक्ति की धारणा किसी न किसी रूप में सदैव ही मान्य रही है। अरस्तू का संविधानों का वर्गीकरण राज्य की प्रभुत्व शक्ति का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों की संख्या पर आधारित था। रोमन काल में शासन का स्वरूप पहले राजतन्त्रात्मक, फिर गणतन्त्रात्मक तथा अन्त में सम्राटशाही में परिणत हुआ। इन सभी युगों में प्रभुसत्ता की धारणा किसी न किसी रूप में बनी रही। इसके लिए रोमन शब्द 'इम्पीरियम' प्रयुक्त हुआ।

किसी भी समाज, संस्था या जाति में एक ऐसी सर्वोच्च शक्ति होती है जो अपने समस्त सदस्यों को आदेश देने तथा उन आदेशों का पालन करवाने की क्षमता रखती है। यह सर्वोच्च शक्ति अविभाज्य, अदेय तथा स्थायी होती है। आधुनिक राज्यों में इस प्रकार की सर्वोच्च शक्ति को राज्य की प्रभुत्व शक्ति कहा जाता है। रोमन काल में भी ऐसी सर्वोच्च सत्ता की धारणा विद्यमान थी जो प्राचीन रोम के सम्पूर्ण युग में बनी रही। इसे इम्पीरियम कहा जाता था।

राजतन्त्र के युग में—रोम के लोग इस बात को स्वीकार नहीं करते थे कि किसी व्यक्ति-विशेष को वंशगत अधिकार के कारण अथवा किसी दैवी शक्ति के आधार पर उनके ऊपर शासन करने की निरंकुश शक्ति प्राप्त है। उनके मत से कोई भी रोमवासी राजा बन सकता है और राज पद पर निर्वाचित होने से पूर्व वह अन्य नागरिकों की ही भाँति होता है। राजा या कौंसल, सीनेट तथा सभा राज्य की सम्प्रभु शक्ति का प्रयोग इस रूप में करते हैं कि उन्हें शासन करने की शक्ति अथवा इम्पीरियम जनता द्वारा प्रत्यायोजित की गयी है। यद्यपि इम्पीरियम के जनता द्वारा शासकों को प्रत्यायोजन हेतु कोई औपचारिक संविदा नहीं होती थी और राजा को जन्म भर के लिए निर्वाचित किया जाता था, और कभी-कभी राज पद पर उत्तराधिकारी बिना औपचारिक निर्वाचन के भी पदासीन हो जाता था, तथापि राजसत्ता के प्रयोग की शक्ति के बारे में यही धारणा थी कि शासक उसका प्रयोग इसी रूप में करता है कि जनता ने उसे यह शक्ति प्रदान की है। राजा को आजन्म इम्पीरियम प्रदान करने का यह अर्थ भी लिया जाता था कि जनता जब एक बार राजा को यह शक्ति प्रदान कर देती है तो वह उस से वापिस नहीं ले सकती। प्रत्यायोजन सम्पूर्ण तथा अलंघ्य है। राजा निरंकुश शासक बन सकता था। उसे वैधानिक रूप से पदच्युत नहीं किया जा सकता था और जनता उसके प्रति निष्ठा रखती थी। परन्तु राजा की मृत्यु के बाद इम्पीरियम स्वयंमेव जनता के पास वापस आ जाती थी और नये राजा का निर्वाचन होने पर इम्पीरियम पुनः जनता द्वारा उसे प्रदान कर दी गयी मानी जाती थी। राजा को जनता का प्रतिनिधि माना जाता था जो राज्य के मौलिक कानून को नहीं बदल सकता था।

गणतन्त्र के युग में—गणतन्त्र के युग में यह बात और अधिक स्पष्ट हो गयी कि इम्पीरियम जनता के हाथ में रहती है और जनता की ओर से समितियाँ

(comitia) उनका प्रतिनिधित्व करती है। अधिशासक सर्वोच्च सत्ता का प्रयोग जनता की सत्ता के नाम पर करते है। अतः अधिशासकों के ऊपर कार्यकाल की समाप्ति पर अभियोग चलाया जा सकता था। सिसरो के ऊपर जो कौंसल के पद पर कार्य कर चुका था, कार्यकाल के पश्चात् अभियोग चलाया गया था। इम्पीरियम अविभाज्य तथा एकता से युक्त मानी जाती थी। यह राज्य की उत्पत्ति का आधार थी। रोमन विचारक न तो राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त को मानते थे और न ही उसे एक ऐसा नैसर्गिक समुदाय मानते थे जिसका विकास परिवारों तथा ग्रामों के समूहों के रूप में हुआ हो। उनकी धारणा में राज्य एक कानूनी सवास है। वे राज्य की धारणा को इम्पीरियम की धारणा से व्यक्त करते हैं। जनता की ओर से इम्पीरियम का प्रतिनिधित्व प्लीबियन तथा पैट्रीसियन करते थे। उन्होंने राजतन्त्र को समाप्त करके गणतन्त्र को स्थापित किया। गणतन्त्र के अन्तर्गत भी मिश्रित संविधान की व्यवस्था इस तथ्य की परिचायक थी कि राजसत्ता न तो किसी एक व्यक्ति में निवास करती है न किसी वर्ग विशेष में, प्रत्युत् वह समूचे जनसमूह में निहित है। पौलिबियस का प्रतिबन्ध तथा सन्तुलन का सिद्धान्त भी इस बात का द्योतक है कि इम्पीरियम समस्त जनता में निहित होनी चाहिए। शासन के विभिन्न अग इम्पीरियम के अभिकर्ता मात्र हैं। उनके आदेशों का पालन इसीलिए किया जाता है कि वे जनता द्वारा प्रदत्त सत्ता का प्रयोग करते हैं। शासकों की इच्छा कानून इसी अर्थ में है कि वे जनता द्वारा प्रदत्त सत्ता का प्रयोग करते हैं और उनका आदेश जन-सहमति पर आधारित है।

सम्राटशाही युग में—सम्राटशाही युग में यह माना जाने लगा कि जनता ने इम्पीरियम निरपेक्ष रूप से सम्राट को प्रदान कर दी है। अतः वह कानून से ऊपर है और किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं है। कोई भी व्यक्ति अपनी शक्ति के बल पर स्वेच्छा से सम्राट नहीं बन सकता। कम से कम सिद्धान्त रूप में उसका निर्वाचन जनता की ओर से सीनेट करती थी। सिद्धान्त रूप में उसे जनता के प्रति उत्तरदायी भी माना जाता था। भले ही कालान्तर में सम्राट निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी हो गये थे, तथापि यह सिद्धान्त कि इम्पीरियम जनता के हाथ में है, ज्यों का त्यों माना जाता रहा। इसका यह निष्कर्ष था कि सम्राट जनता की ओर से ही शासन करता है न कि स्वेच्छा से। अत्याचारी सम्राटों का वध कर दिये जाने के दृष्टान्त भी उपलब्ध हैं। परन्तु इम्पीरियम के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक रूप में एक बड़ा विरोधाभास यह है कि एक ओर तो सम्राट अनुत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से निरंकुश सत्ताधारी हो और दूसरी ओर यह माना जाता रहे कि उसकी सत्ता जन-सहमति पर आधारित अथच जनता द्वारा प्रदत्त है। इम्पीरियम की यह धारणा राज्य की कानूनी सम्प्रभुता की द्योतक है, जिसके अन्तर्गत जनता समूचे रूप में राजनीतिक सम्प्रभुता का निर्माण करती है।

प्रभाव—रोमन इम्पीरियम का सिद्धान्त राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में लोक प्रभुसत्ता के सिद्धान्त के विकास हेतु महत्त्वपूर्ण देन है। चाहे व्यवहार में रोमन काल में जनता की प्रभुसत्ता बहुत सक्रिय न थी और शासक निरंकुश शासन करते रहे, तथापि अपनी निरंकुश सत्ता के औचित्य को वे जनता द्वारा प्राप्त सत्ता के आधार पर ही सिद्ध कर सकते थे। यह धारणा एक समझदार सम्राट को अत्याचारी निरंकुश शासक बनने से रोक सकती थी। इस सिद्धान्त ने राज्य की उत्पत्ति के दैवी तथा

शक्ति सिद्धान्त के विकास को अवरुद्ध करने में प्रभाव डाला। जब रोम का राजकीय धर्म ईसाई हो गया तो सम्राट की सत्ता के दैवी स्वरूप की धारणा भी विकसित होने लगी परन्तु इसका अर्थ यह नहीं लिया जाता था कि सम्राट का पद धारण करने वाला व्यक्ति देवता या ईश्वर का अवतार है। प्रत्युत् दैवत्व सम्राट के पद में विद्यमान माना जाता था।

मध्य युग में पोप अथवा राजसत्ता की सर्वोच्चता के समर्थकों ने इसका अर्थ निरंकुश सत्ता के रूप में लगाया और सम्प्रभु के आदेश को कानून मानने की धारणा व्यक्त की गयी। बाद में राजतन्त्र तथा जन-प्रभुसत्ता के समर्थकों ने अपने-अपने पक्ष के समर्थन में इस सिद्धान्त की व्याख्या अलग-अलग ढंग से व्यक्त की। इस प्रकार यह सिद्धान्त दोनों का सहायक सिद्ध हुआ। रोमन इम्पीरियम का सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति के किन्हीं परम्परागत सिद्धान्तों (दैवी, शक्ति या संविदा) का प्रतिपादन नहीं करता। यद्यपि इस सिद्धान्त की मान्यता यह है कि शासकों को शासन सत्ता जनता द्वारा प्रदान की जाती है, तथापि इससे राज्य की उत्पत्ति के संविधा सिद्धान्त को सहायता नहीं मिल सकती। अधिक से अधिक यह शासकीय संविदा का आधार सिद्ध हो सकता है। चूँकि इस सिद्धान्त के अनुसार जनता द्वारा सत्ता का प्रत्यायोजन शासकों को पूर्णरूपेण हो जाता है, अत: हॉब्स द्वारा प्रतिपादित संविदा सिद्धान्त से मिलता-जुलता है। इसके अनुसार शासक की सत्ता असीम, अलंघ्य तथा अदेय मानी जाती है। अत: यह जनता द्वारा शासकों के विरुद्ध क्रान्ति का प्रदर्शन नहीं करता। इस प्रकार एक ओर से यह राज्य की कानूनी सम्प्रभुसत्ता का द्योतक है क्योंकि इसके अनुसार सम्प्रभु का आदेश ही कानून माना जायेगा और दूसरी ओर यह लॉक तथा रूसो द्वारा प्रतिपादित लोक प्रभुसत्ता के सिद्धान्त से भी सहमति रखता है। लॉक की भाँति शासक की सत्ता मर्यादित नहीं है परन्तु प्रभुसत्ता का निवास सम्पूर्ण नागरिक समाज को माना गया है.। दूसरी ओर यह सिद्धान्त रूसो द्वारा प्रतिपादित लोक प्रभुसत्ता से भी सहमति रखता है। इसके अनुसार यह माना जाता है कि सम्प्रभु का आदेश सम्पूर्ण समाज की इच्छा है जो जन-सहमति पर आधारित है। राज्य की इच्छा सम्पूर्ण नागरिकों की इच्छा का योगफल है। कानून एक प्रकार की संविदा है जिसके द्वारा नागरिक किसी निश्चित आचरण को मानने के लिए परस्पर राजी हो जाते हैं।

इस प्रकार रोमन इम्पीरियम का सिद्धान्त शासन के संविदा सिद्धान्त के विकास हेतु पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करता है।

राजनीतिक चिन्तन को रोम की देन

रोमन राजनीतिक विचारधाराओं का उपर्युक्त विवेचन यह दर्शाता है कि प्राचीन रोम में राजनीतिक समस्याओं पर ऐसे दार्शनिक चिन्तन का प्राय: अभाव रहा, जैसा कि प्राचीन ग्रीस के महान् दार्शनिकों प्लेटो तथा अरस्तू की सुप्रसिद्ध रचनाओं में मिलता है। परन्तु जैसा ईबनस्टीन ने कहा है : 'चूँकि रोमन राजनीतिक चिन्तन क्रमबद्ध दार्शनिक रचनाओं में व्यक्त नहीं किया गया है अत: अधिकांश लोग उसके अस्तित्व को ही न मानने की भूल करते हैं।'[1] निस्सन्देह रोमन साहित्य के

[1] 'Because Roman political thought was not expressed in systematic philosophical works, it has been wrongly assumed by many not to have existed at all.' —Ebenstein, *op. cit.*, 121.

अन्तर्गत प्लेटो तथा अरस्तू की रचनाओं के सदृश राजनीतिक विचारधाराओं का सर्वथा अभाव है, परन्तु 'राजनीतिक विचारों के निमित्त राजनीतिक चिन्तन या दर्शन केवल एक साधन के रूप में सिद्ध होता है न कि आवश्यक रूप से उनके सर्वोत्तम सृजनात्मक साधन के रूप में।' किसी युग अथवा देश-विशेष के राजनीतिक चिन्तन के साधनों में वहाँ के साहित्य, कानून, न्यायिक तथा प्रशासकीय प्रणालियों एवं विविध राजनीतिक संस्थाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। यह बात रोमन राजनीतिक चिन्तन एवं विचारधाराओं के सम्बन्ध में पूर्णतया सत्य है।

गैटिल ने कहा है कि 'ग्रीकों तथा रोमनों के राजनीतिक विचार एक-दूसरे के पूरक थे। उनमें से एक की दुर्बलता के स्थान पर दूसरा सुदृढ़ है।'[1] उदाहरणार्थ, ग्रीकों के स्वतन्त्रता तथा लोकतन्त्र के आदर्शों के स्थान पर रोमवासियों ने कानून, व्यवस्था तथा एकता के आदर्शों पर बल दिया। ग्रीक नगर-राज्यों ने अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता को इसलिए खोया कि वे परस्पर एक नहीं हो पाये और उनके मध्य पृथक् आत्म-निर्भरता के आदर्शों पर ही बल दिया जाता रहा। इसके विपरीत रोम में एकता के आदर्श पर बल दिये जाने के कारण रोम एक विशाल साम्राज्य के रूप में परिणत हुआ। ग्रीक स्वतन्त्रता की धारणा ने वहाँ अराजकता की स्थिति उत्पन्न की तो रोम में व्यवस्था के आदर्श निरंकुशतन्त्री साम्राज्य स्थापित करने में सहायता दी।[2] मैक्सी ने कहा है कि 'रोमन राजनीतिक चिन्तन राजनीतिक विचारधाराओं के सृजक न होकर उनका विस्तार तथा प्रसार करने वाले थे।'[3] वास्तव में रोमन विचारकों तथा संस्थाओं ने ग्रीक आदर्शों को अपनाया तथा उनका प्रचार और प्रसार किया न कि स्वयं अपने नवीन आदर्शों का चिन्तन करने में समय लगाया। 'रोम की वास्तविक राजनीतिक महानता उसके चिन्तन में नहीं है। अपितु उसके कार्यान्वियन के सम्बन्ध में उत्साह दर्शाने में है।' ग्रीकों ने राजनीतिक चिन्तन किया और विभिन्न राजनीतिक सिद्धान्तों तथा आदर्शों का प्रतिपादन किया, परन्तु उन सिद्धान्तों तथा आदर्शों के कार्यान्वियन या वास्तविकता की चिन्ता नहीं की। अतएव उनका चिन्तन स्वप्नलोकी प्रकृति का सिद्ध हुआ। इसके विपरीत रोमवासियों ने राजनीतिक संस्थाओं तथा आदर्शों की व्यावहारिक क्रियान्विति के द्वारा उन आदर्शों का परीक्षण किया। इस प्रकार जैसा कि मैक्सी ने कहा है 'रोम ने स्वयं अपने राजनीतिक दर्शन की अपेक्षा अपने व्यावहारिक अनुभव द्वारा राजनीतिक चिन्तन के विकास में अधिक योगदान किया है।'[4]

'पाश्चात्य जगत की राजनीति और शासन की धारणा एवं व्यवहार के निमित्त कानून तथा प्रशासन रोम के दो महान् अनुदाय हैं।'[5] रोम ने विश्व को

[1] 'The political ideas of the Greeks and of the Romans were complementary, each being strong where the other was weak.' —Gettell, *op. cit.*, 78.

[2] 'As liberty degenerated into anarchy in Greece, so order became tyranny in the Roman Empire.' —*Ibid.*

[3] 'Roman political thinkers were expounders and transmitters rather than creators of political ideas.' —Maxey, *op. cit.*, 80

[4] 'In the long run, by the indirect road of practical experience, Rome contributed more to the enrichment of political thought than by her own political philosophies.' —*Ibid.*

[5] 'Law and administration are the two great contributions of Rome to the conception and practices of government and politics in the western world.' —Ebenstein, *op. cit.*, 121.

राजनीतिक विचारधाराएँ नहीं दीं, बल्कि वह सामग्री प्रदान की जिसका उपयोग राजनीतिक विचारधाराओं के विकास में किया जा सकता है। रोम ने हेलाज के सार्वभौम आदर्शों विशेष रूप से स्टॉइक दार्शनिकों के प्राकृतिक कानून तथा विश्व-बन्धुत्व के आदर्शों को अपनाया और उन्हें अपनी संस्थाओं के द्वारा, न कि आदर्शों के द्वारा, पाश्चात्य जगत में प्रसारित किया। इस प्रकार ग्रीक चिन्तन तथा रोमन संस्थागत प्रतिभा के मिश्रण ने संसार की राजनीतिक सम्पत्ति को धनी बनाने में महान् योगदान किया। 'रोम ने भले ही विश्व को राजनीतिक दर्शन प्रदान नहीं किया तथापि राजनीतिक चिन्तन के निमित्त विध्यात्मक कानून के आदर्श, व्यक्तिगत अधिकारों के सिद्धान्त, सम्प्रभुता के सिद्धान्त, राज्य की कानूनी वैयक्तिकता की धारणा तथा राजनीतिक सत्ता के संविदाजनक प्रत्यायोजन की धारणाएँ रोम की अपूर्व देन हैं।'[1]

(1) **कानून**—ग्रीकों ने कानून के स्वरूप का दार्शनिक विवेचन-मात्र किया था। परन्तु रोमन-विधि वहाँ के विधि वेत्ताओं तथा शासकों और प्रशासकों के कई शताब्दियों के सतत् परिश्रम का फल है जिसमें कानून का संहिताकरण, वर्गीकरण एवं कार्यान्वयन शामिल हैं। ग्रीन विधि, धर्म तथा नैतिकता के आदर्शों पर आधारित है। इसके विपरीत रोमवासियों ने इसे धर्म तथा नैतिकता के प्रभाव से मुक्त करके उसे मानवीय एवं व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया। रोमन कानून को विशाल साम्राज्य के नागरिकों तथा प्रजाजनों पर लागू किया गया। अतः रोम के चिन्तकों तथा विधिवेत्ताओं के पास इतना अवसर नहीं था कि वे इसकी दार्शनिक व्याख्या करने में लगे रहते। प्रत्युत् उन्होंने इसे लागू किया और अशुद्धि करने के सिद्धान्त द्वारा उसका विकास किया। रोम ने दुनिया को यह सिखाया कि कानून सर्वोच्च राजनीतिक सम्प्रभु का आदेश है जो राजनीतिक समाज के सदस्यों की इच्छा की अभिव्यक्ति करता है। अतः जनता उसे मानने के लिए बाध्य है। इस दृष्टि से रोमन विध्यात्मक कानून (Roman Positive Law) की धारणा का अनुकरण संसार के अनेक राज्यों की शासन व्यवस्था के संचालन में किया जाता रहा। रोमन कानून के अन्तर्गत प्राकृतिक तथा राष्ट्रों के कानून (Jus Naturale and Jus Gentium) का महत्त्व भी किसी प्रकार कम नहीं है। समूचे मध्य युग में तथा उसके उपरान्त भी 19वीं शताब्दी तक प्राकृतिक कानून की धारणा ने राजनीतिक विचारधाराओं के निर्माण तथा विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। जस जैन्टियम की धारणा का विकास ग्रोशियस (Hugo Grotius) के काल तक होता रहा जिसके आधार पर उसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की धारणा का विकास किया।

(2) **प्रशासन**—रोम ग्रीक नगर-राज्य व्यवस्था या लोकतन्त्र के रूप में न रहकर एक विशाल साम्राज्य में परिणत हो गया था। अतः ऐसे साम्राज्य की शासन-व्यवस्था के लिए उसे अनेक प्रशासनिक संस्थाओं का निर्माण करना पड़ा। शासन में कौंसल, प्रशासक, अधिकरण, सीनेटर, न्यायाधीश आदि के पदों का सृजन किया गया और उन पदों पर अधिकारियों की नियुक्तियाँ की गयीं। इनके कार्य-

[1] 'What the Romans gave to the world was not political philosophy, but the ideas of positive law, the doctrine of private rights, the theory of sovereignty, the concept of the state as a legal entity, and the principle of the delegation of political authority on a contractual basis.' —Maxey, *op. cit.*, 81.

कलापों का निदेशन, निरीक्षण, निर्धारण आदि की व्यवस्था आवश्यक थी। अतः उनके कार्य-कलापों का नियमन भावनामूलक आदर्शों, दैवी धारणाओं या नैतिकता के सामान्य नियमों द्वारा नहीं हो सकता था। अपितु उस हेतु व्यावहारिक प्रशासनिक व्यवस्था आवश्यक थी। रोम ने उसकी व्यावहारिकता को कार्यान्वित किया। इस प्रकार उसने विश्व के सम्मुख यह आदर्श उपस्थित किया कि किस प्रकार एक विशाल साम्राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था का कुशलतापूर्वक संचालन किया जाता है। इसकी सफलता के निमित्त रोम ने ग्रीक स्वतन्त्रता के आदर्शों के स्थान पर व्यवस्था के आदर्शों को रखा और विविध संस्थाओं के कार्यान्वियन द्वारा राजनीतिक व्यवहार का ज्ञान विश्व को कराया।

(3) **व्यक्तिगत अधिकार**—ग्रीक दार्शनिकों प्लेटो तथा अरस्तू ने व्यक्ति को राज्य में विलीन कर दिया था और राज्य को आदर्शात्मक स्वरूप प्रदान करके व्यक्ति के अधिकारों की धारणा को उपेक्षित रखा। इसके विपरीत रोमनों की दृष्टि में व्यक्ति तथा राज्य दोनों अपना पृथक् कानूनी व्यक्तित्व रखते हैं। वे राज्य को एक कानूनी व्यक्ति मानते हैं जिसे कानून द्वारा सीमित सत्ता प्राप्त हुई है। इसी प्रकार व्यक्ति का अस्तित्व भी कानूनी है जिसके अपने निश्चित अधिकार है जिनका अन्य व्यक्तियों या शासकों द्वारा अतिक्रमण किये जाने पर राज्य द्वारा संरक्षण किया जाना चाहिए। इस प्रकार रोमन विचारक व्यक्ति को राज्य की अपेक्षा अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं।

(4) **सम्प्रभुता**—यद्यपि रोमन इम्पीरियम का सिद्धान्त सम्प्रभुता की धारणा का स्पष्ट विवेचन नहीं करता, तथापि सम्प्रभुता की आधुनिक धारणा के विकास में इस सिद्धान्त का पर्याप्त योगदान सिद्ध हुआ है। यह राज्य की कानूनी सम्प्रभुता के साथ-साथ लोक-प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन करता है। शासक को सम्प्रभु सत्ता समस्त जनता से प्राप्त होती है। वह जनता का प्रतिनिधि होने के नाते सर्वोच्च विधि-निर्माण की सत्ता रखता है। परन्तु साथ ही उसका यह भी दायित्व है कि उसे प्रभुसत्ता जनता से एक न्यास (trust) के रूप में प्राप्त हुई है जिसका उपयोग उसे जन-हित में करना चाहिए। यह सिद्धान्त बाद में राज्य के सामाजिक समझौता एवं लोक प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का पूर्वगामी सिद्ध हुआ।

(5) **राज्य तथा समाज में भेद**—ग्रीक दार्शनिक राज्य तथा समाज के मध्य भेद नहीं करते थे। परन्तु स्टॉइकों के सार्वभौम मानवतावाद के आदर्शों के प्रभाव के कारण रोमन विचारधारा के अन्तर्गत राज्य तथा समाज के मध्य भेद किया गया है। रोमनों की दृष्टि में सम्पूर्ण मानव-जगत एक समाज है। राज्य राजनीतिक दृष्टि से संगठित एक जन-समूह है। समाज का आधार प्राकृतिक कानून है, जबकि राज्य का आधार नागरिक या विध्यात्मक कानून होता है।

(6) **एकता**—रोमन साम्राज्य के निर्माण का परिणाम यह हुआ कि एक राज्य-व्यवस्था के अन्तर्गत अनेक जन-समुदायों को एक समान कानून तथा प्रशासनिक व्यवस्था के अन्तर्गत संगठित किया गया। इस प्रकार विविध राष्ट्रीयताओं को एक व्यवस्था में रखने से उनके मध्य एकता स्थापित रखने की भावना में वृद्धि हुई। यह रोमन साम्राज्य के सफल विस्तार हेतु लाभकारी धारणा सिद्ध हुई।

(7) **केन्द्रीकृत स्वेच्छाचारितावाद द्वारा लोकतन्त्र को सहायता**—रोमन

विचारक लोकतन्त्र की व्यावहारिकता ये परिचित नहीं थे। इतने विशाल साम्राज्य में लोकतन्त्र सम्भव भी नहीं था। अतः केन्द्रीकृत स्वेच्छाचारितावाद ही शासन की मुख्य आवश्यकता थी। इसके अन्तर्गत विविध जन-समूहों के मध्य एकता लाने का प्रयास पर्याप्त सफलता के साथ किया गया। यह एक ऐसा आदर्श है जिसका अनुकरण आधुनिक विशाल लोकतन्त्र करें तो उन्हें यह शिक्षा मिल सकती है कि किस प्रकार राज्य में स्थानीयतावाद, वर्गभेद आदि की पृथकतावादी प्रवृत्तियों को नष्ट करके सुदृढ़ राष्ट्रवादी लोकतन्त्र कायम किया जा सकता है।

(8) **विश्व-बन्धुत्व की धारणा**—रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत समान प्रशासन, विधि-व्यवस्था तथा सामाजिक व्यवस्था को लागू करके रोमन लोगों ने विविध तत्त्वों से युक्त जन-समूहों में भ्रातृत्व की भावना का विकास किया। इस भावना के विकास में वे स्टॉइक दर्शन से प्रभावित थे। इस धारणा के कारण साम्राज्य में एकता का संचार हुआ। रोमनों की इस धारणा ने मध्ययुग में सार्वभौम विश्व-राज्य की धारणा को निरन्तर बनाये रखने में सहायता प्रदान की। आज के युग में भी विश्व-राज्य की धारणा का विकास होता जा रहा है। संयुक्त राष्ट्र-संघ ने मानवीय अधिकारों की घोषणा की है और यह आशा की गई है कि संसार के समस्त राष्ट्र इन सार्वभौम मानवीय अधिकारों की प्राप्ति जनता को करवायें। इस धारणा के विकास में प्राचीन रोमन विचारधाराओं का प्रभाव स्पष्ट है। मध्ययुग के राजनीतिक चिन्तन में रोमन विचारधाराओं, विशेष रूप से मानवीय समानता, प्राकृतिक अधिकार, विश्व-बन्धुत्व आदि की धारणाओं का इतना गम्भीर प्रभाव था कि किसी लेखक ने निष्कर्ष निकाला है कि 'रोम का भूत समूचे मध्ययुग में प्रभावी बना रहा।'[1]

[1] 'The ghost of Romans haunted the Middle Ages.'

छठा अध्याय

मध्य-युगीन राजनीतिक विचार

रोमन साम्राज्य में चर्च तथा ईसाई धर्म की स्थापना

रोम में सम्राटतन्त्र का अभ्युदय तथा ईसाई धर्म की स्थापना लगभग समकालीन घटनाएँ हैं। ईसाई धर्म की स्थापना हो जाने पर उसके आरम्भिक धर्मोपदेशकों ने धर्म-प्रचार का कार्य रोम में भी शुरू किया। ईसाई धर्म में स्टॉइक विचारकों की अनेक धारणाओं को अपनाया गया था यथा ईश्वर की दृष्टि में समस्त मानवों की समानता, विश्वबन्धुत्व की भावना, आदि। चूँकि रोमन राजनीति स्टॉइक दर्शन से प्रभावित थी, अतः रोम में ईसाई धर्म-प्रचार का कार्य बहुत सरल सिद्ध हुआ। प्रारम्भ में शक्तिशाली सम्राटों के शासन-काल में ईसाई धर्म का प्रभाव समाज के दीन तथा अशिक्षित वर्ग पर ही अधिक रहा और सम्राटों, उच्च शासकों तथा कुलीन वर्ग की जनता इसके प्रभाव से दूर रही। परन्तु ज्यों-ज्यों सम्राटों की शक्ति क्षीण होती गई, त्यों-त्यों इसका प्रभाव उच्च वर्गों पर बढ़ता गया। ईसा की चौथी शताब्दी तक यह रोम के प्रभावशाली वर्गों का धर्म बन गया। कालान्तर में यह वैधानिक तौर से रोम का राजकीय धर्म बन गया और यह माना जाने लगा कि राजनीतिक सत्ता का स्वरूप दैवी है।

इसी अवधि (410 ई०) में रोम के ऊपर एक महान् विपत्ति आई। यूरोप की ट्यूटन (Teuton) असभ्य जातियों ने रोम पर हमला कर दिया। रोम के शासक इन असभ्य आक्रमणकारियों को रोकने में असफल रहे। सम्राट कॉन्स्टेन्टीन (Constantine) ने रोम से अपनी राजधानी हटाकर कुस्तुंतुनियाँ (Constantinople) में बना ली। ट्यूटनों ने रोम की शासन-व्यवस्था को ध्वस्त कर दिया। परन्तु ईसाई धर्मोपदेशकों का धर्म-प्रचार कार्य जारी रहा। ट्यूटनों के मध्य कोई ऐसे कुशल राजनेता या शासक नहीं थे कि वे रोम में अपना राज्य स्थापित कर लेते। उन्होंने रोम की सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। रोम की राजनीतिक प्रभुसत्ता कुस्तुन्तुनियाँ के सम्राट के हाथ में ही बनी रही, भले ही उसका प्रभाव नाममात्र का था। रोम की जनता पर ट्यूटनों की राजनीतिक विचारधारा तथा संस्थाओं का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि वे रोमवासियों की परम्पराओं से बिल्कुल भिन्न प्रकृति की थीं। उनमें इपीक्यूरियन व्यक्तिवादी प्रवृत्ति अधिक थी। उनका दण्ड-विधान, न्याय-परम्पराएँ आदि भी रोम की परम्पराओं से भिन्न थीं। दूसरी ओर ईसाई धर्म-शिक्षा प्रभावकारी सिद्ध होती जा रही थी, जो रोमन परम्पराओं से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी।

आरम्भ में चर्च का संगठन पूर्णतया स्थानीय प्रकृति का था और इसमें लोकतन्त्री तत्त्व विद्यमान थे। रोम के प्रमुख स्थानीय क्षेत्रों में इनकी महत्ता तथा

लोकप्रियता बढ़ती जा रही थी। स्थानीय क्षेत्रों में चर्चों के बिशप प्रभावशाली होते जा रहे थे। रोम के चर्च तथा बिशप का महत्त्व बढ़ता गया। जब ट्यूटन आक्रमण-कारियों ने शासन-सत्ता को निर्बल कर दिया तो बिशप तथा चर्च संगठन ने राजनीति में भाग लेना प्रारम्भ किया। प्रारम्भ में धार्मिक सत्ता का प्रयोग सम्राटों के द्वारा किया जाता था और चर्च संगठन उनकी आधीनता में था। कालान्तर में स्थिति बदलने लगी। सम्राटों की सत्ता निर्बल होने तथा चर्च संगठन के अन्तर्गत प्रतिभा-शाली अधिकारियों के अस्तित्व का परिणाम यह हुआ कि समाज में चर्च का प्रभाव बढ़ने लगा। चर्च अधिकारियों ने असभ्य आक्रमणकारियों के ऊपर भी अपना प्रभाव जमाने में सफलता प्राप्त कर ली। चर्च ने एकता, भ्रातृत्व तथा समानता के आदर्शों का प्रचार किया। अराजकता की स्थिति में चर्च ने शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखने के कार्यों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। इसका परिणाम यह हुआ कि चर्च अधिकारियों के हाथ पर्याप्त लौकिक सत्ता (temporal power) आने लग गई। बहुधा शासन तथा प्रशासन के अधिकारियों के स्थान पर चर्च के अधिकारियों को ही वास्तविक अधिकारी-वर्ग माना जाने लगा। इस दशा में सबसे अधिक शक्ति रोम के बिशप ने प्राप्त करली। परिणामस्वरूप चर्च का संगठन भी राष्ट्रीय आधार पर केन्द्रीकृत ढंग से निर्मित किया जाने लगा। धीरे-धीरे साम्राज्य की शक्ति तथा संगठन क्षीण होते गये, और उसके स्थान पर चर्च का संगठन सुदृढ़ होता गया। साम्राज्य के पूर्वी भाग (कुस्तुन्तुनियाँ) में सम्राट की राजधानी हो जाने के कारण वहाँ चर्च पूर्णतया राजसत्ता के अधीन रहा, और उसे लौकिक सत्ता पर हस्तक्षेप करने में सफलता नहीं मिली और उसका कार्य-क्षेत्र चिन्तनात्मक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र तक ही सीमित रहा। परन्तु पश्चिमी भाग (रोम) में रोम के बिशप का महत्त्व बढ़ता गया और वह रोमन चर्च संगठन के उच्चोच्च क्रम के शीर्ष पर विद्यमान रहा और राजनीतिक मामलों में उसका हस्तक्षेप बढ़ता गया। ऐसी स्थिति कई शताब्दियों तक चलती रही। इस प्रकार रोम में चर्च के प्रभाव बढ़ने के कारण पर्याप्त लम्बी अवधि तक स्वतन्त्र तथा धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक चिन्तन का मार्ग अवरुद्ध हो गया। परिणामस्वरूप जैसा गैटिल ने कहा है, 'विवेक दासता की स्थिति में आ गया, ज्ञान का विकास दब गया और राजनीतिक दर्शन की प्रगति रुक गई।'[1]

पोप का अभ्युदय—सम्राट कॉन्स्टेन्टीन द्वारा ईसाई धर्म स्वीकार कर लिये जाने की अवधि तक रोमन चर्च का संगठन पर्याप्त सुदृढ़ हो चुका था। महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों तथा नगरों में स्थित चर्चों के बिशप स्थानीय चर्चों के ऊपर अपनी सत्ता का प्रयोग करने लगे थे और रोम का बिशप इन सबके शीर्ष पर था। अन्त में वह धर्म सम्बन्धी मामलों में सम्राटों का कानूनी परामर्शदाता बन गया और सम्राट की सत्ता निर्बल होने पर लौकिक मामलों में भी उसका प्रभाव बढ़ने लगा। चूँकि सन्त पीटर को रोम के चर्च का संस्थापक माना जाता था, अतएव रोमन बिशपों को सन्त पीटर का धार्मिक उत्तराधिकारी (apostolic successor) माना जाने लगा। रोम के चर्च की आर्थिक स्थिति भी पर्याप्त रूप से सुदृढ़ हो चुकी थी, अतः वह अन्य प्रादेशिक एवं स्थानीय चर्चों को आर्थिक सहायता भी देता था। इस प्रकार वह ईसाई दान-संस्थाओं (missionaries) तथा समस्त चर्चों का प्रधान बन गया। इन

[1] 'Thus for several hundred years, reason was enslaved, knowledge made little progress, and no political philosophy could evolve.' —Gettell, *op. cit.*, 82.

चर्च संगठनों ने ट्यूटनों को भी ईसाई बनाने के प्रयत्न जारी रखे। इसका परिणाम भी चर्च के केन्द्रीकृत संगठन के निर्माण में अनुकूल पड़ा। इस संगठन के अन्तर्गत चर्च के सिद्धान्तों तथा उत्सवों के आरक्षण एवं नियमन के उद्देश्य से एक प्रकार की चर्च सरकार की स्थापना हो गयी। धार्मिक मामलों के विवादों पर अन्तिम अपीली निर्णय रोम का बिशप देता था, जो एक चर्च परिषद् की सलाह से कार्य करता था। रोमन बिशप की इस बढ़ती हुई शक्ति के कारण उसे पोप के पद से विभूषित किया गया। इस प्रकार रोम की राजसत्ता के अस्त-व्यस्त होने पर धर्म-संगठन (चर्च) ने धार्मिक मामलों में अपने कार्य-क्षेत्र का नये ढंग से विकास आरम्भ किया। उसकी शिक्षा का उद्देश्य यह प्रचार करना हो गया कि रोमन साम्राज्य की स्थापना का आधार दैवी है। ईसा मसीह का साम्राज्य समस्त विश्व पर छाया है। पृथ्वी में उसका रूप रोमन साम्राज्य है, जिसकी अभिव्यक्ति चर्च-संगठन के द्वारा होती है और जिसकी सर्वोच्च सत्ता पोप के हाथ में है।

पोप की शक्ति का विकास—सातवीं शताब्दी तक रोमन बिशप की शक्ति बढ़ती रही, और सम्राट के रोम से बाहर कुस्तुन्तुनियाँ में रहने के कारण रोमन बिशप ने जो बाद में पोप बन चुका था, राजनीतिक मामलों में भी अपनी सत्ता का पर्याप्त विकास कर लिया। सम्राट की राजधानी कुस्तुन्तुनियाँ में थी, जहाँ से उसे पूर्व के मुस्लिम आक्रमणों का सामना करना पड़ रहा था। अत: वह रोम की राजनीतिक गतिविधियों पर ध्यान देने में असमर्थ था। परिणामस्वरूप रोमन पोप सम्राट की राजनीतिक सत्ता से अधिकाधिक स्वतन्त्र होता गया। कालान्तर में रोमन साम्राज्य दो भागों में बँट गया। पूर्वी भाग सम्राटों के आधिपत्य में बना रहा और पश्चिमी भाग रोमन पोप तथा चर्च संगठन की प्रभुसत्ता के अधीन आ गया। परिणामस्वरूप रोम के पोप की धर्म तथा राज्य दोनों क्षेत्रों में सर्वोच्चता बढ़ती गयी। इसी बीच आठवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में उत्तर से लोम्बार्ड राजाओं ने रोम पर आक्रमण कर दिया। पोप ने वीर फ्रैंक जाति से आक्रमणकारी को विफल करने के निमित्त सहायता माँगी। फ्रैंक लोगों की मदद से पोप को लोम्बार्ड आक्रमणकारियों को निकाल भगाने में सफलता मिल गयी। फ्रैंक राजा पेपिन ने रोमन साम्राज्य के पूर्वी भागों के वह प्रदेश जिन्हें वह आक्रमणकारियों से मुक्त करा पाया था पोप को प्रदान किये। बदले में पोप ने पेपिन के पुत्र शार्लमेन (Charle-magne) को रोम का सम्राट बना दिया (800 ई०)। इस प्रकार पोप ने राजाओं का निर्माता (king-maker) बनने की स्थिति प्राप्त कर ली।

पवित्र रोमन साम्राज्य

ट्यूटन आक्रमण के समय से शनैः शनैः रोम का पतन प्रारम्भ किया गया था। रोमन सम्राट के द्वारा अपनी राजधानी कुस्तुन्तुनियाँ में बना लेने का परिणाम यह हुआ कि रोमन साम्राज्य पूर्वी तथा पश्चिमी दो भागों में बँट गया। रोम पश्चिमी भाग का मुख्य केन्द्र था। वहाँ सम्राट की अनुपस्थिति में पोप का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। उसने अनेक ट्यूटन असभ्य राजाओं को ईसाई धर्म स्वीकार करने के लिए विवश कर लिया था। अतएव प्रारम्भ में रोमन साम्राज्य में जिस एकता की धारणा का विकास हुआ था, वह एकता की धारणा धीरे-धीरे रोमन कैथोलिक चर्च की एकता में परिणत होने लगी। कुछ समय तक तो रोम के पोप

पूर्वी रोम के सम्राट की लौकिक सत्ता को मान्यता देते रहे। परन्तु लोम्बार्ड आक्रमणकारियों को पराजित करने में सफलता प्राप्त कर लेने और शार्लमेन को रोम का सम्राट अभिषिक्त करने पर पोप की लौकिक सत्ता पर्याप्त बढ़ गयी। यह कार्य पोप लियो (Leo) तृतीय का था। यहाँ से पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना की भूमिका तैयार होने लगी। शार्लमेन की मृत्यु के पश्चात् पुनः रोम की स्थिति निर्बल होने लगी और 10वीं शताब्दी में पुनः रोम के ऊपर बाहर से आक्रमण होने लगे। 962 ई० में जब जर्मनी के राजा ओटो (Otto) ने इटली पर अपना अधिकार कर लिया तो पोप ने ओटो को रोम का सम्राट घोषित कर दिया। उसके राज्याभिषेक के साथ पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire) की स्थापना हो गयी।

आरम्भिक चर्च संस्थापकों के राजनीतिक विचार

रोमन राजनीतिक चिन्तन तथा ईसाई धर्म के आरम्भिक संस्थापकों की शिक्षाओं में स्टॉइक दर्शन का पर्याप्त प्रभाव था। अतः ज्यों-ज्यों रोमन साम्राज्य में ईसाई धर्म का प्रसार होता गया त्यों-त्यों रोमन विचारधारा में भी ईसाइयत का प्रभाव बढ़ता गया। चर्च संगठन के विस्तार के साथ-साथ आरम्भिक चर्च संस्थापकों की राजनीतिक विचारधाराएँ भी विकसित होने लगीं, क्योंकि जैसा उपर्युक्त परिच्छेदों में कहा गया है सम्राटों की शक्ति क्षीण होने पर चर्च का प्रभाव लौकिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में बढ़ने लगा था। चर्च के आरम्भिक संस्थापकों के राजनीतिक विचार बाइबिल (Old and New Testaments) की शिक्षाओं से ज्ञात होते हैं। संक्षेप में इन विचारों को निम्नांकित क्रम से व्यक्त किया जा सकता है—

(1) **आध्यात्मिक तथा लौकिक सत्ता के मध्य भेद करना, परन्तु दोनों को दैवी मानना**—ईसा मसीह ने आध्यात्मिक (spiritual) तथा लौकिक (temporal) राज्यों में भेद किया है। इस दृष्टिकोण को आरम्भिक धर्मोपदेशकों ने भी अपनाया। उनकी दृष्टि में राज्य की सरकार का उद्देश्य पृथ्वी में ईश्वर की इच्छा को लागू करना है। न्यू टेस्टामेण्ट के अनुसार राज्य का उद्देश्य न्याय का प्रतिपादन करना है, जो कि पवित्र चीज है। अतएव राज्य भी पवित्र संस्था है। ईसा मसीह ने कहा था, 'जो वस्तु राजा की है वह राजा को दी जाय और जो ईश्वर की है उसे ईश्वर को अर्पित किया जाय।'[1] इस दृष्टि से ईसाई धर्मोपदेशकों ने राज्य की सत्ता (Civil Government) को दैवी संस्था माना है जिसे शक्ति ईश्वर से प्राप्त होती है। सन्त पॉल ने कहा था, 'समस्त सत्ताएँ दैवी होती हैं, यदि कोई व्यक्ति सत्ता का विरोध करता है तो वह ईश्वर के आदेश का विरोध करता है।'[2] इस प्रकार राज्य की आज्ञा का पालन करना मनुष्य का धार्मिक दायित्व तथा राजनीतिक उपयोगिता है। राज्य के शासक ईश्वर के सेवक हैं। परन्तु सिविल शासकों की अवज्ञा उस स्थिति में की जा सकती है, जबकि उनके आदेश चर्च की शिक्षा के प्रतिकूल हों। ऐसी स्थिति में भी सत्याग्रह (passive resistance) व्यक्ति-विशेष की आज्ञा के विरुद्ध होना चाहिए न कि सत्ता के विरुद्ध, जो कि दैवी है। आरम्भिक धर्मोपदेशकों की यह

[1] 'Render unto Caesar the things that are Caesar's and unto God the things that are God's.'

[2] 'Powers that be are ordained of God; whosoever resisteth power, resisteth the command of God.'

शिक्षा जिसके अन्तर्गत राज्य को पवित्र संस्था बताया गया था, ईसाई धर्म के प्रचार में सहायक सिद्ध हुई, क्योंकि यदि राज्य की सत्ता का विरोध किया जाता तो राजा तथा शासक धर्म-प्रचार आन्दोलन को अपनी शक्ति के बल से कुचल देते।

(2) **प्राकृतिक कानून के दैवी स्वरूप को मान्य करना**—आरम्भिक धर्मोपदेशकों ने स्टॉइक दार्शनिकों के प्राकृतिक कानून तथा मानवीय समानता की धारणाओं को अपनाया। न्यू टेस्टामेण्ट में सन्त पॉल ने कहा है 'कानून का पालन प्रकृतितः किया जाना चाहिए।'[1] टेस्टामेण्ट की दृष्टि से प्राकृतिक कानून मानव हृदय में उगा हुआ है जिसकी अभिव्यक्ति विवेक से होती है। यह दैवी कानून है, अतः निश्चित तथा अपरिवर्तनीय है। यह राज्य के कानून से भिन्न प्रकृति का होता है। आरम्भिक चर्च संस्थापकों ने स्टॉइकों की प्राकृतिक कानून सम्बन्धी धारणा को ज्यों का त्यों ग्रहण किया। चूँकि रोमन काल में यह धारणा रोमन दर्शन का भी अंग बन गयी थी, अतः चर्च संस्थापकों की इस नीति ने भी चर्च शिक्षा के प्रसार में सहायता प्रदान की।

(3) **मानवीय समानता तथा विश्व-बन्धुत्व की धारणा को मानना**—धर्म-संस्थापकों ने स्टॉइकों की विश्व-बन्धुत्व तथा मानवीय समानता की इस धारणा को अपनाया कि सब मानव ईश्वर की सन्तान होने के नाते समान तथा भाई-भाई हैं। जहाँ तक दास-प्रथा का सम्बन्ध है, चर्च संस्थापक उसे भौतिक (शारीरिक) बन्धन-मात्र मानते थे न कि आत्मिक। आध्यात्मिक जीवन ही वास्तविक जीवन है। मनुष्य की आत्मा को दास नहीं बनाया जा सकता। ईश्वर दास तथा स्वतन्त्र मनुष्य के मध्य भेद नहीं करता। दास-प्रथा मनुष्य के पापों के दण्ड के रूप में है। प्राकृतिक स्थिति में सब मानव समान थे। जिन लोगों ने पाप किये उन्हें दूसरों का शारीरिक दृष्टि से दास बनना पड़ा। अतः दासता मानवीय संस्था है। इसका अस्तित्व कानून की दृष्टि से अवांछनीय नहीं है। परन्तु मालिकों को दासों के साथ दया तथा मानवीयता का व्यवहार करना चाहिए।

(4) **राजसत्ता का स्रोत जनता नहीं प्रत्युत् ईश्वर है**—प्रभुसत्ता के सम्बन्ध में चर्च-संस्थापक रोमन इम्पीरियल के सिद्धान्त को नहीं मानते थे, जिसके अनुसार यह माना जाता था कि राजसत्ता शासकों को जनता से प्राप्त होती है। इसके विपरीत वे यह शिक्षा देते थे कि शासकों को सत्ता ईश्वर से प्राप्त होती है। शासन की उत्पत्ति का कारण भी मनुष्य का पतित हो जाना था। पतित मानव का उद्धार करने के लिए बल-प्रवर्ती शक्ति आवश्यक है, अतः शासन एक आवश्यक बुराई है। चर्च बल-प्रवर्ती शक्ति का द्योतक नहीं है। वह शिक्षा तथा उपदेश द्वारा मानव का आध्यात्मिक विकास करती है। अतएव शासन-सत्ता की अपेक्षा चर्च की सत्ता उच्चतर है।

(5) **धर्मसत्ता राजसत्ता से श्रेष्ठतर है**—जब रोमन साम्राज्य ने ईसाई धर्म को राजकीय धर्म के रूप में स्वीकार कर लिया, तो चर्च ने बहुत-सी राजनीतिक शक्तियों का अपने पक्ष में दावा किया। वह राज्य की अनेक सत्ताओं पर हस्तक्षेप करने लगा। धर्म संस्थापकों का कहना था कि सिविल शासक 'ईश्वर का अनुचर' (Vicar of God) है। इस धारणा का प्रभाव यह हुआ कि राजाओं के दैवी अधिकार की धारणा को बल मिला और दूसरी ओर धर्मसत्ता की स्थिति को राज-सत्ता की स्थिति से श्रेष्ठतर मानने की शिक्षा दी जाने लगी।

[1] 'Do by nature the things of God.'

आरम्भिक चर्च संस्थापक

आरम्भिक चर्च धर्मोपदेशकों की विचारधाराओं में राजनीतिक चिन्तन की दृष्टि से सन्त ऐम्ब्रोस, सन्त अगस्टाइन, तथा पोप ग्रिगरी महान् के विचार महत्त्वपूर्ण हैं।

सन्त ऐम्ब्रोस

रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत सन्त ऐम्ब्रोस मिलन (Milan) के चर्च का बिशप था। उसने रोम के सम्राट द्वारा ईसाई चर्च की अधिकार सीमा में हस्तक्षेप करने की बात का घोर विरोध किया। उसके मत से 'धार्मिक मामलों में बिशपों का अधिकार-क्षेत्र सम्राट के ऊपर होता है, न कि सम्राट का बिशपों के ऊपर।' उसने इस धारणा को अत्यन्त साहसपूर्ण शब्दों में व्यक्त किया कि आध्यात्मिक मामलों में चर्च का अधिकार-क्षेत्र समस्त ईसाइयों पर लागू होता है। उसमे स्वयं सम्राट भी शामिल है, क्योंकि वह भी अन्य ईसाइयो की भाँति चर्च की सन्तान है, अतः वह चर्च के अधीन है, न कि उसके ऊपर। लौकिक मामलों मे चर्च सम्राट की सत्ता को स्वीकार करता है, जैसे सम्पत्ति, जिसमें चर्च की आधीनता की भूमि भी शामिल है। परन्तु चर्च की इमारतों के सम्बन्ध में उसका मत था कि चूँकि वे आध्यात्मिक उपयोग हेतु दान में दे दी गयी हैं, अतः सम्राट को उन्हें छूने तक का अधिकार नहीं है। उसका कथन था कि 'राजमहल सम्राटों के हैं, परन्तु गिरजाघर बिशपों के है।' इतना होते हुए भी वह लौकिक सत्ता के आदेशों का प्रतिरोध करने के लिए हिंसात्मक क्रान्ति का समर्थक नहीं था।

सन्त अगस्टाइन (354–430 ई०)

राजनीतिक विचारधाराओं के सन्दर्भ में आरम्भिक चर्च संस्थापकों में से सन्त अगस्टाइन (St. Augustine) की रचनाएँ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। वह उत्तरी अफ्रीका के हिप्पो का बिशप था। उसका पिता गैर-ईसाई तथा माँ ईसाई थी। सन्त ऐम्ब्रोस ने उसे ईसाई बनाया था। 410 ई० में जब रोम को दक्षिण-पश्चिमी यूरोप की ऐलेरिक तथा गौथ जातियों ने अपने आक्रमण द्वारा ध्वस्त तथा त्रस्त कर दिया तो रोम की जनता ने ईसाई धर्म संस्थापकों पर यह आरोप लगाना प्रारम्भ किया कि जब रोमवासी अपने देवताओं को पूजा करते थे, तब रोम एक नगर-राज्य से बढ़कर विशाल साम्राज्य में सफलतापूर्वक परिणत हो गया था। किन्तु ईसाई-धर्म की शिक्षाएँ तथा गतिविधियाँ रोम को असभ्य आक्रमणकारियों से बचाने में असमर्थ रहीं। यह धारणाएँ ऐसी थीं जो ईसाई धर्म-प्रचार के कार्य में बाधक सिद्ध होतीं। अतएव सन्त अगस्टाइन ने ईसाई धर्म के विरुद्ध इस आरोप का खण्डन करने के उद्देश्य से अपने विचार अपनी पुस्तक *De Civitate Dei* (The City of God) में रखे। यह रचना 22 खण्डों में विभक्त है, जिसको पूर्ण करने में 13 वर्ष (413–426) का समय लगा। इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य रोम के इतिहास को समुचित परिपेक्ष्य में रखना था। सन्त अगस्टाइन ने लिखा है कि 'मानव दो राज्यों का सदस्य होता है। एक राज्य वह है जिसमें उसने इस संसार में जन्म लिया है। यह पृथ्वी का राज्य (The City of Earth) है; दूसरा, स्वर्ग का राज्य (The City of

God) है। चूंकि मानव प्रकृति के दो रूप उसकी आत्मा तथा शरीर हैं, अतः वह स्वर्ग के राज्य तथा पृथ्वी के राज्य दोनों का नागरिक होता है। इसी प्रकार मनुष्य के हित भी दो प्रकार के होते हैं—प्रथम वह जिनका सम्बन्ध उसके शरीर से रहता है, अथच वे सांसारिक हैं; दूसरे वह हैं जिनका सम्बन्ध उसकी आत्मा से होता है, वे स्वर्ग के राज्य से सम्बद्ध हैं।' अगस्टाइन ने अपने इस 'दो राज्यों' के सिद्धान्त द्वारा नीतिशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र के मध्य सम्बन्ध तथा भेद दर्शाया है।

दो राज्यों की धारणा—जहाँ तक अगस्टाइन के राजनीतिक विचारों का सम्बन्ध है, फॉस्टर ने उचित ही कहा है कि 'राजनीतिक विचारधाराओं के सन्दर्भ में सन्त अगस्टाइन के सबसे महत्त्वपूर्ण विचार वह हैं जो उसकी 'दो राज्यों' की धारणा के इर्द-गिर्द घूमते हैं, अर्थात् पृथ्वी का राज्य तथा स्वर्ग का राज्य।'[1] वास्तव में अगस्टाइन न तो एक राजनीतिक चिन्तक था और न एक कानूनवेत्ता या राजनेता। वह मूल रूप में ईसाई धर्मोपदेशक था। उसका एकमात्र उद्देश्य जीवन की प्रणालियों (the way of life) का दिग्दर्शन कराना था न कि जीवन के संगठनों का विवेचन करना। वह चर्च तथा राज्य के मध्य अन्तर्विरोध होने के तथ्यों का वर्णन नहीं करता, अपितु दो राज्यों के सिद्धान्त द्वारा वह दो प्रकार की जीवन-प्रणालियों के मध्य भेद करता है। अतः दो राज्यों का सिद्धान्त एक रहस्यमय धारणा है। पृथ्वी का राज्य जीवन की सांसारिक प्रणाली का द्योतक है, जबकि स्वर्गीय राज्य उस जीवन-प्रणाली का द्योतक है जो ईश्वर के ध्यान में आध्यात्मिक जीवन में लगायी जाती है। संक्षेप में, अगस्टाइन के दो राज्यों का सिद्धान्त मनुष्य को भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन-प्रणालियों का ज्ञान कराने का प्रयास है। इस केन्द्रीय धारणा को वह अपने समस्त विचारों में लागू करता है।

दो समाजों की धारणा—अगस्टाइन के अनुसार समाज के भी दो रूप होते हैं—पृथ्वी का समाज, तथा स्वर्गीय समाज। सांसारिक समाज मानव के निकृष्टतर तत्त्व तृष्णा अथवा वासना की भावना से युक्त होता है, उसका उद्देश्य मानव की सांसारिक वासनाओं की तृप्ति कराना होता है। इसके विपरीत स्वर्गीय समाज का सम्बन्ध शान्ति तथा आत्मिक मुक्ति प्राप्त कराना होता है। पहला समाज शैतान का राज्य है जिसमें गैर-ईसाई रहते हैं, दूसरा ईसा मसीह का राज्य है जिसका रूप चर्च संगठन है। इतिहास इन दोनों समाजों के मध्य के संघर्ष की कहानी है, जो यह बताता है कि अन्ततोगत्वा स्वर्गीय राज्य ही विजयी होता है क्योंकि वह स्थायी है। अतः शान्ति उसी में प्राप्त हो सकती है। अगस्टाइन ने रोम के इतिहास के सम्बन्ध में भी अपना दो समाजों का सिद्धान्त लागू किया। उसका निष्कर्ष है कि रोमन साम्राज्य पृथ्वी के राज्य का रूप था। इसीलिए उसका पतन हुआ। ईसाई चर्च-समाज स्वर्गीय राज्य का द्योतक है, अतः वह नष्ट नहीं हो सकता। अगस्टाइन का विश्वास था कि 'ईश्वर जो कुछ करता है भले के लिए करता है।' प्रत्येक बुराई के पीछे भलाई भी निहित रहती है। रोम का पतन भी रोम के उज्ज्वल भविष्य को इंगित करता है, क्योंकि इसके द्वारा वहाँ स्वर्गीय राज्य की स्थापना का मार्ग प्रशस्त होगा। वहाँ के शासक पूर्णतया ईसाई धर्म को अंगीकार कर लेंगे और उसके

[1] 'In the realm of political theory, the most important ideas of St. Augustine are those which centre round his doctrine of the two cities; the earthly city and the city of God.'—Foster, *The Masters of Political Thought*, Vol. I, 197.

द्वारा वे रोम को नष्ट होने से बचायेंगे।

राज्य सिद्धान्त—राज्य सम्बन्धी धारणा का प्रतिपादन करने में अगस्टाइन न तो प्लेटो तथा अरस्तू की भाँति दर्शन का सहारा लेता है और न सिसरो की भाँति कानून का। वह न तो ग्रीकों की भाँति राजनीतिक चिन्तक था और न रोमनों की भाँति विधिवेत्ता या राजनयिक। वह चर्च संस्थापक एवं धर्मोपदेशक था। परन्तु 'उसका दैवी राज्य प्लेटो तथा सिसरो की धारणाओं पर निर्मित एवं ईसाई धर्म के स्वरूप पर प्रस्तुत किया गया है।' अत: उसमें प्लेटो के दर्शन, सिसरो के विधि-सिद्धान्त एवं ईसाई धर्म का सम्मिश्रण है। ईबनस्टीन के मतानुसार, 'सन्त अगस्टाइन प्लेटो के न्याय की धारणा तथा अरस्तू के उत्तम जीवन के विचारों को ईसाइयत के आदर्शों के साथ घोलकर राज्य की शास्त्रीय मान्यता का ईसाईकरण करता है और उसका सिद्धान्त ग्रीक रोमन तथा बाइबिल की धारणाओं से सुदृढ़-तया आबद्ध है, जिसका स्वरूप बल प्रयोग का एकाधिकार या सम्प्रभुतायुक्त औपचारिक सत्ता न होकर नैतिक है।'[1] गैटिल का मत है कि अगस्टाइन के 'नगर (city) की धारणा में ग्रीक प्रभाव प्रदर्शित होता है। उसका (अगस्टाइन का) विश्वास था कि संसार में सुखी शासन सम्पन्न करने के लिए छोटे राज्यों का समाज उपयुक्त है, परन्तु चर्च सम्बन्धी धारणा के कारण अगस्टाइन साम्राज्यवादी सा प्रतीत होता है, उसका विश्वास किसी एकाकी नेता के अधीन एक विश्वगत संगठन में है।'[2] जब अगस्टाइन दो राज्यों की धारणा को व्यक्त करता है, तो उनसे उसका अभिप्राय यह नहीं है कि एक राज्य भूतल पर और दूसरा आसमान या स्वर्ग मे स्थित है। प्रत्युत् उसका दैवी राज्य (Civitas Superna) एक ऐसी धारणा का द्योतक है, जिसका ज्ञान चर्च के अधीन संगठित राज्य-व्यवस्था के अन्तर्गत किया जा सकता है। ऐसी व्यवस्था देश तथा काल के अनुसार सार्वभौम है, उसकी स्थापना का आधार ईश्वर-प्रेम है, उसका उद्देश्य सत् का विकास तथा लक्ष्य न्याय है। इसके विपरीत पृथ्वी का राज्य (Civitas Terrena) निवर्तमान यथार्थ राज्यों का द्योतक है, जो नाशवान होता है जिसकी स्थापना का आधार आत्म-प्रेम है, उद्देश्य, बुराई तथा लक्ष्य शक्ति-प्राप्ति है। अत: दैवी राज्य (City of God) की धारणा अगस्टाइन के आदर्श राज्य की धारणा की द्योतक है। उसके सिद्धान्त का सार यह नहीं है कि दैवी-राज्य स्वर्ग के लिए है जो कि ईसाइयों की दृष्टि में जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। अगस्टाइन यह दर्शाता है कि दैवी-राज्य पृथ्वी में ही अपना अस्तित्व रखता है। वह ईसाई चर्च के मतावलम्बियों द्वारा निर्मित एवं संचालित राज्य हो सकता है। गैर-ईसाई उसके सदस्य नहीं हो सकते। उसकी सर्वोच्च सत्ता ईसाई धर्मावलम्बियों द्वारा निर्मित उच्चोच्च क्रम के संगठन के अधिकारियों द्वारा प्रयुक्त की जा सकती है। यह दोनों राज्य अपना अस्तित्व साथ-साथ रख सकते हैं अथवा परस्पर एक में मिल सकते हैं या एक-दूसरे को आच्छादित (overlap) कर सकते हैं। इस दृष्टि से अगस्टाइन के दो राज्यों की धारणा दो व्यवस्थाओं या जीवन-प्रणालियों को व्यक्त करती है। दैवी

[1] St. Augustine thus Christianises the classical approach to the theory of state by imbringing the Platonic concept of justice and Aristotelian notion of the good life with the ideas of Christianity, and his doctrine is firmly anchored in the Greeco-Roman and Biblical concepts of the state in terms of moral purpose rather than formal authority, the monopoly to use force, or sovereignty.' —Ebenstein, *op. cit.*, 171-72.

[2] Gettell, *op. cit.*, 89.

राज्य ईसाई चर्च-व्यवस्था एवं आध्यात्मिक जीवन-प्रणाली का सूचक है, जबकि पृथ्वी का राज्य गैर-ईसाईयो द्वारा संगठित लौकिक एवं भौतिक जीवन प्रणाली मात्र है। दैवी राज्य के अन्तर्गत चर्च संगठन राज्य-व्यवस्था का तथा ईसाई धर्म पर विश्वास रखने वालों का संगठन उसकी लौकिक सत्ता का द्योतक है। अगस्टाइन का निष्कर्ष यह है कि राज्य की सत्ता ईश्वर से प्राप्त होती है। अतः उत्तम राज्य-व्यवस्था दैवी राज्य के आदर्शो के अन्तर्गत संचालित व्यवस्था हो सकती है।

दैवी राज्य—अगस्टाइन की दैवी राज्य की धारणा चर्च संगठन की सर्वोच्चता के अधीन विश्वबन्धुत्व की भावना के आधार पर मानी गयी एक आदर्श राज्य की व्यवस्था है। उसका उद्देश्य प्रत्येक मानव को शामिल करना है, परन्तु मानव के पतन के कारण वह सभी मानवों को अपने में शामिल नही करता। इसकी सदस्यता की अर्हता जातिगत, वर्गगत या अन्य कोई भौतिक गुणों का होना नही है, बल्कि सद्गुण (grace) इसकी योग्यता है। सद्गुणहीन व्यक्ति इसके सदस्य नहीं हो सकते। सिसरो की धारणा का सार्वभौम विश्व-राज्य भी विश्व-बन्धुत्व की धारणा पर आधारित व्यवस्था है, परन्तु अन्तर यही है कि सिसरो तो स्वभावतः प्रत्येक मानव को सार्वभौम समाज का सदस्य मानता है, इसके विपरीत अगस्टाइन केवल ईसाइयों को ही अपनी धारणा के दैवी-राज्य का सदस्य मानता है, जो ईश्वर के प्रति सामूहिक निष्ठा तथा सामूहिक प्रेम की धारणा से एक सार्वभौम समाज में संगठित हुए हों।

अगस्टाइन की दृष्टि में न्याय तथा शान्ति दैवी राज्य के आवश्यक तत्त्व हैं। न्याय समाज की विविध इकाइयों (परिवार, राज्य तथा विश्व समाज) के मध्य व्यवस्था बनाये रखने हेतु प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपना कर्त्तव्य पालन करने की धारणा में निहित है। यों तो प्लेटो तथा अगस्टाइन दोनों की धारणा में न्याय का अभिप्राय कानून से है। परन्तु प्लेटो का कानून सांसारिक राज्य का कानून है, इसके विपरीत अगस्टाइन की धारणा में यह सार्वभौम तथा शाश्वत कानून है। न्याय मानव तथा ईश्वर के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने वाला अनुशासन का तत्त्व है, जिसके आधार पर मानव-मानव के मध्य समुचित सम्बन्ध स्वयमेव विकसित हो जायेंगे। अगस्टाइन ने कहा है कि 'जब न्याय ही नहीं रहेगा तो राज्य डाकुओं के झुण्ड मात्र रह जायेंगे।' शान्ति का अर्थ युद्ध का संघर्षो का अभाव मात्र नहीं है। सार्वभौम शान्ति का आधार वह सार्वभौम व्यवस्था है जिसमें मानव परस्पर ईश्वर के प्रति प्रेम रखते हुए संगठित होते हैं। रोमन कानून के अन्तर्गत विश्व राज्य की शान्तिपूर्ण व्यवस्था लौकिक प्रवृत्ति की थी। अगस्टाइन इसे 'सांसारिक राज्य की शान्ति' कहता है। उसके मत से उच्चतम शान्ति वह व्यवस्था है जिसमें समस्त मानव सक्रिय रूप से परस्पर ईश्वर के प्रति प्रेम की भावना से एक-दूसरे के साथ संयुक्त होते हैं।

अगस्टाइन के मत से अधिकार भी दो प्रकार के होते हैं : दैवी तथा मानवीय। मानवीय अधिकारों का स्रोत सांसारिक राज्य का कानून है, जबकि वह समुचित क्षेत्र के अन्तर्गत कार्य करता है। अतः मानवों को उसके कानूनों का पालन करना पड़ता है। परन्तु जहाँ तक धर्म तथा नैतिकता से सम्बद्ध अधिकारों तथा कानूनों का सम्बन्ध है, वहाँ चर्च की सर्वोपरिता अपरिहार्य है। इस क्षेत्र में वही अन्तिम निर्णायक है, क्योंकि वह ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है। अगस्टाइन की अधिकारों की धारणा मानव एवं शासकों दोनों को नैतिक तथा धार्मिक कर्त्तव्य-

पालन की प्रेरणा देती है। सम्पत्ति के सम्बन्ध में अगस्टाइन की धारणा यह है कि सम्पत्ति की प्रथा प्राकृतिक नहीं प्रत्युत् परम्परागत है। अतः इसका औचित्य भी परम्परागत ढंग की संस्था होने के कारण ही स्वीकार किया जा सकता है। दास-प्रथा भी परम्परागत होने के कारण ही अपना औचित्य रखती है। उसका औचित्य इस कारण से भी है कि वह मानव के पापों का परिणाम है, अतः पापों के उपचार हेतु दैवी दण्ड के रूप में वह मान्य की जा सकती है। यह प्राकृतिक नहीं है।

सांसारिक राज्य—सांसारिक राज्य के सम्बन्ध में अगस्टाइन रोमन लेखकों से भिन्न दृष्टिकोण रखता है। राज्य का आधार न्याय तथा कानून नहीं है। वह राज्य को अंशतः दण्ड देने वाली और अंशतः उपचार के रूप की संस्था मानता है। प्रारम्भ में सब मानव समान थे और विवेक तथा न्याय के नियमों का अनुगमन करते थे। परन्तु अपने पापों के फलस्वरूप कुछ मानवों को दूसरों की आधीनता में रहना पड़ा। राज्य की उत्पत्ति दैवी है। राज्य का शासक पृथ्वी पर ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में है, अतः मानव को उसकी आज्ञा का पालन करना आवश्यक है। परन्तु दैवी राज्य, जो वास्तविक राज्य होता है, का स्वरूप ऐसा नहीं होता। इस दृष्टि से अगस्टाइन की विचारधारा समाज में दो प्रकार के व्यक्तियों (दुष्टों तथा सन्तों) की कल्पना करती है। उन्ही की जीवन-प्रणालियाँ दो व्यवस्थाओं की सूचक हैं। अगस्टाइन का उद्देश्य चर्च तथा राज्य को पृथक् करना नहीं था, प्रत्युत् वह राजसत्ता के स्थान पर चर्च की सत्ता को प्रमुखता देना चाहता था।

प्रभाव—सैबाइन का कथन है कि 'अगस्टाइन की रचनाएँ विचारों की वह खान हैं जिसमें खुदाई का काम बाद के कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेंट लेखकों ने किया है।' यद्यपि उसका दर्शन बहुत क्रमबद्ध नहीं है, तथापि उसने प्राचीन युग के ज्ञान को भली-भाँति संचित करके अपने विचारों के द्वारा मध्ययुग में प्रसारित किया। कई शताब्दियों तक उसके दैवी राज्य की धारणा ईसाई दर्शन में प्रभावी रही। मुरे (R. H. Murray) के अनुसार, अगस्टाइन की रचना 'De Civitate Dei' की रूपरेखा चाहे कितनी ही अस्पष्ट क्यों न हो, यह बात निर्विवाद सत्य है कि उसने पृथ्वी पर ईश्वर के राज्य की धारणा को एक नए रूप में रखा, जिसके अनुसार साम्राज्य को चर्च के अन्दर रहना चाहिए और चर्च साम्राज्य के द्वारा विश्व का शासन करे।[1] अगस्टाइन की चर्च-संगठन की सर्वोच्चता की धारणा ने मध्य-युग के राजनीतिक चिन्तन में तत्काल प्रभाव डाला। रोम के सम्राट शार्लमेन, ओटो इत्यादि ने अगस्टाइन की रचना को बहुत पसन्द किया और उसके अध्ययन के द्वारा उनका चर्च के प्रति झुकाव बढ़ता गया। जब मध्य युग में धर्मसत्ता तथा लौकिक सत्ता की सर्वोच्चता के सम्बन्ध में संघर्ष आरम्भ हुआ तो दोनों पक्षों के समर्थकों ने अपनी-अपनी विचारधाराओं के पक्ष में अगस्टाइन के विचारों का निर्वचन करना प्रारम्भ किया। पोप गिलेसियस का दो तलवारों का सिद्धान्त अगस्टाइन के दो राज्यों के सिद्धान्त पर आधारित है। अगस्टाइन के सिद्धान्त में 'न केवल चर्च की स्वतन्त्रता ही अन्तर्निहित है अपितु लौकिक सरकार की भी, जब तक कि वह अपने समुचित अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत कार्य करती रहती है।' अगस्टाइन सन्त पॉल के इस कथन को मानता था कि 'सभी सत्ताएँ दैवी होती हैं।' अतः लौकिक सत्ता के आदेशों को मानना भी मानव का कर्त्तव्य है। सैबाइन के

[1] Quoted in Maxey, *op. cit.*, 103.

अनुसार, अगस्टाइन के लिए चर्च का इतिहास शाब्दिक मानों में हीगल की शब्दावली की भाँति 'संसार में ईश्वर का प्रयाण' (the march of God in the world) था।[1] मैक्सी ने कहा है कि 'रोमन ईसाइयत के अन्तर्गत मध्य युग की यूरोपीय राजनीतिक विचारधाराओं को कोई भी अन्य विचारक इतना अधिक प्रभावित न कर सका जितना कि चौथी शताब्दी के इस अफ्रीकी धर्मोपदेशक ने किया।'[2] बाद के युग में सन्त टॉमस ऐक्विनास ने अगस्टाइन के विचारों को अपने राजनीतिक दर्शन में विशेष स्थान दिया। दान्ते, विक्लिफ तथा ग्रोसियस के विचारों को भी अगस्टाइन से बहुत प्रेरणा मिली। पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना का आधार ही अगस्टाइन का दैवी राज्य का सिद्धान्त है।

पोप गिलेसियस प्रथम

दो तलवारों का सिद्धान्त

सिद्धान्त का आधार दो राज्यों की धारणा है—ग्रीस तथा रोम के राजनीतिक विचारों के अन्तर्गत राज्य एवं धर्म के मध्य भेद करने की प्रवृत्ति नहीं थी। ग्रीक तथा रोमन विचारक यह नहीं मानते थे कि मानव के ईश्वर तथा राज्य के प्रति कर्त्तव्यों एवं निष्ठा मे भेद है। इसका एक कारण यह भी था कि जिन देवताओं की आराधना लोग करते थे उन्हें राज्य के देवता माना जाता था। जब रोम ने ईसाई धर्म को राज्य के धर्म के रूप में स्वीकार कर लिया गया तो स्थिति बदलने लगी। सन्त अगस्टाइन ने दो राज्यों (Two Cities) के सिद्धान्त के द्वारा दो प्रकार की जीवन-प्रणालियों, आध्यात्मिक तथा भौतिक अर्थात् धर्म सम्बन्धी तथा विशुद्धतया लौकिक के मध्य भेद किया। उसके दैवी राज्य का अभिप्राय ऐसी जीवन व्यवस्था से था जिसमें मानव ईश्वर के प्रति निष्ठा रखते हुए जीवन व्यतीत करे। सांसारिक राज्य का अभिप्राय ईश्वर से विमुख तथा पूर्णतया भौतिकता पर आधारित जीवन-प्रणाली से था। आरम्भिक ईसाई धर्म संस्थापक समस्त सत्ताओं को दैवी मानते थे। यद्यपि अगस्टाइन ने दैवी सत्ता को प्रमुखता देते हुए सांसारिक राज्य की सत्ता को दैवी-राज्य अर्थात् चर्च की सत्ता के अधीन माना है, तथापि वह भी मानव को दोनों सत्ताओं के प्रति निष्ठा रखने की शिक्षा देता है।

राजसत्ता तथा धर्मसत्ता के मध्य सम्बन्धों की धारणा—मध्य युग में मानव की इस द्विविध निष्ठा (धर्मसत्ता तथा राज्यसत्ता) के सिद्धान्त का राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में व्यापक प्रभाव पड़ा। यह सिद्धान्त लौकिक तथा आध्यात्मिक सत्ताओं के पृथक् अधिकार-क्षेत्रों के अस्तित्व का सिद्धान्त है। इन दो सत्ताओं के पृथक्करण के कारण दैवी तथा मानवीय कानून के मध्य सम्बन्धों के निरूपण की आवश्यकता पड़ी। आरम्भिक ईसाई धर्म-प्रवर्तकों ने इनके मध्य स्पष्ट भेद किया था। ईसा मसीह ने कहा था कि 'जो वस्तुएँ राजा की हैं उन्हें राजा को तथा जो ईश्वर की हैं उन्हें ईश्वर को अर्पित करो।' सन्त पाल ने भी कहा था कि 'प्रत्येक आत्मा को उच्च सत्ताओं के अधीन रहना चाहिए क्योंकि ईश्वरीय सत्ता सबसे बड़ी

[1] Sabine, *op. cit.*, 171.

[2] 'No other figure in Roman Christianity exerted a greater influence upon the political ideology of medieval Europe than this scholarly African

है और समस्त सत्ताएँ उसी के आदेश से उत्पन्न होती हैं। इसलिए किसी भी सत्ता का विरोध करना ईश्वर के आदेश का विरोध करना है।' इसी प्रकार सन्त पीटर का भी कथन था कि 'ईश्वर से भय करो, राजा का सम्मान करो' (fear God, honour the king)।

सामाजिक जीवन में दो प्रमुख वर्गों का अस्तित्व—आरम्भिक चर्च संस्थापकों ने समाज के दो बड़े-बड़े वर्गों के हित में समाज के द्विविध संगठन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। प्रथम वर्ग चर्च से सम्बन्धित अधिकारियों (clergy) का था जिनका कार्य-क्षेत्र जनता को आध्यात्मिक हितों एवं चिर-मोक्ष की उपलब्धि की शिक्षा देना था, द्वितीय वर्ग प्रशासकों (magistrates) का था जिनका कार्य-क्षेत्र जनता को लौकिक हितों, यथा शान्ति, व्यवस्था और न्याय की उपलब्धि कराना था। आरम्भ में यह धारणा बनी रही कि इन दोनों प्रमुख वर्गों के मध्य पारस्परिक सहयोग की भावना बनी रहनी चाहिए। पारस्परिक सहचार के ऐसे सिद्धान्त का अभिप्राय यह था कि इन दोनों वर्गों को एक-दूसरे के कार्य-क्षेत्र में उसी स्थिति में हस्तक्षेप करना चाहिए जबकि एक सत्ता अपने अधिकारों तथा आचरणों में गलती करने लगे, तो दूसरी सत्ता उन्हें सुमार्ग पर लाने का प्रयास करे।

पोप गिलेसियस ने इन दो सत्ताओं को दो तलवारों की संज्ञा दी और उनके मध्य सम्बन्धों को दर्शाया—इस सिद्धान्त की स्पष्ट व्याख्या पाँचवी सदी में पोप गिलेसियस प्रथम ने की थी। उसके सिद्धान्त को दो तलवारों के सिद्धान्त (Theory of Two Swords) की संज्ञा दी जाती है। गिलेसियस का मत था कि धार्मिक मामलों में सम्राट् को चर्च अधिकारियों की इच्छा के अधीन रहना चाहिए, अर्थात् चर्च से सम्बन्धित अधिकारियों के आचरण पर पूर्ण नियन्त्रण चर्च संगठन का होना चाहिए न कि राजसत्ता के अधिकारियों का। उसका कथन था कि 'सर्व-शक्तिमान् परमात्मा का आदेश है कि ईसाई धर्म के उपदेशकों तथा धर्माधिकारियों के ऊपर शासन नागरिक कानून या लौकिक अधिकारियों के आदेशों द्वारा नहीं किया जायेगा बल्कि बिशपों तथा धर्माधिकारियों द्वारा किया जायेगा।' इसका अभिप्राय यह था कि चर्च से सम्बद्ध अधिकारियों के आचरण सम्बन्धी विवादों का निर्णय चर्च न्यायालयों द्वारा ही किया जा सकेगा न कि लौकिक प्रशासकों तथा न्यायालयों द्वारा। गिलेसियस ने घोषित किया था कि 'एक ही व्यक्ति के हाथ में दोनों सत्ताओं (धार्मिक तथा लौकिक) का सम्मिश्रण मूलतः गैर-ईसाई संस्था है, और ईसा मसीह के अवतार के पश्चात् वह गैर-कानूनी है।'[1] स्वयं ईसा मसीह ने दोनों सत्ताओं के मध्य पृथक्करण किया है। ईसाई व्यवस्था के अन्तर्गत एक ही व्यक्ति का साथ-साथ राजा तथा धर्माधिकारी बना रहना गैर-कानूनी है। गिलेसियस ने कहा था कि 'ईसाई व्यवस्था के अन्तर्गत शासकों को आध्यात्मिक जीवन की उपलब्धि के निमित्त बिशपों की आवश्यकता पड़ती है, और बिशप लोग सांसारिक मामलों को व्यवस्थित तथा नियमित बनाये रखने के लिए लौकिक सत्ता द्वारा प्रतिपादित विनियमों का उपयोग करते हैं।'[2] यद्यपि यह धारणा चर्च अधिकारियों पर अधिक उत्तरदायित्वों

[1] 'The combination of the two authorities in the same hands was a typically pagan institution and was unlawful after the coming of the Christ.'

[2] 'The Christian rulers need bishops for the sake of eternal life and the bishops make use of imperial regulations to order the course of temporal affairs.'

को आरोपित करती है तथापि यह माना जाता था कि इनमें से किसी भी सत्ता को दूसरे के अधिकार-क्षेत्र पर हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

पोप गिलेसियस ने कुस्तुन्तुनियाँ में स्थित रोमन सम्राट ऐनेस्टीसियस (Anastisius) को अपनी इस धारणा को व्यक्त करते एक पत्र में लिखा था कि 'महान् सम्राट ! इस संसार का शासन करने वाली दो प्रमुख शक्तियाँ हैं : धर्माधिकारियों की पवित्र सत्ता तथा राजसी सत्ता, जिनके अन्तर्गत धर्माधिकारियों के ऊपर उच्चतर दायित्व रखा गया है। आप जानते हैं कि अन्य मानवों की अपेक्षा आपका स्तर उच्चतर है, तथापि आपको धार्मिक मामलों का नियमन करने के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों के समक्ष झुकना पड़ता है। सार्वजनिक शान्ति तथा व्यवस्था से सम्बद्ध मामलों में धार्मिक नेता आपके आदेशों का पालन करते हैं। यह इसलिए कि ऐसे आदेश देने की शक्ति आपको ईश्वर के द्वारा प्रदान की गई है। परन्तु आपको भी उन अधिकारियों के आदेशों का पालन करना चाहिए जिन्हें आध्यात्मिक जीवन के रहस्यों की व्याख्या करने का अधिकार प्राप्त है।' पोप गिलेसियस के इन शब्दों से स्पष्ट है कि उसकी दो सत्ताओं की धारणा का अभिप्राय चर्च तथा राजा दोनों सत्ताओं को संयमित रहने की प्रेरणा देना है। दोनों सत्ताओं में से किसी भी सत्ता को यह क्षमता प्राप्त नहीं हो सकती कि वह दोनों क्षेत्रों में प्रमुखता की स्थिति में रहे।

धर्मसत्ता को राजसत्ता से श्रेष्ठतर मानने की धारणा—आरम्भिक चर्च संस्थापकों की राज्य तथा समाज के मध्य भेद करने की धारणा भी दो सत्ताओं के अस्तित्व को मानने की धारणा के सदृश थी। रोमन काल की विश्व समाज की धारणा चर्च संस्थापकों की चर्च-समाज की धारणा से भिन्न है। रोमनों की दृष्टि में सार्वभौम विश्व-समाज का अर्थ सम्पूर्ण मानव-समाज से था, जिसका नियमन प्राकृतिक कानून के द्वारा होता। राज्य मानव-समाज के अन्तर्गत अपने-अपने नागरिक कानूनों द्वारा शासित जन-समुदाय थे। इसके विपरीत चर्च संस्थापकों का सार्वभौम समाज ईसाई चर्च-संगठन था, क्योंकि साम्राज्य की भाँति चर्च भी समस्त मानवों को शामिल करता है। उनकी दृष्टि से सम्पूर्ण मानव जाति एक समाज है, जिसका शासन दो सरकारों के द्वारा किया जाता है, प्रत्येक की पृथक् प्रशासकीय, व्यवस्थापिका तथा कानूनी प्रणालियाँ होती हैं। इन दो सत्ताओं (या दो तलवारों) की धारणा ने मानव की निष्ठा तथा आज्ञाकारिता को दो आदर्शों के अन्तर्गत विभाजित कर दिया। ईसाई धर्म ने मानवों को यह शिक्षा दी कि मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति है, जिसकी उपलब्धि चर्च का सदस्य बनकर तथा चर्च के आदेशों के अनुसार जीवन व्यतीत करके हो सकती है। सांसारिक सत्ता का कार्य यह है कि वह मानवों के मध्य ईश्वर के प्रति निष्ठा की भावना की अभिवृद्धि करने में सहायक सिद्ध हो सके। अतः यद्यपि दो तलवारों का सिद्धान्त धर्मसत्ता तथा राज्यसत्ता के पृथक् तथा स्वतन्त्र अस्तित्वों को स्वीकार करता है, तथापि वह धर्मसत्ता को प्रमुख स्थान देता है, क्योंकि इस सिद्धान्त के प्रतिपादक धर्म के संस्थापक थे।

प्रभाव—दो तलवारों का सिद्धान्त यह दर्शाता है कि चर्च तथा राज्य दोनों को सत्ता ईश्वर से प्राप्त हुई है। दोनों सत्ताएँ (तलवारें) अपने-अपने अधिकार-क्षेत्र में समान शक्ति रखती हैं। साथ ही, दोनों एक-दूसरी के ऊपर प्रतिबन्ध लगाने का

कार्य भी करती हैं। परन्तु चर्च की सत्ता (धर्मसत्ता) को राज्य की सत्ता से श्रेष्ठतर बनाने की प्रवृत्ति सभी चर्च-संस्थापकों के विचारों में बनी रही। इसका कारण यह भी था कि गिलेसियस के काल से लेकर 12वीं शताब्दी तक की अवधि में चर्च ने अपनी शक्ति में पर्याप्त विस्तार कर लिया था। लगभग सभी राज्य तथा शासक ईसाई धर्म को मानने लग गये थे और चर्च के सदस्य बन गये थे। अतएव दो सत्ताओं के मध्य भेद करने का स्वरूप भी बदल गया था। कालान्तर में यह माना जाने लगा कि स्वयं चर्च संगठन के अन्तर्गत दो व्यवस्थाएँ हैं, जिनमें से एक चर्च अधिकारियों की (clergymen) तथा दूसरी सांसारिक व्यक्तियों की (laymen) है।

इस भेद को 12वीं शताब्दी के एक चर्च उपदेशक टूर्नी के स्टीफेन (Canonist Stephan of Tournei) ने निम्नांकित शब्दावली में व्यक्त किया है—एक ही राज्य-समाज (चर्च) तथा एक राजा (ईसा) के अधीन दो प्रकार के मानव (जनसाधारण तथा चर्च कर्मचारी) हैं। अतः जीवन प्रणाली के दो रूप (सांसारिक तथा आध्यात्मिक) हैं, इसीलिए दो सत्ताएँ (चर्च पुजारी तथा राजत्व) भी हैं; यही कारण है कि अधिकार-क्षेत्र की भी दो व्यवस्थाएँ (दैवी कानून तथा मानवीय कानून) हैं।[1] दो तलवार-सिद्धान्त की इस धारणा का राजनीतिक विचारधाराओं के विकास में प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था, क्योंकि यह राजसत्ता तथा धर्मसत्ता के मध्य की विभाजन रेखा का आधार प्रस्तुत करती है। धर्म का बढ़ता हुआ प्रभाव राजसत्ता के प्रभाव को सदैव नहीं दबा सकता था। परिणाम यह हुआ कि मध्य युग में 11वीं तथा 12वीं शताब्दी के पश्चात् इन दोनों के मध्य सत्ता की उच्चता के सम्बन्ध में मतभेद प्रारम्भ होने लगा जो कालान्तर में एक महान् संघर्ष के रूप में विकसित हो गया। चूँकि दोनों सत्ताएँ ईश्वर द्वारा प्राप्त हुई हैं, अतः प्रत्येक अपनी श्रेष्ठतर स्थिति के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त का निर्वचन अपने पक्ष में करने लगी।

मध्य युग में राजसत्ता तथा धर्मसत्ता के मध्य का संघर्ष जिस भीषण रूप में विकसित हुआ, उसका प्रमुख आधार यही सिद्धान्त था। परन्तु स्वयं इस सिद्धान्त के बारे में कि 'सत्ता के यह दोनों रूप अपने-अपने अधिकार-क्षेत्र में सर्वोच्च हैं' कभी भी संघर्ष नहीं रहा। संघर्ष इसी बात पर था कि इस सिद्धान्त को लागू कैसे किया जाए। 11वीं तथा 12वीं शताब्दी में उत्पन्न होने वाला विवाद चर्च के बिशपों की नियुक्ति (Investiture Controversy) सम्बन्धी समस्या के बारे में था। पोप इस सम्बन्ध में अपनी अधिकार सीमा का दावा करता था, दूसरी ओर सम्राट अथवा राजा लोग इसे अपना अधिकार-क्षेत्र मानते थे। पोप का दावा था कि चूँकि बिशप का पद चर्च से सम्बद्ध है और पोप चर्च का प्रधान अधिकारी है, अतः बिशपों की नियुक्ति करने का अधिकार पोप को है। सम्राटों का दावा था कि चूँकि बिशप एक प्रकार का सामन्ती भूमिधर है, और इसी क्षमता में वह राजा की परिषद् का सदस्य होता है, इसलिए राजा को उसकी नियुक्ति का अधिकार प्राप्त होना चाहिए।

इसी प्रकार पोप तथा सम्राट के पद की उच्चता के सम्बन्ध में भी विवाद

[1] 'Within one commonwealth (Church) and under one king (Christ) are two peoples (the laymen and the clerics). So there are two ways of life (carnal and spiritual), so there are two authorities (the priesthood and the kingship) and hence there is a two-fold order of jurisdiction (divine law and human law).'

उत्पन्न हुआ। सम्राट यह मानते थे कि पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट अपने पूर्वकालीन रोमन साम्राज्य के सम्राटों का उत्तराधिकारी होने से सर्वोपरिता की स्थिति में है। दूसरी ओर पोप का यह दावा था कि पवित्र रोमन साम्राज्य के प्रथम सम्राट शार्लमेन का अभिषेक पोप के द्वारा किया गया था, अतः पोप सम्राट की अपेक्षा उच्चतर स्थिति धारण करता है। इस प्रकार यह संघर्ष चर्च एवं राज्य के मध्य न होकर चर्च अधिकारियों एवं लौकिक सत्ताधारियों के मध्य छिड़ गया है। प्रारम्भ में पोप का पक्ष अधिक सुदृढ़ स्थिति में रहा, क्योंकि चर्च ने यह दावा किया कि वह ट्यूटन आक्रमणकारियों के प्रभाव से प्राचीन रोम की संस्कृति को बचाये रखने में समर्थ रहा है, और साथ ही इसलिए भी कि समस्त राजा तथा प्रजाजन चर्च-संगठन की सदस्यता स्वीकार कर चुके थे। परन्तु कालान्तर में चर्च-संगठनों में भ्रष्टाचार तथा विलासिता बढ़ जाने के कारण चर्च अधिकारियों के विरुद्ध जो अभियान प्रारम्भ हुआ उसने राजसत्ता के समर्थकों के दावों को शक्तिशाली बनाने में सहायता प्रदान की। अतएव 'ईसाई समाज की इस द्विपक्षी धारणा ने एक ऐसी अजीब समस्या उत्पन्न कर दी जिसने सम्भवतः अन्त में किसी अन्य समस्या की अपेक्षा यूरोपीय राजनीतिक चिन्तन में विशिष्ट तथ्यों के सम्बन्ध में सबसे अधिक योगदान किया।'[1]

भले ही धर्मसत्ता तथा राजसत्ता के मध्य का संघर्ष प्रारम्भ में चर्च के पक्ष में और कालान्तर में राज्य के पक्ष में निर्णीत हुआ, तथापि इस सिद्धान्त के धार्मिक विश्वास की स्वतन्त्रता की धारणा को सदा के लिए पुष्ट करने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। आधुनिक राज्य व्यक्ति की इस स्वतन्त्रता को नागरिक का मौलिक अधिकार मानते हैं।

सन्त ग्रिगरी

आरम्भिक चर्च संस्थापकों की शृंखला में सन्त ग्रिगरी (St. Gregory) छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में उत्पन्न हुआ था। वह युग एक प्रकार की अराजकता का युग था। सम्राटों के लिए अराजकता की स्थिति का सामना करना चर्च के ऊपर नियन्त्रण रखने की अपेक्षा अधिक जटिल समस्या थी। इस काल में जब लोम्बार्डों ने इटली पर हमला करना प्रारम्भ किया तो सन्त ग्रिगरी ने पर्याप्त सफलता के साथ आक्रमणकारियों का प्रतिरोध किया। अपनी इस सफलता के कारण वह लौकिक एवं धार्मिक दोनों सत्ताओं के ऊपर प्रभावी हो गया। परन्तु उसने धर्मसत्ता को राजसत्ता से श्रेष्ठतर मानने की धारणा व्यक्त नहीं की। वह सन्त ऐम्ब्रोस के इस सिद्धान्त को नहीं मानता था कि धार्मिक मामलों में बिशपों की सत्ता सम्राटों से बढ़कर है। ग्रिगरी ही एकमात्र ऐसा चर्च संस्थापक था, जो लौकिक शासक की स्थिति को इस रूप में रखता है और धार्मिक मामलों में भी उसके प्रति सविनय आज्ञाकारिता (passive obedience) की धारणा को मान्य करता है। इस दृष्टि से उसने अन्य चर्च-संस्थापकों के विपरीत रुख अपनाया है, क्योंकि किसी भी अन्य धर्म संस्थापक ने ऐसी धारणा व्यक्त नहीं की थी कि सम्राट की सत्ता चर्च की सत्ता से श्रेष्ठतर है।

[1] 'This dual aspect of Christian society produced a unique problem which in the end contributed perhaps more than any other, to the specific properties of European political thought.' —Sabine, *op. cit.*, 175.

ग्रिगरी शासक के अत्याचारपूर्ण आदेशों तक का सविनय पालन करने की सलाह देता है। यदि सम्राट ऐसे गैर-कानूनी कार्य करता है, तो उसे निन्दा का सामना करने का भय हो सकता है, न कि अवज्ञा किये जाने का। लौकिक शासक न केवल ईश्वर की शक्ति से ही युक्त होता है, अपितु उससे बढ़कर ईश्वर की अपेक्षा अन्य कोई दूसरी सत्ता नहीं होती। शासक के कुकृत्य अन्ततोगत्वा उसकी ही आत्मा तथा ईश्वर के मध्य की वस्तु है अर्थात् उनके लिए वह ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है।

मध्य युग की राजनीतिक विचारधाराओं पर अन्य प्रभाव

ट्यूटन जाति के राजनीतिक विचार

ट्यूटन असभ्य जातियों की रोम पर विजय हो जाने का परिणाम यह हुआ कि रोम की प्राचीन सामाजिक तथा राजनीतिक परम्पराएँ अपने मूल रूप में लागू नहीं हो पायीं। विजयी ट्यूटन लोग अपनी सामाजिक तथा राजनीतिक परम्पराओं के द्वारा रोमन साम्राज्य पर अपना प्रभाव डालने लगे। उनकी परम्पराएँ अनेक दृष्टियों से रोम की परम्पराओं, कानून तथा प्रशासनिक व्यवस्था से भिन्न स्वरूप की थीं। अतः यह स्वाभाविक था कि मध्य युग के राजनीतिक चिन्तन तथा विचार-धाराओं पर उनका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका। चर्च के बढ़ते हुए प्रभाव तथा शिक्षाओं ने ट्यूटन जातियों पर ईसाई धर्म की विचारधाराओं को लाने में सफलता प्राप्त की थी। परन्तु यह प्रभाव धार्मिक ही था न कि राजनीतिक। ट्यूटन संस्थाओं तथा परम्पराओं ने मध्य युग के राजनीतिक विचारों को ही प्रभावित नहीं किया, वरन् उनके अनेक आदर्श अन्य यूरोपीय देशों में भी फैले। इन विचारों को निम्नांकित श्रेणियों में रखा जा सकता है—

(1) **व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की धारणा**—ट्यूटन लोग व्यक्तिगत जीवन को सार्वजनिक जीवन की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे। सार्वजनिक जीवन की इकाई राज्य को नहीं बल्कि व्यक्ति को माना जाता था। उनका दण्ड विधान यह मानता था कि यदि कोई व्यक्ति दूसरे को हानि पहुँचाता है तो अपराधी को दण्ड देना राज्य का कार्य नहीं, बल्कि उस व्यक्ति का मामला है, जिसे हानि पहुँचायी गयी है। राजनीतिक समाज व्यक्ति के अधिकारों को मर्यादित करने की शक्ति नहीं रखता प्रत्युत् व्यक्ति के अधिकार राज्य के अधिकारों को मर्यादित करते हैं। ट्यूटनों की ऐसी धारणाएँ व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की धारणा का प्रबल समर्थन करती हैं।

(2) **प्रतिनिध्यात्मक शासन प्रणाली**—ट्यूटनों की सार्वजनिक संस्थाओं का रूप प्रतिनिध्यात्मक था। वे सामान्यतया लोकतन्त्री ढंग की थीं। वे लोग अपने सार्वजनिक मामलों का संचालन स्थानीय तथा राष्ट्रीय प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं द्वारा करते थे। राष्ट्रीय सभाओं में राज्य के समस्त स्वतन्त्र व्यक्ति भाग लेते थे। ये सभाएँ शासन के अधिकारियों का निर्वाचन करती थीं, महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय समस्याओं को हल करती थीं और न्यायिक मामलों को भी निबटाती थीं। इन सभाओं को शासकों को पदच्युत करने की शक्ति भी प्राप्त थी। ट्यूटनों की इन प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं का अनुकरण पश्चिमी यूरोप के अनेक दशों ने किया।

(3) **वैधानिक सरकार**—ट्यूटन लोगों में आरम्भ में अपने राजा को निर्वाचित करने की प्रथा प्रचलित थी। कालान्तर में राजा का पद पैतृक हो गया।

परन्तु अपने शासकों को निर्वाचित करने का अस्पष्ट सिद्धान्त सदैव मान्य किया जाता रहा। ट्यूटन लोग रोमनो की राज्य की निरंकुशतावादी प्रथा को नहीं मानते थे। उनके शासक मर्यादित सत्ता का उपभोग करते थे। यूरोप के विभिन्न राजतन्त्रों के मध्य मर्यादित राजतन्त्रों की परम्परा के विकास में ट्यूटन प्रथा का प्रभाव स्पष्ट है। ट्यूटन लोग व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के कट्टर समर्थक थे। वैयक्तिक स्वतन्त्रता, समुदाय की स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति की स्वतन्त्रता की वर्तमान धारणाओं पर ट्यूटन परम्परा का प्रभाव है।

(4) **विधि-व्यवस्था**—रोमन विधि-व्यवस्था का सृजन तथा विकास वहाँ के विधिवेत्ताओं तथा शासकों के सैकड़ों वर्षों के सतत प्रयास का फल है जिसके कारण वह सदा के लिए अमर सिद्ध हो चुकी है। परन्तु ट्यूटनों की कानून-प्रणाली बहुत आरम्भिक प्रकृति की थी। उनके कानून का आधार वैयक्तिक था। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने कानून का निर्माता था। प्रत्येक व्यक्ति विवाद उपस्थित होने की स्थिति में यह आकांक्षा करता था कि उसके ऊपर अभियोग चलाने की प्रक्रिया स्वयं उसी के व्यक्तिगत कानून के अनुसार होनी चाहिए। कबीलों के रीति-रिवाजों में कानून की शक्ति होती थी। कानून को लागू करने का कार्य जनता की सभाओं द्वारा किया जाता था। ट्यूटन कानून अलिखित होता था। इंग्लैण्ड में आजकल भी जिस सामान्य कानून (Common Law) की प्रथा प्रचलित है वह ट्यूटन परम्परा का ही प्रसार है। कई अन्य यूरोपीय देशों में भी ऐसी परम्परा प्रचलित है।

सामन्तवादी व्यवस्था

रोम के विजेता ट्यूटन, लोम्बार्ड, गॉथ आदि जातियों द्वारा लायी गयी प्रथा—मध्य युग में यूरोप के राजनीतिक चिन्तन एवं विचारधाराओं पर ट्यूटन राजनीतिक संस्थाओं तथा परम्पराओं का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। ट्यूटन सामन्तवादी सामाजिक संरचना एवं राजनीतिक व्यवस्था तत्कालीन राजनीतिक संस्थाओं एवं व्यवहार का ज्ञान कराती हैं। ट्यूटन लोगों में अपने योद्धाओं के प्रति निष्ठा रखने की भावना ने मध्य युग में यूरोपीय देशों में सामन्तशाही प्रथा के प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। रोमन साम्राज्य के पतन के पश्चात् लोम्बार्ड, फ्रैंक तथा गॉथ जातियों ने जिन क्षेत्रों में विजय प्राप्त की, वहाँ उन्होंने एक नये प्रकार की सामाजिक संरचना का निर्माण किया। यह प्रथा सैनिक-व्यवस्था एवं भूमि के वितरण की एक विशिष्ट पद्धति पर आधारित है। इसके अन्तर्गत कबीले के प्रधान एवं कबाइली परिवारों के मुख्यों एवं विजित जनसमूहों के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों की एक अनोखी पद्धति प्रचलित थी। इसे सामन्तवाद कहा जाता है।

समाज की सम्पूर्ण भूमि का मालिक राजा तथा उसके द्वारा निम्नतर क्रम में सामन्तों, सामन्तों द्वारा उप-सामन्तों—सैबाइन ने कहा है कि 'सामन्तवाद की परिभाषा करना सम्भव नहीं' क्योंकि पहले तो इसके द्वारा विभिन्न प्रकार की संस्थाओं का बोध होता है और इसलिए भी क्योंकि विभिन्न कालों तथा स्थानों पर इसका विकास अत्यन्त असमान रूप से हुआ था।'[1] ऐसी अव्यवस्था के काल में जबकि

[1] 'It is impossible to define feudalism both because it connotes a great variety of institutions and also because it was very unequally developed in different times and places.' —Sabine, *op. cit.*, 189.

समाज में भारी अराजकता की स्थिति आ गयी थी, यह सम्भव नहीं था कि विशाल राजनीतिक तथा आर्थिक इकाइयो की स्थापना की जा सके। अतः समुचित राजनीतिक चेतना तथा व्यवहार के ज्ञान से विहीन इन असभ्य जातियों ने सामन्तवादी व्यवस्था को प्रचलित किया। इस प्रथा के अन्तर्गत राजा को सम्पूर्ण भूमि का मालिक माना जाता था। वह अपने सामन्तों (nobles) को भूमि के खण्ड इस शर्त पर वितरित करता था कि वे आवश्यकता पड़ने पर राजा को सैनिक सहायता प्रदान करेंगे। वे सामन्त भी अपने अधीन उप-सामन्तों (sub-vassals) को वैसी ही शर्तों पर भूमि वितरित करते थे। इस क्रम के निम्नतर चरण पर खेत जोतने वाले किसान होते थे। छोटे-छोटे भूमि-खण्डों के स्वामी अन्य जातियों तथा पड़ोसियों के द्वारा आक्रमण किये जाने की स्थिति में अपने सामन्तों से संरक्षण प्राप्त करने के इच्छुक रहते थे।

इस प्रकार इस समूची व्यवस्था के अन्तर्गत तीन बातें सत्ता के अभिकरणों के रूप में मानी जाती थीं—सेना, भू-राजस्व तथा कानून। सामन्तशाही के पदसोपान में निम्नतर स्तर के भूमिपति अपने से उच्चतर स्तर के स्वामी को उससे भूमि प्राप्त करने के बदले में सैनिक सहायता देने हेतु सेना की व्यवस्था करते थे, तथा सैनिक सहायता हेतु व्यय भी देते थे। भू-राजस्व भूमि वितरण की शर्तों के आधार पर निर्धारित किया जाता था। कानून का आधार भी भूमि वितरण की प्रथा थी। राजा का कानून उसके सामन्तों पर, सामन्तों का कानून अपने से नीचे के उप-सामन्तों पर····आदि इसी क्रम में लागू होता था। यह कानून संविदागत होता था, अर्थात् भूमि प्रदान करते समय जो शर्तें की जाती थीं, उन्हीं को कानून का स्रोत माना जाता था। विवादों के उत्पन्न होने पर भूमिपति अपने किरायेदारों के ऊपर न्याय प्रदान करने का कार्य भी करते थे। इस प्रकार निम्नतम स्तर के भूमि के किरायेदारों पर उच्चतम स्तर के मालिकों का स्वामित्व नहीं होता था। राजा का अधिकार अपने से नीचे के किरायेदार सामन्तों तक ही सीमित था (Man's man was not the lord's man)। अतः इस व्यवस्था के अन्तर्गत आधुनिक सम्प्रभु राज्यों की भाँति राज्य तथा व्यक्ति के मध्य सम्बन्धों की धारणा का अभाव था। ऐसी व्यवस्था के अन्तर्गत एक सुसम्बद्ध राजनीतिक संगठन का पूर्णतया अभाव था। मालिक तथा किरायेदारों के मध्य सम्बन्ध भी स्थायी प्रकृति के नहीं होते थे। कभी-कभी विवाह, उत्तराधिकार, विजय आदि के फलस्वरूप भूमि का पुनर्वितरण भी कर दिया जाता था।

ऐसी व्यवस्था में सार्वजनिक सम्बन्धों के नियमन हेतु समरूप कानून का सर्वथा अभाव था। सार्वजनिक सम्बन्ध व्यक्तिगत सम्बन्धों पर आधारित थे और राजनीतिक अधिकार भूमि सम्बन्धी अधिकारों पर। यह एक ऐसी व्यवस्था थी जिसके अन्तर्गत सार्वजनिक अधिकारों तथा दायित्वों को भूमि की शर्तों के साथ आबद्ध कर दिया गया था और सैनिक, वित्तीय तथा न्यायिक शासन-व्यवस्था, व्यक्तिगत सम्पत्ति के नियमों का अंग बन चुकी थी। सार्वजनिक कानून, न्याय, सुरक्षा, व्यवस्था आदि की कोई धारणा, इस व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं थी। ऐसा कहा जाता है कि यह सामन्तशाही व्यवस्था साम्राज्यवादी राज्य तथा पितृसत्तात्मक समाज के मध्य एक ऐसे समझौते की-सी व्यवस्था थी। ऐसी व्यवस्था में राष्ट्रीय राज्य तथा राजनीतिक एकता के निर्माण की धारणा समाप्त हो गयी। यही कारण है कि मध्य युग में

स्वतन्त्र राष्ट्रीय राज्यों के निर्माण की बात प्राय: लुप्त ही रही।

सामन्तशाही व्यवस्था के अन्तर्गत कानून तथा न्याय का आधार भूमि-व्यवस्था होने के कारण भूमि के स्वामित्व का स्वरूप पट्टेदारी प्रथा की भाँति का था। सार्वजनिक न्यायालयों की कोई व्यवस्था न थी। सामन्त स्वयं न्यायाधीश थे। सामन्तों तथा उनके किरायेदार भूमिपतियों की परिषदें न्यायालयों के रूप में बैठकर किरायेदारों के विवादों को तय करती थीं। सामन्तों या राजा पर कोई अभियोग नहीं चलाये जा सकते थे। न्याय का आधार परम्पराएँ तथा भूमि-वितरण की शर्तें थीं। प्रत्येक सामन्ती न्यायालय अन्तिम न्यायालय माना जाता था। राज्य को न्याय का सर्वोच्च न्यायालय नहीं माना जाता था।

प्रशासनिक व्यवस्था तथा प्रशासनिक कानून का आधार भी भूमि-व्यवस्था थी। सामन्त अपने किरायेदारों के नेता थे। किरायेदारों से जो सैनिक सहायता उन्हें प्राप्त होती थी उसके बदले वे अपने किरायेदारों की रक्षा करते थे। राज्य की सम्प्रभु सत्ता जैसी कोई धारणा नहीं थी। प्रशासनिक व्यवस्था विकेन्द्रीकृत थी। ऐसी स्थिति में राजनीतिक प्रगति असम्भव थी। कानून का स्वरूप परम्परागत था। राजा ही कानून था। अत: कानून, प्रभुसत्ता तथा न्याय की आधुनिक धारणाओं का सर्वथा अभाव था। सामन्ती सरदार अपने मालिक के प्रति पूर्ण निष्ठा रखते थे। युद्ध में उसका साथ देते थे और उसकी सहायता में अपना पूरा जीवन अर्पित कर देते थे। सामन्तवाद की आधारभूत धारणा संविदा थी जिसका स्वरूप पारस्परिक सेवा था। मालिक अपने किरायेदारों को न्याय प्रदान करते थे, किरायेदार मालिक की सेवा करते थे। यह संविदा का मूल सिद्धान्त था। संविदा भंग करने पर आज्ञाकारिता तथा संरक्षण की भावना समाप्त हो जाती थी। ऐसी व्यवस्था के अन्तर्गत राजनीतिक चिन्तन के विकास की कोई गुंजाइश नहीं रही।

सातवाँ अध्याय

मध्य-युगीन राजनीतिक विचार (क्रमशः)

धर्मसत्ता तथा राजसत्ता के बीच संघर्ष की पृष्ठभूमि

ईसाई विचारकों की राजनीतिक अवधारणाओं को राजनीतिक चिन्तन में महत्त्वपूर्ण स्थान उस समय तक प्राप्त नहीं हुआ जब तक कि ईसाई धर्म को ईसा की चौथी शताब्दी में रोमन साम्राज्य द्वारा राजकीय मान्यता प्राप्त नहीं हो गई। इस समय तक ईसाई चिन्तन का स्वरूप भी एक सीमा तक निश्चित हो चुका था। गत् तीन शताब्दियों में उसने एक ऐसे संगठन को विकसित किया था जिसका तत्कालीन सरकारी तन्त्र के साथ संघर्ष को बहुत समय तक टाला नहीं जा सकता था। फलतः सम्राटों की शक्ति के क्षीण होने के साथ यह संघर्ष खुलकर सामने आया। उत्तर मध्य युग में रोमन साम्राज्य को अनेक बार बर्बर जातियों के आक्रमणों का सामना करना पड़ा जिसके कारण वहाँ अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गयी। इस वातावरण का चर्च अधिकारियों ने भरपूर लाभ उठाया। अब वे पारलौकिक मामलों में ही नहीं अपितु इहलौकिक विषयों में हस्तक्षेप करते थे। वस्तुतः यह युग चर्च की शक्तियों में उत्तरोत्तर वृद्धि तथा साम्राज्य की शक्ति के क्रमिक ह्रास का युग था।

11वीं और 13वीं शताब्दियों के बीच पश्चिमी यूरोप के सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए थे। परिवर्तनों ने राजनीतिक एवं दार्शनिक चिन्तन को एक बड़ी सीमा तक प्रभावित किया था। मनुष्य अपनी पुरानी जीवन-पद्धति का अपने अनुभव के नये तथ्यों के साथ ताल-मेल बैठाने का प्रयास कर रहे थे और चूँकि ये परिवर्तन अनेक प्रकार के थे, इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि इन परिवर्तनों से अनुप्राणित दर्शन में भी विभिन्नता पायी जाती। फलतः मध्य-युग के दर्शन का संक्षेप में वर्णन कोई आसान काम नहीं है। समय की दृष्टि से भी मध्य-युग सात शताब्दियों तक फैला हुआ है। अतः स्पष्ट है कि एक अध्याय की परिधि में इस काल की केवल मुख्य प्रवृत्तियों की ही विवेचना सम्भव है।

रोमन साम्राज्य के पराभव से लेकर 11वीं शताब्दी तक यूरोपियन चिन्तन एक प्रकार से अवरुद्ध रहा। सामान्यतः इस काल में बौद्धिक जीवन पुनरावृत्तियों की प्रक्रिया के इर्द-गिर्द घूमता रहा। इस युग में जो पुस्तकें लिखी गयीं वे उन पुस्तकों की नकल मात्र थीं जो रोमन प्रभाव के उदय के युग में लिखी गयी थीं। इस युग में प्रचलित रूढ़ियों और संस्थाओं में समाज के सम्बन्ध में ट्यूटोनिक अवधारणाएँ अन्तर्निहित थीं; परन्तु उन्हें शब्दों में अभी तक व्यक्त नहीं किया गया था। बालकों की ही भाँति इस काल के नवोदित राष्ट्र अपनी बौधिक बारह खड़ी को अपने भूतपूर्व स्वामियों से सीख रहे थे। फलस्वरूप 11वीं शताब्दी तक किसी

भी प्रकार के स्वतन्त्र चिन्तन का विकास नहीं हुआ। परन्तु इसके बाद रचनात्मक और यदाकदा स्वतन्त्र चिन्तन का श्री गणेश हुआ। इस स्थिति को जन्म देने में अनेक कारण सहायक हुए।

11वीं शताब्दी तक आते-आते यूरोप पर बर्बर जातियों के आक्रमण बन्द हो चुके थे। फलस्वरूप अब लोग अपने घरों में स्थायी रूप से निवास कर सकते थे। ऐसी स्थिति में यदि चिन्तनशील लोगों का ध्यान प्रशासन और चर्च के संगठन को सुदृढ़ बनाने की ओर गया तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं थी। इसी काल में इटली और फ्रांस में कानून के सम्बन्ध में नयी अवधारणाएँ विकसित हुईं और उनको प्रसारित करने के लिए नये शिक्षा संस्थानों का भी उदय हुआ। इन्हीं संस्थानों में राजनीतिज्ञों और चर्च अधिकारियों का प्रशिक्षण हुआ। राजनीतिज्ञों और पुरोहितों ने प्रशासनिक समस्याओं को अपने-अपने दृष्टिकोण से देखा। फलतः 11वीं शताब्दी के बाद दर्शन दो मुख्य धाराओं के विभक्त हो गया। एक धारा चर्च के समर्थकों की थी और दूरी साम्राज्य के समर्थकों की। दोनों धाराओं के समर्थक प्रशासन को सुदृढ़ बनाना चाहते थे, परन्तु उन्हें अनुप्राणित करने वाली प्रेरक शक्तियाँ अलग-अलग थीं।

यदि चर्च और साम्राज्य मध्य-युग में केन्द्रीकरण के प्रयासों के प्रतीक थे तो सामन्तवाद उन शक्तियों की अभिव्यक्ति था जो मध्य-युगीन समाज और प्रशासन को विघटित कर रहा था। सभी जगह सामन्तों में छोटे पैमाने पर सम्प्रभु की भाँति आचरण करने की प्रवृत्ति पायी जाती थी। सामन्ती प्रथा ने यथार्थ में मध्य-युगीन समस्याओं के और भी अधिक जटिल बनाने में योगदान दिया था।

राजसत्ता तथा धर्मसत्ता के मध्य संघर्ष का आरम्भ—रोमन साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने पर राज्य की प्रभुत्व शक्ति प्रायः समाप्त हो चुकी थी। सामन्तशाही के कारण जो व्यवस्था समाज में फैल गयी थी, उसके प्रभाव से चर्च-संगठन भी बचा नहीं रहा। सामान्यतया राजा तथा बैरन भू-सम्पत्ति चर्च अधिकारियों तथा अन्य प्रभावशाली व्यक्तियों को किराये पर देते थे। अतः बिशपों, ऐबटों तथा अन्य चर्च अधिकारियों के पास पर्याप्त सम्पत्ति इकट्ठी हो गयी थी सामन्तशाही के अन्तर्गत चर्च के इन अधिकारियों का लौकिक शासकों की आधीनता में रहना स्वाभाविक था। सम्पत्ति के लोभ ने आध्यात्मिक बातों से सम्बद्ध चर्च-अधिकारियों को भी भ्रष्ट करना प्रारम्भ कर दिया। चूँकि चर्च-अधिकारी शादी नहीं कर सकते थे, अतः मृत्यु के पश्चात् उनकी सम्पत्ति के उत्तराधिकार का निर्णय भी करना पड़ता था। इस विषय पर भी चर्च तथा राजसत्ता दोनों के मध्य अधिकार-क्षेत्र के सम्बन्ध में विवाद स्वाभाविक हो गया था। इसी के साथ-साथ विवाद का कारण सम्पत्ति पर करारोपण के अधिकार-क्षेत्र के सम्बन्ध में भी था। चर्च संगठन ने यह दृष्टिकोण अपनाया कि लौकिक शासकों को चर्च सम्पत्ति पर कर लगाने का अधिकार नहीं होना चाहिए। इसके विपरीत लौकिक शासक चर्च सम्पत्ति की रक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर मानते थे, अतः वे चर्च की सम्पत्ति पर कर लगाना अपना दायित्व तथा अधिकार समझते थे।

सामन्तशाही के युग में चर्च अधिकारी विशाल भौतिक सम्पत्ति के ही स्वामी तो बन चुके थे, साथ ही वे समाज के अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक शिक्षित भी थे। परिणामस्वरूप, राजा इन्हीं लोगों को राज्य के उच्च पदों पर नियुक्त करते

लगे। इसका फल यह हुआ कि चर्च से सम्बन्धित अधिकारियों की दिलचस्पी लौकिक शासन के विविध क्षेत्रों में बढ़ने लगी। राजा लोग भी उनके प्रभावों की उपेक्षा करने में समर्थ नहीं रह सके। इस प्रकार जैसा सैबाइन ने कहा है 'चर्च के उच्चतर स्तर के व्यक्तियों में चर्च तथा राज्य-संगठन दोनों का समागम हो गया था।'[1] 11वीं शताब्दी तक यह स्थिति इस भाँति विकसित हो चुकी थी कि चर्च के पदाधिकारी राज्य के विविध पदों तथा कार्य-कलापों से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध हो चुके थे। चूँकि राज्य के लौकिक कृत्यों में चर्च के अनेक हित थे, अतः राजसत्ता तथा धर्मसत्ता की अधिकार सीमा के सम्बन्ध में चर्च तथा राज्य के मध्य संघर्ष अवश्यम्भावी हो गया था। 11वीं शताब्दी में यह संघर्ष स्पष्टतया प्रकाश में आया, जबकि पोप ग्रीगरी सप्तम तथा सम्राट हेनरी चतुर्थ के मध्य अधिकार सीमा का विवाद खुले रूप में छिड़ गया। ग्रीगरी सप्तम ने यह आदेश दिया कि कोई भी चर्च का बिशप चर्च से बाहर के लौकिक राजा के द्वारा दिया गया बिशप पद धारण नहीं कर सकता। इसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हेनरी ने ग्रीगरी को पोप के पद से पदच्युत कर दिया। प्रत्युत्तर में ग्रीगरी ने हेनरी को धर्म बहिष्कृत कर दिया। अतः संघर्ष खुले रूप में प्रारम्भ हो गया।

संघर्ष का राजनीतिक चिन्तन पर प्रभाव

राजनीतिक चिन्तन धार्मिक अन्ध-विश्वासिता का दास होने लगा—रोमन साम्राज्य के पतन तथा ईसाई धर्म-प्रचार आन्दोलन का पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन पर यह प्रभाव पड़ा कि उसके अन्तर्गत न तो ग्रीक स्वतन्त्र दार्शनिक चिन्तन की परम्परा रही और न रोमनकालीन व्यावहारिक राजनीति एवं संस्थाओं के कार्यान्वयन की छाप रही। दूसरी ओर ईसाई धर्म-प्रचार का प्रभाव यह हुआ कि राजनीतिक चिन्तन मुख्य रूप से धार्मिक अन्ध-विश्वासिता से प्रभावित हो गया। ज्ञान का आधार धार्मिक विश्वास रह गया। अतः राजनीतिक चिन्तन, जैसा गैटल ने लिखा है : 'अनैतिहासिक, अवैज्ञानिक तथा अनालोचनात्मक स्वरूप का रहा। उसमें पर्यवेक्षण, अन्वेषण एवं अनुभव का पूर्णतया अभाव बना रहा।'[2] धार्मिक कट्टरपन ने चिन्तन को पूर्णतया दास बना दिया था। ईसाई धर्म-शिक्षा के विरुद्ध कोई भी विचार प्रकट करना नास्तिकता मानी जाने लगी और उसका कठोरता से दमन किया जाने लगा। संक्षेप में, 5वीं सदी से लेकर 13वीं सदी तक राजनीतिक चिन्तन में पूर्णतया इसी विचारधारा का प्रभाव रहा कि राजसत्ता (secular authority) धर्मसत्ता (spiritual authority) के अधीन है।

विश्व-बन्धुत्व की धारणा का विकास—ऐसी स्थिति में राजनीतिक दर्शन पूर्णतया अराजनीतिक स्वरूप का बना रहा। परन्तु ईसाई धर्म-शिक्षा ने रोमनों के सार्वभौमिकतावाद के आदर्श को बनाये रखने में मदद की। चर्च संस्थापकों ने ईसाई धर्म-प्रचार हेतु रोमनों के विश्व-बन्धुत्व के सिद्धान्त को अपनाकर सम्पूर्ण ईसाई समाज में एकता तथा भ्रातृत्व की भावना को विकसित करने का प्रयास किया। उनकी शिक्षा यह थी कि सत्ता का एकमात्र स्रोत ईश्वर है। अतः जब एकमात्र सत्ता

[1] 'In the person of higher clergy the organization of the Church and the State met and overlapped.' —Sabine, *op. cit.*, 204.

[2] Gettell, *op. cit.*, 102.

ईश्वर की है, तो ईश्वर की सृष्टि में केवल एक राज्य हो सकता है। उसका रूप इस संसार में चर्च संगठन के अन्तर्गत पाया जा सकता है। अतः सांसारिक सत्ता का स्रोत भी चर्च संगठन है। पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना की घटना के द्वारा इस धारणा की पुष्टि की गयी। परन्तु ईसाई धर्म संस्थापकों ने एक ही सार्वभौम समाज के अन्दर दो सत्ताओं के अस्तित्व को भी स्वीकार किया। यह थीं लौकिक तथा आध्यात्मिक सत्ताएँ। इनमें से आध्यात्मिक सत्ता को लौकिक सत्ता से उच्चतर बनाते हुए उनकी उपमा आत्मा तथा शरीर या सूर्य तथा चाँद से की जाने लगी। यह दो तलवारों का सिद्धान्त कई सदियों तक राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में प्रभावी रहा। परिणामस्वरूप अन्त में इसने पोप तथा सम्राट के समर्थकों के मध्य अधिकार-क्षेत्र के सम्बन्ध में संघर्ष उत्पन्न कराने में सहायता प्रदान की। सी० डी० बर्न्स के अनुसार, 'सम्राट के समर्थकों ने चर्च को राज्य की आधीनता में रखने के प्रयास द्वारा राज्य को ही चर्च बना दिया, इसके विपरीत पोप की सत्ता के समर्थकों ने राज्य को चर्च की आधीनता में रखने का प्रयास करते हुए चर्च को ही राज्य बना दिया।'[1] संघर्ष की ऐसी स्थिति में स्वतन्त्र तथा निरपेक्ष राजनीतिक चिन्तन का प्रायः अभाव रहा। अतएव यह अवधि राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में अन्धकार के युग (dark age) की मानी जाती है। सत्ता-संघर्ष के सम्बन्ध में दोनों पक्षों के तर्क निम्नांकित थे—

पोप समर्थकों के तर्क—पोप पद के विकास, पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना, चर्च की भौतिक सम्पत्ति के विचार, चर्च की बढ़ती हुई शक्ति एवं उससे सम्बद्ध व्यक्तियों में उच्चतर योग्यता होने के कारण और विशेष रूप से 11वीं सदी में पोप ग्रीगरी सप्तम के महान् व्यक्तित्व तथा उसके द्वारा चर्च संगठन में सुधार के कार्यक्रमों ने पोप एवं धर्मसत्ता के श्रेष्ठतर एवं उच्चतर होने के दावे की धारणा को बल दिया। धर्म सत्ता एवं पोप की उच्चतर स्थिति के समर्थकों ने यह तर्क देने प्रारम्भ किये कि चर्च की स्थापना स्वयं ईश्वर ने की है, अतः चर्च ही सच्चा राज्य है। उसका प्रमुख अधिकारी पोप ईश्वर का प्रतिनिधि है। अतः उसकी सत्ता लौकिक शासकों की अपेक्षा हर क्षेत्र में उच्चतर है। दो तलवारों के सिद्धान्त का निर्वचन अपने समर्थन में करते हुए पोप समर्थकों ने यह तर्क दिया कि ईश्वर ने दोनों तलवारें (धर्मसत्ता तथा राजसत्ता) सन्त पीटर को दी थीं। उससे वह पोप को प्राप्त हुईं। पोप ने लौकिक सत्ता रूपी तलवार राजा को प्रदान की है और आध्यात्मिक सत्ता की तलवार को अपने पास रखा है। अतः सम्राट को सत्ता ईश्वर से पोप के माध्यम से प्राप्त हुई है, न कि सीधे। पवित्र रोमन सम्राट का राज्याभिषेक पोप के द्वारा कराया जाना इस तथ्य का द्योतक है। अतः पोप को यह अधिकार है कि वह राज-सत्ता का स्थानान्तरण एक व्यक्ति से दूसरे में कर सकता है। चर्च की उत्पत्ति दैवी तथा राज्य की सांसारिक है। अतः चर्च आत्मा के रूप में तथा राज्य शरीर के रूप में है। आध्यात्मिक शक्ति शारीरिक शक्ति से श्रेष्ठतर होती है। अतएव चर्च सत्ता राजसत्ता से उच्चतर है। इसलिए चर्च को लौकिक शासकों के ऊपर हर प्रकार से नियन्त्रण रखने का अधिकार है।

लौकिक सत्ता के समर्थकों के तर्क—पोप समर्थकों ने चर्च की सत्ता की

[1] 'The imperialists, by subordinating the Church, made the State a Church; the papaliats, by subordinating the state, made the Church a State.'

श्रेष्ठता का दावा लौकिक तथा आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में किया था। परन्तु लौकिक सत्ता की उच्चता के समर्थकों का दृष्टिकोण राजसत्ता को केवल लौकिक क्षेत्र में ही श्रेष्ठतर बताने तक सीमित रहा। उन्होंने यह चेष्टा नहीं की कि चर्च को राज्य की आधीनता में रखने के तर्कों को व्यक्त किया जाय। उनका उद्देश्य यह था कि चर्च राज्य के लौकिक कार्यकलापों में हस्तक्षेप न करें। साथ ही लौकिक सत्ता भी चर्च के विशुद्धतया धार्मिक कार्यकलापों में हस्तक्षेप करने से अपने को पृथक् रखे। उनका तर्क यह था कि लौकिक सत्ता की उत्पत्ति दैवी है न कि चर्च द्वारा प्रत्यायोजित। अतः सम्राट अपने कार्यों के लिए प्रत्यक्षतः ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है और किसी भी रूप में चर्च की प्रभुसत्ता के अधीन नहीं है। राज्य नैतिक संस्था है, उसका उद्देश्य न्याय है। अतः चर्च राज्य के ऊपर नहीं है। राजसत्ता के समर्थकों ने चर्च तथा राज्य दोनों को अपने-अपने क्षेत्रों में समान स्थिति रखने की धारणा व्यक्त की। साथ ही यह भी तर्क दिया कि दोनों एक-दूसरे के लिए आवश्यक हैं, और एक-दूसरे की कमियों पर वे पारस्परिक नियन्त्रण लगाने का कार्य करते हैं।

सत्ता-संघर्ष के युग के राजनीतिक विचारक

धर्मसत्ता तथा राजसत्ता के मध्य अपनी-अपनी श्रेष्ठता का दावा करने की प्रवृत्ति सम्पूर्ण मध्य युग के राजनीतिक विचारकों में बनी रही। इस सत्ता संघर्ष के युग में धर्मसत्ता की श्रेष्ठता के समर्थकों में पोप ग्रीगरी सप्तम्, सन्त बर्नार्ड, सन्त टॉमस ऐक्विना, सैलिसबरी का जॉन आदि प्रमुख हैं। दूसरी ओर राजसत्ता के समर्थकों में पैरिस का जॉन, मारसीलियो ऑफ पैडुवा, विलियम ऑफ ओखम, दान्ते आदि उल्लेखनीय हैं। पोप ग्रीगरी सप्तम् का प्रतिद्वन्द्वी सम्राट हेनरी चतुर्थ भी इस श्रेणी में आता है।

पोप ग्रीगरी सप्तम्

चर्च संगठन में सुधार—पोप ग्रीगरी सप्तम् (Hildebrand) को इस सत्ता-संघर्ष के युग का सबसे पहला पोप-समर्थक कहा जा सकता है। वह एक व्यावहारिक सुधारवादी पोप था। उसके युग में बिशप पद की प्राप्ति हेतु लोग भ्रष्ट आचरणों द्वारा राजसत्ता को प्रभावित करते तथा उसके प्रभाव में आते जा रहे थे। चर्च अधिकारियों में विवाह-प्रथा भी भ्रष्टाचार को बढ़ावा दे रही थी। अतः ग्रीगरी ने सर्वप्रथम चर्च के अन्दर पदों को खरीदने तथा विवाह-प्रथा में सुधार का कार्य प्रारम्भ किया। इसका उद्देश्य राजसत्ता के समक्ष चर्च की प्रतिष्ठा को बढ़ाना था।

पोप हर क्षेत्र में सम्राट से उच्च है—ग्रीगरी के समय में राजसत्ता तथा धर्मसत्ता के मध्य विवाद का मुख्य विषय चर्च अधिकारियों की नियुक्ति के सम्बन्ध में था। उसकी दृष्टि से 'पोप समूचे चर्च संगठन का प्रभुत्व सम्पन्न प्रधान है।' अतः चर्च से सम्बन्धित किसी भी विषय में, चाहे वह अधिकारियों की नियुक्ति के बारे में हो, चाहे चर्च परिषद् के बारे में हो, अथवा धार्मिक नैतिकता या धर्म सम्बन्धी मामलों में न्यायिक निर्णय लेने के बारे में हो, पोप की सत्ता सर्वोच्च है और उसके ऊपर कोई अन्य सत्ता नहीं हो सकती। अतः जैसा सैबाइन ने कहा है, 'चर्च के सम्बन्ध में ग्रीगरी का शासन-सिद्धान्त राजतन्त्रात्मक था, यह सामन्तशाही राजतन्त्र के रूप का नहीं, अपितु रोमन सम्राटशाही परम्परा के रूप का था; ईश्वर एवं

दैवी कानून के अन्तर्गत पोप की सत्ता निरंकुश थी।'[1] परन्तु ग्रीगरी पोप की ऐसी निरंकुश सत्ता का समर्थन केवल चर्च के सम्बन्ध में ही नही करता था। वह पोप को विभिन्न दृष्टियों से लौकिक शासकों (सम्राट) से भी उच्च मानता था। उसका यह दावा था कि चूँकि ईसाई समाज के अन्दर शासक भी ईसाई हैं, अत: नैतिक तथा आध्यात्मिक मामलों में साधारणतम चर्च अधिकारियों का उत्तरदायित्व महानतम लौकिक शासकों की अपेक्षा उच्चतर है। इसलिए वे शासकों की अपेक्षा उच्चतर स्थिति रखते हैं। पोप चर्च का प्रधान है। अत: ग्रीगरी की दृष्टि में 'वही ऐसा अधिकारी है जो युद्ध तथा शान्ति के मामलों में सर्वोच्च मध्यस्थता कर सकता है। वह अत्याचारी शासकों को पदच्युत कर सकता है, राजाओं के उत्तराधिकार सम्बन्धी विवादों में निर्णय लेने का एकमात्र अधिकार उसी को प्राप्त है।'

राज्य मानव के पापों की उपज है—राज्य के सम्बन्ध में ग्रीगरी की धारणा थी कि राज्य की उत्पत्ति का कारण मानव के पाप हैं। अत: राज्य का आधार शक्ति है। राज्य का औचित्य इसी अर्थ में है कि न्याय की रक्षा के लिए आवश्यक शक्ति का प्रयोग करे। अत: पाप का परिणाम होते हुए भी राज्य स्वयं पापमय नहीं है। परन्तु जहाँ तक नैतिकता तथा आध्यात्मिकता का सम्बन्ध है, चर्च की सत्ता से श्रेष्ठतर है। चर्च के ऊपर राज्य का कोई अधिकार नहीं है। चर्च-संगठन के मामलों में चर्च राज्य से पूर्णतया स्वतन्त्र है। चर्च की पूर्ण स्वतन्त्रता का समर्थन करने तथा नैतिकता, आध्यात्मिकता एवं अनुशासन सम्बन्धी मामलों में चर्च की उच्चता को दर्शाने का ग्रीगरी का उद्देश्य यह नहीं था कि कानूनी दृष्टि से चर्च राज्य से उच्चता है अथवा सभी लौकिक मामलों में वह राज्य के कार्यकलापों में हस्तक्षेप कर सकता है। परन्तु जैसा सैबाइन ने कहा है, 'ग्रीगरी का तर्क स्पष्टतया लौकिक सत्ता से आध्यात्मिक सत्ता को उच्च मानना है।' वह राजनीतिक सत्ता को 'एक उच्च प्रकृति की डकैती' के तुल्य कहता है। उसके मत से राजाओं तथा शासकों ने अपने आपको अपने समानों (अर्थात् मानवों) का स्वामी बनाने में हिंसा, दमन, अविश्वास आदि पापमय साधनों का प्रयोग किया है।

ग्रीगरी की महानता का इस आधार पर स्पष्ट होती है कि उसने साहसपूर्ण ढंग से चर्च में अनेक सुधार किये और साथ ही अपने दृष्टिकोण को पुष्ट करने में सम्राट हेनरी चतुर्थ से लोहा लिया। उसने हेनरी को धर्म-बहिष्कृत करने के आदेश देकर खुले रूप में यह प्रचार किया कि एक धर्म-बहिष्कृत लौकिक शासक के किसी भी आदेश को मानना ईसाई नागरिकों के लिए वांछनीय नहीं है। इस प्रकार धर्मसत्ता तथा राजसत्ता के मध्य संघर्ष का आरम्भ ग्रीगरी के विचारों से हुआ।

सैलिसबरी का जॉन (1120–1180)

मध्य-युगीन सत्ता-संघर्ष के युग से पूर्व की अनेक शताब्दियों तक राजनीतिक चिन्तन में न तो दार्शनिकता थी और न विवेक या तर्क। सन्त अगस्टाइन के पश्चात् लगभग 700 वर्ष तक राजनीतिक दर्शन अन्धकारमय रहा। इस अवधि में राजनीतिक चिन्तन करने वाला कोई विद्वान् उत्पन्न नहीं हुआ। राजसत्ता तथा धर्म-

[1] 'Gregory's theory of government in the Church was monarchical, not in the sense of a feudal monarchy but more nearly in the sense of the Roman tradition; under God and divine law the pope was absolute.' —*Ibid.*, 205.

सत्ता की प्रधानता के समर्थक एक ही प्रकार के तर्कों को अपने-अपने पक्ष में दुहराते रहे। यथार्थ राजनीतिक के क्षेत्र में चर्च तथा राज्य एवं पोप तथा राजा के मध्य सम्बन्धों के निर्धारण हेतु नई परिस्थितियाँ नये दृष्टिकोण की माँग कर रही थीं। ऐसे युग में इंग्लैण्ड के विचारक सैलिसबरी के जॉन (John of Salisbury) द्वारा 1159 में लिखित पॉलिक्रैटिकस (Policraticus) में मध्य-युगीन राजनीतिक विचारधाराओं का एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ।

सैलिसबरी का जॉन इंग्लैण्ड के कैंटरबरी के आर्कबिशप का सचिव रह चुका था। उसे सार्वजनिक समस्याओं का पर्याप्त व्यावहारिक ज्ञान था। उसका सम्पर्क शासन एवं राजनीति और चर्च की व्यवस्था के साथ बने रहने और उसके रोम के पोप के पास कई बार जाते रहने से उसे तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का व्यापक अनुभव हो चुका था। उसका अध्ययन भी व्यापक था। उसने तर्कशास्त्र (dialectic), शास्त्रीय साहित्य एवं काव्य का अध्ययन उच्चकोटि के विद्वानों के साथ रहकर किया था। उसके बारे में कहा गया है कि वह अपने युग का सर्वोत्तम अध्ययनशील व्यक्ति (the best read man of his time) था। जब इंग्लैण्ड में भी सत्ता-संघर्ष प्रारम्भ हुआ तो चर्च का समर्थन करने के फलस्वरूप जॉन को 1164 में इंग्लैण्ड छोड़ना पड़ा। 6 वर्ष तक फ्रांस में रहने के बाद वह इंग्लैण्ड लौटा। पुनः 1176 में उसे फ्रांस के शासक लुई सप्तम् ने आमन्त्रित किया और उसे चार्टर का बिशप नियुक्त किया। वहाँ वह मृत्यु-पर्यन्त रहा।

राजसत्ता तथा धर्मसत्ता—जॉन के विचारों में अगस्टाइन के विचारों का व्यापक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। परन्तु लगभग 750 वर्ष बाद की परिस्थितियों के अन्तर्गत अपने विचारों को व्यक्त करने में जॉन तथा अगस्टाइन में अन्तर होना भी स्वाभाविक है। दोनों ने राजसत्ता को चर्च के अधीन रहने के विचार व्यक्त किये हैं। अगस्टाइन ने अपने दो राज्यों के सिद्धान्त के अन्तर्गत दैवी राज्य का एक प्रमुख तत्त्व 'शान्ति' को माना है। इससे उसका अभिप्राय यह था कि न्याय की उपलब्धि के लिए शान्ति आवश्यक है, अन्यथा लौकिक राज्य न्याय की उपलब्धि नहीं करा सकते। जॉन की दृष्टि में राज्य का उद्देश्य 'जीवन की सुरक्षा' है, जिसका आशय है सत्य का ज्ञान तथा सद्गुण का आचरण करना। न्याय तथा शान्ति की उपलब्धि हेतु धर्मसत्ता तथा राजसत्ता के मध्य समन्वय बना रहना आवश्यक है। गिलेसियस ने दो तलवारों के सिद्धान्त द्वारा दोनों सत्ताओं का पृथक्करण किया था। परन्तु जॉन दोनों के मध्य सहयोग बनाये रखने की ओर प्रवृत्त है। उसकी दृष्टि में आध्यात्मिक सत्ता राज्य की आत्मा तथा लौकिक सत्ता उसका मस्तिष्क है। धर्म-सत्ता की उच्चता के अन्य समर्थकों की भाँति जॉन की प्रवृत्ति भी स्पष्टतया चर्च की सत्ता को राजा की सत्ता से उच्च मानने की थी। उसके विचार से दोनों तलवारें चर्च के हाथ में हैं और लौकिक सत्ता रूपी तलवार को वह शासक को प्रदान करती है। शासक चर्च के एक मन्त्री की भाँति है। अतएव चर्च संगठन को ऐसे शासकों को पदच्युत करने का अधिकार है जो दैवी नियमों का उल्लंघन करते हैं और चर्च के उपदेशों की अवहेलना करते हैं। उसके विचार से 'जो किसी को कोई वस्तु प्रदान करता है, उसे उस वस्तु को छीन लेने का भी अधिकार है। यह एक वैध नियम है।' परन्तु जॉन यह स्वीकार नहीं करता कि चर्च स्वयं लौकिक मामलों का प्रशासन करे अथवा शासकों का प्रत्येक आदेश पहले चर्च के द्वारा स्वीकृत हो जाये।

वह केवल यही दर्शाता है कि वह शासकों के वह कानून जो चर्च की शिक्षा के विरुद्ध हों, अवैध होंगे।

राज्य का सावयव रूप—जॉन का आदर्श राज्य अगस्टाइन के स्वर्गीय राज्य की भाँति ईसाई भिक्षुकों का समुदाय नहीं है। उसके विचार से 'राज्य ऐसा निकाय है जो दैवी देन के लाभों से जीवित, उच्चतम न्याय के आदेशों से संचालित एवं विवेक के शासन द्वारा नियन्त्रित है।'[1] संविधानों का वर्गीकरण करने या राज्य विषयक धारणाओं को शास्त्रीय ढंग से समझाने में जॉन को कोई रुचि नहीं थी। वह शासनों के परम्परागत रूपों राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र, जनतन्त्र आदि में से किसी को उत्तम या निकृष्ट बताने की चिन्ता नहीं करता। राज्य के स्वरूप के सम्बन्ध में वह यह दर्शाता है कि उसके विभिन्न अंगों के मध्य आंगिक एकता बनी रहनी चाहिए। वह राज्य सावयव को प्लेटो या अरस्तू की भाँति नहीं समझाता। वह केवल राज्य की शरीर के साथ तुलना करता है। चर्च राज्य की आत्मा तथा शासक उसका मस्तिष्क है। राज्य का हृदय सीनेट है। राज्य की वित्तीय व्यवस्था से सम्बद्ध अधिकारी उसके पेट की भाँति हैं। राज्य के विभिन्न प्रान्तों के प्रशासक (governor) उसके कान, आँखें तथा जिह्वा हैं। सैनिक तथा सहायक प्रशासक राज्य के हाथ हैं। कृषक, शिल्पी तथा अन्य उत्पादक वर्ग राज्य के पैर हैं। राज्य के कार्य-कलापों, न्याय, लोक-कल्याण आदि उद्देश्यों की तुलना वह मधुमक्खी के छत्तों से करता है। राज्य के ऐसे सावयव रूप का चित्रण करने का उद्देश्य समूचे समाज की सावयविक एकता दर्शाना था। 'जिस प्रकार मधुमक्खी के छत्ते में समस्त मधुमक्खियाँ अपने कार्य में व्यस्त रहते हुए समूचे छत्ते को मधुमय बनाती हैं उसी प्रकार समस्त नागरिक अपने-अपने कार्य में व्यस्त रहकर समूचे समाज की समस्त प्रादेशिक भूमि को मधुमय (सुखी) बना सकते हैं।

जॉन एक राजा तथा एक अत्याचारी शासक के मध्य भेद करता है। उसके विचार से राजा वह है जो नियमानुसार तथा धर्म के नियमों का पालन करते हुए शासन करता है। इसके विपरीत अत्याचारी शासक (tyrant) केवल बल प्रयोग द्वारा शासन करता है। अतः अत्याचारी शासक का वध करना अनुचित नहीं है। जॉन का कथन है कि 'तलवार धारण करने वाला (बल प्रयोग करने वाला) तलवार से ही (बल-प्रयोग से ही) नष्ट होगा।'[2] अत्याचारी शासक कानून का परित्याग करके न्याय का दमन करता है और स्वेच्छाचारी बनता है। वह स्वयं कानून का निःशस्त्रीकरण कर देता है, अतः न्याय स्वयं उसके विरुद्ध शस्त्र धारण करके उसे नष्ट करता है। इस कार्य को कानून का उल्लंघन नहीं कहा जा सकता। ईवनस्टीन ने कहा है कि 'जॉन इस सिद्धान्त का सबसे पहला प्रतिपादक था कि सत्ता की आज्ञा को मानना निरपेक्ष नहीं है, बल्कि सशर्त है : राजनीतिक सत्ता का आधार न्याय है और यदि अत्याचारी शासन का शान्तिपूर्ण ढंग से दमन असम्भव हो तो उसका प्रतिरोध करना न केवल नागरिकों का अधिकार ही है अपितु कर्त्तव्य भी है।'

प्रभाव—प्रो० हार्नशॉ ने लिखा है कि 'जॉन के पॉलिक्रैटिक्स के तीन मुख्य

[1] 'The state or commonwealth is a body animated by the benefit of the divine gift, conducted at the bidding of the highest equity and controlled by the rule of reason.'—Quoted in Hearnshaw, *The Social and Political Ideas of Some Great Mediaeval Thinkers*, 64.

[2] 'He who takes the sword shall perish by the sword.'

योगदान मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन को हैं—(1) यह सिद्धान्त कि शासक धर्मोपदेशकों का सेवक है, (2) एक वैध शासक तथा एक अत्याचारी शासक के मध्य भेद करना, और (3) एक संगठित राजनीतिक समाज के प्रत्येक सदस्य को अपना निर्दिष्ट कार्य करने की योजना दर्शाना।'[1] अपने विचारों को व्यक्त करने में जॉन निर्भीक था। जहाँ उसने लौकिक शासकों को निर्भीकता के साथ चर्च की सत्ता के अधीन मानने की धारणा व्यक्त की है, वहाँ पर चर्च संगठन के दोषों को भी निर्भीकता से व्यक्त करता है। उसने चर्च के पदाधिकारियों के भ्रष्ट आचरणों यथा, धन-संग्रह तथा सुखभोग में लीन रहने की प्रवृत्ति की घोर निन्दा की थी। उसने इंग्लैण्ड के पोप ऐड्रियन चतुर्थ से यह बातें स्पष्ट शब्दों में कही थीं। यद्यपि पोप जॉन की इस धारणा पर विश्वास न करते हुए केवल हँस दिया, तथापि उसने जॉन को उसकी स्पष्टवादिता के लिए बधाई भी दी। जॉन में यह क्षमता थी कि वह चर्च की बुराइयों को स्पष्टतया व्यक्त कर सका था। यही कारण है कि उसकी यह धारणा भी प्रभावकारी सिद्ध हुई कि धर्मसत्ता राजसत्ता से उच्च है।

सन्त टॉमस एक्विना (1227–74)

सन्त टॉमस ऐक्विना (St. Thomas Aquinas) मध्य युग का सबसे महान् राजनीतिक चिन्तक था। उससे पूर्व विभिन्न दृष्टिकोणों को रखने वाले विद्वान् हुए हैं और प्रत्येक ने अपने विचारों को अपने-अपने दृष्टिकोणों तक ही सीमित रखा है। परन्तु टॉमस ने अपने पूर्वानुवर्ती विद्वानों की विचारधाराओं को भली-भाँति हृदयंगम करके तथा उनको अपने विचारों में समाविष्ट करके उन्हें एक क्रमबद्ध दर्शन का रूप प्रदान किया। फॉस्टर के शब्दों में, 'वह समूचे मध्ययुगीन चिन्तन का प्रतिनिधित्व करता है जैसा कि अन्य कोई अकेले नहीं कर सका।'[2]

जीवन परिचय—सन्त टॉमस ऐक्विना का जन्म इटली के एक कुलीन परिवार में हुआ था। यह परिवार राजघरानों से सम्बन्धित एवं हर दृष्टि से सम्पन्न था। अतः टॉमस का बचपन का जीवन पर्याप्त सुख एवं ऐश्वर्य से पूर्ण था। 5 वर्ष की आयु में उसे मोंट कैसिनो के स्कूल में अध्ययन हेतु भेजा गया जहाँ वह 12 वर्ष की उम्र तक रहा। इसी अल्पायु में उसने अपनी प्रतिभा का परिचय देना प्रारम्भ कर दिया। इसके पश्चात् उसने नेपल्स में शिक्षा प्राप्त की। उसके माता-पिता उसे उच्चकोटि की शिक्षा देकर राजकीय क्षेत्र में लाना चाहते थे, परन्तु उसने उनकी इन समस्त आकांक्षाओं के विरुद्ध धार्मिक जीवन के अध्ययन एवं व्यवहार का मार्ग अपनाया। बाद में उसे उच्च शिक्षा प्राप्त हेतु एलबर्ट महान् के पास कोलोन भेजा गया और उसके बाद पेरिस में शिक्षा प्राप्त की और कालान्तर में वह एक शिक्षक बन गया। उसने दर्शनशास्त्र एवं धर्मशास्त्र पर गहन अध्ययन किया था। उसके जीवन काल में सम्राट तथा पोप के मध्य का संघर्ष बहुत बढ़ने लग गया था। उसे इस संघर्ष की घटनाओं का प्रत्यक्ष अनुभव करने का अवसर मिला था। धर्म संस्थाओं से उनका घनिष्ट सम्पर्क हो चुका था। राजाओं तथा सम्राटों का वह सम्बन्धी था। साथ ही उसकी यात्राओं के अनुभव तथा राजनीतिक घटनाक्रमों के पर्यवेक्षण भी उसके ज्ञान की अभिवृद्धि में सहायक सिद्ध हुए। यद्यपि टॉमस की

[1] Hearnshaw, *op. cit.*, 78.

[2] 'He represents, as none of them singly does, the totality of mediaeval thought.'—Foster, *op. cit.*, Vol. I, 238.

मृत्यु केवल 48 वर्ष की उम्र में हो गयी थी तथापि इस अल्पायु में ही उसने बीसियों ग्रन्थों की रचना की। उसके राजनीतिक विचार उसकी रचनाओं 'The Government of Princes' तथा 'The Sun of Theory' (*De Regimina Principum and Summa Theologica*) में पाये जाते हैं।

ज्ञान का विकास—तेरहवीं शताब्दी यूरोप में ज्ञान के पुनर्जागरण का युग मानी जाती है। इस काल में यूरोपीय देशों के अनेक विश्वविद्यालय शिक्षा के महत्त्वपूर्ण केन्द्र बनते जा रहे थे। ये शिक्षा केन्द्र श्रेणियों तथा निगमों की प्रकृति के थे जिनमें धर्म, राजनीति, चिकित्सा, कानून, दर्शन आदि विविध विषयों की शिक्षा दी जाती थी। ये केवल व्यावसायिक शिक्षा नहीं देते थे अपितु विविध प्रकार के सार्वभौम मानवीय हितों की भी शिक्षा देते थे। इनके साथ-साथ चर्च भी धार्मिक शिक्षालयों का कार्य कर रहे थे। यद्यपि इनका मुख्य उद्देश्य चर्च-संगठन के सम्बद्ध व्यक्तियों (clerics) को ईसाई धर्म की सत्यता का ज्ञान कराना था, तथापि जैसा फॉस्टर का मत है, 'चर्च की शिक्षा-प्रणाली चर्च के लोगों को व्यावसायिक शिक्षा के वेश में प्लेटो के संरक्षक वर्ग की भाँति सामान्य शिक्षा प्रदान करती थी।'[1] अतएव मध्ययुगीन विचारधाराओं को समझने के लिए तेरहवीं शताब्दी का विद्वतावाद (scholasticism) प्रमुख कुंजी सिद्ध होता है। इसकी प्रमुख विशेषता ज्ञान में पूर्ण एकता का समावेश करना था। ऐसे युग में टॉमस सदृश ज्ञान-पिपासु की लेखनी में निवर्तमान ज्ञान को क्रमबद्ध रूप प्रदान करने एवं उस पर पुन: चिन्तन करके उसे सुव्यवस्थित करने की अद्‌भुत प्रतिभा के दर्शन होते हैं। इस युग के विश्वविद्यालयों में सुप्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक प्लेटो तथा अरस्तू के दर्शन का पुनर्जागरण हो रहा था। स्वयं टॉमस का गुरू ऐलबर्ट महान् उसमें पर्याप्त रुचि ले रहा था। टॉमस के विचारों में अरस्तू के दर्शन का व्यापक प्रभाव पड़ा।

टॉमस का दर्शन—ईसाई धर्म-प्रचार की आरम्भिक सदियों में ईसाई शिक्षा पर प्लेटो की छाप दिखाई देती है। इस बात को स्वयं अगस्टाइन ने स्वीकार किया है।[2] परन्तु 13वीं शताब्दी में ईसाइयत के अन्दर अरस्तूवाद की प्रवृत्ति बढ़ने लग गयी थी। ईबनस्टीन के मत से 'अगस्टाइनवाद प्लेटो तथा ईसाइयत का सम्मिश्रण है तो टॉमसवाद अरस्तू तथा ईसाइयत का सश्लेषण है।'[3] टॉमस-ऐक्विना ने अगस्टाइन की विचारधाराओं को संस्थागत, तर्क-सम्मत तथा वैधानिक सभी दृष्टियों से अधिक स्पष्ट तथा विवेकपूर्ण बनाया ताकि बदलती परिस्थितियों के अनुसार ईसाइयत के सिद्धान्त अधिक मानवीय बन सकें। 'यदि चर्च को उत्पत्ति-स्रोत के रूप में प्लेटो की चाह थी तो उसे अपने को जीवित रखने के लिए अरस्तू की आवश्यकता थी।'[4] जिस प्रकार ग्रीक दर्शन के अन्तर्गत प्लेटो ने अरस्तू को प्रभावित किया और अरस्तू प्लेटो के दर्शन से कभी पृथक् नहीं हुआ उसी प्रकार मध्य युग में ऐक्विना ने अगस्टाइन की कभी उपेक्षा नहीं की। उसने अरस्तू के दर्शन का ईसाई धर्म के साथ समन्वय करने का सफल प्रयास किया है। उसकी दृष्टि में 'ईश्वर पर

[1] *Ibid*, 239–40.

[2] 'Plato came near to Christian knowledge and revelation.'
—St. Augustine.

[3] 'Augustinianism is the fusion of Plato and Christianity. Thomism is the synthesis of Aristotle and Christianity.' —Ebenstein, *op. cit*, 213.

[4] 'To be born, the Church needed Plato, to last, it needed Aristotle.' —*Ibid.*, 214.

विश्वास (revelation) यद्यपि विवेक से उच्चतर है तथापि ऐसा विश्वास विवेक का विरोधी नहीं है, विज्ञान तथा दर्शन जिस पद्धति को प्रारम्भ करते है, उसे धर्म-शास्त्र पूर्णता प्रदान करता है, वह उसकी निरन्तरता का अन्त नहीं करता। विश्वास विवेक को पूर्ण करने का साधन है।'[1] वे दोनों मिलकर ज्ञान रूपी मन्दिर का निर्माण करते हैं। ऐक्विना का ज्ञान रूपी मन्दिर एक तिमंजली इमारत की तरह है जिसकी आधारभूत मंजिल विवेक या विज्ञान है, मध्य मंजिल दर्शन है जो विज्ञान द्वारा अर्जित उपलब्धियों का सामान्यीकरण करता है, और शीर्ष पर धर्मशास्त्र रूपी मंजिल है जो उस मन्दिर को पूर्णता प्रदान करती है। इस प्रकार टॉमस के विचार से धर्मशास्त्र विवेक तथा दर्शन की विरोधी नहीं है, अपितु उन्हें पूर्णता प्रदान करती है। अतएव ज्ञान एक पूर्ण एकता है जो विवेक, दर्शन एवं धार्मिक विश्वास का सम्मिश्रण है।

सार्वभौम विश्व समाज की धारणा—अरस्तू की भाँति टॉमस भी प्रकृति के दर्शन को मानता है, परन्तु वह यह नहीं मानता कि प्रकृति-संसार सम्पूर्ण विश्व है। वह इसके ऊपर दैवी संसार (realm of grace) के अस्तित्व को भी मानता है। उसको सम्मिलित करके ही समस्त विश्व बनता है। अत: विश्व की निम्नतम प्राणी से लेकर ईश्वर तक एक श्रेणीबद्ध शृंखला है, जिसमें प्रत्येक अपने-अपने क्षेत्र में कार्य करता हुआ अपनी प्रकृति के अनुकूल कार्य करता रहता है और पूर्णता को प्राप्त होता है। इस दृष्टि से मानव का लक्ष्य स्वभावत: इसी संसार में उत्तम तथा सुखी जीवन प्राप्त करना नहीं है। अपितु इससे भी उच्च लक्ष्य (मोक्ष) को प्राप्त करना है। इस जीवन में सुख प्राप्त करना मानव जीवन का निम्नतर लक्ष्य है। मोक्ष प्राप्ति उच्चतम लक्ष्य है। अरस्तू मनुष्य को स्वभावत: एक 'राजनीतिक प्राणी' मानता है, परन्तु टॉमस उसे आवश्यक रूप से एक 'सामाजिक प्राणी' कहता है। उसके मत से समाज के बिना मानव जीवन सम्भव नहीं है। समाज उत्तम जीवन के लिए सदस्यों के मध्य पारस्परिक सेवाओं का विनिमय है, जिसमें विभिन्न व्यवसाय करने वालों का योगदान रहता है। कृषक तथा शिल्पी भौतिक वस्तुओं की, चर्च के पुजारी धार्मिक आराधना की, तथा अन्य व्यक्ति अपने-अपने निर्दिष्ट क्षेत्र में विविध कार्यों को करते हुए विविध वस्तुओं की पूर्ति करते हैं।

धर्मसत्ता लौकिक सत्ता से श्रेष्ठतर है—टॉमस ऐक्विना के मत से सामाजिक जीवन की सम्पूर्ण व्यवस्था के नियमन के लिए शासकों की आवश्यकता होती है। चूँकि समाज के प्रत्येक सदस्य का लक्ष्य केवल ऐहिक जीवन की उत्तमता प्राप्त करना नहीं है, अपितु उससे उच्चतर लक्ष्य निरन्तर सुख (मोक्ष) की प्राप्ति है, अत: इस महानतम उद्देश्य की पूर्ति के लिए उच्चतर शासन सत्ता की आवश्यकता है। समाज विविध उद्देश्यों की व्यवस्था है जिसमें निम्नतर उद्देश्यों का मार्ग-दर्शन तथा निदेशन उच्चतर उद्देश्य करते हैं। इसी प्रकार उच्चसत्ता निम्नतर सत्ता का संचालन करती है। जिस प्रकार ईश्वर समस्त विश्व पर शासन करता है और आत्मा शरीर पर शासन करती है, उसी प्रकार मानव जीवन के उच्चतर उद्देश्य का नियमन उच्चतर संस्था द्वारा होता है। चूँकि चर्च या धर्मसत्ता मनुष्य के उच्चतम उद्देश्य अर्थात् आध्यात्मिक सुख को सम्पन्न करती है, अत: वह लौकिक सत्ता से, जो कि भौतिक एवं लौकिक सुख को प्राप्त करने का उद्देश्य रखती है, उच्चतर है। इसलिए

[1] Sabine, *op. cit.*, 218.

लौकिक सत्ता को आध्यात्मिक सत्ता के अधीन रहना चाहिए।

राज्य तथा शासन—टॉमस ऐक्विना अपने को न तो एक दार्शनिक मानता है न राजनीतिक चिन्तक। वह मूल रूप में एक धर्मशास्त्री था। अतएव यद्यपि वह राज्य सम्बन्धी धारणा को ग्रीक तथा रोमन चिन्तकों की भाँति विशुद्धतया दर्शन एवं विधि के आधार पर नहीं, बल्कि धार्मिक विश्वासिता की पृष्ठभूमि में व्यक्त करता है, तथापि जैसा गेटल ने कहा है, 'उसकी रचनाओं में राजनीति पुनः एक विज्ञान में परिणत हुई, यद्यपि उसका स्वरूप पूर्णतया मध्ययुगीन था। यह अगस्टाइन तथा बाइबिल द्वारा परिमार्जित अरस्तू और सिसरो की राजनीति थी।'[1] अगस्टाइन के अनुसार ईश्वर ने मानव को अन्य विवेकहीन प्राणियों का स्वामी बनाया है, न कि अपने साथी मानवों का जोकि सब समान हैं। एक मानव द्वारा दूसरे मानव पर शासन मनुष्य के पापों का परिणाम है। अरस्तू के अनुसार यह एक प्राकृतिक नियम है कि कुछ लोग शासन करें और कुछ शासित रहें। परन्तु ऐक्विना मध्ययुगीन परम्परा को अपनाकर सार्वभौम विश्व मानव समाज के सन्दर्भ में राज्य की धारणा को व्यक्त करता है। वह राज्य की उत्पत्ति को मानव के पापों का परिणाम नहीं मानता जैसा कि आरम्भिक मध्य युग के ईसाई धर्मोपदेशक मानते आये थे। प्रत्युत् व ग्रीकों की भाँति राज्य को मानव की सामाजिकता की प्रवृत्ति का फल एवं मानव के इहलौकिक तथा पारलौकिक उद्देश्यों की पूर्ति के निमित्त नैसर्गिक समुदाय के रूप में मानता है। अरस्तू राज्य को व्यक्ति से पूर्व एवं अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हुए व्यक्ति को एक उत्तम नागरिक बनने के लिए पूर्णतया राज्य के अधीन रहने की धारणा व्यक्त करता है। इसके विपरीत ऐक्विना की धारणा यह है कि उत्तम व्यक्ति बनना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है और इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु राज्य एक उपकरण के रूप में है।[2] टॉमस मानव को एक सामाजिक प्राणी मानता है, अतः उसकी दृष्टि में राज्य की उत्पत्ति का आधार जैसा अरस्तू का मत था, मानव की सामाजिकता की प्रवृत्ति है। अरस्तू की भाँति टॉमस भी इस बात को एक प्राकृतिक नियम मानता है कि योग्यतम व्यक्ति हीनतरों के सामान्य हित में उनके ऊपर शासन करें। राज्य का उद्देश्य मानव को उत्तम जीवन की प्राप्ति कराना है, उत्तम जीवन की प्राप्ति केवल राज्य के लिए नहीं, अपितु प्रत्येक सदस्य के लिए है। अतः राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के लिए न कि व्यक्ति का राज्य के लिए। इस दृष्टि से अरस्तू की अपेक्षा टॉमस ऐक्विना की राज्य विषयक धारणा अधिक व्यापक एवं स्पष्ट है। उसका राज्य साध्य नहीं, अपितु साधन है।

राज्य एक सामाजिक संगठन है, और सामाजिक संगठन के संचालन एवं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सरकार का संगठन आवश्यक है, शासन संगठन का

[1] 'In his work politics again became a science, although, with true mediaeval method, it was the politics of Aristotle and Cicero as modified by St. Augustine and the Bible.' —Gettell, *op. cit*., 113.

[2] 'By Aristotle the state was regarded as prior to and more important than the individual, whose duty was to become a good citizen and thus further the end of the state to which he was subordinated. For St. Thomas, on the contrary, the position is reversed. It is the duty of the individual citizen to become a good man; and the state is regarded as an instrument to be employed to this end.' —Hearnshaw, *op. cit*., 97.

आधार शासक का श्रेष्ठ विवेक तथा नैतिकता है जिसका लाभ समस्त शासितों को प्राप्त होता है। अतः शासक का पद एक प्रकार का न्यास (trust) है, जिसका उद्देश्य समूचे जनसमुदाय का हित है। यह एक दैवी तथा प्राकृतिक नियम है कि श्रेष्ठ व्यक्ति निकृष्टों के ऊपर शासन करते हैं। उत्तम शासन का गुण एकता है। अतः जितनी ही अधिक एकता शासन संगठन में होगी, वह उतना ही उत्तम सिद्ध होगा। इस दृष्टिकोण को लेकर टॉमस राजतन्त्र का समर्थन करता है। यद्यपि वह अरस्तू के छः पक्षी शासनों के वर्गीकरण को स्वीकार करता है, तथापि वह अरस्तू की भाँति राजतन्त्र को सर्वोत्तम शासन-प्रणाली मानता है। इसके समर्थन में वह धर्मशास्त्रीय तर्क देता है। उसका मत है कि 'सम्पूर्ण विश्व का सृष्टा तथा नियन्ता एक ईश्वर है', अतः प्रत्येक नैसर्गिक शासन भी एक ही व्यक्ति का शासन होना चाहिए। शान्ति तथा एकता एक ही चीज है। एक व्यक्ति इन दोनों की स्थापना साथ-साथ कर सकता है। यदि शासन-सत्ता बहुत से व्यक्तियों के हाथ में रहती है, तो उनके मध्य मतभेदों के कारण शान्ति तथा एकता की स्थापना के मार्ग में बाधा उत्पन्न होती है। टॉमस के विचार से शासन-सत्ता का स्वरूप दैवी है। इस धारणा के सम्बन्ध में वह सन्त पाल का अनुसरण करता है कि 'ईश्वर ही सत्ता का एकमात्र स्रोत है' (There is no power but of God)। परन्तु सन्त टॉमस निरंकुश राजतन्त्रों की बुराइयों से भी पूर्णतया आशंकित था कि वह अत्याचारीतन्त्र में परिणत हो जाते हैं। अतः वह निर्वाचित राजतन्त्र का समर्थन करता है, न कि वंशानुगत का क्योंकि वंशानुगत राजतन्त्र के अत्याचारीतन्त्र में परिणत होने की सम्भावना अधिक रहती है।

शासकों पर मर्यादा—टॉमस शासकों की सत्ता को मर्यादित करने का सुझाव देता है ताकि वे अत्याचारी न बन सकें, परन्तु उसने यह नहीं बताया है कि सत्ता किस प्रकार मर्यादित की जानी चाहिए। वह अत्याचारी शासक का प्रतिरोध करना न्यायोचित मानता है, यद्यपि उसके मत से अत्याचारी शासक के विरुद्ध विद्रोह करना अथवा अत्याचारी शासकों का वध करना अनुचित है। सैबाइन के मत से 'टॉमस इस विषय पर स्पष्ट है कि अत्याचारीतन्त्र के विपरीत सच्चा शासन ही विधिगत शासन है। परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि इस सम्बन्ध में विधिगत शासन क्या है उसकी स्पष्ट परिभाषा करने की आवश्यकता के बारे में वह अनभिज्ञ रहा है।'[1] कार्लाइल के मत से 'कानून द्वारा मर्यादित राजतन्त्र विधिगत शासन हो सकता है।' मैकइलवेन का मत है कि 'ऐक्विना की दृष्टि में ईश्वर के प्रति उत्तरदायी राजा निरंकुश है, परन्तु ऐसा निरंकुशतावाद ही वैधानिक राजतन्त्र है।' ऐक्विना के विचार से शासक का सर्वोत्तम कर्त्तव्य यह है कि वह जनकल्याण का ध्यान रखे। ऐसा करने में वह सर्वोत्तम सुख का अनुभव करेगा और जनता उससे प्रेम करेगी तथा उसे शासक बनाए रखने की ओर प्रवृत्त रहेगी। टॉमस के विचार से अत्याचारी शासक के साधारण अत्याचारों के विरुद्ध क्रान्तिकारी प्रतिरोध की सफलता का परिणाम यह होगा कि क्रान्ति के परिणामस्वरूप विजयी नेता प्रतिक्रान्ति उत्पन्न हो जाने के भय से और अधिक अत्याचारपूर्ण ढंग से जनता को दबायेगा। अतएव

[1] 'Thomas was explicit on the point that true government as distinguished from tyranny is lawful, but he is curiously unconscious of the need to define what lawful authority means in this connection.'—Sabine *op. cit.*, 220.

ऐसी क्रान्ति उचित नहीं है। साथ ही क्रूर अत्याचारी शासकों के वध की जॉन आव सैलिसबरी की धारणा को भी टॉमस स्वीकार नहीं करता। उसका तर्क यह है कि जनसाधारण को यह निर्णय लेना कि अमुक राजा अत्याचारी है, अतः उसका वध कर देना चाहिए, शासकों तथा जनता दोनों के हक में खतरनाक है। एक निर्वाचित राजतन्त्र में राजा के अत्याचारी बनने की स्थिति में जनता उसे वैध ढंग से पदच्युत करके दूसरे राजा का निर्वाचन कर सकती है। यदि शासक के ऊपर कोई अन्य सर्वोच्च अधिकारी हो तो उसके समक्ष शासक के विरुद्ध प्रत्यावेदन किया जा सकता है। ऐक्विना की दृष्टि में चर्च संगठन ही ऐसी सर्वोच्च सत्ता है जिसके समक्ष शासक के अत्याचारपूर्ण व्यवहार के विरुद्ध प्रत्यावेदन किया जा सकता है।

राज्य तथा चर्च—अपने युग के राजसत्ता तथा चर्चसत्ता के मध्य संघर्ष के बारे में भी सन्त टॉमस अनभिज्ञ नहीं था। इस सम्बन्ध में वह एक सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाता है। यद्यपि वह लौकिक सत्ता से आध्यात्मिक सत्ता को श्रेष्ठतर मानता है और कुछ परिस्थितियों में चर्च की शासकों को पदच्युत करने की शक्ति का भी समर्थन करता है, तथापि इस सत्ता-संघर्ष के सम्बन्ध में वह गिलेसियस के दो तलवारों के सिद्धान्त का अनुगमन करता है। अपने धार्मिक विचारों के आधार पर वह मानव प्रकृति का दार्शनिक विवेचन करते हुए यह दर्शाता है कि समस्त विश्व परस्पर सम्बन्धित व्यक्तियों का शृंखलाबद्ध संगठन है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सर्वसत्तावान् परमात्मा की ओर प्रवृत्त रहता है। मानव प्रकृति भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों रूपों की होती है। भौतिक प्रकृति की उपलब्धि मानव को लौकिक समाज की सत्ता के अन्तर्गत होती है। परन्तु उसकी आध्यात्मिक प्रकृति की तुष्टि उसे ईश्वर-प्राप्ति की दिशा में प्रवृत्त करती है जिसके लिए उसे सद्गुणी तथा पुण्यमय जीवन व्यतीत करना पड़ता है। इसकी उपलब्धि उसे चर्च संगठन की सदस्यता तथा द्वारा उसके शासक पोप की आधीनता में रहकर हो सकती है जो स्वयं पृथ्वी पर ईसा का प्रतिनिधि है। अतः लौकिक सत्ता मानव के प्राकृतिक उद्देश्यों (natural ends) के लिए तथा धर्मसत्ता उसके मानवोत्तर उद्देश्यों (supernatural ends) के लिए आवश्यक है। शासन का उद्देश्य मानव को श्रेष्ठतम पुण्य का जीवन प्रदान करना है। इसके लिए मानव का विवेक तथा सद्गुण पर्याप्त नहीं है। अतएव राजसत्ता के ऊपर धर्मसत्ता का होना आवश्यक है, जोकि मानव जीवन के मानवोत्तर उद्देश्य की प्राप्ति का साधन है।

धर्मसत्ता, राजसत्ता की पूरक है—सन्त टॉमस ने मध्ययुगीन सत्ता संघर्ष की धारणाओं के मध्य समाधान का मार्ग प्रशस्त किया है। उसने ईसाई समाज की एकता के लिए 'सार्वभौम एकता' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके यह दर्शाने का प्रयास किया कि चर्च मानव-जाति की एकता का पूर्ण रूप है जो मानव के अन्तिम तथा सर्वोत्तम उद्देश्य की पूर्ति में सहायक होता है। राजसत्ता मानव को सांसारिक जीवन की उत्तमता प्रदान कराने के साथ-साथ अन्तिम उद्देश्य की प्राप्ति हेतु सद्गुण-युक्त जीवन प्रदान करने की दिशा में भी प्रवृत्त रहती है। अतः दोनों सत्ताओं के मध्य विरोध नहीं है। इस सम्बन्ध में ऐक्विना गिलेसियस की परम्परा का अनुगमन करता है। टॉमस का उद्देश्य लौकिक सत्ता की सीमा को कम करना नहीं था। उसके विचार से सांसारिक जीवन के मामलों में लौकिक सत्ता के आदेशों का पालन करना आवश्यक है। परन्तु पारलौकिक (supernatural) उद्देश्य की प्राप्ति हेतु चर्च

की सत्ता लौकिक सत्ता से ऊपर है। इन दो सत्ताओं के मध्य अन्तर्विरोध या वर्जनशीलता नहीं है। पारलौकिक उद्देश्य मानव समाज के संगठन में चर्च एवं राज्य दो व्यवस्थाओं तक लौकिक एवं पारलौकिक दो उद्देश्यों के मध्य एकता स्थापित करता है। अतः धर्मसत्ता की श्रेष्ठता राजसत्ता को नष्ट नहीं करती, अपितु उसे पूर्णता प्रदान करती है। इस प्रकार टॉमस का दर्शन ईश्वर, प्रकृति तथा मानव के निमित्त एक विवेकपूर्ण योजना के निर्माण के कारणों की खोज करता है जिसके अन्तर्गत धर्मसत्ता तथा राजसत्ता दोनों अपना-अपना निर्धारित स्थान प्राप्त कर सकें।

ऐक्विना के मत से धर्म तथा राजसत्ता का एक दूसरे से स्वतन्त्र अस्तित्व तथा संचालन गैर-ईसाई समाजों में भले ही सम्भव हो, परन्तु ईसाई समाज में यह सम्भव नहीं है, क्योंकि ईसाइयत के अन्तर्गत नैतिक सद्‌गुणों की प्राप्ति अभिन्न रूप से चिरन्तन मोक्ष-प्राप्ति के साथ जुटी हुई है। मनुष्य को एक सुन्दर नागरिक ही नहीं बनना है अपितु एक उत्तम ईसाई बनना भी उसके जीवन का उद्देश्य है। टॉमस राज्य तथा चर्च की उपमा एक जहाज के यन्त्रों के बढ़इयों तथा चालक से करता है। जहाज के संचालन में लक्ष्य-प्राप्ति तक बढ़ई बराबर यन्त्रों को ठीक करते रहते हैं, परन्तु वे चालक (pilot) के अधीन कार्य करते हैं जो जहाज को गन्तव्य स्थान पर ले जाता है। इसी प्रकार लौकिक सत्ता जहाज के बढ़इयों की भाँति है और चर्च चालक की भाँति।[1]

सत्ता का औचित्य—अरस्तू की भाँति ऐक्विना भी इस सिद्धान्त को मानता है कि जो व्यक्ति अन्यों की अपेक्षा उच्चतर गुणों से युक्त हैं उनका अपने से निम्नतरों पर सत्ता को प्रयोग करना औचित्यपूर्ण है। स्टॉइक तथा आरम्भिक चर्च संस्थापकों की दृष्टि से मनुष्य का मनुष्य के ऊपर आधिपत्य अनुचित है। वे मानवीय समानता की धारणा को मानते हैं। उनकी दृष्टि में प्राकृतिक स्थिति (state of innocence) में विवेकशील मानव केवल अविवेकशील जीवों पर प्रभुत्व रखता था न कि मानवों पर जो स्वयं विवेकशील हैं। दास के ऊपर मालिक का प्रभुत्व पाप के दण्ड के रूप में औचित्य रखता है। इन तर्कों का उत्तर देते हुए ऐक्विना का मत है कि मानव का मानव के ऊपर प्रभुत्व दो प्रकार का होता है। प्रथम, दास के ऊपर मालिक का, जिसका आधार यह है कि दास अपने मालिक के उद्देश्यों का साधन है। प्राकृतिक स्थिति में ऐसा प्रभुत्व नहीं था, अतः दास-प्रथा मानव के पापों का परिणाम है। दूसरा रूप है मानव का अन्य मानवों के ऊपर प्रभुत्व होने का। चूँकि मनुष्य स्वभावतः एक सामाजिक प्राणी है, अतःप्राकृतिक स्थिति में भी मानवों के सामूहिक हितों तथा उनके सामाजिक जीवन की विविध समस्याओं के नियमन के लिए एक केन्द्रीकृत निदेशक सत्ता आवश्यक रही होगी। बिना ऐसी सत्ता के सामाजिक जीवन का नियमन तथा संचालन सम्भव नहीं है। अतएव जो व्यक्ति ज्ञान तथा न्याय की दृष्टि से अन्यों से श्रेष्ठतर रहे होंगे उन्होंने दूसरे स्वतन्त्र मानवों के ऊपर प्रभुत्व आरोपित किया होगा। यह प्राकृतिक नियम है। परन्तु इस सम्बन्ध में उद्देश्य सामूहिक हित है न कि सत्ताधारियों का हित। इस दृष्टि से ऐक्विना राजनीतिक सत्ता के औचित्य का समर्थन करता है। उसका तर्क यह भी है कि लौकिक सत्ता के आदेशों का पालन चर्च को भी करना चाहिए, जहाँ तक कि वे केवल लौकिक मामलों से सम्बन्ध रखते हैं अर्थात् केवल बाह्य आचरण से सम्बद्ध हैं। परन्तु मानव जीवन के उच्चतर उद्देश्य, शाश्वत मोक्ष

[1] Foster, *op. cit.*, 259.

से सम्बन्ध रखने वाले मामलों में चर्च की सत्ता तथा दैवी कानून की श्रेष्ठता है।

कानून—आरम्भिक मध्य युग में रोमनकालीन विधि के वैज्ञानिक विवेचन की परम्परा लुप्त हो चुकी थी। धार्मिक विश्वासिता के सन्दर्भ में राजनीतिक विचारधाराओं के प्रतिपादक धर्म-संस्थापकों की धारणाओं में विधि का वैज्ञानिक विवेचन करने की प्रवृत्ति का प्राय: अभाव रहा है। ऐक्विना के राजनीतिक विचारों में पुन: कानून की धारणा का अभ्युदय हुआ है। मध्य युग में कानून की धारणा का सबमें महान् योगदान 'जन समुदाय की परम्पराओं पर आधारित कानून की सर्वोच्चता की धारणा है।'[1] इस धारणा का स्रोत यहूदी तथा ईसाइयों की दैवी कानून को मानवीय कानून से उच्च मानने तथा स्टॉइक और रोमन चिन्तकों की विश्व को विवेक के आधार पर व्यवस्थित करने की चेतना थी। सामन्तशाही का आधार भी परम्परागत कानून था। मध्ययुगीन विचारक सम्प्रभुता की धारणा से परिचित थे, परन्तु उनकी दृष्टि में सम्प्रभुता कानूनदाता की नहीं थी अपितु स्वयं कानून की थी।

टॉमस ऐक्विना कानून की परिभाषा करते हुए उसे 'सामूहिक हित के लिए विवेक का आदेश' कहता है 'जिसे वह व्यक्ति लागू करता है जिसके ऊपर समाज की रक्षा का भार है।'[2] उसकी दृष्टि में कानून का स्वरूप सार्वभौम, अपरिवर्तनीय तथा नैसर्गिक है। इस प्रकार ऐक्विना की विचारधारा में पुन: रोमन प्राकृतिक कानून की धारणा के दर्शन होते हैं, जिसके प्रति पूर्ण निष्ठा होनी चाहिए और जिसे राजा या पोप उपेक्षित नहीं कर सकते। मैक्सी के अनुसार, ऐक्विना की विचारधारा में कानून का स्वरूप निम्नांकित चार तर्कों से युक्त है[3] : (1) कानून आवश्यक रूप से विवेक से सम्बद्ध है, क्योंकि वह मानव के कार्यकलापों का मानदण्ड है। (2) कानून मानव के सुख हेतु अथच सम्पूर्ण मानवों के सुख हेतु मानवीय आचरण का नियम है, अत: इसका आदेश सदैव सार्वजनिक हित है। (3) चूँकि कानून का उद्देश्य सामूहिक हित है, अत: वह एक व्यक्ति विशेष का विवेक नहीं अपितु विशाल जन-समूह का अथवा जन-समूह के लिए कार्य करने वाले शासक का विवेक है। (4) कानून जिन लोगों से सम्बन्ध रखता है उसे उनके ऊपर लागू किया जाना चाहिए तथा इससे उन्हें परिचित कराया जाना चाहिए। ऐक्विना की कानून के प्रति इतनी प्रबल निष्ठा थी कि वह इसकी सत्ता को सुनिश्चित मानता था। उसके विचार से कानून की उत्पत्ति विवेक से होती है, न कि दैवी अथवा मानवीय इच्छा से।

टॉमस ऐक्विना कानून को चार श्रेणियों में विभक्त करता है—

(1) **शाश्वत कानून** (Eternal Law)—शाश्वत कानून से ऐक्विना का अभिप्राय उन शाश्वत नियमों से है जिनके अनुसार विश्व के समस्त कार्यकलापों का संचालन होता रहता है। जन्म-मरण, विविध प्रकार के प्राणियों, जड़-चेतन आदि के अस्तित्व, विनाश एवं शाश्वत जगत के नियमन का कार्य शाश्वत नियमों से संचालित होता है। यह कानून ईश्वर का विवेक है जिसके अनुसार समस्त विश्व का शासन सम्पन्न होता है। यह इस अर्थ में शाश्वत है कि ईश्वर का विवेक तथा शासन

[1] 'The great contribution of Middle ages to the store of civilization is the conception of supremacy of law based on the custom of the community.' —Ebenstein, *op. cit.*, 219.

[2] 'It is the ordinance of reason for the common good, promulgated by him who has the care of a community.'

[3] Maxey, *op. cit.*, 117.

शाश्वत है । यह मानव की समझ से परे है, परन्तु यह मानव विवेक के विरुद्ध नहीं है, क्योंकि मनुष्य ईश्वर के विवेक तथा उत्तमता का भागीदार है ।

(2) **प्राकृतिक कानून** (Natural Law)—मानव के विवेक में प्राकृतिक कानून का भी अस्तित्व है जिसकी अभिव्यक्ति मानव के शाश्वत कानून में भागीदार होने से प्रकट होती है । इसके द्वारा मानव भले तथा बुरे के मध्य भेद करता है और भलाई की प्राप्ति तथा बुराई से निवृत्ति की ओर प्रेरित होता है । यह एक प्राकृतिक कानून है कि प्रत्येक प्राणी आत्म-रक्षा एव अपनी नैसर्गिक क्षमता के अनुसार उत्तम तथा पूर्ण जीवन व्यतीत करने की ओर प्रवृत्त रहता है । प्राकृतिक कानून का अर्थ यह भी है कि मनुष्य स्वभावतः समाज में रहना चाहता है । सन्तानोत्पत्ति की कामना, बच्चों की शिक्षा-दीक्षा, तथा पालन-पोषण का कार्य, सत्य की खोज, बुद्धि का विकास आदि समस्त कार्य मनुष्य प्राकृतिक कानून के आधार पर ही करता है ।

(3) **दैवी कानून** (Divine Law)—मानव विवेक में इतनी क्षमता नहीं है कि वह सत्य तथा न्याय का समुचित ज्ञान स्वयं कर सके । उसका विवेक कभी-कभी उसे उचित तथा अनुचित का सही बोध कराने की क्षमता नहीं रखता । मानव जीवन का उद्देश्य केवल इहलौकिक सुख की प्राप्ति करना मात्र नहीं है । उसका उच्चतम उद्देश्य पारलौकिक सुख प्राप्त करना भी है जिसके द्वारा उसे शाश्वत सुख (eternal blessedness) की प्राप्ति हो सकती है । अतएव इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु दैवी कानून भी होता है । इसका ज्ञान मनुष्य को धर्म-ग्रन्थों मे वर्णित ज्ञान की शिक्षा द्वारा होता है । यह प्राकृतिक कानून के विरुद्ध नही है । इसका बोध मानव को ईश्वर के द्वारा कराया जाता है जो प्रकृति को पूर्णता प्रदान करता है । इसी के द्वारा मनुष्य सत्य तथा न्याय का ज्ञान कर सकता है । दैवी कानून के स्रोत धर्म-ग्रन्थों की शिक्षायें हैं । धर्म-ग्रन्थों के प्रणेताओं को इस कानून का ज्ञान भगवत् चिन्तन के द्वारा हुआ था । ईश्वर-प्रेम के कारण ईश्वर ने उन्हें इसका ज्ञान कराया । अतः आत्मिक उन्नति एवं पारलौकिक सुख के निमित्त धर्मशास्त्र मानवों को जिस प्रकार का जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देते हैं वह नियम दैवी कानून की अभिव्यक्ति है ।

(4) **मानवीय कानून** (Human Law)—ऐक्विना की दृष्टि में मानवीय कानून उपर्युक्त सभी कानूनों से निम्नतर प्रकृति का होता है । यह मानव विवेक की उपज है । इसका निर्माण तथा परिपालन मानवों के सामूहिक हित के लिए उस व्यक्ति के द्वारा कराया जाता है जिसके ऊपर समाज के नियमन का भार है । मानव मस्तिष्क में दैवी कानून तथा प्राकृतिक कानून का समुचित बोध करने की क्षमता नहीं होती । अतः प्राकृतिक कानून के आदेश के विवरणात्मक नियमन हेतु मानवीय कानून आवश्यक होता है । मानवीय कानून उपर्युक्त कानूनों के विरुद्ध नहीं हो सकता, अपितु उन्हीं के अधीन होता है ।

विभिन्न प्रकार के कानूनों के मध्य सम्बन्ध—टॉमस की कानून सम्बन्धी धारणा के बारे में फॉस्टर का मत है[1] कि विश्व में दो प्रकार के जीव हैं—विवेकशील तथा विवेकहीन । दोनों के लिए शाश्वत कानून विभिन्न रूपों में लागू होता है । विवेकशील प्राणियों में यह उनके विवेक के सन्मुख प्रस्तुत होता है । विवेकहीन प्राणियों में यह प्रकृति के नियमों के रूप में लागू होता है । शाश्वत तथा प्राकृतिक कानून दोनों विध्यात्मक कानून नहीं कहे जा सकते क्योंकि विध्यात्मक कानून का

[1] Foster, *op. cit.*, 254-55.

निर्माण किसी निश्चित समय पर किया जाता है। इसके विपरीत शाश्वत तथा प्राकृतिक कानून का अस्तित्व शाश्वत है। शाश्वत का कानून किसी निश्चित समय पर यहाँ तक कि स्वयं ईश्वर के द्वारा भी नहीं बनाया गया है। यह तो केवल ईश्वर का विवेक है। दैवी कानून भी दो प्रकार का होता है—प्राचीन तथा नवीन। प्राचीन दैवी कानून ईसाई धर्म की स्थापना से पूर्व का तथा नवीन ईसाई धर्म का दैवी कानून है। परन्तु इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर केवल प्रौढ़ता का है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति बचपन तथा युवावस्था में एक ही व्यक्ति होता है। अन्तर केवल परिपक्वता का है, उसी प्रकार प्राचीन तथा नवीन दैवी कानून एक ही चीज हैं, अन्तर केवल यही है कि नवीन दैवी कानून परिपक्व तथा परिमार्जित है; प्राचीन कानून में यह गुण नहीं है। प्राकृतिक कानून का स्पष्ट बोध करने की क्षमता मानव में नहीं होती है। वह इसके सम्बन्ध में केवल कुछ सामान्य मौलिक सिद्धान्तों को समझ सकता है। यह सिद्धान्त दो स्रोतों से प्राप्त होते हैं जो दैवी तथा मानवीय कानूनों के रूप में हैं। यह दोनों विध्यात्मक कानून हैं। मानवीय कानून का निर्माण किसी निश्चित समय पर होता है। उसका सृजन प्राकृतिक कानून के सिद्धान्तों के अन्तर्गत मानव के विवेक द्वारा होता है। दैवी कानून का ज्ञान भी मानव को निश्चित समय पर आध्यात्मिक सत्ता के द्वारा कराया जाता है। प्रत्येक विध्यात्मक कानून शाश्वत कानून के अधीन होता है। मानवीय कानून प्राकृतिक कानून से उत्पन्न होता है। उसका कार्य उन बातों को पूर्ण करना होता है जिनका निर्धारण प्राकृतिक कानून नहीं करता। परन्तु मानवीय कानून प्राकृतिक कानून के विरुद्ध नहीं हो सकता। चूँकि प्राकृतिक कानून का उद्देश्य उचित-अनुचित के मध्य भेद करना है, अतः मानवीय कानून को स्पष्टतया इस सिद्धान्त का अनुगमन करना चाहिए। कोई मानवीय कानून चोरी या व्यभिचार को वैध घोषित नहीं कर सकता। इसी प्रकार हत्या प्राकृतिक नियम के विरुद्ध है। यह शान्ति तथा व्यवस्था के निमित्त अनैतिक एवं अवांछनीय है। यह समाज के नियमन के सामान्य सिद्धान्तों का उल्लंघन करने वाला अपराध है। अतः यह प्राकृतिक कानून के विरुद्ध है। भले ही इस अपराध के दण्ड के सम्बन्ध में समय-समय पर अलग-अलग मानवीय कानून रहे हों तथापि सिद्धान्त एक ही है कि हत्यारा अपराधी है, उसे दण्ड मिलना चाहिए। इस प्रकार ऐक्विना की दृष्टि में मानवीय कानून प्राकृतिक कानून की आधीनता में, उससे निम्नतर श्रेणी का है। टॉमस ऐक्विना मानवीय कानून को दैवी कानून के भी अधीन मानता है, क्योंकि मानवीय कानून का उद्देश्य मनुष्य के इहलौकिक उद्देश्यों को पूर्ण करना होता है, परन्तु दैवी कानून का उद्देश्य उसे पारलौकिक सुख प्रदान करना है जो मनुष्य जीवन का उच्चतर लक्ष्य है। इस हेतु मानव को दूसरे संगठन (चर्च) तथा दूसरे कानून (दैवी कानून) की आवश्यकता पड़ती है।

राजनीतिक चिन्तन में ऐक्विना का महत्त्व—टॉमस ऐक्विना के राजनीतिक विचारों का उपर्युक्त विवेचन यह दर्शाता है कि वह मध्ययुग का सबसे महान् राजनीतिक चिन्तक था। यद्यपि उसके विचार मूलरूप से धर्मशास्त्रीय (theologian) हैं, तथापि तत्कालीन धर्मसत्ता तथा राजसत्ता के मध्य के क्षेत्र में वे एक सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाते हैं। राजनीतिक विचारधाराओं का प्रतिपादन करने में ऐक्विना का महत्त्व इसलिए भी बढ़ जाता है कि उसने अरस्तू की चिन्तन-परम्परा को पुनः जाग्रत किया और उससे पूर्व एक दीर्घकाल तक राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में

वैज्ञानिकता तथा क्रमबद्धता की जो रिक्तता आ गयी थी, उसे उसने पुनः पाट दिया। उसके धर्म सम्बन्धी विचारों ने चर्च को बहुत प्रभावित किया और चर्च तथा पोपों ने उन्हें पूर्ण मान्यता प्रदान की। पोप लुई तेरहवें ने यह घोषणा की थी कि ऐक्विना की विचारधाराएँ कैथोलिक चर्च की प्रमुख संरक्षक तथा शान (the pre-eminent guardian and glory of the Catholic Church) हैं और उन्हें समस्त शिक्षालयों के पाठ्यक्रमों में समाविष्ट किया जाना चाहिए। उसने यह भी आदेश दिया कि जो लेखक तथा धर्मशास्त्री ऐक्विना से मतभेद रखते हैं उन्हें अपने को उसके हेतु बलिदान कर देना चाहिए। टॉमस के कानून सिद्धान्त ने भविष्य के राजनीतिक चिन्तकों को बहुत प्रभावित किया। सैबाइन का कथन है कि उसके मानवीय तथा प्राकृतिक कानून के सिद्धान्तों को लॉक ने अपनाया। इन दोनों की दृष्टि में 'शासक निश्चित रूप से विवेक तथा न्याय के अधीन हैं और विध्यात्मक कानून के ऊपर उसकी सत्ता उसे प्राकृतिक कानून के अनुरूप बनाये रखने की आवश्यकता से उत्पन्न होती है।'[1]

टॉमस ने राजसत्ता के औचित्य के सम्बन्ध में यह सुमान्य सिद्धान्त घोषित किया था कि उसका औचित्य जन-कल्याण के लिए है न कि सत्ताधारियों के हित में। इसी प्रकार क्रान्ति के सम्बन्ध में उसकी धारणा को बर्क ने अपनाया। सम्पत्ति पर करारोपण के सम्बन्ध में भी ऐक्विना की धारणा चिरस्थायी सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है। सम्पत्ति के ऊपर उतना ही कर आरोपित किया जाना चाहिए जितना कि न्यायोचित है।

मध्य युग के सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन के प्रतिनिधि के रूप में ऐक्विना—टॉमस ऐक्विना के राजनीतिक चिन्तन के महत्त्व के सम्बन्ध में यह उक्ति कि 'वह सम्पूर्ण मध्य युगीन चिन्तन का प्रतिनिधित्व करता है', इन दृष्टियों से पुष्ट होती है कि सम्पूर्ण मध्य युग के राजनीतिक चिन्तन में जो प्रवृत्तियाँ बनी रहीं, और जिन विविध सिद्धान्तों का प्रतिपादन विचारक करते रहे उन सब पर टॉमस ने अपने विचार रखे है और उन्हें एक समग्र दर्शन का रूप दिया है। इसके द्वारा वह मध्य युग का महानतम चिन्तक सिद्ध हो गया। अपने राजनीतिक दर्शन के निर्माण में ऐक्विना ने जिन सिद्धान्तों तथा आदर्शों को अपनाया था, उन्हीं पर मध्य युग के राजनीतिक चिन्तक अपने विचार रखते रहे थे। अतः ऐक्विना को उस समूचे चिन्तन का प्रतिनिधि मानना उचित है। इन विचारों को निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है :

(1) **अरस्तूवाद का पुनरुद्भव** (Revived Aristotalianism)—सुप्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक अरस्तू ने राजनीतिक चिन्तन को क्रमबद्ध तथा वैज्ञानिक बनाया था, परन्तु इसके पश्चात् सदियों तक अरस्तूवाद सुप्त पड़ा रहा। रोमन साम्राज्य काल तथा ईसाई धर्म-प्रचार की आरम्भिक शताब्दियों में राजनीतिक चिन्तन के अन्तर्गत विवेकवाद, प्रकृतिवाद एवं विज्ञानवाद समाप्त सा हो गया था। 13वीं शताब्दी के पुनर्जागरण के युग में जब प्राचीन ग्रीक चिन्तन का पुनरुद्भव होने लगा तो टॉमस ने अरस्तूवाद को अपने चिन्तन का आधार बनाया। चूँकि टॉमस मूलतः एक ईसाई

[1] 'The ruler is definitely bound by reason and justice, as his subjects, and his power over positive law arises from the need of keeping it in agreement with natural law.'—Sabine,—*op. cit.*, 224.

धर्मशास्त्री था, अतः उसने अरस्तूवाद को ईसाइयत की पृष्ठभूमि में विकसित किया। उसे ईसाई अरस्तू (Christianised Aristotle) उचित ही कहा जाता है। ऐक्विना से पूर्व के ईसाई धर्मोपदेश राज्य को 'मानव के पतन' का कारण मानते रहे थे। यह धारणा राज्य के स्वरूप का समुचित चित्रण नहीं करती थी। ऐक्विना ने अरस्तू की भाँति मनुष्य को स्वभावतः एक सामाजिक प्राणी कहा और राज्य को एक नैसर्गिक संस्था स्वीकार करने के साथ-साथ राजनीतिक सत्ता के दैवी स्वरूप को भी चित्रित किया। अरस्तू की परम्परा अपनाते हुए ऐक्विना ने भी राज्य के हेतुवादी दृष्टिकोण को अपनाया और उसमें विवक के स्थान पर विश्वास को अधिक महत्त्व दिया। उसके अनुसार राज्य का उद्देश्य मानव को विवेक पर आधारित उत्तम जीवन की उपलब्धि कराने के साथ-साथ आत्मिक मोक्ष प्राप्त कराना है। इस प्रकार उसने मध्ययुगीन धर्म-प्रधान चिन्तन को अरस्तूवाद के आधार पर आगे बढ़ाया। परन्तु उसने विवेक के स्थान पर विश्वास की महत्ता को चित्रित करते हुए मध्य युग के ईसाई चिन्तकों की भाँति धर्मसत्ता को राजसत्ता से श्रेष्ठतर सिद्ध करने का प्रयास किया। इस दृष्टि से वह मध्य युग के चिन्तन का प्रतिनिधि बना रहा।

(2) **विद्वतावाद** (Scholasticism)—13वीं शताब्दी के ज्ञान के पुनर्जागरण के युग में टॉमस सदृश प्रतिभाशाली चिन्तक ने जहाँ बाइबिल को अपने विचारों का प्रमुख स्रोत बनाया, वहाँ उसने विवेकवाद पर आधारित ग्रीक दर्शन तथा रोमन कानून की धारणाओं को अपनाकर विद्वतावाद की संश्लेषणात्मक प्रवृत्ति को अपने दर्शन में समाविष्ट किया। इसका उद्देश्य ज्ञान की समस्त शाखाओं—नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति तथा विज्ञान—के मध्य संश्लेषण प्रस्तुत करना था। ऐक्विना के विचारों में विद्वतावाद की उक्त प्रवृत्ति बनी रही और उसने पोप की सर्वोच्चता का समर्थन करने में अरस्तूवाद तथा ईसाई धर्मशास्त्रों के मध्य समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया। वह युग राजनीति एवं चिन्तन के क्षेत्र में धर्मसत्ता तथा राजसत्ता के मध्य उच्चता के बारे में संघर्ष का काल था। दोनों पक्ष अपनी उच्चता का दावा तो करते थे, परन्तु उसके सम्बन्ध में उनके तर्क ज्ञान तथा विवेक पर सन्तोषजनक ढंग से व्यक्त नहीं किये गये थे। टॉमस ने विद्वतावाद के आधार पर धर्मसत्ता की श्रेष्ठता को चित्रित करने का सन्तोषजनक तर्क प्रस्तुत किया। इस दृष्टि से मध्य युग में सत्ता-संघर्ष के सम्बन्ध में जितने विचार धर्मसत्ता की श्रेष्ठता के समर्थकों द्वारा रखे जा रहे थे उनका प्रतिनिधित्व टॉमस करता है। बाद में जब पोप की सर्वोच्चता के समर्थकों का पलड़ा निर्बल पड़ने लगा तो राजसत्ता की श्रेष्ठता के समर्थक केवल प्रतिरक्षात्मक विचार ही रख पाये। वे भी धर्मसत्ता के महत्त्व को उपेक्षित नहीं कर सके। यह टॉमस के विवेकपूर्ण तर्कों तथा विद्वतावाद का ही प्रभाव माना जा सकता है।

(3) **दो तलवारों का सिद्धान्त तथा टॉमसवाद**—5वीं शताब्दी में पोप गिलेसियस प्रथम ने दो तलवारों के सिद्धान्त को जिस रूप में प्रस्तुत किया था, उसके अन्तर्गत धर्मसत्ता तथा राजसत्ता दोनों की स्थिति को अपने-अपने क्षेत्रों में श्रेष्ठ मानने की धारणा विद्यमान थी। परन्तु कालान्तर में दोनों पक्षों ने इस सिद्धान्त का निर्वाचन अपने-अपने पक्षों को सुदृढ़ करने के उद्देश्य से किया। ऐक्विना भी इसमें अपवाद नहीं था। वह चर्च तथा पोप की सर्वोच्चता का समर्थक था। इसके समर्थन में उसने विवेकपूर्ण तर्क दिये। मानव जीवन के उद्देश्यों के साथ राज्य तथा समाज

के उद्देश्यों को अरस्तूवाद पर व्यक्त करते हुए आत्मिक मोक्ष प्राप्ति को सर्वोच्च उद्देश्य घोषित करके धर्मसत्ता की श्रेष्ठता को उसने तर्कपूर्ण ढंग से व्यक्त किया।

(4) **राजतन्त्रवाद**—सम्पूर्ण मध्य युग के राजनीतिक चिन्तन में शासन के रूपों के अन्तर्गत राजतन्त्र को शासन का प्रमुख रूप माना जाता रहा था। टॉमस ऐक्विना भी राजनीतिक सत्ता के सम्बन्ध में राजतन्त्रवादी था। राजतन्त्र के समर्थन में उसके तर्क यह थे कि एक व्यक्ति का शासन उस युग की अराजकता की दिशा में उन्मुख परिस्थितियों के अन्तर्गत शान्ति तथा व्यवस्था को बनाये रखने के लिए सर्वोत्तम समाधान था। उसने धर्मशास्त्रीय आधार पर भी राजतन्त्र का समर्थन किया है। उसके मत से जिस प्रकार सम्पूर्ण विश्व का शासन एक परमात्मा के द्वारा किया जाता है उसी प्रकार राजनीतिक समाजों का शासन भी एक व्यक्ति के द्वारा किया जाना एक प्राकृतिक नियम है। एक राजा का शासन उस युग की परिस्थितियों के लिए इसलिए भी उचित था कि उनके अन्तर्गत एक सुदृढ़ शासन की आवश्यकता थी। यद्यपि टॉमस राजतन्त्र का समर्थक था, तथापि वह निरंकुशतावाद का समर्थक नहीं था। वह शासक को मर्यादित रखना उचित समझता था। इसके निमित्त उसने निर्वाचित राजतन्त्र को उचित व्यवस्था बताया था। उसका मत था कि राजतन्त्र के अन्तर्गत एक स्वेच्छाचारी राजा को क्रान्ति द्वारा पदच्युत किये जाने या उसका वध कर दिये जाने से और अधिक अव्यवस्था हो जाने की आशंका बढ़ती है। निर्वाचित राजतन्त्र वैधानिक तथा मर्यादित होता है और निर्वाचकगण अत्याचारी राजा को वैधानिक ढंग से पद्च्युत कर सकते हैं।

(5) **कानून की सर्वोच्चता**—मध्य युग के समस्त राजनीतिक चिन्तन की एक विशेषता यह भी थी कि उसके अन्तर्गत जन-परम्पराओं पर आधारित कानून की सर्वोच्चता की धारणा मान्य रही। ऐक्विना भी इसमें अपवाद नहीं है। मध्य युग के विचारक विधिदाता की सम्प्रभुता को न मानकर स्वयं विधि की सम्प्रभुता को मानते थे। मध्य युग में कानून के अनेक रूप माने जाते रहे, यथा दैवी कानून, प्राकृतिक कानून, परम्परागत कानून, आदि। कानूनों का विवेचन करने में ऐक्विना ने जहाँ कानून का उद्देश्य सामान्य हित को माना है, वहाँ वह शासक के ऊपर भी उसी कानून को लागू करने की धारणा व्यक्त करता है। इसका यह अभिप्राय था कि राजा या शासक को जिसके ऊपर जनता की रक्षा का दायित्व है विधि के अनुसार ही शासन चलाना चाहिए। कानून शासक का आदेश न होकर विवेक का आदेश था। यह विवेक विभिन्न प्रकार के कानूनों में अभिव्यक्त होता है। ऐक्विना ने शाश्वत, दैवी, प्राकृतिक तथा मानवीय सभी कानूनों के अन्तर्गत विवेक के अस्तित्व को दर्शाया है। मानवीय कानून की धारणा को परम्परागत कानून के रूप में चित्रित करके वह इसे मध्य युगीन ट्यूटन तथा सामन्तशाही के अन्तर्गत प्रचलित कानून की धारणा को मान्य करता है। इस प्रकार मध्य युग में कानून के सम्बन्ध में जितनी धारणाएँ प्रचलित थीं उन सबको टॉमस ने अपनी कानून की धारणा में समाविष्ट किया।

(6) **सार्वभौमिकतावाद**—समस्त मध्ययुगीन चिन्तन की मूल प्रवृत्ति सार्वभौमिकतावाद थी। इसका यह अभिप्राय है कि मध्य युगीन विचारक एक ऐसे सार्वभौम विश्व समाज की कल्पना करते थे जो ईसाई धर्म को मानने वाले व्यक्तियों से निर्मित हो और जिसका प्रधान संचालक तथा नियामक पोप हो। इसका उद्देश्य मानवों को आध्यात्मिक मोक्ष प्रदान कराना हो। ऐसे सार्वभौम समाज का नियमन

भी एक सार्वभौम कानून के द्वारा सम्भव हो सकता था। टॉमस की शाश्वत, दैवी, प्राकृतिक एवं मानवीय कानून की धारणाएँ किसी विशिष्ट राजनीतिक समाज के कानून की धारणाएँ न होकर एक सार्वभौम मानव समाज के कानून की धारणा को व्यक्त करती हैं। वास्तव में मध्ययुगीन राजनीतिक व्यवस्था न तो ग्रीक नगर-राज्यों की व्यवस्था थी और न राष्ट्रीय राज्यों की। निस्सन्देह मध्य युग के अन्तिम वर्षों में यूरोप में कुछ राज्य राष्ट्रीय आधार पर बनने लगे थे। परन्तु टॉमस के काल तक तथा उसकी एक शताब्दी बाद के काल तक भी प्राचीन रोमन तथा पवित्र रोमन साम्राज्य का प्रभाव बना रहा था। इनका स्वरूप सार्वभौम प्रकृति का ही था। अतएव इस युग के मध्ययुगीन विचारक सदैव सार्वभौमिकतावाद के सन्दर्भ में चिन्तन करते रहे। टॉमस ऐक्विना के विचारों में भी यही प्रवृत्ति विद्यमान थी। उसकी विचारधारा अरस्तू से प्रभावित होते हुए भी आत्म-निर्भर नगर-राज्य या राष्ट्रीय राज्य का दर्शन न होकर सार्वभौम विश्व राज्य की धारणा पर आधारित राजनीतिक दर्शन सिद्ध होती है। इस प्रकार टॉमस के दर्शन में सम्पूर्ण मध्य युगीन चिन्तन का प्रतिनिधित्व पाया जाता है।

दान्ते (1265–1321)

टॉमस ऐक्विना के पश्चात् मध्य युग के राजनीतिक चिन्तकों में कोई ऐसा उल्लेखनीय महान् दार्शनिक नहीं हुआ जो कि चर्च-सत्ता की श्रेष्ठता के दावे को क्रमबद्ध दर्शन के रूप में प्रस्तुत कर सकता। विश्वविद्यालयों में ज्ञान के नव-जागरण के अन्तर्गत धार्मिक अन्ध-विश्वासिता को बहुत अधिक प्रश्रय नहीं मिल पाया। यूरोपीय राजनीति में घटनाचक्र इस रूप में बढ़ रहा था कि उसके अन्तर्गत पोप तथा चर्च की आधीनता में शासित एक सार्वभौम ईसाई विश्व-राज्य की धारणा कोरी कल्पना सी लगती थी। चर्च अधिकारियों में लौकिक मामलों के सम्बन्ध में बढ़ती हुई दिलचस्पी भी चर्च सत्ता के विरोधियों में चर्च के प्रति निष्ठा को कम करने हेतु सहायक सिद्ध हो रही थी। दूसरी ओर समूचे ईसाई समाज के लिए लौकिक सत्ता की सर्वोच्च प्रभुता के अधीन एक सार्वभौम साम्राज्य की धारणा भी बनी रही। इस धारणा का सबसे महान् समर्थक इटली का कवि दान्ते था।

परिचय—दान्ते का जन्म इटली के फ्लोरेन्स नामक नगर में ऐक्विना के लगभग 40 वर्ष बाद हुआ था। उसके युग में इटली में पोप समर्थक तथा सम्राट समर्थक दो दलों का पर्याप्त विकास हो चुका था और दान्ते स्वयं सम्राट समर्थक दल का व्यक्ति था। इसके कारण उसे तत्कालीन व्यावहारिक राजनीति का पर्याप्त अनुभव था। दलीय राजनीति का सक्रिय सदस्य होने के कारण उसे देश निष्कासन का दण्ड भी भोगना पड़ा था। परन्तु वह एक सच्चा फ्लोरेन्सवासी था। उसे इटली के निवासियों की श्रेष्ठता पर बहुत गर्व था। उसने देखा कि जब तक यह सत्ता-संघर्ष चलता रहेगा, तब तक इटली में चैन तथा शान्ति सम्भव नहीं है। उसकी दृष्टि से इसका एकमात्र उपचार यही था कि इटली के साम्राज्य में एकता कायम हो और साम्राज्य की सर्वोच्च सत्ता सम्राट के हाथ में बनी रहे। ऐसी धारणा का अभ्युदय फ्रांस में भी हो रहा था। दान्ते न तो राष्ट्रवादी था और न जन्म से या शिक्षा-दीक्षा से सम्राट-समर्थक ही। परन्तु उसका साम्राज्यवाद विशुद्ध रूप से

सार्वभौमिक शान्ति का आदर्शीकरण था ।[1] दान्ते की प्रसिद्ध रचना 'डी मॉनार्किया' (De Monarchia) है, जिसमें उसने एक सार्वभौम ईसाई साम्राज्य की कल्पना की है जिसका सम्प्रभु शासक सम्राट हो और जो चर्चसत्ता से पूर्णतया स्वतन्त्र हो । इस ग्रन्थ के तीन भागों में दान्ते तीन प्रमुख समस्याओं का क्रमबद्ध विवेचन करता है : (1) सार्वभौम राजतन्त्र मानव कल्याण का एकमात्र उपाय है, (2) रोमन लोगों का ही यह हित है कि वे इस पद को धारण करने का समुचित भौतिक आधार रखते हैं, और (3) सम्राट को सत्ता प्रत्यक्षत: ईश्वर से प्राप्त हुई है, न कि ईश्वर के किसी दूत (अर्थात् पोप) के माध्यम से ।

सार्वभौम विश्व साम्राज्य की धारणा—दान्ते की विचारधाराओं में सत्ता-संघर्ष के प्रारम्भ होने के पश्चात् के राजसत्ता के समर्थकों के तर्क विद्यमान थे। उन्हीं की भाँति दान्ते ने भी यह दर्शाने का प्रयास किया कि सम्राट की सत्ता का स्रोत स्वयं ईश्वर है । लौकिक सत्ता तथा आध्यात्मिक सत्ता दोनों का केन्द्र ईश्वर है । अत: कोई भी मानवीय सत्ता (अर्थात् पोप, जो स्वयं एक मानव प्राणी है) सम्राट से उच्च होने का दावा नहीं कर सकती । सम्राट की सत्ता, चर्च की सत्ता से पूर्णतया स्वतन्त्र है । दान्ते का उद्देश्य पोप की सत्ता का विरोध करने का नहीं था, अपितु वह उसके अधिकार-क्षेत्र को लौकिक-सत्ता के कार्य-क्षेत्र में हस्तक्षेप करने से वंचित रखना चाहता है । वह यह दर्शाता है कि मध्ययुगीन सार्वभौम विश्व साम्राज्य रोमन साम्राज्य का ही उत्तराधिकारी है । अत: सार्वभौम विश्व साम्राज्य का सम्प्रभु शासक बनने की क्षमता इटली के सम्राट को ही प्राप्त हो सकती है ।

ऐक्विना की भाँति दान्ते भी राजनीतिक विचारधाराओं का प्रतिपादन करने में अरस्तू की परम्परा को अपनाने का प्रयास करता है । वह समस्त सृष्टि का रचयिता ईश्वर तथा प्रकृति को मानते हुए कहता है कि 'ईश्वर तथा प्रकृति ने सृष्टि में किसी भी वस्तु को अनावश्यक (superfluous) नहीं बनाया है', प्रत्युत् सृष्टि की प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई निश्चित उद्देश्य होता है । ईश्वर तथा प्रकृति ने मानव की सृष्टि केवल जीने तथा मरने के लिए नहीं की है, बल्कि मानव एक सामाजिक प्राणी है जो अपने साथियों के साथ समाज बनाकर रहता है । अत: मानव का अध्ययन व्यक्तिगत मानव के रूप में नहीं अपितु सामान्य अर्थ में अर्थात् मानवता की दृष्टि से करना उचित है । मानव-जीवन के उद्देश्य का अध्ययन मानव को मात्र एक संगठित प्राणी के रूप में, या सजीव प्राणी के रूप में, या चेतनायुक्त प्राणी के रूप में मानकर करना उचित नहीं है क्योंकि यह गुण तो क्रमश: खनिजों, वनस्पतियों तथा जानवरों (brutes) में भी होते हैं । अत: मानव का अध्ययन इस दृष्टि से किया जाना चाहिए कि उसमें तात्विक विवेक (potential intellect) है, उसमें विचार शक्ति है, ज्ञान है तथा उसके पास अपनी स्वतन्त्र इच्छा है, जो कि किसी एक ही मानव में या मानवों के एक सीमित समुदाय में नहीं है, बल्कि विशाल मानव समुदाय में विद्यमान रहती है । मानव एक विचारशील प्राणी है और उसके कार्य उसकी विवेकशीलता का अनुगमन करते हैं । समूचे रूप में, इन गुणों के कारण मानव के समस्त व्यापार तथा कार्यकलाप उसे 'उत्तम जीवन' व्यतीत करने की ओर प्रेरित करते हैं । उत्तम जीवन की प्राप्ति व्यक्ति विशेष का नहीं बल्कि समस्त मानवता का उद्देश्य है । यही मानव जीवन का अन्तिम उद्देश्य है । इसकी महान्

[1] Sabine, *op. cit.*, 226.

आवश्यकता है 'शान्ति', जिसका अर्थ है 'सर्वोत्तम रूप में दैवी यश और पृथ्वी में सद्भावनामय मानवों के मध्य शान्ति (Glory to God in the highest and on earth peace to men of good will) ।[1] इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मानव सामुदायिक जीवन व्यतीत करता है। चूँकि प्रत्येक सहचारपूर्ण प्रयास को निदेशन की आवश्यकता पड़ती है, अतः प्रत्येक समुदाय में एक शासक का होना भी आवश्यक है। दान्ते एक समूचे विश्व मानव-समुदाय की कल्पना करता है, जिसका एक शासक निदेशक होना चाहिए।[2] जिस प्रकार परिवार का उद्देश्य व्यक्तिगत सदस्यों को उत्तम जीवन प्राप्त कराना होता है और इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु परिवार की एक इच्छा होती है, उसी प्रकार सम्पूर्ण मानव-जाति का एक उद्देश्य तथा इच्छा होती है, जिसका नियन्त्रण तथा निदेशन करने के लिए एक एकाकी सत्ता की आवश्यकता है। इस प्रकार दान्ते की कल्पना में मध्ययुगीन परम्परा का एकमात्र राजनीतिक समाज सार्वभौम विश्व साम्राज्य था जिसका एकमात्र शासक एक राजा या सम्राट होना चाहिए।

विश्व सम्राट की विशेषताएँ—विश्व साम्राज्य के बारे में दान्ते उसके सावयव स्वरूप की कल्पना करता है। उसके विचार से सावयव के अंग स्पष्टतया पहले सम्पूर्ण के हित में अस्तित्व रखते हैं। अन्यथा सम्पूर्ण अपने अंगों का एक निरर्थक ढेर मात्र रह जायेगा। इसलिए सम्पूर्ण मानव समाज की व्यवस्था हेतु उसमें निवर्तमान विविध संस्थाओं को व्यवस्थित करने की आवश्यकता पड़ती है। यह कार्य सम्राट द्वारा किया जा सकता है। यद्यपि दान्ते सम्राटशाही का समर्थक है और उसे साम्राज्य की सम्पूर्ण लौकिक सत्ता देना चाहता है, तथापि दान्ते का सम्राट निरंकुश स्वेच्छाचारी तथा समाज का तानाशाह कदापि नहीं है, अपितु वह एक आदर्श सम्राट है। दान्ते सम्राट का पद धारण करने वाले व्यक्ति को उच्च स्थिति नहीं प्रदान करता बल्कि सम्राट के पद को ऐसा महत्त्व देता है।[3] वह मानता है कि सम्राट स्वयं एक मानव है, अतएव वह गलती कर सकता है। अतः दान्ते सम्राट के ऊपर यह मर्यादा आरोपित करता है कि 'पद का दुरुपयोग करना महानतम पाप है।' दूसरी मर्यादा यह है कि पद तथा पदाधिकारियों का अस्तित्व शासक के हित में नहीं है बल्कि शासितों के हित में है। सम्राट 'सेवकों का सेवक' है। इस प्रकार दान्ते का सम्राट एक ऐसा आदर्श है, जैसा कि उसे होना चाहिए। दान्ते के शब्दों में, 'वह वैयक्तिक रूप में कानून है, ऐसा कानून जो राजगद्दी पर विराजमान, ताजयुक्त तथा सम्मान एवं शान से युक्त है।'[4] मध्ययुगीन परम्परा के अनुसार कानून को मानव का शाश्वत विवेक माना जाता था। दान्ते का सम्राट इसी कानून तथा न्याय का वैयक्तिकरण है। वह समूचे मानव समाज की एकता का सूचक है। इस प्रकार उसकी कल्पना का सम्राट प्लेटो की कल्पना के दार्शनिक राजा की प्रतिमा से युक्त अथवा स्वयं पृथ्वी में देवता का रूप है। यहाँ पर यह कहना भी असंगत नहीं होगा कि जैसे आदर्श सम्राट की कल्पना दान्ते ने की है वह मध्ययुगीन यूरोप

[1] Hearnshaw, *op. cit.*, 114.

[2] Sabine, *op. cit.*, 227.

[3] 'The idea that it is not the official in himself that matters but the office, or function, for which that official was appointed, is implied in all Dante's thinking.' —Hearnshaw, *op. cit.*, 117

[4] 'It is law personified : Law throned and crowned, and invested with majesty and honour.' —*Ibid.*, 119.

के दर्शन की कोई अभूतपूर्व धारणा रही हो। वस्तुत: सम्राट के जिन गुणों की कल्पना दान्ते ने की है वैसी धारणा राज्य के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय राजशास्त्र प्रणेता बराबर करते रहे थे। महाभारत, अर्थशास्त्र, मनुस्मृति और यहाँ तक कि वैदिक ग्रन्थों में निरन्तर राजा के ऐसे ही गुणों का वर्णन किया जाता रहा है। दान्ते का विश्वास है कि ऐसा सम्राट स्वर्गीय राज्य का सम्राट भले ही माना जाये, किन्तु पृथ्वी में भी ऐसे गुणों से युक्त सम्राट की उपलब्धि हो सकती है।

दान्ते की कल्पना का सार्वभौम विश्व-राज्य आधुनिक-युगीन विश्व राज्य तथा विश्व सरकार की धारणा का पूर्वगामी मात्र नहीं है। यद्यपि उद्‌देश्य दोनों का एक ही है—शान्ति तथा न्याय और समस्त मानवों के लिए श्रेष्ठतम जीवन; तथापि दान्ते इस उद्‌देश्य की उपलब्धि हेतु एक एकीकृत राज्य व्यवस्था तथा एक सम्राट की सम्प्रभुता का समर्थन करता है जबकि आधुनिक विश्व सरकार की धारणा विभिन्न सम्प्रभु राष्ट्रों की एक संघात्मक व्यवस्था का रूप हो सकती है, जिसमें एकता की उपलब्धि कठिन है। दान्ते की कल्पना का साम्राज्य भी विविध राज्यों की एक ऐसी एकीकृत व्यवस्था होती, जिसमें विश्व सम्राट समस्त स्थानीय शासकों का सामान्य निदेशक होता और स्थानीय शासक विशेष बातों की व्यवस्था करते। उनके मध्य संघर्ष नहीं होते। यदि कदाचित वे हो भी जाते तो उनके मध्य न्याय की व्यवस्था सम्राट द्वारा की जाती जो सार्वभौम कानून के आधार पर उसे लागू करता। जिस प्रकार एक विवेक व्यक्ति की समस्त इन्द्रियों के ऊपर शासन करता है उसी प्रकार एक शासक समाज के समस्त संवासों (परिवार, ग्राम, नगर, राज्य, साम्राज्य आदि) का नियमन करता है। यह प्रकृतिगत नियम है। अत: दान्ते की दृष्टि में समूचे विश्व साम्राज्य के लिए एक समरूप न्याय तथा विधि के शासन की व्यवस्था बनी रहनी चाहिए।

रोमन साम्राज्य की श्रेष्ठता—डी मॉनार्किया के द्वितीय खण्ड में दान्ते रोमन साम्राज्य की महानता के पक्ष में तर्क देता है; वह ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर इस बात की पुष्टि करना चाहता है कि रोम (इटली) विश्व साम्राज्य का निदेशन करने का वैधानिक तथा नैतिक अधिकारी है। रोमन साम्राज्य सदैव विजयी रहा है। युद्ध-विजय दैवी आशीर्वाद का फल है। रोम वालों ने लोभ या लालच के वशीभूत होकर साम्राज्य का विस्तार नहीं किया, अपितु विजयी तथा पराजित दोनों के सामूहिक हित का उद्‌देश्य रखा। ईश्वर ने इटली के निवासियों को यह क्षमता प्रदान की है कि वे विश्व का शासन करते हैं। ईसाइयत के अन्तर्गत पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना भी इसी बात का प्रमाण है। इस प्रकार एक देशभक्त इटली निवासी होने के नाते भी दान्ते विश्व-साम्राज्य की नियामक शक्ति इटली के हाथ में रखना चाहता है।

राज्यसत्ता तथा धर्मसत्ता के मध्य सम्बन्ध—पुस्तक के अन्तिम खण्ड में दान्ते पोप तथा सम्राट की सत्ता के मध्य संघर्ष के सम्बन्ध में अपने विचार रखता है। इस सम्बन्ध में वह आरम्भिक चर्च संस्थापकों की उन सब धारणाओं का विरोध करता है जिनके अन्तर्गत पोप या चर्च की सत्ता को राज्य की सत्ता से उच्चतर मानने के तर्क दिये गये थे कि चर्च आत्मा तथा राज्य शरीर है अथवा चर्च सूर्य के तुल्य तथा राज्य चाँद के तुल्य है। वह गिलेसियस के दो तलवारों के सिद्धान्त का भी अनुगमन नहीं करता और न यह मानता है कि राज्यसत्ता का स्रोत धर्मसत्ता

है। दान्ते यह मानता है कि चर्च के ऊपर एकमात्र सत्ता धर्मशास्त्रों की है न कि पोप की। पोप के आदेशों को बदलने का पूरा अधिकार चर्च को है, क्योंकि वे आदेश केवल परम्परागत हैं। सम्राट कॉन्स्टेन्टीन द्वारा पोप को लौकिक सत्ता प्राप्त होने या शार्लमेन को पोप द्वारा सम्राट का ताज प्रदान करने के ऐतिहासिक तथ्यों का दान्ते निराकरण करता है। उसका तर्क है कि कॉन्स्टेन्टीन को कानूनी दृष्टि से कोई अधिकार नहीं था कि वह साम्राज्य की सत्ता किसी अन्य सत्ता को प्रदान करे। जब यह बात गैर-कानूनी है कि पोप को साम्राज्य की सत्ता प्राप्त हुई थी तो इसका स्वाभाविक निष्कर्ष यही है कि पोप स्वयं शार्लमेन को राजसत्ता प्रदान नहीं कर सकता था। यह बात चर्च के सिद्धान्त के भी विरुद्ध है कि पोप सांसारिक राज्य की सत्ता धारण करे, क्योंकि उसकी सत्ता इहलौकिक नहीं हो सकती। दान्ते का निष्कर्ष यह है कि सम्राट को सत्ता प्रत्यक्षत: ईश्वर ने तथा जनता से प्राप्त हुई है, न कि पोप से। दान्ते मानता है कि स्वभावत: मनुष्य को अपने जीवन के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए लौकिक एवं आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में निदेशकों की आवश्यकता रहती है। इन दोनों उद्देश्यों (लौकिक तथा आध्यात्मिक) को प्राप्त करने के लिए दोनों सत्ताओं के अधिकार-क्षेत्र समुचित रूप से निर्धारित होने चाहिए। अत: पोप को लौकिक सत्ता के क्षेत्र में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। राजा या सम्राट की शक्ति समस्त जनता की शक्ति से नीची है।

इस प्रकार यद्यपि सत्ता-संघर्ष के सम्बन्ध में दान्ते का निष्कर्ष टॉमस ऐक्विना से बिल्कुल उल्टा है, तथापि दोनों के सैद्धान्तिक विचारों में बहुत समानता है। दोनों का राज्य सार्वभौम विश्व राज्य है, जिसका शासक एक व्यक्ति होना चाहिए। इस सार्वभौम समाज को चाहे राज्य कहें या चर्च, उद्देश्य दोनों का एक ही है, दान्ते दोनों सत्ताओं का पृथक्करण करता है और दोनों के मध्य समन्वय स्थापित करता है। उसके मत से विवेक तथा दर्शन लौकिक शासक का निदेशन करते हैं।

पेरिस का जॉन

यूरोप के राजनीतिक इतिहास में चौदहवीं शताब्दी महान् परिवर्तन का युग है। इसमें मध्ययुगीन सर्वोत्तम सभ्यता का आधुनिक जगत की सबसे विशिष्ट बातों के साथ सम्मिश्रण पाया जाता है। यह वह युग है जबकि सार्वभौम विश्व संगठन की धारणा राष्ट्रीय-राज्यों की धारणा में परिवर्तित हो रही थी। इस परिवर्तन ने राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में भी परिवर्तन लाने में प्रभाव डाला। अब ऐक्विना के सार्वभौम चर्च राज्य अथवा दान्ते की सार्वभौम साम्राज्य की धारणाएँ समाप्ति की दिशा में जा रही थीं। इनके स्थान पर चर्च तथा राज्य दोनों के राष्ट्रीय संगठन की धारणा बढ़ रही थी। इस शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में फ्रांस में पेरिस के जॉन (John of Paris) की रचना प्रकाश में आई। सत्ता-संघर्ष के इतिहास में जॉन की रचना राजसत्ता की श्रेष्ठता की समर्थक थी।

राज्य का स्वरूप—ऐक्विना तथा दान्ते की भाँति जॉन ऑफ पेरिस की विचारधाराओं में भी अरस्तूवादी विचार पाये जाते हैं। वह मानता है कि चर्च के लिए भले ही सार्वभौम संगठन आवश्यक हो परन्तु राज्य के लिए वह आवश्यक नहीं है। नागरिक समाज मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति पर आधारित है। मानवों के हितों तथा प्रवृत्तियों में वैविध्य होता है। अत: एक सार्वभौम नागरिक-समाज की

धारणा कल्पनातीत है। ऐसा नागरिक या राजनीतिक समाज प्रादेशिक आधार पर ही बन सकता है। ऐसी राजनीतिक इकाइयाँ आत्म-निर्भर होती हैं। इनके लिए धार्मिक सत्ता की स्वीकृति आवश्यक नहीं है। लौकिक सत्ता का स्रोत धार्मिक सत्ता नहीं है। वह धार्मिक सत्ता से प्राचीनतर है। उत्तम जीवन के लिए लौकिक सत्ता आवश्यक है। अरस्तू की धारणा थी कि उच्चतरों को निम्नतरों के ऊपर नियन्त्रण रखना स्वाभाविक एव व्यावहारिक है, परन्तु जॉन की दृष्टि में ऐसी धारणा उचित नहीं है कि धर्मसत्ता राजसत्ता से उच्चतर है, अतः वह राजसत्ता को नियन्त्रित करे।

राज्य तथा चर्च—राजसत्ता तथा धर्मसत्ता के मध्य सम्बन्धों के बारे में जॉन राजसत्ता की श्रेष्ठता विषयक मध्ययुगीन परम्परागत तर्कों को अपनाते हुए बताता है कि दोनों सत्ताओं का स्रोत ईश्वर है, और दोनों सत्ताएँ एक-दूसरे से पृथक् हैं। वह धर्मसत्ता की राजसत्ता के ऊपर श्रेष्ठता के समस्त तर्कों का क्रमबद्ध ढंग से विरोध करता है और यह दर्शाता है कि यदि धर्मसत्ता का कार्य आध्यात्मिक है तो वह लौकिक सत्ता से श्रेष्ठतर अथच उसके ऊपर होने का दावा कैसे कर सकती है। वह लौकिक सत्ता के अधिकारियों को धर्म-बहिष्कृत करने का अधिकार रख सकती है। परन्तु बल-प्रयोग द्वारा उसे दण्डित करने का चर्च को कोई अधिकार नहीं हो सकता। बल-प्रवर्ती शक्ति धारण करना लौकिक सत्ता का अधिकार है। यदि चर्च के अधिकारी अपने समुचित कर्त्तव्यों का पालन नहीं करते तो लौकिक सत्ता को अधिकार है कि वह उन्हें दण्ड दे सकती है। राजा के द्वारा पोप को पदच्युत करने का अधिकार उतना ही गुरुतर है, जितना कि पोप द्वारा राजा को पदच्युत करने या धर्म बहिष्कृत करने का। परन्तु अन्ततोगत्वा ऐसा निर्णय लेना विधिगत होना चाहिए और राजा या पोप को पदच्युत करने की शक्ति उस सत्ता के हाथ में रहनी चाहिए जो उन्हें निर्वाचित करती है। यदि पोप को चर्च अधिकारियों (clergy) का नियमन करने तथा आध्यात्मिक कार्यों हेतु वांछित चर्च सम्पत्ति का नियन्त्रण रखने की शक्ति प्राप्त है, तो इसका यह अर्थ नहीं कि पोप लौकिक सत्ता के ऊपर है। जॉन की ऐसी विचारधाराओं के सम्बन्ध में सैबाइन ने उचित ही कहा है कि 'एक चर्च से सम्बद्ध व्यक्ति के द्वारा चर्च की सत्ता के ऊपर ऐसी मर्यादा आरोपित करने के तर्कों का विश्लेषण बहुत महत्त्वपूर्ण है।'[1]

चर्च-सम्पत्ति—जॉन के युग में चर्च के पास पर्याप्त सम्पत्ति एकत्र हो चुकी थी और दोनों पक्षों (राजसत्ता तथा धर्मसत्ता) की ओर से चर्च-सम्पत्ति के बारे में परस्पर विरोधी तर्क प्रस्तुत किये जा रहे थे। जॉन ने दोनों के मध्य का मार्ग अपनाया। उसका मत था कि चर्च के पास आध्यात्मिक कार्यों को सम्पन्न करने के लिए उतनी ही सम्पत्ति रहनी चाहिए जितनी इस कार्य के लिए आवश्यक है। परन्तु सम्पत्ति के नियन्त्रण का कानूनी अधिकार लौकिक सत्ता का है, न कि धर्मसत्ता का। चर्च-सम्पत्ति का स्वामित्व पोप का नहीं अपितु समूचे चर्च-समाज का है। पोप केवल उसका कार्यकारी अधिकारी है। यह बात व्यक्तिगत सम्पत्ति के बारे में नहीं है, जहाँ कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का स्वामी होता है और लौकिक शासक उसका नियमन करते हैं।

[1] 'Coming from a Churchman this precise analysis and, in effect, limitation of the Church's spiritual authority is very striking.' —Sabine, *op. cit.*, 246.

पोप की स्थिति—जॉन के विचार से पोप का 'पद' दैवी है, परन्तु पदाधिकारी की नियुक्ति मानवीय सहयोग पर निर्भर करती है। पदाधिकारी पद-त्याग कर सकता है अथवा उसे चर्च परिषद् अनुचित व्यवहार करने पर पदच्युत कर सकती है। इस अधिकार का प्रयोग कार्डिनल मण्डल कर सकता है। इस प्रकार जॉन के विचारों में चर्च शासन हेतु प्रतिनिध्यात्मक चर्च परिषद् के होने तथा पोप की शक्ति को मर्यादित करने की बाद के कनसीलियर आन्दोलन की धारणा विद्यमान है। 'अतः जॉन उन्हीं सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर पोप का प्रतिरोध करने के औचित्य को सिद्ध करता है जिनके आधार पर मध्ययुग के अनेक लेखकों ने राजा के विरुद्ध प्रतिरोध के औचित्य का समर्थन किया था।'[1]

सरकार—जॉन ऑफ पेरिस की रचना उसे एक वैज्ञानिक राजनीतिक चिन्तक सिद्ध नहीं कर सकती। उसका राजनीतिक चिन्तन अरस्तू तथा मध्ययुगीन प्रवृत्तियों का अनुगमन करता है। परन्तु उसमें क्रमबद्धता का अभाव है। राज्य तथा शासन के सिद्धान्तों का वह विशद तथा क्रमागत विश्लेषण नहीं कर पाया। सरकार के सम्बन्ध में उसकी धारणा अपने काल की वैधानिक राजतन्त्रों का समर्थन करने की प्रवृत्ति से युक्त है। फिर भी उसके वैधानिक राजतन्त्र का सिद्धान्त अरस्तू के वैधानिक जनतन्त्र से मिलता-जुलता है।[2] इस प्रकार जॉन के विचारों ने फ्रांस के राजतन्त्र के समर्थन में पर्याप्त योगदान किया। साथ ही राजसत्ता तथा धर्मसत्ता के पृथक्करण के तर्क प्रस्तुत करके उस युग के संघर्ष हेतु समाधान प्रस्तुत किया। उसने न केवल राजसत्ता के ऊपर पोप के प्रभुत्व के दावे का ही विरोध किया बल्कि धर्म के ऊपर कानून के आक्रमण का भी प्रतिरोध किया। उसने न केवल पोप की निरंकुश सत्ता का ही विरोध किया बल्कि राजतन्त्र के ऊपर भी प्रतिनिध्यात्मक संस्था के नियन्त्रण की मर्यादा आरोपित की। जॉन के विचारों का प्रभाव उसके पश्चात् राजसत्ता के समर्थकों तथा कनसीलियर आन्दोलन के विचारकों पर पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है।

पैडुवा का मारसीलियो (1270–1342)

यूरोपीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में 11वीं तथा 12वीं शताब्दी का चिन्तन धर्मसत्ता तथा राजसत्ता के अधिकार-क्षेत्रों के सम्बन्ध में विवाद पर केन्द्रित था। 13वीं शताब्दी तक धर्मसत्ता के समर्थकों का पलड़ा भारी रहा। परन्तु 14वीं शताब्दी से राजसत्ता के समर्थकों का पक्ष बलवान होने लगा। इस सदी के आरम्भ में पोप बोनीफेस अष्टम (Boniface VIII) ने ग्रीगरी सप्तम् की ही भाँति अपनी सत्ता की श्रेष्ठता को जोरदार शब्दों में व्यक्त किया कि ईसाइयत के अन्तर्गत लौकिक-सत्ता का कोई भी आदेश बिना पोप की स्वीकृति के न्यायसंगत नहीं माना जा सकता। अतः पोप की सत्ता असीम है। परन्तु इस युग में फ्रांस में राजतन्त्र की नींव पर्याप्त सुदृढ़ हो गई थी। सम्राट फिलिप चतुर्थ ने बोनीफेस की इस धारणा का प्रतिरोध किया। 1303 में बोनीफेस की मृत्यु हो गई। फ्रांस के राजतन्त्र ने

[1] Sabine, *op. cit.*, 247.

[2] 'Here again John brings Aristotle to his aid by identifying constitutional monarchy with the polity, which is a mixture of democracy and aristocracy.'—*Ibid.*

उसके स्थान पर नये पोप का निर्वाचन कराने तथा पोप का प्रधान कार्यालय रोम से ऐवीनन (Avignon) में स्थानान्तरित कराने में सफलता प्राप्त की। इस प्रकार पोप का प्रभुत्व न केवल कम ही हो गया, अपितु इस दुर्बलता से वह कभी भी उठ सकने में असमर्थ हो गया। परन्तु इस मामले में फ्रांसीसी सरकार ने पोप के विरुद्ध जो तर्क दिये वह विवेक पर आधारित न होकर शक्ति पर आधारित थे। इसी बीच जॉन ऑफ पेरिस, पीरीडु बौइस तथा दान्ते की रचनाओं में भी राजतन्त्र के समर्थन हेतु पर्याप्त सामग्री प्रकाश में आ गई थी। पेरिस के विश्वविद्यालय में शिक्षा का विकास भी पोप की सत्ता के विरुद्ध सिद्ध होने लगा था। इसी बीच पैडुवा के मारसीलियो (Marsiglio of Padua) की रचना 'डिफेन्सर पेसिस' (Defenser Pacis) प्रकाशित हुई जिसमें 14वीं शताब्दी के पोप-सत्ता विरोधी विचारों का जोरदार समर्थन किया गया था।

जीवन-परिचय—मारसीलियो का जन्म इटली के पैडुवा नामक नगर में 1270 के लगभग हुआ था। उसके बाल्यकाल का युग पोप तथा राजा के मध्य सत्ता-संघर्ष का युग था। वह स्वयं चर्च से सम्बद्ध था। वह मिलन का बिशप तथा पैडुआ का कैनन रह चुका था। परन्तु उसका जीवन स्थिर नहीं रहा। वह भटकता रहा। कभी वह चिकित्सक रहा, कभी सैनिक और बाद में वह पेरिस गया और वहाँ विश्वविद्यालय में अध्यापक हो गया। कुछ काल तक वह पेरिस विश्वविद्यालय का रेक्टर भी रहा। इस बीच वह ऐवीनन भी गया और वहाँ उसे पोप के कृत्यों से घृणा हो गयी थी। पेरिस विश्वविद्यालय में उसका सम्पर्क जण्डन के जॉन के साथ हुआ। ऐसा भी माना जाता है कि 'डिफेन्सर पैसिस', मारसीलियो तथा जॉन की संयुक्त रूप से लिखी गयी रचना है। अन्त में 1324 में उसने अपना ग्रन्थ 'डिफेन्सर पैसिस' बवेरिया के शासक लोविस चतुर्थ को भेंट किया, परिणामस्वरूप राजा ने उसे अपने दरबार में उच्च पद पर नियुक्त किया।

डिफेंसर पैसिस की विषय-वस्तु—डिफेंसर पैसिस के सम्बन्ध में जे० डब्लू० ऐलन का कहना है कि यह अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण रचना है, मुख्यतया इसमें जो विचार रखे गये हैं उनकी अभिव्यक्ति साहसपूर्ण ढंग से की गयी है। इस बात में भी सन्देह नहीं कि इसके विचार पर्याप्त मौलिक हैं। परन्तु इसकी अनेक दुर्बलताएँ भी हैं। अस्पष्ट विचार, असंगतताएँ, भाषा का दोष तथा दोषपूर्ण शब्दावली का प्रयोग आदि अनेक कमियाँ इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में उक्त लेखक ने दर्शायी हैं। यह ग्रन्थ तीन भागों में लिखा गया है। प्रथम भाग में लेखक के दार्शनिक विचार, राज्य सम्बन्धी धारणाएँ तथा शासन-सम्बन्धी विचारक हैं। दूसरे भाग में चर्च तथा राज्य के मध्य सम्बन्ध तथा पोप की कटु आलोचना की गयी है। तीसरा भाग अधिक महत्त्व नहीं रखता। उसमें उक्त विचारों के सम्बन्ध में लेखक के निष्कर्ष शामिल हैं।

राज्य सम्बन्धी विचार—मारसीलियो की राज्य सम्बन्धी धारणा अरस्तू की विचारधारा का अनुगमन करती है। अरस्तू की भाँति मारसीलियो भी राजनीतिक समाज का आधार परिवार को मानता है। राज्य की उत्पत्ति का आधार जनता की सामूहिक आवश्यकताएँ हैं। इनकी पूर्ति के लिए परिवार की क्षमता अपर्याप्त है, अतः परिवारों के एक बृहत्तर समुदाय की आवश्यकता पड़ती है। यही बृहत्तर समुदाय राज्य कहलाता है, मारसीलियो की दृष्टि में मानव स्वार्थी, हिंसक तथा उग्र होता है। ऐसी स्थिति में सहयोग द्वारा सबकी सामूहिक आवश्यकताओं को पूर्ण

करना सम्भव नहीं होता। परन्तु सहयोग आवश्यक है। इसलिए कानून की आवश्यकता पड़ती है जिसके फलस्वरूप न्याय सम्भव होता है। कानून वह विवेक है जो उचित-अनुचित के मध्य भेद करने के सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है और वही सहयोग को सम्भव बना सकता है। मारसीलियो की दृष्टि में यही नियम प्राकृतिक कानून के रूप में है। कानून की प्रकृति यह है कि उसे लागू किया जाय। जो व्यक्ति हानिकारक कृत्य करें, उन्हें रोकना आवश्यक है, क्योंकि राज्य का आधार सहयोग है और हानिकारक कृत्यों से सहयोग सम्भव नहीं होता। अतः कानून का परिपालन कराने के लिए शासन की आवश्यकता होती है। शासन का उद्देश्य समाज को हानि पहुँचाने वाले तत्त्वों का दमन करना, शान्ति स्थापित करना तथा समाजिक सहयोग की व्यवस्था करना है। सामाजिक सहयोग की स्वस्थता के नियमित शासन को यह सुनिश्चित करना पड़ता है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपना निर्दिष्ट कार्य सम्पन्न करते हुए सम्पूर्ण समाज के कल्याण में भागीदार बने।

राज्य का स्वरूप—अरस्तू की भाँति मारसीलियो भी राज्य को एक प्राकृतिक संगठन एवं सावयव प्राणी के रूप में मानता है। राजनीतिक समाज पूर्णता प्राप्त जन-समुदाय (a perfect community) है। राज्य के निर्माणकारी विभिन्न अंग राज्य के जीवन हेतु योगदान करते हैं। राज्य का स्वास्थ्य शान्ति है, जिसका आशय यह है कि उसके विभिन्न अंग व्यवस्थित ढंग से राज्य के जीवन हेतु अपना कार्य करते रहें। राजा का उद्देश्य 'उतम जीवन' प्रदान करना है। मारसीलियो की दृष्टि में उत्तम जीवन का अभिप्राय इस जीवन में उत्तम जीवन (भौतिक सुख) की प्राप्ति तथा अन्ततः) मोक्ष प्राप्ति (आध्यात्मिक सुख) है। अरस्तू की भाँति मारसीलियो भी राज्य के निर्माणकारी विविध वर्गों का उल्लेख करता है। अरस्तू के राज्य सावयव के अन्तर्गत उन्हें अभिन्न एवं योगदानकारी (essential and contributory) अंग माना गया था। मारसीलियो के अनुसार औद्योगिक वर्ग, कृषक तथा शिल्पी शासन की आवश्यकता के लिए राजस्व तथा भौतिक सामग्री प्रदान करते हैं। सैनिक प्रशासक तथा पुजारी राज्य के आवश्यक निर्माणकारी वर्ग हैं। इन सबके सहयोगपूर्ण तथा सामंजस्यपूर्ण ढंग से अपने-अपने कार्य में रत रहने से ही शान्ति तथा उत्तम जीवन की प्राप्ति होती है। इस प्रकार मारसीलियो की विचारधारा का राज्य भी अरस्तू के राज्य की भाँति एक पूर्णतया आत्म-निर्भर समाज है। उसकी पूर्णता तथा आत्म-निर्भरता पर ही प्रत्येक अंग की पूर्णता तथा आत्म-निर्भरता निर्भर रहती है।

शासन—यद्यपि शासन के सम्बन्ध में भी मारसीलियो अरस्तू के परम्परागत छः अंगी वर्गीकरण को मानता है तथापि वह कई बातों में अरस्तू से भिन्नता रखता है। प्रथम भिन्नता शासन के सामान्य तथा विकृत रूपों के सम्बन्ध में है। मारसीलियो के मत से शासन का उत्तम रूप वह है जिसमें शासक 'सामूहिक हित के लिए जनता की इच्छा के अनुसार' शासन-कार्य सम्पन्न करता है। इसके विपरीत शासन का विकृत रूप वह है जिसमें शासक 'अपने ही हितों का ध्यान रखते हुए जनता की इच्छा की अवहेलना' करता है। दूसरा अन्तर यह है कि मारसीलियो अरस्तू के इस सिद्धान्त को नहीं मानता कि कुछ लोग शासन करने के लिए पैदा होते हैं और कुछ शासित होने के लिए। तीसरा अन्तर यह भी है कि मारसीलियो यह मानता है कि विभिन्न प्रकार की शासन-प्रणालियाँ विभिन्न कालों तथा देशों में अच्छी या बुरी होती

हैं। किसी एक शासन-प्रणाली का सदैव या सर्वत्र अच्छी या बुरी होना आवश्यक नहीं है। मारसीलियो शासन के दो प्रमुख अंग कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका को मानता है। व्यवस्थापिका के सम्बन्ध में वह जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिध्यात्मक सभा का तथा कार्यपालिका के सम्बन्ध में निर्वाचित राजतन्त्र का समर्थन करता है। राजतन्त्र मर्यादित एवं जनता तथा व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। व्यवस्थापिका अपनी शक्तियाँ कार्यपालिका को प्रत्यायोजित कर सकती हैं, परन्तु प्रत्यायोजन सशर्त होना चाहिए और यह किसी भी माने में मर्यादित सरकार के सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं होना चाहिए। जो कार्यपालिका समूचे समुदाय के हित में शासन सम्पन्न करने में सफल नहीं होती उसे पदच्युत कर देने का अधिकार व्यवस्थापिका को प्राप्त होना चाहिए। कार्यपालिका को शासन के सम्बन्ध में एकीकृत (unified) तथा सर्वोच्च होना चाहिए, ताकि वह कानून का प्रशासन करने में एक इकाई के रूप में कार्य कर सके। सैबाइन के अनुसार, 'मारसीलियो की विचारधारा का यह अंग मध्य युग की सरकार में एकता की कमी के सन्दर्भ में है और सम्भवत: उन कठिनाइयों के सन्दर्भ में है, जो उस युग के लौकिक तथा धार्मिक न्यायालयों के अधिकार-क्षेत्र के कारण उत्पन्न हो रही थीं।'[1]

कानून तथा सम्प्रभुता—कानून की परिभाषा करने में मारसीलियो मध्य-युगीन परम्परा से दूर हो जाता है। मध्य युग के विचारक कानून की परिभाषा करने में उसे 'सामूहिक हित के लिए विवेक का आदेश' मानते आये थे। परन्तु मारसीलियो की दृष्टि में कानून विधायक का बल-प्रवर्ती आदेश है जिसका परिपालन न्यायालयों द्वारा कराया जाता है (the coercive command of the legislator enforceable in the courts)। मारसीलियो की इस धारणा के सम्बन्ध में सैबाइन ने कहा कि 'सचमुच में वह (मारसीलियो) यह दर्शाता है कि कानून शब्द विवेक के नियम या आवश्यक रूप से न्याय के अर्थ में प्रयुक्त होता है, परन्तु वह कानून को स्पष्टत: उसके विधिशास्त्रीय अर्थ में मानता है, क्योंकि वह किसी स्थापित सत्ता से उत्पन्न होता है और उसका उल्लंघन करने के लिए दण्ड दिया जाता है।'[2] मारसीलियो कानून को मुख्यतया दो रूपों में वर्गीकृत करता है: (1) दैवी कानून, जोकि प्रत्यक्षत: ईश्वर का आदेश है और मानवों को दूसरे जन्म में सर्वोत्तम उद्देश्य-प्राप्ति हेतु स्वेच्छा से विभिन्न कार्यों को करने या न करने का आदेश देता है, (2) मानवीय कानून जोकि राजनीतिक समाज में कानून-निर्माण करने की शक्ति से युक्त समस्त नागरिकों अथवा उनके एक अंग का आदेश है जो मानवों को इस जन्म में सर्वोत्तम उद्देश्य-प्राप्ति हेतु स्वेच्छा से विविध कार्यों को करने या न करने का आदेश देता है। इन दोनों कानूनों का भेद उनके उल्लंघन करने पर दण्ड की व्यवस्था के आधार पर भी स्पष्ट किया गया है। दैवी कानून की अवज्ञा का दण्ड ईश्वर के द्वारा व्यक्ति को मृत्यु के उपरान्त दिया जायेगा, जबकि मानवीय कानून की अवज्ञा का दण्ड मनुष्य को इसी जन्म में राज्य की निर्दिष्ट सत्ता के द्वारा दिया जाता है। मानवीय कानून के सम्बन्ध में मारसीलियो मध्ययुगीन इस धारणा को अमान्य करता है कि

[1] Sabine, *op. cit.*, 258.

[2] 'He notes, indeed, that the word law is used to mean a rule of reason or of intrinsic justice, but he clearly regards law, at least in its juristic sense, as characterized by its emanating from a constituted authority and carrying a penalty for its violation.' —*Ibid.*, 257.

मानवीय कानून का स्रोत प्राकृतिक कानून या दैवी कानून है। मारसीलियो की दृष्टि से कानून का निर्माण मानव विवेक से होता है, उसे निर्धारित सत्ता लागू करती है, उसकी अनुशास्ति बल-प्रवर्ती शक्ति है और उद्देश्य सामूहित हित है।

यदि राजनीतिक समाज में कानून निर्माण करने वाली सत्ता (विधायक) को सम्प्रभु माना जाता है, तो स्पष्टतया मारसीलियो लोक-सम्प्रभुता के सिद्धान्त को मानता है। उसके मत से विधायक सम्पूर्ण नागरिक समाज या उसका एक निवर्तमान अंग (prevailing part or *valentior pass*) होता है। निवर्तमान अंग से मारसीलियो का अभिप्राय संख्यात्मक बहुमत मात्र नहीं है, अपितु वह गुण तथा संख्या दोनों का सूचक है। उसकी धारणा में 'हर व्यक्ति एक मत' का लोकतन्त्री सिद्धान्त निहित नहीं है। सम्भवतः वह जनसाधारण की अपेक्षा अभिजात्य वर्ग को वरीयता देने का समर्थन करता है, परन्तु वह किसी वर्ग विशेष को ऐसा विशेषाधिकार देने का समर्थक नहीं है। उसका तर्क है कि किसी प्रस्तावित कानून की दुर्बलताओं का परीक्षण समाज के एक अग की अपेक्षा विशाल जनसमूह अच्छी तरह से कर सकता है। उपयोगिता की दृष्टि से भी यह बात सही है कि समस्त जनसमूह द्वारा निर्णीत कानून अधिक उपयोगी होगा, क्योंकि कोई व्यक्ति स्वयं अपने को हानि पहुँचाना पसन्द नहीं कर सकता। थोड़े से व्यक्तियों द्वारा निर्मित कानून में जनहित की अपेक्षा उन्हीं थोड़े से व्यक्तियों के हित की धारणा होनी अधिक स्वाभाविक है। साथ ही जनता की सलाह से निर्मित कानून के परिपालन कराने में भी कठिनाई आने की सम्भावना नहीं रह सकती, क्योंकि आम जनता अपने द्वारा निर्मित कानून का पालन करने के लिए स्वयं प्रेरक शक्ति का कार्य करेगी। इस सम्बन्ध में मारसीलियो अरस्तू के इस सिद्धान्त को मानता है कि 'रसोइये की अपेक्षा मेहमान भोजन के गुणात्मक स्वरूप का उत्तमतर निर्णायक होता है।' मारसीलियो के लोक प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का समर्थक होने का दूसरा तर्क यह भी है कि वह विधायक (जनसमूह) को कार्यपालिका का निर्वाचन करने तथा उसके ऊपर नियन्त्रण रखकर कानून विरुद्ध आचरण करने की स्थिति में उसे सही मार्ग पर लाने, दण्डित करने या पदच्युत करने की शक्ति प्रदान करना चाहता है।

राज्य तथा चर्च—'डिफेंसर पैसिस' का दूसरा भाग, जिसमें मारसीलियो ने राज्य तथा चर्च के मध्य सम्बन्धों का विवेचन किया है, उसकी विचारधारा का प्रमुख अंग है। वह राज्य की उत्तमता की कसौटी 'शान्ति' मानता है। अरस्तू ने क्रान्ति के जिन कारणों का विवेचन किया है, उनके सम्बन्ध में मारसीलियो का मत है कि अरस्तू की विचारधारा में क्रान्ति के एक प्रमुख कारण का उल्लेख नहीं हो पाया था। इसका आभास तो स्वयं मारसीलियो को मध्यकालीन यूरोप की राजनीतिक परिस्थिति में हो पाया है। यह था 'चर्च तथा पोप का अभ्युदय'। अतः मारसीलियो अपने युग में इनके अस्तित्व तथा गतिविधियों को राजनीतिक अशान्ति का सबसे महान् कारण मानते हुए उनके ऊपर भीषण आक्रमण करता है। चर्च के विरुद्ध आक्रमण के तर्क इस प्रकार हैं—(1) बल-प्रवर्ती अधिकार-क्षेत्र के सम्बन्ध में चर्च का कोई औचित्यपूर्ण या तर्क-सम्मत दावा नहीं हो सकता, (2) चर्च अधिकारियों का यह दावा नहीं हो सकता कि वे लौकिक-सत्ता से स्वतन्त्र हैं या मुक्त हैं, (3) पोप या चर्च अधिकारियों को चर्च की ओर से कुछ बोलने या शासन करने का कोई अधिकार नहीं है। (4) चर्च अधिकारियों को सम्पत्ति रखने का कोई न्यायोचित अधिकार

नहीं है।[1] मारसीलियो ने चर्च अधिकारियों (clergy) के इस दावे का विरोध किया है कि चर्च से सम्बन्धित विषयों में एकमात्र उनका अधिकार है। उसके मत से प्रत्येक ईसाई तथा ईसा पर विश्वास रखने वाला व्यक्ति चर्च का सदस्य है। अतः चर्च से सम्बन्धित विषयों में ऐसे सब व्यक्तियों का समान अधिकार है। चर्च अधिकारी अन्य ईसाइयों की अपेक्षा अपने को ही आध्यात्मिक नहीं मान सकते। वे स्वयं अन्य व्यक्तियों की भाँति शारीरिक दृष्टि से, कर्मों से तथा भौतिक सम्पत्ति रखने की दृष्टि से भी सांसारिक व्यक्ति हैं। जहाँ तक सम्पत्ति का प्रश्न है, चर्च तथा चर्च-अधिकारियों द्वारा अर्जित सम्पत्ति का स्वामित्व एक कानूनी अधिकार है जिसकी सृष्टि लौकिक-सत्ता द्वारा की जाती है। ईसाई धर्म-शिक्षा के अन्तर्गत श्रेष्ठ जीवन हेतु भौतिक सम्पत्ति रखना निन्दनीय है, अतः चर्च अधिकारियों को अपनी सारी सम्पत्ति दीनों को बाँट देनी चाहिए थी। चर्च सम्पत्ति सम्पूर्ण ईसाई समाज की सम्पत्ति है, अतः उसका नियमन लौकिक सत्ता द्वारा किया जाना चाहिए। चर्च के अधिकारियों को नियुक्त करना लौकिक सत्ता का अधिकार है। वही सत्ता यह निर्धारित करने का अधिकार रखती है कि चर्च अधिकारी कब और कहाँ अपनी शक्ति का प्रयोग करेंगे। आध्यात्मिक मामलों में चर्च की सत्ता अवश्य मान्य की जानी चाहिए। उसी को धर्म तथा विश्वास की व्याख्या करने तथा नास्तिकता की परिभाषा करने का अधिकार है। परन्तु धार्मिक अविश्वासता के सम्बन्ध में दण्ड देने का अधिकार चर्च को नहीं है। यह लौकिक सत्ता का विषय है। यदि ऐसे अपराधी का दण्ड इस जन्म में दिया जाना आवश्यक है तो लौकिक सत्ता इस अधिकार का प्रयोग करेगी। अन्यथा ऐसे अपराधों का दण्ड दूसरे जन्म में स्वयं ईश्वर के द्वारा दिया जायेगा। अधिक से अधिक ऐसे अपराधों के लिए अपराधी को धर्म-बहिष्कृत करना चर्च का अधिकार हो सकता है। परन्तु चर्च की इस सत्ता का स्रोत समस्त ईसाई समाज है। चर्च की ओर से एकमात्र पोप को इस सम्बन्ध में निर्णय देने का कोई अधिकार नहीं है। पोप चर्च-संगठन का नामधारी, औपचारिक तथा प्रतीकात्मक प्रधान है।

पोप तथा चर्च की स्थिति के सम्बन्ध में भी मारसीलियो लोक-प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को लागू करता है। उसके विचार से आध्यात्मिक मामलों में विधायिका शक्ति सम्पूर्ण समाज की है। चूँकि सम्पूर्ण ईसाई समाज एक साथ बैठकर यह कार्य नहीं कर सकता, अतः वह एक निर्वाचित निकाय द्वारा अपनी इस शक्ति का प्रयोग करता है। इसमें चर्च अधिकारी (clergy) तथा जनसाधारण (laity) दोनों होने चाहिए। यही सामान्य परिषद् धर्म के सिद्धान्तों तथा अविश्वासिता को घोषित करने और धर्म-बहिष्कृत करने के मामलों में निर्णय लेगी। इसे पोप को निर्वाचित करने तथा पदच्युत करने के अधिकार भी प्राप्त होने चाहिए। पोप को इस परिषद् को आहूत करने का अधिकार नहीं है। वह इसकी बैठकों की अध्यक्षता कर सकता है, परन्तु इस क्षमता में उसकी कोई विशिष्ट शक्तियाँ नहीं हो सकतीं। चर्च परिषद् को आहूत करने का अधिकार लौकिक-सत्ता को प्राप्त होना चाहिए। लौकिक-सत्ता ही इस परिषद् के निर्वाचन की व्यवस्था कर सकती है। अधिक से अधिक पोप राजा को परिषद् की बैठक बुलाने की सलाह दे सकता है, जिसे मानना राजा के लिए सदैव आवश्यक नहीं है। धार्मिक मामलों में पोप को स्वविवेक से किसी प्रकार

[1] Hearnshaw, *op. cit.*, 184–85.

की आज्ञप्तियाँ जारी करने का अधिकार नहीं है। ऐसे मामलों में धर्मशास्त्र (New Testament) अथवा बाइबिल ही एकमात्र प्रामाणिक स्रोत है न कि पोप या चर्च अधिकारियों द्वारा दिये गये कोई आदेश।

चर्चसत्ता की अपेक्षा राजसत्ता की श्रेष्ठता (Erastiarism)—मध्ययुग के समस्त विचारकों में मारसीलियो सबसे पहला विचारक है जो प्रभावशाली रूप से तथा पूर्ण साहस से न केवल चर्च की सत्ता को पूर्णतया लौकिक-सत्ता के अधीन मानने के तर्क देता है, अपितु यह दृष्टिकोण भी प्रस्तुत करता है कि चर्च संगठन एवं चर्च की सत्ता पूर्णरूपेण लौकिक एवं मानवीय प्रकृति की है। लौकिक-सत्ता को चर्च संगठन के पूर्ण नियमन का अधिकार होना चाहिए। पोप तथा चर्च अधिकारियों की सत्ता का स्रोत दैवी नहीं है, बल्कि धर्म में विश्वास रखने वाले समस्त जन-समूह की इच्छा है। चर्च या चर्च अधिकारी उस इच्छा के अभिकर्त्ता मात्र हैं। यदि वे धार्मिक नियमों, जोकि शास्त्रों में दिये गए हैं, का उल्लंघन करते हैं तो उन्हें दण्डित करना भी राजसत्ता का अधिकार है। इन लोगों को कोई भी विशेष शक्ति प्रदान करना समाज की अशान्ति का सूचक है। मारसीलियो ने पोप के इस दावे को निर्मूल तथा भ्रामक बताया कि उसने पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना की, अथवा उसे किसी भी रूप में लौकिक-सत्ता के ऊपर हस्तक्षेप करने का अधिकार है। वह पोप को अन्य चर्चों के बिशपों से किसी माने में उच्चतर नहीं मानता।

महत्त्व—यद्यपि मारसीलियो के ग्रन्थों 'डिफेंसर पैसिस' तथा 'डिफेंसर माइनर' में अनेक कमियों का उल्लेख आलोचकों ने किया है, और विशेष रूप से विचारों की अस्पष्टता असंगतियों तथा शब्द रचना की कमियों के सम्बन्ध में आलोचकों ने विचार व्यक्त किये हैं, तथापि मध्ययुग के राजनीतिक चिन्तन में मारसीलियो की विचार-धाराओं का विशेष महत्त्व है। वह अरस्तू सदृश दार्शनिक की तुलना में नहीं ठहर सकता, किन्तु धर्मसत्ता तथा राजसत्ता के मध्य संघर्ष के युग में विशुद्धतया धर्म-निरपेक्ष राजनीतिक चिन्तन करने में उसने अरस्तू की परम्परा को अपनाकर अपने को मध्ययुग का अरस्तू सिद्ध करने का प्रयास किया है। टॉमस ऐक्विना का अरस्तूवाद उसके धर्मसत्ता की श्रेष्ठता का समर्थन करने के कारण मारसीलियो की तुलना में निर्बल सिद्ध होता है, और उसमें मध्ययुगीन सार्वभौमिकतावाद के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। परन्तु मारसीलियो का अरस्तूवाद यद्यपि नगर-राज्यों का राजनीतिक चिन्तन नहीं है, तथापि वह मध्ययुगीन सार्वभौम विश्व-राज्य का दर्शन होने से भी बहुत दूर है। वास्तव में मारसीलियो के युग में ही राष्ट्रीय राज्यों के उत्थान की भूमिका प्रस्तुत होने लग गयी थी और मारसीलियो की राज्य-विषयक धारणाएँ ऐसे राज्यों की सम्प्रभुता के सिद्धान्त को अपनाती हैं। उसका राज्य न रोमन साम्राज्य है, न पवित्र रोमन साम्राज्य और न दान्ते का सार्वभौम विश्व साम्राज्य, अपितु वह ग्रीक नगर-राज्यों के रूप का बृहत्तर आत्मनिर्भर राष्ट्रीय राज्य है। इस प्रकार जैसा बार्कर ने कहा है, 'मारसीलियो की विचारधारा में हम पुनः राज्य के प्रत्यावर्तन का आभास करते हैं।'[1]

सम्राट लुडविग को अपनी रचना प्रस्तुत करने के उपरान्त मारसीलियो का राजनीतिक जीवन प्रारम्भ हुआ था। वह आजन्म राज्य का एक उच्च पदाधिकारी

[1] 'In the theory of Marsiglio we may trace the return of the State.' —*Ibid.*, 31.

बना रहा और उसने अपने विचारों को साकार करने का प्रयास भी किया, विशेष रूप से चर्च के सम्बन्ध में। मारसीलियो धर्म-विरोधी नहीं है। उसका एकमात्र उद्देश्य धर्मसत्ता को लौकिक-सत्ता के क्षेत्र में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप करने से रोकना था। वह चर्च के कार्य-क्षेत्र को विशुद्ध रूप से धर्म सम्बन्धी मामलों तक ही सीमित करना चाहता था। लौकिक मामलों में वह चर्च को पूर्णतया राजसत्ता के अधीन रखना चाहता था। इस दृष्टि से न तो वह स्वयं ही मध्ययुगीन पोप समर्थकों का विरोधी सिद्ध हुआ, अपितु उसने मैकियाविली के धर्म-रहित राष्ट्रीयतावाद को भी प्रभावित किया। जहाँ तक चर्च तथा राज्य संगठन के सम्बन्ध में मारसीलियो के विचारों का सम्बन्ध है, वह स्पष्टतया लोकतन्त्रवादी तथा मर्यादित राजतन्त्र का समर्थक है। यद्यपि वह ऐसी व्यवस्था के विवरणात्मक स्वरूप को प्रस्तुत नहीं कर पाया, परन्तु सिद्धान्ततः उसने मर्यादित लोकतन्त्री राजतन्त्र व्यवस्था की धारणा व्यक्त की थी। मैकइलवेन के अनुसार, 'मारसीलियो सबसे पहला लेखक था जिसके मस्तिष्क में आधुनिक मर्यादित राजतन्त्र का सामान्य रूप था, वह शासक के जनता के प्रति उत्तरदायित्व की धारणा को व्यक्त करने वाला सबसे पहला लोकतन्त्रवादी था। लोकप्रभुसत्ता की धारणा का विकास मारसीलियो के विचारों में ही आरम्भ हुआ है।'

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में मारसीलियो का महत्त्व इसलिए बढ़ जाता है, कि एक मध्ययुग का चिन्तक होते हुए भी उसने राजनीतिक चिन्तन को मध्ययुगीन प्रवृत्तियों की बेड़ियों को मुक्त करने का साहसपूर्ण प्रयास किया। उसकी मानवीय कानून की धारणा विध्यात्मक कानून की महत्ता को प्रदर्शित करती है। वह सबसे पहला चिन्तक था जिसने राजनीतिक समाज में मानव निर्मित कानून की यथार्थता को दर्शाया और यह बताया कि कानून का प्रमुख लक्षण उसका मानव निर्मित होना तथा उसके लागू करने के लिए उसके पीछे बल-प्रवर्ती शक्ति का होना है। कानून विधायक का आदेश है और विधायक चाहे जनसमूह हो या उसकी प्रतिनिधि सभा या शासक, वे सब मानव हैं। दैवी विवेक या भावात्मक अर्थ में मानव विवेक का आदेश कानून नहीं हो सकता। मारसीलियो की इन धारणाओं ने मैकियाविली, बोदां, हॉब्स, बेंथम, ऑस्टिन आदि की सम्प्रभुता सम्बन्धी विचारधारा के विकास को सहायता दी, और कानून की धारणा को प्राकृतिक कानून, विवेक, दैवी आदेश आदि की भावनामूलक धारणा से मुक्त किया। उसकी लोक प्रभुसत्ता की धारणा को 18वीं सदी में रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त के अन्तर्गत पाया जाता है। वर्तमान समय के लोकतन्त्रों में जो लोक-प्रभुसत्ता की धारणा विद्यमान है, उसके अन्तर्गत भी व्यवस्थापिकाएँ जनता के प्रतिनिधि के रूप में जनता के नाम पर ही विधायिनी शक्ति का प्रयोग करती हैं। इस दृष्टि से मारसीलियो को मध्ययुग से आधुनिक युग में संक्रमण करने वाला एक मौलिक चिन्तक होने की स्थिति प्राप्त होती है।

मारसीलियो की धारणा का विधायक (जनता या उसका निवर्तमान अंग) शासन के विधायी अंग का तथा राजा या शासक अधिशासनिक या कार्यपालिका अंग का द्योतक है। जब वह शासक को जनता के प्रति उत्तरदायी मानता है, तो इसका यह निष्कर्ष निकलता है कि वह विधायी तथा कार्यपालिका के मध्य शक्ति-पृथक्करण की धारणा प्रतिपादन भी करता है। इस दृष्टि से बाद के शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त के प्रतिपादकों के ऊपर उसके प्रभाव को अमान्य नहीं किया जा सकता। मध्य युग में

राजसत्ता तथा धर्मसत्ता के मध्य जो संघर्ष चला हुआ था, उसके सम्बन्ध में मारसीलियो ने चर्च की सत्ता की अपेक्षा राज्य की सत्ता की श्रेष्ठता को विवेकसंगत तर्कों के द्वारा प्रस्तुत किया और विवेक तथा विश्वास के मध्य अन्तर स्पष्ट करके चर्च की श्रेष्ठता के समर्थकों को करारी पराजय दी। मध्य युग में वह पहला चिन्तक था जिसने विवेकपूर्ण तर्कों के द्वारा लौकिक मामलों में चर्च को पूर्णतया राज्य की आधीनता में रखने, चर्च अधिकारियों के हाथ से लौकिक शक्तियों को पूर्णतया हटा देने, उन्हें बल-प्रवर्ती शक्ति से पूर्णतया पृथक् रखने और चर्च को राज्य का एक विभाग मात्र बना देने की धारणाएँ रखीं। उसकी मर्यादित राजतन्त्र एवं लोक-प्रभुसत्ता की राजनीतिक धारणाएँ तथा चर्च में पोप की सर्वोच्चता का विरोध करके उस लौकिक मामलों में राज्य की आधीनता में रखने की धारणा ने भविष्य के कनसीलियर आन्दोलन तथा उसके विचारों के विकास को प्रभावित किया। ईबनस्टीन ने कहा है कि 'चर्च के विश्लेषण से सम्बद्ध उसके क्रान्तिकारी विचारों ने प्रोटेस्टेंटवाद पर यह छाप छोड़ी कि चर्च की सर्वोच्च सत्ता सम्पूर्ण चर्च समाज में निहित है।'[1] इस प्रकार उसने बाद के प्रोटेस्टेंट धर्म सुधार आन्दोलन के विचारों को भी प्रभावित किया। भले ही तत्कालीन युग की परिस्थितियों के सन्दर्भ में मारसीलियो के कुछ विचारों में असंगतियाँ तथा विरोधाभास रह गये हों, तथापि समग्र रूप में मारसीलियो का दर्शन पर्याप्त संगतिपूर्ण एवं भविष्य के राजनीतिक विचारों के विकास के लिए बहुत प्रभावशाली सिद्ध हुआ।

कनसीलियर आन्दोलन पर प्रभाव—पोप की सत्ता का विरोध करने तथा चर्च की सत्ता को सामान्य परिषद् के प्रभुत्व में रखने की मारसीलियो की धारणाओं का भविष्य के राजनीतिक विचारों पर व्यापक प्रभाव पड़ा। मध्य युग के अन्तिम वर्षों में यूरोप के बुद्धिजीवी वर्गों ने विशेष रूप से विश्वविद्यालयों के प्रोफेसरों ने जो कनसीलियर आन्दोलन चलाया उसमें मारसीलियो की विचारधाराओं का प्रभाव स्पष्ट है। यह तो स्पष्टतया नहीं कहा जा सकता कि स्वयं मारसीलियो के मस्तिष्क में चर्च संगठन के सुधार की कोई योजना थी। यह विचार तो उसकी एक शताब्दी के पश्चात् विभिन्न परिषदों, सम्मेलनों तथा विचारकों के द्वारा व्यक्त किए गए थे, परन्तु इतना स्पष्ट है कि कनसीलियर आन्दोलन की अवधि में पोप की सत्ता को मर्यादित करने तथा चर्च की सत्ता को सामान्य चर्च परिषद् के नियन्त्रण में रखने के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये गये थे, उन पर मारसीलियो की विचारधारा की छाप स्पष्ट है। मारसीलियो के विचारों का तत्काल प्रभाव ओखम के विलियम (William of Ockam) पर पड़ा और उसने चर्च सुधार के सम्बन्ध में कनसीलियर सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस प्रकार जैसा सैबाइन ने कहा है, 'मध्य युग में मारसीलियो के अतिरिक्त अन्य कोई विचारक कानूनी सत्ता से आध्यात्मिक तथा धार्मिक सत्ता को पृथक् रखने में इतना अधिक आगे नहीं बढ़ पाया था।'[2] परन्तु मारसीलियो का राजनीतिक दर्शन मध्ययुगीन परम्परा से निवृत्त नहीं है। उसका राज्य एक पृथक् धर्म-निरपेक्ष राज्य नहीं है जो कि धार्मिक विश्वासिता से भिन्न हो

[1] 'His most revolutionary doctrine in his analysis of Church and one that was to leave its mark on protestantism is the idea of congregational authority in the Church.' —Ebenstein.

[2] 'No other writer in the Middle Ages went so far as Marsiglio in thus setting apart the spiritual and religious from the legal.' —Sabine, *op. cit.*, 259.

और इसी भाँति चर्च भी बल-प्रवर्ती शक्ति से मुक्त एक पृथक् स्वतन्त्र संगठन नहीं है। चर्च के सम्बन्ध में भी मारसीलियो की धारणा यह स्पष्ट नहीं करती कि वह राष्ट्रीय चर्चों की स्थापना का समर्थक था। यदि सार्वभौम चर्च संगठन आवश्यक है तो उसका संगठन तथा नियमन नगर या राष्ट्रीय राज्यों के लौकिक शासक कैसे कर सकेंगे ?[1]

अन्त में, मारसीलियो के विचार चाहे कितने भी अस्पष्ट, अपूर्ण, असंगत तथा अन्तर्विरोध से युक्त क्यों न हों, परन्तु उन्होंने 16वीं शताब्दी के प्रोटेस्टेंट सुधार आन्दोलन के विचारकों के लिए भी पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की। राजा के दैवी अधिकारों के सिद्धान्त को मानने वाले विचारकों, प्रजातन्त्र के समर्थकों तथा यहाँ तक कि हॉब्स तथा रूसो तक में मारसीलियो का प्रभाव स्पष्ट है। भले ही वह 18वीं शताब्दी के बुद्धिवाद के युग के विचारकों के समान अपनी धारणाएँ प्रस्तुत नहीं कर पाया तथापि फ्रांसीसी क्रान्ति एवं रूसो की सामान्य इच्छा की विचारधारा पर मारसीलियो के प्रभाव को अमान्य नहीं किया जा सकता।

ओखम का विलियम (1280–1347)

ओखम का विलियम (William of Ockam) एक अंग्रेज था, वह मारसीलियो का समकालीन तथा पेरिस के विश्वविद्यालय में उसका साथी था। विलियम के विचारों में इंग्लैण्ड तथा फ्रांस का प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है न कि इटली के विचारकों (दान्ते या मारसीलियो) का। परन्तु तत्कालीन राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में विलियम के विचार बहुते कुछ दृष्टियों से मारसीलियो के विचारों का अनुगमन करते हैं। मारसीलियो एक राजनीतिक दार्शनिक है और वह अरस्तू की परम्परा को अपनाकर राजनीतिक चिन्तन करता है, परन्तु विलियम का उद्देश्य राजनीतिक दर्शन का प्रतिपादन करना उतना नहीं था जितना कि तर्क तथा धर्म-शास्त्र (dialectics and theology) का। इसलिए राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में वह मारसीलियो की अपेक्षा कम सैद्धान्तिक है। सत्ता-संघर्ष के सम्बन्ध में विलियम धर्मसत्ता या राजसत्ता में से किसी एक की श्रेष्ठता का अन्ध-समर्थन नहीं करता। वह लौकिक तथा आध्यात्मिक दोनों सत्ताओं के पक्ष को प्रस्तुत करता है, जैसा कि किसी एक विद्विज्जन से अपेक्षित है और अपने सुझाव देता है। चर्च के सम्बन्ध में विलियम की विचारधारा पोप की निरंकुश सत्ता की विरोधी है। वह मानव के कल्याण के लिए धर्मसत्ता तथा राजसत्ता दोनों के अस्तित्व को आवश्यक मानते हुए बताता है कि अपने-अपने क्षेत्र में दोनों सत्ताओं को महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित करने हैं। इस प्रकार जैसा गैटल ने कहा है, 'विलियम की विचारधाराएँ मध्ययुगीन चिन्तन के व्यस्थित क्रम तथा विधि को बनाये रखती हैं।'[2]

विलियम का विश्वास था कि कोई भी मानवीय सत्ता निरपेक्ष तथा अन्तिम नहीं हो सकती। वह चाहे सम्राट की सत्ता हो, चाहे पोप की, दोनों को प्राकृतिक कानून के अधीन रहना चाहिए। सैबाइन के अनुसार, 'विलियम की विचारधाराओं का उद्देश्य शासकों के विरुद्ध प्रजाजनों के अधिकारों का संरक्षण, धार्मिक मामलों

[1] *Ibid.*, 260.

[2] 'Ockam's writings, growing out of his active resistance to the pope, maintain, more than those of Marsiglio, the orderly sequence and method of medieval thought.' —Gettell, *op. cit.*, 122.

में पोप की सम्प्रभु-सत्ता को मर्यादित करना तथा अल्पसंख्यकों को बल-प्रयोग के विरुद्ध प्रतिरोध करने के अधिकार का संरक्षण करना था।[1] वह न तो दान्ते की भाँति सार्वभौम विश्व साम्राज्य का समर्थन करता है, न ऐक्विना की भाँति सार्वभौम चर्च राज्य का। वह मध्ययुगीन सार्वभौमिकतावाद की धारणा से विलग होकर विभिन्न सम्प्रभु राजनीतिक समाजों तथा चर्चों के अस्तित्व को उपयुक्त समझता है। इस दृष्टि से विलियम का दर्शन अन्य मध्ययुगीन विचारकों से भिन्न प्रकृति का है।

टॉमस ऐक्विना ने विवेक, विश्वास, विज्ञान, दर्शन एवं धर्म के मध्य संश्लेषण स्थापित किया था। विलियम विवेक तथा विश्वास दोनों को मुक्ति प्रदान करने का लक्ष्य रखता है। उसका विचार था कि धर्म का सम्बन्ध पारलौकिक (Supernatural) वस्तुओं से है जो विश्वास पर आधारित हैं, परन्तु दर्शन उन धर्मतन्त्रात्मक सत्यों पर आधारित है जो पूर्णतया विवेक के अधीन हैं। विलियम मध्ययुग के मारसीलियो सदृश उन अरस्तूवादियों की भाँति नहीं है जो प्रकृतिवाद से प्रभावित हैं, प्रत्युत् वह धार्मिक कट्टरपंथी है। वह विवेक तथा इच्छा के मध्य भी भेद करता है। उसके विचार से मनुष्य तथा ईश्वर में इच्छा भी ऐसी शक्ति है जो विवेक से कर्त्तव्य की प्रेरणा नहीं देती। अतः भलाई तथा बुराई भी ईश्वर की इच्छा पर निर्भर है। विलियम की राजनीतिक विचारधाराएँ निम्नांकित बातों का विवेचन करती हैं :

(1) **धर्मसत्ता तथा राजसत्ता के मध्य सम्बन्ध**—विलियम का विरोध चर्च या धर्मसत्ता के विरुद्ध कदापि नहीं था। वह धर्मसत्ता को अपने निर्दिष्ट क्षेत्र में राजसत्ता की भाँति ही आवश्यक मानता है। उसका विरोध केवल पोप की सत्ता से था। वह समूचे ईसाई समाज को पोप की बढ़ती हुई निरंकुश शक्ति से मुक्त करना चाहता था। वह पोप की निरंकुशता को कुफ्र (heresy) कुफ्र की संज्ञा प्रदान करता है। उसका कहना था कि 'यह दृष्टिकोण सर्वमान्य है।' वह आध्यात्मिक तथा लौकिक दोनों सत्ताओं की स्वतन्त्रता हेतु प्रत्येक को एक-दूसरे के ऊपर अंकुश लगाये रखने के लिए पर्याप्त शक्तियाँ प्रदान करना चाहता है। उसके विचार से दोनों सत्ताओं के मध्य पारस्परिक समर्थन तथा सहयोग की भावना बनी रहनी चाहिए। दोनों सत्ताओं के अधिकार-क्षेत्र के सम्बन्ध में वह विधिशास्त्रीय दृष्टिकोण न अपनाकर धार्मिक दृष्टिकोण अपनाता है।

(2) **कानून**—विलियम को अपने युग में यह अनुभव हुआ कि चर्च में पोप तथा राज्य में राजा दोनों निरंकुश होते जा रहे हैं। पोप जो अपने को 'ईश्वर के सेवकों का सेवक' कहता है एक अत्याचारी धर्म शासक हो चुका है। वह धर्मशास्त्रों के विरुद्ध आदेश देता है और लौकिक-सत्ता के शाश्वत अधिकारों का अतिक्रमण करता है। इसके विपरीत जो राजा कानून की मर्यादा भंग करके स्वेच्छाचारी शासन करता है उसका शासन खुली डकैती से कम नहीं कहा जा सकता। अतः विलियम विधि के शासन को सर्वोच्चता प्रदान करता है। कानून या विधि के सम्बन्ध में वह मध्ययुगीन टॉमस ऐक्विना की परम्परा को मानता है। वह कानून को दैवी विवेक तथा प्राकृतिक विवेक की उपज मानने के साथ-साथ उसका आधार न्याय्यता (equity), सभ्य राष्ट्रों की परम्पराओं, विशिष्ट जन-समुदायों के विध्यात्मक

[1] 'His question, therefore, was essentially the rights of subjects against their rulers, the limitation of sovereign papal authority in matters of faith and the right of a minority to resist coercion.'—Sabine, *op. cit.*, 264.

कानूनों तथा विशिष्ट परम्पराओं को मानता है। इन सिद्धान्तों का अनुगमन करने वाली एकमात्र प्रणाली कानून कहलाती है, जो लोचपूर्ण होनी चाहिए ताकि उसमें नई परिस्थितियों के आधार पर विवेक तथा न्याय की भावनाओं का समावेश किया जा सके। कानून का उद्देश्य सामूहिक हित, प्राकृतिक न्याय तथा नैतिकता की उपलब्धि कराना होता है। किसी भी सत्ता का औचित्य तभी है जबकि वह कानून के आधार पर उक्त उद्देश्यों की उपलब्धि कराने में प्रयत्नशील रहे। जन-परम्पराएँ या शासकों के आदेश उसी हद तक कानून की श्रेणी प्राप्त कर सकते हैं जहाँ तक वे प्राकृतिक विवेक तथा दैवी विवेक से असंगति न रखते हों। इसके अतिरिक्त ओखम लौकिक शासकों की सत्ता पर अन्य राष्ट्रों के कानूनों की मर्यादा भी लगाता है। उसकी यह धारणा भविष्य में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में अपनायी गयी।

(3) **राजसत्ता**—राजसत्ता के सम्बन्ध में विलियम का विश्वास था कि सम्राट को सत्ता पोप से प्राप्त नहीं हुई है। वह यह नहीं मानता कि राजा का राज्याभिषेक या उसकी नियुक्ति पर पोप की स्वीकृति कोई कानूनी अनुशास्ति है जो यह प्रमाणित कर सके कि राजा को सत्ता पोप से प्राप्त हुई है। विलियम निर्वाचित राजतन्त्र का समर्थक है। अतः वह राजा की सत्ता का स्रोत उस निर्वाचक मण्डल को मानता है जो जनता का प्रतिनिधित्व करता है। इस दृष्टि से राजसत्ता के सम्बन्ध में ओखम लोक-प्रभुसत्ता की धारणा का समर्थन करता है। लोक प्रभुसत्ता की अभिव्यक्ति जनता के निगमात्मक निकायों द्वारा की जाती है न कि प्रत्यक्षतः जनता के द्वारा। यद्यपि सामान्यतया विलियम राजसत्ता तथा धर्मसत्ता के मध्य सहयोग तथा सद्भावना बनाये रखने की बात का समर्थक है, तथापि पोप पद के विरुद्ध उसकी घृणा होने के कारण वह राजा को यह अधिकार भी प्रदान करना चाहता है कि आवश्यक परिस्थितियों में वह चर्च-सुधार के मामलों में हस्तक्षेप करे। विलियम के काल में इटली, फ्रांस, जर्मनी तथा इंग्लैण्ड में राष्ट्रीय राज्य विकसित होने लग गये थे। परन्तु वह इनके मध्य पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में कुछ नहीं कहता। दान्ते तथा मारसीलियो के विपरीत ओखम में राष्ट्रवादी भावनाओं का अभाव है। अतः जैसा सैबाइन ने कहा है, 'इस सम्बन्ध में विलियम निश्चय ही प्राचीन मध्ययुगीन परम्परा का अनुगमन करता है।'

(4) **चर्च का कनसीलियर सिद्धान्त**—विलियम ने चर्च में पोपशाही को पूर्ण अत्याचारीतन्त्र का द्योतक मानते हुए पोप का घोर विरोध ही नहीं किया बल्कि उसने मारसीलियो के चर्च के सम्बन्ध में सामान्य चर्च परिषद् की प्रभुसत्ता के सिद्धान्तों को और अधिक विवरणात्मक ढंग से प्रस्तुत किया। वह पोप को नास्तिक (heretic) कहता था। उसके विचार से धार्मिक मामलों में अन्तिम निर्णय लेने का पोप को कोई अधिकार नहीं है। ऐसा अधिकार चर्च की किसी शाश्वत संस्था को प्राप्त होना चाहिए। यद्यपि दैवी ज्ञान के मूल-स्रोत धर्मशास्त्र हैं, तथापि धार्मिक सत्य की खोज तथा अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में किसी के ऊपर प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए। इसलिए चर्च में पोप की तानाशाही का निराकरण करने के लिए समस्त ईसाई नागरिकों के प्रतिनिधियों की एक सामान्य परिषद् होनी चाहिए जो चर्च का शासन करने वाली एक वैधानिक संस्था हो। जब तक ऐसी संस्था पोप की शक्ति को मर्यादित करने के लिए नहीं हो जाती, तब तक पोप तथा ईसाई समाज के मध्य शान्ति स्थापित नहीं हो सकती।

चर्च परिषद् का संगठन—चर्च के शासन हेतु जिस सामान्य परिषद् का प्रस्ताव विलियम ने रखा था, उसके निर्माण हेतु वह एक विशद योजना प्रस्तुत करता है। उसके मत से सामान्य परिषद् में चर्च अधिकारी (clergy) तथा जनसाधारण (layman) दोनों प्रकार के व्यक्ति होने चाहिए। महिलाएँ भी उसकी सदस्यता हो सकती हैं। परन्तु परिषद् के निर्वाचन के सम्बन्ध में विलियम प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों की व्यवस्था न बताकर सदस्यों का प्रतिनिध्यात्मक आधार निगमात्मक बताता है। इसका अभिप्राय: यह है कि चर्च परिषद् के सदस्य विभिन्न निगमों, मठों, ग्रामों (corporations, monasteries and parishes) आदि के प्रतिनिधि हों न कि ईसाइयों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुने हुए प्रतिनिधि। यह एक प्रकार की अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली का रूप है। धार्मिक निगमों द्वारा प्रान्तीय समूह (provincial synod) के लिए प्रतिनिधि छाँटें जायें और प्रान्तीय समूह सामान्य परिषद् के प्रतिनिधियों को छाँटें। निर्वाचन की यह एक अस्पष्ट रूपरेखा विलियम ने चर्च तथा राज्य दोनों के सम्बन्ध में प्रस्तुत की है।

प्रभाव—विलियम का कनसीलियर सिद्धान्त बहुत अधिक स्पष्ट नहीं है। वह चर्च शासन के सम्बन्ध में केवल पोप की सत्ता को मर्यादित करने के उद्देश्य से चर्च परिषद् की व्यवस्था की रूपरेखा प्रस्तुत करता है। मारसीलियो ने भी चर्च परिषद् के बारे में लिखा था। परन्तु कठिनाई यह थी कि मारसीलियो की विचारधाराएँ अपने युग की परिस्थितियों से काफी आगे बढ़ गयी थीं, अत: उनका तुरन्त इतना अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। इसके विपरीत विलियम अधिक उदारता के साथ अपने युग की परिस्थितियों के साथ-साथ बढ़ा। चौदहवीं शताब्दी में सम्भवत: राज्य एवं चर्च में राजा तथा पोप की सम्प्रभुसत्ता को मर्यादित करने में पोप का स्थान प्रमुख था। अत: विलियम के चर्च परिषद् के सिद्धान्त को जॉन, हस तथा विक्लिफ ने आगे बढ़ाया और बाद के कनसीलियर आन्दोलन में विलियम का प्रभाव अधिक पड़ा। परन्तु इस आन्दोलन की असफलता के बावजूद मारसीलियो तथा विलियम दोनों की लोक प्रभुसत्ता सम्बन्धी धारणा का प्रभाव बाद के लोक-प्रभुसत्ता तथा राजतन्त्र समर्थकों के संघर्ष पर काफी पड़ा। मारसीलियो तथा विलियम ने प्राटेस्टेन्ट सुधार आन्दोलनों के विचारकों को भी प्रभावित किया, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को अपने विवेक से धर्म सम्बन्धी विश्वास के सिद्धान्तों का निर्वाचन करने की बात कही गयी थी।

आठवाँ अध्याय

मध्य युग का अंत : कनसीलियर सिद्धान्त

आन्दोलन के उद्देश्य

चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की अवधि को यूरोपीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में मध्ययुग के अवसान का काल माना जाना चाहिए। इसके पश्चात् राजनीतिक चिन्तन का स्वरूप बदलने लगा और उसमें आधुनिकता की प्रवृत्तियाँ आने लगीं। यह एक शताब्दी का काल मध्ययुग का अन्तिम चरण है। प्रथम चरण में ईसाई धर्म के अभ्युदय के कारण राजनीतिक चिन्तन धर्म तथा आध्यात्मिकता प्रधान बना रहा। दूसरे चरण में सम्पूर्ण राजनीतिक विचार धर्मसत्ता अथवा राजसत्ता की श्रेष्ठता के विवादों पर केन्द्रित रहे। तृतीय तथा अन्तिम चरण में चर्च सुधार तथा पोप विरोधी धारणाओं का प्राधान्य रहा। सत्ता-संघर्ष की अवधि के पूर्व भाग में धर्मसत्ता की श्रेष्ठता के समर्थक सुदृढ़ स्थिति में थे। परन्तु बाद में मारसीलियो, जॉन ऑफ पेरिस तथा विलियम ऑफ ओखम की विचारधाराएँ पोप विरोधी हो गयीं। पोप के समर्थक विचारकों का अभाव मुख्यतया पोप की गतिविधियों तथा चर्च संगठन के अन्दर बढ़ते हुए भ्रष्टाचार का परिणाम था। दूसरी ओर राष्ट्रीय आधार पर राज्यों का निर्माण होने के कारण मध्ययुगीन सार्वभौम ईसाई राज्य की धारणा को समाप्त होने लग गयी थी। ऐसी स्थिति में यह सम्भव नहीं रह गया था कि समूचे यूरोप के ईसाई समाज का, टॉमस ऐक्विना की धारणा का पोप की प्रभुसत्ता के अधीन एक चर्च-राज्य अथवा दान्ते की विचारधारा का सम्राट की प्रभुसत्ता के अधीन एक साम्राज्य स्थापित हो सकेगा।

चौदहवीं शताब्दी तक चर्च के अन्दर पोप की शक्ति इतनी अधिक बढ़ गयी थी कि उसने राज्य के लौकिक मामलों में अत्यधिक हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया था। चर्च के पास विशाल भौतिक सम्पत्ति जमा हो चुकी थी। राज्य द्वारा अनेक करों से प्राप्त की जाने वाली धनराशि पर भी उसका अधिकार था। चर्च संगठन पूर्णतया पोप तथा उसके अधीन चर्च अधिकारियों की श्रेणीबद्ध शृंखला के हाथ में था। धार्मिक मामलों में निर्णय देने की एकमात्र सत्ता पोप के हाथ में थी। ऐसी शक्ति से युक्त होने के कारण वह ऐसे निर्णय भी दे सकने का दावा करता था जो विशुद्ध रूप से राजनीतिक या प्रशासकीय रूप के होते थे। अतएव राजनीतिक चिन्तकों के एक वर्ग ने चर्च संगठन के अन्तर्गत पोप की ऐसी निरंकुश सत्ता के विरोध में विचार व्यक्त करना प्रारम्भ कर दिया। चर्च में विलासिता तथा भ्रष्टाचार के बढ़ने से भी नैतिक तथा आध्यात्मिक मामलों में चर्च की प्रतिष्ठा कम होना स्वाभाविक था। दूसरी ओर सम्राट तथा पोप के मध्य अधिकार क्षेत्र को लेकर प्रत्यक्ष संघर्ष बढ़ रहे थे। पोप बोनीफेस अष्टम की मृत्यु के बाद रोम के पोप को

फ्रांस के ऐवीनन नगर में अपना प्रधान कार्यालय बनाने के लिए विवश होना पड़ा था। वह अब फ्रांसीसी सम्राट के प्रभाव में आ चुका था। 1378 में पोप पद का विभाजन (The Grand Schism) चर्च के इतिहास में महान् क्रान्ति की घटना थी। यह सार्वभौम चर्च-समाज या सार्वभौम ईसाई-राज्य की धारणा के लिए घातक घटना सिद्ध हुई। यूरोप के विभिन्न राज्यों की निष्ठा अलग-अलग पोपों के प्रति होने लग गयी थी। फ्रांस, स्कॉटलैण्ड, नेपल्स, आदि फ्रांसीसी पोप को मानने लगे और इंग्लैण्ड, जर्मनी, इटली आदि इटैलियन पोप को मानने लगे। राजसत्ता के समर्थकों विशेषतया पेरिस के जॉन, मारसीलियो, विलियम, विक्लिफ, हस आदि ने पोप की लौकिक सत्ता के क्षेत्र में हस्तक्षेप की नीतियों का घोर विरोध किया था। धार्मिक मामलों में भी इन लेखकों ने पोप की निरंकुश सत्ता के दावों का विरोध किया। इस प्रकार चर्च-संगठन में सुधार किये जाने की विचारधाराएँ खुले रूप में व्यक्त की जाने लगीं।

चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में चर्च सुधार तथा पोप की सत्ता को मर्यादित करने का एक आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। इसे कनसीलियर आन्दोलन कहा जाता है। इसके प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार थे—

(1) चर्च का शासन करने के लिए ईसाई धर्म के मानने वाले व्यक्तियों की एक प्रतिनिध्यात्मक परिषद् (Council) होनी चाहिए, जो चर्च से सम्बन्धित समस्त मामलों में सम्प्रभु सत्ता का प्रयोग करे। इसमें चर्च अधिकारी (clergy) तथा जनसाधारण (laymen) दोनों के प्रतिनिधि रहने चाहिए।

(2) चर्च के सम्बन्ध में पोप की निरंकुश सत्ता को समाप्त किया जाये। वह पूर्णतया चर्च परिषद् के अधीन उसके अभिकर्त्ता (agent) के रूप में कार्य करे। चर्च-शासन को पोप तथा चर्च अधिकारियों की निरंकुशता से मुक्त किया जाये, अर्थात् आन्दोलन का उद्देश्य चर्च में पोप को वैधानिक प्रधान की स्थिति में रखना था।

(3) चर्च में जो भ्रष्टाचार, विलासिता तथा सांसारिकता आ गयी थी उसे दूर करके चर्च को शुद्ध बनाया जाये।

आन्दोलन को प्रभावित करने वाले तत्त्व

(1) **विचारक**—कनसीलियर आन्दोलन के ऊपर प्रभाव डालने वाले दो प्रमुख तत्त्वों में से प्रथम के अन्तर्गत वे समस्त लेखक तथा विचारक आते हैं, जिन्होंने अपने विचारों द्वारा लौकिक सत्ता के क्षेत्र में पोप की सत्ता का विरोध किया तथा चर्च को राज्य की भाँति एक मानवीय संस्था माना, भले ही उसका उद्देश्य पारलौकिक उत्तम जीवन हेतु मानव को निर्देशित करना था। इन विचारकों ने चर्च के प्रशासन के लिए ईसाई धर्म को मानने वाले समस्त लोगों तथा चर्च अधिकारियों द्वारा निर्वाचित एक सामान्य चर्च परिषद् की स्थापना की योजनाएँ रखीं। इसका उद्देश्य यह था कि चर्च प्रशासन में सामान्य चर्च परिषद् प्रभुत्व शक्ति का प्रयोग करेगी और पोप तथा अन्य चर्च अधिकारी उसके अधीन रहेंगे। ऐसी विचारधारा के प्रतिपादकों की श्रेणी में मारसीलियो तथा विलियम के विचारों का उल्लेख गत अध्याय में किया जा चुका है। इन दोनों के विचारों ने आन्दोलन के अन्य लेखकों को प्रेरणा दी। इनमें मुख्यतः जॉन विक्लिफ, जॉन हस, क्यूसा का निकोलस, गर्सन, सिलवियस आदि थे।

जॉन विक्लिफ (1320–1384)—विक्लिफ (John Wyclif) ऑक्सफोर्ड के विश्वविद्यालय का एक प्रोफेसर था। बाद में वह एक जनप्रिय धार्मिक सुधारक बन गया। गैटल के अनुसार, 'राजनीतिक विचारधारा को विक्लिफ का सबसे महान् अनुदाय उसका दैवी भू-स्वामित्व का सिद्धान्त (the doctrine of the Dominion of Grace) है, जो कि सामन्तशाही के संगठन पर निर्मित एक आदर्श व्यवस्था की योजना है।'[1] इसमें वह यह दर्शाता है कि भू-सम्पत्ति का सर्वोच्च स्वामी ईश्वर है और उसके किरायेदार सभी मनुष्य हैं। अतः भूमि सम्बन्धी अधिकार व्यक्तियों को मालिकों की शृंखला से प्राप्त नहीं होते। ईश्वर की दृष्टि में सभी मनुष्य समान हैं। राजसत्ता तथा धर्मसत्ता के सम्बन्ध में विक्लिफ की धारणा यह थी कि दोनों का उद्गम स्रोत ईश्वर है। धर्मसत्ता को लौकिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। राज्य को चर्च के भौतिक सम्पत्ति सम्बन्धी मामलों में हस्तक्षेप करने का पूरा अधिकार है। विक्लिफ राष्ट्रीय चर्च का समर्थक था। वह यह नहीं चाहता था कि फ्रांसीसी राजा पोप को नियन्त्रित करे। चर्च-सुधार के सम्बन्ध में विक्लिफ विलियम ऑफ ओखम के विचारों से प्रभावित था। वह चर्च-सम्पत्ति का विरोधी था और उसकी यह धारणा थी कि चर्च-सम्पत्ति को छीनकर उसे राष्ट्रीय हित के कार्यों में लगाया जाय। भौतिक सम्पत्ति के कारण ही चर्च में भ्रष्टाचार तथा बुराइयाँ फैलती हैं। व्यक्तिगत सम्पत्ति के बारे में विक्लिफ के विचार साम्यवादी हैं। शासनों के सम्बन्ध में वह कुलीनतन्त्र को उत्तम व्यवस्था कहता है। परन्तु वह यह भी मानता है कि मनुष्य की पापमय प्रकृति का दमन करने के लिए एक सुदृढ़ राजतन्त्री व्यवस्था उचित सिद्ध हो सकती है। परन्तु वह धर्मतन्त्र का पूर्ण विरोधी है। इसे वह निकृष्टतम शासन मानता है।

जॉन हस (1373–1415)—विक्लिफ के उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि वह चर्च तथा पोप की तत्कालीन स्थिति से घृणा करता था और उसमें सुधार चाहता था। अतः उसके विचारों का कनसीलियर आन्दोलन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा और उन्हें प्राग विश्वविद्यालय के रेक्टर जॉन हस ने ग्रहण किया। जॉन हस (John Huss) ने कोई नवीन विचार तो नहीं रखे, किन्तु विक्लिफ के अनुसार ही चर्च की सम्पत्ति का विरोध किया और उसकी सर्वोच्च सत्ता तथा फिजूलखर्ची की भर्त्सना करते हुए उसे अनावश्यक तथा चर्च के समुचित कार्य-क्षेत्र के हित में बाधक बताया। उसका मत था कि चर्च का निर्माण ईसाई धर्म पर विश्वास रखने वाले समस्त व्यक्तियों के द्वारा होता है। पोप तथा अन्य चर्च-अधिकारी न तो आवश्यक हैं, और न ही उन्हें धार्मिक मामलों का नियमन या निदेशन करने का कोई दैवी अधिकार प्राप्त है।

विक्लिफ तथा हस के विचारों ने चर्च सुधार आन्दोलन को बहुत प्रभावित किया। यद्यपि इन दोनों ने चर्च शासन के किसी सुनिश्चित सिद्धान्त की व्याख्या नहीं की है, तथापि उन्होंने यह स्पष्ट किया कि आध्यात्मिक सत्ता तथा दैवी कानून की अभिव्यक्ति चर्च अधिकारियों की शृंखला का एकमात्र अधिकार नहीं है। सम्पत्ति के सम्बन्ध में उनके विचारों ने कृषक आन्दोलन को भड़काने में मदद दी। विक्लिफ की

[1] 'Wyclif's chief contribution to political theory was his doctrine of lordship (Dominion of Grace), an ideal scheme of polity modelled closely on the organization of feudalism.' —Gettell, *op. cit.*, 130.

धारणा थी कि बाइबिल का सभी भाषाओं में अनुवाद किया जाना चाहिए ताकि सभी ईसाई उसे पढ़कर उसकी शिक्षा ग्रहण कर सकें। इस धारणा ने विश्वास की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में आगामी युग के सुधार आन्दोलन के विचारों को प्रभावित किया।

जॉन गर्सन (1363–1429)—गर्सन (John Gerson) पेरिस विश्वविद्यालय का चान्सलर था। वह मारसीलियो के विचारों से प्रभावित था। चर्च-शासन के सम्बन्ध में उसकी धारणा मिश्रित सरकार की थी। इसी व्यवस्था को वह राज्य के लिए भी उचित मानता था। उसके मत से पोप चर्च का एक प्रशासनिक अभिकर्त्ता है और वास्तविक सत्ता चर्च-परिषद् के हाथ में रहनी चाहिए। वह सामान्य लोक-कल्याण के हित में राजा तथा पोप दोनों की शक्ति को मर्यादित करना चाहता था और उनका प्रतिरोध करना भी उचित मानता था। उसका मत था कि दैवी तथा प्राकृतिक कानून का उल्लंघन करने पर पोप को पदच्युत करने के लिए लौकिक शासन को सामान्य चर्च-परिषद् को आहूत करना चाहिए। गर्सन जनता की स्वतन्त्रता के हित में पोप तथा राजा के अधिकारों पर निश्चित सीमा आरोपित करने का उद्देश्य रखता है।[1]

क्यूसा का निकोलस (1401–1464)—निकोलस (Nicholas of Cusa) के विचार आन्दोलन के अन्य लेखकों की अपेक्षा अधिक लोकतन्त्री तथा प्रतिवादी थे। वह लौकिक तथा आध्यात्मिक सत्ता का एकीकरण करना तथा उनके मध्य एक-रूपता लाना चाहता था। वह दोनों सत्ता संगठनों को विश्व सावयव के अंग मानता है। इसी प्रकार वह राजा तथा चर्च-संगठनों के सावयव स्वरूप को भी मानता है, जिनके केन्द्रीय अंग प्रतिनिध्यात्मक परिषदें हैं। वही उनकी सत्ता के एकमात्र स्रोत हैं। निकोलस के मतानुसार पोप ईसा का एक एजेन्ट है न कि स्वयं ईसा की शक्ति से युक्त है। उसकी शक्ति प्राकृतिक तथा दैवी कानून के अधीन है। वह स्वयं एक मानव है, अतः गलती कर सकता है। इसलिए उसके ऊपर चर्च-परिषद् का नियन्त्रण रहना चाहिए। चर्च प्रशासन के सम्बन्ध में निकोलस विकेन्द्रीकृत सत्ता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। उसके विचार से पोप की सत्ता राष्ट्रीय राज्यों के समानान्तर निर्मित प्रादेशिक चर्चों को प्रत्यायोजित की जानी चाहिए। सभी मानव प्रकृतितः स्वतन्त्र तथा समान हैं। इसलिए उनकी सत्ता सर्वोच्च है। राजा तथा बिशप अपनी सत्ता अपने निर्वाचकों से प्राप्त करते हैं। अतः वे भी कानून के अधीन हैं। चूँकि मानव की उत्पत्ति दैवी है, अतः मानवों की सलाह से निर्मित कानून भी दैवी है। इसलिए राजा तथा पोप दोनों की सत्ता जनता द्वारा निर्मित कानून से मर्यादित है।

सिलवियस (1405–1464)—सिलवियस ने राजनीतिक समाज की उत्पत्ति को ऐतिहासिक आधार पर समझाया। उसके अनुसार प्राकृतिक स्थिति में सब मानव समान तथा स्वतन्त्र थे। मनुष्य की सामुदायिकता की प्रवृत्ति के कारण समाज बने। जब समाज में अराजकता तथा बल-प्रयोग द्वारा अन्याय बढ़ने लगा तो लोगों ने अपने में से सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति को इस परिस्थिति को दबाने के लिए राजा नियुक्त

[1] 'He aimed to preserve the rights of pope and king, within definite limits, and at the same time secure the liberties of the people.' —Gettell, *op. cit.*, 134.

किया। यही बात पोप के सम्बन्ध में है। अतः जब पोप या राजा अपनी शक्ति का दुरुपयोग करते हैं, तो जनता उन्हें पदच्युत कर सकती है। इस प्रकार सिलवियस की विचारधारा पोप की सत्ता को मर्यादित करने तथा 17वीं व 18वी शताब्दी के सामाजिक संविदावादियों के लिए सहायक सिद्ध हुई।

उपर्युक्त विचारधाराओं ने तत्कालीन चर्च-सुधार आन्दोलन के लिए पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की। इनका प्रभाव यह हुआ कि चर्च-सगठन के अन्तर्गत पोप की निरंकुश सत्ता के विरुद्ध जनमत को निर्मित करने में काफी सहायता मिली और यह सामान्य धारणा हो गई कि पोप की सत्ता को मर्यादित करने तथा चर्च में उत्पन्न हो गई बुराइयों का निराकरण करने के लिए सामान्य चर्च-परिषद् की स्थापना की जानी चाहिए जो धर्म सम्बन्धी मामलों में प्रभुत्व-सम्पन्न हो।

(2) **परिषदें**—कनसीलियर आन्दोलन को सक्रिय रूप देने का दूसरा प्रभावकारी तत्त्व था, विभिन्न परिषदों का आयोजन। 1378 के चर्च विभाजन (the Great Schism) का परिणाम यह हुआ कि ईसाई समाज पुनः पोप के एकीकरण की दिशा में व्यय होने लगा। चर्च सुधार के सम्बन्ध में जो धारणाएँ व्यक्त की जा रही थी उन पर विचार करने के लिए आन्दोलन के कुछ नेताओं ने कुछ सम्मेलनों को आहूत किया। 1409 मे पीसा की परिषद् (The Council of Pisa), 1414–18 तक कॉन्सटेंस की परिषद् (The Council of Constance), 1423 में पेविया की परिषद् (The Council of Pavia) तथा 1431–49 तक बैसले की परिषद् (The Council of Basle) बैठीं। इनमें से कॉन्सटेंस तथा बैसले की परिषदें अधिक महत्त्वपूर्ण थीं। कॉन्सटेंस की परिषद् ने यह घोषणा की कि कैथोलिक चर्च का प्रतिनिधित्व करने वाली सामान्य चर्च परिषद् को सत्ता प्रत्यक्षतः ईसा से प्राप्त हुई है। अतः धार्मिक विश्वास एवं चर्च सुधार के सम्बन्ध मे इसके आदेशों को मानना हर किसी के लिए आवश्यक है, चाहे वह किसी स्थिति में हो। यही बात बैसले की परिषद् ने अनुसमर्थित की।

आन्दोलन के विचार

कनसीलियर आन्दोलन में विभिन्न विचारकों अथवा सम्मेलनों द्वारा जिन विचारों को रखा गया था, उनका सारांश निम्नांकित है—

(1) चर्च प्रशासन में पोप न तो कानून के ऊपर है, न कानून का निर्माता, बल्कि वह पूर्णतया कानून के अधीन है और उसकी शक्ति कानून द्वारा मर्यादित है। सैबाइन के अनुसार, 'कनसीलियर सिद्धान्त का सारांश यह था कि समूचा चर्च-संगठन, धर्म पर विश्वास करने वाले समस्त व्यक्तियों का समूह, स्वयं अपने कानून का स्रोत है, और पोप तथा चर्च अधिकारियों की शृंखला उसके अंग तथा उसके सेवक हैं।'[1]

(2) चर्च-संगठन के अन्तर्गत सम्प्रभुसत्ता सामान्य चर्च-परिषद् की है, न कि पोप की। चर्च के शासन-संगठन का स्वरूप मिश्रित सरकार का सा होना चाहिए जिसके अन्तर्गत पोप राजतन्त्र की, कार्डिनल मण्डल कुलीनतन्त्र का तथा प्रीलेट

[1] 'The substance of the conciliar theory, then, was that the whole body of the Church, the congregation of the faithful, is the source of its own law, and that the pope and the hierarchy are its organs or servants.' —Sabine, *op. cit.*, 276.

लोकतन्त्री तत्त्व का प्रतिनिधित्व करेंगे। परन्तु कनसीलियर सिद्धान्त के समर्थकों ने इन सस्थाओं के संगठन, कार्यक्षेत्र आदि की स्पष्ट व्याख्या नही की। सैबाइन का कथन है कि आन्दोलनकारियों का मार्ग-दर्शन करने वाली चर्च सरकार का नमूना मध्ययुगीन वैधानिक राजतन्त्र था, जिसमें भू-सम्पत्ति धारण करने वालों की सभा होती, अथवा और अधिक स्पष्ट शब्दों में, सम्भवतः मठों की व्याख्या का संगठन होता जिसमें छोटे-छोटे निगम अपने प्रतिनिधियों द्वारा मिलकर एक धार्मिक जन-समूह के रूप में समूचे निकाय का प्रतिनिधित्व करते।[1] इसका आशय यह है कि यदि कोई सामान्य चर्च-परिषद् बनाई जाती, तो वह मध्ययुगीन सामन्तशाही संसद के नमूने की होती। 'अतः कनसीलियर योजना सामान्यतया चर्च के अन्दर एक ऐसी परियोजना के विस्तार की थी जो कि पूर्व से ही व्यापक रूप से प्रचलित थी और जो उस निवर्तमान आदर्श के अनुरूप थी कि निगमात्मक निकाय घटकों के रूप में कार्य कर सकते हैं अथवा विचार व्यक्त कर सकते हैं।' मध्ययुगीन संसदें ऐसी ही निगमात्मक व्यवस्थाएँ थीं। आन्दोलनकारी इस बात पर तो एकमत थे कि चर्च की अन्तिम सत्ता समूचे चर्च समुदाय के हाथ में होनी चाहिए, परन्तु यह बात किसी ने स्पष्ट नहीं की कि पोप, कार्डिनल मण्डल तथा परिषद् के मध्य शक्तियों का प्रत्यायोजन किस रूप में होना चाहिए तथा इनके मध्य सामंजस्य स्थापित रखने की क्या व्यवस्था होनी चाहिए।

(3) आन्दोलनकारियों की यह धारणा थी कि पोप निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी नहीं है बल्कि उसकी सत्ता चर्च-परिषद् के अधीन है। पोप को चर्च-परिषद् के आदेशों के विरुद्ध कोई आज्ञप्ति जारी करने का अधिकार नहीं होना चाहिए।

(4) कनसीलियर आन्दोलन के प्रतिपादक जनता के प्राकृतिक अधिकारों की धारणा से परिचित थे। अतः उनकी दृष्टि से पोप की कोई आज्ञप्ति कानून का रूप तभी धारण कर सकती है जबकि वह जनता के प्राकृतिक अधिकारों का हनन करने वाली न हो और उससे यह आभास हो कि उसे जारी करने में पोप ने अपने वैधानिक अधिकारों का प्रयोग किया है। जनता के प्राकृतिक अधिकार सम्पूर्ण जन-समुदाय की सामूहिक इच्छा में निहित हैं, अतः पोप की आज्ञप्तियाँ भी जनता की राय के अनुसमर्थन के अधीन हैं।

(5) आन्दोलनकारियों ने प्राकृतिक कानून की महत्ता को स्वीकार करते हुए यह दर्शाया कि वैयक्तिक कानून प्राकृतिक कानून का अतिक्रमण नहीं कर सकते। पोप प्राकृतिक कानून की उपेक्षा नहीं कर सकता। सत्ता का अन्तिम स्रोत प्राकृतिक कानून है, जो मानव विवेक पर आधारित होता है।

(6) पोप ईसा का प्रतिनिधि नहीं है, अपितु चर्च का प्रतिनिधि है। वह कोई अतिमानव या देवता नहीं है, प्रत्युत् अन्य मानवों की भाँति वह भी एक मनुष्य है और गलती कर सकता है। अतः उसकी सत्ता किसी भी रूप में दैवी नहीं है बल्कि वह चर्च की सत्ता के अधीन है। ईसाई समाज बिना पोप के चल सकता है, परन्तु बिना चर्च के नहीं चल सकता। अतः चर्च एक पूर्ण समाज है और उसे ऐसे

[1] 'The model of government which guided the conciliarists was the medieval constitutional monarchy with its assembly of estates, or perhaps more definitely, the organization of the monastic orders, in which lesser corporations were combined through their representatives in a synod representing the whole body.' —*Ibid.*, 277.

पोप को पदच्युत करने का पूरा अधिकार है, जो स्वेच्छाचारिता तथा अत्याचारी ढंग से कार्य करता हो।

(7) आन्दोलनकारियों ने चर्च की बढ़ती हुई भौतिक सम्पत्ति का विरोध किया, क्योंकि उसके कारण चर्च अधिकारियों में विलासिता बढ़ रही थी, जो चर्च के आध्यात्मिक कार्यकलापों के मार्ग में बाधक थी। अतएव उनकी धारणा यह थी कि चर्च के पास केवल उतनी ही भौतिक सम्पत्ति होनी चाहिए जितनी कि चर्च के सचालन के लिए आवश्यक है। शेष सम्पत्ति को लौकिक सत्ता जन-समुदाय के हित के कार्यों में विनियोजित कर सकती है। सम्पत्ति भौतिक चीज है, अत: उस पर कर लगाने का अधिकार लौकिक सत्ता को होना चाहिए। चर्च प्रशासन के संगठनात्मक कार्यों की व्यवस्था करने का अधिकार राजसत्ता के हाथों मे होना चाहिए। राजा को यह अधिकार है कि वह अत्याचारी पोप के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए चर्च-परिषद् को आहूत करे। चर्च को केवल आध्यात्मिक कार्यों तक ही अपना कार्यक्षेत्र सीमित रखना चाहिए और लौकिक-सत्ता के कार्यो मे किसी प्रकार हस्तक्षेप नही करना चाहिए।

कनसीलियर आन्दोलन की अवधि में विभिन्न लेखकों तथा परिषदों के विचारों को संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है। आन्दोलन का उद्देश्य ईसाई समाज के सदस्यों के मध्य सामाजिक समानता की धारणा को साकार करना था। जन्म, सामाजिक स्थिति आदि का विचार न रखते हुए सब ईसाई विश्वास की स्वतन्त्रता का अधिकार समान रूप से धारण करते थे। अतएव धार्मिक मामलों में पोप तथा अन्य चर्च अधिकारी अपनी किसी विशिष्ट स्थिति का दावा नहीं कर सकते थे। चर्च-संगठन एक आत्म-सम्पन्न तथा आत्मनिर्भर निगमात्मक समाज था। उसमें अपना शासन स्वयं संचालित कर सकने की क्षमता थी। चर्च के अन्तर्गत प्रभुत्व शक्ति सामूहिक रूप से ईसाई धर्म में विश्वास करने वाली जनता के हाथ में थी। इस प्रकार आन्दोलन के विचारों ने लोक-प्रभुसत्ता की धारणा को स्पष्टता प्रदान की। यद्यपि लोक प्रभुसत्ता की धारणा के अकुर अरस्तू तथा रोमन इम्पीरियम सिद्धान्त में भी विद्यमान थे, तथापि कनसीलियर आन्दोलन के विचारों मे इस धारणा को व्यापक स्पष्टता प्राप्त हुई। इसके अनुसार सामान्य चर्च-परिषद् को आम जनता की प्रतिनिध्यात्मक संस्था तथा पोप एवं अन्य चर्च अधिकारियों को परिषद् का अभिकर्ता मात्र घोषित किया गया। चर्च की सम्पूर्ण सत्ता का स्रोत जनता को माना गया और पोप तथा परिषद् जिन शक्तियों का प्रयोग करें उन्हें जनता द्वारा उनके हाथ में प्रत्यायोजित माना गया। पोप की स्थिति एक वैधानिक प्रशासक से अधिक नहीं मानी गयी। चर्च प्रशासन के अन्तर्गत मिश्रित सरकार की धारणा (राजतन्त्री, कुलीनतन्त्री तथा प्रजातन्त्री तत्त्वों का सम्मिश्रण) के अन्तर्गत सामंजस्यपूर्ण (harmonious) ढंग से विभिन्न अगों को कार्य करने की बात पर जोर दिया गया। निकोलस के विचारों में यह धारणा पर्याप्त बलशाली ढंग से व्यक्त की गयी थी। पोप की सत्ता को न केवल मर्यादित करने की धारणा व्यक्त की गई थी, प्रत्युत् यह भी कहा गया था कि चर्च परिषद् एक विधिगत सत्ता (lawful authority) थी। अत: उसे एक स्वेच्छाचारी पोप को पदच्युत करने का कानूनी अधिकार प्राप्त था। इस आन्दोलन के अन्तर्गत कानून की मध्ययुगीन धारणा को चर्च के सम्बन्ध में भी लागू किया गया। आन्दोलन के विचारकों ने घोषित किया

कि कानून का स्रोत जन-परम्पराएँ हैं। राजाओं की सृष्टि इन्हीं कानूनों के द्वारा होती है, राजा कानून का सृष्टा नहीं है। इसी प्रकार चर्च के अन्तर्गत भी पोप को ईसाई समाज की परम्पराओं पर आधारित कानूनों के अधीन अपने व्यवहार को नियमित रखना चाहिए। वह अपनी विशिष्ट स्थिति का दावा करके ऐसे कानूनों की उपेक्षा नहीं कर सकता।

आन्दोलन की असफलता के कारण

यद्यपि चर्च का कनसीलियर आन्दोलन लगभग पूरे एक सौ वर्ष तक चला और इस सम्बन्ध में अनेक विचार रखे गये, अनेक परिषदें बुलाई गई, तथापि आन्दोलन को कोई व्यावहारिक सफलता प्राप्त नहीं हुई। न तो इस आन्दोलन के फलस्वरूप चर्च में कोई प्रभावकारी सुधार हो पाया और न यह आन्दोलन चर्च की शासन-व्यवस्था को ही परिवर्तित कर सका। इस आन्दोलन की असफलता के मुख्य कारण निम्नांकित हैं—

(1) चर्च के सम्बन्ध की मुख्य समस्याओं के सम्बन्ध में आन्दोलन अस्पष्ट था। मौलिक समस्या एक नहीं बल्कि अनेक थीं। प्रथम समस्या चर्च विभाजन का अन्त करके उसमें एकता स्थापित करने और समूचे चर्च-संगठन के एकीकरण करने की थी। कॉन्स्टेंस की परिषद् का मुख्य उद्देश्य यही था। एक बार इस समस्या के हल हो जाने पर फिर अन्य समस्याओं पर किसी को चिन्ता न रही। अन्य समस्याएँ चर्च की शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध की थीं, जिनके अन्तर्गत सामान्य चर्च-परिषद् के निर्माण, उसकी शक्तियों के निर्धारण तथा पोप और कार्डिनल मण्डल के अधिकार क्षेत्रों के निर्धारण आदि की समस्याएँ थीं। साथ ही चर्च एवं लौकिक सत्ता के मध्य सम्बन्ध निर्धारण की समस्या भी थी। अतएव समस्याओं की इन जटिलताओं का निवारण कर सकना आसान कार्य नहीं था और न आन्दोलन के मध्य इन समस्त बातों का कोई समुचित एवं व्यावहारिक समाधान ही प्रस्तुत किया गया। परिणामस्वरूप आन्दोलन को कोई सफलता नहीं मिल सकी। यहाँ तक कि चर्च का एकीकरण भी कलान्तर में भंग हो गया।

(2) कनसीलियर आन्दोलन का उद्देश्य तो धर्म-सम्बन्धी मामलों में समस्त जनता को पोप की निरंकुश सत्ता से छुटकारा दिलाकर चर्च की सत्ता को जनता की प्रतिनिधिक परिषद् के हाथ में देना था। परन्तु आन्दोलनकारियों में जन-नेतृत्व का पूर्ण अभाव था। आन्दोलन के विचारक मुख्यतया विश्वविद्यालयों के प्रोफेसर लोग थे। उनकी विचारधाराएँ अत्यधिक शैक्षणिक (academic) थीं। जनसाधारण न तो उन्हें भली प्रकार समझने की क्षमता रखते थे और न उनके मध्य इन धारणाओं का प्रचार जन-नेताओं के द्वारा किया गया। परिणामस्वरूप आन्दोलन थोड़े से शिक्षित वर्गों तक ही सीमित रहा और उसे आम जनता का समर्थन प्राप्त नहीं हो पाया। इसलिए यह असफल सिद्ध हुआ।

(3) आन्दोलनकारी पोप की निरंकुश सत्ता को मर्यादित करने पर तुले थे, परन्तु जैसा सैबाइन ने कहा है 'ईसाई समाज (Christendom) की सामान्य भावना चर्च की एकता की पुनर्स्थापना की आवश्यकता पर एकमत थी; परन्तु वह इसी रूप में इस बात के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ न थी कि पोप की सर्वोच्चता को समाप्त

करके समूचे चर्च शासन के सिद्धान्त को परिवर्तित कर दिया जाय।'[1] यह बात इसलिए भी सम्भव नहीं थी कि तत्कालीन यूरोपीय परिस्थितियों के अन्तर्गत समूचा ईसाई समाज एक ऐसी इकाई नहीं रह गया था कि उसकी एक प्रतिनिध्यात्मक चर्च सरकार स्थापित की जा सके। इसका कारण यह था कि लौकिक सत्ताएँ राष्ट्रीय आधार पर संचालित हो रही थीं इन समस्त राष्ट्रीय राज्यों का एक सार्वभौम चर्च निर्मित हो सकना व्यावहारिक नहीं था। राष्ट्रीय राज्यों की अपनी-अपनी राष्ट्रीय समस्याएँ थीं, जिनके समक्ष चर्च के एक संघात्मक संगठन का निर्माण करने की उन्हें कोई चिन्ता नहीं थी।

(4) आन्दोलन का सूत्रपात समुचित स्रोत से नहीं हुआ। जिन चर्च-परिषदों को चर्च-सुधार के सम्बन्ध मे विचार-विनिमय करने के लिए संयोजित किया गया था, उसका उपक्रम न तो पोप ने किया, न राजाओं ने और न ही जन-नेताओं ने। ऐसी परिस्थिति में यह परिषदें अधिक से अधिक कुछ प्रस्ताव पास कर सकती थीं परन्तु वे चर्च की किसी सरकार का निर्माण नहीं कर सकती थीं। उनके पास ऐसी कोई शक्ति नहीं थी कि वे अपने प्रस्तावों को कार्यान्वित करा सकें, न ऐसी कोई सत्ता ही थी, जिसके समक्ष इन प्रस्तावों को रखकर उन्हें कार्यान्वित कराया जा सकता।

(5) चर्च की सामान्य परिषद् योजना जो आन्दोलन के विचारों की मुख्य धारणा थी, अव्यावहारिक थी। इसके संगठन के सम्बन्ध में कोई व्यावहारिक सुझाव भी नहीं था। साथ ही यदि ऐसी परिषद् निर्मित कर भी दी जाती तो वह अत्यन्त व्ययशील संस्था होती। आन्दोलनकारी उससे छोटी किसी संस्था को भी ऐसी शक्ति प्रदान करना नहीं चाहते थे। अतएव चर्च-परिषद् की व्यवस्था के सम्बन्ध में आन्दोलन की सफलता पूर्णतया संदिग्ध रही।

(6) चर्च की समस्या किसी एक राज्य या राष्ट्र की न थी, अपितु यह एक सार्वभौम संस्था थी। अतः जब तक विभिन्न राज्यों के मध्य एकता तथा विचार साम्य न होता तब तक चर्च सुधार की योजना कार्यान्वित नहीं हो सकती थी, क्योंकि चर्च की परिषद् किसी एक राज्य की नहीं हो सकती थी। परन्तु जो परिषदें इस सम्बन्ध में बैठीं थीं उनका स्वरूप राष्ट्रीय प्रकृति का था, विशेष रूप से कॉन्स्टेन्स की परिषद् का। उस युग में जो राष्ट्रीय भावनाएँ विकसित हो रही थीं उनके अन्तर्गत चर्च-परिषद् का संघात्मक संगठन स्थापित करना भी सम्भव नहीं था। अतः आन्दोलन असफल रहा।

(7) विभिन्न राष्ट्रीय राज्य अपने अन्य आन्तरिक हितों को पूर्ण करने में लगे हुए थे। उनके सम्मुख चर्च के सुधार की समस्या गौण थी। प्रत्येक राज्य सुधार के पक्ष में तो था, परन्तु स्वयं इस समस्या के सम्बन्ध में सक्रिय कदम उठाकर अपने को उलझन में डालना नहीं चाहता था। प्रत्युत् प्रत्येक की अभिलाषा यही थी कि सुधार का उपक्रम अन्यत्र से किया जाय।

(8) आन्दोलनकारी पोप की निरकुश-सत्ता के विरोधी थे, परन्तु वे पोप के पद की समाप्ति नहीं चाहते थे। स्वयं पोप आन्दोलन के इस सिद्धान्त का विरोधी

[1] 'The general sentiment of Christendom was agreed about the need of restoring unity in the Church ; it was not equally determined to change the whole principle of Church government by abolishing the supremacy of the pope.' —Sabine, *op. cit.*, 274.

तथा केन्द्रीकृत निरंकुशता का समर्थक था। यदि पोप का पद बना रहता तो किसी न किसी रूप में चर्च प्रशासन के अन्तर्गत केन्द्रीकृत नौकरशाही बढ़ती जाती। आन्दोलन असफल रहा, अतः पोप को चर्च में अपनी निरंकुश शक्ति को और अधिक विस्तृत करने का अवसर मिल गया। आन्दोलन के विचार भी समयानुकूल सिद्ध नही हो पाये। वह युग निरंकुशतावाद का था, जबकि चर्च सुधार आन्दोलन वैधानिकतावाद का समर्थक होने के कारण अप्रभावी सिद्ध हुआ। यही बात आन्दोलन के नेताओं द्वारा सामाजिक समानता पर बल देने के बारे में भी सत्य थी। यह धारणा मध्य युग के सामाजिक वातावरण में लोकप्रिय नहीं हो पायी थी। अतः चर्च मे इसे लागू करना भी एक स्वप्नलोकी विचार था।

(9) इनके अतिरिक्त अन्य कारण भी थे, यथा चर्च सुधार के सम्बन्ध में रूढ़िवादी धारणा, स्वार्थ साधन की कामना, विभिन्न विहित हितों के मध्य संघर्ष, आन्दोलन की विचारधारा का अत्यधिक कानूनी प्रकृति का होना, आदि। इन सबका परिणाम यह हुआ कि प्रभावकारी वर्ग आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने से विलग ही रहे और आन्दोलन असफल सिद्ध हुआ।

आन्दोलन का राजनीतिक विचारधाराओं पर प्रभाव

यद्यपि मध्य युग की अन्तिम अवधि का चर्च सम्बन्धी कनसीलियर आन्दोलन असफल सिद्ध हुआ, क्योंकि यह न तो चर्च की शासन-प्रणाली में वांछित परिवर्तन ही ला सका और न पोप की शक्ति को मर्यादित करने हेतु कोई ठोस कदम उठा सका, तथापि यह आन्दोलन राजनीतिक विचारधाराओं हेतु पूर्णतया महत्त्वहीन नहीं रहा। इसने अनेक प्रकार से भविष्य के राजनीतिक विचारों को प्रभावित किया—

(1) इस आन्दोलन ने यद्यपि चर्च में प्रतिनिध्यात्मक सरकार की स्थापना करने मे सफलता प्राप्त नहीं की, तथापि इसने राज्य के क्षेत्र में यह सिद्ध किया कि आन्दोलन निरंकुशतावाद एवं वैधानिकतावाद के मध्य का संघर्ष था। इसकी असफलता का प्रभाव यह हुआ कि चर्च में पोप की निरंकुशता बढ़ गई। कालान्तर में लौकिक शासन के क्षेत्र में जब राजतन्त्र एवं वैधानिकतन्त्र के मध्य संघर्ष प्रारम्भ हुआ तो वहाँ भी निरकुशतावाद बहुत समय तक शक्तिशाली रहा। किन्तु अन्त में पुनः प्रतिनिध्यात्मक शासन के सिद्धान्त की विजय हुई जो कि आधुनिक राजनीति का सामान्य सिद्धान्त है। इसलिए यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि आधुनिक युग के लिए सांविधानिकतावाद कनसीलियर आन्दोलन की एक महत्त्वपूर्ण देन है।

(2) यद्यपि आन्दोलन पोप की निरंकुश सत्ता पर मर्यादा लगाने में सफल नहीं हुआ, तथापि आन्दोलन ने पोप को निरंकुश बनने से रोकने में सहायता दी। यह आन्दोलन पोप की स्वेच्छाचारिता हेतु एक बलवान चेतावनी के रूप में सिद्ध हुआ। भविष्य में पोप को मनमानी आज्ञप्तियाँ जारी करने का साहस नहीं हुआ, अपितु वह स्वयमेव एक विधायक की अपेक्षा एक प्रशासक मात्र रहने की ओर प्रवृत्त होने लगा।

(3) कनसीलियर सिद्धान्त ने राष्ट्रवाद, लोकतन्त्र तथा प्रतिनिधि शासन के सिद्धान्तों को प्रस्फुटित होने का अवसर प्रदान किया।[1] इस सिद्धान्त ने राजनीति के

[1] 'As a whole the conciliar theory was nationalistic, representative and moderately democratic.' —Gettell, *op. cit.*, 135.

क्षेत्र में धर्म के हस्तक्षेप को अनुचित मानने की धारणा का प्रतिपादन किया। परिणामस्वरूप मैकियाविली ने इसके तुरन्त बाद ही धर्म-रहित राजनीति का जोरदार समर्थन करके राष्ट्रवाद की धारणा को जन्म दिया। इस आन्दोलन ने भविष्य के प्रोटेस्टैंट धर्म-सुधार आन्दोलन के विचारों के लिए पर्याप्त सामग्री प्रदान की। धर्म-ग्रन्थों के निर्वचन का अधिकार प्रत्येक सदस्य को होना चाहिए न कि केवल धर्म गुरुओं को, सत्ता दैवी है तो राजा का पद भी दैवी अधिकार रखता है, तथा सत्ता का स्रोत जनता (शासित वर्ग) है, आदि ऐसी धारणाएँ थीं जो कनसीलियर आन्दोलन के अन्तर्गत व्यक्त की गयी थीं और धर्म-सुधार आन्दोलन में इन सिद्धान्तों का बहुत अधिक व्यापक रूप से प्रचार हुआ।

(4) इस आन्दोलन ने कानून के सम्बन्ध में पुनः विवेक पर आधारित प्राकृतिक कानून के सिद्धान्त को मान्यता दी, जो कि धर्मसत्ता के समर्थकों की विचारधारा मे धार्मिक अन्धविश्वासिता के मध्य दबा दिया गया था। इस प्रकार इस आन्दोलन ने पुनः विवेक को धर्मान्धता के चंगुल से मुक्त किया।

(5) इस आन्दोलन ने इस सिद्धान्त के विकास में सहायता प्रदान की कि सत्ता के अस्तित्व का औचित्य शासितों एवं समस्त समुदाय के कल्याण में है न कि केवल सत्ताधारियों के हित मे। इस दृष्टि से कनसीलियर सिद्धान्त की यह मान्यता रही कि 'सत्ता एक न्यास के रूप में जिसका दुरुपयोग नहीं किया जाना चाहिए' (power is a trust and should not be misused), तथा उत्तम शासन का सारभूत तत्त्व यह है कि वह शासितों की सहमति से संचालित हो। शासितों की सहमति का आशय यह है कि विधि-निर्माण उनकी सहमति से होना चाहिए। इस प्रकार कनसीलियर सिद्धान्त ने लोक-प्रभुसत्ता के सिद्धान्त के विकास में सहायता दी। हूकर तथा लॉक ने सहमति के सिद्धान्त को अपने राजनीतिक विचारों का प्रमुख अंग बनाया।

(6) कनसीलियर आन्दोलन ने जहाँ लोकतन्त्र की धारणाओं के विकास में मदद दी, वहाँ इसने राष्ट्रवादी तथा संघवादी प्रवृत्तियों के विकास में भी सहायता दी। इसके पश्चात् चर्च-संगठन का आधार राष्ट्रीय होता गया और राष्ट्रीय चर्च और अधिक उत्तमता से सगठित होने लगे। चर्च की एकता हेतु राष्ट्रीय चर्चों का संघात्मक संगठन ही एकमात्र साधन था। यही प्रवृत्ति लौकिक राजसत्ता के सम्बन्ध में भी विकसित होने लगी। इस प्रकार एक सार्वभौम चर्च की धारणा का लोप हो गया। राज्य के अन्तर्गत समूहों तथा निगमों की स्वायत्तशासी एवं आत्म-सम्पन्न स्थिति को इस आन्दोलन के विचारों ने काफी महत्ता दी। अतएव यह माना जा सकता है कि आधुनिक बहुवाद तथा नवीन व्यक्तिवाद के विकास में इस आन्दोलन के विचारों का प्रभाव भी रहा है।

(7) कनसीलियर सिद्धान्त ने राज्य तथा शासन के मध्य स्पष्ट भेद किया क्योंकि इसने प्रतिनिध्यात्मक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। इसका यह आशय है कि शासन सत्ता के प्रमुख स्रोत तथा जिस अंग को सत्ता प्रत्यायोजित की जाती है, उनके मध्य भेद है।[1]

[1] 'With the aid of the conciliar theory of representation, a clear distinction was made between state and government; between the ultimate source of authority and the organ to which the authority is delegated.' —*Ibid.*, 136-37.

(8) यद्यपि आन्दोलन चर्च के सुधार से सम्बद्ध था और इसीलिए उसके विचारों में स्पष्टतया धर्म-निरपेक्षता की धारणा नहीं व्यक्त की गयी थी, तथापि इस आन्दोलन के विचारों की प्रवृत्ति धर्म-निरपेक्ष राजनीति की दिशा में निदेशित थी। अतएव इसके अन्तर्गत लोक-प्रभुसत्ता की धारणा ने धर्म-निरपेक्ष राजनीति के विकास में सहायता पहुँचायी।

मध्ययुग के राजनीतिक चिन्तन का महत्त्व

बार्कर ने कहा है कि 'राजनीतिक चिन्तन किसी सम्पूर्ण युग का अन्तर्भूत दर्शन है जो उस युग की कार्यवाहियों का निर्धारण करता है और जीवन का चित्रण करता है।'[1] इस दृष्टि से यद्यपि मध्ययुग के विचारक जैसा कि उपर्युक्त विद्वान् का मत है राजनीतिक चिन्तकों की श्रेणी में नहीं आते क्योंकि वे अपने युग की राजनीतिक वास्तविकताओं से दूर रहे और उनके लेख 'पाठ्य-पुस्तकों पर आधारित निबन्धों' की प्रकृति के हैं, तथापि मध्ययुग में राजनीतिक चिन्तन का अभाव नहीं है।[2] सारा मध्ययुग एक हजार वर्ष से भी अधिक अवधि का काल है जिसका प्रारम्भ ईसाई धर्म के अभ्युदय से लेकर 15वीं शताब्दी तक चलता है। ईसा की आरम्भिक सदियों में रोमन साम्राज्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था और उस काल का राजनीतिक चिन्तन रोमन राजनीतिक चिन्तन के युग का था। पाँचवीं शताब्दी में रोमन साम्राज्य के पतन के पश्चात् राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में मध्ययुग का आरम्भ होता है जिसमें सन्त अगस्टाइन तथा गिलेसियम प्रथम के विचार राजनीतिक चिन्तन की प्राथमिक सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इसके पश्चात् समूचे मध्ययुग को दो भागों में बाँटा जाता है—प्रथम भाग 13वीं शताब्दी तक का है जो पोप बोनीफेस अष्टम की मृत्यु तक रहा जिसे मध्ययुग का 'स्वर्ण-युग' माना जाता है जबकि चर्च की सर्वोच्चता तथा पोप की निरंकुश सत्ता विद्यमान थी। समूचा यूरोप ईसाई समाज था और उसका नियमन चर्च (ईसाई धर्म) के सिद्धान्तों के आधार पर होता था। दूसरा भाग 14वीं तथा 15वीं शताब्दी का है जिसे 'रजत-युग' की संज्ञा दी गयी है। यह युग पोप के विरुद्ध राजा की शक्ति की श्रेष्ठता दर्शाने वाली क्रान्ति का युग था। इस समूचे मध्ययुग में राजनीतिक चिन्तन हेतु विशाल सामग्री उपलब्ध थी। चर्च-संगठन तथा उसके कार्यकलाप, शान्ति तथा न्याय की धारणाएँ, चर्च की लौकिक सत्ता के क्षेत्र में अभिरुचि, सामन्तशाही व्यवस्था, श्रेणियों तथा निगमों की व्यवस्था के अन्तर्गत स्वायत्त शासन की धारणा, ज्ञान का नव जागरण, विश्वविद्यालयों का अभ्युदय, प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं के प्रति अभिरुचि, ग्रीक दार्शनिक अरस्तू के राजनीतिक विचारों का पुनरुद्भव तथा रोमन कानून का पुनरवलोकन होना, आदि सभी बातें मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन हेतु पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करती हैं। इस दृष्टि से राजनीतिक चिन्तन के विकास के निमित्त मध्ययुग का महत्त्व किसी भाँति कम नहीं है। राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में मध्ययुग की विशेषताओं को निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है—

(1) **सार्वभौमिकतावाद** (Universalism)—बार्कर ने कहा है कि, 'मध्ययुग

[1] 'Political thought is the immanent philosophy of a whole age, which determines its action and shapes its life.' —Barker, 'Medieval Political Thought' in Hearnshaw (ed.), *op. cit*, 10.

[2] *Ibid.*, 9.

के चिन्तन का सार उसका सार्वभौमिकतावाद है।'[1] इस कथन का अभिप्राय यह है कि ईसाई धर्म प्रचार के कारण सर्वप्रथम रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत समूची जनता ने ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया था। ईसाई धर्म की शिक्षा का एक सारभूत तत्त्व मानवीय समानता, एकता और विश्वबन्धुत्व की धारणा थी। रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत ईसाई धर्म राजकीय धर्म बन चुका था। ईसाई धर्म प्रचारकों तथा धर्मोपदेशकों ने समस्त ईसाइयों के मध्य एकता स्थापित करने के उद्देश्य से 'एक सार्वभौम ईसाई समाज' की स्थापना का उद्देश्य अपनाया था। अत: रोमन साम्राज्य की निरन्तरता, जिसका रूप 9वीं शताब्दी से पवित्र रोमन साम्राज्य हो गया था, इस धारणा का लौकिक पक्ष थी। इसका आध्यात्मिक या धार्मिक पक्ष ईसाई चर्च-संगठन था जो ईसा के अवतरण का दृष्ट-रूप (the incarnation of Christ in a visible Church) माना गया। इस प्रकार समूचे मध्ययुग में यह धारणा निवर्तमान रही कि चर्च तथा साम्राज्य दो पृथक् समाज नही है बल्कि एक ही समाज है, चाहे उसे साम्राज्य कहें अथवा चर्च। पोप तथा सम्राट उस एक ही सार्वभौम समाज के दो प्रमुख हैं। पोप का अस्तित्व उस समाज की आध्यात्मिक समस्याओं का निवारण करने के लिए तथा सम्राट का अस्तित्व लौकिक समस्याओं को हल करने के लिए है। आरम्भिक चर्च संस्थापकों ने इस सार्वभौम समाज के इन दोनों क्षेत्रों के मध्य समानता के सिद्धान्त को दर्शाया था, जैसा कि पोप गिलेसियस प्रथम के दो तलवारों के सिद्धान्त से स्पष्ट है। इसकी पुष्टि में ईसा मसीह के इस कथन का दृष्टान्ट दिया गया था कि 'सीजर की वस्तु सीजर को तथा पीटर की पीटर को अर्पित करो।' परन्तु रोमन साम्राज्य के पतन होने पर सार्वभौम चर्च की धारणा को आघात पहुँचने लगा। बाद में शार्लमेन तथा उसके उत्तराधिकारी पवित्र-रोमन-साम्राज्य के सम्राटों ने पुन: सार्वभौमिकतावाद की धारणा को साकार करने की दिशा में कदम उठाये। पोप ग्रीगरी सप्तम (हिल्डब्रेंड) ने चच-संगठन के एकीकरण द्वारा सम्पूर्ण चर्च समाज की सार्वभौमिकता को पुनर्निर्मित करने का प्रयास किया। परन्तु इस युग में सार्वभौमिकतावाद का स्वरूप बदल गया था। ग्रीगरी सप्तम का सार्वभौम ईसाई समाज आध्यात्मिक एवं लौकिक दोनों क्षेत्रों मे पोप की एकछत्र प्रभुसत्ता का द्योतक था। पोप ग्रीगरी सप्तम ने सम्राट की तुलना में पोप की श्रेष्ठतर स्थिति का दावा किया। अत: उस समय तक एक सार्वभौम ईसाई समाज के अन्तर्गत चर्च एवं राजा की द्विविध शासन प्रणाली का जो सिद्धान्त प्रचलित था उसके विरुद्ध यह धारणा बलवती होने लगी कि सम्पूर्ण ईसाई समाज का शासन पोप की एकछत्र प्रभुसत्ता के अधीन सम्पन्न होना चाहिए। सम्राट को पोप की सत्ता के अधीन रहना चाहिए। इस प्रकार चर्च अधिकारियों को लौकिक शासकों के नियन्त्रण से पूर्णतया मुक्त करने का अभियान ग्रीगरी सप्तम तथा उसके अनुयायियों की विचारधारा का प्रमुख तत्त्व बन गया। इसका आशय यह था कि चर्च से सम्बद्ध व्यक्तियों के ऊपर लौकिक-सत्ता सामाजिक, आर्थिक या प्रशासकीय किसी भी प्रकार का नियन्त्रण नहीं रख सकती। बार्कर के अनुसार इसका अभिप्राय 'चर्च को राज्य के बन्धन से मुक्त करना था परन्तु राज्य को चर्च के बन्धन से मुक्त करना नहीं।'[2] इस दृष्टि से सार्वभौम ईसाई समाज की सम्पूर्ण प्रभुसत्ता चर्च अथवा पोप के हाथ में रखने की नीति

[1] The note of all medieval thought is its universalism.'—*Ibid.*, 12.
[2] *Ibid.*, 13.

अपनायी गयी और सार्वभौम ईसाई समाज को एक धर्मतन्त्री राज्य-व्यवस्था में परिणत करने का अभियान प्रारम्भ हुआ।

मध्ययुगीन सार्वभौमिकतावाद के अन्तर्गत एक एकाकी सार्वभौम समाज को ही राज्य तथा चर्च दोनों रूपों में माना जाने लगा, जिसकी दो सरकारें (चर्च तथा राजा) थीं। कोई भी व्यक्ति राज्य का नागरिक बिना ईसाई हुए नहीं हो सकता था। धर्म-बहिष्कृत व्यक्ति किसी राजनीतिक या कानूनी अधिकार को प्राप्त नहीं कर सकता था। अतः मध्ययुगीन सार्वभौम समाज (राज्य) की सम्प्रभु शक्ति एक थी, भले ही उसकी सरकारें दो थीं। उसका एक जीवन-सिद्धान्त था जिसका नियमन एक सम्प्रभु सत्ता द्वारा होना माना जाता रहा। यह जीवन-सिद्धान्त दैवी था और उसकी सत्ता दैवी प्रतिनिधि के रूप की थी। यह सत्ता ईसाई धर्म सिद्धान्तों के आधार पर समस्त नागरिकों के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक कार्यकलापों का नियमन करती। बार्कर ने कहा है कि 'बहुधा यह कहा जाता है कि मध्ययुग मे कोई राज्य नहीं था।'[1] इस कथन में पर्याप्त सत्य है, क्योंकि मध्ययुगीन सार्वभौम समाज के अन्तर्गत न तो ग्रीक ढंग के आत्म-निर्भर नगर-राज्यों की व्यवस्था की कल्पना की जा सकती है, न एक विकेन्द्रीकृत शासन-व्यवस्था वाले रोमन साम्राज्य की, और न ही आधुनिक युग के एकात्मक या संघात्मक शासन-प्रणाली वाले राष्ट्रीय राज्यों की। इस मध्ययुगीन व्यवस्था के अन्तर्गत राजनीति तथा अर्थशास्त्र पूर्णतया नीतिशास्त्र के अधीन थे और यह समूची व्यवस्थाएँ धर्मतन्त्रात्मक थीं।

सन्त टॉमस ऐक्विना की विचारधारा में भी सार्वभौमिकता की प्रवृत्ति स्पष्टतः विद्यमान रही। उसकी सार्वभौम ईसाई समाज की धारणा मे चर्च की प्रभुत्व शक्ति को राजसत्ता से श्रेष्ठतर माना गया था। दान्ते के विचारों में भी विश्व साम्राज्य की धारणा सार्वभौमिकतावाद की प्रतीक है। अन्तर यही है कि दान्ते की धारणा पोप की प्रभुत्व शक्ति को न मानकर लौकिक सत्ता (सम्राट) की प्रभुत्व शक्ति को मान्य करती है। मध्य युग के अन्तिम वर्षों में राष्ट्रीय राज्यों के अभ्युदय के साथ-साथ सार्वभौमिकतावाद की धारणा भी क्षीण होने लगी।

सार्वभौम समाज के नियमन तथा संचालन हेतु विध्यात्मक कानून का प्रायः अभाव था। चूँकि ऐसा सार्वभौम समाज स्वय एक विध्यात्मक राज्य के रूप में संगठित नहीं था, अतः विध्यात्मक कानून की धारणा भी नहीं थी। तथापि मध्य युग में रोमन तथा स्टॉइक प्राकृतिक कानून की धारणा बनी रही। परन्तु मध्ययुगीन धर्मतन्त्री व्यवस्था के अन्तर्गत प्राकृतिक कानून की धारणा को दैवी स्वरूप प्रदान करने की प्रवृत्ति बनी रही। इनका प्राकृतिक कानून दैवी कानून के रूप का अथवा शाश्वत कानून के रूप का था। कानून का स्रोत बाइबिल था, जिसमें दैवी विवेक को मानवों के ज्ञान हेतु प्रदान किया गया माना जाने लगा। कानून को किसी मानवीय विधायिका द्वारा निर्मित नहीं माना जाता था। उसे मानव विवेक की उपज इस अर्थ मे माना जाता था कि मानव ईश्वर के समान मन की खोज करने की क्षमता रखता है। चूँकि मानव का ऐसा विवेक सार्वभौम स्वरूप का होता है, अतः कानून का स्वरूप भी सार्वभौम है।

(2) **वैधानिक राजतन्त्र** (Constitutional Monarchy)—ईसाई धर्म प्रवर्तक राज्य या राजत्व को मनुष्य के पाप का परिणाम मानते थे। परन्तु उसे दैवी

[1] *Ibid.*, 16.

भी माना जाता था, क्योंकि उसका उद्देश्य न्याय की स्थापना करना था। समूचे मध्य युग में यह धारणा बनी रही कि यद्यपि राजा की उत्पत्ति मानवीय है, क्योंकि उसका निर्वाचन मानव करते थे तथापि निर्वाचकों में राजा का निर्वाचन करते हुए दैवी आत्मा विद्यमान रहती है, अतः राजा का स्वरूप भी दैवी हो जाता है। राजा का कार्य अन्याय का दमन करना, चर्च का प्रतिरक्षण करना तथा न्याय की स्थापना करना है। वह चर्च के एक पदाधिकारी के तुल्य है। अतः राजा दैवी अधिकार प्राप्त कर लेता है। परन्तु इस अर्थ मे वह निरंकुश नहीं है। उसके ऊपर अनेक वैधानिक मर्यादाएँ हैं। राज्याभिषेक की शपथ उसकी सत्ता को मर्यादित करती है। चर्च राजा का संरक्षक था जो उसे धर्म-बहिष्कृत भी कर सकता था। सामन्तशाही के अन्तर्गत राजा को संविदा की शर्तें माननी पड़ती थीं। राजा को दैवी कानून, प्राकृतिक कानून तथा परम्परागत कानून के अनुसार ही अपनी सत्ता का प्रयोग करना पडता था। मध्ययुग में परम्परागत कानून की धारणा ट्यूटनों के प्रभाव से विकसित हो गयी थी। यद्यपि ईसाई समाज के अन्तर्गत कोई परम्परागत कानून धार्मिक कानून से असंगति रखने पर अवैध माना जाता था, तथापि जो परम्पराएँ इस श्रेणी मे नहीं आती थीं उनको मानना भी राजा के लिए आवश्यक माना जाता था। जनता को भी यह अधिकार था कि जब वह राजा का निर्वाचन कर सकती है तो वह उसे पदच्युत भी कर सकती है। यद्यपि प्रारम्भ में चर्च में पोप की निरंकुशता का सिद्धान्त प्रचलित रहा, तथापि बाद के मध्ययुग मे जब पोप की सत्ता का विरोध होने लगा तो चर्च में भी पोप की सत्ता को मर्यादित करने की धारणा विकसित हुई। इस प्रकार मध्ययुग के विचारों में सत्ता के दैवी अधिकार तथा सविदावाद दोनों धारणाओं के मध्य सामंजस्य बना रहा।

(3) **लोक-प्रभुसत्ता की धारणा** (The Idea of Popular Sovereignty)—सम्पूर्ण मध्ययुग में रोमन इम्पीरियम के सिद्धान्त की मान्यता बनी रही। इसके अनुसार यह माना जाता था कि राज्य की उत्पत्ति मानवीय है क्योकि वह मानव के पतन का परिणाम है और राजसत्ता का स्रोत जनता है। अतः राजा का पद रिक्त होने पर राज्य की प्रभुसत्ता जनता के हाथ मे आ जाती है, जिसे वह पुनः निर्वाचित राजा को प्रदान करती है। इस धारणा का समर्थन टॉमस ऐक्विना ने भी किया है क्योंकि वह निर्वाचित राजतन्त्र को सर्वोत्तम राज्य-व्यवस्था मानता है। मारसीलियो ने इस सिद्धान्त को और अधिक विकसित किया। अतः मध्ययुग में राजा को कानून से ऊपर मानने की धारणा नहीं रही। मारसीलियो की दृष्टि से कानून जनता का या उसकी प्रतिनिध्यात्मक विधायिका का आदेश है। कानून का उद्देश्य समस्त समाज का हित है। अतः कानून का निर्माण समाज की स्वीकृति से होना चाहिए। राजा केवल उस कानून को लागू करने वाला अभिकर्ता है। राजा का निर्वाचन जनता करती है जो सम्प्रभु है। सत्ता-संघर्ष के युग में चर्च शासन के सम्बन्ध में भी पोप की निरंकुश सत्ता के विरोधियों ने लोक-प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का अनुगमन किया और सामान्य चर्च परिषद् को चर्च शासन की सम्प्रभुता प्रदान करने की विचारधारा अपनायी।

(4) **प्रतिनिध्यात्मक शासन** (Representative Government)—प्रतिनिध्यात्मक शासन संस्थाओं को अपनाने की परम्परा मध्ययुग में ट्यूटनों से प्रारम्भ हुई थी। उनके मध्य ऐसी संस्थाओं की परम्परा प्रचलित थी। यद्यपि पोप की

निरंकुशशाही के अन्तर्गत यह भावना विकसित नहीं हो पायी तथापि चौदहवीं शताब्दी में राजसत्ता के समर्थकों मारसीलियो तथा विलियम ऑफ ओखम ने राज्य तथा चर्च दोनों के लिए प्रतिनिध्यात्मक प्रणाली का समर्थन किया था। पोप को कार्डिनल मण्डल के द्वारा चुने जाने तथा चर्च प्रशासन के लिए सामान्य चर्च-परिषद् की योजनाएँ प्रतिनिध्यात्मक शासन की द्योतक हैं। यह सिद्धान्त कन्सीलियर आन्दोलन का प्रमुख तत्त्व था। भविष्य में यह सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन तथा व्यवहार का आवश्यक अग हो गया। आधुनिक युग के प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्रों को मध्ययुग की यह एक महत्त्वपूर्ण देन है।

(5) **समुदायगत जीवन** (Group Life)—मध्ययुगीन समुदायगत जीवन के सम्बन्ध में बार्कर ने कहा है कि 'यद्यपि मध्ययुगीन सामाजिक व्यवहार की इस शृंखला ने मध्ययुग की विचारधारा को स्पष्टतः बहुत प्रभावित नहीं किया तथापि मध्ययुग के चिन्तन से निकला हुआ यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।' इसका अस्तित्व चर्च की विविध व्यवस्थाओं, राज्य के अन्तर्गत विविध स्थानीय गुटों यथा कम्यून, श्रेणी, प्रान्तों तथा अनेक सामाजिक रियासतों (estates) में पाया जाता है। निस्सन्देह ऐसे समुदाय चर्च संगठन तथा चर्च प्रशासन के अन्तर्गत बहुत अधिक स्वायत्तशासी नहीं रह पाये तथापि इनमें से कई एक पर्याप्त स्वायत्तता का उपभोग करते ही थे। टॉमस ऐक्विना ने नगर को सामुदायिक जीवन का एक सर्वोत्तम नमूना बताया है, जो स्वायत्तशासी था और अनेक संस्थाओं का संचालन करता था। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार की औद्योगिक तथा व्यावसायिक श्रेणियों का भी अस्तित्व मध्ययुगीन यूरोप में यत्र-तत्र विद्यमान रहा, जो अपनी विभिन्न समस्याओं को स्वयमेव हल करते थे और उनके अपने-अपने कानून तथा नियम थे। इस प्रकार मध्ययुगीन राज्य इन विविध समुदायों तथा श्रेणियों द्वारा निर्मित संगठन था। इन समुदायों के ऊपर राज्य का नियन्त्रण उस रूप में नहीं था जैसा कि आधुनिक राज्यों में विविध समुदायों, श्रेणियों आदि के सम्बन्ध में पाया जाता है। फिर भी व्यावसायिक क्षेत्रों में अनेक प्रकार की स्वायत्तशासी श्रेणियों का अस्तित्व बना रहा। 20वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड के श्रेणी समाजवादी विचारकों को मध्ययुगीन व्यावसायिक श्रेणियों के ज्ञान ने बहुत प्रभावित किया है।

(6) **सामन्तवाद** (Feudalism)—मध्ययुगीन राजनीतिक विचारों के अन्तर्गत तत्कालीन सामन्तवादी व्यवस्था का महत्त्व भी किसी भाँति कम नहीं है। यह व्यवस्था ट्यूटन लोगों में प्रचलित थी। रोमन साम्राज्य पर विजय प्राप्त कर लेने के पश्चात् एक केन्द्रीकृत राज्य व्यवस्था के अभाव मे उन्होंने इसे रोमन साम्राज्य के भागों में भी लागू किया। इस प्रथा ने कालान्तर में चर्च संगठन पर अपना प्रभाव डाला जिसके कारण चर्च के पास भौतिक सम्पत्ति बढ़ने लगी। चर्च अधिकारियों में भ्रष्टाचार फैलाने में इसका पर्याप्त हाथ माना जा सकता है। इस प्रथा के कारण स्थानीय भू-स्वामियों की शक्ति बढ़ने से सार्वभौम राज्य की धारणा को बड़ा आघात पहुँचा। कालान्तर में भिन्न-भिन्न देशों में जमींदारी प्रथा तथा सामन्तशाही पर्याप्त लम्बी अवधि तक बनी रही।

(7) **कानून** (Law)—कानून के सम्बन्ध में मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन रोमन विधिवेत्ताओं तथा न्यायशास्त्रियों की तुलना में बहुत पीछे रह जाता है। राजनीतिक चिन्तन को कानून के बारे में रोम की महत्त्वपूर्ण देन थी। रोमन प्राकृतिक

कानून की धारणा को मध्य युग में भी अपनाया जाता रहा। परन्तु मध्ययुग में जब रोम पर ट्यूटनों का प्रभुत्व हो गया तो ट्यूटनों के प्रभाव से कानून के सम्बन्ध में एक नई धारणा विकसित हुई। यह धारणा थी कानून की वैयक्तिक प्रकृति को मानने की। विभिन्न जन-जातियों के अपने परम्परागत कानून होते थे और उन्हें शासकों को मानना पड़ता था। अतः यह माना जाता रहा कि कानून का स्रोत जन-परम्पराएँ हैं न कि शासक का आदेश। परोक्ष रूप में इस धारणा का अर्थ यह लिया जाता था कि कानून जनता द्वारा बनाया जाता है, अथवा कानून जनसमूह की इच्छा की अभिव्यक्ति है। ऐसा कानून अलिखित था न कि विध्यात्मक। यह जन-समूह की अतीतकाल से चलती आ रही परम्पराओं पर आधारित था। इस धारणा ने बाद में लोक प्रभुसत्ता की धारणा के विकास को सहायता प्रदान की। यद्यपि कानून की ऐसी धारणा भविष्य में समूचे यूरोप में व्याप्त रह पाई तथापि अनेक देशों में जिनमें इंग्लैण्ड प्रमुख है, अभी भी कानून की यह धारणा मान्य है।

नवाँ अध्याय

राजनीतिक चिन्तन में आधुनिकता का आरम्भ

राष्ट्रीय-राज्य की विचारधारा

मैकियाविली (1469–1527)

जीवन परिचय—पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में 14वीं तथा 15वीं शताब्दियों का कनसीलियर आन्दोलन मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन का अन्तिम युग था। यूरोपीय राजनीतिक विचारधाराओं का यह काल नव-जागरण (renaissance) का युग भी कहा जाता है। इस युग में विशुद्ध मध्ययुगीन चिन्तन के स्थान पर प्राचीन ग्रीक गैर-ईसाई विचारधाराओं का पुनः अभ्युदय हो रहा था। कनसीलियर आन्दोलन की असफलता के कारण राज्य तथा चर्च दोनों मे मर्यादित शासन की स्थापना की व्यावहारिकता कुछ समय के लिए लुप्त हो गई थी। दूसरी ओर चर्च सुधार आन्दोलन का नये ढंग से प्रचार होने लग गया था। यूरोप की राजनीति में राष्ट्रीय आधार पर राज्यों की स्थापना हो रही थी। जर्मनी, फ्रांस, स्पेन तथा इंग्लैण्ड में सुदृढ़ राजतन्त्र स्थापित हो चुके थे। दूसरी ओर इटली अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। ऐसे युग में इटली के फ्लोरेन्स नामक नगर में 1469 में मैकियाविली (Machiavelli) का जन्म हुआ। फ्लोरेन्स उस समय के नव-जागरण का मूल केन्द्र था। आरम्भिक शिक्षा-दीक्षा के उपरान्त 25 वर्ष की अवस्था में मैकियाविली का राजनीतिक जीवन प्रारम्भ हुआ। अपनी प्रतिभा के कारण यह फ्लोरेन्स के गणतन्त्री राज्य में एक उच्च राजनीतिक पद पर आसीन हुआ। यह शासकीय पद युद्ध तथा आन्तरिक मामलों से सम्बद्ध था। 1512 तक मैकियाविली इस पद पर बना रहा। इस बीच उसे इटली के विविध राज्यों के साथ कूटनीतिक सम्पर्क स्थापित करने तथा यूरोप के अन्य राज्यों के साथ कूटनीतिक पत्र-व्यवहार करने तथा उन देशों का भ्रमण करने का अवसर मिला जिसके कारण उसे सक्रिय राजनीति का पर्याप्त व्यावहारिक अनुभव प्राप्त हो गया। 1512 में फ्लोरेन्स में राज्य-क्रान्ति हो जाने के फलस्वरूप पुनः मैडिसी शासकों को शासन के शीर्ष पर सत्तारूढ़ होने का अवसर मिला। मैकियाविली पर इन शासकों के विरुद्ध षड्यन्त्र का आरोप लगाया गया। अतः उसे न केवल अपने पद से ही अलग होना पड़ा, अपितु देश-निष्कासन का दण्ड भी भोगना पड़ा। उसके ऊपर षड्यन्त्र का अभियोग चलाया गया और कुछ काल तक कारागार का दण्ड भोगने के पश्चात् उसे मुक्त कर दिया गया। यहाँ से उसके राजनीतिक जीवन का अन्त हो गया। वह देहात के एक फार्म में रहने लगा। वहीं उसने अपने राजनीतिक अनुभवों के आधार पर अपनी सुप्रसिद्ध रचनाएँ 'प्रिंस' (The Prince) तथा 'डिसकोर्सेज' (The Discourses)

लिखीं। कहा जाता है कि मैकियाविली की रचना 'प्रिंस' मैडिसी शासक लोरेंजो को सम्बोधित करके लिखी गई थी। सम्भवतः मैकियाविली का उद्देश्य शासक से कोई उच्च राजनीतिक पद प्राप्त करना था, जिसमें वह असफल रहा। यह दोनों रचनाएँ साथ-साथ प्रारम्भ की गयीं। अतः यद्यपि इनमें कुछ बातों के सम्बन्ध में विचार-वैविध्य है, तथापि अनेक दृष्टियों से दोनों के विचारों में साम्य भी है। प्रिंस 1513 में पूर्ण की गयी थी और डिसकोर्सेज कुछ समय पश्चात्। मैकियाविली की अन्य रचनाएँ फ्लोरेन्स का इतिहास (History of Florence) तथा युद्ध की कला (The Art of War) हैं। अपनी महत्त्वाकांक्षा के विपरीत मैकियाविली को इन रचनाओं के पुरस्कार-स्वरूप कोई विशिष्ट राजनयिक उपलब्धि नहीं हुई। जीवन के अन्तिम वर्षों में उसे एक साधारण राजकीय पद ही प्राप्त हो सका। परन्तु राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में उसकी इन रचनाओं का पर्याप्त महत्त्व है। 1527 में उसकी मृत्यु हो गई।

प्रेरणा स्रोत

(1) **नव-जागरण**—यूरोप के इतिहास में 14वीं शताब्दी से 16वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों का काल नव-जागरण (renaissance) का युग कहा जाता है। इस युग में यूरोप में ज्ञान तथा विद्वत्ता के क्षेत्र में ही नहीं अपितु कला, साहित्य, संस्कृति, व्यापार, वाणिज्य आदि विविध क्षेत्रों में नई जागृति हो रही थी। इन क्षेत्रों में मध्ययुगीन परम्पराएँ लुप्त होती जा रही थीं। प्राचीन ग्रीक तथा रोमन आदर्शों, साहित्य तथा विविध विचारधाराओं का पुनः अध्ययन प्रारम्भ होने लगा था। उसे क्रमबद्ध तथा वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करने के प्रयास जारी थे। सामाजिक तथा राजनीतिक विचारधाराओं के क्षेत्र में अरस्तूवाद का पुनरुत्थान होने लगा था। धार्मिक अन्धविश्वासों के स्थान पर धर्म-निरपेक्ष तथा वैज्ञानिक ढंग से जीवन की विविध समस्याओं का अध्ययन किया जाने लगा था। मानव के साथ सम्बन्धों तथा मानव के समाज के साथ सम्बन्धों के बारे में नये दृष्टिकोण प्रस्तुत किये जाने लगे थे। धर्म तथा नैतिकता के क्षेत्र में भी मानव के ईश्वर के साथ सम्बन्धों का धार्मिक अन्धविश्वासिता के सन्दर्भ में अध्ययन करने के स्थान पर सामाजिक नैतिकता के सन्दर्भ में मानव-मानव के मध्य सम्बन्धों पर विचार किया जाने लगा था। लोक-परलोक तथा मानवेत्तर अथवा अतिप्राकृतिक (supernatural) सत्ता की मान्यता की धारणा निर्बल होती जा रही थी। पारलौकिक मोक्ष के स्थान पर इहलौकिक जीवन की उत्तमता तथा सुख प्राप्ति की महत्ता बढ़ रही थी। इस नव-जागरण के युग का केन्द्र इटली तथा मुख्य रूप से फ्लोरेन्स का नगर था जहाँ मैकियाविली का जन्म हुआ था। अतः मैकियाविली की विचारधाराओं पर नव-जागरण के काल की इन प्रवृत्तियों का विशेष प्रभाव पड़ा। उसका राजनीतिक चिन्तन नव-जागरण की धर्म-निरपेक्ष प्रवृत्ति तथा ऐतिहासिक पद्धति से चिन्तन करने की दिशा में प्रवृत्त है। उसकी चिन्तन पद्धति में अरस्तू की पद्धति का प्रभाव था।

(2) **इटली की राजनीतिक परिस्थिति**—मैकियाविली के युग में मध्ययुगीन सार्वभौमिकतावाद की धारणा समाप्त हो चुकी थी। उस काल मे अब न तो टॉमस ऐक्विना आदि की धारणा के पोप की प्रभुसत्ता वाले सार्वभौम ईसाई राज्य की स्थापना सम्भव थी और न दान्ते द्वारा प्रतिपादित सार्वभौम विश्व साम्राज्य की

स्थापना का कोई आधार बन सकता था। चर्च की एकता की सम्भावना समाप्त होने के साथ-साथ साम्राज्य की एकता भी असम्भव हो गयी थी। इंग्लैण्ड, स्पेन तथा फ्रांस में राष्ट्रीय राज्य स्थापित हो चुके थे। जर्मनी एक साम्राज्य के रूप में विकसित हो रहा था। परन्तु इटली जो प्राचीन रोमन साम्राज्य का प्रमुख केन्द्र बना रहा था, अब छिन्न-भिन्न हो चुका था। वह पाँच राज्यों में विभक्त था, जिनमें से फ्लोरेन्स तथा वेनिस में गणतन्त्र, नेपल्स तथा मिलन में निरंकुशतन्त्र और रोम में कैथोलिक चर्च के पोप का प्रभुत्व था। इटली के इन राज्यों की स्थिति आन्तरिक तथा बाह्य दोनों दृष्टियों से शोचनीय होती जा रही थी। इन राज्यों के ऊपर फ्रांस जर्मनी तथा स्पेन के द्वारा आक्रमण किये जाने का बराबर भय बना हुआ था। आन्तरिक दृष्टि से भी स्वयं इन पाँच राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध कटुतापूर्ण होते जा रहे थे। वे एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी तथा शत्रु थे। इस प्रकार इटली की राजनैतिक स्थिति डांवाडोल हो चुकी थी। अपने युग के इटली के अन्य अनेक विद्वानों की भाँति मैकियाविली भी एक सच्चा देश भक्त था। अतः इटली की जो दुर्दशा उसके विभाजन के कारण हो गई थी, वह मैकियाविली को सह्य नहीं थी। मैकियाविली का विश्वास था कि इटली की ऐसी दुर्दशा होने का मुख्य कारण चर्च था। 'चर्च न तो स्वयं इतना शक्तिशाली है कि वह समूचे इटली का एकीकरण कर सके, और न वह किसी अन्य सत्ता को ऐसा करने का अवसर प्रदान करता है। इसीलिए इटली किसी एक प्रधान के अधीन एक सुदृढ़ राज्य नहीं बन सका।'[1] मैकियाविली ने अनुभव किया कि इटली का समाज यद्यपि प्रतिभाशाली, विवेकशील तथा सृजनात्मक मस्तिष्क वाले व्यक्तियों से भरा पड़ा है तथापि वह राजनीतिक दृष्टि से भ्रष्ट तथा पतित हो चुका है। शासन में अत्याचार तथा निर्दयता छायी हुई है। स्वार्थ, बल-प्रयोग, दमन आदि ने सत्य तथा सद्भावना का अन्त कर दिया है। कानून तथा न्याय के अभाव में मानव-जीवन पतितावस्था को पहुँच चुका है। हर क्षेत्र में इटली अपने प्राचीन महान् आदर्शों तथा संस्थाओं को खो चुका है। अतएव इन परिस्थितियों का आभास करते हुए मैकियाविली अपने ग्रन्थों में इन कमियों को दूर करके इटली को एक सुदृढ़ शासन से युक्त एकीकृत राज्य निर्मित करने के साधनों का विवेचन करता है। उसकी विचारधाराएँ इन्हीं समस्याओं के हल की खोज करती हैं।

(3) **यूरोपीय राजनीतिक तथा आर्थिक वातावरण**—मैकियाविली का युग यूरोप के इतिहास में क्रान्तिकारी परिवर्तन का युग था। इसे मध्य युग से आधुनिक युग में संक्रमण का काल कहा जाता है। राजनीतिक क्षेत्र में मध्ययुगीन सामन्तवादी प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं का लोप हो रहा था। इनके स्थान पर सुदृढ़ राजतन्त्र कायम हो रहे थे।[2] स्वयं चर्च, जो मध्ययुगीन राजनीति के अन्तर्गत एक प्रभावशाली संगठन एवं चिन्तन का स्रोत था, राजतन्त्रों के प्रभाव के कारण निर्बल हो चुका था। चर्च की कानूनी-सत्ता लुप्त हो रही थी। चर्च-शासक राजतन्त्रों के अधीन

[1] 'The Church, then, not having been powerful enough to be able to master all Italy, nor having permitted any other power to do so, has been the cause why Italy has never been able to unite under one head.' —Quoted from *The Discourses* in Sabine, *op. cit.*, 290.

[2] 'The absolute monarchy was a thing of blood and iron which rested in large part quite frankly on force.' —Sabine, *op. cit.*, 287.

होते जा रहे थे। यद्यपि उस युग को सच्चे अर्थ में राष्ट्रीय राज्यों का युग तो नहीं कहा जा सकता, तथापि राष्ट्रीय ढंग के राजतन्त्र कायम होते जा रहे थे और मध्य युगीन सार्वभौम ईसाई राज्य की धारणा का अन्त हो चुका था। आर्थिक क्षेत्र में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन होने लगे थे। मध्ययुगीन व्यावसायिक श्रेणियों का लोप हो रहा था। व्यापार की वृद्धि के कारण स्थानीय श्रेणियाँ इसके सचालन में असमर्थ थीं। धनिकों का एक वर्ग व्यापार-व्यवसाय के क्षेत्र में प्रबल होने लगा था और उसे राजतन्त्रों का समर्थन प्राप्त हो रहा था। वह वर्ग स्वयं सुदृढ़ सरकारों का इच्छुक था। यूरोपीय देशों ने अमरीका तथा एशिया के सुदूर देशों के नए मार्गों की खोज कर ली थी और व्यापारियों ने इन देशों से व्यापार प्रारम्भ किया जिस हेतु उन्हें अपने देश की सरकारों की सहायता अपेक्षित थी। इस प्रकार यह मध्यम वर्ग प्रभावशाली होता जा रहा था और राजतन्त्रों का कृपा-पात्र बनने की दिशा में सचेष्ट था। परिणामस्वरूप अभिजात्य-वर्ग (nobility) का प्रभाव कम होने लगा था। स्वयं राष्ट्रीय राजतन्त्र भी अपने-अपने देशों के आर्थिक उत्थान के अभिलाषी होते जा रहे थे ताकि उनका व्यापार अपने देश तथा विदेशों में विकसित होता जाय। इस दिशा में उन्हें धनिक व्यापारी-वर्ग का सहयोग प्राप्त हो रहा था।

मैकियाविली ने यूरोपीय राजतन्त्रों तथा यूरोप के इस नवीन विकास-क्रम का व्यापक अध्ययन किया। उसका ऐतिहासिक अध्ययन भी व्यापक था। उसने अनुभव किया कि इस समस्त विकास-क्रम में इटली ही पिछड़ा रह गया है, जिसका एकमात्र कारण देश में एकता का अभाव है। सैबाइन के अनुसार, 'मैकियाविली के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति इटली की ऐसी गिरती हुई स्थिति को नहीं पहचान सका। उसके अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति को सम्पूर्ण यूरोप में होने वाले इस विकास-क्रम का स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाया।'[1] उपर्युक्त परिस्थितियों के सन्दर्भ में इटली का एक सच्चा देशभक्त होने के नाते मैकियाविली ने यह आभास किया कि जब तक सारा इटली संयुक्त होकर एक राष्ट्रीय राज्य न हो जाय तब तक उसका उत्थान असम्भव है। संयुक्त इटली की सुदृढ़ता हेतु एक सुदृढ़ केन्द्रीकृत शासन-व्यवस्था आवश्यक है। ऐसा सुदृढ़ शासन कैसे स्थापित हो सकता है तथा किस प्रकार शासक को राज्य-विस्तार करना चाहिए और किस प्रकार स्थापित राज्य की सुरक्षा हो सकती है, यही समस्याएँ मैकियाविली के राजदर्शन की प्रमुख धारणाएँ हैं। अपने विविध ग्रन्थों में मैकियाविली ने इन्हीं समस्याओं के सम्बन्ध में विचार रखे हैं।

मैकियाविली का राजदर्शन

राजनीतिक विचारधाराओं के प्रतिपादन में मैकियाविली का उद्देश्य राज्य के सम्बन्ध में चिन्तनात्मक विचारधाराओं का विवेचन करके राजनीतिक दर्शन का प्रतिपादन करना नहीं था। वह स्वयं एक दार्शनिक चिन्तक नहीं था। उसका मुख्य उद्देश्य उन साधनों की खोज करना था जिनके द्वारा इटली में आन्तरिक अस्त-व्यस्तता को समाप्त करके तथा बाह्य आक्रमणों से उसकी रक्षा करके एक सुदृढ़

[1] 'No man of his age saw so clearly the direction that political evolution was taking throughout Europe...certainly no one knew Italy as Machiavelli did.' —*Ibid.*, 288.

राज्य की स्थापना की जा सके। अपने ग्रन्थ 'डिसकोर्सेज' में वह उन शक्तियों की खोज करता है जो मानवों को एक समाज के रूप में संगठित करती हैं और एक एकीकृत तथा सुसंगठित राजनीतिक समाज की स्थापना करने में सहायक होती हैं। 'प्रिंस' में वह उन तथ्यों का वर्णन करता है, जो राज्य के शासन को सुदृढ़ बनाने के लिए आवश्यक हैं। मैक्सी ने कहा है कि 'प्रिंस एक सफल शासन की तकनीक का विवेचन करने वाली व्यावहारिक पुस्तिका है। किसी राज्य की समस्याओं के हल के लिए जितने स्पष्ट, सरल तथा प्रत्यक्ष रूप के तथ्यों का वर्णन इस ग्रंथ में किया गया है उसकी कल्पना अन्यत्र नहीं की जा सकती।'[1] उसकी विचार-पद्धति विश्लेषणात्मक है। वह यथार्थ परिस्थितियों का अध्ययन करके उनके कारणों की खोज करता है; उसके पश्चात् सामान्य निष्कर्ष पर पहुँचता है। उसने ऐतिहासिक पद्धति का भी अनुगमन किया है। उसका कथन है कि 'जिस व्यक्ति को यह ज्ञात करना है कि भविष्य में क्या होगा, उसे पहले यह ज्ञात करना चाहिए कि अतीत में क्या हो चुका है।' उसके विचार से विभिन्न युगों तथा स्थानों में जिन परिस्थितियों के अन्तर्गत घटनाएँ घटती हैं और समस्याओं का समाधान होता है, वही क्रम सर्वत्र तथा सदैव विद्यमान रहता है। इतिहास राजनीति से घनिष्टतया सम्बद्ध है। इस तथ्य की वह ग्रीस तथा रोम के इतिहास के दृष्टान्तों द्वारा पुष्टि करता है, परन्तु उसके इस विचार में वास्तविकता इतनी नहीं है जितनी कि वह दिखाई देती है। वास्तव में मैकियाविली के विचारों का स्रोत इतिहास नहीं था, बल्कि उसके युग की परिस्थितियाँ तथा मानव आचरण के सम्बन्ध में उसके स्वयं के निष्कर्ष थे। मानव प्रकृति के सम्बन्ध में उसने जो दृष्टिकोण अपनाया था उसके अनुसार मनुष्य स्वार्थी, कपटी, धोखेबाज, कृतघ्नी आदि होता है। परन्तु यह धारणा एक ऐतिहासिक सत्य या तथ्य नहीं है। मानव की इन कमियों के बारे में उसने अपने काल की इटली की परिस्थितियों के आधार पर ऐसे निष्कर्ष निकाले हैं।

'मैकियाविली का राजदर्शन राज्य का सिद्धान्त न होकर राज्य की सुरक्षा का सिद्धान्त है।'[2] वह अपनी विचारधाराओं के अन्तर्गत राजनीति के सिद्धान्तों का विवेचन नहीं करता, अपितु उसकी विचारधाराएँ शासन-कला का विवेचन करती हैं। यद्यपि ऐतिहासिक, तुलनात्मक तथा पर्यवेक्षणात्मक पद्धतियों का अनुगमन करने में वह अरस्तू की परम्परा को अपनाता है तथापि किसी भी रूप में वह अरस्तू की तुलना में एक राजनीतिक चिन्तक होने की श्रेणी में नहीं आ सकता। उसके उद्देश्य तथा दृष्टिकोण अरस्तू की अपेक्षा अत्यन्त संकीर्ण थे। अरस्तू राज्य सम्बन्धी विविध धारणाओं तथा आदर्शों के सम्बन्ध में चिन्तनात्मक पद्धति अपनाता है। उसने राज्य की पारिभाषिक व्याख्या उसकी उत्पत्ति, उसके स्वरूप, संगठन, कार्य, कानून, शासन-प्रणालियों, प्रशासनिक समस्याओं आदि का विवेचन राज्य को एक संगठित सामाजिक तथा राजनीतिक इकाई मानकर किया है। उसका दर्शन राज्य का सिद्धान्त (a theory of state) है। इसके विपरीत मैकियाविली ने राज्य-विषयक इन धारणाओं तथा सिद्धान्तों को या तो पूर्णतया उपेक्षित रखा है अथवा वह इनका

[1] '*The Prince* purports to be a practical hand book explaining the technique of successful rulership. A more brutally frank, direct and simple discussion of the problems of managing a state could not be imagined.' —Maxey, *op. cit.*, 129.

[2] 'Machiavelli's doctrine is the theory of the preservation of state, rather than the theory of state.'

ऊपरी विवेचन कर देने भर से सन्तुष्ट है। इस सम्बन्ध में भी उसके विचारों में क्रमबद्धता का नितान्त अभाव है। मैकियाविली एक दार्शनिक चिन्तक होने की अपेक्षा एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ था। इसलिए भी 'उसके राजनीतिक विचार राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं करते बल्कि उन्हें कूटनीतिक की श्रेणी में रखा जाता है, जिस पर उस युग के अनेक लेखकों ने पर्याप्त मात्रा में लिखा था।'[1] मैकियाविली का उद्देश्य ऐसे 'शासन की कला' का विवेचन करना था जिसका अनुगमन करके शासक इटली को एक एकीकृत तथा सुदृढ़ राज्य बना सके और साथ ही अपने राज्य का विस्तार करने में सफल हो सके। इस दृष्टि से उसके विचार राज्य के संरक्षण के सिद्धान्त हैं। वह एक राजनीतिक विचारवादी (political theorist) नहीं था, बल्कि उसका लक्ष्य उन तथ्यों का विवेचन करना था जो राजनीति की कला को सफलीभूत बनाने के लिए आवश्यक हैं। अतः वह राज्य तथा शासन की समस्याओं का सैद्धान्तिक विवेचन नहीं करता, बल्कि अपने काल की परिस्थितियों का अध्ययन करके उन व्यावहारिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है जो कि राज्य की सुदृढ़ता तथा रक्षा के लिए वांछनीय हैं। इन विचार-धाराओं के विवेचन में भी क्रमबद्धता का अभाव है।

सबसे पहला आधुनिक राजनीतिक चिन्तक—मैकियाविली से पूर्व मध्ययुग के समस्त राजनीतिक चिन्तकों की विचारधाराएँ राज्य तथा चर्च के पारस्परिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में व्यक्त की जाती रही थीं। इन विचारकों के समक्ष पोप तथा सम्राट के मध्य अधिकार-क्षेत्र के समुचित निर्धारण की समस्या बनी रही। अतः इन दो सत्ताओं के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों तथा संघर्ष पर ही मध्ययुगीन राजनीतिक विचारधाराएँ केन्द्रित थीं। कानून का विवेचन भी ईसाई धर्म-ग्रन्थों में वर्णित नियमों के सन्दर्भ में ही किया जाता रहा था। परन्तु मैकियाविली की विचारधारा में इन बातों को उपेक्षित रखा गया है। वह अपने सिद्धान्तों का विवेचन इतिहास तथा तत्कालीन यथार्थ राज्य की समस्याओं के सन्दर्भ में करता है। अतः मध्ययुगीन परम्पराओं से मुक्त होकर राजनीतिक विचारधाराओं को नये रूप से प्रस्तुत करने के कारण उसे सबसे पहला आधुनिक राजनीतिक चिन्तक (the first modern political thinker) माना जाता है। डनिंग के शब्दों में, 'प्रिंस सबसे पहली महान् रचना है जिसमें मध्ययुगीन चिन्तन-प्रणाली का परित्याग किया गया है।'[2] सफल राजनीति की कला को जिस स्पष्टता के साथ मैकियाविली ने प्रस्तुत किया है, उसके सम्बन्ध में मैक्सी ने कहा है कि 'एक मूक से मूक ताजधारी शासक भी उसके प्रत्येक शब्द को आसानी से समझ सकता है। उसके विचार न तो उच्चकोटि की सैद्धान्तिकता से युक्त हैं, न उनमें काल्पनिक चिन्तन है, और न ही उनमें जटिल आदर्शों का प्रतिपादन किया गया है, प्रत्युत् प्रिंस के 26 छोटे अध्यायों में दैनिक मामलों की प्रयोगशाला में परीक्षण किये गये तथा अनुभव पर आधारित व्यावहारिक राजनीति के नियम हैं।'[3] राजनीति की कला के सम्बन्ध में जो निष्कर्ष मैकियाविली

[1] 'Machiavelli's political writings belong less to political theory than to the class of diplomatic literature of which a great volume was produced by Italian writers of his age.'—Sabine, *op. cit.*, 291.

[2] '*The Prince* was the first great work which marked a break from the medieval way of thinking.'

[3] 'The dumbest head that ever wore a crown could readily grasp every word of it. No fine spun theories, no abstruse speculation, no complex

ने निकाले हैं, वे न तो किन्हीं धर्म-ग्रंथों को उद्धृत करते हुए पुष्ट किये गये हैं, न किन्हीं दार्शनिक प्रमाणों के आधार पर, बल्कि वे लेखक के ऐतिहासिक निष्कर्ष अथवा तत्कालीन तथ्यों पर आधारित हैं। राजनीतिक समस्याओं के समाधान हेतु मैकियाविली धार्मिक, नैतिक, आचारिक तथा दार्शनिक सिद्धान्तों की मान्यता को कोई महत्त्व नहीं देता। उसने राजनीतिक विचारधाराओं को व्यावहारिक रूप प्रदान करने का प्रयास किया है। अतएव उसके निष्कर्ष व्यावहारिक अनुभवों पर आधारित हैं।

मैकियाविली की समस्त विचारधाराएँ शासन की यान्त्रिकता का विवेचन करती हैं। वह उन साधनों का विवेचन करती हैं जिनके द्वारा राज्य को सुदृढ़ बनाया जा सके; वह उन नीतियों का प्रतिपादन करती हैं, जिनका अनुगमन करके राज्य अपना विस्तार कर सके तथा उन कमियों को बताती हैं जिनके कारण राज्य का विनाश होता है।[1] इस दृष्टि से मैकियाविली की विचारधाराएँ मुख्यतया राजनीतिक वास्तविकता, सैनिक शक्ति के संचय तथा शासन-कला के व्यावहारिक नियमों, तथा साधनों का विवेचन करती हैं। धर्म, नैतिकता तथा सामाजिक आचरण के नियमों को वह उसी समय तक वांछित मानता है जहाँ तक कि वे राजनीतिक व्यवहार हेतु आवश्यक हों। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मैकियाविली इन सिद्धान्तों को मान्यता देने में संकोच नहीं करता कि 'साध्य ही साधनों के औचित्य की कसौटी है' अथवा 'शक्ति ही अधिकार है' अथवा 'आवश्यकता कानून को नहीं देखती'[2] राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में 'मैकियाविली को किसी विशिष्ट विचारधारा के अनुयायियों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता, अपितु उसकी विचारधारा स्वयं में एक अपनी विशिष्ट धारा है, जिसे 'मैकियाविलीवाद' की संज्ञा दी जाती है। मध्ययुग से आधुनिक युग के संक्रमण काल में तत्कालीन परिस्थितियों का अवलोकन करते हुए अपने उद्देश्य की सफलता हेतु उसने राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में अपनी विचारधाराओं के प्रतिपादन द्वारा एक विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है। सैबाइन का मत है कि 'यदि मैकियाविली ने किसी अन्य युग या अन्य स्थान पर अपने विचार लिखे होते तो राजनीति के सम्बन्ध में उसकी धारणाएँ बिलकुल भिन्न प्रकृति की होतीं।'[3] आगे उसी लेखक का मत है कि 'मैकियाविली के विचार आश्चर्यजनक ढंग से उसके उद्देश्य पर केन्द्रित हैं। वह राजनीति, राजनीति की कला और युद्ध की कला के अतिरिक्त अन्य किसी चीज के बारे में न लिखता है न सोचता है।'[4] इस रूप में राजनीति के विषय को प्रस्तुत करने वाला वह सबसे पहला यूरोपियन राजनीतिक विचारक है। उसके विचार आधुनिक राज्यों की कई समस्याओं के समाधान के लिए समुचित सिद्ध होते हैं। इसलिए उसे सबसे पहला आधुनिक राजनीतिक चिन्तक कहना सर्वथा उचित है।

---

doctrines find room in its 26 brief chapters, but only tried and practical rules of experience, rules amply tested in the laboratory of everyday affairs.' —Maxey, *op. cit.*, 129.

[1] Sabine, *op. cit.*, 289.

[2] 'The end justifies the means', or 'Might is right', or 'Necessity knows no laws'.

[3] Sabine, *op. cit.*, 292.

[4] 'His writings show, it is true, a surprising concentration of interest. He writes about nothing and thinks about nothing except politics, statecraft, and the art of war.' —*Ibid.*, 301.

मानव-स्वभाव—राज्य सम्बन्धी धारणाओं के प्रतिपादन में मैकियाविली सर्वप्रथम अपने अनुभवों के आधार पर मानव-स्वभाव का विवेचन करता है। यद्यपि इस सन्दर्भ में उसके निष्कर्ष अशुद्ध या एकाकी हैं, तथापि उन धारणाओं के आधार पर ही वह अपने राजनीतिक दर्शन का विकास करता है। मानव स्वभाव के सम्बन्ध में मैकियाविली का मत है कि प्रारम्भ में मनुष्य जानवरों की भाँति अकेला जंगल में रहता था। जनसंख्या में वृद्धि होने तथा मानव में अपनी प्रतिरक्षा की आवश्यकता ने उसे परिवार के रूप में संगठित होकर जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा दी। परिवारों के योग से समाज बना, जिसका निर्माण अवसरवशात् हुआ, अर्थात् मानव में आत्मरक्षा तथा प्रतिरक्षा की आवश्यकता ने समाज के निर्माण में योगदान किया। इस प्रकार मैकियाविली समाज को न तो नैसर्गिक संस्था मानता है, न मनुष्य को स्वभावत: सामाजिक या राजनीतिक प्राणी मानता है जैसा कि टॉमस ऐक्विना और अरस्तू मानते थे। मैकियाविली ने मानव-स्वभाव का नैराश्यपूर्ण चित्र प्रस्तुत किया है। उसके मत से मनुष्य पूर्णतया आत्म-केन्द्रित तथा आत्म-प्रेमी होता है। उसे मात्र अपने व्यक्तिगत हित साधन की चिन्ता रहती है। वस्तुत: मनुष्य एक असामाजिक प्राणी है। अपनी स्वार्थी प्रवृत्ति के कारण वह अपने स्वार्थों की पूर्ति के उद्देश्य से दूसरों का अहित करने से नहीं चूकता। इस प्रकार मानव-मानव के मध्य निरन्तर संघर्ष बना रहता है। मनुष्य के कार्यकलाप उसके विवेक द्वारा निर्देशित नहीं होते। वह विवेकहीन है, अत: उसका निर्देशन संवेगों के द्वारा होता है। मानव-आचरण का नियन्त्रण निरन्तर नयी-नयी वस्तुओं के अर्जन की आकांक्षा द्वारा होता है। मनुष्य में प्रेम तथा भय के दो संवेग विद्यमान रहते हैं। मनुष्य चाहता है कि अन्य उससे प्रेम भी करें, साथ ही भय भी उसके मत से 'सामान्यतया मानव कृतघ्नी, स्वार्थी, सनकी, धोखेबाज, डरपोक तथा लालची होता है।'[1] आमतौर से वह निर्बल, अज्ञानी तथा दुष्ट स्वभाव का होता है, और आवश्यकतावश ही उसे भला बनाया जा सकता है। मनुष्य इतना स्वार्थी होता है कि अपनी स्वार्थ-सिद्धि हेतु वह दूसरों का अहित करने से कतई नहीं हिचकता। मनुष्य में सम्पत्ति के अर्जन की लालसा इतनी अधिक रहती है कि उसके समक्ष वह अपने निकटतम सम्बन्धियों, यहाँ तक कि माता-पिता, भाई आदि किसी, को भी उच्चतर नहीं मानता। मैकियाविली के शब्दों में 'मनुष्य अपने पिता की मृत्यु को तो शीघ्र भूल जाता है, परन्तु पैतृक सम्पत्ति के खोये जाने को नहीं भूलता।'[2] उसके विचार से मानव का मुख्य उद्देश्य अपनी सम्पत्ति, सम्मान तथा सुरक्षा की प्राप्ति है। मानव स्वार्थी है, अत: वह अपनी ही समृद्धि, यश तथा रक्षा की चिन्ता करता है।

मैकियाविली मानव की ऐसी स्वार्थमयी प्रकृति को सुधार कर उसे सामाजिक बनाना चाहता है, ताकि मनुष्य समाज के अहित में अपनी बुरी प्रवृत्तियों का उपयोग न कर सके। उसके मत से सामाजिक जीवन व्यक्ति की सुरक्षा के लिए, कानून मनुष्य के आचरण का नियमन करने के लिए, तथा न्याय उचित तथा अनुचित

[1] 'Generally speaking, men are ungrateful, fickle, deceitful, cowardly and avaricious.'

[2] 'Men more readily forgive the death of a father than the loss of a patrimony.'

के मध्य भेद करने के लिए आवश्यक हैं। शासन का मुख्य उद्देश्य सम्पूर्ण समाज का कल्याण है। अतः सामाजिक हितों के साथ व्यक्ति की ऐसी प्रकृति का समन्वय करने के लिए मैकियाविली एक सफल शासक को अनेक सुझाव देता है। उसके मत से एक सफल शासक को चाहिए कि वह व्यक्ति के जीवन तथा सम्पत्ति की अधिकाधिक रक्षा के लिए निरन्तर सचेष्ट रहे। वह नैतिकता तथा परार्थवादी दृष्टिकोण न अपनाकर मानव की स्वार्थमयी प्रवृत्तियों को तुष्ट करने का यथाशक्ति प्रयास करे। उसे व्यक्ति की सम्पत्ति को छीनने का कभी भी प्रयत्न नहीं करना चाहिए। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति की सम्पत्ति की रक्षा का ध्यान रखना चाहिए ताकि स्वार्थी मानव दूसरे की सम्पत्ति को छीनने का अवसर प्राप्त न कर सके। वह स्वयं शक्ति तथा भय का प्रदर्शन करके मनुष्य की कुप्रवृत्तियों का दमन करे। एक सफल राजनेता के लिए नैतिकता के सिद्धान्तों का प्रदर्शन करना आवश्यक नहीं है। वह यह भी चिन्ता न करे कि लोग उसे प्यार करते हैं, अपितु उससे लोग भय करें तो उत्तम होगा। अनुशासन बनाये रखने के लिए प्रेम की अपेक्षा भय अधिक अपेक्षित होता है। भय शक्ति पर निर्भर रहता है। मैकियाविली इस बात पर विश्वास नहीं करता कि शिक्षा द्वारा मनुष्य की बुरी प्रवृत्तियों का सुधार किया जा सकता है। इस दृष्टि से मैकियाविली ग्रीक तथा मध्ययुग के महान् विचारकों से बिल्कुल भिन्न दृष्टिकोण रखता है। उसके मत से मानव की कुप्रवृत्तियों का सुधार करने का एक मात्र उपाय एक निरंकुश शासन की व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत शासक बल-प्रवर्ती शक्ति के द्वारा ही मानव को सामाजिकता की दिशा में ला सकता है।

मानव-स्वभाव तथा समाज के सम्बन्ध में मैकियाविली का दृष्टिकोण न तो ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है और न विवेक-मूलक तर्कों पर। उसके ये निष्कर्ष न मनोविज्ञान के सिद्धान्तों पर आधारित हैं और न इनमें किसी प्रकार की क्रमबद्धता होती है। अपितु अनेक दृष्टियों से उसके ये विचार असंगत तथा अवैज्ञानिक तर्कों पर आधारित हैं। इन विचारों के प्रतिपादन में वह विशेष से सामान्य की ओर चलने का क्रम अपनाता है। अतएव उसके इन निष्कर्षों का आधार तत्कालीन इटली की परिस्थितियाँ थीं। जिसका उसे अत्यन्त कटु अनुभव था। कुछ अंश में उसका व्यक्तिगत स्वभाव भी इनमें परिलक्षित हो सकता है, क्योंकि स्वयं मैकियाविली भी एक महत्त्वाकांक्षी राजनीतिज्ञ था। निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी अधिनायकवाद का समर्थन करने में वह राजनीति से धर्म तथा नैतिकता को पृथक् कर देता है। इसलिए मैकियाविली की बहुत आलोचना की जाती है। परन्तु यह भी स्मरणीय है कि चाहे राजनयिक तथा राजनीतिक चिन्तक मैकियाविली की कितनी ही आलोचना करें, वास्तविक व्यवहार में प्राचीन तथा आधुनिक सभी अधिनायकों तथा अधिनायक-वादियों ने उन्हीं साधनों को अपनाया है जो मैकियाविली के द्वारा बताये गये हैं। मानव प्रकृति की जैसी कल्पना मैकियाविली ने की है, लगभग ऐसी ही उसके एक शताब्दी के बाद हॉब्स ने की। यह दूसरी बात है कि हॉब्स ने उसे अधिक मनोवैज्ञानिक तथा क्रमबद्ध ढंग से चित्रित करने का प्रयास किया है, परन्तु निरंकुशतावाद का समर्थन करने में हॉब्स मैकियाविली से भी आगे बढ़ जाता है।

यद्यपि अपने ग्रन्थ 'डिस्कोर्सेज' में मैकियाविली ने यह भी व्यक्त किया है कि मनुष्य न तो पूर्णतया दुष्टता से भरा है और न पूर्णतया उत्तम है, तथापि उसका मुख्य उद्देश्य यही दर्शाना था कि मनुष्य एक जटिल प्रकृति का प्राणी है, और उसमें

भलाइयों की अपेक्षा बुराइयाँ अधिक है, विशेष रूप से सामाजिकता के सम्बन्ध मे। इन निष्कर्षों के द्वारा मैकियाविली राज्य की उत्पत्ति तथा कार्यों का विवेचन अपने ही ढंग से प्रस्तुत करता है। वह राज्य को न तो मनुष्य की सामाजिकता की नैसर्गिक प्रवृत्ति के आधार पर निर्मित संस्था मानता है, न कानून के लिए संगठित जन-समूह। साथ ही राज्य को मानव के पापों का दण्ड मानने की आरम्भिक ईसाई शिक्षकों की धारणा भी उसे मान्य नहीं है। वह राज्य का आधार इच्छा को भी नहीं मानता। उसकी धारणा में राजनीतिक समाज का आधार भय तथा शक्ति है। मानव की स्वार्थी प्रवृत्तियों का दमन करके उसे सामाजिक बनाना आवश्यक है। यह कार्य एक निरंकुश तथा शक्तिशाली शासक के द्वारा बल-प्रयोग द्वारा किया जा सकता है। इस दृष्टि से राज्य की उत्पत्ति व्यक्ति की सम्पत्ति तथा जीवन की सुरक्षा के लिए होती है। राज्य नैसर्गिक या शाश्वत संस्था नहीं है, अपितु इसकी स्थापना अवसरवशात् हुई है। इसलिए शासक को नैतिकता या कल्याणकारी लोक-आदर्शों का अनुगमन करना आवश्यक नहीं है। शासक को 'शठे शाठ्यम समाचरेत्' के सिद्धान्त का पालन करते हुए मानव की असामाजिक प्रवृत्तियों का दमन करना चाहिए।

मानव-स्वभाव के सम्बन्ध में निकाले गये मैकियाविली के निष्कर्ष उसके राजनीतिक विचारों की आधारशिला हैं। भले ही मैकियाविली सच्चे अर्थ में एक राजनीतिक चिन्तक या दार्शनिक होने की स्थिति प्राप्त नहीं कर सकता, तथापि यह मानना भी उचित नहीं है कि उसके विचार किसी क्रमबद्ध विचारधारा का अनुगमन नहीं करते। यह दूसरी बात है कि मानव-स्वभाव के सम्बन्ध में मैकियाविली के निष्कर्ष सार्वभौम सत्य की अवहेलना करते हुए उसके एकाकी पक्ष के प्रतीक हैं, तथापि एक कुशल राजनेता के रूप में मैकियाविली ने शासन की कला के सम्बन्ध में जिन धारणाओं को प्रस्तुत किया है उनकी व्यावहारिकता असंदिग्ध है। मैकियाविली से पूर्व या उसके पश्चात् के किसी भी युग में अव्यवस्थित एवं अराजक तत्त्वों से युक्त राजनीतिक समाज में सभी शासकों ने उसके द्वारा बतायी गयी युक्तियों से ही कार्य किया है। सैद्धान्तिक दृष्टि से भले ही मैकियाविली के विचारों को लोग अमान्य करते आये हैं परन्तु व्यवहार में सभी शासक उसके विचारों को अपनाते हैं। यदि मैकियाविली मानव-स्वभाव में केवल बुराइयाँ ही न देखता, या उसका इटली की तत्कालीन परिस्थितियों के अतिरिक्त कुछ और अनुभव होता तो शायद उसके विचार कुछ भिन्न होते। मानव-स्वभाव के सम्बन्ध में भ्रान्तिपूर्ण निष्कर्षों को सार्वभौम रूप से सत्य मान लेने के कारण ही उसके राजनीतिक विचार अनेक प्रकार से तीव्र आलोचना के विषय बन गये हैं। इसके लिए केवल मैकियाविली को ही दोष देना उचित नहीं है, क्योंकि किसी भी विचारक की धारणाएँ उसकी निवर्तमान परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकतीं। मैकियाविली के विचार भी तत्कालीन इटली की सामाजिक दुर्दशा के परिणाम हैं। वह एक कट्टर देशभक्त था। देश की गिरी हुई दशा को सुधारने के निमित्त ही उसे ऐसे विचार प्रस्तुत करने पड़े।

धर्म, नैतिकता तथा कानून—राजनीति से धर्म तथा नैतिकता को पृथक् रखने में जितनी स्पष्टवादिता मैकियाविली ने दर्शायी है, उतनी अन्य कोई राजनीतिक चिन्तक नहीं दर्शा सका। इसलिए राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में मैकियाविली के इस सिद्धान्त की बहुत कठोर आलोचना की गयी है। मैकियाविली से पूर्व ग्रीक तथा मध्ययुग के राजनीतिक चिन्तकों की विचारधाराएँ नैतिकता तथा धर्म के

सिद्धान्तों पर आधारित थीं। अरस्तू ने राजनीति तथा नीतिशास्त्र का पृथक् विवेचन किया है, परन्तु वह दोनों को एक पूर्ण विज्ञान के निर्माणकारी तत्त्व मानता था। प्लेटो राजनीति तथा नीतिशास्त्र को एक ही चीज मानता था। मध्ययुग में मारसीलियो ने धर्म-निरपेक्ष राजनीतिक विचारधाराएँ अपनायीं, परन्तु वह दोनों को पृथक् नहीं करता। सैबाइन ने उचित ही कहा है, 'मारसीलियो ने ईसाई नैतिकता को पारलौकिक कहते हुए विवेक की स्वायत्तता का प्रतिरक्षण किया; मैकियाविली की दृष्टि में चूँकि वे पारलौकिक थीं, अतः उसने उन्हें पूर्णतया तिरस्कृत किया है।'[1] मध्ययुग के अन्य विचारकों (मुख्यतया धर्मसत्ता की श्रेष्ठता के समर्थकों) ने राजनीति को पूर्णतया धर्म के अधीन रखने का प्रयास किया था। परन्तु मैकियाविली ने धर्म तथा नैतिकता को राजनीति में कोई स्थान नहीं दिया।

मैकियाविली के दर्शन का मुख्य उद्देश्य राज्य का संरक्षण है। राज्य का उद्देश्य अपनी सुरक्षा तथा अपना विस्तार करना है। नैतिकता व्यक्ति की अन्तरात्मा का विषय है। राजनीति का उद्देश्य राज्य का संरक्षण है। अतः राज्य तथा व्यक्ति को नैतिकता के एक ही स्तर पर नहीं रखा जा सकता। मैकियाविली का मत है कि सामान्यतया शासक को हर प्रकार से ईमानदारी, मानवता, धर्म, सत्यता आदि के रूप में प्रकट होना चाहिए, परन्तु उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि यदि कभी राज्य के संरक्षण का प्रश्न हो और राज्य के जीवन को खतरा हो, तो उसे इन समस्त नैतिक धारणाओं को ताक में रखकर अपने मुख्य उद्देश्य की पूर्ति हेतु कार्य करना चाहिए। उसके विचार से 'शासक के लिए राज्य की सुरक्षा का ध्यान रखना परमावश्यक है। इसमें वह जिन साधनों का प्रयोग करेगा वे सदैव सम्माननीय माने जायेंगे और उनकी सामान्यतया प्रशंसा ही की जायेगी।'[2] अतएव जब कभी शासक को राज्य की सुरक्षा का भय प्रतीत हो, उसे उसकी सुरक्षा के लिए विश्वास भंग करके अकृतज्ञता का परिचय देने में संकोच नहीं करना चाहिए। व्यक्तिगत नैतिकता तथा राज्य के दायित्व को एक स्तर पर रखना राज्य की सुरक्षा, जन-कल्याण तथा व्यवस्था के नियमन के लिए उचित नहीं है। राज्य तथा वैयक्तिक नैतिकता के उचित-अनुचित का मापदण्ड एक नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ झूठ बोलना वैयक्तिक नैतिकता के लिए अनुचित है; इसी प्रकार संविदा भंग करना भी अनैतिकता है; चोरी, हत्या आदि अनैतिक कार्य हैं। परन्तु जहाँ राज्य की सुरक्षा का प्रश्न है वहाँ पर शासक झूठ बोल सकता है, अपनी संविदागत प्रतिज्ञा को भंग कर सकता है, राज्य की रक्षा हेतु बलात् धन एकत्र किया जा सकता है और राज्य की रक्षा के निमित्त हत्या के कार्य भी कर सकता है। राज्य अपराधियों को फाँसी की सजा इसलिए देता है कि ऐसे अपराधियों का समाज में रहना राज्य की सुरक्षा के लिए अवांछनीय है। यदि राज्य ऐसे साधनों को नहीं अपनाता तो वह स्वयं नष्ट हो जायेगा और जनता का कल्याण नहीं कर सकेगा। अतः ऐसे अवसर पर जबकि राज्य की सुरक्षा का प्रश्न होता है, शासक के लिए व्यक्तिगत नैतिकता के नियमों को मानना आवश्यक नहीं है। मैकियाविली कहता है कि 'राज्य किसी भी नीतिशास्त्र को

[1] 'Marsilio defended the autonomy of reason by making Christian morals other-worldly; Machiavelli condemns them because they are other-worldly.' —Sabine, *op. cit.*, 292.

[2] 'Let the prince then look to the maintenance of the state; the means will always be deemed honourable and will receive general approbation.'

नहीं जानता। जो कुछ वह करता है वह न तो नैतिक है और न अनैतिक, प्रत्युत वह नैतिकता से रहित है।'[1] इस दृष्टि से मैकियाविली को अनैतिक कहना उचित नहीं है, प्रत्युत् उसे नैतिकता-रहित विचारक कहा जाना चाहिए (He is not immoral but non-moral)। मैक्सी के अनुसार मैकियाविली की दृष्टि में 'राजनीति की कला तथा शासन के सम्बन्ध में किसी कार्यवाही के स्वरूप के बारे में निर्णय लेने की एक मात्र कसौटी उससे निकलने वाला परिणाम है।'[2] यदि परिणाम अच्छा है तो वह सदैव उचित तथा व्यावहारिक है, यदि परिणाम बुरा होता है तो वह अनुचित है।

मैकियाविली यह मानता है कि राज्य समस्त मानव समुदायों में से श्रेष्ठतम संगठन है जिसका उद्देश्य मानव की रक्षा तथा मानव-कल्याण है। अत: उसे व्यक्ति के स्तर में रखना अनुचित है। उसकी नैतिकता का मापदण्ड व्यक्तिगत नैतिकता से पृथक् होना चाहिए। सामाजिक सुरक्षा के मार्ग में व्यक्ति की स्वार्थमयी प्रकृति बाधक होती है, अत: सामाजिक सुरक्षा, जो राज्य का मुख्य दायित्व है, के हित में व्यक्तिगत नैतिकता का अनुगमन करना राज्य के लिए अहितकर सिद्ध हो सकता है। शासक उन साधनों को अपनाने के लिए स्वतन्त्र है जो व्यक्तिगत नैतिकता की दृष्टि से उचित नहीं माने जाते, बशर्ते कि उनका उपयोग राज्य की सुरक्षा के उद्देश्य से किया जाय। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मैकियाविली नैतिकता को ही अनुचित मानता है। वास्तव में मानव प्रकृति का जो चित्रण उसने प्रस्तुत किया है, वह इस तथ्य का द्योतक है कि मैकियाविली मानव की बुरी प्रकृति को अनैतिक मानता है और उनका विनाश करके वह मानव को नैतिक बनाना चाहता है। इस हेतु वह जिन साधनों को बताता है, वे भले ही व्यक्तिगत नैतिकता की दृष्टि से ग्राह्य न हों, परन्तु उनका उद्देश्य नैतिक है और वही साधनों के औचित्य का निर्णायक है। अत: मैकियाविली को अनैतिक नहीं कहा जाना चाहिए।

राजनीति तथा धर्म—इसी प्रकार मैकियाविली को अधार्मिक कहना भी उचित नहीं है। वह धर्म को परलोकवाद के अर्थ में नहीं लेता। उसके विचार से मानव-जीवन का मुख्य उद्देश्य इहलौकिक सुख तथा कल्याण है। राज्य को मानव के इस उद्देश्य की प्राप्ति कराने में प्रयत्नशील रहना चाहिए। धार्मिक नैतिकता के नियम राजनीतिक समाज की उत्तमता में महत्त्वपूर्ण योगदान करते हैं। अत: राज्य तथा शासक को यह ध्यान रखना चाहिए कि जनता के धार्मिक विश्वास तथा परम्पराओं का आदर किया जाये, अन्यथा राज्य के नष्ट होने में देरी नहीं लगती। धर्म एक ऐसा उपकरण है जो समाज में जनता के रीति-रिवाजों, विचारों, आदतों आदि को संयमित करने, शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखने की प्रेरणा देने तथा समाज को स्थायित्व प्रदान करने में सहायक होता है। राष्ट्रीय प्रेम तथा राष्ट्रीय एकता के निर्माण में धर्म बहुत सहायक होता है। परन्तु राजनीति से धर्म को पृथक् रखने की मैकियाविली की धारणा इस अर्थ में है कि वह मध्ययुगीन ईसाइयों की भाँति धर्मसत्ता को राजसत्ता के ऊपर स्थापित करना नहीं चाहता, बल्कि उसे राज्य

[1] 'The state knows no ethics. What it does is neither ethical nor unethical, but entirely non-ethical.'

[2] 'In the realm of statecraft and in the affairs of government there is but one criterion by which to judge the character of an action, and that is by its result.' —Maxey, *op. cit.*, 132.

का एक अंग मात्र मानता है, जिसका उपयोग राजनेता को अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए करना चाहिए। परन्तु यदि धर्म के नियम राज्य की सुरक्षा के उद्देश्य को पूर्ण करने में बाधक हों, तो शासक उनकी उपेक्षा कर सकता है। इस दृष्टि से मैकियाविली के विचार न धार्मिक हैं, न अधार्मिक, बल्कि धर्म-रहित हैं (He is neither religious, nor irreligious, but non-religious)।

कानून—मैकियाविली के विचार से 'एक सफल राज्य-व्यवस्था की स्थापना एक एकाकी शासक के द्वारा की जानी चाहिए और वह जिन कानूनों तथा शासन-व्यवस्था का सृजन करता है, वे जनता के राष्ट्रीय चरित्र का निर्धारण करते हैं।'[1] इस प्रकार मैकियाविली राजनीतिक समाज में कानूनदाता की महत्ता को स्वीकार करता है और राज्य में ऐसे ही विधायक को सर्वशक्तिमान मानता है। उसके विचार से समाज में जब भ्रष्टाचार फैलता है तो उसका निराकरण करने तथा व्यक्तियों में नागरिक गुणों का संचार करने के लिए कानून की आवश्यकता होती है। ऐसे कानून का निर्माता तथा परिपालन कराने वाला विधायक ही राज्य का एकमात्र शासक होना चाहिए जो अपनी शासन नीति को लागू करने हेतु अपने विवेक से कानून का निर्माण करे। वह केवल राज्य का निर्माता नहीं है, अपितु सारे समाज का भी निर्माता है। वह कानून का सृजन करके समाज की नैतिक, धार्मिक तथा आर्थिक सभी समस्याओं का नियमन करता है।

इस प्रकार मैकियाविली की कानून-सम्बन्धी धारणा प्राचीन ग्रीस तथा रोम और मध्ययुग के विचारकों से भिन्न प्रकृति की है। वह कानून को न तो ईश्वर का विवेक कहता है, न सार्वभौम मानवीय विवेक। दैवी तथा प्राकृतिक कानून की धारणाएँ उसे पूर्णतया अमान्य हैं। वह कानून का स्रोत जन-समुदाय के रीति-रिवाजों को भी नहीं मानता। उसकी दृष्टि से 'कानून शासक का आदेश' है। शासक स्वयं कानून से ऊपर है। कानून का उद्देश्य राज्य की सुरक्षा तथा समुचित व्यवस्था करना है। अतः मैकियाविलीवाद उसकी कानून सम्बन्धी धारणा से भी स्पष्ट हो जाता है। कानून की उत्तमता की कसौटी शासक के उद्देश्य की सफलता है। कानून के सम्बन्ध में ऐसी धारणा का प्रतिपादन करने में भी मैकियाविली अपने राजनीतिक उद्देश्य तथा अपने युग के निरंकुशतावाद से प्रभावित था। परन्तु मैकियाविली कानून के निर्माण में जन-परम्पराओं की उपेक्षा भी नहीं करता। वह अपने शासक को यह आदेश देता है कि उसे जनता की परम्पराओं तथा रीति-रिवाजों का भी समुचित आदर करना चाहिए और उन्हें बनाये रखने का प्रयास करना चाहिए। इस प्रकार मैकियाविली निरंकुशता तथा स्वायत्त-शासन दोनों को अपनी कानून सम्बन्धी धारणा में स्थान देता है। इस द्वैतवादी धारणा का कारण यह था कि मैकियाविली के दो उद्देश्य थे—कठिन परिस्थिति में राज्य का निर्माण तथा उसका संरक्षण करने के साधन प्रस्तुत करना; और राज्य का निर्माण हो जाने पर उसकी शासन-व्यवस्था के स्वरूप का निर्धारण करना। प्रथम के लिए शासक के निरंकुश कानूनों की व्यवस्था है और सामान्य परिस्थिति में गणतन्त्री व्यवस्था हेतु जनता के रीति-रिवाजों को भी कानून के रूप में मानने की धारणा। अपने ग्रन्थों 'प्रिंस' तथा 'डिसकोर्सेज' में वह कानून तथा शासन के इन रूपों को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत करता है। अतः यह कहा जाता है कि 'प्रिंस' आपत्ति के समयों के लिए एक

[1] Sabine, *op. cit.*, 296.

कार्यक्रम था, जबकि 'डिसकोर्सेज' व्यवस्थित काल हेतु शासन-व्यवस्था का चित्र प्रस्तुत करता है।'[1]

सरकार

राजतन्त्र का समर्थन—जैसा पहले कहा जा चुका है, मैकियाविली का दर्शन सही माने में ऐसा राजनीतिक दर्शन नहीं है कि जिसके अन्तर्गत विविध राजनीतिक सिद्धान्तों तथा आदर्शों की क्रमबद्ध चिन्तनात्मक विवेचना की गयी हो। उसके विचार मूलरूप से व्यावहारिक राजनीति तथा शासन-कला का विवेचन करते हैं। इस दृष्टि से मैकियाविली का शासन-सम्बन्धी विवेचन भी चिन्तनात्मक न होकर उसके निजी उद्देश्यों से अधिक सम्बद्ध है। शासनों का वर्गीकरण करने में वह अरस्तू के वर्गीकरण को अपनाता है और पौलिबियस तथा सिसरो की भाँति मिश्रित शासन का भी समर्थन करता है। परन्तु उसका शासनों का यह विवेचन ऊपरी (superficial) है। वास्तव में मैकियाविली शासनों को केवल दो रूपों—राजतन्त्र तथा गणतन्त्र—में वर्गीकृत करता है। डनिंग के अनुसार, 'प्रिंस' मुख्यतया राजनीतिक प्रदेश के विस्तार के सम्बन्ध में राजतन्त्र का अध्ययन है, और 'डिसकोर्सेज' भी उसी उद्देश्य के लिए लोकप्रिय शासन (गणतन्त्र) का अध्ययन है। परन्तु मैकियाविली स्वेच्छाचारितावाद का पूर्ण समर्थक होने से बहुत दूर है।'[2] मैकियाविली के विचार से राजतन्त्रों या गणतन्त्रों की उपादेयता विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों पर निर्भर करती है। यह आवश्यक नहीं कि कोई एक व्यवस्था समस्त कालों तथा परिस्थितियों के लिए उत्तम ही हो सकती है। मैकियाविली अपने युग की अन्य यूरोपीय राज्य-व्यवस्थाओं की तुलना में तत्कालीन इटली की दुर्दशा से सर्वाधिक चिन्तित था। अतः इटली की जिन गिरी हुई परिस्थितियों का उसने आभास किया था उनका अन्त करके इटली को एक सुदृढ़ राज्य-व्यवस्था प्रदान करने के निमित्त उसका दृढ़ विश्वास था कि एक निरंकुश राजतन्त्र ही इटली की तत्कालीन परिस्थिति हेतु सर्वोत्तम व्यवस्था हो सकती थी। ऐसी व्यवस्था के अन्तर्गत अवांछित तत्त्वों का दमन करने तथा समूचे इटली को एक एकीकृत राज्य में परिणत करने के लिए एक निरंकुश शासक की आवश्यकता थी, जो कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए नैतिकता, धर्म तथा न्याय आदि की धारणाओं को प्रमुखता न देकर देश को एक सुदृढ़ राज्य में परिणत कर सके।

गणतन्त्र का समर्थन—परन्तु मैकियाविली को केवल निरंकुश राजतन्त्र का समर्थक मात्र मानने की भूल भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह गणतन्त्री व्यवस्था का भी (जिसे आधुनिक शब्दों में लोकतन्त्र कहा जा सकता है) पूर्ण समर्थक है। उसके विचार से जिस समुदाय के अन्तर्गत सामान्य आर्थिक समानता विद्यमान रहती है वहाँ गणतन्त्र (commonwealth) सर्वोत्तम एवं एकमात्र सम्भव व्यवस्था है। सामान्य परिस्थिति में शासन-व्यवस्था हेतु कुशल पदाधिकारियों के चयन तथा उनके सम्मान को बनाये रखने के निमित्त सामान्यतया जनसाधारण का निर्णय उत्तम होता

[1] '*The Prince* was a programme for troublous times and the *Discourses* provides a picture of government for settled periods.'

[2] '*The Prince* is essentially a study of monarchy in relation to the extension of political dominion ; and the *Discourses* is in like manner a study of popular government in relation to the same end. He (Machiavelli) is very far from being thorough going advocate of despotism.' —Dunning, *op. cit.*

है। जनता की राजनीतिक तथा कानूनी संस्थाओं एवं परम्पराओं की मौलिकता को बनाये रखने के लिए एक जनप्रिय सरकार सर्वोत्तम व्यवस्था सिद्ध होती है। राजतन्त्रों की अपेक्षा गणतन्त्रों के प्रति जनता की निष्ठा अधिक रहती है। राजतन्त्र के अन्तर्गत अवांछनीय शासक को पदच्युत करना तथा उसके स्थान पर दूसरे उपयुक्त शासक को पदासीन करना सामान्यतया आसान नहीं होता, जबकि गणतन्त्र में ऐसे परिवर्तन सामान्य वैधानिक तरीकों से सफलतापूर्वक किये जा सकते हैं। इस दृष्टि से 'निश्चय ही मैकियाविली को एक राजतन्त्रवादी या निरंकुशतावादी नहीं कहा जा सकता, यदि इन पदों का यह अर्थ है कि एक व्यक्ति का शासन उत्तम व्यवस्था है।'[1] मैकियाविली का विश्वास था कि राजतन्त्र के अन्तर्गत भी स्थायी शासन की एक मूल आवश्यकता यह है कि उसका नियमन कानून के द्वारा होना चाहिए। शासनाधिकारियों के दुराचार के विरुद्ध जन-क्रान्ति को रोकने के लिए उनके ऊपर कानून का नियन्त्रण होना चाहिए। मैकियाविली की मान्यता है कि जिस शासन में अधिक लोग भाग लेते हैं वह अधिक स्थायी होता है। इसलिए राजतन्त्र के सम्बन्ध में भी मैकियाविली वंशानुगत शासक की अपेक्षा निर्वाचित शासक को उच्चतर प्रकृति का मानता है। अतएव मैकियाविली गणतन्त्र या लोकतन्त्र का भी सम्मान तथा समर्थन करता है।

कुलीनतन्त्र का विरोध—परन्तु मैकियाविली को सबसे अधिक घृणा कुलीन-तन्त्र से थी। उसका विश्वास था कि जनसाधारण शान्ति तथा व्यवस्था चाहते हैं। आपात की परिस्थिति में निरंकुश शासक तथा सामान्य परिस्थिति में गणतन्त्र ही जनता को ऐसी व्यवस्था प्रदान कर सकते हैं; परन्तु कुलीन वर्ग का हित निरन्तर सत्ता धारण किये रखने की आकांक्षा में ही निहित रहता है और वह वर्ग जनसाधारण के हितों की सदैव उपेक्षा करता है। अतः कुलीन वर्ग का शासन अवांछनीय है। वह जनता मे असन्तोष का द्योतक होता है। विभिन्न प्रकार के शासनों के सम्बन्ध में मैकियाविली के निष्कर्षों को इन शब्दों में रखा जा सकता है कि 'जहाँ सम्भव हो वहाँ गणतन्त्री व्यवस्था स्थापित की जानी चाहिए, जहाँ आवश्यक हो वहाँ राजतन्त्री व्यवस्था, परन्तु कुलीनतन्त्री व्यवस्था कभी भी उचित नहीं है।' उसके शब्दों में, 'कुलीनतन्त्र के भद्र पुरुष (gentleman) दूसरों की सम्पत्ति के उपभोक्ता होते हैं, परन्तु ऐसा उपभोग वे बिना कोई सेवा किये हुए ही करते हैं, अतः वे सर्वत्र नागरिक शासन के शत्रु हैं।'

युद्ध-कला तथा शासन-कला

मैकियाविली के ग्रन्थों 'प्रिंस' तथा 'डिसकोर्सेज' की विचारधाराओं के मध्य कोई स्पष्ट विभाजन रेखा निर्धारित कर सकना कठिन कार्य है। दोनों का रचना-काल एक ही है, दोनों की रचना एक से उद्देश्यों को लेकर की गयी थी। अतः दोनों में अनेक दृष्टियों से विचार साम्य है। 'प्रिंस' में मैकियाविली उन बातों का विवेचन करता है जो राज्य का निर्माण हो जाने पर उसकी शासन-व्यवस्था के लिए आवश्यक हैं। 'डिसकोर्सेज' में वह उन साधनों का विवेचन करता है जो राजनीतिक समाज के अन्तर्गत जनता को एक साथ संगठित करने में सहायक होते हैं।

[1] 'Machiavelli certainly cannot be described as a royalist or monarchist if by these terms we mean one who holds that the rule of a single individual is best.'

'डिसकोर्सेज' के विचार मैकियाविली के राजनीतिक दर्शन को व्यक्त करते हैं, जबकि 'प्रिंस' में शासन-सम्बन्धी उन व्यवहारों का विवेचन किया गया है जिनका अनुगमन करके शासक राज्य को सुदृढ़ शासन प्रदान कर सकता है। सामान्यतया 'प्रिंस' के विचार आपातकाल में राजतान्त्रिक व्यवस्था के सिद्धान्तों तथा व्यवहारों का विवेचन करते हैं और 'डिसकोर्सेज' गणतन्त्र के विस्तार की रूपरेखा प्रस्तुत करता है। वैसे 'डिसकोर्सेज' की गणतन्त्री (commonwealth) व्यवस्था राजतन्त्र ही है। दोनों में लेखक का उद्देश्य 'राज्य की सुरक्षा तथा विस्तार' है। इस हेतु वह दोनों ग्रन्थों में शासन-कला तथा युद्ध-कला के बारे में लिखता है।

गणतन्त्र का विस्तार—मैकियाविली का मत है कि राजतन्त्र तथा गणतन्त्र दोनों में अपनी प्रभुसत्ता का विस्तार करने की प्रवृत्ति अवश्यम्भावी होती है। गणतन्त्र का विस्तार होना आवश्यक है। इसके लिए शासक को चाहिए कि वह अपने राज्य की जनसंख्या में वृद्धि करे; युद्ध में विजय का उद्देश्य पराजित देश की प्रजा को अपने अधीन करना इतना लाभकारी नहीं है, जितना कि उस देश की जनता का सौहार्द प्राप्त करना है। विजित प्रदेशों में शासक अपने उपनिवेश कायम करें; पराजित देश से लूट में प्राप्त धन से अपने कोष की वृद्धि करे; युद्ध में छापा-मारी (seiges) के साधन अपनाने की अपेक्षा युद्ध-भूमि में खुला युद्ध करे; राज्य को धनी बनाये रखे न कि व्यक्तियों को। शासक को चाहिए कि वह पर्याप्त सावधानी तथा सतर्कता के साथ एक शक्तिशाली प्रशिक्षित सेना का निर्माण करे। सेना राज्य-विस्तार तथा राज्य की सुरक्षा दोनों के लिए आवश्यक है। सेना पर ही राज्य की शक्ति निर्भर करती है। चाहे राज्य के पास कितना ही धन क्यों न हो, वह उसकी शक्ति का परिचायक नहीं है।[1] सेना के लिए उत्तम प्रकार के सैनिक आवश्यक हैं। धन द्वारा खरीदे गये सैनिकों (mercenary soldiers) से सेना सुदृढ़ नहीं हो सकती है। उत्तम सैनिकों की सेना विजयों द्वारा धन अर्जित कर सकती है। सैनिकों में शारीरिक बल का होना ही आवश्यक नहीं है, अपितु उन्हें सैनिक-कला के ज्ञान से भी युक्त होना चाहिए। मैकियाविली राज्य के निष्ठावान तथा अनुशासित नागरिकों की सेना के निर्माण को महत्त्व देता है। उनका मत था कि उत्तम सैनिक शक्ति के निर्माण हेतु राज्य में 17 से 40 वर्ष तक की आयु के प्रत्येक स्वस्थ शरीर वाले व्यक्ति को सैनिक प्रशिक्षण अनिवार्य रूप से दिया जाना चाहिए'। मैकियाविली का कथन था कि युद्ध-कला के ज्ञान से रहित बल अपर्याप्त है। इसके विपरीत बल से रहित कला सफलता की प्राप्ति करा सकती है। राज्य-विस्तार हेतु शासक को इन बातों पर चलना चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं करता और राज्य का विस्तार नहीं होता तो राज्य की सुरक्षा भी खतरे में पड़ जायेगी। वह आन्तरिक तथा बाह्य दोनों दृष्टियों से निर्बल होता जायगा। राज्य का विस्तार पर्याप्त मात्रा में हो जाने पर उसे सुदृढ़ शासन प्रदान करना आवश्यक है।

शासन-कला—प्लेटो के दार्शनिक शासक तथा दान्ते के विश्व सम्राट की भाँति मैकियाविली की धारणा का शासक भी अनेक गुणों तथा योग्यताओं से युक्त है। परन्तु प्लेटो तथा दान्ते की कल्पना के राजा की अपेक्षा मैकियाविली की कल्पना का शासक पृथ्वी में एक देवतुल्य गुणों से युक्त व्यक्ति नहीं है। मैकियाविली का

[1] मैकियाविली की प्रसिद्ध उक्ति है कि 'Men and not money are the sinews of war.'

शासक सीजर बोर्जिया की प्रतिभूति होगा, जिसके व्यक्तित्व से मैकियाविली बहुत प्रभावित हुआ था। वह इटली की दुर्दशा से उसे मुक्त कराने के निमित्त मैडिसी सम्राट को उसी रूप में देखना चाहता था। अतः 'प्रिन्स' नामक पुस्तक में लेखक ने राजा के मार्ग-दर्शन के निमित्त उन सभी बातों का उल्लेख किया है जिनका उसे अनुसरण करना चाहिए। यह मानना भी बहुत अंश में सही है कि जिस रूप में 'अर्थशास्त्र' के अन्तर्गत प्राचीन भारत के महान् राजनेता आचार्य कौटिल्य ने सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य प्रथम के मार्ग-दर्शन हेतु शासनिक आचरण के नियम लिखे थे, लगभग वही उद्देश्य इटली के इस लेखक ने मैडिसी सम्राट के लिए एक आचार-संहिता के रूप में प्रस्तुत करने हेतु अपनी रचनाओं में अपनाया है। मैकियाविली की कल्पना का शासक यदि इन समस्त गुणों से युक्त होकर तदनुसार आचरण करता तो मैकियाविली का विश्वास था कि वह छिन्न-भिन्न इटली को यूरोप के तत्कालीन अन्य राज्यों की तुलना में एक शक्तिशाली राज्य बना सकता था। अतः राज्य के निर्माण तथा उसकी सुरक्षा दोनों की आवश्यकता थी। मैकियाविली स्वयं एक राजनेता तथा कूटनीतिज्ञ था। अतः उसने राज्य या शासन के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक विवेचन न करके यथार्थ राजनीति का सहारा लेकर राज्य की सुरक्षा के निमित्त उन व्यावहारिक बातों का उल्लेख किया है, जिनका अनुगमन करके एक सुदृढ़ राज्य की स्थापना तथा सुरक्षा सम्भव हो सके। मैकियाविली को विश्वास था कि एक निरंकुश राजतन्त्र, जिसका शासक युद्ध तथा शासन की कला में प्रवीण हो, इटली को ऐसी राज-व्यवस्था प्रदान कर सकता है। अतः मैकियाविली के सभी ग्रन्थों में इन्हीं व्यावहारिक राजनीति के प्रश्नों का विवेचन किया गया है।

(1) **राज्य की सुरक्षा**—मैकियाविली का कथन है कि 'प्रत्येक राज्य को या तो अपनी सत्ता का विस्तार करना चाहिए अथवा उसे नष्ट हो जाना चाहिए।' राज्य के स्थायित्व तथा सुदृढ़ता की सबसे पहली आवश्यकता यह है कि शासक को जन-समाज की स्थापित संस्थाओं तथा परम्पराओं का आदर करना चाहिए। वह उनमें उसी सीमा तक परिवर्तन करे जहाँ तक कि वे राज्य की सुरक्षा के हित में आवश्यक प्रतीत हों। मैकियाविली का विश्वास था कि जिस जनता को उत्तम शासन प्राप्त हो रहा होगा और जिसकी स्थापित परम्पराओं पर शासन द्वारा अनावश्यक अतिक्रमण नहीं हो रहा होगा वह जन-समाज से अन्य किसी प्रकार की स्वतन्त्रताओं की अपेक्षा नहीं करता। यद्यपि मैकियाविली गणतन्त्र एवं निर्वाचित राजतन्त्र का भी समर्थक है, तथापि वह यह भी मानता है कि उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति हेतु एक आनुवंशिक शासक अधिक उपयुक्त सिद्ध हो सकता है।

(2) **शासक के गुण**—राज्य की सुरक्षा का दायित्व पूर्णतया उसके शासक पर निर्भर करता है। अतएव मैकियाविली अपने शासक में अनेक गुणों, योग्यताओं तथा क्षमताओं का उल्लेख करता है। साथ ही वह उन युक्तियों का भी विवेचन करता है जिनका अनुसरण शासक को करना चाहिए ताकि वह राज्य को सुदृढ़ तथा सुरक्षित बनाए रखने में सफल हो सके। मैकियाविली के राजनीतिक विचारों का यह पक्ष उसकी केन्द्रीय धारणा है। राज्य का निर्माण तथा विस्तार कर लेने के उपरान्त शासक को अपने विरोधियों का दमन करने में बल-प्रयोग करने से नहीं सकुचाना चाहिए परन्तु बल-प्रयोग के साथ-साथ उसे अपने चातुर्य का भी प्रयोग करना चाहिए। इस कार्य में वह जनता के धार्मिक विश्वासों का सहारा लेकर

प्रचार-कार्य के द्वारा उनके धर्म तथा परम्पराओं का सम्मान भी करे, परन्तु उन्हें अपने उद्देश्यों की पूर्ति करने तक ही प्रोत्साहन दे। उन्हें किसी भी दशा में राज्य की सुरक्षा तथा शान्ति और व्यवस्था के मार्ग में बाधक न होने दे। शासक को निर्णय लेने में प्रत्युत्पन्न मति से कार्य लेना चाहिए। उसे यह चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि कहीं उसका निर्णय गलत न हो जाय। राज्य की सुरक्षा एवं प्रतिरक्षा के लिए उसे राष्ट्रभक्त नागरिकों की सेना निर्मित करनी चाहिए। क्रय किये गए सैनिकों (mercenary) की सहायता से देश-रक्षा की आशा नहीं की जा सकती है। शासक को स्वयं भी युद्ध-कला में प्रवीण होना आवश्यक है। साथ ही सेना के समुचित प्रशिक्षण तथा सैनिक सज्जा में किसी भांति कमी नहीं रखनी चाहिए। उसे निजी तथा राजकीय कोषों से मितव्ययिता का परिचय देना चाहिए। जनता के समक्ष अधिकाधिक लोकप्रिय सिद्ध होने का आचरण करना चाहिए। यदि थोड़े से अभिजात वर्ग उसके विरोधी भी हों तो आम जनता की लोकप्रियता उनके विरोध को समाप्त कर देगी। वह जनता के समक्ष दया, शुभ-चिन्तकता, मानवीयता, धर्म-परायणता आदि का प्रदर्शन करता रहे। परन्तु आवश्यकता पड़ने पर इनके प्रतिकूल आचरण करने से भी न चूके। वह इस बात की चिन्ता न करे कि जनता उससे प्रेम करती है या नहीं, प्रत्युत् यदि जनता उससे भय करती हो तो वह उत्तमतर है। परन्तु यह भी ध्यान रखे कि जनता उससे घृणा न करे। शासक को पर-धन तथा पर-नारी की कामना से सदैव दूर रहना चाहिए। उसे जनता की सम्पत्ति तथा स्त्रियों की रक्षा करनी चाहिए। ये दो वस्तुएँ ऐसी हैं जिन्हें मनुष्य संसार की अन्य समस्त वस्तुओं से सबसे अधिक प्रिय मानता है, अतः शासक द्वारा इनका अतिक्रमण जनता को विद्रोही बना देगा जो राज्य की सुरक्षा के लिए खतरनाक सिद्ध होगा। शासनिक मामलों में शासक को अत्यधिक गोपनीयता बरतनी चाहिए। वह सलाह तो ले, परन्तु सलाहकारों की बात का अन्धानुकरण न करे। निर्णय लेने से पूर्व अपने विवेक का भली-भाँति प्रयोग करे। शासक को लोमड़ी की भाँति चालाक तथा शेर की भाँति बलशाली तथा आक्रामक होना चाहिए। अतः अपने आचरण में उसे यथावसर इन दोनों जानवरों के आचरणों का अनुगमन करने की क्षमता होनी चाहिए। उसे जनता की स्वतन्त्रता की रक्षा करने की बहुत चिन्ता नहीं करनी चाहिए। प्रत्युत् वह जनता में सार्वजनिक सेवा की भावना का संचार करने का प्रयास करे। शासक को चापलूसी से सदैव बचना चाहिए। उसे हर किसी की सत्यवादिता पर विश्वास नहीं करना चाहिए। चापलूसों से बचने के लिए उसे लोगों के मन में यह विश्वास दिलाना चाहिए कि 'सत्य बात कहना किसी को आपत्ति में नहीं डालता' (to tell you the truth does not offend you)। अतः उसे अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों से सत्य तथा स्पष्ट बातें कहकर उन्हें भयभीत बनाये रखना चाहिए। शासक को अपने मित्रों तथा शत्रुओं की सही पहचान होनी चाहिए और शत्रुओं का तुरन्त दमन कर देने के लिए सचेष्ठ रहना चाहिए। यदि मैकियाविली की कल्पना का शासक इन क्षमताओं को रखे तो निस्सन्देह वह एक सफल शासक हो सकता था। यहाँ पर यह भी स्मरणीय है कि कौटिलीय अर्थशास्त्र में चाणक्य ने भी राजा में लगभग ऐसे ही गुणों का होना उचित माना था। परन्तु एक भारी अन्तर यह है कि मैकियाविली का शासक धर्म तथा नैतिकता को ताक पर रख सकता है, जबकि कौटिल्य राजा को धर्मशास्त्रों के

नियमों के विरुद्ध जाने की सलाह नहीं देते। उनका राजा धर्म (कानून) के ऊपर नहीं, अपितु उससे मर्यादित था।

परिवर्तनशील संविधान पर आस्था—मैकियाविली का मत था कि जनता के रीति-रिवाजों तथा कानूनों में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। जनता के रीति-रिवाजों में समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है, अतः कानून में भी परिवर्तन की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए राज्य का संविधान भी परिवर्तनशील होना चाहिए। राज्य के संविधान में यह प्राविधान होना चाहिए कि आपात्काल में वह अधिनायक तन्त्र में परिवर्तित हो सके और सारी शासन-शक्ति एक शासक के द्वारा संचालित की जा सके। लोकतन्त्री शासन में भी ऐसे प्राविधानों की आवश्यकता है क्योंकि संकट काल में तुरन्त निर्णय लेने के लिए एक व्यक्ति का अधिनायकतन्त्र आवश्यक होता है। मैकियाविली का मत है कि राज्य में दलीय व्यवस्थाएँ भी अपरिहार्य हैं। दलों का अस्तित्व राज्य-व्यवस्था में नीति-निर्माण हेतु जन इच्छा की जागृति करने में सहायक होता है।

मैकियाविली का राष्ट्रवाद—राज्य विस्तार तथा राज्य की सुरक्षा को अपने राजनीतिक विचारों का केन्द्रीभूत लक्ष्य मानकर मैकियाविली ने मध्ययुग से आधुनिक युग के संक्रमण काल में जिस प्रकार के विचारों को रखा है, वह उसके अपने राजनीतिक दर्शन के द्योतक हैं। उसके समस्त विचार 'मैकियाविलीवाद' का प्रतिपादन करते हैं। मैकियाविली ने जो कुछ भी लिखा है वह देश-प्रेम की भावना से भरकर लिखा है। इन समस्त विचारों की पृष्ठभूमि में उसके मस्तिष्क में इटली की एकता तथा सुदृढ़ता भरी पड़ी है। वह इटली को इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा स्पेन की भाँति एक सुदृढ़ राष्ट्रीय-राज्य के रूप में निर्मित होने का स्वप्न देखता है। इसकी उपलब्धि के लिए जिस प्रकार की शासन-व्यवस्था तथा सैनिक-व्यवस्था का उसने चित्रण किया है, वह इस तथ्य की द्योतक है कि उसका राष्ट्र-प्रेम अभूतपूर्व था। वह इटली की सांस्कृतिक परम्परा को बनाए रखना चाहता है। उसके विचार से राष्ट्र की सैनिक शक्ति की महानता राष्ट्र के सच्चे नागरिकों द्वारा निर्मित सेना के द्वारा ही सम्भव हो सकती है। निरंकुश शासक का उद्देश्य भी लोक-कल्याण है न कि शासकों का हित। राज्य का विस्तार राष्ट्र की शक्ति को सुदृढ़ बनाने के लिए आवश्यक है। वह यह भी मानता था कि इटली के लोग अति प्राचीनकाल से ही प्रतिभाशाली रहते आए थे, परन्तु उनमें जो कमियाँ आ गई हैं उन्हें दूर करना शासन का मुख्य उद्देश्य है, ताकि इटली पुनः एक महान् राष्ट्र बने। उसकी यह धारणाएँ उसकी राष्ट्रीयता एवं देशभक्ति की परिचायक हैं। वह स्पष्टतया मानता है कि किसी भी व्यक्ति का प्रमुख कर्त्तव्य अपने देश के प्रति है, अन्य कर्त्तव्य उससे हीन हैं। इस प्रकार मैकियाविली सबसे पहला विचारक है जिसमें राष्ट्रीयता की भावना इतनी अधिक विद्यमान थी। उसे आधुनिक राष्ट्रवाद का जनक (the father of modern nationalism) कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। परन्तु जैसा सैबाइन का मत है, 'यद्यपि मैकियाविली के विचारों का उद्देश्य इटली की एकता तथा शान्ति था, तथापि यह केवल एक भावावेश (sentiment) मात्र था न कि कोई निश्चित योजना।'[1] उसने कभी भी राष्ट्रीय आधार पर निर्मित शासन की

[1] 'But while the hope of peace and unity for Italy was a real motive of Machiavelli's thought, it was with him rather sentiment than a definite plan.' Sabine, *op. cit.*, 300.

धारणा व्यक्त नहीं की। उसकी शासन-व्यवस्था एक राष्ट्रव्यापी नागरिकता के आधार पर निर्मित व्यवस्था का आभास नहीं कराती। इस दृष्टि से मैकियाविली के विचार राष्ट्रवाद की धारणा के विकास के वास्तविक परिचायक नहीं कहे जा सकते। सच्चे अर्थ में राष्ट्रवाद का अभ्युदय मैकियाविली के काल से दो शताब्दी के पश्चात् हुआ। परन्तु राष्ट्रवाद की भावना के विकास के अंकुर उसकी विचारधारा में अवश्य थे।

मैकियाविली के विचारों की आलोचनात्मक समीक्षा

राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में मैकियाविली को 'अपने युग का बालक' (the child of his age) कहा गया है। यद्यपि राजनीतिक विचारों के प्रतिपादन में उसे ऐतिहासिक पद्धति का मानने वाला कहा जाता है, तथापि उसके ऐतिहासिक निष्कर्ष तथ्यों का पूर्ण परीक्षण करके नहीं रखे गये हैं। वास्तविकता यह है कि मैकियाविली की विचारधाराएँ पूर्णतया तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों तथा उनके सम्बन्ध में स्वयं उसके द्वारा निकाले गए अपने ही निष्कर्षों पर आधारित हैं। मानव स्वभाव का जो चित्र उसने प्रस्तुत किया है वह ऐतिहासिक तथ्यों की उपेक्षा करता है। साथ ही राज्य तथा समाज की उत्पत्ति को अवसरवशात् तथा किसी आवश्यकता विशेष हेतु हुई मानना भी उचित प्रतीत नहीं होता। राज्य तथा समाज नैसर्गिक संस्थाएँ हैं। इस तथ्य को अरस्तू, ऐक्विना आदि ने जिन तर्कों द्वारा समझाया है, उन्हें मैकियाविली अमान्य कर देता है। मैकियाविली मनुष्य को स्वार्थी तथा दूसरों का अहित करने पर रत मानता है, साथ ही वह यह भी कहता है कि राजनीतिक समाज में व्यक्ति को अपने स्वार्थ त्याग कर समाज के हित की भावना से जीवन व्यतीत करना चाहिए। यह कैसे सम्भव है इसका उसने कोई वैज्ञानिक तथा दार्शनिक आधार प्रस्तुत नहीं किया है। एक ओर मैकियाविली निरंकुश शासन का समर्थन करता है, दूसरी ओर वह लोकप्रिय शासन के प्रति भी अपनी आस्था व्यक्त करता है। मानवीय सद्गुणों को दो रूपों में व्यक्त करना मैकियाविली के मनोविज्ञान तथा नैतिकता की धारणाओं के मध्य भारी असंगति के सूचक हैं। 'डिसकोर्सेज' में वह लोकतन्त्रवादी विचारों का समर्थन करता है और वह व्यक्ति से सार्वजनिक कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में ईमानदारी, कानून-पालन, देशभक्ति, विश्वसनीयता आदि के नागरिक सद्गुणों की अपेक्षा करता है। परन्तु जब वह 'प्रिन्स' में निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन करता है तो शासक से यह अपेक्षा करता है कि वह बल-प्रयोग तथा विद्वता का अवलम्बन करे। यहाँ पर उसकी सद्गुण की व्याख्या बदल जाती है। शासक तथा शासित दोनों के लिए नैतिकता तथा सद्गुणों के दो पृथक् मानदण्ड मानना उसके विचारों में असंगति दोष उत्पन्न कर देता है। शासक को नैतिकता के नियमों की अवहेलना करते हुए आचरण करने की सलाह देना और शासितों से नैतिकता के नियमों का पालन करने की बात कहना भी असंगति पूर्ण धारणा है।

इसी प्रकार मानव-स्वभाव के सम्बन्ध में गलत निष्कर्ष निकालकर मानव को बुराइयों तथा असामाजिक प्रवृत्तियों का समूह मानते हुए एक निरंकुश शासक के अधीन मानव को सामाजिक बनाने की कामना करना मैकियाविली के दर्शन की सबसे बड़ी दुर्बलता है। इसीलिए उसके विचारों में कमबद्धता का अभाव बना रहा है। वास्तव मे मैकियाविली एक दार्शनिक चिन्तक नहीं था प्रत्युत् वह एक कूटनीतिक

राजनेता था। अतः उसने जो कुछ लिखा है वह मात्र शासन-कला तथा युद्ध-कला का विवेचन है, न कि दार्शनिक राजनीतिक चिन्तन।

निस्सन्देह मैकियाविली ने मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन की अनेक परम्पराओं का परित्याग करके व्यावहारिक राजनीति की बातें लिखकर अपने को 'प्रथम आधुनिक राजनीतिक चिन्तक' कहलाने की स्थिति प्राप्त की है। उसके विचारों का एकमात्र उद्देश्य इटली को एक सुदृढ़ राज्य के रूप में देखना था, जिसका व्यावहारिक साधन उसने एक ऐसे स्वेच्छाचारी शासक का अस्तित्व माना जो इस उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त अपेक्षित विभिन्न गुणों तथा शक्तियों को धारण करता हो। अतः उसने जो कुछ भी लिखा है वह शासन तथा युद्ध की कला का विवेचन मात्र है। मैकियाविली के विचार तत्कालीन परिस्थितियों हेतु बहुत सफल सिद्ध नहीं हो पाये और उसकी विचारधारा की कड़ी आलोचना भी की गई है, विशेष रूप से धर्म तथा नैतिकता को राजनीति से पृथक् करने के कारण। मैक्सी ने कहा है कि 'यह ऐसा व्यक्ति था जिसकी धारणाओं का सार्वभौम रूप से सिद्धान्ततः विरोध किया गया है परन्तु व्यवहार में जिन्हें नियमित रूप से अपनाया जाता रहा है।'[1] सी० जे० फॉक्स की प्रसिद्ध उक्ति कि 'जो बात नैतिक दृष्टि से गलत है वह राजनीतिक दृष्टि से सही नहीं हो सकती', मैकियाविली को मान्य नहीं है। इसके विपरीत वह इस सिद्धान्त को मानता है कि राजनीति नैतिकता से बंधी नहीं है। इस दृष्टि से मैकियाविली राज्य की रक्षा के हित में शासक को नैतिक नियमों की उपेक्षा करने की सलाह देता है। उसके इस दृष्टिकोण के कारण मैकियाविली के आलोचक उसकी पर्याप्त निन्दा करते हैं।

दूसरी ओर आलोचकों का एक वर्ग मैकियाविली को एक महान् देशभक्त बताते हुए उसकी प्रशंसा भी इस आधार पर करता है कि 'यदि राष्ट्र के हित में मैकियाविली ने नैतिकता के नियमों की उपेक्षा की है तो कोई हानि नहीं।' परन्तु आलोचना के ये दोनों पक्ष मैकियाविली के विचारों का सही मूल्यांकन नहीं करते यह सत्य है कि राजनीति में अनेक अवसरों पर राजनेता राष्ट्र के हित में असत्य बात करते रहे हैं, प्रतिज्ञा-भंग करते रहे हैं और विश्वासघात भी करते रहे हैं, तो क्या इन सब बातों को अनैतिक राजनीति ही कहा जाय? मैक्सी ने लिखा है कि अमरीका के राष्ट्रपति लिंकन ने पद-ग्रहण करते समय आश्वासन दिया था कि वह दास प्रथा को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी रूप से नहीं छुयेगा। परन्तु कालान्तर में उसने इसे समाप्त करने का अथक् प्रयास किया। क्या इसे अनैतिक कहा जाय? राजनीति की कार्यान्विति में राजनेताओं को समय तथा परिस्थिति का विचार करते हुए ऐसे आचरण करने ही पड़ते हैं। आर० एच० मुरे ने लिखा है कि 'मैकियाविली दूरदर्शी नहीं था, परन्तु स्पष्टदर्शी था। वह तथ्यों को इस रूप में नहीं देखता था कि वे कैसे हों, प्रत्युत् इस रूप में देखता था कि वे कैसे हैं, अतः वह सम्भावनाओं को खोता हुआ राजनीयकता को भी खो गया।'[2]

जिस युग में मैकियाविली ने लिखा था, वह धर्म-निरपेक्षता का युग नहीं

[1] 'The Man whose precepts are universally disavowed in principle, but regularly followed in practice.' —Maxey, *op. cit.*, 126.

[2] 'He was clear-sighted, not far-sighted. He never saw things as they might be, but as they were, and hence missing possibilities he missed statesmanship.' —Quoted in Maxey, *op. cit.*, 137.

था। निस्सन्देह उसके युग की कुछ एक शताब्दियों के पश्चात् धर्म-निरपेक्ष राजनीतिक चिन्तन प्रारम्भ हो गया था। अत: जैसा सैबाइन ने कहा है 'इस अर्थ में उसका दर्शन संकीर्ण रूप से स्थानीय तथा संकीर्ण रूप से नियत-काल का है। यदि उसने इटली की अपेक्षा किसी दूसरे देश में लिखा होता, अथवा यदि उसने इटली में सुधार युग के प्रारम्भ में लिखा होता, और यहाँ तक कि यदि उसने इटली में रोमन कैथोलिक चर्च के प्रति सुधार युग (counter reformation age) के प्रारम्भ में लिखा होता तो यह सम्भव नहीं था कि उसका दृष्टिकोण धर्म के प्रति वैसा रहता जैसा कि उसने दर्शाया है।'[1] इस बात पर सन्देह नहीं किया जा सकता कि मैकियाविली का दर्शन उच्चकोटि की व्यावहारिक राजनीति है, न कि चिन्तनात्मक। उसके विचारों ने मध्ययुगीन विद्वत्तावाद, धर्मान्धता तथा कल्पनावाद से राजनीतिक चिन्तन को मुक्त किया और राजनीति के क्षेत्र में सर्वप्रथम व्यवहारवादी तथा राष्ट्रवादी चिन्तक होने का यश प्राप्त किया।

यद्यपि मैकियाविली ने अपने विचारों में 'राष्ट्र' या 'राष्ट्रवाद' शब्दों का प्रयोग उस अर्थ में नहीं किया है जिस अर्थ में आधुनिक युग में किया जाता है तथापि राष्ट्रवादिता के तत्त्व उसकी विचारधाराओं में विद्यमान थे। आधुनिक राष्ट्रीय राज्य का प्रमुख तत्त्व राष्ट्रीय सम्प्रभुता का सिद्धान्त है जिसकी धारणा को मैकियाविली का दर्शन स्पष्टतया व्यक्त नहीं करता और जिसका सूत्रपात उसके पश्चात् फ्रांसीसी विचारक जीन बोदां ने किया था, तथापि मैकियाविली के विचार प्रभुत्व-सम्पन्न राष्ट्रीय राज्य के स्थान पर प्रादेशिक राष्ट्र राज्य की धारणा को स्पष्ट करते हैं। यदि प्राचीन युग नगर-राज्यों का, मध्य युग सार्वभौम-राज्य और आधुनिक युग राष्ट्रीय राज्यों का माना जाता है तो इस बात में कोई सन्देह नहीं कि मैकियाविली सबसे प्रथम आधुनिक-युगीन विचारक है, क्योंकि वही पहला विचारक था जिसने सार्वभौम राज्य के स्थान पर प्रादेशिक राज्य की स्थापना पर बल दिया था और प्रादेशिक राज्य की स्थापना हेतु उन तत्त्वों को आवश्यक बताया जो एक राष्ट्रीयता तथा राष्ट्रीय राज्य के निर्माण के लिए अपरिहार्य हैं। इन सब दृष्टियों से यही निष्कर्ष निकलता है कि मैकियाविली के राजनीतिक विचारों के साथ 'राजनीतिक चिन्तन में आधुनिकता का आरम्भ' हुआ है।

[1] 'In this sense his philosophy was both narrowly local and narrowly dated. Had he written in any country except Italy, or had he written in Italy after the beginning of the Reformation and still more after the beginning of the Counter-Reformation in the Roman Church, it is impossible to suppose that he would have treated religion as he did.' —Sabine, *op. cit.*, 302.

दसवाँ अध्याय

सुधार आन्दोलन के राजनीतिक विचार

सुधार आन्दोलन को बहुधा प्रोटेस्टेंट सुधार आन्दोलन (Protestant Reformation Movement) के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। मध्ययुग में यूरोप की राजनीति तथा राजनीतिक चिन्तन में रोमन कैथोलिक चर्च का प्रभाव बना रहा था। रोमन कैथोलिक चर्च का उद्देश्य सम्पूर्ण ईसाई समाज के एक सार्वभौम ईसाई राज्य की स्थापना करना था, जिसका नियमन रोमन पोप के निदेशन में किया जाता। यह धारणा पोप ग्रीगरी सप्तम् (हिल्डब्रेंड) के विचारों से विकसित हुई थी। 13वीं शताब्दी तक इस धारणा के समर्थकों का पक्ष सुदृढ़ रहा। परन्तु इसके विरुद्ध साम्राज्यशाही के समर्थक सम्पूर्ण ईसाई समाज के एक ऐसे सार्वभौम साम्राज्य की स्थापना का उद्देश्य रखते थे जिसका शासक एक सम्राट होता। 14वीं तथा 15वीं शताब्दी में इस विचारधारा के समर्थकों का पलड़ा भारी होता गया। इस विचारधारा के समर्थक कैथोलिक चर्च या पोप के विरोधी तो नहीं थे, परन्तु वे पोप तथा चर्च की सत्ता को मर्यादित करना चाहते थे ताकि वे लौकिक-सत्ता के क्षेत्र में हस्तक्षेप न करके केवल आध्यात्मिक क्षेत्र तक ही अपने कार्य-कलापों को सीमित रखें। इस बीच चर्च संगठन तथा प्रशासन में अनेक बुराइयाँ और भ्रष्टाचार आ गये थे। अतः 14वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में चर्च-सुधार हेतु कनसीलियर आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। यद्यपि यह आन्दोलन सफल नहीं हुआ, तथापि इसके अन्तर्गत जो विचार रखे गये थे वे भविष्य के राजनीतिक विचारों को प्रभावित करने में पर्याप्त सहायक सिद्ध हुए। 15वीं शताब्दी तक यूरोप का राजनीतिक वातावरण बहुत परिवर्तित हो चुका था। रोमन पोप की शक्ति क्षीण होती जा रही थी। स्पेन, फ्रांस तथा इंग्लैण्ड में राष्ट्रीय आधार पर राजतन्त्र कायम हो गये थे। जर्मनी एक साम्राज्य के रूप में विकसित हो रहा था। इटली छिन्न-भिन्न अवस्था में था। मैकियाविली ने इटली को शक्तिशाली राष्ट्रीय राज्य निर्मित करने हेतु नैतिकता तथा धर्म-विहीन राजनीतिक विचारों का प्रतिपादन किया था। परन्तु मैकियाविली के विचारों ने तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्थाओं को तुरन्त प्रभावित करने में सफलता प्राप्त नहीं की, क्योंकि उस काल में धर्म का प्रभाव राजनीति पर पर्याप्त मात्रा में था। अतः मैकियाविलीवाद अपने युग के अनुकूल सिद्ध नहीं हो सका। रोमन कैथोलिक चर्च की मध्ययुगीन सार्वभौम ईसाई राज्य के निर्माण की धारणा भी समाप्त हो गई थी। रोमन पोप का प्रभाव भी ईसाई जगत में सार्वभौम नहीं रह गया था। रोमन चर्च के प्रति निष्ठा रखने वाले कुछ राष्ट्रीय राजतन्त्र अवश्य विद्यमान थे। परन्तु सार्वभौम चर्च की धारणा समाप्त होती जा रही थी। चर्चों का संगठन भी राष्ट्रीय आधार पर होने लगा था। अतः ऐसी स्थिति में कई राष्ट्रीय

राज्य रोमन कैथोलिक चर्च के विरुद्ध हो गये थे। इन राज्यों में रोमन कथोलिक चर्च के विरुद्ध प्रोटेस्टेंट चर्च कायम हो गये थे। 16वीं शताब्दी में पुनः कनसीलियर आन्दोलन के रूप में प्रोटेस्टेंट चर्चों के सुधार का एक आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में इसे प्रोटेस्टेंट सुधार आन्दोलन कहा जाता है, क्योंकि इस आन्दोलन के बीच प्रोटेस्टेंट चर्च को मानने वाले देशों में चर्च तथा राज्य के सम्बन्धों के बारे में विचार रखे गये थे। इसका उद्देश्य रोमन कैथोलिक चर्च की मध्ययुगीन प्रवृत्ति का विरोध करके चर्च में सुधार लाना था।

यद्यपि यह आन्दोलन मूल रूप में चर्च-सुधार से सम्बन्ध रखता था तथापि इसका महत्त्व राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में भी कम नहीं है। सुधार आन्दोलन के मध्य जो विचार रखे गये थे वे धर्मसत्ता तथा राजसत्ता के मध्य सम्बन्धों, नागरिकों के राज्य तथा चर्च के प्रति दायित्वों तथा जनता के राजनीतिक अधिकारों तथा कर्त्तव्यों से सम्बद्ध हैं। इस आन्दोलन के प्रतिपादकों में प्रमुख मार्टिन लूथर तथा काल्विन थे। इस आन्दोलन के अन्य विचारक मैलेंक्थन, ज्विंग्ली तथा जॉन नॉक्स थे। सुधार आन्दोलन के उद्देश्यों, विशेषताओं तथा राजनीतिक चिन्तन के ऊपर उसके प्रभावों का ज्ञान करने हेतु इन विचारकों की धारणाओं का ज्ञान आवश्यक है।

मार्टिन लूथर (1483–1546)

मार्टिन लूथर (Martin Luther) जर्मनी का निवासी था। उसका आरम्भिक जीवन चर्च से सम्बद्ध था। मैकियाविली की भाँति वह भी नव-जागरण के युग का व्यक्ति था परन्तु उसके विचारों में नव-जागरण का प्रभाव नहीं है। वह चर्च का एक पुजारी रह चुका था। 1507 में वह विटनवर्ग के विश्वविद्यालय में प्रोफेसर नियुक्त हुआ। 1511 में वह रोम गया। वहाँ उसे पोप तथा रोमन चर्च की गतिविधियों के सम्बन्ध में बड़ा कटु अनुभव हुआ। उसे चर्च के कार्यकलापों से बहुत घृणा हो गयी और उसने उनका विरोध करना प्रारम्भ किया। परिणामस्वरूप चर्च ने उसे धर्म-बहिष्कृत कर दिया। लूथर ने यहीं से चर्च-सुधार आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया।

चर्च-सुधार के सम्बन्ध में लूथर के विचार कनसीलियर आन्दोलन के नेताओं के विचारों के सदृश थे। मारसीलियो तथा ओखम की भाँति वह भी चर्च की सत्ता को क्लर्जी तथा जनसाधारण की प्रतिनिध्यात्मक संस्था (सामान्य चर्च-परिषद्) के हाथ में रखना चाहता था न कि पोप के हाथ में। चर्च की भौतिक सम्पत्ति तथा चर्च की कर लगाने की शक्ति का वह विरोधी था। उसने राजसत्ता तथा धर्मसत्ता के मध्य पृथक्करण के सिद्धान्त को अपनाया। वह राजसत्ता को धर्मसत्ता से उच्चतर मानता था। वह चर्च को दैवी-संस्था नहीं मानता था। उसके विचार से चर्च अधिकारी सब मानव हैं, अतः वे भी साधारण नागरिकों की भाँति हैं। इसलिए उनके ऊपर भी राजसत्ता का नियन्त्रण उसी भाँति रहना चाहिए जिस भाँति अन्य साधारण नागरिकों पर रहता है। उसका मत था कि चर्च के पृथक् न्यायालयों के अस्तित्व का कोई औचित्य नहीं है। लौकिक-सत्ता के अधिकारियों के ऊपर पोप का कोई नियन्त्रण वैध नहीं है। यदि चर्च अधिकारी अपने कर्त्तव्यों से च्युत हो जाते हैं तो राजसत्ता का कर्त्तव्य है कि वह चर्च शासन को अपने हाथ में ले लेवे। इसका स्वाभाविक निष्कर्ष यह निकलता है कि चर्चों का संगठन राष्ट्रीय आधार पर होता।

लूथर के शब्दों में, 'राजा तथा शासक आवश्यकतावश बिशप होते हैं ।'[1] लूथर की इस धारणा ने रोमन चर्च के विरुद्ध राष्ट्रीय प्रोटेस्टेंट चर्चों की स्थापना का आधार प्रस्तुत किया । उसका मत था कि यदि नास्तिकता (heresy) दण्डनीय अपराध है तो उसका दण्ड देने का अधिकार लौकिक-सत्ता को है, क्योंकि दण्ड देने में बल-प्रवर्ती शक्ति का प्रयोग करना पड़ेगा और ऐसा अधिकार लौकिक-सत्ता को ही प्राप्त है ।

राज्य के सम्बन्ध में लूथर मध्ययुगीन सार्वभौम चर्च-राज्य की स्थापना के विरुद्ध राष्ट्रीय प्रादेशिक राज्यों की स्थापना का समर्थक था । वह रोमन पोप के अन्य राज्यों के धार्मिक मामलों में प्रादेशिक बाह्य अधिकार-क्षेत्र (extra-territorial jurisdiction) का विरोधी था । मारसीलियो की भाँति लूथर भी चर्च की सत्ता को पूर्णतया लौकिक-सत्ता के अधीन रखना चाहता था । उसके मत से राज्य भी उसी प्रकार दैवी है जिस प्रकार चर्च । अत: राजसत्ता केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है, न कि चर्च या पोप के प्रति । लूथर न केवल पोप के दैवी अधिकार का ही विरोधी था, प्रत्युत् वह राजा के दैवी अधिकार का भी समर्थन करता है । इस हेतु वह जनता द्वारा राजसत्ता के प्रति सविनय आज्ञाकारिता (passive obedience) के सिद्धान्त पर बल देता है ।

असंगतियाँ—लूथर के विचारों में अनेक असंगतियाँ भी पायी जाती हैं । एक ओर वह राजा के दैवी अधिकार सिद्धान्त को मानता है, दूसरी ओर वह कहता है कि 'सामान्यतया पृथ्वी के शासक महानतम मूर्ख तथा निकृष्टतम धूर्त होते हैं ।'[2] इसका यह अर्थ है कि लूथर दैवत्व राजा के पद को प्रदान करता है न कि उस व्यक्ति विशेष को जो राजपद पर आसीन हो । उसने कहा है कि 'मुझे एक शासक की बुराइयों को सहन करना अच्छा प्रतीत होता है अपेक्षाकृत जन-समूह के उचित कार्यों से ।'[3] उसकी असंगतियाँ अन्य दृष्टान्तों से भी स्पष्ट होती हैं । लूथर वैयक्तिक स्वतन्त्रता का समर्थन करते हुए यह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने विवेक से धर्मशास्त्रों का निर्वचन करने तथा विश्वास की स्वतन्त्रता का अधिकारी है । धर्म को बलात् किसी व्यक्ति पर नहीं लादा जा सकता । परन्तु व्यक्ति की विचार-अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को वह परिस्थिति-वश ही स्वीकार करता है । लूथर के काल में जब जर्मनी में महान् कृषक क्रान्ति हुई थी तो उसने उसे कुचलने में शासकों का पूरा पक्ष लिया, यद्यपि वह कृषकों से सहानुभूति रखता था । वह जनता को शासकों के प्रति सविनय आज्ञाकारिता की सलाह देता है । साथ ही वह यह भी मानता है कि यदि शासक अपनी सत्ता का दुरुपयोग करें तो जनता उसका प्रतिरोध करने की अधिकारी है । यह धारणा भी असंगतिपूर्ण है । सैबाइन का निष्कर्ष है कि 'लूथर की सत्ता-सम्बन्धी धारणा निश्चित रूप से इस सिद्धान्त की समर्थक है कि सिविल सत्ता का प्रतिरोध करना हर परिस्थिति में नैतिक दृष्टि से अनुचित है ।'[4] लूथर मानवीय समानता की धारणा को अमान्य करता है, क्योंकि उसे जनसाधारण पर कोई

[1] 'Kings and rulers are bishops by necessity.'

[2] 'The rulers were generally the biggest fools and worst knaves on earth.'

[3] 'I would rather suffer a prince doing wrong than a people doing right.' —Sabine, *op. cit.*, 309.

[4] 'The weight of Luther's authority was quite definitely on the side of the doctrine that resistance to civil authority is in all circumstances morally wrong'—*Ibid.*, 310.

विश्वास नहीं था। वह उन्हें शैतान (satan) की संज्ञा देता है।

राज्य-व्यवस्था के सम्बन्ध में लूथर केन्द्रीकृत सम्प्रभु राज्यों की व्यवस्था का समर्थक था। वह मध्ययुगीन सामन्ती व्यवस्था तथा स्वायत्त श्रेणियों की व्यवस्था का विरोधी था। जे० एन० फिगिस का कथन है कि 'राजनीति को लूथर की सबसे महत्त्वपूर्ण देन है एकता, सार्वभौमिकता तथा प्रभुत्व-सम्पन्न प्रादेशिक राज्य का औचित्य एवं किसी रूप में बाह्य प्रादेशिक स्वतन्त्र जन-समुदाय की अस्वीकारोक्ति।'[1]

जॉन काल्विन (1509–1564)

जॉन काल्विन (John Calvin) एक फ्रांसीसी विधिवेत्ता था। उसका जन्म एक कैथोलिक परिवार में हुआ था। 1533 में वह प्रोटेस्टेंट धर्म का अनुयायी हो गया जिनके कारण उसे फ्रांस छोड़ना पड़ा क्योंकि उस समय फ्रांस कैथोलिक धर्म-समर्थक राजतन्त्र था। वह जेनेवा गया। यद्यपि प्रारम्भ में वहाँ उसके विचारों का विरोध हुआ, तथापि बाद में वह जेनेवा के नगर राज्य में लगभग एक तानाशाह की भाँति का अधिकारी रहा। प्रोटेस्टेंट धर्म-सुधार आन्दोलन में काल्विन के विचारों का लूथर के विचारों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण प्रभाव था। लूथर के धार्मिक उदारवाद का प्रभाव यह हुआ कि राष्ट्रीय चर्च पूर्णतया राजनीतिक सत्ता के अंग होने लगे। यद्यपि वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का समर्थक था, तथापि उसके विचारों का प्रभाव यह हुआ कि राजनीतिक सत्ता में निरंकुशता बढ़ने लगी और धर्म केवल आध्यात्मिकता में परिणत होने लगा। धर्मसत्ता का स्वरूप रहस्यवादी तथा शक्तिवादी रह गया। इसके विपरीत काल्विन ने प्रोटेस्टेंट चर्चों के सम्बन्ध में अधिक व्यापक तथा साहसपूर्ण विचार रखे और राजसत्ता तथा धर्मसत्ता के सम्बन्धों को और अधिक स्पष्टतया व्यक्त किया। उसके विचार उसकी रचना 'The Institutes' में व्यक्त किये गये थे।

काल्विन का दर्शन—काल्विन ने प्रोटेस्टेंट चर्च के विरुद्ध लगाये गये आरोपों का खण्डन करने के उद्देश्यों से अपने विचार लिखे थे। उसका उद्देश्य यह दर्शाना था कि जिस प्रकार कैथोलिक धर्मावलम्बी रोमन चर्च को सर्वश्रेष्ठ धार्मिक सत्ता मानते हैं उसी प्रकार प्रोटेस्टेंट धर्मावलम्बियों के लिए बाइबिल सर्वश्रेष्ठ सत्ता है जिसमें मानव हेतु ईश्वर के उपदेश उपलब्ध हैं। काल्विन का विश्वास था कि परमात्मा ने समस्त सृष्टि के सम्पूर्ण कार्यकलापों का पूर्व-निर्धारण कर दिया है। इस दैवी योजना को पूर्ण करने के लिए मनुष्य को प्रयत्नशील रहना चाहिए। मैकियाविली की भाँति काल्विन भी मनुष्य को स्वभावतः बुरा मानता है। अतः उसके विचार से, मानव की दुष्ट प्रवृत्तियों के सुधार के लिए बाइबिल में दैवी विधान के नियम दिये गये हैं। उन नियमों के अनुसार मानव-समाज का नियमन करने से ही मनुष्य का सुधार तथा कल्याण सम्भव है। राज्य, चर्च तथा व्यक्ति सभी इस सर्वोच्च सत्ता (बाइबिल) के अधीन हैं। काल्विन प्राकृतिक कानून के अस्तित्व पर भी विश्वास रखता था। उसके विचार से प्राकृतिक कानून के मानवीय ज्ञान की अभिव्यक्ति नैतिक कानून (मानवीय नैतिकता) के द्वारा होती है। प्राकृतिक अधिकार प्राकृतिक

[1] 'The unity and universality and the sovereign territorial state and the denial of every extra-territorial or independent communal form of life are Luther's lasting contribution to politics.' —J. N. Figgis.

कानून के अनुरूप होते हैं। प्राकृतिक कर्त्तव्य प्राकृतिक अधिकारों की सृष्टि हैं। प्राकृतिक अधिकारों के अन्तर्गत कानून का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार तथा धार्मिक स्वतन्त्रता (freedom of worship) का अधिकार शामिल हैं। काल्विन की शिक्षा का उद्देश्य मानव में आत्म-संयम, अनुशासन तथा जीवन संग्राम में अपने साथियों का सम्मान करने की भावना का संचार करना था। सैबाइन के शब्दों में काल्विन का नैतिकवाद 'एक अर्ध-सैनिक अनुशासन की विश्वव्यापी पद्धति में विश्वास'[1] के रूप में था। लूथर की भाँति वह प्रत्येक व्यक्ति के धर्मशास्त्रों का निर्वचन अपने विवेक से करने के अधिकार को स्वीकार नहीं करता। साथ ही वह क्रान्तिकारी सामाजिक सिद्धान्तों से भी दूर था। काल्विन का दर्शन टॉमस ऐक्विना की विचारधाराओं की भाँति व्यापक था। 'ऐक्विना ने रोमन कैथोलिक चर्च के हित में जो कार्य किया वही सब काल्विन ने प्रोटेस्टेंट चर्चों के हित में किया।'

राज्य तथा चर्च—राजसत्ता (लौकिक सत्ता) के औचित्य के सम्बन्ध में काल्विन की धारणा यह थी कि चूंकि 90 प्रतिशत व्यक्ति दुष्टता से भरे हैं, अतः उनके द्वारा किये जाने वाले दुष्टता के कार्यों से समाज की शान्ति को भंग होने से बचाने के लिए लौकिक सत्ता आवश्यक है। लौकिक सत्ता का उद्देश्य धर्म के सिद्धान्तों का संरक्षण तथा प्रसार करना, सामाजिक जीवन में मनुष्य के आचरण का नियमन करना तथा समस्त समाज में शान्ति और व्यवस्था बनाए रखना है।[2] डनिंग के मत से 'काल्विन की धारणा यह थी कि एक प्रशासक (Magistrate) की सत्ता, जहाँ तक केवल सांसारिक जीवन की बातों का सम्बन्ध है, समस्त बातों में सबसे पवित्र तथा सम्माननीय होती है।'[3] काल्विन के अनुसार सिविल शासन (civil government) के कार्यों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(1) जनता के जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति की सुरक्षा करके सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखना, तथा (2) सत्य (धर्म) की रक्षा करना। प्रथम के लिए लौकिक सत्ता (secular authority) की, तथा द्वितीय के लिए चर्च सत्ता (Church authority) की आवश्यकता है।

काल्विन राज्य तथा चर्च दोनों संगठनों को एक राजा के अधीन एक में मिलाने के विरुद्ध था। वह इन्हें पृथक् संगठनों के रूप में रखना चाहता था। वह जनता को राजसत्ता का प्रतिरोध करने का अधिकार देने का भी विरोधी है। साथ ही वह किसी प्रकार के उदारवाद, वैधानिकतावाद तथा प्रतिनिध्यात्मक सिद्धान्तों का भी विरोधी है। वह राज्य को चर्च के प्रभाव से मुक्त रखने की नीति का भी विरोध करता है। साथ ही वह चर्च को धर्म तथा नैतिकता के मानदण्डों को निर्धारित करने की स्वतन्त्रता देने का भी समर्थक है। वह यह भी चाहता है कि

[1] 'A belief in a cosmic system of quasi-military discipline.'—Sabine, *op. cit.*, 312.

[2] 'It is the purpose of temporal rule, so long as we live among men, to foster and support the external worship of God, to defend pure doctrine and the standing of the Church, to conform our lives to human society, to mould our conduct to civil justice, to harmonise us with each other, and to preserve the common peace and tranquility.'—Calvin in *Institutes*, Sabine, *op. cit.*, 312.

[3] 'Calvin held that the authority of a magistrate is the most sacred and honourable of all things pertaining to mere mortal life.'—Dunning, *A History of Political Theories from Luther to Montesquieu*, 1949, 27.

दुष्टों को अनुशासित रखने में लौकिक सत्ता को चर्च का साथ देना चाहिए। वह लौकिक सत्ता को चर्च की सत्ता से स्वतन्त्र रखने की अपेक्षा मुक्ति का बाह्य साधन (external means of salvation) मानता है। इस दृष्टि से काल्विन की राज्य सम्बन्धी धारणा मध्ययुगीन 'धर्मतन्त्री' धारणा के सदृश है, जिसमें राज्य के कार्य-कलापों का निदेशन राष्ट्रीय चर्च के द्वारा होगा, न कि चर्च का निदेशन राजा के द्वारा। यह दृष्टिकोण मार्टिन लूथर की धारणा के विपरीत है। जेनेवा में काल्विन ने ऐसी ही व्यवस्था की थी।

चर्च शासन के सम्बन्ध में काल्विन लोकतन्त्री तथा प्रतिनिध्यात्मक सिद्धान्तों का समर्थक नहीं है। वह कुलीनतन्त्री व्यवस्था का समर्थक है। उसके मत से सिद्धान्ततः चर्च की शक्ति समूचे ईसाई समाज के हाथ में है, परन्तु व्यवहार मे वह चर्च अधिकारियों (clergy) तथा जनसाधारण (laity) में से नामांकित कुछ वयोवृद्ध व्यक्तियों से निर्मित संस्था के द्वारा प्रयुक्त होती है। काल्विन का उद्देश्य ऐसी चर्च सरकार का समर्थन करना नहीं था जो एक राष्ट्रीय चर्च के रूप में हो और जिसका प्रधान लौकिक राजा हो। वास्तव में वह पोप ग्रीगरी सप्तम के इस सिद्धान्त का अनुयायी था कि आध्यात्मिक सत्ता लौकिक सत्ता से उच्चतर होती है। परन्तु कैथोलिक धारणा से काल्विन की धारणा इस अर्थ में भिन्न है कि वह चर्च का शासन केवल पोप तथा बिशपों के हाथ में न रखकर कल्र्जी तथा गैर-कल्र्जी दोनों तत्त्वों के हाथ में रखना चाहता है और चर्च को अधिक स्वायत्तशासी बनाने का उद्देश्य रखता है।

लूथर की भाँति काल्विन भी लौकिक सत्ता के प्रति जनता की सविनय आज्ञाकारिता (passive obedience) की धारणा का समर्थन करता है। वह लौकिक शासक को ईश्वर का प्रतिनिधि मानता है, क्योंकि वह 'मुक्ति का बाह्य साधन' है। अतः उसकी आज्ञा का उल्लंघन करना ईश्वर की आज्ञा का उल्लघन करने के सदृश है। काल्विन की यह धारणा राजा के दैवी अधिकार के सिद्धान्त की समर्थक है। परन्तु लूथर की भाँति काल्विन भी व्यक्तिगत शासक को दैवत्व प्रदान नहीं करता, अपितु 'पद' को प्रदान करता है, जिसकी सत्ता अलंघ्य है। शासक के पद को दैवी मानने के साथ-साथ वह शासकों के प्रजा के प्रति कर्त्तव्यों को भी महत्त्व देता है। उसकी मान्यता थी कि ईश्वर का अपरिवर्तनीय कानून प्रजा तथा शासक दोनों के ऊपर समान रूप से लागू होता है। यदि शासक उसकी उपेक्षा करता है तो वह ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है। पापमय कृत्यों के लिए ईश्वर उसे दण्ड देगा। परन्तु ऐसे शासक को दण्ड देना मनुष्य का कार्य नहीं है।

काल्विन यह भी मानता है कि किसी राज्य के संविधान में अत्याचारी शासक के विरुद्ध प्रतिरोध करने की शक्ति लौकिक प्रकृति की हो सकती है। परन्तु जनसाधारण को यह अधिकार प्राप्त नहीं है। ऐसी शक्ति 'निम्नतर प्रशासकों' (inferior magistrates) अथवा 'प्राकृतिक नेताओं' (natural leaders) के हाथ में हो सकती है। इस दशा में यह नहीं माना जाएगा कि वे प्रशासक या नेता राज्य की सम्प्रभु शक्ति को प्रधान शासक के साथ संयुक्त रूप से प्रयुक्त करते हैं। अतः इनमें से प्रत्येक को एक-दूसरे की गलतियों पर उसे सुधारने की शक्ति स्वयं ईश्वर से प्राप्त होती है और इसका प्रयोग वैधानिक ढंग से किया जाना चाहिए। वह वैधानिक विधि भी ईश्वर का कानून ही है। चूँकि शासकों को जनता के ऊपर शासन करने

की शक्ति ईश्वर से प्राप्त होती है, न कि जनता से, अतः जनता द्वारा शासकों का प्रतिरोध करने का अधिकार किसी भी दशा में उचित नहीं माना जा सकता। चर्च की भाँति लौकिक शासन के सम्बन्ध में भी काल्विन कुलीनतन्त्र का समर्थक है। वह न तो वंशानुगत राजतन्त्र का समर्थन करता है, न लोकतन्त्र का।

ज्विग्ली (1484–1531)

सुधार आन्दोलन के सम्बन्ध में स्विट्जरलैण्ड के तत्कालीन राजनीतिज्ञ ज्विग्ली (Zwingli) के विचार भी महत्त्वपूर्ण हैं। उसकी अभिरुचि धर्म-सम्बन्धी समस्याओं में इतनी अधिक नहीं थी जितनी कि राजनीति में। उसके विचार लूथर की अपेक्षा अधिक प्रगतिवादी (radical) तथा मानवतावादी हैं। स्विट्जरलैण्ड में वह सुधारवादी दल का व्यक्ति था। शासन में वह लोकतन्त्री व्यवस्था का समर्थक था। साथ ही धार्मिक आधार पर राष्ट्रीय सुधारों का भी इच्छुक था। एक लोकतन्त्रवादी होने के नाते उसकी धारणा यह थी कि समस्त जन-समूह को अपने धार्मिक एवं नागरिक जीवन का नियमन करने की स्वायत्तता प्राप्त होनी चाहिए। वह राज्य तथा चर्च के पृथक् संगठन एवं सत्ता की धारणाओं को अनुचित मानता था। वह इन दोनों की एक ही व्यवस्था निर्मित करने तथा उसमें राजनीतिक सत्ता की उच्चता का समर्थक था।

सुधार आन्दोलन के अन्य विचारकों तथा नेताओं के विपरीत ज्विग्ली राजाओं के दैवी अधिकार की धारणा का समर्थक नहीं था। इसी प्रकार वह राजा के प्रति जनता की सविनय आज्ञाकारिता के सिद्धान्त को भी महत्त्व नहीं देता था। एक लोकतन्त्रवादी होने के नाते उसकी अभिरुचि राजतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली में नहीं थी। प्रत्युत् उसकी इच्छा यह थी कि राष्ट्रीय राज्य ईसाइयों के समाज से निर्मित एक गणतन्त्र (Commonwealth) हो, जिसमें सभी लोग नागरिक शासन की स्थापना तथा उसके प्रशासनिक कार्य-कलापों में सहयोग प्रदान करें। इस दृष्टि से ज्विग्ली का राजनीतिक आदर्श एक लोकतन्त्री राज्य-व्यवस्था है जिसमें आरम्भिक ईसाइयत की सामाजिकता तथा मानवीय समानता की भावना विद्यमान रहे।

मैलेंक्थन (1497–1560)

मैलेंक्थन (Philip Melanchthon) लूथर का शिष्य था, परन्तु अपने गुरु की भाँति वह एक धर्मशास्त्री (theologian) नहीं था। वह मूल रूप से एक दार्शनिक तथा विद्वान् था। वह एक उदार प्रकृति का मानवतावादी व्यक्ति था। उसकी अभिरुचि शास्त्रीय ज्ञान में अधिक थी। सुधार आन्दोलन की अवधि में उसके विचारों ने भी आन्दोलन को प्रभावित करने में सहायता दी। मैलेंक्थन की विचार-पद्धति अरस्तू से मिलती-जुलती है। सुधार आन्दोलन हेतु उसने एक क्रमबद्ध दर्शन प्रदान किया जिसका आधार नैतिक तथा राजनीतिक था। धार्मिक क्रान्ति के प्रभाव के कारण लूथर की भाँति उसकी विचारधारा में भी कई असंगतियाँ पायी जाती हैं। उदाहरणार्थ, उसका मत है कि धार्मिक मामलों में लौकिक सत्ता के अधिकार तथा उसके प्रति जनता की सविनय आज्ञाकारिता का स्वरूप उन दोनों स्थितियों में भिन्न प्रकृति का होगा जहाँ प्रोटेस्टेंट शासकों के अधीन कैथोलिक प्रजाजन हों अथवा

कैथोलिक शासकों के अधीन प्रोटेस्टेंट प्रजाजन हों।[1]

मैलेंक्थन प्राकृतिक कानून की सत्ता को मानता है। उसके अनुसार प्राकृतिक कानून मानव-मन में स्थित दैवी इच्छा का प्रत्यक्ष प्रकटीकरण (implanted in human mind as direct revelation of God's will) है। इससे उत्पन्न होने वाली समस्त संस्थाएँ तथा कानून प्राकृतिक तथा औचित्यपूर्ण हैं। प्राकृतिक कानून के अन्य स्रोत वे सार्वभौम सिद्धान्त हैं जो मानव प्रकृति का निरूपण करते हैं, यथा मनुष्य की सामाजिक प्रकृति। स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति की धारणाएँ भी प्राकृतिक कानून पर आधारित हैं। राज्य दैवी इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है, अतः वह दैवी है। राजसत्ता को अधिकार है कि वह ऐसे व्यक्ति को सम्पत्ति-विहीन कर दे, जो सम्पत्ति का दुरुपयोग करता है। स्वतन्त्रता का अभिप्राय कानून के विरुद्ध अपनी इच्छानुसार कार्य करना नहीं है। राज्य में बाह्य शान्ति बनाये रखना, नैतिकता की अभिवृद्धि करना, धर्म का संरक्षण करना तथा अनुशासन बनाये रखना नागरिक सरकार का मुख्य कार्य है। लौकिक सत्ता को यह अधिकार है कि वह झूठे धार्मिक विश्वासों तथा नास्तिकता को दण्डित करे। परन्तु नास्तिकता तथा झूठे धार्मिक विश्वासों का निर्धारण करने और आध्यात्मिक बातों का निर्वचन करने का अधिकार चर्च से सम्बन्धित अधिकारियों तथा जनसाधारण से लिए गए व्यक्तियों की एक परिषद् के हाथ में होना चाहिए। मैलेंक्थन दास-प्रथा का औचित्य तथा कृषक आन्दोलन का विरोध अपनी प्राकृतिक कानून तथा स्वतन्त्रता की धारणाओं के द्वारा स्पष्ट करता है।

राज्य तथा चर्च के पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में वह चर्च को लौकिक सत्ता के अधीन मानता है। वह सार्वभौम साम्राज्य की मध्ययुगीन धारणा को भी अमान्य करता है। इतिहास तथा धर्मशास्त्रों की प्रामाणिकता के आधार पर वह स्वतन्त्र प्रादेशिक राज्यों को सामान्य राजनीतिक व्यवस्था मानता है। वह निरंकुश राजतन्त्रों का विरोधी है और उनकी सत्ता को मर्यादित रखना चाहता है। उसके मत से निर्वाचित सिद्धान्त, प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं का अस्तित्व या अभिजात्य वर्ग का अस्तित्व राजा की शक्ति को मर्यादित करने के सफल साधन नहीं हैं। प्रत्युत् राजा की सत्ता को मर्यादित करने हेतु धर्म का प्रतिबन्ध अधिक प्रभावी होता है। राजा को अत्याचारी बनने से रोकने के लिए जनता को भी प्रतिरोध करने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। सामान्यतया लूथर के दृष्टिकोण को अपनाते हुए वह भी राजा के प्रति सविनय आज्ञाकारिता, तथा शासकों के दैवी अधिकार के सिद्धान्त को मानता है।

जॉन नौक्स (John Knox)—स्काटलैण्ड में कैथोलिक राजतन्त्र था। प्रोटेस्टेंट होने के नाते तथा प्रोटेस्टेंट शिक्षा का प्रचार करने के कारण नौक्स को दण्डित किया गया था। उस पर काल्विन का प्रभाव बहुत अधिक था। परन्तु स्काटलैण्ड की परिस्थिति के अन्तर्गत उसने काल्विन के राजसत्ता के प्रति सविनय आज्ञाकारिता के सिद्धान्त का विरोध किया, और यह प्रचार किया कि लौकिक-सत्ता का प्रतिरोध भी किया जा सकता है, यदि वह सच्चे धर्म के विरुद्ध हो। नास्तिकता तथा झूठे धार्मिक विश्वास को दण्ड देना राजसत्ता का ही कार्य नहीं है, बल्कि समूचे समाज का भी है।

[1] Dunning, *op. cit.*, 15.

सुधार आन्दोलन के राजनीतिक विचारों की विशेषताएँ

प्रोटेस्टेंट सुधार आन्दोलन के प्रमुख विचारकों की विचारधाराओं का संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया जा चुका है। इनमें से मुख्य स्थान लूथर तथा काल्विन को प्राप्त है। राजनीतिक चिन्तन की दिशा में इन नेताओं के मुख्य-मुख्य विचारों को निम्नांकित क्रम से रखा जा सकता है—

(1) यह आन्दोलन रोमन कैथोलिक चर्च की सर्वोच्चता तथा सार्वभौमिकता का विनाश करके राष्ट्रीय आधार पर प्रोटेस्टेंट चर्चों की स्थापना के मार्ग में सहायक सिद्ध हुआ। अत: सुधार आन्दोलन ने मध्य युग की सार्वभौम ईसाई चर्च राज्य की धारणा का अन्त कर दिया। इस आन्दोलन ने न केवल चर्च की एकता का ही विनाश किया, अपितु सार्वभौम साम्राज्य की धारणा का भी अन्त करके यूरोप को विविध प्रादेशिक राष्ट्रीय राज्यों के रूप में संगठित करने के कार्य में सहायता दी। इन राष्ट्रीय राज्यों में से कुछ प्रोटेस्टेंट चर्च के तथा कुछ रोमन कैथोलिक चर्च के अनुयायी बन गये। जिन राज्यों में प्रोटेस्टेंट चर्च थे, वहाँ चर्च सुधार की इन विचारधाराओं ने राजनीतिक व्यवस्थाओं तथा राजनीतिक आदर्शों को नया रूप प्रदान किया।

(2) सुधार आन्दोलन ने लौकिक राजाओं के दैवी अधिकार के सिद्धान्त को मान्यता देकर राजतन्त्रों को अधिक निरंकुशतावादी बनाने में सहायता दी। मध्य युग में रोमन कैथोलिक चर्च ही एकमात्र धर्मसत्ता थी, जिसका प्रधान पोप था। अत: मध्ययुगीन राजनीतिक विचारधाराएँ पोप तथा राजा के अधिकार-क्षेत्र के मध्य संघर्ष पर केन्द्रित रहीं। परन्तु सुधार आन्दोलन के कारण प्रोटेस्टेंट चर्च पोप के अधिकार-क्षेत्र से मुक्त थे। अत: अब विवाद का विषय पोप तथा राज्य की शक्ति के मध्य संघर्ष न होकर राजा तथा जनता की शक्ति के मध्य संघर्ष के रूप में प्रकट हुआ।

(3) सुधार आन्दोलन ने धर्म तथा राजनीति को एक साथ लाने में सहायता प्रदान की। सुधार आन्दोलन के नेताओं ने चर्च तथा राज्य के मध्य किसी न किसी रूप में पारस्परिक सहयोग की धारणा को व्यक्त किया, न कि उनके पृथक्करण की धारणा को। सैबाइन के अनुसार, 'इस आन्दोलन ने मध्य युग की अपेक्षा राजनीतिक विचारधारा को धार्मिक विश्वासिता के मतभेदों तथा धार्मिक सिद्धान्तों से सम्बद्ध बातों के साथ अधिक मात्रा में संयुक्त किया।'[1]

(4) कनसीलियर आन्दोलन न तो चर्च शासन में सुधार लाने में सफल हुआ था और न पोप की सत्ता को मर्यादित करने में। प्रोटेस्टेंट सुधार आन्दोलन के विचारों से पोप की शक्ति को धार्मिक एवं लौकिक दोनों क्षेत्रों में निर्बल बना देने में सहायता प्रदान की। इस आन्दोलन ने चर्च की सम्पत्ति का विरोध करके चर्च को राजाओं के अधीन रखकर उसकी सम्पत्ति पर लौकिक-सत्ता के अधिकार-क्षेत्र का समर्थन किया। प्रोटेस्टेंट व्यवस्था के अन्तर्गत राजा को चर्च तथा धर्म का भी प्रधान एवं संरक्षक माना गया, जो कि स्वयं दैवी अधिकार के आधार पर धर्म का नियमन करने के लिए उत्तरदायी था। इस प्रकार राजाओं के हाथ में नास्तिकता को दण्ड देने तथा धार्मिक विश्वासिता का निर्वचन करने की सत्ता आ गयी। सभी सुधार-

[1] 'The Protestant Reformation mixed political theory with differences of religious belief and with questions of theological dogma more closely than had been the case even in the Middle Ages.' —Sabine, *op. cit.*, 304.

नेताओं ने प्रोटेस्टेंट शासकों के हितों का ध्यान रखा और उनकी शक्ति को सुदृढ़ करने हेतु जनता द्वारा शासक के प्रति सविनय आज्ञाकारिता के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की।

(5) आन्दोलनकारियों ने व्यक्ति के विश्वास तथा धर्मशास्त्रों का अपने विवेक के आधार पर निर्वचन करने के अधिकार को मान्यता दी थी। यह धारणा लोकतन्त्र की प्रतीक है। इस धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार ने राज्य के क्षेत्र में भी जनता के विचार अभिव्यक्ति तथा स्वतन्त्रता के अधिकार को बल दिया। आन्दोलन के नेताओं के विचारों में मानवीय एकता की धारणा विद्यमान थी, जो लोकतन्त्र के विकास के लिए आवश्यक है। सुधार आन्दोलन ने राजसत्ता तथा धर्मसत्ता के मध्य के संघर्ष का अन्त करने में सहायता प्रदान की और जनता में राजनीतिक चेतना जागृत करने में मदद दी। परिणामस्वरूप लोकतन्त्री धारणा का विकास होने लगा।

प्रभाव

राजनीतिक चिन्तन में नया दृष्टिकोण—यूरोपीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में मध्य युग का अन्त कनसीलियर आन्दोलन के साथ न होकर प्रोटेस्टेंट सुधार आन्दोलन के साथ होता है। कनसीलियर आन्दोलन की असफलता के कारण उसकी विचारधाराओं को नया रूप दिया जाने लगा था। मैकियाविली ने राजनीति को धर्म तथा नैतिकता से पृथक् किया था। परन्तु उसकी विचारधाराएँ तत्कालीन यूरोपीय राजनीतिक चिन्तन एवं व्यवहार के निमित्त उपयुक्त सिद्ध नहीं हो सकी थीं, और न ही वे चर्च-सुधार का कोई समाधान प्रस्तुत करने के उद्देश्य से व्यक्त की गयीं थीं। अत: सुधार आन्दोलन के नेताओं ने इस समस्या के समाधान हेतु राजनीतिक चिन्तन को नया रूप प्रदान किया। तत्कालीन परिस्थितियों में समस्त यूरोप में सार्वभौम ईसाई चर्च-राज्य अथवा साम्राज्य की धारणा समाप्त होती जा रही थी और सामन्तशाही व्यवस्था का भी लोप होता जा रहा था। उनके स्थान पर प्रभुत्व-सम्पन्न प्रादेशिक राजतन्त्रों का विकास हो रहा था। अतएव सार्वभौम चर्च-राज्य की मध्ययुगीन धारणा असंगतिपूर्ण तथा अव्यावहारिक हो गयी थी। परन्तु तत्कालीन परिस्थितियों में धर्म-विहीन या धर्म-निरपेक्ष राजनीतिक विचारधाराओं द्वारा राजनीतिक समस्याओं का समाधान भी सम्भव नहीं था। अत: सुधार आन्दोलन के विचारकों ने पुन: राज्य तथा चर्च के सम्बन्धों तथा राज्य के नैतिक आधार की समस्याओं पर मध्ययुगीन विचारधाराओं के अनुसार ही अपने विचार रखे। इस प्रकार सुधार आन्दोलन के विचारकों ने राजनीति तथा धर्म को परस्पर सम्बद्ध मानकर उनके मध्य सम्बन्धों को अधिक युक्तिपूर्ण ढंग से दर्शाया। परन्तु अब संघर्ष का आधार धर्मसत्ता तथा राजसत्ता के मध्य उच्चता का न होकर प्रोटेस्टेंट तथा कैथोलिक धर्मों के मध्य संघर्ष में परिणत हो गया। सुधार आन्दोलन के प्रोटेस्टेंट धर्म-समर्थकों के विचारों ने मध्ययुगीन सार्वभौम साम्राज्य तथा सार्वभौम कैथोलिक चर्च-राज्य की धारणा के स्थान पर राष्ट्रीय सम्प्रभु सम्पन्न राज्यों के विकास में योगदान किया जिसके कारण राष्ट्रवाद की धारणा को विकसित होने में सहायता मिली।

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में प्रोटेस्टेंट सुधार आन्दोलन का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि 'इसमें निरंकुशतावाद तथा लोकतन्त्र दोनों के बीज

सन्निहित थे ।'[1] यद्यपि सुधार आन्दोलन मुख्यतया धार्मिक था और कनसीलियर आन्दोलन की भाँति इसका उद्देश्य भी चर्च में सुधार लाना और उसे पोप के प्रभुत्व से मुक्त करना था, तथापि इस आन्दोलन के बीच जिन विचारों को रखा गया था उनका पर्याप्त राजनीतिक महत्त्व है । प्रोटेस्टेंट चर्चों की स्थापना राष्ट्रीय आधार पर होने लगी थी । इन राष्ट्रीय राज्यों में राजसत्ता तथा धर्मसत्ता के मध्य सम्बन्धों एवं चर्च संगठन के बारे में जो विचार व्यक्त किए गए थे, उनके कारण राजनीतिक विचारधाराओं के क्षेत्र में निरंकुशतावाद तथा लोकतन्त्र दोनों धारणाओं के विकास को मदद मिली ।

निरंकुशतावाद—सुधार आन्दोलन में निरंकुशतावाद के बीच सन्निहित होने का कारण यह है कि इस आन्दोलन के नेताओं ने लौकिक शासक के दैवी अधिकार सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था । उनके अनुसार लौकिक शासक का अधिकार-क्षेत्र चर्च संगठन के ऊपर भी है । राजा चर्च तथा राज्य दोनों का प्रधान है । इन लोगों ने सन्त पाल के कथन 'powers that be are ordained of God' का आश्रय लेकर राजा की सत्ता को दैवी माना । लूथर तथा काल्विन दोनों ने लौकिक-सत्ता के प्रति जनता की सविनय आज्ञाकारिता की धारणा का समर्थन किया था । लूथर राजतन्त्र का तथा काल्विन कुलीनतन्त्र का समर्थक था । परन्तु दोनों ने लौकिक-सत्ता के दैवी अधिकार सिद्धान्त को माना । 'इस प्रकार राजतन्त्री प्रदेशों में सुधार की प्रवृत्ति राजतन्त्रात्मक सिद्धान्त की अभिवृद्धि करने की रही और कुलीनतन्त्रात्मक शासन व्यवस्थाओं के अन्तर्गत कुलीनतन्त्री सिद्धान्त को पुष्ट करने की। दोनों में परिणाम यही हुआ कि राजनीतिक सम्प्रभु का निरंकुशतावाद सुदृढ़ हुआ ।' जिस प्रकार मध्य युग में नास्तिकता का निर्धारण करने तथा उसे दण्ड देने की निरंकुश शक्ति रोमन कैथोलिक चर्च तथा पोप दोनों की बात का समर्थन किया गया था, उसी प्रकार प्रोटेस्टेंट राज्यों में सुधार आन्दोलन के विचारों ने ऐसी शक्ति प्रोटेस्टेंट धर्मावलम्बी शासकों को देने की बात का समर्थन किया । परिणामस्वरूप लौकिक-सत्ता (राजतन्त्र अथवा कुलीनतन्त्र दोनों में) में निरंकुशता की प्रवृत्ति बढ़ती गयी ।

यद्यपि लूथर ने व्यक्तिगत समानता तथा धर्मशास्त्रों का निर्वचन अपने विवेक से करने के व्यक्ति के अधिकार को स्वीकार किया था, तथापि जब इस धारणा के प्रचार से कृषक आन्दोलन प्रारम्भ हुआ तो लूथर ने सविनय आज्ञाकारिता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और कृषक आन्दोलन को दबाने में राजसत्ता का पक्ष लिया । उसने बताया कि लौकिक-सत्ता दैवी है । उसका कार्य चर्च की पवित्रता को बनाये रखना भी है । इसका परिणाम यह हुआ कि राजसत्ता चर्च तथा लौकिक दोनों क्षेत्रों में शक्तिशाली होने लगी । काल्विन ने लौकिक-सत्ता के विरुद्ध प्रतिरोध करने की जनता की शक्ति का विरोध किया था । इस प्रकार प्रोटेस्टेंट सुधार आन्दोलन ने हर प्रकार से प्रोटेस्टेंट शासकों की निरंकुशता का मार्ग अपनाने में सहायता प्रदान की ।

लोकतन्त्रवाद—यद्यपि सुधार आन्दोलन के विचारों ने प्रोटेस्टेंट शासकों को निरंकुश बनाने में सहायता प्रदान की थी, तथापि इस आन्दोलन ने लोकतन्त्र के विकास में भी पर्याप्त सहायता प्रदान की है । लोकतन्त्र की दो सामान्य धारणाएँ स्वतन्त्रता तथा समानता हैं । विचार-अभिव्यक्ति, विश्वास तथा अन्तःकरण की

[1] 'The Reformation had in itself the seeds of absolutism and democracy.'

स्वतन्त्रता का लूथर ने बहुत समर्थन किया था। व्यक्ति को विश्वास की स्वतन्त्रता देने के सिद्धान्त के द्वारा उसने व्यक्ति के महत्त्व को बढ़ाया और इस दिशा में उसने व्यक्ति के ऊपर चर्च या पोप की निरंकुशता को रोका। साथ ही मानव-मानव के मध्य समानता की धारणा को भी बढ़ाया। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक राज्य में अनेक धार्मिक अल्पसंख्यकों की वृद्धि होने लगी। मुख्य धार्मिक गुट प्रोटेस्टेंट तथा कैथोलिक थे। राष्ट्रीय राज्यों के निर्माण में यदि इनके मध्य राजनीतिक भेद बना रहता तो राज्य की सुदृढ़ता सम्भव नहीं थी। अतः धर्म तथा राजनीति को पृथक् करके धार्मिक सहिष्णुता की नीति को अपनाना राज्यों के लिए आवश्यक था। यह लोकतन्त्री धारणा भी सुधार आन्दोलन के फलस्वरूप विकसित होने लगी। सुधार आन्दोलन का यह प्रभाव बाद मे फ्रांस के पौलीटीक विचारक वर्गों पर पड़ा जिन्होंने धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनाकर राजनीतिक चिन्तन में आधुनिकता लाने का प्रयास किया। जीन बोदां (जिसका वर्णन अगले अध्यायों में किया जायेगा) इस वर्ग का सबसे महान् विचारक है। यद्यपि यूरोप में इस धारणा का विकास होने से पूर्व बहुत रक्तपात हुए, तथापि इस धारणा के विकास ने स्वतन्त्रता तथा समानता की धारणा को बल दिया।

सुधार आन्दोलन के नेताओं ने चर्च के संगठन में लोकतन्त्री पद्धति की परिषदों की स्थापना को भी मान्य किया था। परिणामस्वरूप राज्य के क्षेत्र में भी प्रतिनिध्यात्मक सभाओं की आवश्यकता पर बल दिया जाने लगा। सुधार आन्दोलन के विचारकों ने प्राकृतिक कानून की महत्ता को भी मान्यता दी थी, जिसकी उपेक्षा न शासक कर सकते थे न जनता। कालान्तर में ग्रोशियस, हूकर तथा लॉक ने प्राकृतिक कानून की इस धारणा को आधुनिक स्वरूप प्रदान किया। उनके विचारों से विधि के शासन तथा व्यक्ति के अलंघ्य अधिकारों की लोकतन्त्री धारणाओं के विकास में बहुत मदद मिली।

यद्यपि आन्दोलन के नेताओं ने राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के प्रतिरोध करने के अधिकार को अमान्य किया था, तथापि कैथोलिक शासकों वाले राज्यों में प्रोटेस्टेंट जनता ने शासकों के विरुद्ध प्रतिरोध करने के अधिकार का प्रयोग किया। स्कॉटलैण्ड में जॉन नॉक्स ने इस सिद्धान्त का प्रसार किया। परिणामस्वरूप अत्याचारी शासकों के विरुद्ध क्रान्ति करने के सिद्धान्त का विकास हुआ।

इस आन्दोलन के परिणामस्वरूप 16वीं तथा 17वीं शताब्दी में दो परस्पर विरोधी धारणाओं का विकास हुआ। ये धारणाएँ थीं—राजा अपनी सत्ता ईश्वर से प्राप्त करता है अथवा जनता से। इसके कारण 16वीं शताब्दी में जो संघर्ष प्रारम्भ हुआ वह राजसत्ता तथा धर्मसत्ता के मध्य न होकर राजतन्त्र समर्थक तथा राजतन्त्र विरोधी तत्त्वों के मध्य प्रारम्भ हुआ। राजतन्त्र समर्थक राजा के दैवी अधिकार सिद्धान्त का सहारा लेकर निरंकुशतावाद के औचित्य को दर्शाने लगे। इसके विपरीत लोकतन्त्री धारणाओं के समर्थक निरंकुश राजतन्त्रों के विरुद्ध यह धारणा व्यक्त करने लगे कि राजा अपनी सत्ता जनता से प्राप्त करते हैं अतः अत्याचारी शासकों को जनता क्रान्ति के द्वारा पदच्युत कर सकती है। प्रोटेस्टेंट सुधार आन्दोलन का तुरन्त प्रभाव यह हुआ कि रोमन कैथोलिक चर्च में भी प्रति-सुधार आन्दोलन (Counter Reformation) प्रारम्भ हुआ, जिसके कारण यूरोपीय राजनीतिक चिन्तन में नया तथा आधुनिक रूप आने लगा।

ग्यारहवाँ अध्याय

सम्प्रभुता के सिद्धान्त का विकास

जीन बोदां (1530–1596)

यूरोपीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में 16वीं शताब्दी एक क्रान्तिकारी परिवर्तन का युग है। इससे पूर्व की शताब्दी में राजनीतिक चिन्तन राजसत्ता तथा धर्मसत्ता के मध्य संघर्ष पर केन्द्रित रहा था। 16वीं शताब्दी के प्रारम्भ में मैकियाविली ने धर्म से राजनीति को पूर्णतया पृथक् रखकर राजनीतिक चिन्तन में मध्ययुगीन परम्परा का परित्याग करके उसमें आधुनिकता लाने का प्रयास किया था। परन्तु उसका दर्शन सामयिक था जिसमें राजनीतिक विचारधाराओं की क्रमबद्धता तथा वैज्ञानिकता का अभाव था। वह मूल रूप से निरंकुश राजतन्त्र की शासन-व्यवस्था का सिद्धान्त था, न कि राज्य का दर्शन। उसके काल में धर्मविहीन राजनीतिक विचारधारा की व्यावहारिकता तत्कालीन यूरोपीय परिस्थितियों के अनुकूल सिद्ध नहीं हो सकती थी। पिछली शताब्दी के कनसीलियर आन्दोलन चर्च में सुधार लाने तथा राजसत्ता और धर्मसत्ता के मध्य सम्बन्धों का यथार्थ निरूपण करने के प्रयास भी असफल रहे थे। परन्तु कनसीलियर आन्दोलन तथा मैकियाविली के विचारों ने भविष्य के राजनीतिक चिन्तन को प्रभावित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

राष्ट्रीय आधार पर राजतन्त्रों की स्थापना होने से मध्ययुगीन सार्वभौमिकतावाद की धारणा समाप्त हो चुकी थी। चर्च की एकता भी नष्ट हो गयी थी। राष्ट्रीय राज्यों में रोमन कैथोलिक चर्च के विरुद्ध प्रोटेस्टेंट चर्चों की स्थापना होने से चर्च दो परस्पर प्रतिद्वन्द्वी भागों में बँट गया था। जिन राज्यों में राजकीय धर्म कैथोलिक था वहाँ प्रोटेस्टेंट धर्मावलम्बियों के ऊपर नास्तिकता के आरोप लगाकर उनका दमन किया जा रहा था और जहाँ प्रोटेस्टेंट राजतन्त्र कायम हो गये थे वहाँ कैथोलिक के विरुद्ध निरंकुश राजतन्त्र विकसित हो रहे थे। प्रोटेस्टेंट सुधार आन्दोलन के परिणामस्वरूप निरंकुशतावाद तथा लोकतन्त्र की धारणाएँ विकसित होने लगी थीं। दूसरी ओर इसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप रोमन कैथोलिक चर्च के सुधार का अभियान भी प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार समस्त यूरोप में प्रोटेस्टेंट तथा कैथोलिक चर्च के मध्य भीषण संघर्ष प्रारम्भ हो गया। परन्तु इस संघर्ष ने राजनीतिक परिस्थितियों हेतु कोई समाधान प्रस्तुत नहीं किया। परिस्थिति यह हो गयी थी कि विशुद्धतया एक ही धर्म के मानने वालों के राष्ट्रीय राज्य कायम होना सम्भव नहीं था। धर्म के नाम पर अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध छिड़ने लग गये थे। स्पेन तथा इंग्लैण्ड का युद्ध इसका परिचायक था। राज्यों में धर्म के नाम पर दमन-चक्र चल रहे थे।

ऐसी परिस्थिति में फ्रांस में राजनीतिक चिन्तकों के दो वर्गों का अभ्युदय हुआ, जिनमें से एक मोनार्कोमैक्स (monarchomacks) वर्ग था जिसका उद्देश्य राजाओं के निरंकुशतावाद तथा स्वेच्छाचारितावाद को नष्ट करना था। वे राजाओं की शक्ति को मर्यादित करना चाहते थे ताकि लोक-कल्याण तथा आन्तरिक शान्ति के मार्ग में कोई बाधा न आ सके। यह वर्ग प्रोटेस्टेंट धर्म समर्थकों का था और फ्रांस के कैथोलिक शासकों की स्वेच्छाचारिता से घृणा करता था। इसके विपरीत फ्रांस में राजनीतिक विचारकों का एक दूसरा वर्ग भी था जिन्हें पॉलिटीक्स (politiques) कहा जाता था। इनका विश्वास था कि राज्य में शान्ति तथा सुरक्षा बनाये रखने के लिए सुदृढ़ राजतन्त्र आवश्यक है। इस वर्ग के लोगों की धारणा थी कि धार्मिक संघर्ष के कारण ही राज्य में अशान्ति तथा अव्यवस्था छा रही है, अतः इसे दूर करने हेतु राजनीतिक कार्यकलापों के संचालन में धर्म को पृथक् रखा जाना चाहिए। इस वर्ग का राजनीतिक चिन्तन धर्म-निरपेक्षता पर आधारित था। इनकी दृष्टि से राज्य का कार्य धर्म-प्रचार या धर्म-विकास न होकर जन-कल्याण होना चाहिए। उत्तम नागरिकता का आधार प्रोटेस्टेंट या कैथोलिक धर्मावलम्बी होना नहीं है। जीन बोदां (Jean Bodin) इसी वर्ग का एक विचारक है। इस वर्ग के विचारकों ने संघर्षरत दो धर्मों में से किसी एक का पक्ष नहीं लिया। इनके विचारों ने धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धान्त को अपनाकर यूरोप में सर्वप्रथम धर्म-निरपेक्ष राजनीतिक चिन्तन का आरम्भ किया।

जीन बोदां एक प्रतिभाशाली विद्वान् था। उसका अध्ययन केवल राजनीति तक ही सीमित नहीं था। वह एक दार्शनिक, इतिहासवेत्ता, कानूनवेत्ता, समाजशास्त्री आदि सभी कुछ था।[1] उसने राजनीति, अर्थशास्त्र, शिक्षा, धर्म, इतिहास, न्यायशास्त्र आदि सभी विषयों पर लिखा है। मुद्रा तथा लोकवित्त पर उसने जो निबन्ध लिखे थे उनके आधार पर वह आधुनिक अर्थशास्त्री चिन्तकों के जनकों की श्रेणी प्राप्त करता है। उसके राजनीतिक विचार उसके ग्रन्थ रिपब्लिक (*De Republic Libri Sex*) अथवा Six books Concerning the State में व्यक्त किये गये हैं, जो 1576 में प्रकाशित हुआ था।

बोदां के प्रेरणा स्रोत—जीन बोदां के राजनीतिक दर्शन के स्रोत अनेक हैं। उसका वैयक्तिक व्यापक अध्ययन, इतिहास का ज्ञान, तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियाँ तथा स्वयं पॉलीटीक वर्ग का होना आदि सभी का सम्मिश्रण उसके राजनीतिक विचारों के स्रोत हैं। मध्ययुगीन राजसत्ता तथा धर्मसत्ता के मध्य संघर्ष का समाधान मैकियाविली के विचारों में पूर्णतया उपेक्षित रहा था। परन्तु बोदाँ मैकियाविली की धर्मविहीन राजनीतिक विचारधाराओं को अमान्य करता है। प्रोटेस्टेंट सुधार आन्दोलन भी धर्म तथा राज्य के संघर्ष को समाप्त नहीं कर पाया बल्कि इसके कारण चर्च के दो धर्मों में विभाजित होने से राज्यों में आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में भी धर्म के आधार पर संघर्ष होने लगे। लूथर तथा काल्विन ने राजाओं के दैवी अधिकार सिद्धान्त तथा जनता द्वारा सविनय आज्ञाकारिता

[1] 'He was a scholar who strove to be a thinker ; a lawyer, who was interested in the origin of legal rules as in the rules themselves ; a man of the world, who brought all the resources of his shrewd common sense to the investigation of political problems ; a sociologist, who neither dealt in names nor played with words.' —R. H. Murray, *History of Political Science*, 172.

(passive obedience) के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके राजतन्त्रवादी तथा राजतन्त्र विरोधी वर्गों की सृष्टि करने में सहायता दी। यूरोप में राजनीतिक विकास क्रम इस प्रकार चल रहा था कि राज्यों में आन्तरिक एकता तथा राष्ट्रीय राज्यों के मध्य मैत्री सम्बन्धों के निर्धारण हेतु नये राजनीतिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन की आवश्यकता थी ताकि अन्तर्राष्ट्रीय जगत में कोई शक्तिशाली राष्ट्र दूसरों की स्वतन्त्रता को नष्ट करने का प्रयास न करे। राज्य के अन्दर भी शान्ति तथा सुरक्षा बनाये रखने के लिए ऐसी विचारधारा की आवश्यकता थी जिसके अनुसार राष्ट्रीय राज्य की सर्वोच्च सत्ता का समुचित निर्धारण किया जा सके जो राज्य के अन्दर समस्त संवासों में सर्वोच्च हो, साथ ही बाह्य दृष्टि से भी स्वतन्त्र हो। यह भी स्पष्ट हो गया था कि राष्ट्रीय राज्यों की उन्नति, प्रगति, शान्ति, सुरक्षा तथा जनकल्याण हेतु धार्मिक संघर्ष या धर्म-सापेक्ष राजनीति हानिकारक है तथा राजनीति से धर्म का बहिष्कार भी समस्या का उचित समाधान सिद्ध नहीं हो सकता। अतएव सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से धार्मिक सहिष्णुता तथा धर्म-निरपेक्ष राजनीति ही समुचित समाधान सिद्ध हो सकते थे। आवश्यकता इस बात की थी कि राज्य को धर्म-प्रचार या धर्म विकास की अपेक्षा जन-कल्याण को अपना प्रमुख कर्तव्य समझना चाहिए। धर्म व्यक्ति का निजी मामला है जिसमें राज्य को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इन्हीं समस्त समस्याओं का बोदां ने भली-भाँति परीक्षण किया और इनके समाधान के निमित्त उसने 'राजा की सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके आधुनिक राजनीतिक चिन्तन हेतु एक महत्त्वपूर्ण धारणा की खोज की। साथ ही धार्मिक सहिष्णुता तथा धर्म-निरपेक्षता से युक्त अपने विचारों को तत्कालीन मतभेदों से मुक्त रखा।

चिन्तन-प्रणाली—एक विधिवेत्ता होने के साथ-साथ बोदां को सार्वजनिक सेवा का व्यावहारिक अनुभव भी था। उसने अनेक शासन-प्रणालियों का अध्ययन किया था। अतः उसकी विचार-पद्धति अरस्तू की भाँति तुलनात्मक, पर्यवेक्षणात्मक तथा ऐतिहासिक है। अरस्तू के पश्चात् यूरोपीय राजनीतिक चिन्तन को वैज्ञानिक तथा क्रमगत रूप प्रदान करने वाला सबसे प्रथम विचारक बोदां ही है। मध्य युग में जिन विचारकों ने अरस्तू की पद्धति को अपनाया था वे केवल सीमित क्षेत्र तक ही उनका अनुगमन कर पाये थे। यद्यपि जैनेट के मत से, 'बोदां का दर्शन अरस्तू में सुधार लाने का एक महत्त्वाकांक्षी एवं असफल प्रयास है', क्योंकि बोदां की रचना अरस्तू की रचनाओं की समता में नहीं ठहर सकती, तथापि जैसा डनिंग ने कहा है, 'बोदां वह व्यक्ति था जिसने राजनीतिक विचारधारा को, जो कि अरस्तू के पश्चात् बिलकुल अस्त-व्यस्त हो गयी थी, पुनः ऐसा स्वरूप तथा पद्धति प्रदान की कि कम से कम बाहरी रूप में वह एक विज्ञान के रूप में आ सकी।'[1] उसने राजनीतिक समस्याओं का विश्लेषणात्मक ढंग से अध्ययन किया और व्यावहारिकता के आधार पर सामान्य निष्कर्ष निकाले। तत्कालीन परिस्थिति में धर्म के प्रभाव से परिपूर्ण किन्तु धार्मिक मतभेदों से भरी हुई राजनीतिक विचारधाराओं के प्रतिपादन में धार्मिक सहिष्णुता का मार्ग अपनाकर उसने मैकियाविली की कमी को दूर किया

[1] 'It is Bodin who brought back political theory to the form and method from which it had gone far astray since Aristotle and gave to it again the externals, at least, of a science.'—Dunning, *op. cit.*, 120.

और राजनीति हेतु कानून, न्याय तथा नैतिकता के मध्य सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया। राजनीतिक सत्ता-संघर्ष के समाधान हेतु उसका सम्प्रभुता का सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन को एक अपूर्व देन है। सैबाइन ने उचित ही कहा है कि 'बोदां के ग्रन्थ की महत्ता इस दृष्टि से तो कम है कि उसने उसमें अरस्तू की पद्धति का पुनरुद्भव करने का व्यापक प्रयास किया है परन्तु इस दृष्टि से अधिक है कि उसने सम्प्रभु-शक्ति को धर्म के उस बन्धन से मुक्त किया जिसमें उसे दैवी अधिकार सिद्धान्त ने छोड़ दिया था।'[1] बोदां का राजनीतिक दर्शन स्पष्टतया एक क्रमबद्ध राजनीतिक दर्शन है जिसमें राज्य सम्बन्धी विविध धारणाओं का दार्शनिक विवेचन किया गया है।

यद्यपि बोदां से पूर्व मैकियाविली ने भी अपने चिन्तन में ऐतिहासिक पद्धति को अपनाया था, तथापि मैकियाविली के विचार ऐतिहासिक दर्शन पर आधारित नहीं हो पाये। डनिंग के अनुसार, 'बोदां वास्तव में सबसे पहला लेखक था जिसने आधुनिक अर्थ में इतिहास के दर्शन का प्रतिपादन किया।' ऐलन का मत है कि 'बोदां को पूर्ण विश्वास था कि इतिहास के अध्ययन में व्यावहारिक राजनीति की समस्याओं की कुंजी विद्यमान रहती है।' राज्य का एक आधार कानून है, और कानून की उत्पत्ति तथा उसके स्वरूप का ज्ञान इतिहास के द्वारा किया जा सकता है। अतः राज्य की समस्याओं के हल के निमित्त इतिहास का अध्ययन विवेकपूर्ण निष्पक्ष तथा बुद्धिसंगत ढंग से किया जाना चाहिए। इस प्रकार इतिहास के व्यापक अध्ययन के द्वारा मानव समाज को नियमित करने वाले कानूनों, शासन के रूपों के निर्धारण आदि के सम्बन्ध में ऐतिहासिक ज्ञान तथा निवर्तमान परिस्थितियों के सन्दर्भ में उसका तुलनात्मक विश्लेषण पर्याप्त सहायता प्रदान करता है। राज्य की समस्याओं के अध्ययन की यह ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक पद्धति राजनीतिक चिन्तन का वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत करती है। बोदां के राजनीतिक विचारों में इसलिए क्रमबद्धता तथा वैज्ञानिकता आ गयी थी क्योंकि उसने अपने विचारों का निर्माण करने में इस विधि को अपनाया था और यह कार्य उसने पर्याप्त सावधानी तथा सफलतापूर्वक किया।

राज्य

राज्य (state) सम्बन्धी धारणाओं का विवेचन करने में वह अरस्तू के विचारों का अनुगमन करता है। परन्तु कई दृष्टियों से उसके भेद भी रखता है। राज्य की परिभाषा करने से पूर्व वह राज्य के उद्देश्य को लेता है। राज्य की आत्मा तथा शरीर दोनों हैं। आत्मा उच्चतर है, उसके उद्देश्य भी उच्चतर हैं, अरस्तू के अनुसार राज्य का उद्देश्य अपने सदस्यों को आत्म-निर्भर (self-sufficing) तथा सुखी जीवन (happy life) प्रदान करना है। बोदां इसे केवल शारीरिक अथवा भौतिक सुख के रूप में लेता है। परन्तु जैसा सैबाइन ने कहा है बोदां राज्य के 'उच्चतर उद्देश्य' का उल्लेख तो करता है परन्तु उसकी कोई स्पष्ट व्याख्या नहीं करता। इस दृष्टि से उसकी राज्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट विचारधारा

[1] 'Its (*Republic's*) importance was less due to its elaborate effort to revive the system of Aristotle then to the fact that it took the idea of sovereign power out of the limbo of theology in which the theory of divine right left it.' —Sabine, *op. cit.*, 340.

नहीं थी।[1] राज्य की परिभाषा करते हुए वह उसे 'परिवारों का तथा उनके सामूहिक मामलों का योग' कहता है 'जिसका शासन एक सम्प्रभु-शक्ति तथा विवेक द्वारा किया जाता है।'[2] अन्यत्र वह राज्य को 'सम्प्रभु सत्ता तथा विवेक के अधीन अनेक परिवारों तथा उनकी सामूहिक सम्पत्ति की एक विधिसंगत सरकार' भी कहता है।[3] इस प्रकार अरस्तू की भाँति बोदां भी परिवार को राज्य की मूलभूत इकाई मानता है। राज्य के निर्माणकारी तत्त्व व्यक्ति नहीं हैं बल्कि परिवार हैं जो पितृात्मक (pater familias) हैं। परिवार की सामूहिक सम्पत्ति (common affairs या possessions) से उसका अभिप्राय पिता, माता, बच्चे, दास तथा उनकी सामूहिक सम्पत्ति से है जो कि परिवार का निर्माण करते हैं जो एक नैसर्गिक समुदाय है। इसी समुदाय यथा (परिवार) के बाद अन्य नागरिक समुदायों (civil associations) ग्राम, नगर तथा अनेक प्रकार के निगमों का निर्माण होता है जो सामूहिक प्रतिरक्षा तथा पारस्परिक लाभ के लिए आवश्यक होते हैं। जब यह सब समुदाय एक सम्प्रभु के अधीन संयुक्त होते हैं तो उन्हीं के इस समूह को राज्य कहा जाता है, जिसका स्वरूप राजनीतिक है। बोदां की राज्य की पारिभाषिक शब्दावली का प्रत्येक पद बहुत महत्त्वपूर्ण तथा सार्थक है। जब वह राज्य को 'एक विधिसंगत सरकार' (a lawful government) कहता है तो उसका अर्थ यह है कि राज्य का शासन कानून के द्वारा होना चाहिए अर्थात् राज्य डाकुओं के झुण्ड की तरह अव्यवस्थित जन-समूह नहीं हो सकता क्योंकि ऐसे जन-समूह का नियमन तथा संचालन किसी कानून के द्वारा सम्पन्न नहीं हो सकता। बोदां की परिभाषा यह भी दर्शाती है कि राजनीतिक समुदाय का निर्माण करने वाले परिवारों में सदस्यों के मध्य अनेक प्रकार के सम्बन्ध होते हैं यथा, पुरुष का पत्नी के साथ, पिता का पुत्र-पुत्रियों के साथ, मालिक का नौकर के साथ आदि। इन सम्बन्धों के सन्दर्भ में बोदां यह मानता है कि प्राकृतिक कानून के अनुसार विवेक तृष्णा के ऊपर शासन करता है। परिवार में पत्नी तृष्णा तत्त्व का तथा पति विवेक तत्त्व का प्रतिनिधित्व करते हैं। बच्चों का ज्ञान तथा अनुभव अपरिपक्व होता है। नौकर में मालिक के समान विवेक नहीं हो सकता। अतः परिवार के मुख्य पुरुष का अन्य सदस्यों के ऊपर शासन प्राकृतिक नियमों पर आधारित है। इसीलिए राज्य संगठन का आधार व्यक्ति नहीं बल्कि परिवार है। परिवार का मुख्य पुरुष ही राज्य का नागरिक होगा। ऐसा शासन विवेकपूर्ण है। अरस्तू की धारणा के विपरीत बोदां राज्य की उत्पत्ति को नैसर्गिक नहीं मानता। उसका मत है कि विविध निम्नस्तरीय समुदाय यथा, परिवार, व्यावसायिक श्रेणी आदि प्रकृति की उपज हैं। परन्तु राज्य का शासन विवेक (प्राकृतिक कानून) के द्वारा एक सर्वोच्च सत्ता के द्वारा होना चाहिए, जो कि स्वयं कानून की निर्माता हो, परन्तु स्वयं उससे प्रतिबन्धित न हो। ऐसा समुदाय नैसर्गिक नहीं हो सकता।

उत्पत्ति—बोदां राज्य की उत्पत्ति को मानव की सामाजिकता की स्वाभाविक प्रवृत्ति का फल मानता है। मानव जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु परिवार एक नैसर्गिक समुदाय है। मानव जीवन की आवश्यकताओं, प्रतिरक्षा, आर्थिक,

[1] Sabine, *op. cit.*, 343.

[2] 'An aggregation of families and their common affairs ruled by a sovereign power and by reason.' —Dunning, *op. cit.*, 86.

[3] 'A lawful government of several households and of their common possessions, with sovereign power and by reason.' —Sabine, *op. cit.*, 343.

सांस्कृतिक आदि के लिए परिवार अन्य समुदायों का निर्माण करते हैं। यह भी मानव की सामाजिकता की स्वाभाविक प्रवृत्ति का फल है। इन समुदायों के मध्य संघर्ष होने से शासकों तथा दासों की उत्पत्ति होती है। इनके मध्य सामजस्य स्थापित होना आवश्यक है, अन्यथा सामाजिक तथा सामुदायिक जीवन की सफलता संदिग्ध रह जायेगी। अत: इन सबके संयोग से राज्य का निर्माण होता है। परन्तु राज्य के निर्माण में बोदां शक्ति तत्त्व को प्रमुख मानता है। विभिन्न समुदायों के मध्य संघर्ष होने पर विजयी पराजितों को अपने अधीन करके अपने प्रभुत्व के अन्तर्गत रख लेते हैं। यह बोदा का ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर निकाला गया निष्कर्ष है। इसके आधार पर वह न तो शासकों के दैवी अधिकार सिद्धान्त को मान्यता देता है और न संविदा सिद्धान्त को। साथ ही रोमनकालीन लोक-सम्प्रभुता की धारणा भी उसे अमान्य है। परन्तु राज्य की स्थापना के बाद वह राज्य की सम्प्रभुता के शक्ति तत्त्व को औचित्यपूर्ण नहीं मानता।[1] उच्च बल-प्रवृत्ति शक्ति से डाकुओं का झुण्ड बन सकता है न कि राज्य। राज्य तथा परिवार के मध्य मौलिक अन्तर यही है कि राज्य में सम्प्रभु सत्ता विद्यमान रहती है, परन्तु परिवार में नहीं। बोदां के अनुसार, 'राज्य सामाजिक शक्तियों की मात्र आकस्मिक सृष्टि से कहीं बड़ी चीज है। इसका आधार सैन्य-शक्ति सबसे महत्त्वपूर्ण है। यह सम्प्रभु सत्ता के अस्तित्व के कारण सर्वोच्च समुदाय बन जाता है। अत: यह सामाजिक विकास की सर्वोच्च तथा अन्तिम मंजिल है।'[2] परन्तु बोदां ने इस तथ्य का समुचित विवेचन नहीं किया है कि नागरिकों को सम्प्रभु के आदेशों का पालन क्योंकर करना चाहिए। वह इतनाभर स्पष्ट कर देता है कि बिना सम्प्रभुसत्ता के राज्य का निर्माण नहीं हो सकता और राज्य अपने अन्तर्गत संगठित न्यून समुदायों (lesser groups) के ऊपर सम्प्रभु है। बोदां की धारणा में राज्य का आधार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नहीं हैं। व्यक्ति परिवार के माध्यम से ही राज्य का सदस्य बन सकता है। अत: राज्य का दायित्व व्यक्ति की स्वतन्त्रता का संरक्षण नहीं है। यह दायित्व परिवार का है। अत: बोदां की धारणा में 'व्यक्ति बनाम राज्य' की धारणा देखने को नहीं मिल सकती। बोदां स्वतन्त्रता की अपेक्षा सत्ता को अधिक महत्त्व देता है। अत: बोदां की व्यवस्था में परिवार नागरिक है अर्थात् परिवार का मुखिया नागरिक है। अन्य सदस्य प्रजाजन हैं।

परिवार तथा सम्पत्ति—बोदां की राज्य-सम्बन्धी धारणा का आधार परिवार तथा उसकी सम्पत्ति है। उसकी विचारधारा में व्यक्ति का राज्य के निर्माण में कोई स्थान नहीं है। समस्त सामुदायिक जीवन की इकाई परिवार है जो स्वयं एक प्रारम्भिक समुदाय है। परिवार की अपनी सम्पत्ति है। पारिवारिक सम्पत्ति का अधिकार पितृात्मक परिवार का अलंघ्य अधिकार है। बोदां के विचार से सम्पत्ति पर परिवार का अधिकार है और सम्प्रभुता पर शासक तथा प्रशासकों का।[3] परिवार

[1] 'He was as far as possible from believing that force is *self-justifying* or that it forms the primary attribute of the state after it is founded.' —Sabine, *op. cit.*, 344.

[2] 'To Bodin the state is more than just the accidental creature of social forces, of which military might is the most potent ; it is the supreme and final product of social evolution.' —Maxey, *op. cit.*, 166.

[3] 'Property belongs to the family, sovereignty to the prince and his magistrates.'

का क्षेत्र वैयक्तिक है, राज्य का सार्वजनिक या सामूहिक। राज्य के सम्प्रभु को परिवार के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार का अतिक्रमण करने की शक्ति नहीं है। बोदां इस अधिकार को प्राकृतिक कानून पर आधारित अधिकार मानता है। इस प्रकार बोदां की परिवार की सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार की धारणा बाद में लॉक की सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकार की धारणा की भाँति है। अन्तर यही है कि लॉक इस अधिकार को व्यक्ति का मानता है, बोदां परिवार का। बोदां न तो व्यक्तिवादी स्वतन्त्रता की धारणा का समर्थन करता है और न सम्पत्ति के सम्बन्ध में प्लेटो या टॉमस मोर की साम्यवादी धारणा का।

राज्य तथा समाज—बोदां पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तकों के मध्य सबसे पहला विचारक है जिसने राज्य तथा समाज के मध्य भेद किया है। प्लेटो तथा अरस्तू इन दोनों धारणाओं को एक ही अर्थ में लेते थे। उनके पश्चात् मध्य युग में सार्वभौमिकतावाद की धारणा भी यही मानती रही थी। बोदां के विचारों में राज्य की उत्पत्ति का आधार शक्ति है। समाज का निर्माण करने वाले अन्य छोटे जन-समूहों—परिवार, गाँव, नगर, श्रेणियाँ आदि—की उत्पत्ति मानवों की कुछ नैसर्गिक आवश्यकताओं तथा इच्छाओं की पूर्ति के लिए होती है। अतः वे प्राकृतिक हैं। परन्तु राज्य का आधार शक्ति है, क्योंकि उसका नियमन या शासन एक सम्प्रभु सत्ता के द्वारा होता है जो कानून के द्वारा इन कार्यों को करता है और ऐसे कार्यान्वियन में उसे बल-प्रवर्ती शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। समाज का निर्माण मनुष्य की सामाजिकता की प्रवृत्ति के कारण होता है। अतः समाज प्राकृतिक है। परन्तु राज्य का आधार शक्ति है। बोदां इस धारणा के सम्बन्ध में अरस्तू के इस सिद्धान्त को नहीं मानता कि राज्य एक प्राकृतिक समुदाय है। इस प्रकार बोदां ने राज्य के निर्माण में समाजशास्त्रीय तत्त्वों के योगदान को खोजने का प्रयास किया है। परन्तु उसकी दुर्बलता यह रही है कि वह शक्ति तत्त्व के अस्तित्व की समुचित व्याख्या नहीं कर पाया। राज्य के निर्माण में शक्ति तत्त्व होता है। परन्तु वह सदैव विद्यमान नहीं रह सकता। वह परिवार से राज्य के रूप में सामाजिक विकास की प्रक्रिया के निमित्त समुचित तर्कों को प्रस्तुत करने में असफल रहा है।

दास-प्रथा प्राकृतिक नहीं—बोदां दास-प्रथा को न तो प्राकृतिक मानता है और न व्यावहारिक दृष्टि से आवश्यक। इसके बारे में जहाँ तक पारिवारिक दास-प्रथा का सम्बन्ध है, बोदां पूर्णतया आधुनिक विचारों से सहमत है। 'बोदां दास-प्रथा के 'प्राकृतिक' होने के तर्क का खण्डन इस रूप में करता है कि मानव के समस्त त्याग परम्परागत हैं। दास-प्रथा भी प्राकृतिक नहीं, बल्कि परम्परागत है। अतः परम्परागत संस्था को प्राकृतिक नहीं माना जा सकता। यदि यह कहा जाय कि दास-प्रथा अकर्मण्य, विवेकहीन तथा अकुशल लोगों को सुधारने की दृष्टि से औचित्य रखती है तो इसके स्थान पर दस्तकारी के विद्यालय खोलकर ऐसे व्यक्तियों को कुशल बनाया जा सकता है न कि उन्हें घरेलू दास बनाकर।'[1]

नागरिकता—नागरिकता के सम्बन्ध में बोदां के विचार न अपने पूर्वानुवर्ती विचारकों से मिलते हैं न आधुनिक धारणाओं से। अरस्तू की धारणा में नागरिक वह व्यक्ति है जो राज्य के न्यायिक तथा विधायिनी कार्यों में भाग लेता है, अर्थात् जो राज्य की सम्प्रभु शक्ति के प्रयोग में भाग लेता है। परन्तु बोदां के अनुसार,

[1] Dunning, *op. cit.*, 91.

नागरिक वह व्यक्ति है जो स्वतन्त्र है तथा दूसरे की सम्प्रभु शक्ति के अधीन है।[1] दास स्वतन्त्र व्यक्ति नहीं है, अतः नागरिक नहीं है। परन्तु परिवार के अन्य व्यक्ति पिता सहित, जो कि परिवार का मुखिया है, नागरिक की श्रेणी में आते हैं। राज्य की इकाई परिवार है न कि व्यक्ति, अतः परिवार का मुखिया ही राज्य का नागरिक हो सकता है। परन्तु बोदाँ राज्य के कार्यकलापों में भाग लेना नागरिकता की कसौटी नहीं मानता, प्रत्युत् 'सम्प्रभु-शक्ति की आधीनता' नागरिकता की कसौटी है। बोदां राज्य में नागरिकों की समानता की धारणा को हास्यास्पद मानता है। उसके मत से अवस्था, लिंग तथा स्तर का भेदभाव न करके सबको समान मानना सामाजिक संरचना का नियम नहीं है। 'राजनीतिक तथा सामाजिक संस्थाओं में अभिजात्य वर्ग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र पारिवारिक है। अतः समाज तथा राज्य में व्यक्ति की स्थिति के निर्धारण में व्यक्ति के व्यवसाय का ध्यान रखना विवेकपूर्ण है।'[2] बोदां की नागरिकता की धारणा में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की आधुनिक धारणा का भी आभास नहीं होता। उसके विचार से प्राकृतिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय है ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी भी सत्ता की आधीनता से मुक्ति। परन्तु राजनीतिक समाज में व्यक्ति का सम्प्रभु की सत्ता के अधीन रहना आवश्यक है, इसलिए प्राकृतिक स्वतन्त्रता की धारणा राज्य में नहीं हो सकती।

धर्म—धर्म के सम्बन्ध में बोदां ने सहिष्णुता की नीति को इतनी सुन्दरता से अपनाया था कि आज तक कोई यह सिद्ध नहीं कर पाया है कि वह प्रोटेस्टेंट था या कैथोलिक। कुछ लोग तो उसे यहूदी या धर्म-विहीन व्यक्ति भी मानते हैं। परन्तु उसके स्वभाव से तथा विश्वास से यह जाहिर होता है कि वह पूर्णतया धार्मिक आचरण का व्यक्ति था। सैबाइन का कहना है कि 'बोदां की विचारधारा अन्ध-विश्वासिता, तर्कवाद, रहस्यवाद, उपयोगितावाद तथा प्राचीनतावाद का सम्मिश्रण है।'[3]

प्रभुसत्ता (Sovereignty)

राजनीतिक चिन्तन के साहित्य को बोदां की सबसे महत्त्वपूर्ण देन उसका राज्य की सम्प्रभुता का सिद्धान्त है। उससे पूर्व किसी भी चिन्तक ने इस सिद्धान्त की व्याख्या नहीं की थी। किन्तु बोदां द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त का विकास उसके पश्चात् के विभिन्न विद्वानों ने किया और आज भी यह सिद्धान्त मान्य है। इसीलिए बोदां को राज्य की सम्प्रभुता के आधुनिक सिद्धान्त का जन्मदाता माना जाता है। एक विधि-वेत्ता होने के नाते बोदां ने सम्प्रभुता सम्बन्धी धारणा को विधि-शास्त्रीय ढंग से समझाया है।

परिभाषा तथा व्याख्या—सम्प्रभुता या प्रभुसत्ता की परिभाषा करते हुए वह इसे 'नागरिकों तथा प्रजाजनों के ऊपर सर्वोच्च सत्ता' कहता है, 'जो कानून द्वारा

[2] 'A citizen is a freeman who is subject to the sovereignty of another.' —Bodin.

[3] 'Nobility is an important social and political institution ; women have no fitness for affairs outside of the household ; and it is rational to take account of a man's occupation in determining his position in society and the state.' —Bodin.

[1] 'Bodin's thought was an amalgamation of superstition, rationalism, mysticism, utilitarianism and antiquarianism.' —Sabine, *op. cit.*, 342.

प्रतिबन्धित नहीं है।'[1] नागरिकता की परिभाषा करते हुए भी बोदां नागरिकता की मुख्य कसौटी 'सम्प्रभु की आधीनता' को मानता है। इसी प्रकार राज्य की परिभाषा करते हुए भी वह राज्य का प्रमुख तत्त्व 'सम्प्रभु शक्ति का होना' ही मानता है। विविध लघु-समुदाय राज्य के निर्माणकारी अंग हैं। उनके योग से जो बृहत्तर समुदाय राज्य बनता है उसका प्रमुख लक्षण उसकी सर्वोच्च सम्प्रभु सत्ता है—इन लघु समुदायों (परिवार, ग्राम, नगर, निगम आदि) के अपने नियम तथा परम्पराएँ हो सकती हैं। उनकी अपनी इच्छाएँ भी होती हैं, जो कुछ निश्चित उद्देश्यों तक सीमित होती हैं। परन्तु राज्य की इच्छा सर्वोच्च इच्छा है जो समस्त लघुतर इच्छाओं को अपने में विलीन (transcend) कर देती है। इस प्रकार राजनीतिक समाज का आधार उसके समस्त निर्माणकारी तत्त्वों का एक सामूहिक सम्प्रभु की आधीनता (subjection to a common sovereign) में संयुक्त होना है।

लक्षण—(1) बोदां के अनुसार प्रभुसत्ता का प्रथम लक्षण उसकी निरन्तरता (perpetuality) है। इसका अभिप्राय यह है कि राज्य की सम्प्रभु-शक्ति के ऊपर समय की कोई मर्यादा नहीं हैं (it is without limit of time)। यदि राज्य में सम्प्रभु को किसी निश्चित काल के लिए सम्प्रभु-शक्ति प्रदान की जाती है तो उसे सम्प्रभुता नहीं कहा जा सकता। रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत शासकों को निश्चित अवधि के लिए सम्प्रभु-शक्ति प्रदान की जाती थी, अतः (बोदां की धारणा में) उसे सम्प्रभु की सही धारणा नहीं माना जा सकता।

(2) सम्प्रभुता का प्रत्यायोजन (delegation) नहीं हो सकता। यदि इसे प्रत्यायोजित माना जाता है तो उसी दशा में, जबकि प्रत्यायोजन बिना किसी शर्त के तथा बिना किसी मर्यादा के किया जाय। बोदां राजतन्त्र का समर्थक था। वह मानता है कि मौलिक रूप से सम्प्रभु-शक्ति सामूहिक रूप से जनता में निहित होती है। परन्तु परम्परागत ढंग से जनता उसे शासक या शासक-वर्ग को प्रत्यायोजित कर देती है। इस प्रकार किसी व्यक्ति को या एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को जनता द्वारा सम्प्रभुता का प्रत्यायोजन किया जाना उसकी निरन्तरता को अमान्य नहीं करता।[2] इन सभी स्थितियों में सत्ता प्राप्त करने वाला व्यक्ति वास्तविक सम्प्रभु होता है, बशर्ते कि प्रत्यायोजन बिना किसी शर्त के किया जाय। इस दृष्टि से सम्प्रभुता अदेय (inalienable) है। इसी का एक निष्कर्ष यह भी है कि प्रभुसत्ता अविभाज्य (indivisible) होती है। सम्प्रभु अपनी सत्ता से सम्बद्ध कुछ शक्तियों को अपने अधीनस्थ अधिकारियों को प्रत्यायोजित कर सकता है। परन्तु ऐसा प्रत्यायोजन सम्प्रभुता का विभाजन नहीं माना जा सकता।

(3) बोदां सम्प्रभुता को सर्वोच्च सत्ता कहता है जो कि विधि द्वारा अनियन्त्रित (unrestrained by law) है। इस दृष्टि से प्रभुसत्ता असीम या अमर्यादित (absolute or unlimited) होती है। इसका यह अर्थ है कि राज्य में सम्प्रभु ही कानून का स्रोत है, इसीलिए वह कानून से ऊपर है। परन्तु बोदाँ विभिन्न

[1] 'Sovereignty in the supreme power over citizens and subjects, unrestrained by law.'

[2] 'But if we construe perpetual power as that which will never have an end, sovereignty will have no existence save in the popular and the aristocratic state; since the people (only) is immortal, unless, indeed, it be utterly exterminated.'—Bodin.

प्रकार के कानूनों के अस्तित्व को स्वीकार करता है। उसके विचार से सम्प्रभु उन कानूनों से ऊपर नहीं है जिनका निर्माण वह स्वयं नहीं करता, यथा दैवी कानून (divine law), प्राकृतिक कानून (natural law) तथा राष्ट्रों के कानून (law of nations)। सम्प्रभु केवल नागरिक अथवा विध्यात्मक कानून (civil or positive law) से ऊपर है, जिसका वह स्वयं सृष्टा है। इस दृष्टि से सम्प्रभु अपने पुर्वानुवर्ती सम्प्रभु के द्वारा निर्मित कानूनों से भी नियन्त्रित नहीं है। वह उनकी उपेक्षा कर सकता है या उनका संशोधन कर सकता है। सम्प्रभु कानूनी दृष्टि से प्रजाजनों के ऊपर हैं न कि उनके प्रति उत्तरदायी। यहाँ तक कि वह जनता के परम्परागत कानूनों से भी बाध्य नहीं है। उसे यह भी शक्ति प्राप्त है कि वह विविध परम्पराओं को स्वीकृति प्रदान करे अथवा नहीं। बोदां के मत से 'सम्प्रभु द्वारा अधिनियमित कानून जन-परम्परा को परिवर्तित कर सकते हैं, न कि जन-परम्पराएँ अधिनियमों को।'[1]

शासनों के रूप—सम्प्रभुता की इस धारणा के आधार पर बोदां राज्य तथा शासन के मध्य भेद करता है। साथ ही इसके आधार पर शासनों के वर्गीकरण को भी व्यक्त करता है। उसके मत से राज्य के रूप को निर्धारण करने की कसौटी सम्प्रभु-शक्ति का होना है, अतः राज्य के विविध रूप नहीं हो सकते। परन्तु जिन पद्धतियों तथा ढंगों से सम्प्रभु-शक्ति प्रयुक्त की जाती है वे शासन के रूपों का निर्धारण करते हैं, अतः शासनों के विविध रूप हो सकते हैं। एक सुव्यवस्थित राज्य में शासन को अराजकता से बचाने के लिए एक अविभाज्य सम्प्रभु-शक्ति का होना आवश्यक है। बोदां के अनुसार शासन के केवल तीन रूप—राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र अथवा प्रजातन्त्र हो सकते हैं। राजतन्त्र में राज्य की प्रभुसत्ता राजा में निहित रहती है। वह अन्य प्रजाजनों (estates) से सलाह ले सकता है, परन्तु उसे मानने को बाध्य नहीं है। यदि राजा कुछ अभिजात्य-जनों से सलाह लेकर शासन संचालन करता है और उनकी सलाह मानने के लिए बाध्य है तो शासन का वह रूप कुलीनतन्त्र कहलायेगा, न कि राजतन्त्र, क्योंकि ऐसी शासन पद्धति में सर्वोच्च सत्ता के प्रयोक्ता कुछ अभिजात्य वर्ग हो जाते है, न कि राजा। इसी प्रकार यदि शासन में सर्वोच्च शक्ति किसी लोक प्रतिनिधि संस्था (popular body) द्वारा प्रयुक्त की जाये, अर्थात् जिसमें अन्तिम निर्णय लेने की शक्ति जनता की प्रतिनिधि संस्था के हाथ में हो तो वह शासन लोकतन्त्र कहा जाता है। इनके अतिरिक्त शासनों के अन्य कोई रूप नहीं हो सकते। बोदां मिश्रित राज्य के सिद्धान्त को हास्यास्पद मानता है। उसके विचार से मिश्रित राज्य विभाजित प्रभुसत्ता के सिद्धान्त पर आधारित व्यवस्था है। अतएव मिश्रित शासन वाली व्यवस्था को राज्य नहीं माना जा सकता। सैबाइन ने कहा है, 'या तो कोई अविभाज्य सम्प्रभु-शक्ति नहीं होती, और उस स्थिति में एक सुव्यवस्थित राज्य नहीं हो सकता, अथवा वह शक्ति किसी एक स्थान पर निवास करती है, चाहे वह राजा हो, या सभा या जनसमूह।'[2]

यदि सम्प्रभुता से सम्बद्ध विविध कार्य विभिन्न तत्त्वों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं, तो उसे प्रभुसत्ता का विभाजन नहीं कहा जा सकता, बल्कि वह सम्प्रभु इच्छा की

[1] 'Enactment can change custom, but not custom enactment.' —Bodin.

[2] 'Either there is no undivided sovereign power, and in that case there is no well-ordered state, or this power resides in some one place, whether it be king, assembly or populace.' —Sabine, *op. cit.*, 346.

कार्यान्विति हेतु कार्य-विभाजन का सिद्धान्त है। अतः विभिन्न प्रकार के तत्त्व (कुलीनतन्त्री या लोकतन्त्री) राज्य के प्रशासनिक क्षेत्रों में भाग ले सकते हैं, न कि सम्प्रभु का प्रयोग करने के कार्य में। एक राजतन्त्रात्मक राज्य की सरकार कुलीनतन्त्री या लोकतन्त्री हो सकती है, जिसमें सम्प्रभु-राजा पदों का विभाजन कुलीनतन्त्री या लोकतन्त्री (समानता) आधार पर करता है। परन्तु यह किसी भी रूप में प्रभुसत्ता का विभाजन नहीं कहा जा सकता। राज्य में जितने भी समुदाय होते है, वे अपनी शक्ति तथा अधिकारों को सम्प्रभु से प्राप्त करते हैं।

सर्वोत्तम शासन व्यवस्था—शासनों के उपर्युक्त तीन रूपों का उल्लेख करने के उपरान्त बोदां उनमें से सर्वोत्तम व्यवस्था राजतन्त्र को ही मानता है। उसके विचार से लोकतन्त्री शासन अयोग्यता का सूचक होता है; कुलीनतन्त्र भी सैद्धान्तिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से असन्तोषजनक सिद्ध हुए हैं। राजतन्त्र तीन प्रकार का होता है—शाही, स्वेच्छाचारी तथा अत्याचारी (Royal, Despotism and Tyranny)। इनमें से शाही राजतन्त्र सर्वोत्तम शासन होता है। यद्यपि इसमें भी उत्तराधिकारी की योग्यता तथा कुशलता और कभी-कभी राजा-विशेष का व्यक्तिगत चरित्र अनुकूल सिद्ध न हों, तथापि यदि वंशानुक्रम, ज्येष्ठता का सिद्धान्त तथा स्त्रियों के उत्तराधिकार की अमान्यता के सिद्धान्त को अपनाया जाय तो शाही राजतन्त्र सर्वोत्तम व्यवस्था सिद्ध होगी। आपात्काल में तो यह व्यवस्था सर्वोत्तम होती है। स्पष्ट है कि बोदां की अभिरुचि राजतन्त्र के समर्थन में थी, और चूँकि वह राजतन्त्रों के युग का विचारक था, अतः व्यावहारिक दृष्टि से भी तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार यही व्यवस्था यथार्थवादी हो सकती थी। अन्य कोई व्यवस्था उस युग के राष्ट्रीय राज्यों की व्यवस्था के उपयुक्त सिद्ध नहीं हो सकती थी। इससे बोदां का यथार्थवाद सिद्ध होता है।

सम्प्रभुता पर मर्यादाएँ—बोदां ने जिस रूप में प्रभुसत्ता की पारिभाषिक व्याख्या की है, उससे यह स्पष्ट होता है कि सम्प्रभुता राज्य की असीम, अमर्यादित, स्थायी तथा अविभाज्य सत्ता है। परन्तु बोदां प्रभुसत्ता के इन लक्षणों को निरपेक्ष रूप का नहीं मानता। वह प्रभुसत्ता के ऊपर अनेक मर्यादाएँ भी आरोपित करता है। प्रथमतः सम्प्रभुता दैवी तथा प्राकृतिक कानून से मर्यादित है। कानून द्वारा अमर्यादित प्रभुसत्ता का अभिप्राय केवल उन कानूनों से है जिन्हें राज्य का संचालन करने के लिए सम्प्रभु स्वयं बनाता है। इस क्षेत्र में वह कानून का एकमात्र स्रोत तथा निर्माता है। परन्तु बोदां अपने युग के अन्य विचारकों की भाँति मानवीय कानून के ऊपर दैवी तथा प्राकृतिक कानून के अस्तित्व को भी मानता था। चूँकि इन कानूनों का निर्माता सम्प्रभु नहीं है, बल्कि ईश्वर है, अतः सम्प्रभु को इन कानूनों के अधीन रहना आवश्यक है। दैवी तथा प्राकृतिक कानून से बोदां का अभिप्राय न्याय, सत्य, ईमानदारी आदि नैतिकता के नियम से था जो ईश्वर के विवेक की उपज हैं और जो मानव को मानव बनाते हैं। बोदां का सम्प्रभु मैकियाविली या हॉब्स की धारणा का अतिमानव नहीं है। डाकुओं के झुण्ड के नेता को भी सम्प्रभु नहीं माना जा सकता जो कि प्राकृतिक कानून के विरुद्ध आचरण करता है। जोन्स के अनुसार, 'बोदां अपने सम्प्रभु को हॉब्स की धारणा की भाँति इस रूप में सर्वोच्च नहीं मानता कि उसके सभी कार्य उचित हैं, क्योंकि वे उसकी इच्छा को प्रदर्शित करते हैं।'[1] बोदां का

[1] 'Bodin does not make his sovereign supreme in Hobbesian sense that whatever he does is right simply because he wills it.'—W. T. Jones, *op. cit.*, 65.

उद्देश्य सम्प्रभु को इस रूप में मानता था जिस रूप में उसे वास्तव में एक नैतिक शासक होना चाहिए। परन्तु प्राकृतिक कानून क्या है, इसका स्पष्टीकरण कौन करेगा, आदि बातों को बोदां ने स्पष्ट नहीं किया है। न्याय तथा नैतिकता का निर्वचन विभिन्न रूप से कर सकते है। बोदां यह भी स्पष्ट नहीं करता कि जो कुछ सम्प्रभु कहे वही नैतिकता तथा न्याय है। अतएव सम्प्रभु के ऊपर इस मर्यादा को आरोपित करने में बोदां का सिद्धान्त भ्रामक तथा असंगतिपूर्ण हो जाता है।

दूसरे, बोदां सम्प्रभु को राष्ट्रों के कानून (Law of nations) से भी मर्यादित मानता है। प्रत्येक राज्य का सम्प्रभु अन्य राज्यों के साथ व्यवहार करने मे कुछ सामान्य कानूनों को मानने के लिए बाध्य है। यह कानून सम्प्रभु अन्य शासकों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करते हैं। एक सम्प्रभु दूसरे सम्प्रभु के साथ जो सन्धियाँ या संविदाएँ करता है और जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के नियमन के लिए आवश्यक हैं उन्हें मानना भी सम्प्रभु के लिए आवश्यक है।

बोदां के अनुसार राज्य का सांविधानिक कानून राज्य तथा स्वयं सम्प्रभुता का निर्माण करता है। अत: सम्प्रभु साविधानिक कानून से ऊपर नहीं हो सकता। उसे इन कानून को मानना आवश्यक है। इस दृष्टि से सम्प्रभु राज्य के किसी भाग को हस्तान्तरित नहीं कर सकता, न वह सम्प्रभु के उत्तराधिकार सम्बन्धी कानून को बदल सकता है, क्योंकि इन कानूनों को स्वयं उसने नहीं बनाया है। यह धारणा भी बोदां की सम्प्रभुता की धारणा में एक असंगति उत्पन्न करती है, क्योंकि एक ओर तो उसका सम्प्रभु कानून का स्रोत है और दूसरी ओर उसके ऊपर सांविधानिक कानून की मर्यादा है।

बोदां व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार को अलंघ्य अधिकार के रूप में मानता है। परिवार का आधार व्यक्तिगत सम्पत्ति है और परिवार तथा उसकी सम्पत्ति राज्य का आधार है। व्यक्तिगत सम्पत्ति परिवार की पवित्र तथा नैतिक संस्था है। बोदां इसे प्राकृतिक अधिकार के रूप में मानता है। अत: सम्प्रभु को परिवार के व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार पर अपनी सत्ता आरोपित करने का अधिकार नहीं है। बोदां की यह धारणा भी उसकी असीम प्रभुसत्ता की धारणा से संगति नहीं रखती। सैबाइन ने उचित ही कहा है कि 'बोदां के राज्य में दो असीम सत्ताएँ है। परिवार का सम्पत्ति पर अलंघ्य अधिकार तथा सम्प्रभु की असीम विधायिनी शक्ति।' अत: सम्प्रभु का कानून पारिवारिक सम्पत्ति पर करारोपण भी नहीं कर सकेगा, क्योंकि उसका अभिप्राय सम्पत्ति के अधिकार का अतिक्रमण करना होगा। अत: सम्प्रभुता पर यह मर्यादा भी बोदां के प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को भ्रामक बना देती है।

बोदां के प्रभुसत्ता के सिद्धान्त की आलोचना—पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में बोदां सबसे पहला चिन्तक है जिसने राज्य की प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। यह धारणा अभी तक मान्य है, भले ही बाद के चिन्तकों ने इसमें अनेक सुधार किये थे और 20वीं शताब्दी के चिन्तकों का एक वर्ग जिन्हें बहुवादी कहा जाता है, इस धारणा का कटु विरोधी भी है। परन्तु राज्य की प्रभुसत्ता की धारणा का लोप नहीं हो पाया है। बोदां ऐसे युग में पैदा हुआ था जबकि राज्यों का आधार राष्ट्रीयता होता जा रहा था। राज्यों की आन्तरिक स्थिति धार्मिक मत-मतान्तरों तथा गृह युद्धों के कारण डांवाडोल अवस्था में थी, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के मार्ग मे भी ये परिस्थितियाँ बाधक सिद्ध हो रही थीं। राजनीतिक विचारों तथा

आचरणों में मध्ययुगीन प्रभाव समाप्त नहीं हो गये थे। आन्तरिक आधार पर राज्य को सुरक्षा के निमित्त बोदां ने राज्य की प्रभुसत्ता की धारणा को व्यक्त किया और उसे राज्य की सर्वोच्च सत्ता घोषित किया जिसके ऊपर कानून का कोई प्रतिबन्ध नही हो सकता। इसका अभिप्राय यह दर्शाना था कि राज्य की प्रभुत्व शक्ति को धारण करने वाला शासक कानूनी दृष्टि से सर्वोच्च स्थिति प्राप्त करता है। परन्तु बोदां राजनीति को धर्म तथा नैतिकता से पृथक् नहीं कर सका। वह स्वयं एक विधिशास्त्री था। अतएव विधि के महत्त्व को भी जानता था। उसके काल की परिस्थितियों ने भी उसके ऊपर प्रभाव डाले। इन सब परिस्थितियों को देखते हुए बोदां ने प्रभुसत्ता की धारणा को व्यक्त करके उसके ऊपर अनेक ऐसी मर्यादाएँ लगाई जिनके कारण उसका यह सिद्धान्त अनेक असंगतियों से युक्त हो गया। परन्तु इन असंगतियों के होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि ये बोदां की यथार्थवादिता को दर्शाती है। तत्कालीन परिस्थितियों में राजनीतिक वास्तविकता के निमित्त तथा स्वयं बोदां की राज्य विषयक धारणा के सन्दर्भ में उसे यह प्रतीत हुआ कि प्रभुसत्ता के ऊपर ये मर्यादाएँ आवश्यक हैं। बोदां की धारणा में जो असंगतियाँ हैं संक्षेप में निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है :

(1) **दैवी तथा प्राकृतिक कानून द्वारा सम्प्रभु को मर्यादित रखा जाना**—बोदां सम्प्रभु को सर्वोच्च सत्ता कहने के साथ-साथ उसे प्राकृतिक कानून द्वारा मर्यादित मानता है। सम्भवतः वह प्राकृतिक कानून को निश्चयात्मक मानता है। परन्तु वास्तव में प्राकृतिक कानून निश्चित तथा स्पष्ट नहीं है। अतएव सर्वोच्च सत्ताधारी होने के नाते स्वयं सम्प्रभु ही प्राकृतिक कानून का निर्वचक हो जायेगा। परिणामस्वरूप उसके ऊपर प्राकृतिक कानून की मर्यादा अप्रभावी हो जायेगी, क्योंकि उसे प्राकृतिक कानून को मानने के लिए विवश करने वाली कोई अन्य सत्ता नहीं होगी। यदि प्राकृतिक कानून की निर्वचक शक्ति शासक का विवेक (conscience) रहे, तो ऐसा विवेक वैयक्तिक होगा। अतः शासक स्वार्थ से प्रेरित होकर उसके निर्वचन तथा परिपालन में स्वेच्छाचारी हो जाएगा। ऐसी स्थिति में प्राकृतिक कानून को मानव के सार्वभौम विवेक की उपज मानने की धारणा ही समाप्त हो जायेगी और वह सम्प्रभु का विवेक हो जायेगा। दूसरा प्रश्न यह भी उठता है कि यदि प्राकृतिक कानून तथा सम्प्रभु द्वारा निर्मित कानून के मध्य संघर्ष की स्थिति आ जाय तो कौन-सा कानून सर्वोच्च रहेगा ? एक कानून सम्प्रभु की इच्छा है तो दूसरा शाश्वत् न्याय तथा विवेक की धारणा पर आधारित है जिसका निर्वचक भी स्वयं सम्प्रभु ही रहेगा। पुनः यदि सम्प्रभु द्वारा प्राकृतिक कानून का उल्लंघन किया जाय तो उसके निरूपण का कोई उपचार नहीं रह जायेगा क्योंकि बोदां किसी भी स्थिति में जनता को क्रान्ति का अधिकार नहीं देता। हॉब्स ने तक कुछ परिस्थितियों में ऐसा अधिकार जनता को दिया है और हॉब्स बोदां की तुलना में अमर्यादित प्रभुसत्ता की धारणा को और अधिक स्पष्ट करता है। इस दृष्टि से बोदां की धारणा में प्रभुसत्ता के ऊपर प्राकृतिक कानून की मर्यादा की धारणा असंगतिपूर्ण हो जाती है। यही बात दैवी कानून द्वारा सम्प्रभु को मर्यादित करने की धारणा के बारे में भी सत्य है।

(2) **राजनीतिक दायित्व की अस्पष्टता**—यद्यपि बोदां ने सम्प्रभु को राज्य में सर्वोच्च सत्ता माना है, तथापि वह इस तथ्य को स्पष्ट नहीं करता कि जनता द्वारा सम्प्रभु के आदेश को मानने का क्या औचित्य है ? वास्तव में बोदां राज्य के

उद्देश्य को सुनिश्चित करने में असफल रहा है। अत: वह जनता (नागरिकों तथा प्रजाजनों) एवं राज्य की सत्ता के मध्य सम्बन्धों का सही ढंग से निरूपण नहीं कर पाया।

(3) **सांविधानिक कानून द्वारा सम्प्रभु की सत्ता को मर्यादित करना भी भ्रामक है**—बोदां राजतन्त्र का समर्थक था। वह फ्रांस के राजा को निरंकुश प्रभुसत्ता देना चाहता था। परन्तु उसने इस प्रश्न का कोई तार्किक समाधान नहीं दर्शाया है कि यदि ऐसे राजा को सांविधानिक या राज्य के मौलिक कानून को परिवर्तित करने की शक्ति प्राप्त न रहे तो वह राज्य के अन्तर्गत सम्प्रभु सत्ता का प्रयोग किस प्रकार कर सकेगा ? सम्प्रभु की सत्ता को असीम रखना तथा राज्य के मौलिक कानून को सम्प्रभु के ऊपर रख देना, ये दोनों बातें परस्पर विरोधी थीं। इस प्रकार बोदां इन दोनों में से किसी एक को मौलिक घोषित करने में असफल रहा है।

(4) **सम्प्रभु के ऊपर परिवार के सम्पत्ति के अधिकार की मर्यादा आरोपित करना भी असंगतिपूर्ण है**—बोदां परिवार को राज्य का आधार तथा सम्पत्ति को परिवार का आवश्यक तत्त्व मानता है। अतएव यद्यपि वह सम्प्रभु सत्ता को असीम तथा सर्वोच्च कहता है, तथापि उसके विचार में यदि सम्पत्ति के अलघ्य अधिकार के ऊपर सम्प्रभु की सत्ता को आरोपित कर दिया गया तो उसके कारण परिवार का मूल आधार ही समाप्त हो जाएगा और यदि परिवार की यह स्थिति रही तो राज्य का आधार भी समाप्त हो जाएगा। इसलिए बोदां ने यहाँ तक कह डाला कि सम्प्रभु न तो किसी परिवार की सम्पत्ति को छीन सकता है और न ही वह सम्पत्ति धारक की राय के बिना उसकी सम्पत्ति पर कर लगा सकता है। यदि ऐसा है तो फिर सम्प्रभु की सत्ता किस अर्थ में सर्वोच्च रहेगी, इस प्रश्न का कोई समाधान बोदां ने नहीं दिया है। इस प्रकार बोदां की व्यवस्था दो असीम सत्ताओं (सम्प्रभु तथा परिवार का सम्पत्ति का अधिकार) के अस्तित्व को स्वीकार करती है। एक के रहते दूसरे की सत्ता समाप्त हो जाएगी। इस विरोधाभास के कारण भी बोदां की सम्प्रभुता की धारणा में असंगति है।

इन त्रुटियों तथा असंगतियों के रहते हुए भी बोदां द्वारा प्रतिप्रादित प्रभुसत्ता का सिद्धान्त उसकी एक मौलिक धारणा थी और पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करके बोदां ने अपने को सबसे पहला आधुनिक राजनीतिक चिन्तक होने का श्रेय अर्जित किया है। यद्यपि बोदां से पूर्व मैकियाविली ने भी शासक की सत्ता को लगभग ऐसे ही स्वरूप का चित्रित किया था और राज्य की सत्ता को धार्मिक विश्वास एवं राजाओं के दैवी अधिकार सिद्धान्त से युक्त किया था, तथापि मैकियाविली सम्प्रभुता की धारणा का कोई दार्शनिक अथवा विधिशास्त्रीय सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं कर सका। आधुनिक राजनीतिक दर्शन के अन्तर्गत यह सिद्धान्त सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। भले ही बोदां ने इसके ऊपर कुछ असंगति पूर्ण मर्यादाओं को आरोपित करके इसमें कुछ भ्रान्तियाँ ला दी थीं, तथापि उसे अपने युग की परिस्थितियों को देखते हुए ऐसा करने को विवश होना पड़ा था। बाद के चिन्तकों हॉब्स तथा ऑस्टिन ने इन कमियों को दूर करने का प्रयास किया। परन्तु इन विचारकों की प्रेरणा का मूल स्रोत बोदां के ही विचार थे। आज के युग में राज्य की सर्वोच्च सत्ता की धारणा से कोई इनकार नहीं कर सकता, भले ही बहुवादी विचारक इस धारणा का विरोध करते हैं, तथापि परोक्षतः वे भी इसे स्वीकार

करते हैं। बोदां की यह धारणा राजनीतिक चिन्तन को उसकी महत्त्वपूर्ण देन है।

क्रान्तियाँ (Revolutions)

क्रान्तियों का विवेचन करने में बोदां भी अरस्तू की पद्धति का अनुगमन करता है। अरस्तू ने कुछ प्रयोजनों के निमित्त राज्य तथा संविधान को समाजवादी माना था। उसकी दृष्टि में सांविधानिक परिवर्तन राज्य के स्वरूप को भी परिवर्तित कर देता है, ऐसे परिवर्तन को अरस्तू क्रान्ति का नाम देता है। बोदां के विचार से राज्य का मुख्य तत्त्व उसकी प्रभुसत्ता है। अतः क्रान्ति का अर्थ है, सम्प्रभुता का स्थान-परिवर्तन (displacement of sovereignty)[1] इसके अनेक कारण तथा रूप हो सकते हैं। अरस्तू की भाँति बोदां भी क्रान्तियों के कारणों तथा उन्हें रोकने के उपायों पर विचार करता है। बोदां मुख्य रूप से क्रान्तियों के तीन कारण मानता है—दैवी, प्राकृतिक तथा मानवीय।

दैवी कारण—बोदां के मत से क्रान्तियों के दैवी कारण मनुष्य के लिए रहस्य बने रहते हैं। अतः निराशा की स्थिति में वह इन्हें समझने की समस्त आशाओं को छोड़ देता है। इस प्रकार यदि दैवी प्रकोप राज्य की प्रभुसत्ता को परिवर्तित कर दें तो ऐसी क्रान्ति का कारण दैवी माना जाएगा।

प्राकृतिक कारण तथा ज्योतिष—बोदां के अनुसार जिस प्रकार व्यक्ति के जीवन में प्राकृतिक कारण अच्छाई या बुराई लाते हैं उसी प्रकार राज्य के जीवन में भी प्राकृतिक शक्तियाँ परिवर्तन लाती हैं। इनका ज्ञान ज्योतिष के द्वारा किया जा सकता है। बोदां का ज्योतिष पर बहुत अधिक विश्वास था। ग्रहों तथा नक्षत्रों की गतियाँ विभिन्न राज्यों के ऊपर आने वाली आपत्तियों की सूचक होती हैं। अतः जिस प्रकार एक चिकित्सा शास्त्री को शरीर-विज्ञान का ज्ञान होना आवश्यक है, उसी प्रकार राजनेता को ज्योतिष का भी ज्ञान रखना चाहिए, ताकि प्राकृतिक प्रकोपों की आशंका का पूर्व ज्ञान होने से वह उनसे बचने की तैयारी किये रहे।

भौगोलिक कारण—अरस्तू की भाँति बोदां भी मानता है कि राज्य की भौगोलिक परिस्थितियों, जलवायु आदि का राजनीति पर प्रभाव पड़ता है।[2] अतः शासक के लिए उनका ज्ञान करना आवश्यक है ताकि वह उनके आधार पर सम्भावित आपदाओं से राज्य को बचाने के लिए तत्परता से काम ले सके। बोदां के मत से अक्षांश, ऊँचाई, जलवायु, भूमि की बनावट आदि के द्वारा किसी देश की जनता के स्वभाव, आचरण, प्रवृत्तियों आदि का ज्ञान किया जा सकता है। इनके समुचित ज्ञान के द्वारा राजनीतिक व्यवस्था, कानून, वैदेशिक नीति आदि के निर्धारण में सहायता मिलती है।[3] जोन्स (W. T. Jones) ने लिखा है कि 'निश्चय ही जलवायु के प्रभाव के बारे में बोदां ने जो कुछ कहा है उसमें से अधिकांश बातें मूर्खतापूर्ण हैं और वह सब अवैज्ञानिक तथा जल्दीबाजी से निकाले गए निष्कर्षों पर आधारित हैं।'[4] परन्तु

[1] 'By a change of state, I mean a change of the seat of sovereignty.' —Bodin.

[2] अट्ठारहवीं शताब्दी में मांटेस्क्यू ने भी यह दृष्टिकोण अपनाया है।

[3] 'By climate, I mean a variety of factors: water, oil, attitude, laws, customs, and the forms of states. All of these factors enter into, and so help to constitute, the natural inclination of a people, and a knowledge of them is therefore of the greatest consequence to the legislator.'

[4] Jones, *Masters of Political Thought*, Vol. II, 80.

यह सब इस तथ्य के द्योतक हैं कि बोदां के राजनीतिक विचार तत्कालीन अन्य चिन्तकों की धार्मिक अन्धविश्वासिता पर आधारित विचारों की अपेक्षा अधिक तर्क-मूलक तथ्यों तथा समाजशास्त्रीय विवेचन पर आधारित थे।

धर्म—बोदां के काल में धर्म के नाम पर जो भीषण संघर्ष चल रहे थे उनसे वह बहुत प्रभावित था। उसने बताया है कि जब भिन्न-भिन्न धर्मों को मानने वाले एक राज्य में निवास करते हैं उनके मध्य राजनीतिक मतभेद रहते ही हैं, और यदि शासक किसी एक धर्म का पक्ष लेकर शासन करता है तो उसका ऐसा आचरण अशान्ति तथा अव्यवस्था उत्पन्न कर सकता है। अतः शासक को चाहिए कि वह धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनाए। इस प्रकार बोदां राज्य की अव्यवस्था (क्रान्ति) के कारणों को दैवी, प्राकृतिक तथा मानवीय प्रकृतियों को दर्शाते हुए उनके बचाव हेतु सुझाव देकर राजनीतिक चिन्तन को अधिक प्रयोगमूलक (empirical) बनाता है। सम्प्रभुता की रक्षा हेतु ही बोदां सम्प्रभु पर अनेक मर्यादाएँ आरोपित करता है, ताकि उसकी निरंकुशता क्रान्ति का कारण न बन सके। साथ ही वह समुचित राज्य-व्यवस्था हेतु उसके वित्तीय साधनों तथा प्रशासनिक व्यवस्था का भी विवेचन करता है। अरस्तू की भांति बोदां भी क्रान्तियों के निराकरण के निमित्त 'असमानता' की स्थिति न लाने देने का सुझाव सम्प्रभु को देता है। साथ ही वह जनता की विचार-अभिव्यक्ति तथा शस्त्र-धारण की स्वतन्त्रता को मर्यादित रखने का सुझाव भी देता है। उसके मत से शासक को परम्परागत कानून में बहुत अधिक परिवर्तन नहीं कर देना चाहिए। प्रशासनिक पदाधिकारियों की नियुक्ति में उसे पर्याप्त सावधानी बरतनी चाहिए।

बोदां के राजनीतिक विचारों का मूल्यांकन

पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में अरस्तू के पश्चात् राजनीतिक विचारधाराओं का क्रमबद्ध तथा वैज्ञानिक अध्ययन करने वाला विचारक बोदां से पूर्व अन्य कोई दूसरा नहीं है। यद्यपि नव-जागरण के युग में अरस्तू के राजनीतिक विचारों का पुनरुद्भव होने लगा था और मध्य युग में भी टॉमस ऐक्विना तथा मारसीलियो ने अरस्तू की विचार-पद्धति को अपनाने का प्रयास किया था, तथापि उनकी विचारधाराएँ मध्ययुगीन प्रभाव से ओत-प्रोत होने के कारण यथार्थ राजनीतिक दर्शन का रूप प्राप्त नहीं कर सकीं। मैकियाविली ने भी अरस्तू की पद्धति को अपनाया था, परन्तु उसके विचार सही अर्थ में राजनीतिक दर्शन का प्रतिपादन नहीं करते। वे धर्म तथा नैतिकता से विहीन प्रशासनिक कला का ज्ञान कराते हैं। इस दृष्टि से यद्यपि वह मध्ययुगीन चिन्तन परम्परा से मुक्त था, तथापि उसके विचारों में सही अर्थ में आधुनिकता की झलक भी नहीं आ पायी है। बोदां के राजनीतिक विचारों ने मैकियाविली की अनेक कमियों को दूर किया। अतएव ऐसा कहा जाता है कि 'राजनीतिक चिन्तन में मैकियाविली नहीं, बल्कि बोदां आधुनिकता का प्रतिपादक है।'[1]

अरस्तू तथा बोदां—यदि प्राचीन यूरोप में अरस्तू को क्रमबद्ध राजनीतिक दर्शन का जन्मदाता माना जाता है, तो बोदां को आधुनिक क्रमबद्ध राजनीतिक चिन्तन का जन्मदाता माना जाना उचित ही प्रतीत होता है। दोनों की विचार-पद्धति तथा

[1] 'In the realm of political thought it is Bodin, and not Machiavelli, who is the pioneer of modernity.'

चिन्तन का स्वरूप बहुत कुछ अंश में मिलता-जुलता है। अरस्तू का चिन्तन प्राचीन ग्रीक नगर-राज्यों की व्यवस्था के सम्बन्ध में उनकी समस्त समस्याओं के ऐतिहासिक तथा पर्यवेक्षणात्मक अध्ययन पर आधारित था। बोदाँ चूँकि, अरस्तू से लगभग 1900 वर्ष पश्चात् उत्पन्न हुआ था, अतः वह अपने विचारों के प्रतिपादन में अरस्तू से उत्तमतर स्थिति में था। उनके मार्ग-दर्शन हेतु अरस्तू के विचारों के साथ-साथ 1900 वर्ष की अवधि का राजनीतिक इतिहास भी उपलब्ध था। इस सम्पूर्ण सामग्री से युक्त होकर उसने जो भी विचारधाराएँ रखीं वे तत्कालीन विकासोन्मुख राष्ट्रीय राज्यों के सन्दर्भ में व्यक्त की गयी थीं। उनके प्रतिपादन में वह अपने इतिहास, विधिशास्त्र तथा राजनीतिक अनुभवों के ज्ञान का अवलम्बन करके उन्हें एक क्रमबद्ध तथा वैज्ञानिक राजनीतिक दर्शन के रूप में प्रस्तुत करने में सफल हुआ। इस प्रकार उसने अरस्तू के पश्चात् सुप्त दशा में पड़े हुए राजनीतिक दर्शन को पुनः जागृत करके राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में आधुनिक राजनीतिक चिन्तन का सबसे पहला प्रतिपादक होने की ख्याति प्राप्त की है। अरस्तू की भाँति परिवार को प्राकृतिक संस्था मानकर उसे राज्य की उत्पत्ति का आधार सिद्ध करना, राजनीति में जलवायु के प्रभाव को मानना, क्रान्ति के कारणों व रोक के उपचार बताना, राज्यों व शासनों का वर्गीकरण, राज्य को सर्वोच्च मानव समुदाय बताना, आदि ऐसी धारणाएँ हैं जिनके विवेचन में बोदां के ऊपर अरस्तू की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। अतएव यदि अरस्तू प्राचीन युग का राजनीति शास्त्री था तो बोदां आधुनिक युग के उषाकाल का राजनीति शास्त्री सिद्ध होता है। राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में यदि बोदां अरस्तू का अनुगामी (successor) है तो उसे मांटेस्क्यू का पूर्वगामी (forerunner) कहना भी पूर्णतः युक्ति-संगत है। 18वीं शताब्दी में मांटेस्क्यू ने उसकी पद्धति को पूर्णतः अपनाया था।

मैकियाविली तथा बोदां—भले ही ऐतिहासिक काल क्रम में मैकियाविली बोदां से आधी शताब्दी पूर्व का विचारक है, और मैकियाविली की राजनीतिक विचारधाराओं में आधुनिकता के लक्षण भी विद्यमान हैं तथापि राजनीतिक चिन्तन को आधुनिकता प्रदान करने में बोदां को मैकियाविली से पूर्व का माना जाना अधिक उपयुक्त है। इस तथ्य को जोन्स ने बड़ी अच्छी शब्दावली में रखते हुए कहा है कि 'चाहे ऐतिहासिक काल की स्थिति कुछ भी रही हो, बोदां मैकियाविली की अपेक्षा आधुनिक-युगीन राजनीतिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व उत्तमतर ढंग से करता है, क्योंकि बोदां नये युग रूपी इमारत की देहरी पर था क्योंकि मैकियाविली पहले ही उसके बैठक के कमरे में पहुँचकर अंगीठी के पास आसन जमाये हुए बैठ चुका था।' इसका अभिप्राय यह है कि राजनीतिक विचारों का प्रतिपादन करने में मैकियाविली अपने युग से काफी आगे बढ़ चुका था। उसने अपने युग की वैचारिक एवं व्यावहारिक राजनीति की समस्याओं की उपेक्षा की है। उसके विचारों का क्षेत्र सीमित था। राजनीतिक विचारधाराओं की विविध समस्याओं, आदर्शों, सिद्धान्तों, निवर्तमान प्रवृत्तियों आदि का तार्किक एवं दार्शनिक विवेचन वह नहीं कर पाया। निस्सन्देह उसके विचारों में मध्ययुगीन चिन्तन की प्रवृत्तियाँ नहीं रही हैं। परन्तु वे आधुनिक प्रवृत्तियों का प्रतिपादन भी नहीं करते। व्यावहारिक राजनीति के निमित्त उसने जो बातें कही हैं या जो निष्कर्ष निकाले हैं उनके कार्य-कारण सम्बन्धों का

कोई तार्किक विवेचन उसने नहीं किया अतएव संकीर्ण उद्देश्य को लेकर जो बातें उसने सक्रिय राजनीति के सम्बन्ध में कही हैं, वे भले ही सब कालों के लिए उपयुक्त हैं, तथापि उनके कारण मैकियाविली को आधुनिक राजनीतिक चिन्तन का प्रतिपादक मानने में सन्देह किया जाता है।

बोदां ने राजनीतिक दर्शन के प्रतिपादन हेतु तत्कालीन परिस्थितियों का व्यापक अध्ययन करके उसे मध्यकालीन प्रवृत्तियों से मुक्त करने का प्रयास किया। उसने अपने पूर्ववर्ती धर्म-निरपेक्ष राजनीतिक विचारक मैकियाविली से कोई प्रेरणा नहीं ली, और न ही उसके विचारों को अपने दर्शन का आधार बनाने का प्रयास किया। वस्तुत: वह मैकियाविली के धर्म तथा नैतिकता-विहीन राजनीतिक विचारों को उसकी एक भारी भूल मानता था। अत: उसने धर्म-विहीनता के स्थान पर धार्मिक सहिष्णुता तथा धर्म-निरपेक्षता से युक्त विचार रखे, जो कि आधुनिकता की प्रवृत्ति के द्योतक हैं। मैक्सी के कथनानुसार, 'धर्मान्धता के युग में वह विवेक का धैर्ययुक्त प्रकाश लेकर चला; विवादों तथा संघर्षों के युग में उसने एकता तथा व्यवस्था को बढ़ावा दिया; विवेक-रहित मत-मतान्तरों के युग में उसने इनमें से किसी का अनुसरण नहीं किया, प्रत्युत् असहिष्णुता का शत्रु बना रहा; बौद्धिक बांझपन के युग में वह एक सच्चे दार्शनिक की भावना से युक्त प्रबुद्ध तथा स्वतन्त्र चिन्तक सिद्ध हुआ।'[1] बोदां का युग मध्य काल से आधुनिक काल के संक्रमण का युग था। राजनीतिक वातावरण इतना बदल चुका था कि उसमें मध्ययुगीन चिन्तन प्रणाली को अपनाना सम्भव तथा व्यावहारिक नहीं था। राजनीतिक समस्याओं के समाधान हेतु नये दृष्टिकोणों की आवश्यकता थी। अतएव बोदां ने इतिहास तथा कानून के ज्ञान का सहारा लेकर राजनीतिक दर्शन का प्रतिपादन किया। उसकी धारणा यह थी कि कानून की उत्पत्ति तथा प्रकृति को समझने के लिए इतिहास का ज्ञान आवश्यक है। वास्तविक कानून का ज्ञान विभिन्न देशों के कानून के ऐतिहासिक विकास के अध्ययन से हो सकता है। अन्यथा जन-समुदाय के यथार्थ कानून का अध्ययन कानून की अपूर्ण अभिव्यक्ति का द्योतक है। इसीलिए मैक्सी ने बोदां को 'तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक विधिशास्त्र (Jurisprudence) का जनक' कहा है। डनिंग के अनुसार, 'बोदां की रचना वैज्ञानिक राजनीति के इतिहास में एक युग का निर्माण करती है।'[2] इसीलिए डनिंग बोदां को 'आधुनिक अर्थ में इतिहास के दर्शन का प्रतिपादन करने वाला सबसे पहला लेखक' कहता है। बोदां की धारणा यह थी कि कानून तथा राजनीति घनिष्ट रूप से सम्बद्ध हैं और दोनों का अध्ययन इतिहास की सहायता से किया जाना चाहिए। ऐसी पद्धति अपनाकर उसने राजनीतिक विचारधारा का प्रतिपादन किया, इसीलिए उसे राजनीतिक चिन्तन में आधुनिकता का प्रतिपादक कहा जाता है।

मैकियाविली की विचारधाराएँ ऐसे क्रमबद्ध तथा वैज्ञानिक चिन्तन से युक्त नहीं हैं। परन्तु बोदां की अपेक्षा मैकियाविली के दर्शन को आधुनिकता का प्रतिपादन करने वाला न माना जाना भी मैकियाविली के साथ न्याय करना नहीं होगा। वास्तव में मैकियाविली बोदां से लगभग 60 वर्ष पूर्व राजनीतिक विचारधाराओं में कई दृष्टियों से आधुनिकता का समावेश कर चुका था। जोन्स ने लिखा है कि 'भले ही

[1] Maxey, *op. cit.*, 162.
[2] Dunning, *op. cit.*, 81.

मैकियाविली को एक राजनीतिक विचारक मानने में कठिनाई हो, तथापि वह किसी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा आधुनिक राजनीतिक विचारों का जनक है।' यह सत्य है कि मैकियाविली ने सर्वप्रथम राजनीतिक समस्याओं के सम्बन्ध में मध्ययुगीन कैथोलिक धर्म परस्त विचारों का पूर्णतया परित्याग किया। जोन्स के मत से मैकियाविली ने मार्क्स तथा भविष्य के उन चिन्तकों के लिए आधारशिला का कार्य किया था जो राजनीति को शक्ति-संघर्ष पर आधारित मानते हैं, भले ही मैकियाविली ने इस सम्बन्ध में आर्थिक तत्त्व को प्रधानता नहीं दी। धर्म-विहीन राजनीति का प्रतिपादन करने में मार्क्स के ऊपर मैकियाविली के प्रभाव को अमान्य नहीं किया जा सकता। यद्यपि मैकियाविली ने बोदां की भाँति राज्य के सम्प्रभुता के सिद्धान्त का वैज्ञानिक विवेचन नहीं किया है, तथापि उसकी राज्य-विषयक धारणा स्पष्टतया एक प्रभुत्व सम्पन्न राष्ट्रीय राज्य के निर्माण की द्योतक थी। प्रभुसत्ता की धारणा का दार्शनिक विश्लेषण तथा विवेचन बाद में बोदां, हॉब्स आदि विचारकों ने किया है और यही धारणा प्राचीन तथा आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के मध्य पृथक्करण करती है। शक्ति-राजनीति का सूत्रपात, जो कि आज के युग की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विशिष्ट धारणा है, सर्वप्रथम मैकियाविली ने ही किया था। आधुनिक राजनीतिक विचारधाराओं की एक प्रमुख विशेषता राष्ट्रीयता की धारणा है। यद्यपि वास्तविक अर्थ में राष्ट्रवाद की आधुनिक धारणा का विकास मैकियाविली तथा बोदां की दो शताब्दियों के पश्चात् हुआ, तथापि राष्ट्रवादी धारणाओं के अंकुर मैकियाविली के विचारों में पूर्ण रूप से विद्यमान थे। यदि मैकियाविली ने राजनीति से नैतिकता को पृथक् किया, तो वह उसकी विचारधारा की कमी नहीं मानी जानी चाहिए। उसने स्पष्टवादिता से इसे बताया, जबकि इस नीति का उपयोग राजनेता बार-बार करते ही रहते हैं। अतएव राजनीतिक चिन्तन में आधुनिकता का प्रतिपादन करने वाला सबसे पहला विचारक मैकियाविली को न मानकर बोदां को मानना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता।। उपर्युक्त तर्कों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि मैकियाविली ही सबसे प्रथम 'आधुनिक' राजनीतिक विचारक है। परन्तु यह भी सत्य है कि राजनीतिक दर्शन को एक 'क्रमबद्ध' आधुनिक स्वरूप प्रदान करने का श्रेय बोदां को मिलता है, क्योंकि मैकियाविली की विचारधाराएँ विशुद्ध राज्य-दर्शन का प्रतिपादन नहीं कर सकी थीं। सैबाइन ने भी स्वीकार किया है कि 'बोदां का राजनीतिक दर्शन प्राचीन तथा अर्वाचीन का विचित्र सम्मिश्रण है। वह बिना आधुनिक हुए ही मध्ययुगीन भी नहीं रह पाया था।

बोदां के विचारों में प्राचीन तथा अर्वाचीन का सम्मिश्रण—बोदां की विचारधारा में प्राचीनता तथा आधुनिकता का विचित्र सम्मिश्रण पाया जाना, जैसा सैबाइन के पूर्वोक्त कथन में व्यक्त किया गया है, एक विचारणीय प्रश्न है। मैक्सी ने कहा है कि 'बोदां सचमुच में अपने विरोधाभास के युग का बालक था, यह युग न तो मध्य युग था न आधुनिक प्रत्युत् यह युग दोनों की आकर्षक विशेषताओं का प्रदर्शक था।'[1] बोदां ने इतिहास के अध्ययन को बहुत महत्त्वपूर्ण मानकर राजनीतिक दर्शन के प्रतिपादन हेतु उसके निष्कर्षों का अवलम्बन करना उपादेय माना है और उसका राजदर्शन निवर्तमान राजनीतिक परिस्थितियों पर बहुत अधिक आधारित है।

[1] 'He was truly a child of the paradoxical age in which he lived, an age that was neither medieval nor modern, but displayed striking characteristics of both.' —Maxey, *op. cit.*, 163.

इस दृष्टि से भी उसकी विचारधारा में प्राचीन तथा अर्वाचीन का सम्मिश्रण स्वाभाविक था। उसके युग में यूरोप के राष्ट्रीय राज्यों के अन्तर्गत जो धार्मिक संघर्ष उत्पन्न हो गये थे, उनके समाधान हेतु बोदां ऐसे निष्कर्षों की खोज कर रहा था जो राजनीतिक चिन्तन तथा व्यवहार को वास्तविक बना सकें। उसने अनुभव किया कि धर्म-विहीन राजनीति जैसी कि मैकियाविली ने प्रतिपादित की थी, परिस्थिति का समाधान नहीं कर सकती। अतः उसने धार्मिक, अधार्मिक या धर्म-विहीन राजनीति के स्थान पर धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धान्त को महत्त्व दिया और धर्म-निरपेक्षता की नीति को अपनाया। साथ ही उसने रोमन विधि के विकास का तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक अध्ययन करके राज्य-सम्बन्धी धारणाओं में प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त को भी मान्यता दी। इस प्रकार उसके राजदर्शन में धर्म तथा प्राकृतिक कानून की प्राचीन धारणाएँ बनी रहीं। प्रोफेसर डनिंग के अनुसार, 'एक ओर राजनीति और दूसरी ओर धर्म तथा नैतिकता के मध्य सम्बन्धों के बारे में बोदां ने मैकियाविली की पृथक्कीकरण की प्रवृत्ति को सही दिशा प्रदान करके मध्य का मार्ग अपनाया।' यह उसकी धार्मिक सहिष्णुता तथा नैतिक परायणता की विशेषता थी।

उसकी धार्मिक सहिष्णुता की नीति इतनी स्पष्ट थी कि आज तक कोई यह नहीं बता सका है कि वह स्वयं नास्तिक था, या यहूदी था, या कैथोलिक था अथवा प्रोटेस्टेंट, परन्तु निश्चय ही वह एक धार्मिक प्रकृति का व्यक्ति था। वह देवी-देवताओं तथा भूत-प्रेतों पर भी विश्वास करता था। जादू-टोने पर भी उसे विश्वास था। वह प्रशासकों को सलाह देता था कि अपराधों का पता लगाने तथा निर्णय करने में इनका भी सहारा लें। ज्योतिष, भूगोल, नक्षत्र विद्या आदि के रहस्यमय निष्कर्षों तथा फलितार्थों पर भी वह विश्वास करता था, उसके विचार से ये फलितार्थ भी राज्य के जीवन में प्रभावी होते हैं, अतः शासक को इनका भी ज्ञान होना चाहिए।

राज्य के उद्देश्य का विवेचन करके बोदां अपने को न तो पूर्णतया आधुनिक सिद्ध कर पाया, न वह प्राचीनता से ही मुक्त हो पाया। वह कहता है कि सद्गुण-युक्त तथा सुखी-जीवन की उपलब्धि राज्य का उद्देश्य है। सुखी-जीवन से भौतिक सुखों का आभास होता है। साथ ही वह राज्य का एक उच्चतर उद्देश्य (higher end) भी मानता है, यद्यपि उसकी व्याख्या वह स्पष्टतया नहीं करता। उसका अभिप्राय: आध्यात्मिक चिन्तन तथा परमात्मा की प्राप्ति, सत् तथा प्रकृति की सौन्दर्यानुभूति से हो सकता है जो कि राज्य का प्रारम्भिक उद्देश्य है। भौतिक सुख गौण उद्देश्य है, परन्तु बोदां उक्त प्रारम्भिक उद्देश्य की प्राप्ति हेतु राज्य के सिद्धान्त का स्पष्ट विवेचन नहीं कर पाया। मैकियाविली तथा हॉब्स जो भौतिक-वादी थे, बोदां की अपेक्षा राज्य के उद्देश्य का निरूपण करने में अधिक आधुनिक एवं स्पष्ट हैं।

बोदां की चिन्तन पद्धति ऐतिहासिक तथा दार्शनिक है। वह अपनी विचार-धाराओं के समर्थन में ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख करता है। वह आगमनात्मक पद्धति का अनुसरण भी करता है। परन्तु जैसा सैबाइन ने कहा है उसकी रचनाएँ 'सामान्यतया असंगठित तथा अव्यवस्थित पुनरावृत्तियों से पूर्ण तथा असम्बद्ध हैं; वे दार्शनिक रचना की वास्तविक शक्ति से रहित हैं और यद्यपि वह इतिहास तथा संस्थाओं की कार्य-प्रणाली का वास्तविक ज्ञान रखता था, तथापि वह एक दार्शनिक

इतिहास-वेत्ता होने की अपेक्षा प्राचीनतावादी है।'[1] परन्तु इतना होने के बावजूद उसकी चिन्तन प्रणाली विवेकमूलक तथा उपयोगितावादी है, इसलिए उसे आधुनिक कहा जा सकता है।

बोदां के राजनीतिक दर्शन को आधुनिक मानने का सबसे प्रबल आधार उसका सम्प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त है। यद्यपि बोदां ने इसे अनेक मर्यादाओं से युक्त करके उसमें अनेक असंगतियाँ भी उत्पन्न कर दी थीं और इस कारण वह प्राचीनतावाद से अपने को मुक्त नहीं कर पाया, तथापि उसके काल से लेकर आज तक यह सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन का एक प्रमुख आदर्श बना हुआ है और समय-समय पर विभिन्न विचारकों ने इस सिद्धान्त का विकास करने में प्रभुसत्ता की विशेषताओं के सम्बन्ध में बोदां द्वारा व्यक्त धारणाओं को अपनाया है और उन्हीं को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने में बोदां मध्ययुगीन सामन्तवाद तथा सार्वभौमिकतावाद का परित्याग करके राष्ट्रीय राज्यों की सम्प्रभुसत्ता की आधुनिक विचारधारा का प्रतिपादन करने वाला सर्वप्रथम विचारक सिद्ध होता है।

बोदां की विचारधाराओं में अनेक कठिनाइयाँ तथा असंगतियाँ हैं और उसके पश्चात् की लगभग दो शताब्दियों तक उसके विचारों का अध्ययन भी बहुत अधिक लोकप्रिय नहीं हो पाया। तथापि अठारहवीं शताब्दी में मांटेस्क्यू ने पुनः बोदां की पद्धति को अपनाया, परिणामस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पुनः इन दोनों विचारकों ने राजनीतिक दर्शन को प्रभावित किया।

अन्य बातें जो बोदां को आधुनिक विचारक मानने की धारणा की पुष्टि करती हैं वे हैं, उसका राज्य तथा सरकार के मध्य स्पष्ट भेद करना, क्रान्तियों के कारणों तथा उद्देश्यों का विवेचन, राज्य के शासन के सम्बन्ध में उसकी आर्थिक, वित्तीय तथा प्रशासकीय समस्याओं का विवेचन, नागरिकता की पारिभाषिक व्याख्या, और नागरिकता का सम्प्रभुता के साथ सम्बन्ध निर्दिष्ट करना। राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में अरस्तू के पश्चात् बोदां के काल तक किसी भी विचारक ने इन समस्त बातों का विवेचन नहीं किया। बोदां ने न केवल इन बातों का विवेचन ही किया, अपितु अपने युग को परिस्थितियों के आधार पर उनमें अरस्तू के ऊपर सुधार लाने का भी प्रयास किया, और उसकी अधिकांश धारणाओं को उसके पश्चात् के विद्वानों ने अपनाया और उनमें पुनः सुधार किये। इस दृष्टि से बोदां का दर्शन बहुत अधिक मात्रा में आधुनिक है।

राष्ट्रवाद तथा सम्प्रभु-सत्ता से युक्त राष्ट्र-राज्य की धारणाएँ आधुनिक राजनीतिक चिन्तन एवं व्यवहार की प्रमुख विशेषताएँ हैं। इन धारणाओं के अंकुर बोदां के विचारों में विद्यमान थे। मैक्सी ने उचित ही कहा है कि बोदां की प्रभुसत्ता की धारणा ने राष्ट्रवाद रूपी अधूरे मेहराब के निमित्त आधार-शिला बनने का कार्य किया।[2] इस दृष्टि से आधुनिक राजनीतिक चिन्तन को बोदां का अद्वितीय योगदान उसकी प्रभुसत्ता की धारणा है।

[1] 'And despite a genuine insight into the history and working of institutions, he was an antiquarian rather than a philosophical historian.' —Sabine, *op. cit.*, 342.

[2] 'His theory of sovereignty supplied the necessary key-stone for the incomplete arch of nationalism.' —Maxey, *op. cit.*, 168.

बारहवाँ अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जनक

ह्यूगो ग्रोशियस (1583–1645)

17वीं शताब्दी के प्रारम्भ में यूरोप की राजनीतिक स्थिति—16वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में फ्रांस के दार्शनिक जीन बोदां ने तत्कालीन राष्ट्रीय राज्यों के अभ्युदय में धार्मिक गृह-युद्धों से मानव-समाज को बचाने तथा राज्यों के कल्याण हेतु धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धान्त को अपनाकर धर्म-निरपेक्ष राष्ट्रीय सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। इस सिद्धान्त ने राज्य तथा नागरिकों के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों का निरूपण करने में सहायता प्रदान की। परन्तु राष्ट्रीय सम्प्रभुता का सिद्धान्त सम्पूर्ण मानव समाज की शान्ति का समुचित समाधान सिद्ध नहीं हो रहा था। विभिन्न राज्यों में कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेंट चर्च को मानने वाले नागरिक निवास करते थे। अतः इनमें शासकों द्वारा धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनाकर विधर्मियों के साथ समानता का व्यवहार सर्वत्र सम्भव नहीं प्रतीत होता था। यदि कदाचित् कहीं ऐसा होता तो समस्या का हल यह नीति सिद्ध हो सकती। परन्तु इसका एक दूसरा पक्ष भी था, जो अधिक जटिल था। यह था विभिन्न राज्यों की प्रभुत्वशक्ति विभिन्न धर्मावलम्बियों के हाथ में होने के कारण राष्ट्रों के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों में कटुता का होना। इसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति खतरे में थी। इंग्लैण्ड तथा स्पेन के मध्य जो युद्ध छिड़ा था, वह एक प्रकार से विभिन्न धर्मावलम्बी राज्यों के मध्य का अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध था। इसी प्रकार जर्मनी तथा फ्रांस में भी यह समस्या थी। मैकियाविली के सिद्धान्त ने राष्ट्रीय राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में शक्ति तत्त्व को महत्त्व दिया था। उस युग में यूरोपीय राष्ट्र विश्व के विभिन्न देशों में अपने नये उपनिवेशों की तलाश में लगे हुए थे। व्यापार-वाणिज्य का विकास भी राष्ट्रीय राज्यों के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों में प्रतिस्पर्धा का विषय बनने लगा था। अतएव समस्या केवल यही नहीं थी कि मानव-कल्याण हेतु राज्यों में शासक तथा शासितों के मध्य सम्बन्धों के निर्माण में क्या सिद्धान्त अपनाये जाएँ, बल्कि यह भी थी कि विभिन्न राष्ट्रीय राज्यों के मध्य सम्बन्धों का निरूपण करने के सिद्धान्त क्या होने चाहिए। 17वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इस समस्या पर हालैण्ड के विद्वान् ह्यूगो ग्रोशियस (Hugo Grotius) ने विचार किया और इसके समाधान के निमित्त उसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की धारणा को व्यक्त किया। इसलिए राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में उसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जन्मदाता कहा जाता है।

जीवन परिचय—ह्यूगो ग्रोशियस हालैण्ड के डेल्फ (Delft) नामक नगर में लेडन (Leyden) विश्वविद्यालय के एक सुप्रसिद्ध विद्वान् एवं कानून-वेत्ता का पुत्र

था। ग्रोशियस बचपन से ही एक प्रतिभाशाली व्यक्ति सिद्ध हुआ। अतएव उसके पिता ने उसकी शिक्षा-दीक्षा में पर्याप्त सावधानी बरती थी। केवल 15 वर्ष की अवस्था में ही वह कानून, राजनीति तथा दर्शन के क्षेत्र में इतनी महान् उपलब्धियाँ कर चुका था कि उसे पेरिस में डच दूतावास के साथ सम्बद्ध कर दिया गया। वहाँ उसका सम्पर्क बार्नवेल्ड (Barneveld) नामक एक उच्च अधिकारी के साथ हुआ। इसके पश्चात् शीघ्र ही वह एक प्रसिद्ध वकील बन गया। वह एक अच्छा साहित्यकार भी था। उसकी रचनाओं ने उसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्रदान कर दी। 30 वर्ष की आयु में वह हालैण्ड के एक उच्च प्रशासकीय पद पर नियुक्त हुआ। वह एक कूटनीतिक पदाधिकारी के रूप में इंग्लैण्ड भी गया। परन्तु लेडन के विश्वविद्यालय में आरमीनियन तथा गोमर दो प्रोफेसरों के मध्य जब उग्र सैद्धान्तिक विवाद छिड़ा तो इस विवाद ने राजनीतिक रूप धारण कर लिया। इस मामले में बार्नवेल्ड तथा ग्रोशियस ने जो उस समय प्रशासकीय पदों पर थे, गोमर के समर्थकों का दमन किया। परन्तु डच शासक मौरिस ने गोमर का पक्ष लेकर बार्नवेल्ड तथा ग्रोशियस के ऊपर मुकदमा चलाया। बार्नवेल्ड को फांसी दी गयी और ग्रोशियस को सम्पत्ति-विहीन करके आजन्म कारावास का दण्ड दिया गया। ग्रोशियस की पत्नी ने बड़ी चतुराई के साथ एक नाटकीय ढंग से ग्रोशियस को कारावास से भगा लेने में सफलता प्राप्त की। वह भागकर पेरिस चला गया (1621)। वहाँ जाकर उसने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना प्रारम्भ की। 1624 में उसका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'युद्ध तथा शान्ति का कानून' (*De Jure Belli et Pacis* या The Law of War and Peace) प्रकाशित हुआ। इसके सम्बन्ध में मैक्सी का कहना है कि 'यह उसके (ग्रोशियस के) जीवन की सर्वोत्कृष्ट रचना थी, जिसे आधुनिक काल में अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर सबसे पहली पूर्ण तथा व्यापक रचना माना जाता है।'[1] यद्यपि इस ग्रन्थ ने ग्रोशियस का नाम अन्तर्राष्ट्रीय जगत में प्रसिद्ध कर दिया तथापि ग्रोशियस की आर्थिक परिस्थिति दिनोंदिन गिरती गयी। इस बीच उसने स्वीडन की नागरिकता अपना ली थी। वह पेरिस में स्वीडन का राजदूत नियुक्त हुआ। इस समूचे काल में वह आर्थिक दृष्टि से परेशान रहा। अन्त में 1645 में उसकी मृत्यु हो गयी।

ग्रोशियस की विचार-पद्धति तथा स्रोत—राजनीतिक विचारधाराओं के इतिहास में ग्रोशियस एक मौलिक विचारक की श्रेणी प्राप्त नहीं कर पाता है। उससे पूर्व टॉमस ऐक्विना, स्पेन के जेस्युट स्योरेज (Suarez), हालैण्ड के विद्वान् ऐल्थ्यूजियस (Althusius), मैलेंकथन, मैरियाना, विक्लर, प्रभृति विधिवेत्ताओं ने जो कुछ विचार रखे थे उन्हीं विचारों को ग्रोशियस ने संहिताबद्ध तथा समायोजित किया। उन्हें उसने क्रमबद्ध ढंग से तथा अधिक स्पष्टता के साथ चित्रित किया है। वह स्वयं एक उच्चकोटि का कानून विशारद तथा विद्वान् था। बोदां की भाँति वह भी धार्मिक सहिष्णुता की नीति का समर्थक तथा कानूनी दृष्टिकोण रखने वाला व्यक्ति था। वह एक महान् मानवतावादी भी था। उसकी अभिलाषा समूचे ईसाई समाज तथा यूरोप के विभिन्न राष्ट्रों के मध्य भी शान्ति स्थापित रखने की थी। जिस प्रकार बोदां ने कानूनी दृष्टिकोण अपनाकर राष्ट्रीय राज्यों के लिए राज्य की सम्प्रभुता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था, उसी प्रकार ग्रोशियस ने राष्ट्रों के

[1] 'It was the master work of his life, now venerated as the first thorough and comprehensive book on international law.' —Maxey, *op. cit.*, 177.

पारस्परिक सम्बन्धों के नियमन हेतु अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। ग्रोशियस के विचारों का समुचित ज्ञान करने हेतु उसके विचारों पर प्रभाव डालने वाले उसके पूर्वानुवर्ती विद्वानों के विचारों का ज्ञान आवश्यक है। इनका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है:

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रतिपादन करने में ग्रोशियस रोमन प्राकृतिक कानून (Jus Naturale), राष्ट्रों के कानून (Jus Gentium) तथा मध्य युग के और अपने पूर्ववर्ती प्राकृतिक कानून के प्रतिपादकों के विचारों का अनुगमन करता है। (टॉमस ऐक्विना तथा मैलेंक्थन की प्राकृतिक कानून सम्बन्धी धारणाओं के सम्बन्ध में गत पृष्ठों का यथास्थान अवलोकन करें। यहाँ पर अन्य विचारकों की धारणाओं को व्यक्त किया जाता है):

स्योरेज—यह कैथोलिक प्रति-सुधार आन्दोलन के विचारों से प्रभावित स्पेन का विविशास्त्री था। प्राकृतिक कानून के सम्बन्ध में उसकी धारणा यह थी कि प्राकृतिक कानून मानव आत्मा में उत्पन्न वह कानून है जो मानव को उचित तथा अनुचित के मध्य भेद करने की क्षमता प्रदान करता है। यह दैवी प्रकृति का तथा सार्वदेशिक, सार्वकालिक एवं सार्वभौम कानून है। इसका सृष्टा ईश्वर है और इसका उद्देश्य सृष्टि का कल्याण है। प्राकृतिक तथा राष्ट्रों के कानून (Jus Naturale and Jus Gentium) के मध्य यह भेद है कि राष्ट्रों के कानून का उद्देश्य तथा हित सामाजिक प्रकृति का है, जबकि प्राकृतिक कानून का नैतिक आधार है। राष्ट्रों का कानून राज्य विशेष के नागरिक कानूनों से भिन्नता रखता है। नागरिक कानून किसी राज्य की जनता की परम्पराओं पर आधारित है, जबकि राष्ट्रों का कानून समस्त राष्ट्रों की जनता की परम्पराओं पर आधारित होता है। दास-प्रथा तथा सम्पत्ति राष्ट्रों के कानून (Jus Gentium) का प्रतिनिधित्व करती है। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में स्योरेज अरस्तू के सिद्धान्त को मानता है कि वह मनुष्य की सामाजिकता की प्रवृत्ति पर आधारित है। सम्प्रभुता के सम्बन्ध में उसकी धारणा लोक-प्रभुसत्ता के सिद्धान्त की द्योतक है। उसके मत से सम्प्रभु जनता अपनी प्रभुत्व शक्ति सत्ताधारी को प्रदान करती है। सम्प्रभु दैवी तथा प्राकृतिक कानून के अधीन है।

ऐल्थ्यूजियस—यह हालैण्ड का राजतन्त्र-विरोधी विचारक था। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वह संविदा सिद्धान्त का समर्थन करता है। उसका संविदा सिद्धान्त स्टॉइकों के सिद्धान्त की भाँति था। वह राजनीतिक समाज को एक कृत्रिम ढंग से संविदा द्वारा निर्मित संस्था नहीं मानता, बल्कि वह विभिन्न समुदायों के राज्य में संगठित होने की प्रक्रिया को प्राकृतिक तथा संविदाजनक मानता है। उसके विचार से परिवार, निगम, स्थानीय जन-समूह, प्रान्त तथा राज्य विविध समुदाय हैं जो आपस में संविदा द्वारा संगठित होकर राज्य का निर्माण करते हैं। शासक तथा शासितों के मध्य पारस्परिक सम्बन्ध संविदागत होते हैं। इस प्रकार ऐल्थ्यूजियस दो प्रकार की संविदा की कल्पना करता है, जिनमें से एक के द्वारा राज्य की तथा दूसरी के द्वारा शासन की स्थापना होती है। बोदां की भाँति वह भी राज्य की प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को अपनाता है। उसके मत से राज्य में अन्य समुदाय प्रभुसत्ता-विहीन होते हैं। राज्य की प्रभुसत्ता के सम्बन्ध में वह लोक-प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का समर्थक है। राज्य के संविधान द्वारा शासकों को सत्ता प्रदान की जाती है। अगर शासक

संविदा का उल्लंघन करते हैं तो सत्ता जनता के पास वापस आ जाती है। इस प्रकार ऐल्थ्यूजियस बोदां के सम्प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त की कुछ कमियों को दूर करता है।

ऐल्थ्यूजियस का राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त एक प्रकार की संघात्मक व्यवस्था का द्योतक है। उसके मत से राज्य के निर्माण में संविदा करने वाले पक्ष व्यक्ति नहीं, बल्कि समुदाय हैं। यद्यपि वे सम्प्रभु नहीं हैं, तथापि उनमें अपने उद्देश्यों को कार्यान्वित करने की क्षमता विद्यमान रहती है। इस प्रकार ऐल्थ्यूजियस की धारणा में शासक की शक्ति को नियन्त्रित करने की व्यवस्था बोदां की व्यवस्था से अधिक स्पष्ट है क्योंकि इसके अन्तर्गत राज्य को एक सम्प्रभु के अधीन संयुक्त व्यक्तियों का समुदाय माना गया है। अत्याचारी शासक को नियन्त्रित करने के बारे में ऐल्थ्यूजियस शासक को दण्डित करने का अधिकार काल्विन की भाँति जनता को देने की बात उचित नहीं मानता, अपितु वह ऐसी शक्ति प्रशासकों (ephors) को देना उचित समझता है, जो कि समुदाय के संरक्षक कहे जा सकते हैं। इस दृष्टि से ऐल्थ्यूजियस का संविदा-सिद्धान्त प्रभुसत्ता की धारणा को अधिक संगत तथा स्पष्ट बनाता है। वह किसी भी रूप में धर्म को प्रभुसत्ता की धारणा से संयुक्त नहीं करता। यद्यपि उसने संविदा सिद्धान्त के प्रतिपादन में कोई दार्शनिक आधार प्रस्तुत नहीं किया है तथापि वह संविदा को प्राकृतिक कानून पर आधारित मानता है।

विंक्लर (Winckler)—विंक्लर एक प्रोटेस्टेंट धर्मावलम्बी अंग्रेज लेखक था। उसने प्राकृतिक कानून के सम्बन्ध में 21 सूत्रों का उल्लेख किया है, जिनके आधार पर प्राकृतिक कानून का ज्ञान किया जा सकता है और जिन पर व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार आधारित हैं। इन सूत्रों के अन्तर्गत ईश्वर तथा अन्य धार्मिक कर्त्तव्यों के प्रति श्रद्धा, आत्म-सम्मान, मानव के प्रति प्रेम, सामाजिक सद्‌गुण, देश-प्रेम, स्वतन्त्रता तथा समानता की मान्यता, आदि शामिल हैं। इन धारणाओं से उत्पन्न होने वाले व्यक्ति के अधिकार प्राकृतिक कानून के अन्तर्गत आते हैं। यह शाश्वत नियम हैं, और स्वयं ईश्वर तक इनमें परिवर्तन नहीं कर सकता। राष्ट्रों का कानून (Jus Gentium) मानवीय है न कि दैवी। इसका उद्देश्य प्राकृतिक कानून (Jus Naturale) का संरक्षण करना है। यह वैयक्तिक कानून नहीं है बल्कि सार्वजनिक है जिसका उद्देश्य राष्ट्रों के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करना है।

ग्रोशियस की राज्य सम्बन्धी धारणा

परिभाषा तथा उत्पत्ति—अरस्तू की भाँति ग्रोशियस भी मनुष्य को स्वभावतः सामाजिक प्राणी मानता है। मानव की सामाजिकता की प्रवृत्ति के कारण ही समाज की उत्पत्ति हुई है। ग्रोशियस की धारणा यह थी कि जब मानवों ने यह अनुभव किया कि पृथक् परिवारों के रूप में निवास करने से उनकी सुरक्षा सम्भव नहीं है तो उन्होंने स्वयं ही नागरिक समाज के रूप में अपने को संगठित किया। इस कृत्य में दैवी विधान या आदेश की कोई धारणा नहीं है। इसी प्रक्रिया के अन्तर्गत शासन-शक्ति की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति एक प्रकार की सामाजिक संविदा है। राज्य की परिभाषा करते हुए ग्रोशियस कहता है कि 'राज्य स्वतन्त्र व्यक्तियों का एक पूर्ण समुदाय है, जो कानून का लाभ प्राप्त करने तथा अपने

सामूहिक हितों का उपभोग करने के लिए आपस में संयुक्त हुए हैं।'[1] नागरिक समाज की स्थापना के पूर्व प्राकृतिक कानून विद्यमान था। नागरिक समाज की स्थापना सार्वजनिक शान्ति को बनाये रखने के लिए की गयी। इसके पूर्व प्रत्येक व्यक्ति बुराइयों का प्रतिरोध करने का अधिकार स्वयं रखता था। परन्तु नागरिक समाज की स्थापना हो जाने पर ऐसा अधिकार सम्प्रभु द्वारा निर्धारित नियमों के अधीन चला गया, क्योंकि नागरिक समाज का निर्माण करने वाले व्यक्तियों ने स्वेच्छा से अपने अधिकार समाज की सर्वोच्च सत्ता को धारण करने वाले शासक को दे दिये। इस प्रकार ग्रोशियस के अनुसार, राज्य की उत्पत्ति के दो आधार हैं—प्रथम, मनुष्य की सामाजिकता की प्रवृत्ति, जिसके अनुसार ग्रोशियस अरस्तूवादी प्रतीत होता है; तथा द्वितीय, समझौता सिद्धान्त। समाज का निर्माण मानव की सामाजिकता की प्रवृत्ति के फलस्वरूप होता है। परन्तु राज्य की उत्पत्ति संविदा के फलस्वरूप होती है। ग्रोशियस के विचार से राजनीतिक समाज की स्थापना के पूर्व मानव प्राकृतिक कानून के अनुसार जीवन व्यतीत करते थे। राज्य का निर्माण हो जाने पर उनके अनेक प्राकृतिक अधिकार सम्प्रभु को हस्तान्तरित हो जाते हैं। यद्यपि संविदा सिद्धान्त का विवेचन ग्रोशियस ने हॉब्स तथा लॉक की भाँति नहीं किया है तथापि उसकी विचारधारा उसे संविदा सिद्धान्त का सर्वप्रथम प्रतिपादक बनने का श्रेय देती है। साथ ही यह धारणा समाज तथा राज्य के मध्य भी भेद करती है।

प्रभुसत्ता—ग्रोशियस के अनुसार, 'प्रभुसत्ता राज्य की सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति (राज्य को शासित करने की नैतिक शक्ति) है, जो किसी दूसरे के कानूनी नियन्त्रण के अधीन नहीं है।'[2] प्रभुसत्ता की इस परिभाषा को देने के बाद ग्रोशियस सामूहिक (common) तथा विशेष (special) प्रभुसत्ताधारी (possessor) के मध्य भी भेद करता है। 'सामूहिक रूप से' स्वयं राज्य प्रभुसत्ता को धारण करता है। दूसरी ओर राज्य के संविधान के अनुसार एक या अधिक व्यक्ति इसे 'विशेष रूप से' धारण करने वाले हो सकते हैं। यह धारणा प्रभुसत्ता के निवास का स्पष्ट निर्धारण नहीं करती। इस दृष्टि से ग्रोशियस का प्रभुसत्ता सम्बन्धी सिद्धान्त विभाजित तथा मर्यादित प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का द्योतक है। उसके विचार से प्रभुसत्ता मूल रूप से जनता में निहित है। परन्तु जनता इसे सशर्त तथा बिना शर्त के दूसरों को प्रत्यायोजित कर सकती है। परन्तु एक बार प्रत्यायोजित कर देने के उपरान्त इसे वापस नहीं लिया जा सकता। ग्रोशियस के विचार से प्राकृतिक कानून के अन्तर्गत प्रभुसत्ता सम्पत्ति के सीमित अधिकार की भाँति है। अतः सम्प्रभु को प्राकृतिक कानून, दैवी कानून, सांविधानिक कानून और राष्ट्रों के कानून को आधीनता में रहना चाहिए। राज्य का नागरिक कानून उसकी सत्ता को मर्यादित नहीं कर सकता। ग्रोशियस की दृष्टि में शासन का उद्देश्य शासितों का हित है। परन्तु उसकी सम्प्रभुता सम्बन्धी धारणा शासनों की प्रकृति के अनुरूप सिद्ध नहीं होती। यह धारणा इस तथ्य की द्योतक नहीं है कि जनता अपने शासकों को नियन्त्रित कर सकती है। जनता को यह अधिकार नहीं है कि यदि सम्प्रभु उसे राजनीतिक स्वतन्त्रता से वंचित करे तो उस स्थिति में जनता उसका प्रतिरोध कर सकेगी। डनिंग के अनुसार,

[1] 'State is a perfect association of free men, united for the sake of enjoying the benefits of law and for their common advantages.'

[2] 'Sovereignty is the supreme political power (moral faculty of governing the state) not subject to legal control of another.'

'ग्रोशियस की सम्प्रभुता सम्बन्धी धारणा में अनेक अस्पष्टताएँ हैं। प्रभुसत्ता सर्वोच्च शक्ति है, परन्तु वह प्रतिज्ञाओं से नियन्त्रित है; वह एक है, परन्तु विभाजित प्रतीत होती है; यह पूर्ण है, परन्तु सम्पत्ति के अधिकार से मर्यादित एवं निश्चित समय पर समाप्त भी हो जाती है; यह रक्षक तथा रक्षित एवं मालिक तथा सेवक दोनों में समान रूप से निहित रहती है।'[1] प्रभुसत्ता के सम्बन्ध में ग्रोशियस की धारणा की अस्पष्टता तथा असंगतियों पर टिप्पणी करते हुए सैबाइन ने कहा है कि 'इतनी विवरणात्मक बातों की बाढ़ में राज्य के एक विशिष्ट तत्त्व के रूप में प्रभुसत्ता ओझल हो गयी। इन विवरणों का प्रभुसत्ता के सिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नहीं है, प्रत्युत् इनका सम्बन्ध विशिष्ट शासकों की सांविधानिक शक्तियों से ही हो सकता है।'[2]

कानून

प्राकृतिक कानून—प्रभुसत्ता की धारणा के अतिरिक्त ग्रोशियस की विचारधारा के अन्य प्रमुख तत्त्व प्राकृतिक तथा राष्ट्रों के कानून की धारणाएँ हैं। हैं। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी ही नहीं है वरन् अन्य प्राणियों की अपेक्षा वह श्रेष्ठतर तथा विवेकशील है। प्रत्येक समाज का नियमन कुछ नियमों के अनुसार हुआ करता है। डाकुओं के झुण्ड तक के कुछ नियम होते हैं। अतः सामाजिक जीवन के संचालन तथा नियमन के लिए कानून तथा समाज का अस्तित्व साथ-साथ होता है। एक की अनुपस्थिति में दूसरे का अस्तित्व सम्भव नहीं है। चूँकि मानव विवेकशील प्राणी है, अतः मानव समाज का नियमन करने वाला कानून भी विवेक की उपज है। इसी को प्राकृतिक कानून कहा जाता है। ग्रोशियस के अनुसार, 'प्राकृतिक कानून उचित विवेक का आदेश है, जो यह दर्शाता है कि कोई कार्य विवेकशील प्रकृति के अनुरूप है या नहीं, अथवा उसमें नैतिक आवश्यकता के गुण हैं अथवा तुच्छता के, तथा परिणामस्वरूप प्रकृति के रचयिता ईश्वर के द्वारा उस कार्य को स्वीकार किया गया है या मना किया गया है।'[3] ऐसा कानून सार्वभौम तथा अपरिवर्तनीय होता है। इसे स्वयं ईश्वर तक परिवर्तित नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ, ईश्वर ऐसी इच्छा नहीं कर सकता कि दो को दो से गुणा करने पर गुणनफल चार नहीं आता, अथवा जो बात आवश्यक रूप से बुरी है उसे ईश्वर 'बुरी नहीं है' नहीं कह सकता है। ऐसे विवेक के सारभूत तत्त्व न्याय तथा सत्य हैं। इसका आधार उपयोगिता नहीं है, वरन् मानव की प्रकृति तथा विवेक हैं, जो समस्त कानूनों के स्रोत हैं। मनुष्य की विवेकपूर्ण प्रकृति ईश्वर के न होने पर भी मानव का मार्गदर्शन करती रहती है। प्राकृतिक कानून को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—(1) राजनीतिक समाज के निर्माण से पूर्व का कानून जिसे विशुद्ध कानून माना

[1] 'A power that is supreme, yet bound by pledges, that is at once a unity and divisible; that is complete, yet limited to usufruct and terminable at a fixed time; and that inheres equally in protector and protected, in lord and in vassal, is a confusing kind of concept.' —Dunning, *op. cit.*, 183.

[2] 'The result was that sovereignty as a specific property of the state was lost to sight in a flood of details that have to do not with a general theory but only with the constitutional powers of specific rulers.' —Sabine, *op. cit.*, 359.

[3] 'It is a dictate of right reason which points out that an act, according as it is or is not in conformity with rational nature, has in it a quality of baseness or moral necessity and that, in consequence, such an act is either forbidden or enjoined by the author of nature, God.' —Grotius.

जा सकता है। उदाहरणार्थ, किसी युग में सम्पत्ति का सामूहिक उपभोग प्राकृतिक कानून के अन्तर्गत होता था; इसी प्रकार अपनी वस्तु के छिन जाने पर उसे प्राप्त करने के लिए बल-प्रयोग करना भी किसी युग में प्राकृतिक कानून के अन्तर्गत माना जाता था। (2) राजनीतिक समाज के निर्माण हो जाने पर विशेष परिस्थितिवश उक्त कानून का स्वरूप बदला गया, और सम्पत्ति के सामूहिक उपभोग की धारणा बदल गई तथा व्यक्ति द्वारा अपनी वस्तु को प्राप्त करने के लिए बल-प्रयोग करने का अधिकार समाज के हाथ में आ गया। परन्तु नागरिक कानून के निर्माण से पूर्व ऐसे प्राकृतिक कानून का अस्तित्व था। प्राकृतिक कानून की मान्यता की कसौटी सामान्य विवेक से युक्त व्यक्तियों की अन्तरात्मा, उत्तम विवेक से युक्त व्यक्तियों के मध्य सामान्य सहमति, तथा सभ्य राष्ट्रों के द्वारा अपनाये गये व्यवहार हैं। इस प्रकार प्राकृतिक कानून मानव की अन्तरात्मा का सामान्य आदेश (common dictate of human conscience) है।

ग्रोशियस प्राकृतिक कानून के स्वरूप को मानवीय चित्रित करके उसके दैवी स्वरूप की प्रचलित धारणा को अमान्य करता है और उसे अधिक तर्क सम्मत सिद्ध करके नैतिक स्वरूप प्रदान करता है। विध्यात्मक दृष्टि से जैसा सैबाइन ने कहा है, एक व्यवस्थित समाज हेतु मानव प्रकृति कुछ न्यूनतम आवश्यकताओं की कामना करती है। यह मुख्य रूप से 'सम्पत्ति की सुरक्षा, सुविश्वास, सदाचरण, तथा मानवों के आचरणों के परिणामों तथा उनके गुणों के मध्य सामान्य सहमति'[1] है। ग्रोशियस की दृष्टि से प्राकृतिक कानून का स्वरूप सार्वभौम तथा शाश्वत है। अतः इन कानूनों का पालन प्रत्येक मानव तथा राज्य को करना चाहिए।

राष्ट्रों का कानून या अन्तर्राष्ट्रीय कानून—प्राकृतिक कानून (Jus Natural) के अतिरिक्त ग्रोशियस कानूनों के अन्य रूपों का भी उल्लेख करता है। प्राकृतिक कानून विवेक की उपज है। इसके अतिरिक्त मानव की संकल्पना से भी कानून की उत्पत्ति होती है। ग्रोशियस उसे संकल्पनात्मक कानून (Jus Voluntarian या Volitional Law) की श्रेणी में रखता है। इसके पुनः तीन उप-विभाग हैं—दैवी कानून (Jus Divinum या Law of God), नागरिक कानून (Jus Civile या Law of State) तथा राष्ट्रों का कानून (Jus Gentium या Law of Nations)।

ग्रोशियस की अभिरुचि मुख्य रूप से राष्ट्रों का कानून मानव की 'स्वतन्त्र इच्छा की उपज'[2] है। यद्यपि यह मानव-विवेक पर आधारित नहीं है, तथापि यह सर्वत्र प्रचलित रहता है। रोमन काल में राष्ट्रों के कानून (Jus Gentium) को वैयक्तिक कानून (Private Law) के रूप का माना जाता था। यह रोमन साम्राज्य की आधीनता में आ गये उन जन-समूहों के परम्परागत नियमों का समूह था जिसके अनुसार रोमन नागरिकों तथा उन विविध जन-समुदायों के मध्य पारस्परिक विवादों में न्याय के प्रशासन का कार्य किया जाने लगा था। मध्य युग में यह कानून स्वतन्त्र राज्यों के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों का निर्धारण करने के लिए प्रयुक्त होता था। ग्रोशियस ने इसे सार्वजनिक कानून (Public Law) का रूप प्रदान किया है। उसकी

[1] 'The security of property, good faith, fair dealing, and a general agreement between the consequences of men's conduct and their deserts.' —Sabine, *op. cit.*, 360.

[2] 'Originating in the free will of man or the deliberate choice of all men.'

दृष्टि में राष्ट्रों का कानून विभिन्न 'राष्ट्रों के मध्य सम्बन्धों का नियमन करता है। यह समस्त राष्ट्रों का अधिकांश राष्ट्रों में समान रूप से लागू नहीं होता।'[1] दूसरे शब्दों में, राष्ट्रों का कानून उन व्यवहारों का समूह है जिन्हें सभ्य राष्ट्र एक-दूसरे के साथ व्यवहार करने में अपनाते हैं। यह प्राकृतिक कानून से भिन्न है, क्योंकि यह संकल्पनात्मक है न कि विवेकमूलक। अतएव इसकी सत्ता प्राकृतिक कानून की सत्ता से निम्नतर श्रेणी की है, तथापि इसका महत्त्व बहुत अधिक है। यह प्राकृतिक कानून से वैपरीत्य या असंगति नहीं रख सकता, क्योंकि इसका आधार राष्ट्रों की सामूहिक सहमति (common consent of nations) है और इसका उद्देश्य सार्वभौम हित है। इसके अन्तर्गत अनेक अन्तर्राष्ट्रीय परम्पराएँ शामिल हैं जो प्राकृतिक कानून की सार्वभौम नैतिकता की कार्यान्विति के लिए पूरक के रूप में सिद्ध होती हैं। मनुष्य की सामाजिक जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण विभिन्न राष्ट्रों के रूप में संगठित मानवों के हित में राष्ट्रों के कानून को मानना आवश्यक है। ग्रोशियस ने कहा है कि 'समस्त मानव जाति' अथवा कम से कम इसका विशाल भाग एक जन-समाज का निर्माण करता है जिसके लिए एक सामान्य कानून का नियम अपरिहार्य है।'[2]

प्राकृतिक कानून तथा राष्ट्रों का कानून—यद्यपि ग्रोशियस ने प्राकृतिक कानून तथा राष्ट्रों के कानून के मध्य भेद करने का प्रयास किया है, तथापि ऐसा करने में उसे सफलता नहीं मिली है, प्रत्युत् उसमें अनेक असंगतियाँ तथा अस्पष्टताएँ आ गई हैं। सिद्धान्ततः प्राकृतिक कानून की कसौटी उसकी मानव स्वभाव के साथ 'विवेकपूर्ण' संगति का होना है। इसके विपरीत राष्ट्रों के कानून की कसौटी उसका समस्त राष्ट्रों में व्यवहृत होना है। परन्तु जैसा डनिंग ने कहा है कि किसी नियमन की विवेकपूर्णता अन्ततोगत्वा दार्शनिक के वैयक्तिक निर्णय पर निर्भर करती है। इसी प्रकार राष्ट्रों के व्यवहारों के बारे में भी सार्वभौमिकता की खोज करना कठिन कार्य है। अतः इसका निर्धारण भी दार्शनिक ही कर सकेगा कि कौन-सी परम्पराएँ राष्ट्रों का कानून बनने के लिए सम्माननीय तथा अनुकरणीय हैं। साथ ही यह निर्धारित करना भी सरल कार्य नहीं है कि कौन-सी परम्पराएँ यथार्थ अधिकारों की सृष्टि के लिए उचित हैं तथा मानव समाज के अधिकांश भाग में सामूहिक रूप से अपनाई जाती हैं, या मानव समाज की एकता के लिए आवश्यक हैं। दूसरी ओर राष्ट्रों के कानून के स्वरूप को व्यक्त करने में ग्रोशियस केवल सभ्य यूरोपीय राष्ट्रों में प्रचलित परम्पराओं को ही मान्य करता है, न कि उन समस्त परम्पराओं को जो संसार के सभी सभ्य राष्ट्रों में सामान्य रूप से प्रचलित हैं। यह धारणा संकीर्ण तथा अस्पष्ट प्रतीत होती है। यह भी स्पष्ट नहीं है कि राष्ट्रों द्वारा अपनाई जाने वाली कौन-सी परम्पराएँ अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के लिए आवश्यक हैं और कौन-सी नहीं। इस दृष्टि से प्राकृतिक कानून तथा राष्ट्रों के कानून के मध्य भेद करने की कसौटी पर बल न देकर दोनों को एक साथ मिलाना और अधिक उपयुक्त होता है। ऐसी प्रवृत्ति ग्रोशियस के पश्चात् के विचारकों ने अपनानी प्रारम्भ की।

प्रभुसत्ता तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून—ग्रोशियस के अन्तर्राष्ट्रीय कानून की

[1] 'The law governing the intercourse between nations, and not the law common to all or many nations.' —Dunning, *op. cit.*, 171.

[2] 'All mankind, or at least the great part of it, constitutes a society of peoples for which the rule of a general law is indispensable.' —Grotius.

धारणा का एक पक्ष उसकी प्राकृतिक कानून की धारणा है, तो दूसरा उसकी प्रभुसत्ता की धारणा भी है। उसके विचार से एक राज्य का सम्प्रभु, दूसरे राज्य के सम्प्रभु से अथवा किसी राज्येतर महान् सत्ता से (जैसे पवित्र रोमन-साम्राज्य या पोप से) पूर्णतया स्वतन्त्र है। अपनी प्रादेशिक सीमा के अन्तर्गत प्रत्येक सम्प्रभु सर्वोच्च शक्ति से युक्त है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का नियम यह है कि प्रत्येक सम्प्रभु राज्य कानूनी दृष्टि से एक-दूसरे के साथ समानता की स्थिति में होता है। राज्य की सीमा के अन्तर्गत एक व्यक्ति सम्प्रभु-समुदाय का प्रभुत्वहीन सदस्य है, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के अन्तर्गत एक राज्य प्रभुत्वहीन समुदाय का प्रभुत्व सम्पन्न सदस्य है। दूसरे शब्दों में, राज्य रूपी समुदाय सम्प्रभु है और उसका निर्माण करने करने वाले अंग (व्यक्ति) प्रभुत्वहीन होते है; इसके विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय प्रभुत्वहीन है और उसका निर्माण करने वाले अंग (राज्य) प्रभुत्व सम्पन्न होते हैं। चूँकि राष्ट्रों का कानून, अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय कानून राष्ट्रों के समुदाय की इच्छा की अभिव्यक्ति करता है, इसलिए सम्प्रभु-राज्य को ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अधीन रहना चाहिए। ग्रोशियस ने अनुभव किया कि सम्प्रभु राष्ट्रों के मध्य छोटी-छोटी बातों में विवेकहीन तर्कों के आधार पर अमानवीय युद्ध तथा रक्तपात होते हैं। ऐसे अवसरों पर युद्धरत राष्ट्र दैवी तथा मानवीय कानून को भूल जाते हैं। प्राकृतिक कानून पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Jus Gentium) को मध्य युग में युद्धों के अवसर पर राष्ट्रों के मध्य सम्बन्धों का निर्धारण करने में प्रयुक्त किया जाता था। इटली के विचारक जैन्टली (Gentili) ने इस कानून को सैनिक कानून से पृथक् करने का प्रयास किया था। ग्रोशियस ने भी जैन्टली का अनुसरण किया और इसमें अनेक अन्य सिद्धान्तों को भी लागू किया। उसका 'युद्ध तथा शान्ति के कानून' (The Law of War and Peace) नामक ग्रन्थ लिखने का मुख्य उद्देश्य यही था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की धारणा के द्वारा राष्ट्रों के मध्य छिड़ने वाले युद्धों का नियमन करने वाले सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाए।

युद्ध तथा शान्ति के नियम—ग्रोशियस का तर्क है कि अपनी जान-माल (person and property) की रक्षा के लिए युद्ध करना या शस्त्र उठाना न्याय-संगत है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के अन्तर्गत यह उचित नहीं है कि यदि कोई राष्ट्र दूसरे की जान-माल के लिए घातक सिद्ध होने की दिशा में प्रवृत्त होने लगे तो उसके विरुद्ध शस्त्र उठाये जाएँ। यद्यपि जैन्टली ऐसी परिस्थिति में शस्त्र उठाना उचित मानता है, तथापि ग्रोशियस इसे असभ्य राष्ट्रों का नियम कहता है। इसी प्रकार अपने ऋण की वसूली के लिए किसी प्रजा के ऊपर आक्रमण करना प्राकृतिक नियमों के अन्तर्गत भले ही उचित ठहराया जाता हो, परन्तु ऐसा प्राकृतिक नियम विवेक पर आधारित न होकर परिपाटियों पर आधारित है। युद्ध में छीनी गई सम्पत्ति पर छीनने वाले का अधिकार प्राकृतिक कानून का नियम हो सकता है, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून का नहीं। दुश्मन को विष देकर मारना प्राकृतिक कानून द्वारा मान्य है, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा नहीं। प्राकृतिक कानून का उल्लंघन युद्ध का न्यायसंगत कारण है, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय परम्पराओं का उल्लंघन नहीं।[1]

दास-प्रथा—प्राकृतिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की धारणा को व्यक्त करते हुए ग्रोशियस दास-प्रथा के सम्बन्ध में भी अपने विचार रखता है। उसका तर्क है

[1] Dunning, *op. cit.*, 176–77.

कि प्रकृतित: कोई व्यक्ति दास नहीं है। परन्तु संविदा भंग करने वाले को दास बना लेने का औचित्य प्राकृतिक कानून के अन्तर्गत आता है। युद्ध में बन्दी बनाए गए व्यक्तियों को दासता के अन्तर्गत रखना अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार ठीक हो सकता है, परन्तु प्राकृतिक कानून के अनुसार नहीं। इस सम्बन्ध में भी ग्रौशियस कानूनी तथा नैतिक अधिकारों के मध्य भेद करता है। निरपराध व्यक्तियों को युद्ध में बन्दी बनाकर दासता की स्थिति में रखना नैतिक नियम नहीं कहा जा सकता। यह विजेताओं के बाह्य निर्णय पर आधारित है न कि समस्या की आन्तरिक प्रकृति पर। इस सम्बन्ध में ग्रौशियस की कानूनी तथा नैतिक अधिकारों के मध्य भेद करने की धारणा उसी प्रकार भ्रामक है जिस प्रकार उसकी प्राकृतिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के मध्य भेद करने की धारणा अस्पष्ट है।[1]

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में ग्रौशियस का स्थान

सामयिक विचारधारा—राजनीतिक विचारधाराओं के प्रतिपादन में ग्रौशियस को एक मौलिक विचारक नहीं माना जा सकता क्योंकि जिन धारणाओं को उसने व्यक्त किया है उनका मूल स्रोत उसके पूर्वगामी विचारक हैं। परन्तु जिस रूप में ग्रौशियस ने उन विचारों को प्रस्तुत किया है, वह उसकी प्रतिभा का एक उत्तम नमूना सिद्ध होता है। एक कानून-वेत्ता होने के नाते तथा अपने युग की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर जिन राजनीतिक विचारों का प्रतिपादन ग्रौशियस ने किया है, वे तत्कालीन समस्याओं के समाधान हेतु उपयुक्त थे और साथ ही उन विचारों ने आगामी शताब्दी की राजनीतिक विचारधारा को बहुत प्रभावित किया है।

भविष्य के विचारकों का प्रेरणा-स्रोत—ग्रौशियस का राजनीतिक दर्शन राज्य सम्बन्धी धारणाओं का क्रमबद्ध विवेचन नहीं है। उसने मैकियाविली तथा बोदां की भाँति राज्य तथा शासनों के संगठनों तथा नीतियों का विश्लेषणात्मक विवेचन करने में अभिरुचि नहीं दर्शायी है। प्रभुसत्ता की धारणा का विवेचन करने में भी वह बोदां की तुलना में नहीं ठहरता है। उसका प्रभुसत्ता सम्बन्धी सिद्धान्त और अधिक भ्रामक तथा अस्पष्ट है। तथापि राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उसकी संविदा सम्बन्धी धारणा उसके पश्चात् हॉब्स तथा लॉक के लिए प्रेरणा-स्रोत सिद्ध हुई। बोदां की भाँति ग्रौशियस ने भी राजनीतिक विचारधाराओं को धर्म से पृथक् करके धर्म-निरपेक्षता के आधार पर व्यक्त किया। तत्कालीन परिस्थितियों में ईसाई तथा गैर-ईसाई अथवा प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक के मध्य किसी एक का पक्ष लेकर राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना तत्कालीन राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समुचित समाधान सिद्ध नहीं हो सकता था। अतएव ग्रौशियस ने धर्म के स्थान पर कानून के आधार पर प्राकृतिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विवेचन करके राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के निमित्त जो विचार रखे हैं वे भविष्य के चिन्तकों के मार्गदर्शक सिद्ध हुए हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जन्मदाता—राजनीतिक चिन्तन को ग्रौशियस की सबसे महत्त्वपूर्ण देन उसका अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सिद्धान्त है। जिस प्रकार इंग्लैण्ड में कोक (Coke), ब्लैकस्टोन (Blackstone) तथा लिटिलटन (Littleton) ने

[1] *Ibid.*, 178-79.

सामान्य कानून (Common Law) की धारणा के विकास में, जोकि आज तक इंग्लैण्ड की शासन-व्यवस्था का मूलभूत तथ्य है, योगदान किया था, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून की धारणा के विकास में ग्रोशियस का भी योगदान है। मैक्सी ने उचित ही कहा है कि 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के वैधानिक व्यवहारों के सम्बन्ध में उसकी रचना 'The Law of War and Peace' सबसे पहली व्यापक तथा प्रामाणिक टीका है।' अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निर्धारण एवं कार्यान्वयन के निमित्त उसने जिन नियमों का प्रतिपादन किया है, उन्हें उसने अपने काल की निवर्तमान प्राकृतिक कानून की धारणाओं पर आधारित करके व्यक्त किया। बोदां की भाँति उसने भी कैथोलिक या प्रोटेस्टेंट धर्म का समर्थन नहीं किया क्योंकि ये धार्मिक मतभेद उस युग में समस्त यूरोप के राष्ट्रों के मध्य युद्धों तथा कटुतापूर्ण सम्बन्धों के द्योतक थे। विभिन्न राज्य, प्रादेशिक, व्यापारिक तथा वंशगत मामलों को लेकर भी परस्पर संघर्षरत हो रहे थे। ऐसी स्थिति में 'जबकि हिंसा तथा पृथक्तावादी प्रवृत्तियाँ समूचे अन्तर्राष्ट्रीय जगत में छाई हुई थीं, ग्रोशियस की रचनात्मक दृष्टि ने अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्र की रूपरेखा प्रस्तुत करने का आभास किया तथा अन्यों को भी इसका आभास कराया।'[1] इस प्रकार उसकी विचारधारा ने युद्ध-रत पक्षों को यह दिशा प्रदान की कि एक विश्वव्यापी विवेक तथा प्रकृति के अन्तर्गत सब मानवों तथा राष्ट्रों के समान अधिकार तथा कर्त्तव्य होते हैं।

निरंकुशतावाद तथा मर्यादित शासन दोनों का समर्थक—यद्यपि राज्य को प्रभुसत्ता सम्बन्धी धारणाओं की व्याख्या करने में ग्रोशियस ने अनेक अस्पष्टताएँ तथा असंगतियाँ की हैं तथापि उसने अपने इस सिद्धान्त द्वारा तत्कालीन समस्याओं के समाधान के निमित्त निरंकुशतावादी एवं लोकतन्त्रवादी दोनों पक्षों को सन्तुष्ट किया। डनिंग ने कहा है कि 'जहाँ एक ओर ग्रोशियस की रचना ने निरंकुश राजतन्त्रों के पक्ष की अभिवृद्धि की है, वहाँ मर्यादित शासन के समर्थकों के लिए भी वह पर्याप्त सहायक तथा सुविधाजनक सिद्ध हुई है।'[2] ग्रोशियस के युग में राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में धर्मसत्ता या लौकिक-सत्ता की श्रेष्ठता की धारणा लुप्त हो चुकी थी। अब राष्ट्रीय राज्यों के अन्तर्गत संघर्ष का रूप बदलने लगा था। चिन्तकों तथा राजनयिकों का एक वर्ग निरंकुश राजतन्त्रों का समर्थक था। ग्रोशियस के पूर्वानुवर्ती, बोदां, स्योरेज, बर्कले आदि इसी वर्ग के विचारक थे। इनके विपरीत दूसरा वर्ग राजतन्त्र विरोधी (anti-monarchists) भी था। इस वर्ग के विचारक राज्य के शासकों को निरंकुश सत्ता न देकर उनके ऊपर अनेक मर्यादाएँ आरोपित करना चाहते थे। राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में लोक-प्रभुसत्ता की धारणा का भी अभ्युदय हो चुका था। ग्रोशियस ने एक ओर तो बोदाँ की भाँति सम्प्रभुता को राज्य की सर्वोच्च सत्ता स्वीकार किया और सम्प्रभु के विरुद्ध जनता के प्रतिरोध के अधिकार को अमान्य किया। दूसरी ओर राजनीतिक समाज की उत्पत्ति के संविदा सिद्धान्त का प्रतिपादन करके उसने सम्प्रभु की सत्ता को संविदा के आधार पर मर्यादित भी माना। यद्यपि ग्रोशियस का संविदा सिद्धान्त उसके प्रभुसत्ता सम्बन्धी सिद्धान्त की

[1] 'Underneath this regime of violence and disruption the creative vision of Grotius beheld and made others behold the inchoate outlines of a system of international jurisprudence.'

[2] 'While on one side the work of Grotius promoted the cause of absolute monarchy, on the other side it was a source of much aid and comfort to the advocates of limited government.' —Dunning, *op. cit.*, 190.

भाँति ही अपूर्ण तथा अस्पष्ट है, तथापि वह यह मानता है कि राजनीतिक समाज के निर्माण के पूर्व प्रत्येक व्यक्ति को प्राकृतिक नियमों के आधार पर बुराई का प्रतिरोध करने का अधिकार था। परन्तु राजनीतिक समाज की स्थापना हो जाने पर जनता का ऐसा अधिकार सम्प्रभु की इच्छा के अधीन मर्यादित हो जाता है। जिस व्यक्ति या व्यक्ति-समूह में प्रभुसत्ता निहित होती है, उसके कार्य किसी दूसरे मानव के अधिकारों के अधीन नहीं हैं। यह धारणा स्पष्टतया निरंकुशतावाद की समर्थक है। परन्तु ग्रौशियस ने राजनीतिक समाज की संविदागत उत्पत्ति तथा प्राकृतिक अवस्था का जो विवरण प्रस्तुत किया है, उसके आधार पर सम्प्रभुता का निरूपण करने में वह राजतन्त्र-विरोधियों अर्थात् मर्यादित राजतन्त्र के समर्थकों से सहमति रखता प्रतीत होता है। उसका प्राकृतिक कानून का सिद्धान्त जो सम्प्रभु को मर्यादित करता है, स्पष्टतया मर्यादित शासन के सिद्धान्त से संगति रखता है। राष्ट्रों के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों के निर्धारण तथा नियमन के निमित्त उसकी अन्तर्राष्ट्रीय कानून की धारणा ऐसे प्राकृतिक कानून पर आधारित है जो विभिन्न सम्प्रभु राष्ट्रों की सहमति तथा संविदा से निर्मित है। यदि सहमति तथा संविदागत कानून स्वतन्त्र सम्प्रभु राष्ट्रों के मध्य सम्बन्ध निर्धारित करने वाला प्राकृतिक कानून है, तो इसी प्रकार यह तथ्य राज्य में व्यक्तियों के मध्य सम्बन्धों के निर्धारण करने में भी लागू होता है। अर्थात् राज्य में कानून की धारणा जनता (व्यक्तियों) की सहमति पर आधारित है और सम्प्रभु उससे बाध्य है, क्योंकि वह प्राकृतिक कानून है। इस दृष्टि से ग्रौशियस की धारणा मर्यादित शासन के समर्थकों के लिए सहायक सिद्ध होती है।

जिस युग में ग्रौशियस की रचना 'The Law of War and Peace' प्रकाशित हुई थी वह युग यूरोप में निरंकुश राजतन्त्रों के अभ्युदय का युग था। परन्तु कतिपय विचारकों तथा राजनेताओं का एक वर्ग निरंकुश राजतन्त्रों को मर्यादित करने के प्रयास में भी लगा हुआ था। अतः ग्रौशियस की रचना ने दोनों को प्रभावित किया। यूरोप के विभिन्न निरंकुश राजतन्त्रों के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों के नियमन के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून की धारणा को पर्याप्त विकास का अवसर मिला। ग्रौशियस की रचना ने इंग्लैण्ड की राजनीति तथा राजनीतिक विचारधाराओं को सबसे अधिक प्रभावित किया। जेम्स प्रथम ने राजा के दैवी अधिकार सिद्धान्त को अपनाकर निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन किया था। जिस वर्ष ग्रौशियस की रचना प्रकाशित हुई उसी वर्ष चार्ल्स प्रथम इंग्लैण्ड की राजगद्दी पर आरूढ़ हुआ था। इंग्लैण्ड का इतिहास इस बात का साक्षी है कि चार्ल्स प्रथम को फाँसी की सजा देने की घटना वास्तव में निरंकुशतन्त्र तथा मर्यादित शासन के समर्थकों के मध्य का ही संघर्ष था। इसमें ग्रौशियस की रचना का प्रभाव स्पष्ट है। कालान्तर में हॉब्स ने पुनः निरंकुश राजतन्त्र के समर्थन में अपनी विचारधाराओं को रखा और मर्यादित प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का विरोध किया। इसके पश्चात् जब इंग्लैण्ड में 1688 में पुनः रक्तहीन क्रान्ति हुई तो जॉन लॉक ने इस क्रान्ति के समर्थन में मर्यादित राजतन्त्र के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इन दोनों विचारकों पर ग्रौशियस की विचारधारा का प्रभाव था। अतएव ग्रौशियस की विचारधारा ने उसके पश्चात् की राजनीतिक विचारधाराओं को प्रभावित करने में बहुत योगदान किया है।

तेरहवाँ अध्याय

वैज्ञानिक भौतिकवाद

टॉमस हॉब्स (1588–1679)

17वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड की राजनीतिक स्थिति—16वीं शताब्दी तक का यूरोपीय राजनीतिक चिन्तन मुख्यतया धार्मिक संघर्षों, राज्यों के गृह-युद्धों, अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों तथा प्रभुत्व सम्पन्न राष्ट्रीय राज्यों के अभ्युदय की समस्याओं से प्रभावित रहा। इस अवधि में राजनीतिक चिन्तन के केन्द्र फ्रांस, जर्मनी, इटली हालैण्ड आदि देश थे। 17वीं शताब्दी में राजनीतिक चिन्तन का केन्द्र इंग्लैण्ड हो गया। यूरोप के अन्य देशों की भाँति 15वीं तथा 16वीं शताब्दी में ट्यूडर शासकों के अधीन इंग्लैण्ड में एक सुदृढ़ राजतन्त्र की स्थापना हो चुकी थी। इस वंश की अन्तिम शासक महारानी ऐलिजाबेथ के काल (1558–1603) में इंग्लैण्ड आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय दोनों क्षेत्रों से शक्तिशाली राज्य बन गया था। 1603 में ऐलिजाबेथ मृत्यु के पश्चात् इंग्लैण्ड में जेम्स प्रथम के सिंहासनारूढ़ होने पर स्टुअर्ट वंशीय राजाओं का शासन प्रारम्भ हुआ, जो कैथोलिक धर्म के मानने वाले थे। इंग्लैण्ड में प्रोटेस्टेंट धर्म का प्रभाव पर्याप्त सुदृढ़ हो चुका था। जेम्स प्रथम की राजनीतिक प्रतिभा में ऐलिजाबेथ की तुलना में बहुत हीन थी। उसने अपने निरंकुश शासन के समर्थन में राजा के दैवी अधिकार सिद्धान्त का जोरदार प्रचार किया। साथ ही उसने कैथोलिक प्रोटेस्टेंट संघर्ष की समस्या को और भी अधिक जटिल बना दिया था। उसके काल में इंग्लैण्ड को कई अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों का सामना करना पड़ा, जिनके कारण देश की आर्थिक स्थिति खराब हो गयी। 1625 में उसकी मृत्यु के पश्चात् जब उसका लड़का चार्ल्स प्रथम गद्दी पर बैठा तो उसे विरासत में काँटों का ताज मिला। वह स्वयं बड़ा हठी स्वभाव का व्यक्ति था। उसकी यह धारणा थी कि जो कुछ वह सोचता या करता है वही सही है और उसका विरोध करने वाले गलत हैं। उसमें राजनीतिक कौशल का भी अभाव था। अपने पिता की भाँति वह भी निरंकुश शासन करना चाहता था। उसने भी धार्मिक मतभेद की समस्या को और अधिक जटिल बना दिया था। इन सबका परिणाम यह हुआ कि आन्तरिक असन्तोष बढ़ता गया। देश में राजतन्त्र विरोधी भावनाएँ बढ़ने लगीं। राजनीतिक विचारधाराएँ भी राजतन्त्र को मर्यादित करने तथा संसद की शक्ति को मजबूत करने की दिशा में व्यक्त की जाने लगीं। दूसरी ओर प्यूरिटन दल चार्ल्स का घोर विरोधी हो गया। यह स्थिति 1640 तक पर्याप्त अधिक विकसित हो गयी थी और इंग्लैण्ड पूर्णतया गृहयुद्ध की स्थिति में पहुँच चुका था।

इंग्लैण्ड का गृहयुद्ध (1642–88)—1642 में प्यूरिटन क्रान्ति ने सक्रिय रूप धारण कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर राजा अपनी सर्वोच्च

सत्ता का दावा करने लगा तो दूसरी ओर उसका विरोधी पक्ष संसद की सर्वोच्च सत्ता बनाये रखने और राजा की सत्ता को मर्यादित करने की नीति पर चलने लगा। राजा चार्ल्स ने इसे बलात् दबाने की चेष्टा की, परन्तु जब दीर्घ संसद ने उसके दो प्रमुख सलाहकारों स्ट्रैफोर्ड तथा लॉड को बन्दी कर दिया था तो गृहयुद्ध आरम्भ हो गया। 1647 में चार्ल्स को भी बन्दी कर लिया गया और उसके ऊपर अभियोग चलाया गया। 1649 में न्यायालय ने उसे फाँसी की सजा दे दी। क्रान्ति का नेता क्रामवेल था। 1649 से इंग्लैण्ड में राजतन्त्र के स्थान पर गणतन्त्री शासन कायम हो गया जो 1660 तक बना रहा। क्रामवेल को गणतन्त्र (Commonwealth) का प्रधान संरक्षक बनाया गया। इस अवधि में इंग्लैण्ड के लिए एक गणतन्त्रात्मक लिखित संविधान निर्मित करने का असफल प्रयास भी किया गया। क्रान्तिकाल में 11 वर्ष तक क्रामवेल एक अधिनायक की भाँति का शासक बना रहा परन्तु 1660 में जब उसकी मृत्यु हो गयी तो पुनः राजतन्त्र की स्थापना हो गयी। भूतपूर्व राजा चार्ल्स प्रथम के पुत्र को जो उस समय फ्रांस में था, पुनः चार्ल्स द्वितीय के नाम से राजपद प्राप्त करने के लिए आमन्त्रित किया गया। 1660 की राजतन्त्र की पुनर्स्थापना (the restoration) की घटना के बावजूद वहाँ गृहयुद्ध तथा अराजकता का वातावरण समाप्त नहीं हुआ। यद्यपि अब राजा के अधिकार पर्याप्त मात्रा में मर्यादित हो गये थे और संसद की शक्ति पर्याप्त सुदृढ़ हो चुकी थी, तथापि समस्या अन्तिम रूप से हल नहीं हो सकी। चार्ल्स द्वितीय 1685 तक शासन करता रहा। उसके बाद उसका भाई जेम्स द्वितीय गद्दी पर बैठा। ये दोनों राजा राजतन्त्र की खोई प्रतिष्ठा तथा शक्ति को पुनः प्राप्त करने के लिए चिन्तित तथा सक्रिय बने रहे। वे अपने पिता की हत्या को नहीं भूले थे। साथ ही वे कैथोलिक धर्मावलम्बी भी थे। अतः प्यूरिटन क्रान्ति समाप्त नहीं हुई। जेम्स द्वितीय की लड़की मेरी (Mary) प्रोटेस्टेंट धर्मावलम्बी हो गयी थी। उसका विवाह प्रोटेस्टेंट धर्म को मानने वाले विलियम ऑव ऑरेंज (William of Orange) के साथ हुआ था। संसद ने चार्ल्स द्वितीय के मरने पर उसके पुत्र ड्यूक ऑव मनमथ को राजा नहीं बनाया था। जेम्स द्वितीय वृद्ध हो चुका था। उसका कोई लड़का नहीं था, परन्तु जब इसी बीच उसका एक लड़का पैदा हो गया तो अब उत्तराधिकार की समस्या आ खड़ी हुई। प्यूरिटन नेता किसी भी कैथोलिक धर्मावलम्बी को राजगद्दी देने के विरुद्ध थे। अतः 1688 में क्रान्तिकारियों ने विलियम तथा मेरी दम्पत्ति को संयुक्त रूप से इंग्लैण्ड की राजगद्दी धारण करने का आमन्त्रण दिया। जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया और जेम्स द्वितीय को राजपद त्याग करने के लिए विवश होना पड़ा। 1688 की यह क्रान्ति इंग्लैण्ड के इतिहास में रक्तहीन क्रान्ति के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि इस क्रान्ति में कोई भी हिंसात्मक घटना नहीं हुई और इसके फलस्वरूप इंग्लैण्ड में 47 वर्ष से चल रहा गृह-कलह समाप्त हो गया।

हॉब्स का जीवन परिचय—17वीं शताब्दी की इंग्लैण्ड की राजनीतिक विचारधाराओं का ज्ञान कराने के लिए इंग्लैण्ड की राजनीतिक स्थिति के उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि 17वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड के दो प्रमुख महान् विचारकों—हॉब्स (Thomus Hobbes) तथा लॉक (John Locke)—की राजनीतिक विचारधाराएँ मुख्यतः इन्हीं घटनाओं से प्रेरित तथा प्रभावित हैं। हॉब्स का जन्म 1588 में मैम्सबरी के एक पादरी (Vicar of Malmsbury) के घर में हुआ

था। 14 वर्ष की आयु में जब उसने मैट्रीक्यूलेशन परीक्षा भी उत्तीर्ण नहीं की थी, तभी एक लैटिन ग्रन्थ 'दी मीडिया ऑव यूरीपिड्स' का अंग्रेजी में अनुवाद करके उसने पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर ली थी। 20 वर्ष की अवस्था में उसने ऑक्सफोर्ड से स्नातक की उपाधि प्राप्त की। इसके पश्चात् वह एक समृद्ध कैवेन्डिस परिवार अर्ल ऑव डैवनशायर के यहाँ बच्चों का निजी शिक्षक नियुक्त हुआ। इस परिवार के साथ उसे अपने शिष्यों का साथ देने के लिए यूरोप के अनेक देशों का भ्रमण करने का अवसर मिला। वहाँ उसने फ्रांसीसी तथा इटैलियन भाषाएँ सीखीं। अनेक विद्वानों से उसका सम्पर्क हुआ। इसने उसके ज्ञान तथा दर्शन को विकसित करने में योगदान किया। 1631 में एक बार फिर उसे यूरोप की यात्रा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस अवधि में उसे सुप्रसिद्ध वैज्ञानिकों गैलीलियो (Galilio, died in 1643) तथा डेकार्टे (Descartes, died in 1650) की नयी खोजों का अध्ययन करने का अवसर मिला। इनका प्रभाव हॉब्स पर इतना अधिक पड़ा कि उसने इनके सिद्धान्तों को अपने दर्शन तथा चिन्तन का आधार बनाया। उसे विश्वास हो गया कि 'वास्तविक सत्य वही है जिसे विज्ञान तथा गणित के सिद्धान्तों की भाँति सत्य सिद्ध किया जा सकता है। इसी से समस्त दर्शन तथा चिन्तन की सत्यता सिद्ध होती है। विश्व एक पदार्थ जगत है जिसमें समस्त क्रियाएँ भौतिक पदार्थों की गतिशीलता के सिद्धान्तों पर संचालित होती हैं और उन्हें विज्ञान तथा गणित के नियमों द्वारा सिद्ध किया जा सकता है।' 1637 में जब हॉब्स इंग्लैण्ड वापस आया तो उसने अनुभव किया कि देश गृहयुद्ध की तैयारी में है। राजनीतिक वातावरण भीषण रूप से विकृत हो चुका था। स्वयं हॉब्स ने राजतन्त्र का पक्ष लेकर कुछ परिपत्र (pamphlets) भी निकाले। परन्तु 1640 में जब संसद ने राजा तथा उसके सलाहकारों के विरुद्ध खुला विद्रोह तथा युद्ध प्रारम्भ कर दिया तो इंग्लैण्ड के अनेक राजतन्त्र समर्थकों को इंग्लैण्ड से भागना पड़ा। स्वयं हॉब्स को भी राजतन्त्र समर्थक होने के कारण अपने प्राणों का भय हो गया। वह भी भागकर फ्रांस चला गया।

इस अवधि में हॉब्स को इंग्लैण्ड के राजा चार्ल्स प्रथम के पुत्र को, जो इस समय फ्रांस में था और 1660 में चार्ल्स द्वितीय के नाम से इंग्लैण्ड का राजा हुआ, गणित की शिक्षा देने का अवसर मिला। इस बीच हॉब्स ने भौतिकी (Physics), मानव-जीवशास्त्र (Anthropology) तथा राजनीति व समाजशास्त्र पर तीन पृथक् ग्रन्थ लिखने का भी विचार किया। परन्तु जीवन की अस्थिरता के कारण उसकी यह योजना पूर्ण नहीं हुई। इंग्लैण्ड की तत्कालीन परिस्थिति से प्रभावित होकर उसने 1642 में राजनीति पर अपनी प्रसिद्ध रचना *De Cive* प्रकाशित की। इस ग्रन्थ की लोकप्रियता ने हॉब्स को बहुत प्रोत्साहित किया और उसका विचार अपनी योजना की शेष दो पुस्तकें लिखने का होने लगा। परन्तु इस बीच इंग्लैण्ड के गृहयुद्ध के वातावरण से प्रभावित जो शरणार्थी भागकर फ्रांस आ रहे थे उनसे उसे इंग्लैण्ड की अराजक स्थिति के जो समाचार मिलते रहे उनका प्रभाव हॉब्स पर इतना अधिक पड़ता गया कि उसने अपनी योजना बदल दी। 1649 में जब चार्ल्स प्रथम को फाँसी पर लटका दिया गया तो हॉब्स इस घटना से और अधिक प्रभावित हुआ। इन्हीं सब घटना-चक्रों से प्रभावित होकर 1651 में उसने अपने महानतम ग्रन्थ *The Leviathan* को प्रकाशित किया। इस ग्रन्थ का द्रुतगति से प्रसार हुआ। परन्तु लैवाइथन के विचार धर्म-निरपेक्ष तथा कैथोलिक धर्म के विरुद्ध थे। परिणाम-

स्वरूप फ्रांस के कैथोलिक शासकों को यह प्रिय नहीं लगा। कैथोलिक जनता में इसकी प्रतिक्रिया इस रूप में हुई कि एक बार फिर हॉब्स को फ्रांस में भी अपने प्राणों को संकट में देखने का आभास हुआ। हॉब्स स्वभावतः डरपोक प्रकृति का व्यक्ति था। अतः शीघ्र ही उसने फ्रांस से भागकर इंग्लैण्ड में तत्कालीन शासक क्रामवेल तथा संसदीय दल के समक्ष आत्म-समर्पण किया। इसके उपरान्त हॉब्स ने 1655 में *De Corpore* तथा 1658 में *De Homine* की रचना की। परन्तु अपनी रचनाओं में धर्म-निरपेक्षता तथा भौतिकवादिता की धारणा अपनाने के कारण हॉब्स को धर्मपन्थियों तथा आध्यात्मिकतावादियों के विरुद्ध संकट का सामना करने का भय बना रहा। 1660 में जब उसका शिष्य चार्ल्स द्वितीय इंग्लैण्ड का राजा बन गया तो हॉब्स का संकट कम हो गया। चार्ल्स ने हॉब्स के साथ गुरुवत् व्यवहार करके उसे पेंशन दे दी। 1679 में 92 वर्ष की अवस्था में हॉब्स की मृत्यु हुई। किन्तु वह मृत्यु-पर्यन्त शारीरिक तथा मानसिक दोनों दृष्टियों से स्वस्थ रहा। जीवन के अन्तिम वर्षों तक उसने अनेक छोटी-छोटी रचनाएँ कीं, अनेक पत्र प्रकाशित किये तथा अनेक ग्रंथों का अनुवाद भी किया।

हॉब्स का राजनीतिक दर्शन तथा विचार-पद्धति

प्रेरणा-स्रोत—अपने पूर्ववर्ती अनेक राजनीतिक चिन्तकों की भाँति हॉब्स न तो एक कानूनवेत्ता था और न एक व्यावहारिक राजनयिक। वह मूलरूप से एक दार्शनिक था। उसके राजनीतिक दर्शन पर मुख्य रूप से तीन प्रभाव पाये जाते हैं—पहला, उसके युग की वैज्ञानिक क्रान्ति; दूसरा, इंग्लैण्ड का तत्कालीन राजनीतिक वातावरण; और तीसरा, उसका व्यक्तिगत स्वभाव तथा परिस्थितियाँ। सत्रहवीं शताब्दी में भौतिकशास्त्र तथा गणित के क्षेत्र में गैलीलियो, न्यूटन, डेकार्ट, गैसैन्डी, यूक्लिड आदि की नयी खोजों ने ज्ञान तथा दर्शन के अध्ययन हेतु वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने की प्रवृत्ति उत्पन्न कर दी थी। इन विद्वानों की खोजों ने हॉब्स को बहुत प्रभावित किया। वह स्वयं गणित तथा रेखागणित के विषयों से विशेष अभिरुचि रखता था। उसने यह अनुभव किया कि अतीतकाल के सामाजिक जीवन में मानव की विपत्तियों का मुख्य कारण यह था कि राजनीतिक समाजों के निर्माण का आधार अवैज्ञानिक ढंग से खोजा जाता रहा था। उसे यह विश्वास हो गया कि गणित के नियमों को अन्य शास्त्रों की समस्याओं के हल करने में भी लागू किया जा सकता है। भौतिक विज्ञान से प्रभावित हॉब्स ने यह धारणा बनायी कि समूचा विश्व पदार्थ जगत है, और उसकी क्रिया यान्त्रिक है। मानव, समाज तथा विश्व सबकी प्रकृति यान्त्रिक है और इनके समस्त आचरण गतिशीलता के नियमों (law of motions) के आधार पर समझे जा सकते हैं। अतः राजनीतिक दर्शन का प्रतिपादन करने में वैज्ञानिक विधि अपनायी जानी चाहिए। इसी के आधार पर सत्य का ज्ञान हो सकता है।

हॉब्स के जीवनकाल में इंग्लैण्ड गृहयुद्ध के वातावरण में उलझा हुआ था, जिसके कारण वहाँ भीषण अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। स्वयं राजा तक को फाँसी पर लटका दिया गया था। देश की आर्थिक स्थिति भी बहुत खराब थी। हॉब्स स्वयं भी इस अराजक स्थिति के कारण अनेक संकटों को झेलने के लिए विवश हो चुका था। इंग्लैण्ड के ऐसे राजनीतिक वातावरण का प्रभाव हॉब्स की

राजनीतिक विचारधाराओं पर बहुत अधिक पड़ा। हॉब्स ने इसी विकट परिस्थिति के समाधान हेतु अपने ग्रंथों में निरंकुश राजतन्त्रात्मक व्यवस्था का समर्थन किया।

हॉब्स स्वभावत: अत्यन्त डरपोक प्रकृति का व्यक्ति था। अपने राजनीतिक विचारों को व्यक्त करने के कारण दो बार उसे अपने प्राणों को संकटमय स्थिति में देखकर एक देश से दूसरे देश में भागने के लिए विवश होना पड़ा था। उसका सम्बन्ध इंग्लैण्ड के कुलीन परिवार से बना रहा। फ्रांस में उसे राजकुमार चार्ल्स को शिक्षित करने का अवसर भी मिला था। इन परिस्थितियों में रहने के कारण यह निष्कर्ष भी निकाला जाता है कि हॉब्स को लोकतन्त्र के प्रति सहानुभूति नहीं थी।

दार्शनिक तथा निगमनात्मक पद्धति—राजनीतिक दर्शन का निर्माण करने में हॉब्स ने अपने पूर्ववर्ती विचारकों की भाँति न तो ऐतिहासिक पद्धति को अपनाया, न आगमनात्मक अथवा प्रयोगात्मक विधि को। उसकी धारणा यह थी कि किसी शास्त्र का निर्माण करने में इतिहास के तथ्यों की अपेक्षा विवेक दार्शनिक के लिए उत्तमतर मार्ग-दर्शक का कार्य करता है। इतिहास की घटनाएँ या धर्मशास्त्रों के नियम वैज्ञानिक सत्य का प्रतिपादन नहीं कर सकते। यद्यपि हॉब्स प्राकृतिक कानून के अस्तित्व पर भी विश्वास करता है, परन्तु राजनीतिक समाज का विवेचन करने में वह प्राकृतिक कानून पर विश्वास रखने वाले अपने पूर्ववर्ती विचारकों से भिन्न दृष्टिकोण रखता है। वह राज्य सम्बन्धी धारणाओं को कानून के आधार पर नहीं समझाता, जैसा कि रोमन विचारक सिसरो ने किया था। वह प्लेटो तथा अरस्तू की भाँति राज्य को नैसर्गिक संस्था भी नहीं मानता और न ही वह ईसाई धर्म संस्थापकों की भाँति राज्य को मनुष्य के पापों का फल मानता है। संक्षेप में, राजनीतिक समाज तथा राजनीतिक समस्याओं के समाधान हेतु हॉब्स पूर्णतया दार्शनिक पद्धति अपनाता है। उसकी विचार-पद्धति वैज्ञानिक और निगमनात्मक (deductive) है, जिसका सिद्धान्त 'सामान्य से विशेष की ओर चलने' का है। इस प्रकार हॉब्स ने राजनीतिक चिन्तन को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया। एक जर्मन लेखक लूई स्ट्रॉस के अनुसार हॉब्स के राजनीतिक दर्शन में निम्नांकित विशेषताएँ पायी जाती हैं :[1]

(1) राजतन्त्र को राज्य का सर्वाधिक प्राकृतिक रूप न मानकर राज्य को सर्वाधिक पूर्ण कृत्रिम रूप का मानना; (2) प्राकृतिक दायित्व को राज्य, कानून, तथा नैतिकता का आधार न मानकर प्राकृतिक अधिकार के द्वारा इनकी उत्पत्ति को मानना; (3) दैवी इच्छा या दैवी विवेक को राज्य की सर्वोच्च सत्ता न मानकर मानवीय सत्ता को राज्य की सर्वोच्च सत्ता मानना; (4) अतीत या वर्तमान की राज्य व्यवस्थाओं के अध्ययन पर केन्द्रित न होकर भविष्य में राज्य के निर्माण की योजना प्रस्तुत करना; तथा (5) सम्मान के सिद्धान्त के स्थान पर हिंसक मृत्यु के भय के सिद्धान्त का निरूपण करना।

विविध प्रभावों से निर्मित दर्शन—राजनीतिक विचारधाराओं के अन्तर्गत बहुधा हॉब्स को निरंकुशतावाद के समर्थकों की श्रेणी में रखा जाता है। परन्तु जैसा सैबाइन ने कहा है, 'निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन हॉब्स के प्रभावकारी राजनीतिक दर्शन का केवल ऊपरी अंश है, और यद्यपि हॉब्स के चिन्तन तथा विचारों को गृह-युद्धों से प्रेरणा मिली थी, तथापि वे भी उसकी विचारधारा के महत्त्व से बहुत कम

[1] Leo Strauss, *The Political Philosophy of Hobbes*, Tr. by E. M. Sinclair, 1936, Oxford, 129.

मात्रा में ही सम्बन्ध रखते हैं ।'[1] हॉब्स को मात्र एक निरंकुश राजतन्त्रवादी कहना उचित नहीं है । निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन तो उससे पूर्व मैकियाविली, बोदां, फिल्मर आदि ने भी किया था । शाही राजतन्त्रवादी (royalists) भी राजा के दैवी अधिकार सिद्धान्त के आधार पर निरंकुशतावाद का समर्थन करते थे । कभी-कभी यह भी माना जाता रहा है कि हॉब्स ने चार्ल्स प्रथम के बाद इंग्लैण्ड के शासक क्रामवेल को प्रसन्न करने के उद्देश्य से निरंकुशतावाद का समर्थन किया । परन्तु वास्तविकता यह है कि उसके विचारों में उपर्युक्त प्रभाव गौण ही हैं । वस्तुतः हॉब्स का राजनीतिक चिन्तन पूर्णतया वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित है । उसने मानव तथा समाज की प्रकृति और आचरणों का वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण किया है और राजनीतिक समाज की उत्पत्ति, स्वरूप तथा उद्देश्यों को क्रमबद्ध ढंग से व्यक्त करके राजनीतिक चिन्तन को पूर्णतया वैज्ञानिक एवं दार्शनिक स्वरूप प्रदान किया है । हॉब्स एक भौतिकवादी विचारक था । उसका भौतिकवादी दर्शन गणित तथा भौतिकशास्त्र के नियमों पर आधारित है । राजनीतिक समस्याओं का विवेचन करने में उसने भौतिकवाद तथा विज्ञान की पद्धतियों का अनुसरण करके अपनी विचार-पद्धति को 'वैज्ञानिक भौतिकवाद' का रूप प्रदान किया है । दैवी अधिकार सिद्धान्त के आधार पर उसने उपयोगिता के सिद्धान्त को अपनाकर राजतन्त्र के औचित्य को प्रकट किया है ।

विचार-पद्धति—एक वैज्ञानिक राजनीतिक चिन्तक के रूप में हॉब्स इन प्रश्नों को लेकर चलता है कि मानव क्या है ? राज्य क्या है ? और मानव को राज्य की आज्ञा का पालन क्योंकर करना चाहिए ? राजनीतिक चिन्तकों के समक्ष ये प्रश्न मूलभूत चीजें हैं । यदि कोई चिन्तक एक तार्किक क्रम से इनका समाधान एक क्रमबद्ध दर्शन के द्वारा प्रस्तुत कर दे, तो उसे एक मौलिक तथा वैज्ञानिक चिन्तक की श्रेणी प्राप्त हो सकती है । हॉब्स अपने विचारों के बारे में ऐसा चिन्तक होने का दावा करता है । वह अरस्तू को एक वैज्ञानिक चिन्तक नहीं मानता । साथ ही वह विवेक तथा इच्छा (reason and will) का आश्रय लेकर प्लेटो की चिन्तन पद्धति को भी नहीं अपनाता और न ही हीगल की भाँति विवेकपूर्ण इच्छा (rational will) के तर्क को अपनाता है, प्रत्युत् वह इच्छा तथा यत्न (will and artifice) को अपने दर्शन का आधार बनाकर चला है । परन्तु प्लेटो तथा हीगल की भाँति वह भी एक मौलिक चिन्तक सिद्ध हुआ है । वह मध्य युग के विद्वतावाद (Scholasticism) की पद्धति को मूर्खतापूर्ण मानता है । इस प्रकार 17वीं शताब्दी के इंग्लैण्ड के चिन्तकों के मध्य उसने अपनी एक विशिष्ट पद्धति तथा शैली अपनायी है जो उसकी मौलिकता है । अपने विचारों के विकास में न तो वह किन्हीं पूर्ववर्ती चिन्तकों के विचारों का उल्लेख करते हुए अपने विचारों की पुष्टि करता है और न ऐतिहासिक प्रमाणों का ही उल्लेख करता है । डनिंग के शब्दों में, 'वह मानवों के अनुभवों द्वारा उपलब्ध ठोस तथ्यों से शायद ही कुछ सहायता लेता है और अन्य दार्शनिकों के निष्कर्षों से तो बिल्कुल भी नहीं लेता ।' उसने स्वयं अपने वैज्ञानिक ज्ञान, शैली तथा पद्धति को अपने निष्कर्षों का आधार बनाया और उनके अनुसार ही अपने विचारों का विकास किया ।

[1] 'The defence of monarchial absolutism formed, therefore, a very superficial part of his effective political philosophy, and though the civil wars occasioned his thinking and writing, they account only in a small degree for the importance of what he had to say.'—Sabine, *op. cit.*, 388.

परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि हॉब्स ने अपने पूर्ववर्ती चिन्तकों की पूर्णतः उपेक्षा की है। किसी भी राजनीतिक चिन्तक के विचारों में अपने युग की राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव होने के साथ-साथ उस काल की या उससे पूर्व की चिन्तन पद्धतियों तथा प्रवृत्तियों का भी प्रभाव पड़ता ही है। हॉब्स इसमें अपवाद नहीं है। हॉब्स के युग में राज्य की उत्पत्ति के संविदावादी सिद्धान्त को मान्य किये जाने की प्रवृत्ति पनप रही थी। उससे पूर्व हूकर ने इसे अपनाया था। हॉब्स ने इसकी सर्वाधिक मात्रा में तर्कसंगत ढंग से व्याख्या की। मानव प्रकृति का अध्ययन करने में उसने मैकियाविली के निष्कर्षों को वैज्ञानिक ढंग से पुष्ट किया और राज्य की उत्पत्ति के संविदावादी सिद्धान्त को अपनाने के निमित्त इसका उपयोग किया। हॉब्स के पूर्व प्राकृतिक कानून की धारणा भी बहुत पहले से विभिन्न प्रकार से मान्य की जाती रही थी। ग्रोशियस ने इसे अपने राजनीतिक विचारों का केन्द्र बनाया था। हॉब्स को उससे भी बहुत प्रेरणा मिली और उसने इसे अपने तर्कों के आधार पर अपने ही ढंग से स्पष्ट किया। सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन हॉब्स से पूर्व बोदां ने किया था। हॉब्स ने उसे अपनाया और उसमें से बोदां की कमियों तथा असंगतियों को दूर किया।

इस प्रकार हॉब्स का राजनीतिक दर्शन अनेक प्रभावों से पूर्ण है। उसे केवल निरंकुश राजतन्त्रवाद या तत्कालीन इंग्लैण्ड के गृहयुद्ध का परिणाम नहीं माना जाना चाहिए। उसके विचार अपने युग तक ही सीमित नहीं थे, बल्कि उसे उसने सार्वभौम आधार भी प्रदान किया है।

वैज्ञानिक भौतिकतावाद—हॉब्स यह मानकर चलता है कि भौतिक जगत विशुद्ध रूप से एक यान्त्रिक पद्धति है। इसमें घटने वाली समस्त क्रियाएँ एक-दूसरे से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों की गतिशीलता के फलस्वरूप सम्पादित होती हैं। समस्त विश्व एक यान्त्रिक पदार्थ है। इस पदार्थ जगत में पदार्थ के विविध रूपों के मध्य भेद करने की कसौटी उनमें अन्तर्भूत गतियों के मध्य भेद का होना है। इसका आशय यह है कि यदि समस्त पदार्थ गतिहीन रहें, अथवा सबमें गति की मात्रा तथा दिशा एक-समान हो तो उनके मध्य भेद करने की कोई विशिष्ट पद्धति नहीं हो सकती। अतः गति-वैषम्य के द्वारा ही पदार्थों के मध्य भेद किया जा सकता है। हॉब्स का कथन है कि पदार्थ जगत में मनुष्य भी एक यन्त्र की तरह है। उसके समस्त आचरण तथा व्यवहार उसके शरीर-यन्त्र के विभिन्न अंगों की गतिशीलता के प्रतिफल हैं। मनुष्य अन्य जीवों की अपेक्षा अत्यन्त जटिल प्रकार का यन्त्र है। उसमें भावना, संवेग, विचार, स्मरण आदि की शक्तियाँ हैं, जो अन्य जीवधारियों में नहीं होतीं, अथवा नाममात्र की होती हैं। परन्तु मनुष्य में इन शक्तियों के होने का कारण भी गति-शीलता ही है। 'मनुष्य का समस्त ज्ञान इन्द्रियजन्य है और प्रत्येक विचार किसी बाह्य वस्तु की गति द्वारा मनुष्य की किसी ज्ञानेन्द्रिय पर उत्पन्न किये जाने वाले प्रभाव का परिणाम है।'[1] उसकी मानसिक तथा नैतिक धारणाओं का स्रोत भी पदार्थ तथा उनकी गतियाँ हैं। हॉब्स का तर्क है कि मनुष्य के आचरण का निर्धारण इन्द्रियजन्य ज्ञान के प्रति उसकी प्रतिक्रिया के द्वारा किया जा सकता है, जो कि गति का

[1] 'All human knowledge is reached through the sense, and every idea is the result of an effect produced upon an organ of sense by the motion of an external object.' —Dunning, *op. cit.*, 266.

ही एक रूप है। मनुष्य की चेतनात्मक इन्द्रियों पर बाह्य वस्तुओं की गति का प्रभाव वांछनीय या अवांछनीय प्रकृति का हो सकता है। जो बाह्य पदार्थ मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों को अपनी गति द्वारा आकर्षित करें वे उसे रुचिकर या अच्छे लगते हैं और जो उसकी चेतना से दूर हटने की ओर प्रवृत्त रहें वे उसे अरुचिकर अथवा बुरे लगते हैं। इस प्रकार मानव प्रकृति में इच्छा (desire) तथा विरक्ति (aversion) की उत्पत्ति बाह्य पदार्थों द्वारा उत्पन्न गति के प्रति मानव चेतना की प्रतिक्रिया से होती है। इन्हीं के आधार पर मानव के समस्त सामाजिक व्यहारों को समझा जा सकता है। सामाजिक जीवन में शासन भी सामाजिक व्यवहार ही है। उसका स्वरूप भी मानवों के मध्य एक-दूसरे के साथ सम्बन्धों के प्रसंग में गति के नियमों के द्वारा समझा जा सकता है। अर्थात्, समाज में एक व्यक्ति का कोई आचरण दूसरे व्यक्ति की चेतना में अपनी गति के द्वारा जैसी प्रतिक्रिया उत्पन्न करेगा, उसी के आधार पर मानव-मानव के मध्य सम्बन्धों का ज्ञान किया जा सकेगा।

भौतिक मनोविज्ञान द्वारा मानव आचरण का अध्ययन—हॉब्स ने उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर अपने ग्रंथ 'लैवाइथन' का निर्माण किया है। वह रेखागणित, व्यवहार-मनोविज्ञान, तथा गति के नियमों का अनुगमन करके अपने राजनीतिक दर्शन का निर्माण करता है। सैबाइन के अनुसार, 'हॉब्स का दर्शन मनोविज्ञान तथा राजनीति को स्पष्टतया भौतिक विज्ञानों में विलीन कर देने की योजना के रूप में था।'[1] वह राजनीति के अध्ययन में रेखागणित के सिद्धान्तों को लागू करते हुए सर्वप्रथम मानव-स्वभाव का मनोवैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करता है जिसमें वह भौतिक मनोविज्ञान (physiological psychology) का अनुसरण करता है। इसके आधार पर मानव-मानव के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों का निरूपण करते हुए वह यह दर्शाने का प्रयास करता है कि राजनीतिक समाज की स्थापना के पूर्व जीवन की कठिनाइयाँ क्या होती हैं। इसके पश्चात् वह इन कठिनाइयों के निवारण के लिए राजनीतिक समाज के निर्माण तथा राजसत्ता के स्वरूप का चित्र प्रस्तुत करता है। यह पद्धति पूर्णतया वैज्ञानिक तथा निगमनात्मक है। चूँकि हॉब्स समाज के निर्माण तथा मनुष्य के आचरण को प्रभावित करने वाले तत्त्वों के अन्तर्गत केवल भौतिक तत्त्वों के अस्तित्व को स्वीकार करता है और किसी भी रूप में किसी मानवेतर, आध्यात्मिक या दैवी सत्ता के अस्तित्व को नहीं मानता, इसलिए हॉब्स का राजनीतिक दर्शन 'वैज्ञानिक भौतिकवाद' के नाम से विख्यात है। यह सही है कि हॉब्स ने राजनीतिक समाज की सुव्यवस्था के लिए निरंकुश शासन का समर्थन किया है इसलिए उसे राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में निरंकुशतावादी भी कहा जाता है। साथ ही उसने राजनीतिक समाज की उत्पत्ति के संविदा सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था इसलिए उसे राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में सामाजिक संविदावादी विचारक भी माना जाता है।

मानव प्रकृति

हॉब्स के राजनीतिक दर्शन का केन्द्र मनुष्य है। उसके विचार से राज्य (Commonwealth), जिसे वह दीर्घकाय (Leviathan) की संज्ञा देता है, केवल

[1] 'Hobbes' philosophy, then, was a plan for assimilating psychology and politics to the exact physical sciences.'

एक कृत्रिम मानव है, जिसका उद्देश्य प्राकृतिक मानव की सुरक्षा करना है। हॉब्स अपने राजनीतिक विचारों का विकास करने में पहले मानव प्रकृति का मनोवैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण करता है और उसके आधार पर राज्य की उत्पत्ति तथा राजसत्ता के स्वरूप को व्यक्त करता है। हॉब्स का मनोविज्ञान यान्त्रिक अथच शरीर-मनोविज्ञान (physiological psychology) है। उसके विचार से भौतिक जगत की भाँति मनुष्य भी यन्त्रवत् है। वह अन्य जीवधारियों से श्रेष्ठतर अथच जटिलतर यन्त्र है क्योंकि उनमें बोलने तथा विचार करने की शक्ति है, जो अन्य जीवों मे नहीं होती। हॉब्स यह मानकर चलता है कि मानव मन में पदार्थों की गति से संवेदना (sensations) की सृष्टि होती है। इन्हीं संवेदनों से मानव के मन की क्रिया चलती है। प्रत्यक्षण (perception), स्मरण शक्ति, कल्पना शक्ति, दूरदर्शिता, विवेक आदि संवेदनों के मिश्रित परिणाम होते हैं। संवेग (emotions), भावावेश (passions) तथा इच्छाएँ (desires) मस्तिष्क की अन्य महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ है जिन्हें हॉब्स सक्रिय शक्तियाँ (active forces) कहता है। हॉब्स यह मानता है कि मानव में संवेगों तथा भावावेशों का अस्तित्व नैसर्गिक तथा जन्मजात होता है और विवेक कृत्रिम है। बाह्य पदार्थों की गति से मानव मे जो संवेदन उत्पन्न होते हैं, वे उसके मस्तिष्क में नहीं बल्कि हृदय में स्थित शक्ति (vitality) को या तो सहायता देते हैं या उसे अवरुद्ध करते हैं। इस प्रक्रिया में यदि vitality की अभिवृद्धि अथवा अवरोध का अवसर आता है तो तदनुसार दो प्रकार के संवेग उत्पन्न होते हैं, जिन्हें हॉब्स इच्छा (desire) तथा विरक्ति (aversion) की संज्ञा देता है। इन्हें वह आरम्भिक संवेग कहता है। अन्य जटिल संवेग इन्हीं के द्वारा उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार विभिन्न प्रकार के संवेगों के युगलों का मूल इच्छा तथा विरक्ति है, यथा सुख-दुःख, उत्साह-भय, आशा-निराशा, प्रेम-घृणा, दया-क्रोध इत्यादि। बाह्य पदार्थों की गति से मानव मन में ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा संवेदन उत्पन्न होते रहते हैं, तो जो संवेदन हृदय की vitality की अभिवृद्धि करते हैं अर्थात् जो उसे अच्छे लगते हैं, उन्हें इच्छा कहा जाता है। इसके कारण मानव मन में जो गति होती है उसे आनन्द (pleasure) कहा जाता है। इसके विपरीत जो संवेदन vitality को अवरुद्ध करें, वे मन को बुरे लगते हैं और उन्हें बुराई कहा जाता है। उनसे मानव मन में दुःख (pain) की उत्पत्ति होती है। संवेगों के अन्य सभी युगलों के सम्बन्ध में यही सिद्धान्त लागू होता है। हॉब्स का निष्कर्ष यह है कि इन समस्त संवेगात्मक व्यापारों का सम्बन्ध मनुष्य की आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति के साथ होता है। अच्छाई वह है जो मनुष्य के आत्म-रक्षा के उद्देश्य से संगति रखती है। यदि संवेग का परिणाम इस उद्देश्य के विरुद्ध है तो उसे बुराई कहा जाता है।

इस प्रकार हॉब्स का व्यवहारवादी मनोविज्ञान 19वीं सदी के सुखवादी मनोविज्ञान से भिन्न है। 19वीं सदी के बेंथमवादियों के अनुसार मनुष्य सुख की प्राप्ति तथा दुःख से निवृत्ति चाहता है। अतः किसी वस्तु या कार्य की उपयोगिता, जिनमें राज्य भी शामिल है, उनसे प्राप्त होने वाले सुख या दुःख की मात्रा से आँकी जा सकती है। बेंथमवादी तो यहाँ तक मानते हैं कि सुख तथा दुःख की नाप भी की जा सकती है। परन्तु हॉब्स का उद्देश्य इस प्रकार का विवेचन प्रस्तुत करना नहीं था। अपने मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर हॉब्स ने मनुष्य की स्वार्थमयी प्रकृति को वैज्ञानिक ढंग से समझाने का प्रयास किया और यह दर्शाने की चेष्टा की

कि गतियों तथा उनसे उत्पन्न होने वाले संवेगों में कार्य-कारण सम्बन्ध है, तथा यह भी कि विभिन्न संवेगजन्य परिस्थितियों के अन्तर्गत मानव व्यवहार की क्या प्रतिक्रिया होती है। यों तो मैकियाविली ने भी मानव को स्वार्थी कहा था। परन्तु उसमें यही कमी रही कि वह यह नहीं बता पाया कि मानव स्वार्थी क्यों होता है। हॉब्स ने इस बात को अपने मनोवैज्ञानिक तर्कों द्वारा बताने का प्रयास किया। उसके अनुसार, 'मानव प्रकृति की मूलभूत आवश्यकता आत्म-रक्षा (self-preservation) है जिसे शक्ति की कामना से पृथक् नहीं किया जा सकता। यह कामना भविष्य में भलाई के साधन प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहती है, क्योंकि प्रत्येक सुरक्षा की मात्रा और अधिक सुरक्षा चाहती है।'[1] हाब्स ने कहा है कि 'स्मरण शक्ति में मूलभूत संवेदनाएँ भय तथा शक्ति की कामना की होती हैं। मानव मात्र में शक्ति प्राप्त करने की अविच्छिन्न कामना रहती है जो कि मृत्यु के समय ही समाप्त होती है।'[2] हॉब्स ऐसी शक्ति को 'Felicity' कहता है जिसका अर्थ है 'उस उद्देश्य की प्राप्ति जो मानव की इच्छा से निदेशित है,' और शक्ति उसका साधन है।

मानव प्रकृति की अन्य विशेषताओं के अन्तर्गत हॉब्स यह मानता है कि मनुष्य एक कार्यरत प्राणी है। उसके कार्यों की कभी समाप्ति नहीं होती। एक कार्य की समाप्ति दूसरे का आरम्भ है। यह प्रक्रिया मनुष्य के जीवन-संघर्ष की द्योतक है। हॉब्स के विचार से यद्यपि मानव-मानव में शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों से भिन्नता होती है, तथापि प्रकृतितः सब समान हैं। यहाँ तक कि शारीरिक दृष्टि से निर्बल व्यक्ति सबल व्यक्ति को छिपकर या षड्यन्त्र द्वारा मार देता है। अपने उद्देश्य की पूर्ति की आशा भी सब मानवों में समान होती है। जब वे उसका समान लाभ प्राप्त नहीं कर पाते तो वे एक-दूसरे के शत्रु हो जाते हैं। हॉब्स के मत से मनुष्य को अपना साथी बनाने में भी कोई सुख नहीं होता प्रत्युत् दुःख ही होता है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति यह चाहता है कि जैसा वह अपने को समझता है, वैसा ही उसके साथी उसे समझें। संक्षेप में हॉब्स का मनोविज्ञान मनुष्य को पूर्णतया स्वर्थी सिद्ध करता है। उसका निष्कर्ष यह है कि मनुष्य निरन्तर उन्हीं वस्तुओं की चाह करता है जो उत्तम हैं अर्थात् जो उसकी vitality की अभिव्यक्ति करती हैं। इनका सम्बन्ध उसकी आत्म-रक्षा के साथ होता है। इसलिए आत्म-रक्षा (self-preservation) तथा उत्तमता (vitality) की प्राप्ति मानव-जीवन का एकमात्र उद्देश्य है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के निमित्त मनुष्य एकाकी (solitary) रहता है। उसकी दुनिया अन्यों की दुनिया से पृथक् है।

मानव-मानव के मध्य संघर्ष—मानव प्रकृति के सम्बन्ध में उपर्युक्त धारणाओं को लेकर हॉब्स अपनी राजनीतिक विचारधाराओं का विकास करने में सामाजिक जीवन के दो चरणों की कल्पना करता है। पहला चरण वह है जबकि राजनीतिक समाज की स्थापना नहीं हुई थी और मनुष्य उस काल में प्राकृतिक स्थिति (the

[1] 'The desire for security, the really fundamental need of human nature, is for all practical purposes inseparable from the desire for power, the present means of obtaining apparent future goods, because every degree of security requires to be still further secured.'—Sabine, *op. cit.*, 393.

[2] 'In memory, the basic sensations are fear and desire for power... Mankind has a restless desire for power after power that each caseth only in death.'—*Leviathan*, quoted by C. G. Catlin, *A History of Political Philosophies*, 1950, 233.

state of nature) का जीवन व्यतीत करता है। दूसरा चरण राजनीतिक समाज की स्थापना हो जाने के बाद का है। मानव प्रकृति के सम्बन्ध में हॉब्स के उपर्युक्त निष्कर्ष प्राकृतिक स्थिति के हैं जबकि मानव असामाजिक तथा अराजनीतिक जीवन व्यतीत करता है। इस स्थिति में मानव स्वभाव के स्वार्थी, असामाजिक तथा एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी होने के कारण मानव-मानव के मध्य संघर्ष बना रहता है। हॉब्स ने इसके तीन कारण बताये है : (1) प्रतियोगिता (competition) जिसके फलस्वरूप मनुष्य अपने ही लाभ की कामना से दूसरों के ऊपर बलात् अपना स्वामित्व बनाये रखना चाहता है; (2) आत्म-विश्वासहीनता (diffidence), जिसके कारण मनुष्य अपनी सुरक्षा के लिए चिन्तित रहता है और अपनी प्रतिरक्षा हेतु हिंसा का मार्ग भी अपनाता है; और (3) यश (glory) की कामना, जिसके फलस्वरूप मनुष्य अपने यश की प्राप्ति के लिए चिन्तित रहता है, और छोटी-छोटी बातों पर दूसरों के ऊपर आक्रमण करता रहता है। इनकी प्राप्ति के लिए मनुष्य शक्ति-अर्जन के लिए सचेष्ट रहता है।

इस प्रकार हॉब्स की विचारधारा पूर्णतया व्यक्तिवादी है। उसकी धारणा का व्यक्ति स्वभावतः स्वार्थी, झगड़ालू, नीच, दुष्ट, विवेकहीन, संवेगों का पुंज तथा आत्म-केन्द्रित है। यह धारणा मैकियाविली की भी थी। परन्तु मैकियाविली यह सिद्ध नहीं कर पाया था कि व्यक्ति स्वभावतः इन दुर्गुणों से युक्त क्यों होता है। यों तो मैकियाविली ने भी अपने युग की इटली की भ्रष्ट राजनीति के आधार पर ऐसा निष्कर्ष निकाला था और हॉब्स के काल में भी इंग्लैण्ड में गृह-युद्ध के वातावरण के अन्तर्गत जो अराजक स्थिति उत्पन्न हो चुकी थी, उसके आधार पर हॉब्स ने ऐसा निष्कर्ष निकाला था, परन्तु हॉब्स ने व्यक्ति के ऐसे स्वभाव को सिद्ध करने के लिए विज्ञान तथा मनोविज्ञान का आश्रय लिया और भले ही वह अपने मनोविज्ञानिक निष्कर्षों में भौतिक विज्ञान के सिद्धान्तों को लागू करके किसी निश्चित सत्य पर पहुँचने में सफल न रहा हो[1], तथापि उसके निष्कर्ष तर्कपूर्ण हैं। एक निगमनात्मक चिन्तक होने के नाते उसने जो पूर्व-अवधारणाएँ बना ली थीं, उनकी पुष्टि के निमित्त उसने विज्ञान तथा अपने मनोवैज्ञानिक तर्कों का सहारा लिया। इस प्रकार मनुष्य स्वभाव को स्वार्थी, एकाकी, झगड़ालू, विवेकहीन आदि के रूप में चित्रित करके हॉब्स अपने विचारों का अगला चरण प्रारम्भ करता है। परन्तु उसके ये निष्कर्ष कई दृष्टियों से संगतिपूर्ण नहीं लगते। हॉब्स के मत से मनुष्य में विवेक की उत्पत्ति बाद में होती है और उसके फलस्वरूप मनुष्य प्राकृतिक स्थिति के विवेकहीन आचरण को बदलने की प्रेरणा प्राप्त करता है। प्रश्न यह उठता है कि एकाएक विवेक की उत्पत्ति होकर मनुष्य प्राकृतिक स्थिति के स्वभाव को क्योंकर बदल देगा? और एकाकी तथा स्वार्थी स्वभाव को त्याग कर मनुष्य समाज में प्रविष्ट होने और अपने समस्त प्राकृतिक स्थिति के अधिकारों को त्याग देने के लिए कैसे राजी हो जायेगा? वास्तव में हॉब्स की यह अवधारणा सही नहीं थी कि मनुष्य प्रारम्भ में पूर्णतया संवेगों का ही पुंज था। वह न तो विवेकहीन है, और न ही विवेकशील, बल्कि उसमें प्रारम्भ से ही उक्त दोनों तत्त्व विद्यमान रहते हैं और वे यथासमय न्यूनाधिक अंश में प्रकट होते रहते हैं। इस प्रकार मानव-स्वभाव के सम्बन्ध में हॉब्स की अवधारणाएँ उसके

[1] हॉब्स यह सिद्ध नहीं कर सका कि किस प्रकार गति के यांत्रिक नियम मानव मन में संवेदन उत्पन्न करने में सफल हो सकते हैं।

गलत मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों पर आधारित हैं। विवेक को कृत्रिम मानना और विवेक तथा प्राकृतिक प्रवृत्ति के मध्य समुचित सम्बन्धों का निरूपण न कर सकना हॉब्स के मनोविज्ञान की एक बड़ी दुर्बलता है। उसका यह निष्कर्ष भी भ्रामक है कि शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों में भेद रहते हुए भी प्राकृतिक स्थिति में सभी मानव समान होते हैं। इन दृष्टियों से हॉब्स के मनोवैज्ञानिक निष्कर्ष मानव-स्वभाव का सही चित्रण कर सकने में सफल नहीं हुए है। परन्तु निष्कर्षों की अशुद्धता के बावजूद उसने उनको तर्क-संगत क्रम से प्रस्तुत किया है।

प्राकृतिक स्थिति

जैसा हम पहले कह चुके हैं, हॉब्स ने मानव-स्वभाव के बारे में जो निष्कर्ष निकाले है वे प्राकृतिक स्थिति के उस मानव के सम्बन्ध में हैं जो असामाजिक, एकाकी तथा स्वार्थी जीवन व्यतीत करता था और उस स्थिति में उसमें विवेक की मात्रा नहीं थी, वह केवल अपने स्वार्थ-हित में लीन रहता था। ऐसी स्थिति का जीवन व्यतीत करने वाले मानवों की स्वार्थी प्रवृत्ति उन्हें निरन्तर अधिकाधिक शक्ति अर्जित करने की प्रेरणा देती है, ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आत्म-रक्षा तथा व्यक्तिगत सुख की प्राप्ति करता रहे। अतएव हॉब्स का कहना था कि जब तक समस्त मानवों के ऊपर एक सामूहिक सत्ता नहीं रहती तब तक कोई कानून नहीं होता, और जहाँ कोई कानून नहीं होता, वहाँ कोई न्याय विद्यमान नहीं रह सकता। वहाँ उचित तथा अनुचित, न्याय तथा अन्याय की कोई धारणा अपना अस्तित्व नहीं रखती।' इनके अभाव में प्रत्येक मनुष्य एक-दूसरे के साथ संघर्ष की स्थिति में रहता है। यह संघर्ष 'प्रत्येक व्यक्ति का प्रत्येक दूसरे व्यक्ति के साथ युद्ध' (war of every man against every man) के रूप का होता है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक का शत्रु होता है। इसमें न तो नए आविष्कारों का लाभ किसी को हो सकता, न उद्योगों का विकास हो सकता और न संस्कृति का। कला, साहित्य, समाज, कृषि, व्यापार-व्यवसाय यातायात आदि किसी क्षेत्र में प्रगति नहीं हो सकती। परिणाम यह होता है कि 'मानव-जीवन एकाकी, दरिद्र, घृणास्पद, नष्टप्राय तथा क्षणिक (solitary, poor, nasty, brutish and short) होता है। ऐसी स्थिति में उचित-अनुचित या न्याय-अन्याय की कोई धारणा नहीं रह सकती, क्योंकि जीवन का एकमात्र नियम यह रहता है कि 'वही वस्तु किसी व्यक्ति की है जिसे वह प्राप्त कर सकता है तथा जब तक वह उसे अपने पास रख सकने की शक्ति रखता है।' अतः व्यक्तिगत सम्पत्ति की धारणा भी नहीं रह सकती। चूँकि यह स्थिति अराजक समाज या राज्य-विहीन समाज की स्थिति है अतः वहाँ सम्पत्ति भी नहीं रह सकती। ऐसी स्थिति में जिसकी लाठी उसकी भैंस (might being right) की कहावत चरितार्थ होती है।

प्राकृतिक स्थिति का ऐसा चित्र प्रस्तुत करने का हॉब्स का उद्देश्य ऐतिहासिक सत्य को दर्शाना नहीं था। यद्यपि जैसा जोन्स का मत है, हॉब्स ने बताया है कि अमरीका के कई स्थानों में असभ्य लोग प्राकृतिक स्थिति का जीवन व्यतीत करते हैं, जिनकी कोई सरकार नहीं है[1], तथापि हॉब्स ने इस तथ्य की ऐतिहासिकता को प्रमाणित करने का प्रयास नहीं किया है। उसका मुख्य उद्देश्य

[1] W. T. Jones, *op. cit.*, 100.

कैटलिन की इस उक्ति से स्पष्ट होता है कि 'हॉब्स का राजनीतिक विज्ञान इस सरल प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास करता है कि एक स्वार्थी मानव को किस प्रकार अराजकता की स्थिति से बचाया जा सकता है ?'[1] सैबाइन का भी यही मत है कि 'हॉब्स का उद्देश्य इतिहास को बनाना नहीं था, बल्कि केवल अपने विचारों का विश्लेषण करना था।'[2] अतः हॉब्स द्वारा चित्रित प्राकृतिक स्थिति को इस अर्थ में एक ऐतिहासिक सत्य नहीं माना जाना चाहिए कि प्रारम्भ में सर्वत्र मानव ऐसी प्राकृतिक स्थिति का जीवन व्यतीत करते थे और बाद में जब वे राजनीतिक समाज बनाकर रहने लगे तो प्राकृतिक स्थिति समाप्त हो गई। वस्तुतः हॉब्स द्वारा चित्रित प्राकृतिक स्थिति एक अराजक समाज की स्थिति है जिसमें एक शक्तिशाली शासक के अभाव में मानव अपनी अविवेकपूर्ण प्राकृतिक प्रवृत्ति के कारण ऐसा विनाशकारी (brutish) जीवन व्यतीत करते हैं। अतः हॉब्स की धारणा यह दर्शाती है कि वैसी अराजक स्थिति जहाँ मत्स्य-न्याय फैल जाता है, प्राकृतिक स्थिति के तुल्य ही है। उसमें मनुष्य की स्वार्थी, प्रतिद्वन्द्वितायुक्त, संघर्षमय तथा भयपूर्ण प्रवृत्ति के निवारण हेतु एकमात्र उपचार यही है कि एक शक्तिशाली सुदृढ़ सरकार की स्थापना की जाय, जो सब मानवों को भयभीत किये रखे और उन्हें अपने द्वारा निर्मित कानून को मानने के लिए विवश कर सके। वास्तव में हॉब्स ने इंग्लैण्ड में गृह-युद्ध की अवधि में ऐसी ही प्राकृतिक स्थिति के जीवन की कल्पना की थी। उसी के निवारणार्थ उसने निरंकुश राजतन्त्र के समर्थन हेतु ऐसा विश्लेषण प्रस्तुत किया था।

राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धान्त के सभी प्रतिपादक यह मानकर चलते हैं कि राजनीतिक समाज (राज्य) की स्थापना कृत्रिम है जिसे जनता एक संविदा के द्वारा सम्पन्न करती है। इससे पूर्व मानव प्राकृतिक स्थिति का जीवन व्यतीत करते थे, जबकि राज्य तथा सरकार जैसी कोई संस्थाएँ नहीं थीं। प्राकृतिक स्थिति में मानव किस प्रकार का जीवन व्यतीत करते थे, इसके बारे में सभी संविदावादी भिन्न-भिन्न मत रखते हैं। उस काल में जीवन की कुछ कठिनाइयों से प्रेरित होकर लोग उन्हें दूर करने के लिए पारस्परिक समझौते से राज्य तथा सरकार की स्थापना करते हैं। हॉब्स ने प्राकृतिक स्थिति के जीवन का जो चित्र प्रस्तुत किया है, उसकी पुष्टि के निमित्त वह मानव-स्वभाव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करता है। उसका निष्कर्ष था कि मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी, संवेगों का पुंज तथा संघर्षरत प्राणी होता है। इसलिए राजनीतिक सत्ता के अभाव में प्राकृतिक स्थिति का जीवन भी दुखमय था। चूँकि प्राकृतिक स्थिति में कोई शासनिक व्यवस्था नहीं थी, अतः उसमें किसी प्रकार के विध्यात्मक कानून का अस्तित्व भी नहीं था। हॉब्स का यह निष्कर्ष न्याय की कानूनगत धारणा को स्पष्ट करता है, न कि नैतिकतावादी धारणा को, जैसी कि प्लेटो के विचारों में विद्यमान थी। इसी प्रकार हॉब्स की धारणा में अधिकार भी कानूनगत ही हो सकते हैं। प्राकृतिक स्थिति में हॉब्स सम्पत्ति के अधिकार की भी कल्पना नहीं करता। किसी व्यक्ति की सम्पत्ति वही हो सकती थी, जिसे वह अपनी शक्ति के बल पर अर्जित तथा सुरक्षित कर सकता था। हॉब्स इसे प्राकृतिक अधिकार के रूप में मानता है। ऐसी स्थिति में

[1] 'Hobbes' political science is built up, however crassly, in an endeavour to answer a simple question—How shall man, being selfish, be saved from anarchy ?' —C. G. Catlin, *op. cit.*, 234.

[2] 'His purpose was not history but analysis.' —Sabine, *op. cit.*, 394.

मनुष्य-मनुष्य के मध्य निरन्तर संघर्ष चलता रहता था। मनुष्य को स्वयं अपने जीवन की सुरक्षा का भय बना रहता था। ऐसे जीवन से त्रसित मानव जब तक संवेगों द्वारा निदेशित रहेंगे तब तक उनके कष्टों का निवारण नहीं हो सकेगा। परन्तु जब मानवों में विवेक की उत्पत्ति हुई तो उनके विवेक ने उन्हें ऐसे दुःखमय जीवन से त्राण पाने के लिए संविदा द्वारा राजनीतिक समाज का निर्माण करने की प्रेरणा दी, ताकि ऐसे समाज में एक सामूहिक सत्ता का निर्माण हो सके जो स्वार्थी मानवों की बुरी प्रवृत्तियों का दमन कर सके।

प्राकृतिक कानून

राजनीतिक विचारधाराओं के प्रतिपादन में प्राकृतिक कानून की धारणा स्टॉइक दार्शनिकों के काल से विभिन्न रूपों में व्यक्त की जाती रही थी। 'यह धारणा मोटे तौर से अरस्तूवादिता पर निर्भर थी, जिसका अभिप्राय यह था कि प्राकृतिक कानून मानवीय तथा सभ्य जीवन की मूलभूत नैतिक स्थितियों को दर्शाता है।' अतः प्राकृतिक कानून के नियम विध्यात्मक कानून को नियन्त्रित करते हैं। ईसाई धर्म शिक्षा से प्रभावित मध्ययुग के विचारकों ने इन नियमों को दैवी कानून का रूप देने की परम्परा अपनायी। ग्रोशियस ने प्राकृतिक कानून को पूर्व कालीन धार्मिकता के प्रभाव से मुक्त करने का प्रयास किया, परन्तु वह भी प्रकृति की यान्त्रिकता को नहीं दर्शा पाया। हॉब्स ने अपने भौतिकतावादी दर्शन के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि मानव आचरण को नियन्त्रित करने वाले नियम स्वय साध्य नहीं हैं, बल्कि वे केवल कारण हैं। 'मानवों के मध्य स्थायी संगठन की शर्तें न्याय, सद्व्यवहार या कोई नैतिक आदर्श नहीं हैं, बल्कि वे कुछ कारणमात्र हैं, जो सामान्यतया एक सहयोगी स्वरूप के आचरण को उत्पन्न करते हैं।' इस दृष्टि से हॉब्स की प्राकृतिक कानून सम्बन्धी धारणा का आधार भी उसका भौतिकवादी मनोविज्ञान है।

प्राकृतिक अधिकार तथा प्राकृतिक कानून—हॉब्स मानव प्रकृति में दो तत्त्वों—इच्छा (desire) तथा विवेक (reason)—की कल्पना करता है। उसकी इस कल्पना का आधार भी प्राकृतिक स्थिति तथा सामाजिक स्थिति के दो चरणों की मान्यता है। राजनीतिक समाज की स्थापना के पूर्व मनुष्य की प्रकृति का निदेशन दो आरम्भिक संवेगों—इच्छा तथा विरक्ति—के द्वारा होता था। मानवों में विवेक की उत्पत्ति होने पर वे सामाजिक स्थिति की स्थापना के लिए प्रेरित होते हैं। इसी आधार पर हॉब्स प्राकृतिक अधिकार (jus naturale) तथा प्राकृतिक कानून (lex naturalis) के मध्य भी भेद करता है। उसके मत से प्राकृतिक अधिकार का अभिप्राय उस स्वतन्त्रता से है जिसकी प्राप्ति के द्वारा प्रत्येक मनुष्य उन कार्यों को करता है, जिन्हें वह अपनी आत्म-रक्षा के लिए सर्वोत्तम समझता है। अतः इस अर्थ में स्वतन्त्रता का अभिप्राय प्रतिबन्धों के अभाव से लिया जा सकता है। हॉब्स के मत से प्राकृतिक स्थिति में मनुष्य प्राकृतिक अधिकारों का ही उपभोग करते थे, न कि प्राकृतिक कानून का, क्योंकि हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक कानून विवेक का आदेश होता है, और प्राकृतिक स्थिति में मानव विवेक-शून्य थे। प्राकृतिक कानून की धारणा में स्वतन्त्रता के ऊपर प्रतिबन्धों का निहित होना शामिल है। यह मानव की तृष्णा या इच्छा पर आधारित न होकर, उसके विवेक पर आधारित है। हॉब्स के अनुसार

'प्राकृतिक कानून सद्‌विवेक का आदेश (Dictate of right reason) है जो मानव को ऐसे कार्यों को करने से रोकता है, अथवा उन्हें तिरस्कृत करने को कहता है, जो कि जीवन रक्षा से सम्बन्ध रखते हैं।' इस दृष्टि से प्राकृतिक अधिकारों की धारणा युद्ध की स्थिति को जन्म देती है, इसके विपरीत प्राकृतिक कानून की धारणा जीवन-रक्षा की द्योतक है; प्रथम का स्रोत इच्छा या संवेग है और दूसरी का स्रोत विवेक है।

हॉब्स ने कहा है, 'यद्यपि लोग इन विवेक के आदेशों को कानून का नाम देते हैं, तथापि यह नाम अनुचित है, क्योंकि ये तो उन लोगों की सुरक्षा तथा प्रतिरक्षा से सम्बन्ध रखने के निमित्त कुछ निष्कर्ष या प्रमेय मात्र हैं।'[1] कानून का अभिप्राय हॉब्स की विचारधारा में एक सामूहिक सर्वोच्च सत्ता के आदेशों से है और प्राकृतिक कानून ऐसी किसी सर्वोच्च सत्ता का आदेश न होकर केवल सद्‌विवेक का आदेश है। यद्यपि हॉब्स प्राकृतिक अधिकार तथा प्राकृतिक कानून शब्दों का प्रयोग करता है तथापि वह अपने पूर्ववर्ती अन्य चिन्तकों की धारणा के विपरीत इनके मध्य कोई सम्बन्ध निर्धारित नहीं करता। सामान्यतः प्राकृतिक कानून की धारणा प्राकृतिक अधिकारों की मान्यता को समर्थन प्रदान करती है। उदाहरणार्थ, जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकारों का स्रोत प्राकृतिक कानून को माना जाता रहा है। परन्तु हॉब्स इन दोनों धारणाओं को अलग अर्थों में लेता है। प्राकृतिक अधिकारों का स्रोत विवेक नहीं है। वे तो असभ्य समाज में विद्यमान रहते हैं जिनका स्रोत संवेग है। इसके विपरीत प्राकृतिक कानून विवेक की उपज है, जो कि सभ्यता की दिशा में उन्मुख समाज को प्रेरित करता है। प्राकृतिक अधिकार प्राकृतिक स्थिति में विद्यमान रहते हैं, जो मनुष्य को आत्म-रक्षा के निमित्त जो कुछ भी वह कर सकता है उसकी शक्ति के द्योतक हैं, परन्तु प्राकृतिक कानून मनुष्य को आत्म-रक्षा के निमित्त सभ्य समाज का जीवन व्यतीत करने तथा अपने प्राकृतिक अधिकारों के प्रयोग में मर्यादा आरोपित करने की प्रेरणा देते हैं। विवेक की यह नियामक शक्ति (प्राकृतिक कानून) मानवों को अपने पूर्ववर्ती असभ्यता के प्राकृतिक स्थिति के जीवन से सभ्यता के युग में परिवर्तित होने की द्योतक है। इसके द्वारा मनुष्य अपनी प्रारम्भिक स्वार्थमयी प्रवृत्ति से छुटकारा पाकर सामाजिकता की दिशा में बढ़ने की प्रेरणा प्राप्त करता है। इस दृष्टि से प्राकृतिक कानून दूरदर्शिता तथा सामाजिक नैतिकता के नियम हैं। इसीलिए हॉब्स ने कहा है कि 'प्राकृतिक कानून तथा नागरिक कानून एक दूसरे को समाहित करते हैं, और दोनों की सीमा समान है।'[2]

हॉब्स ने 19 प्राकृतिक कानूनों को गिनाया है। वास्तव में ये प्राकृतिक कानून न होकर व्यक्तिगत तथा सामाजिक नैतिकता के कुछ नियम हैं जिन्हें धारण करना तथा जिनके अनुसार आचरण करना एक स्वस्थ तथा सभ्य समाज में प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। परन्तु इन नियमों में से तीन नियमों को हॉब्स विशेष रूप से प्राकृतिक कानून के अन्तर्गत मानकर उन्हें राज्य की संविदागत उत्पत्ति के निमित्त आवश्यक मानता है। ये तीन प्राकृतिक कानून अग्रांकित हैं—

[1] 'There dictates of reason men used to call by the name of laws, but improperly, for they are but conclusions or theorems concerning what conduceth to the conservation and defence of themselves.' —Hobbes.

[2] 'The law of nature and the civil law contain each other; and are of equal extent.' —Hobbes.

(1) मानव विवेक का आदेश है कि मनुष्य शान्ति की चाह करें और उसे मनावें। प्राकृतिक स्थिति में युद्ध की स्थिति बनी रहती थी, जो मानवों के सुख (felicity) तथा निरन्तर आत्म-रक्षा की प्राप्ति के निमित्त उचित नहीं थी। अतः विवेक का यह आदेश मानवों को परस्पर शान्ति के साथ रहने की प्रेरणा देता है।

(2) विवेक का दूसरा आदेश यह है कि लोग प्राकृतिक स्थिति में प्रयुक्त किये जाने वाले अपने समस्त प्राकृतिक अधिकारों का परित्याग करें। प्राकृतिक स्थिति में सब लोग समान शक्ति से युक्त थे और अपनी शक्ति के अनुसार प्रत्येक वस्तु को प्राप्त करने में सचेष्ट रहते थे। अत: उनके मध्य परस्पर युद्ध या संघर्ष की स्थिति बनी रहती थी। विवेक का यह आदेश उन्हें परस्पर समझौता करके अपने उक्त प्राकृतिक अधिकार को त्याग देने की प्रेरणा देता है। इसके आधार पर मानव को अन्यों के विरुद्ध अपनी उतनी ही स्वतन्त्रता से सन्तुष्ट कर लेना चाहिए जितनी वह अन्यों को स्वयं अपने विरुद्ध प्रदान करना चाहता है। यह धारणा ईसाई ग्रन्थों में वर्णित इस सिद्धान्त से संगति रखती है कि 'जो कुछ तुम दूसरों से अपने प्रति किये जाने की अपेक्षा करते हो, वह तुम दूसरों के लिए भी करो।' यह नियम प्रत्येक व्यक्ति को अपने प्राकृतिक अधिकार पर मर्यादा आरोपित करने की प्रेरणा देता है, और हॉब्स की विचारधारा का एक सारभूत तत्त्व है। इसके अभाव में संविदा की धारणा ही निर्मूल हो जाती।

(3) विवेक का तृतीय आदेश यह है कि मानव परस्पर जो संविदा करते हैं उसकी शर्तों का पूर्णतः ईमानदारी के साथ पालन करें। हॉब्स ने कहा है कि 'मानवों को अपनी संविदा का पालन करना चाहिए जिसके बिना संविदाएँ खोखली शब्द-जाल हो जाती हैं। हॉब्स की धारणा में संविदाओं पर अमल करना ही न्याय है। इसी के आधार पर संविदा करने वाले प्राकृतिक स्थिति के एकाकी (solitary) मानव परस्पर एकता के सूत्र में बँधते हैं और सामाजिक या राजनीतिक प्राणी बनते हैं। उनकी 'पारस्परिक संविदा तथा उस संविदा को बनाये रखने का विवेक उन्हें राज्य के रूप में संगठित करता है।

उपर्युक्त तीन मौलिक प्राकृतिक कानूनों के अतिरिक्त हॉब्स ने अन्य अनेक प्राकृतिक कानूनों का उल्लेख किया है जो इन्हीं से निकलते हैं, यथा कृतज्ञता (gratitude), सामाजिकता (sociability), क्षमा (pardon), सौजन्य (modesty), दया (mercy), न्याय (equity) आदि। इनके अभाव में युद्ध या संघर्ष की स्थिति बनी रहती है। यह सूची ऐसे गुणों (virtues) की द्योतक है जो सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन की मूल आवश्यकताएँ हैं, और प्राकृतिक स्थिति में इनकी कल्पना नहीं की जा सकती।

आलोचना—हॉब्स की प्राकृतिक कानून की धारणा में एक प्रकार का विरोधाभास है। प्राकृतिक स्थिति में वह मनुष्य को असभ्य तथा असामाजिक कहता है, जिसमें विवेक का अभाव है। शासन का निर्माण करने के लिए विवेक आवश्यक है। विवेकहीन मानव ऐसा नहीं कर सकते थे। यदि वे शासन का निर्माण कर सकते थे तो उन्हें विवेक-रहित नहीं माना जा सकता। हॉब्स के विचार से 'समाज का निर्माण करने में मानव की दो प्रकृतियाँ काम करती हैं—आरम्भिक इच्छा तथा विरक्ति, जिनसे संवेगों की उत्पत्ति होती है, तथा विवेक जो आत्म-रक्षा के लिए

मानव को कार्य की बौद्धिक प्रेरणा देता है। इस विवेक की नियामक शक्ति पर ही असभ्य जीवन से सभ्य समाज का संक्रमण निर्भर करता है।'[1] इन्हीं विवेक के आदेशों को प्राकृतिक कानून कहा गया है, जो हॉब्स की विचारधारा में सामाजिक नैतिकता, सभ्य जीवन तथा आत्म-रक्षा के लिए मानवों में शान्ति तथा सहयोग की भावना का संचार करते हैं।

प्राकृतिक कानून के सम्बन्ध में हॉब्स की धारणा न तो उसके पूर्ववर्ती विचारकों से मिलती-जुलती है और न उसके अनुवर्ती विचारकों से। सदियों से जिस रूप में प्राकृतिक कानून तथा प्राकृतिक अधिकारों की धारणा को एक-दूसरी के पूरक के रूप में लिया जाता रहा था उसे हॉब्स ने बदल दिया और दोनों के स्वरूप को पृथक्-पृथक् माना। प्राकृतिक अधिकार की धारणा को मत्स्य न्याय के रूप में मानना हॉब्स की धारणा की एक अनोखी विशेषता है। इस आधार पर वह जीवन, स्वतन्त्रता, सम्पत्ति आदि के प्राकृतिक अधिकारों को प्राकृतिक कानून की धारणा से अलग रखकर महत्त्वहीन बना देता है। वह प्राकृतिक कानून को विवेक का आदेश कहता है। इसका यह अर्थ हुआ कि विवेक की उत्पत्ति के साथ प्राकृतिक अधिकार जैसी कोई चीज नहीं रह जाती और प्राकृतिक कानून का अस्तित्व केवल प्राकृतिक स्थिति से सामाजिक स्थिति में संक्रमण काल तक ही रहता है, क्योंकि उसके पश्चात् समाज का निदेशन सम्प्रभु द्वारा निर्मित विध्यात्मक कानून के द्वारा होगा। 'प्राकृतिक कानून' शब्द का प्रयोग तो हॉब्स ने अवश्य किया है, परन्तु धारणा प्राकृतिक 'कानून' की नहीं है। प्राकृतिक कानून की धारणा को विवेक की उपज के रूप में व्यक्त करते हुए हॉब्स यह मानता है कि इससे पूर्व मानवों में संवेग का तत्त्व कार्य करता था। यह एक असंगत तर्क लगता है कि एकाएक मानव-मन में ऐसा परिवर्तन कैसे हो जायेगा ? प्राकृतिक स्थिति का जंगली व्यवहार करने वाला मानव एकाएक सभ्य मानव बन जाय यह एक विरोधाभास लगता है। इस प्रकार हॉब्स प्राकृतिक स्थिति तथा प्राकृतिक कानून के मध्य सामंजस्य स्थापित करने में असफल रहा है।

संविदा द्वारा राज्य की उत्पत्ति

संविदा की आवश्यकता—राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हॉब्स न तो अरस्तू की भाँति राज्य को एक नैसर्गिक संस्था मानता है, और न वह राज्य की उत्पत्ति को दैवी मानता है। उसके द्वारा चित्रित प्राकृतिक स्थिति का मानव-जीवन अराजनीतिक तथा असामाजिक स्थिति का है, जिसमें मनुष्य की एक मात्र आवश्यकता आत्म-रक्षा की है, और उसकी एकमात्र चिन्ता मृत्यु के भय से बचने की है। प्राकृतिक स्थिति में मनुष्य असामाजिक जीवन व्यतीत करता है। वह पूर्णतया स्वार्थी तथा दूसरे का शत्रु है। अतः समस्या यह है कि ऐसी प्रकृति वाला मनुष्य राजनीतक समाज का निर्माण करने को किस प्रकार उद्यत हो गया। भले ही हॉब्स का उत्तर इस सम्बन्ध में सन्तोषजनक प्रतीत न हो, परन्तु उसने इसके सम्बन्ध में जो तर्क प्रस्तुत किया है, वह निराधार नहीं है। हॉब्स प्राकृतिक स्थिति में भी मनुष्य में विवेक के अस्तित्व को स्वीकार करता है जिसकी उत्पत्ति तब होती है जबकि मनुष्य अपने संवेगों के अनुसार कार्य करते हुए अपने को

[1] Sabine, *op. cit.*, 395.

असुरक्षित पाते हैं और प्राकृतिक स्थिति के कष्टों के निवारणार्थ उनका विवेक उन्हें शान्ति की कामना करने की दिशा में प्रेरित करता है, क्योंकि मनुष्य अपनी आत्मरक्षा के लिए शान्ति चाहता है। इसकी उपलब्धि के लिए सभी मनुष्य आपस में संविदा करके एक ऐसी बल-प्रवर्ती सत्ता के अधीन अपने को रखने के लिए तत्पर हो जाते हैं, जो संविदा को बनाये रखने के लिए सबको भयभीत किये रखेगी। बिना किसी बल-प्रवर्ती शक्ति के भय के मनुष्य अपनी संविदा को बनाये रखने की क्षमता नहीं रख सकते, क्योंकि वे स्वार्थी हैं। यही धारणा प्राकृतिक स्थिति के मानवों को एक प्रभावशाली शासन के अन्तर्गत पारस्परिक संविदा द्वारा संगठित होने को प्रेरित करती है। वह सत्ता प्रत्येक मानव को संविदा का उल्लंघन करने पर दण्ड देगी। दण्ड का भय संविदा को बनाये रखने के लिए आवश्यक है। हॉब्स ने कहा है कि 'बिना तलवार की शक्ति के संविदाएँ केवल शब्द-जाल हैं और वे मनुष्य की सुरक्षा के लिए पूर्णतया शक्तिहीन हैं।'[1] प्राकृतिक स्थिति में मानव-प्रकृति की दुर्बलताएँ संवेगों पर आधारित रहने के कारण उन्हें सुख तथा सुरक्षा प्रदान नहीं कर पातीं। अत: मानवों का विवेक उन्हें प्राकृतिक कानून का अवलम्बन करके शान्ति के निमित्त संविदा करके संवेग-जन्य प्राकृतिक अधिकारों का परित्याग करने और संविदा को बनाये रखने की प्रेरणा देता है। जब मानव ऐसी संविदा कर चुकते हैं, तो सम्प्रभु के लिए भी संविदा को बनाये रखने के उद्देश्य से बल-प्रवर्ती शक्ति का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है, अन्यथा संविदाएँ निरर्थक हो जायेंगी। अत: अन्यत्र भी हॉब्स ने कहा है कि 'बल-प्रवर्ती शक्ति के भय के अभाव में मनुष्यों द्वारा की गयी प्रतिज्ञाएँ उनकी आकांक्षाओं, लालचों, क्रोध तथा अन्य संवेगों को नियन्त्रित करने के लिए अत्यन्त निर्बल सिद्ध होती हैं।[2] प्राकृतिक स्थिति की असामाजिक प्रवृत्तियों के विरुद्ध मनुष्य को शान्तिपूर्ण जीवन प्रदान करने के लिए कानून, दण्ड का भय तथा इनको प्रभावी बनाने वाली बल-प्रवर्ती शक्ति का होना आवश्यक है। संविदा के द्वारा मनुष्य जिस व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को अपने प्राकृतिक अधिकारों का समर्पण कर देते हैं उसे ऐसी बल-प्रवर्ती शक्ति प्रयुक्त करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है।

संविदा के दो रूप—हॉब्स के मत से ऐसी सत्ता की सृष्टि दो प्रकार की संविदाओं द्वारा हो सकती है—(1) संस्थापना द्वारा (by institution), जिसका अभिप्राय यह है कि प्रजाजन स्वयं एक-दूसरे के साथ संविदा करके ऐसी सत्ता का सृजन करते हैं। (2) अधिग्रहण द्वारा (by acquisition), इसके अनुसार सत्ताधारी स्वयं अपनी शक्ति के बल से प्रजाजनों को भयभीत करके उन्हें सत्ताधारी की आज्ञा का पालन करने के लिए परस्पर राजी हो जाने को विवश करता है। दोनों स्थितियों में सम्प्रभु का स्वरूप संविदाजन्य रहता है। परन्तु हॉब्स उपर्युक्त में से प्रथम प्रकृति की संविदा को अधिक उपादेय मानता है। उसकी धारणा है 'या तो मनुष्य आपस में एक-दूसरे के भय से बचने के लिए राज्य की स्थापना स्वयं करते है, अथवा विजेता प्रजाजनों को भयभीत करके स्वयं राज्य का अधिग्रहण करते हैं।' दोनों स्थितियों में सत्ता का स्वरूप सामूहिक है, उसका उद्देश्य प्रजाजनों की वैदेशिक आक्रमण से तथा पारस्परिक शत्रुता से रक्षा करके उनका कल्याण करना है। संविदा द्वारा अनेक

[1] 'Covenants without sword, are but words, and of no strength to secure a man at all.'

[2] 'The bonds of words are too weak to bridle men's ambitions, avarice, anger and other passions, without the fear of some coercive power.'

इच्छाओं के स्थान पर एक इच्छा का निर्माण होता है, जिसका आदेश तथा निर्णय सर्वमान्य होता है। हॉब्स यह कल्पना करता है कि ऐसी सत्ता की स्थापना करते हुए प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक के साथ संविदा करते हुए प्रतिज्ञा करता है कि 'मैं अपने को शासित करने के अधिकार का परित्याग करते हुए अमुक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को इस शर्त पर यह अधिकार देता हूँ, कि तुम भी इसी भाँति अपने अधिकार को उसे प्रदान करो और उसके ऐसे अधिकार को मान्यता दो।'[1] इस तरह जब सभी मनुष्य संविदा की प्रतिज्ञा करते हैं तो संविदा करने वाले व्यक्तियों का समूह राज्य (Commonwealth) कहलाता है, जिसे लैटिन भाषा में नगर (Civitas) कहते हैं। जिस व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को संविदा करने वाले मानव अपने अधिकार सौंपते हैं वह दीर्घकाय (Leviathan) है और वह जनता की शान्ति तथा प्रतिरक्षा के लिए पृथ्वी में मानव देव की भाँति है। हॉब्स का मत था कि भावावेश केवल शक्ति की भाषा जानते हैं। अतः संविदा द्वारा राज्य या शासन की स्थापना हो जाने पर भी मानवों के संवेग तथा भावावेश प्रकट हो सकते हैं। जब तक उन्हें दबाने की सामूहिक शक्ति सम्प्रभु को प्राप्त नहीं रहेगी, तब तक संविदा निरर्थक हो जायेगी। अतः दीर्घकाय अपनी बल-प्रवर्ती शक्ति का प्रयोग करके मानवों के भावावेशों से उत्पन्न होने वाले आचरणों को रोकेगा।

संविदा के लक्षण—हॉब्स न तो राज्य की उत्पत्ति को दैवी मानता है और न राज्य के शासक की सत्ता के दैवी-अधिकार-सिद्धान्त को। राज्य तथा शासक की उत्पत्ति स्पष्टतया मानवों की पारस्परिक संविदा के आधार पर होती है। परन्तु हॉब्स की धारणा में संविदा का स्वरूप एक अद्वितीय प्रकृति का है। शासक या सम्प्रभु की उत्पत्ति तो संविदागत है, परन्तु संविदा शासक तथा शासितों के मध्य नहीं होती। संविदा करने वाले पक्ष व्यक्ति हैं जो आपस में एक-दूसरे के साथ संविदा करके सम्प्रभु (शासक) की सृष्टि करते हैं। अतएव संविदा की शर्तें शासक पर लागू नहीं होतीं। वह संविदा से किसी भी प्रकार बाध्य नहीं है। संविदा करने वाले व्यक्ति आपस में स्वयं अपनी इच्छा के अनुसार इच्छा न करने (not to will their own will) की प्रतिज्ञा करते हैं। इस प्रकार संविदा द्वारा सबकी इच्छाएँ एक इच्छा में विलीन हो जाती हैं। अपने पूर्ववर्ती संविदावादियों के विपरीत, जिन्होंने शासक तथा शासितों के मध्य सविदा होने की धारणा व्यक्त की थी, हॉब्स ने एक अनोखी धारणा व्यक्त की है। संविदा में शासक एक पक्ष नहीं है, संविदा करने वाले मानव अपने प्राकृतिक अधिकारों का परित्याग कर देते हैं और उनके प्रयोग करने की शक्ति शासक को केवल इस शर्त के साथ कि वह उनकी आत्म-रक्षा के अधिकार को संरक्षण देगा, समर्पित कर देते हैं। यदि शासक ऐसा कर सकने में असफल रहा तो संविदा भंग हो जायेगी और पुनः लोग प्राकृतिक स्थिति में प्रत्यावर्तित हो जायेंगे। इस प्रकार शासक की शक्ति असीम व अमर्यादित हो जाती है। उसे केवल प्रत्येक व्यक्ति की आत्म-रक्षा का ध्यान रखना है। शेष जो भी आदेश वह देगा, उसे मानने के लिए जनता बाध्य है। संविदा द्वारा शासक को ऐसा कानूनी अधिकार प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार शासक के हाथ में एक सामूहिक सत्ता आ जाती है। वह एक कृत्रिम व्यक्ति है। चूँकि वह संविदा करने वाले प्रत्येक

[1] 'I authorize and give up my right of governing myself, to this man or to this assembly of men, on this condition, that thou give up thy right to him, and authorize all his actions in like manner.'

व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों को प्राप्त कर लेता है, अतः वह प्रत्येक व्यक्ति का प्रतिनिधि है। संविदा द्वारा विविध संघर्षरत इच्छाओं का स्थान एक प्रतिनिध्यात्मक इच्छा ग्रहण कर लेती है। 'हॉब्स की धारणा का समझौता किसी भी रूप में क्रान्ति के औचित्य को सिद्ध नहीं करता है, और उसका रूप ऐसा है जिसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक से अपने प्राकृतिक स्थिति के अधिकारों का आत्म-समर्पण करने तथा उन अधिकारों की रक्षा करने की शक्ति एक सम्प्रभु सत्ता को प्रदान कर देने के लिए राजी होता है।'[1]

हॉब्स का तर्क है कि यदि संविदा शासक या शासित के मध्य होती तो उस स्थिति में दोनों पक्षों के समान अधिकार होते और एक पक्ष द्वारा संविदा की शर्तें भंग करने पर दूसरा पक्ष उसका विरोध कर सकता। अतः जन-समूह का ऐसा रूप निगमात्मक संघ की भाँति का नहीं हो सकता। संघ की विशेषता यह है कि उसमें विविध इच्छाएँ एक इच्छा में विलीन हो जाती हैं और वे उसी एक इच्छा के अधीन रहतीं हैं। इस प्रकार राज्य एक वास्तविक एकता का रूप धारण करता है और विविध व्यक्तित्व एक व्यक्तित्व में विलीन हो जाते हैं। वही एक इच्छा, अर्थात् सम्प्रभु की इच्छा, समस्त जन-समूह की रक्षा, कल्याण तथा सुख का निर्धारण करती है और उनके संघर्षों को दूर करती है। इस प्रकार समझौते के द्वारा एक विधिगत (lawful) सरकार की सृष्टि होती है और दीर्घकाय (Leviathan) जिसे जनता अपने अधिकार सौंपती है, प्रधान शासक या सम्प्रभु बन जाता है। संविदा करने वाले सम्पूर्ण जन-समूह तथा शासक को मिलाकर राजनीतिक समाज या राज्य (Commonwealth) बनता है। हॉब्स समाज, राज्य तथा सरकार के मध्य भेद नहीं करता है। वह तीनों को एक ही अर्थ में मानता प्रतीत होता है। मैक्सी के शब्दों में, 'हॉब्स के मत से राजनीतिक समाज एक ऐसी संस्था है जिसकी स्थापना उस सामाजिक अनुबन्ध के द्वारा हुई है, जिसे सम्पन्न करने के लिए अप्रतिबन्धित स्वतन्त्रता से उत्पन्न होने वाले हिंसात्मक शासन से बचने को लोग बाध्य हो गये थे। इस समझौते में शासक एक पक्ष के रूप में नहीं हैं, प्रत्युत् वे इसके ऐसे साधन हैं जो समझौते के पक्षों को उसकी शर्तें मनवाने के लिए बाध्य करने की शक्ति तथा सत्ता को धारण करते हैं।'

संविदा की आलोचना—हॉब्स के समझौता सिद्धान्त की सबसे बड़ी दुर्बलता प्राकृतिक स्थिति के जीवन तथा उसमें मानव-स्वभाव के सम्बन्ध में उसकी अवधारणाओं की भ्रामकता का होना है। प्राकृतिक कानून तथा प्राकृतिक अधिकारों की धारणाएँ भी उसने गलत ढंग से चित्रित की हैं। वह स्वतन्त्रता तथा समानता की धारणाओं को सही ढंग से प्रस्तुत नहीं कर पाया है। इन सबके सम्बन्ध में उसने मानवतावादी दृष्टिकोण न अपनाकर अपने भौतिकतावादी मनोविज्ञान का आश्रय लिया है और व्यक्तिगत तथा सामाजिक मनोविज्ञान को यान्त्रिकता के रूप में व्यक्त करने के कारण उसका मनोविज्ञान भी विकृत प्रकृति का हो गया है। परिणामस्वरूप उसने स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकारों की धारणा को उपेक्षित रखा।

[1] 'Hobbes' contract, therefore, is designed to avoid any justification of revolution and takes the form of an agreement 'of every man with every man' to surrender the rights which were held in a state of nature, along with the power to protect them, to a sovereign power.' —Harmon, *Political Thought from Plato to the Present*, 1964, 226.

प्राकृतिक स्थिति के मानवों को असभ्य, स्वार्थी, झगड़ालू, कृतघ्न, आदि मानकर उन्हें ठिकाने पर लाने के लिए यद्यपि उसने विवेक पर आधारित प्राकृतिक कानून की धारणा का आश्रय लिया है, तथापि समझौते के द्वारा जिस राजनीतिक व्यवस्था का प्रतिपादन उसने किया है उसके अन्तर्गत 'समझौता व्यक्तियों की स्वतन्त्रता का अधिकार-पत्र न होकर दासता का बन्धन बन जाता है।' संविदा करने वाले व्यक्ति सदा के लिए सम्प्रभु की बेड़ियों में जकड़ जाते हैं। साथ ही संविदा के द्वारा जिस सम्प्रभु की सृष्टि होती है, वह चाहे अत्याचारी अधिनायक ही क्यों न बन जाये, शासित जनता न तो उसे वैधानिक ढंग से हटा सकती है और न परिवर्तित कर सकती है। हॉब्स का यह निष्कर्ष भी भ्रामक है कि संविदा भावी पीढ़ियों को भी अनुबन्धित कर देती है। ऐसा दृष्टिकोण न तो तर्क की दृष्टि से खरा उतरता है और न व्यावहारिक दृष्टि से। यह स्पष्ट नहीं होता है कि एक पीढ़ी के लोगों के द्वारा किया गया समझौता भविष्य की पीढ़ियों पर भी किस प्रकार ज्यों का त्यों लागू होगा। यह धारणा भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती कि प्राकृतिक स्थिति में यदि मानव विवेकहीन, संवेगों के पुंज, स्वार्थी, झगड़ालू, आदि थे और निरन्तर शक्ति की अभिवृद्धि करने मे ही लीन रहते थे, तो उनमें एकाएक ऐसा विवेक कैसे उत्पन्न हो गया कि वे अपने ऐसे स्वभाव तथा शक्तियों को त्यागकर सारी सत्ता को एक व्यक्ति को सौंप देने को राजी हो गये। यदि उनके प्राकृतिक स्थिति के भावावेश समाप्त होकर उनमें इतना विवेक उत्पन्न हो गया था कि वे अपनी आत्म-रक्षा तथा सुखी व सभ्य जीवन प्राप्त करने को प्रेरित हो गये तो उन्हें एक बल-प्रवर्ती सत्ता की स्थापना करने की क्योंकर आवश्यकता पड़ी? इसका कोई तर्क-संगत आधार हॉब्स ने नहीं बताया है। समझौते के द्वारा जिस व्यवस्था की स्थापना हॉब्स बताता है, वह एक उल्टे क्रम की द्योतक है। यदि प्राकृतिक स्थिति का जीवन असामाजिक था, तो समझौते के द्वारा पहले समाज बनता, फिर राज्य और अन्त में सरकार। परन्तु हॉब्स की धारणा में पहले सरकार बनती है और उसके अस्तित्व के कारण ही राज्य या समाज बनता है। हॉब्स की धारणा की यह सबसे बड़ी दुर्बलता है कि वह शासन, राज्य तथा समाज के मध्य भेद नहीं करता। हॉब्स की धारणा में राज्य का आधार भय तथा शक्ति है, न कि इच्छा। भय तथा शक्ति पर आधारित राज्य-व्यवस्था जो कि निरंकुशतावाद की द्योतक है, न तो किसी सामाजिक समझौते से स्थापित हो सकती है, और न ही वह स्थायी रह सकती है। वास्तव में अपने युग की गृह-युद्धों से उत्पन्न अराजक स्थिति के निवारणार्थ हॉब्स निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन करना चाहता था, और उसके निमित्त उसने संविदा सिद्धान्त का आश्रय लेकर उसे तोड़-मरोड़ कर रखने का प्रयास किया है। निस्सन्देह हॉब्स को यह श्रेय मिलता है कि भले ही उसके निष्कर्ष गलत रहे थे, तथापि उसने जिस तार्किक क्रमबद्धता के साथ अपने विचारों को प्रस्तुत किया है, उसमें उसने अपनी ओर से कोई कमी नहीं रखी है।

सम्प्रभुता

सम्प्रभुता का स्वरूप—आधुनिक राजनीतिक विचारधाराओं के अन्तर्गत राज्य की प्रभुसत्ता की धारणा एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। प्राचीन ग्रीक चिन्तक अरस्तू ने राज्य की सर्वोच्च शक्ति (supreme power) की धारणा को

लेकर राज्यों का वर्गीकरण किया था परन्तु प्लेटो या अरस्तू ने प्रभुसत्ता की धारणा का दार्शनिक विवेचन नहीं किया है। रोमन काल में इम्पीरियम (imperium) की धारणा प्रभुसत्ता की द्योतक मानी जा सकती है। परन्तु रोमन चिन्तन या व्यवहार में इम्पीरियम के लक्षणों तथा कार्यों का आधुनिक काल की प्रभुसत्ता की धारणा के रूप में प्रयोग नहीं मिलता। मध्य युग के राजनीतिक विचारों में सार्वभौमिकतावाद का तत्त्व प्रमुख बना रहा, अतः राज्य की प्रभुसत्ता की धारणा के विकास का प्रश्न उनके समक्ष नहीं आया। मैकियाविली सबसे पहला राष्ट्रवादी चिन्तक था जिसके विचारों में राष्ट्रीय राज्य के शासक (Prince) की निरंकुश सत्ता की धारणा मिलती है। परन्तु मैकियाविली का राजदर्शन सैद्धान्तिक न होकर व्यावहारिक राजनीति तथा शासन का कार्यक्रम था। उसके विचारों में राज्य की सर्वोच्च सत्ता की दार्शनिक व्याख्या नहीं मिलती। फ्रांसीसी विद्वान् जीन बोदां सबसे पहला विचारक है जिसे प्रभुसत्ता की धारणा का जनक होने का श्रेय प्राप्त होता है। उसने प्रभुसत्ता की धारणा को व्यक्त करते हुए उसे 'कानून द्वारा अमर्यादित, प्रजाजनों तथा नागरिकों के ऊपर राज्य की सर्वोच्च सत्ता' कहा है। उसके लक्षणों का विवेचन करते हुए उसने प्रभुसत्ता को समस्त विध्यात्मक कानूनों का स्रोत, उनके द्वारा अप्रतिबन्धित, अविभाज्य, अदेय, स्थायी, एकता आदि गुणों से युक्त माना था। उसके पश्चात् ग्रोशियस ने भी इस धारणा को अपनाया। परन्तु बोदां तथा ग्रोशियस ने प्रभुसत्ता को पूर्णतः असीम या अमर्यादित सिद्ध नहीं किया। हॉब्स ने जिस रूप में राज्य की उत्पत्ति को संविदा द्वारा चित्रित किया है, उसी के आधार पर उसने प्रभुसत्ता की उत्पत्ति, उसके स्वरूप, लक्षणों आदि को व्यक्त करके उक्त पूर्ववर्ती विद्वानों द्वारा उसमें रख दी गयी असंगतियों से पूर्णतया मुक्त कर दिया।

सैबाइन ने कहा है कि 'हॉब्स ने सम्प्रभुता को उन समस्त अयोग्यताओं से पूर्णतया मुक्त कर दिया जिन्हें बोदां ने असंगतिपूर्ण ढंग से बनाये रखा था।'[1] यद्यपि बोदां ने सम्प्रभुता को राज्य की सर्वोच्च सत्ता कहा था जिस पर कि कानून का कोई प्रतिबन्ध नहीं है, तथापि उसने सम्प्रभु की सत्ता को दैवी कानून, प्राकृतिक कानून, राष्ट्रों के कानून, सांविधानिक कानून तथा राज्य का निर्माण करने वाले परिवारों के सम्पत्ति के अधिकारों द्वारा मर्यादित माना था। इस प्रकार उसके सम्प्रभुता के सिद्धान्त में अनेक असंगतियाँ उत्पन्न हो गयीं, क्योंकि एक ओर तो उसने प्रभुसत्ता को राज्य की सर्वोच्च सत्ता कहकर उसे कानून द्वारा अप्रतिबन्धित स्वीकार किया, और दूसरी ओर उसने उसी सर्वोच्च सत्ता के ऊपर इतने अधिक प्रतिबन्ध लगाने की बात कही। उसका सिद्धान्त निरंकुश तथा अमर्यादित प्रभुसत्ता का सिद्धान्त नहीं रह गया। हॉब्स का प्रभुसत्ता सम्बन्धी सिद्धान्त इस दृष्टि से पूर्ण है कि बोदां की भाँति हॉब्स प्रभुसत्ता के ऊपर कोई भी मर्यादा आरोपित नहीं करता। हॉब्स के मत से केवल दो ही व्यवस्थाएँ सम्भव हो सकती हैं—या तो प्राकृतिक स्थिति की अराजक स्थिति या निरंकुश सम्प्रभु द्वारा शासित राज्य। सैबाइन ने कहा है कि हॉब्स की व्यवस्था में समाज तथा राज्य के मध्य या राज्य तथा शासन के मध्य भेद करना भ्रामक होता, क्योंकि बिना वास्तविक शासन के न तो समाज का अस्तित्व सम्भव है, न राज्य का। प्रत्युत् ऐसा जन-समूह 'सिर-विहीन' समूह कहलायेगा।

[1] 'Hobbes relieved sovereignty completely from the disabilities which Bodin had inconsistently left standing.' —Sabine, *op. cit.*, 399.

हॉब्स के अनुसार, प्राकृतिक स्थिति में जन-समूह की ऐसी ही स्थिति थी। उस समय लोग प्राकृतिक अधिकारों का समान प्रयोग करते थे और उनके अनुसार आत्म-रक्षा के निमित्त जो भी ठीक समझते थे, वैसा करते थे। अत: वह स्थिति उनके मध्य निरन्तर परस्पर संघर्ष की स्थिति की। जब मानवों में विवेक की उत्पत्ति हुई तो उसने उनमें प्राकृतिक कानून का अनुगमन करने की प्रवृत्ति उत्पन्न की, और वे शान्ति की चाह, प्राकृतिक अधिकार का परित्याग करने की संविदा करने तथा उस संविदा को बनाये रखने की कामना करने लगे। संविदा के द्वारा उन्होंने अपने प्राकृतिक अधिकार जिस व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को सौंप दिये, वह समाज का सम्प्रभु बन गया। इस संविदा में लोगों ने परस्पर 'अपनी इच्छा से कार्य न करने वाली इच्छा' (a will not to will) की सृष्टि की। यह कृत्रिम इच्छा सम्प्रभु को प्राप्त हो गयी जो सभी व्यक्तियों का प्रतिनिधि बन गया। इस प्रकार सम्प्रभु के व्यक्तित्व में एक ऐसी एकाकी प्रतिनिध्यात्मक इच्छा का निर्माण हो गया जो विविध संघर्षरत इच्छाओं की स्थानापन्न इच्छा थी। हॉब्स की धारणा में सम्प्रभु वह व्यक्ति है 'जिसके कार्यों से एक विशाल जन-समूह ने, एक-दूसरे के साथ पारस्परिक समझौते के द्वारा, अपने में से प्रत्येक को दूसरा बना दिया है, ताकि वह दूसरा व्यक्ति उन सबकी शान्ति तथा सामूहिक सुरक्षा के निमित्त जो भी उचित समझे उसके लिए उन सबको शक्ति तथा साधन के रूप में प्रयुक्त कर सके।'[1] इस प्रकार सम्प्रभु की सत्ता असीम तथा अमर्यादित हो जाती है और जनता के कल्याण एवं सुरक्षा के दायित्व को सम्पन्न करने के लिए कानून बनाने तथा उन्हें लागू करने का एकमात्र अधिकार उसे प्राप्त हो जाता है।

राज्य का प्रतिरोध करने का जो सीमित अधिकार हॉब्स व्यक्ति को देता है, वह भी उसके निरंकुश प्रभुसत्ता के सिद्धान्त से संगति नहीं रखता। यह असंगति इसी कारण उत्पन्न हुई है कि उसने प्रभुसत्ता का स्रोत संविदा में माना है। व्यक्ति आत्म-रक्षा हेतु ही संविदा करते हैं। अत: यदि व्यक्तियों के जीवन-रक्षा के अधिकार को सुरक्षा प्रदान करने में सम्प्रभु समर्थ नहीं होता तो संविदा भंग हो जायेगी। यदि सम्प्रभु के हाथ में असीम सत्ता है तो वही यह निर्धारित करेगा कि व्यक्ति के आत्म-रक्षा के अधिकार का कहाँ पर अतिक्रमण हुआ है। इसके विपरीत यदि ऐसा निर्धारण व्यक्ति करता है तो असीम सम्प्रभुता की धारणा निर्मूल हो जावेगी और ऐसी स्थिति में पुन: अराजकता का वातावरण उत्पन्न हो जायेगा। सम्प्रभु के हाथ में जो विशाल अमर्यादित सत्ता संविदा द्वारा आ जाती है उसके आधार पर व्यक्तियों द्वारा राज्य का प्रतिरोध कर सकने की धारणा समाप्त हो जाती है। इस प्रकार निरंकुश सम्प्रभु का सृजन संविदा द्वारा होने की धारणा व्यक्त करने पर भी हॉब्स जनता को शासन के विरुद्ध क्रान्ति करने का अधिकार नहीं देता। शासन के रूपों, स्वतन्त्रता, कानून आदि के सम्बन्ध में भी हॉब्स का विवेचन प्रभुसत्ता के एक ऐसे रूप को चित्रित करना है जो एक निरंकुश तथा सर्वाधिकारवादी राज्य का द्योतक है।

क्रान्ति—हॉब्स की विचारधारा में राज्य के निर्माण के लिए व्यक्तियों द्वारा संविदा करने का एकमात्र उद्देश्य आत्म-रक्षा है। आत्म-रक्षा ही व्यक्ति का एकमात्र

[1] 'That person of whose acts a great multitude, by mutual covenant with one another, have made themselves everyone the another, to the end he may use the strength and means of them all as he shall think expedient for their peace and common defence.' —Hobbes.

प्राकृतिक अधिकार है। सम्प्रभु का सबसे प्रमुख दायित्व समाज के व्यक्तियों की सुरक्षा प्रदान करना है। यदि सम्प्रभु इस दायित्व को नहीं निभा सकता तो प्रजाजनों द्वारा उसकी आज्ञा का पालन किये जाने का दायित्व भी समाप्त हो जाएगा। अतएव यदि व्यक्तियों के जीवन को सम्प्रभु सुरक्षा प्रदान करने में असफल सिद्ध हुआ और उसके परिणामस्वरूप संविदा भंग होने की स्थिति उत्पन्न हो गयी तो वह एक प्रकार की क्रान्ति हो जायेगी; और सम्प्रभु शक्ति समाप्त हो जायेगी। सम्प्रभु शक्ति के नष्ट हो जाने का अर्थ यह होगा कि व्यक्ति पुनः प्राकृतिक स्थिति में आ जायेंगे। इस दृष्टि से हॉब्स जनता द्वारा राज्य के विरुद्ध क्रान्ति करने के अधिकार को परोक्ष रूप में ही मान्य करता है, परन्तु इस स्थिति का वह विस्तारपूर्वक विवेचन नहीं करता और न यह उसकी राजनीतिक विचारधारा का महत्त्वपूर्ण तथ्य है। वास्तव मे हॉब्स जनता द्वारा राज्य के विरुद्ध क्रान्ति करने के अधिकार का समर्थन नहीं करता। उसने कहा है कि 'राज्य का प्रतिरोध करने का अधिकार सिद्धान्ततः एक मूर्खतापूर्ण प्रस्ताव है।'[1] उसका मुख्य उद्‌देश्य निरंकुशतावाद का समर्थन करना था, जिसे वह राज्य की आन्तरिक शान्ति के लिए आवश्यक मानता है।

कानून तथा सम्प्रभुता—हॉब्स के अनुसार कानून तीन प्रकार के होते हैं जो विभिन्न चरणों में लागू होते हैं। (1) प्राकृतिक स्थिति में जंगल का कानून विद्यमान रहता है जिसका आधार मत्स्य न्याय है। (2) जब मानव में विवेक उत्पन्न होता है तो उस समय प्राकृतिक कानून सक्रिय होता है जिसके अनुसार लोग संविदा करते हैं। (3) संविदा के बाद सम्प्रभु की सृष्टि हो जाने पर नागरिक कानून बनते हैं जो सम्प्रभु के आदेश हैं। हॉब्स की विचारधारा में सम्प्रभुता का स्वरूप कानूनी सम्प्रभुता (legal sovereignty) का है। इसका यह अभिप्राय है कि सम्प्रभु के ऊपर कानून की कोई मर्यादा नहीं है। हॉब्स के मत से तथाकथित प्राकृतिक कानून वास्तव में कानून नहीं हैं। वे केवल ऐसे प्रमेय या निष्कर्ष हैं जो यह बताते हैं कि कौन-सी बात मनुष्य की रक्षा तथा प्रतिरक्षा के लिए उपयुक्त है। ये विवेक के आदेश मानवों को प्राकृतिक स्थिति का त्याग करने की संविदा करने की प्रेरणा देते हैं। हॉब्स ने कहा है कि 'वास्तविक कानून उस व्यक्ति का आदेश है जिसे दूसरों को आदेश देने का अधिकार प्राप्त है।'[2] राज्य का निर्माण करने वाली संविदा सम्प्रभु को दूसरों को आदेश देने का अधिकार प्रदान करती है। अतएव 'कानून सम्प्रभु का आदेश है' (law is the command of the sovereign)। संविदा द्वारा सम्प्रभु को बल-प्रवर्ती शक्ति प्राप्त हो जाती है। हॉब्स का मत था कि प्राकृतिक कानून (विवेक का आदेश) यह बताता है कि जो संविदाएँ की जाती हैं उन्हें बनाये रखा जाये अन्यथा वे कोरी शब्द-जाल रह जायेंगी। संविदा द्वारा लोग अपने समस्त अधिकार सम्प्रभु को सौंप देते हैं। और स्वयं शक्ति या बल-प्रयोग का उपयोग न करने की प्रतिज्ञा करते हैं। ऐसी शक्ति सम्प्रभु को ही प्राप्त रहती है। अतः वह विधिवत् बल-प्रयोग करने की शक्ति धारण करता है। शान्ति तथा सुरक्षा के निमित्त वह जिन आदेशों को देता है वही नागरिक कानून (civil laws) हैं, और उन्हें लागू करने तथा उनका परिपालन करने के लिए वह बल-प्रवर्ती शक्ति का प्रयोग करता है। इसके अभाव में

[1] 'The right to resist the state is a theoretically absurd proposition.'

[2] 'Law properly is the word of him that by right hath command over others.'

कानून महत्त्वहीन हो जायेंगे। सम्प्रभु किसी भी रूप में कानून के अधीन नहीं है, क्योंकि जैसा हॉब्स ने कहा है 'जो व्यक्ति किसी को बाँध सकता है वही उसे मुक्त भी कर सकता है, अत: जो व्यक्ति केवल अपने द्वारा प्रतिबन्धित है, वह वास्तव में प्रतिबन्धित नहीं है।'[1]

हॉब्स के मत से राज्य के नागरिक कानून (civil laws) सम्प्रभु की इच्छा की अभिव्यक्ति करते हैं और स्वयं सम्प्रभु उनसे बाध्य नहीं है। जन-परम्पराएँ कानून नहीं हो सकतीं, न सम्प्रभु उन्हें मान्यता देने को बाध्य है। वे तभी तक समाज में प्रचलित रह सकती हैं, जब तक कि सम्प्रभु उन्हें अपना मूक-समर्थन प्रदान करता है, अर्थात् जब तक वह उन्हें अपने कानून द्वारा अमान्य नहीं करता। विवेक की उपज होने के कारण प्राकृतिक कानून का स्वरूप दैवी होता है और उसके नियम बाइबिल में संग्रहीत हैं। उन्हें वास्तविक कानून नहीं कहा जा सकता है। हॉब्स प्राकृतिक कानून के परम्परागत स्वरूप को, जैसा कि उसके पूर्ववर्ती विचारक मानते आये थे, स्वीकार नहीं करता। उसका मत था कि समस्त कानूनों का, विशेष रूप से अलिखित प्राकृतिक कानून का निर्वचन करने की आवश्यकता पड़ती है। अत: सम्प्रभु ही उसका एकमात्र निर्वचक हो सकता है। ऐसे कानूनों को वास्तविक कानून का रूप तभी प्राप्त होता है जबकि वे सम्प्रभु के आदेश में परिणत हो जाये। कोक प्रभृति न्याय तथा कानून-विदों ने सामान्य कानून की धारणा तथा न्याय के सिद्धान्तों की प्रशंसा की थी। उनके विरुद्ध हॉब्स का यह उत्तर था कि न्यायाधीशों का अध्ययन तथा अनुभव कानून का सही-सही निर्वचन करने की कसौटी नहीं है। इसी प्रकार नैतिक दर्शन या कानून की वैज्ञानिक टीकाएँ भी कानून का निर्वचन करने के प्रामाणिक स्रोत नहीं हो सकते, क्योंकि एक टीका का विरोध दूसरी टीका करती है जिसका यह अर्थ हुआ कि इनमें से कोई भी टीका प्रामाणिक नहीं है। अतएव कानून का एकमात्र निर्वचक सम्प्रभु ही हो सकता है और कानून की विवेकशीलता की परीक्षा सम्प्रभु की इच्छा में निहित उसका विवेक ही कर सकता है। सामान्यतया सम्प्रभु को दैवी कानून, तथा प्राकृतिक कानून का अनुगमन करना चाहिए, परन्तु यदि वह ऐसा नहीं करता तो वह स्वयं केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है न कि किसी मानव या मानवीय संस्था के प्रति। हॉब्स की धारणा में दीर्घकाय (Leviathan) सहमति का शासन नहीं है। नागरिक का एकमात्र अधिकार आत्म-रक्षा है, न कि विधि-निर्माण में भाग लेना। प्राकृतिक कानून का उद्देश्य जनता में समरूपता बनाये रखना तथा शान्ति बनाये रखना है। इस व्यवस्था को बनाये रखने के लिए सम्प्रभु समाज के उन तत्त्वों से पृथक् करने या दण्ड देने की व्यवस्था करता है जो सामाजिक समरूपता को बनाये रखने के लिए बाधक या अवांछित सिद्ध होते हैं। इस दृष्टि से हॉब्स, बोदां या ग्रोशियस की भाँति सम्प्रभु को किसी अन्य प्रकार के कानून द्वारा मर्यादित करने की धारणाओं का विरोध करता है। वह राष्ट्रीय सम्प्रभु के ऊपर अन्तर्राष्ट्रीय कानून की मर्यादा आरोपित करने का समर्थन भी नहीं करता। उसकी दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय कानून (law of nations) केवल विवेक के ऐसे आदेश हैं, जो प्रत्येक सम्प्रभु को अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के नियमों का निदेशन करते हैं, क्योंकि राष्ट्रीय सम्प्रभु भी परस्पर प्राकृतिक स्थिति में रहते हैं। परन्तु हॉब्स

[1] 'He that can bind, can release; and therefore he that is bound to himself only, is not bound.'

अन्तर्राष्ट्रीयता का विवेचन नहीं करता। संक्षेप में, हॉब्स जन-परम्पराओं, न्यायाधीशों के निर्णयों, न्यायिक तथा कानूनी टीकाओं, अलिखित प्राकृतिक कानून, अन्तर्राष्ट्रीय कानून या परम्पराओं, धर्मशास्त्रों के नियमों आदि को वास्तविक कानून या उसके स्रोत के रूप में मान्य नहीं करता। उसके मत से वास्तविक कानून केवल सम्प्रभु का आदेश है। हॉब्स के कानून तथा सम्प्रभुता की धारणाओं ने 19वीं शताब्दी के चिन्तकों बेंथम तथा ऑस्टिन, जो हॉब्स की भाँति ही उपयोगितावादी थे, के विचारों के विकास के निमित्त मार्ग प्रशस्त किया।

सम्प्रभुता के अधिकार—हॉब्स की विचारधारा असीम प्रभुसत्ता (absolute sovereignty) के सिद्धान्त की द्योतक है। अतः राज्य के समस्त शासकीय कार्यों में सम्प्रभु की शक्ति पूर्ण है। सम्प्रभु विधि-निर्माता तथा विधि का लागू करने वाला (legislator and executive) ही नहीं है, अपितु वह प्रमुख न्यायाधीश भी है। इस दृष्टि से हॉब्स की विचारधारा में शासन के अगों के मध्य शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त की कल्पना नहीं की जा सकती। युद्ध तथा शान्ति की घोषणा करने का एकमात्र अधिकार सम्प्रभु को प्राप्त है। साथ ही राज्य की सम्पूर्ण सैनिक शक्ति उसी के हाथ में है। प्रशासनिक क्षेत्र में भी उसकी सत्ता सर्वोच्च है। अपने मन्त्रियों, प्रशासनिक अधिकारियों, सैनिक तथा न्यायिक अधिकारियों को नियुक्त करने तथा पदच्युत करने का एकमात्र अधिकार सम्प्रभु को है। इसके अतिरिक्त वही सम्मान तथा पुरस्कार की पदवियाँ प्रदान करने का अधिकार रखता है। वह अपनी शक्तियों का प्रत्यायोजन स्वेच्छा से कर सकता है। परन्तु उसके समस्त अधिकारीगण अपने कार्यों के लिए सम्प्रभु के प्रति उत्तरदायी हैं। सम्प्रभु का अधिकार जनमत तथा विचार-अभिव्यक्ति का नियन्त्रण करना भी है। हॉब्स ने मिल्टन द्वारा समर्थित विचार-अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की धारणा को भी मान्य नहीं किया है, न ही उसकी व्यवस्था में यह सम्भव हो सकता था। शान्ति की स्थापना के हित में कौनसी राय उचित है और कौन-सी अनुचित, इसका निर्णय सम्प्रभु ही कर सकता है, क्योंकि संविदा का मुख्य अभिप्राय शान्ति-स्थापना के लिए सम्प्रभु की सृष्टि करना है। बोदां तथा अपने पूर्ववर्ती अन्य विचारकों की भाँति हॉब्स नागरिकों के सम्पत्ति के अधिकार को अलंघ्य नहीं मानता। उसके मत से सम्प्रभु को ही समस्त नागरिक कानूनों, सम्पत्ति सम्बन्धी कानूनों तथा नियमों का निर्माण करने की शक्ति प्राप्त है। सारांश यह है कि हॉब्स का सम्प्रभु शासन तथा प्रशासन के सम्पूर्ण क्षेत्रों में सर्वोच्च तथा निरंकुश शक्ति से युक्त है। उसके ऊपर किसी भी प्रकार की मर्यादा नहीं है। इस दृष्टि से 'हॉब्स की धारणा के सम्प्रभु के हाथ में बोदां की धारणा के सम्प्रभु की अपेक्षा कहीं अधिक पूर्ण शक्तियाँ हैं।'[1]

इस दृष्टि से यदि प्रजाजन किसी भी रूप में सम्प्रभु की आज्ञा का विरोध करते हैं तो उनका यह व्यवहार न्यायोचित नहीं है। यहाँ तक कि एक सम्प्रभु की स्थापना कर लेने पर उसके स्थान पर दूसरे सम्प्रभु की स्थापना करना भी संविदा को भंग करना, अथच पुनः प्राकृतिक स्थिति में प्रत्यावर्तित हो जाने के तुल्य है। इस दृष्टि से अत्याचारी शासक का वध करना (tyrannicide) भी हॉब्स को मान्य नहीं है। यद्यपि हॉब्स राज्य की उत्पत्ति को संविदागत सिद्ध करता है तथापि वह

[1] 'Hobbes' sovereign has far more complete powers than does Bodin's.' —Harmon, *op. cit.*, 223.

शक्ति-तत्त्व को प्रमुख स्थान देता है। बोदां की धारणा में शक्ति-तत्त्व राज्य की उत्पत्ति का आधार है, परन्तु राज्य की स्थापना के पश्चात् वह आवश्यक रूप से वांछनीय नहीं है। इसके विपरीत हॉब्स की व्यवस्था में शक्ति-तत्त्व संविदा से पूर्व भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है, परन्तु राज्य की सृष्टि के पश्चात् तो वह बना ही रहेगा, चाहे वह पृष्ठभूमि में ही विद्यमान रहे। हॉब्स किसी भी रूप में बहुवादी सिद्धान्त को नहीं मानता है। उसके मत से राज्य में समस्त संघ तथा निगम सम्प्रभु के आदेश तथा अनुमति के आधार पर ही कार्य कर सकते हैं। सम्प्रभु के अभाव में समाज का अस्तित्व नहीं रह सकता। राज्य इसी अर्थ में अद्वितीय संस्था है कि उनमें कोई अन्य सम्प्रभु शक्ति नहीं होती।

प्रभुसत्ता के सम्बन्ध में हॉब्स की ऊपर वर्णित धारणाओं के आधार पर ये निष्कर्ष निकलते हैं कि (1) राज्य तथा समाज या राज्य तथा सरकार के मध्य भेद नहीं है। हॉब्स की धारणा में एक प्रभुत्त्वपूर्ण शासन-सत्ता के बिना राज्य या समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। (2) कानून तथा नैतिकता के मध्य भी भेद नहीं है। उसके मत से एक सम्प्रभु सरकार से युक्त नागरिक समाज में ही नैतिकता रह सकती है और कौन सी बात नैतिक है इसका निर्धारण सम्प्रभु का आदेश तथा विवेक ही कर सकता है। (3) प्रभुसत्ता असीम, अविभाज्य तथा अदेय है। (4) यद्यपि हॉब्स व्यक्ति-समूह को भी सम्प्रभु मानने से इनकार नहीं करता, तथापि वह राजतन्त्र (एकतन्त्र) को अधिक उपयुक्त समझता है। (5) सम्प्रभुता का स्रोत संविदा है जिसे हॉब्स ने अपने तार्किक निष्कर्षों के द्वारा उपयोगितावादी दृष्टिकोण से उचित सिद्ध करने का प्रयास किया है।

आलोचना—परन्तु हॉब्स के दर्शन की तर्क-संगतता के बावजूद उसकी सम्प्रभुता की धारणा दोषमुक्त नहीं रह पायी है। यह सच है कि 'हॉब्स ने सर्वप्रथम प्रभुसत्ता के संगतिपूर्ण सिद्धान्त को व्यक्त किया है, परन्तु संविदा को इसका स्रोत मानने में उसने बड़ी भूल की है।'[1] अपने युग में हॉब्स ही एकमात्र निरंकुशतावादी चिन्तक नहीं था। उससे पूर्व भी फिल्मर आदि ने निरंकुशतावाद का समर्थन किया था। जेम्स प्रथम भी एक निरंकुश राजा था। शाहीतन्त्रवाद के समर्थक (Royalists) भी निरंकुशतावादी थे। इन लोगों ने राजा के दैवी अधिकार सिद्धान्त के द्वारा निरंकुश राजतन्त्रों का समर्थन किया। परन्तु हॉब्स भौतिकतावादी होने के साथ-साथ विज्ञान-वेत्ता तथा दार्शनिक भी था। उसने धर्म तथा दैवी कानून की धारणाओं को राजनीति के अध्ययन के लिए अमान्य किया। वह युग संविदावाद तथा विवेकवाद का युग था। राजनीतिक विचारधाराओं में राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त के स्थान पर सामाजिक समझौता सिद्धान्त को मानने की प्रवृत्ति बहुत प्रचलित हो रही थी। हॉब्स भी इस प्रवृत्ति से नहीं बच पाया। परन्तु ऐसा करने में उसके अनेक मनोवैज्ञानिक निष्कर्ष तथा दार्शनिक तर्क असंगतिपूर्ण हो गये हैं। स्वयं संविदा तथा निरंकुशतावाद परस्पर असंगतिपूर्ण धारणाएँ हैं। इसी प्रकार व्यक्तिवाद तथा निरंकुशतावाद भी साथ-साथ नहीं चल सकते। परन्तु हॉब्स ने इन परस्पर विरोधी धारणाओं को अपने तर्कों का अंग बनाया और उन्हें साथ-साथ लेकर चला। परिणाम यह हुआ कि उसके राजनीतिक विचारों में असंगति दोष

[1] 'Hobbes gave the first consistent theory of sovereignty, but erred in deriving it from a contract.'

उत्पन्न हो गया।

जहाँ तक प्रभुसत्ता की स्थिति तथा शक्तियों का सम्बन्ध है, हॉब्स ने इस धारणा को पर्याप्त स्पष्टता के साथ व्यक्त करके और उसकी कानूनी सर्वोच्चता को हर दृष्टि से अमर्यादित रखकर उसे संगतिपूर्ण बनाने का प्रयास किया है। परन्तु हॉब्स की धारणा में एक सबसे बड़ी कमी यह है कि उसने प्रभुसत्ता का स्रोत संविदा को माना है, जिसके कारण उसका स्वरूप असंगतिपूर्ण हो जाता है। यह एक सामान्य बात है कि समझौता हमेशा सशर्त होता है। उसमें दो पक्ष होते हैं। परन्तु हॉब्स की धारणा में सम्प्रभु तथा नागरिकों के मध्य समझौता होने की बात मान्य नहीं की गई है। नागरिक आपस में एक-दूसरे के साथ समझौता करके अपने समस्त अधिकार सम्प्रभु (महामानव) को सौंप देते हैं। अतएव सम्प्रभु की सत्ता असीम हो जाती है। वह स्वयं तो समझौते का एक पक्ष नहीं है, परन्तु उसका दायित्व बल-प्रयोग द्वारा समझौते को लागू करना है। इस सम्बन्ध में हॉब्स की प्राथमिक धारणाएँ सही सिद्ध नहीं होतीं। मानव स्वभाव के बारे में हॉब्स के निष्कर्षों को सही नहीं माना जा सकता। यह मानना कि प्राकृतिक स्थिति में मानव भावावेशों तथा संवेगों के पुंज-मात्र थे और इस प्रकार स्वार्थी थे और निरन्तर एक दूसरे के साथ संघर्ष की स्थिति में रहते थे, एक ऐतिहासिक तथ्य या यथार्थ तर्क नहीं है। मानव में संवेग तथा विवेक सदैव होते हैं। हॉब्स का यह तर्क भी सही नहीं हो सकता कि मानवों में एकाएक विवेक उत्पन्न हो गया और उस विवेक ने उन्हें संविदा करके अपने प्राकृतिक अधिकारों को त्यागने और उन्हें एक महामानव (Leviathan) को सौंप देने की प्रेरणा प्रदान की। हॉब्स की इस धारणा की आलोचना करते हुए लॉक ने उचित ही कहा है कि इस धारणा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'मानों लोग इतने मूर्ख थे कि उन्हें लोमड़ियों और गन्धमार्जारों की शरारतों से बचने की तो चिन्ता थी, परन्तु अपने को शेर के मुँह मे झोंक देने में वे सन्तुष्ट होकर उसी में अपनी सुरक्षा समझने लगे।'[1]

संविदा द्वारा निरंकुश सम्प्रभु की सृष्टि होने की धारणा को सिद्ध करने में हॉब्स के तर्क तथा मनोवैज्ञानिक निष्कर्ष संगतिपूर्ण नहीं लगते। यदि प्राकृतिक मानव पूर्णतया संवेगों के दास थे और शक्ति पर ही भरोसा रखने वाले असभ्य जानवर थे तो उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वे अपने सामाजिक हितों का सही ज्ञान करके ऐसी संविदा करने की क्षमता रखते। हॉब्स के तर्कों से यह निष्कर्ष निकलता है कि या तो मानव पूर्णतया जानवरों के तुल्य अविवेकी थे अथवा वे बिल्कुल विवेकपूर्ण मानव थे। यदि प्रथम स्थिति थी तो उनके द्वारा संविदा किये जाने की आशा नहीं की जा सकती। यदि द्वितीय स्थिति थी तो यह नहीं माना जा सकता कि प्राकृतिक स्थिति में शक्ति ही प्राकृतिक अधिकार था। यदि मानवों में आत्म-रक्षा तथा अपने कल्याण की भावना थी तो संविदा द्वारा वे एक बल-प्रवर्ती शक्ति से युक्त निरंकुश सम्प्रभु की स्थापना नहीं कर सकते थे। दूसरी ओर यदि वे पूर्णतया अपने भावावेशों के दास थे, तो उनसे यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे संविदा द्वारा राजनीतिक समाज की स्थापना करके एक निरंकुश सम्प्रभु की निरन्तर दासता में अपने को झोंक देने के लिए राजी हो जाते। इस प्रकार 'हॉब्स

[1] 'It leads us to think that men are so foolish that they take care to avoid what mischiefs may be done to them by polecats and foxes, but are content, nay think it safety, to be devoured by lions.' —Locke.

के दर्शन की सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि उसने मानव स्वभाव के केवल एक ही पक्ष को लिया। उसने यह नहीं विचारा कि बहुधा अत्यन्त दानवी प्रकृति के मानव में भी कभी-कभी दया, सहानुभूति, कृतज्ञता तथा आत्म-त्याग की भावनाएँ होती ही हैं।'[1] परन्तु हॉब्स यह मानकर चला कि सभी मानव स्वभावतः दुष्ट होते है। यदि वे ऐसे थे तो उनसे यह आशा करना कि वे अपनी दुष्ट प्रकृति को दबाने के लिए एक निरंकुश पुलिस अधिकारी की निरंकुश सत्ता के अधीन रहने के लिए कैसे राजी हो गये, एक असंगतिपूर्ण तर्क है।

यदि हॉब्स प्रभुसत्ता की धारणा को व्यक्त करने में उसके स्रोत को संविदा में न खोजकर दैवी अधिकार या शक्ति-सिद्धान्त के आधार पर व्यक्त करता तो उसके दर्शन की अनेक कमियाँ दूर हो जातीं। हॉब्स के बारे में यह कहा जाता है कि उसने अपने युग के इंग्लैण्ड के गृह-युद्ध के वातावरण को देखकर मानव स्वभाव के बारे में ऐसे निष्कर्ष निकाले थे। प्राकृतिक स्थिति के जीवन की उसकी कल्पना एक अराजक समाज के जीवन का चित्र प्रस्तुत करती है। जहाँ तक हॉब्स के द्वारा निरंकुशतावाद का समर्थन करने की बात है, इसके बारे में भी ऐसा कहा जाता है कि हॉब्स का उद्देश्य क्रामवेल को प्रसन्न करना था जो कि चार्ल्स प्रथम को मृत्युदण्ड दिए जाने के बाद वस्तुतः इंग्लैण्ड का निरंकुश तानाशाह बन चुका था और स्वयं हॉब्स भी अपनी रचना 'लैवाइथन' के प्रकाशन के बाद क्रामवेल की शरण में चला गया था। संविदा के आधार पर प्रभुसत्ता की उत्पत्ति तथा उसके स्वरूप को चित्रित करने में हॉब्स अपने युग की चिन्तन प्रवृत्ति से प्रभावित था। इस प्रकार भले ही हॉब्स का दर्शन अनेक प्रकार से मौलिक है, तथापि उसमें जो प्रभाव कार्य करते रहे, उनके कारण उसमें कुछ असंगतियाँ आ गयीं।

शासनों के रूप तथा अविभाज्य प्रभुसत्ता—बोदां की भाँति हॉब्स भी प्रभुसत्ता को अविभाज्य मानता है, परन्तु बोदां की भाँति वह राज्य तथा शासन के मध्य भेद नहीं करता। अविभाज्य प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का प्रतिपादन हॉब्स शासनों के भेदों तथा अंगों का विवेचन करके करता है। उनके मत से राज्य के केवल तीन रूप राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा लोकतन्त्र हो सकते हैं, जिनका निर्धारण सम्प्रभु सत्ता धारण करने वाले व्यक्तियों की संख्या के आधार पर किया जा सकता है। इन तीन रूपों के अतिरिक्त शासन के अन्य कोई रूप नहीं हो सकते। अत्याचारी-तन्त्र (tyranny), वर्गतन्त्र (oligarchy) या अराजकतन्त्र (anarchy) शासनों के रूप नहीं हो सकते। ऐसा वर्गीकरण केवल पूर्वोक्त तीन रूपों से असन्तुष्ट व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। हॉब्स ने कहा है कि 'शासन का अभाव शासन का कोई रूप नहीं हो सकता, और इसी कारण यह भी उचित नहीं है कि यदि कोई व्यक्ति किसी शासन-व्यवस्था को पसन्द करे तो उसे एक प्रकार की कहे और यदि नापसन्द करे तो दूसरे प्रकार की कहे।'[2] बोदां की भाँति हॉब्स भी मिश्रित शासन को शासन का रूप नहीं मानता। ऐसी धारणा प्रभुसत्ता के विभाजित होने की द्योतक है। यह

[1] 'Where he went wrong was in seeing only one side of human nature. He did not see that even the most vicious men can be, and sometimes are generous, sympathetic, kind and self-sacrificing.' —W. T. Jones, *op. cit.*, 130.

[2] 'I think, no man believes that want of government is any new kind of government, nor by the same reason ought they to believe that government is of one kind when they like it and another when they dislike it or are oppressed by the governors.'

वास्तविक शासन का रूप नहीं हो सकता। हॉब्स इस धारणा का भी विरोधी था कि इंग्लैण्ड में शासन की सत्ता राजा, लार्ड सभा तथा कामन सभा के मध्य बँटी हुई है। उसके मत से शक्ति-विभाजन की ऐसी धारणा ही इंग्लैंण्ड के गृह-युद्ध का कारण थी। राजतन्त्री, कुलीनतन्त्री या लोकतन्त्री शासन के मध्य भेद शक्ति में अन्तर होने का नहीं है, अपितु अन्तर केवल सुविधा का है, जिसके अनुसार जनता की शान्ति तथा सुरक्षा बनी रहे और उसी उद्‌देश्य को लेकर इन शासनों की स्थापना की जाती है। शासन के सभी रूपों में सम्प्रभुता के लक्षण समान रहते हैं।

शासन के उपर्युक्त तीन रूपों में से हॉब्स राजतन्त्र को सर्वोत्तम व्यवस्था मानता है। उसके विचार से राजतन्त्र में शासक प्रजा की समृद्धि की कामना करता है। अत: जनता की शान्ति तथा समृद्धि बनाये रखने की प्रेरणा शासक में अधिक विद्यमान रहती है। प्रतिनिध्यात्मक संस्थाएँ इतनी बड़ी होती हैं कि उनमें सम्प्रभु सत्ता का प्रयोग करने वाले सदस्यों के विचारों में एकरूपता हो सकना तथा उनमें तुरन्त निर्णय लेने की क्षमता होना सम्भव नहीं हो सकता। उसमें विचार-साम्य का अभाव होने के कारण ठोस नीतियों का निर्माण भी नहीं हो सकता। राजतन्त्र में पक्षपात तथा भ्रष्टाचार के अवसर भी कम होते हैं क्योंकि एक सत्ताधारी के स्वजन कम ही होंगे। राजतन्त्र में सुयोग्य उत्तराधिकारी की समस्या आ सकती है, परन्तु यह समस्या तो अन्य शासनों मे भी उत्पन्न होती ही रहती है। निर्वाचित तथा मर्यादित राजतन्त्र में प्रभुसत्ता अविभाज्य नहीं रह सकती। इस दृष्टि से हॉब्स वंशानुगत राजतन्त्र का समर्थक प्रतीत होता है। परन्तु वह राजा के दैवी अधिकार का समर्थक नहीं है। उपयोगिता को वह अधिक महत्त्व देता है। उसके मत से शासन के विविध अभिकरण, सम्प्रभु की इच्छा को कार्यान्वित करने वाले अभिकर्त्ता मात्र होते हैं और वे पूर्णतया उसके अधीन हैं।

स्वतन्त्रता—'यद्यपि हॉब्स सम्प्रभु के हाथ में विशाल शक्तियों को विहित करने का प्रस्ताव रखता है, तथापि उसने एक सर्वाधिकारवादी राज्य का समर्थन नहीं किया है।'[1] हॉब्स जहाँ निरंकुश प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का समर्थक है, वहाँ वह पूर्णतया व्यक्तिवादी भी है। परन्तु हॉब्स का व्यक्तिवाद अन्य व्यक्तिवादियों की भाँति व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की धारणा का समर्थन नहीं करता। स्वतन्त्रता की धारणा अधिकारों की धारणा पर आधारित है। हॉब्स के अनुसार, प्राकृतिक स्थिति में व्यक्ति प्राकृतिक अधिकारों का उपभोग करते थे। उनके अन्तर्गत वे स्वतन्त्रता का भी उपभोग करते थे, जिसका अर्थ था प्रत्येक व्यक्ति जैसा चाहे वैसा करने को स्वतन्त्र था, बशर्ते कि उसकी शक्ति उसे ऐसी क्षमता प्रदान कर सकती। वह अपने संवेगों पर आधारित जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकारों का उपभोग भी अपनी शक्ति अनुसार ही करता था। परन्तु उसकी इन स्वतन्त्रताओं का कोई नैतिक या कानूनी आधार नहीं था। ये पाशविक शक्ति पर निर्भर थे। परन्तु प्राकृतिक स्थिति से सभ्य सामाजिक या राजनीतिक स्थिति में प्रत्यावर्तित हो जाने पर व्यक्ति संविदा द्वारा ऐसी स्वतन्त्रताओं का परित्याग कर देते हैं। इस स्थिति में आने पर उनका एकमात्र अधिकार जीवन-रक्षा का रह जाता है। चूँकि संविदा द्वारा राज्य का निर्माण ही व्यक्ति की सुरक्षा के लिए होता है और सम्प्रभु का सबसे महान् दायित्व

[1] 'Despite Hobbes' proposal to vest enormous power in the hands of the sovereign he did not advocate a totalitarian state.' —Harmon, *op. cit.*, 230.

व्यक्ति की सुरक्षा करना है अतः हॉब्स की राजनीतिक विचारधारा में व्यक्ति का हित प्रारम्भिक चीज है।

हॉब्स के मत से 'स्वतन्त्रता का अर्थ गति के विरुद्ध बाह्य बाधाओं का अभाव है, अथवा विवेकशील प्राणियों के सम्बन्ध में वे जो कुछ करना चाहते हैं उसके विरुद्ध बाधाओं का अभाव है।'[1] राज्य के अन्तर्गत संविदा द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा के स्थान पर एकमात्र राज्य की इच्छा का निर्माण हो जाता है, और राज्य की उस इच्छा की अभिव्यक्ति राज्य के कानून द्वारा होती है। इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति की स्वतन्त्रता की कल्पना राज्य के कानूनों के सन्दर्भ में ही की जा सकती है। अतएव व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अभिप्राय उन कार्यों को करने की स्वतन्त्रता से है जिन्हें सम्प्रभु (राज्य के कानूनों) के द्वारा मना नहीं किया गया है, अथवा जिन कार्यों को करने का परित्याग मौलिक संविदा द्वारा नहीं किया गया है। हॉब्स का कहना था कि 'प्रजाजन की सबसे बड़ी स्वतन्त्रता कानून के मूक रहने में विद्यमान रहती है।'[2] इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति अब भी स्वतन्त्रता का उपभोग करता है, परन्तु वह उन्हीं बातों में स्वतन्त्र है जिनका नियमन करने में सम्प्रभु ने उसे ऐसी आज्ञा दी हो अथवा स्वयं सम्प्रभु के कानून द्वारा उसे ऐसा करने से मना नहीं किया गया हो, अथवा संविदा में ऐसा न करने की प्रतिज्ञा न की गई हो। इस प्रकार यदि सम्प्रभु किसी व्यक्ति की हत्या करे या उसकी सम्पत्ति को छीन ले, और ऐसा करने के लिए किसी औपचारिक कानून का अस्तित्व भी न हो, तो सम्प्रभु का यह कार्य अन्यायपूर्ण नहीं कहा जायेगा, क्योंकि अन्याय का अर्थ संविदा का उल्लंघन करना है, और व्यक्ति तथा सम्प्रभु के मध्य कोई ऐसी संविदा नहीं हुई थी। जहाँ तक संविदा द्वारा कुछ कार्यों को करने की शक्ति का परित्याग न करने का प्रश्न है, हॉब्स व्यक्ति की कुछ स्वतन्त्रताओं को मान्य करता है। संविदा का उद्देश्य व्यक्ति की जीवन-रक्षा है, अतः यदि व्यक्ति सम्प्रभु की आज्ञा के विरुद्ध स्वयं अपनी हत्या करने से इनकार करता है तो अन्याय नहीं है। ऐसी ही स्थिति के अन्तर्गत वह अपने ऊपर घातक प्रहार का प्रतिरोध कर सकता है, अथवा अपने जीवन को खतरा पहुँचाने वाले अभियोग में स्वयं अपने को अभियोगी मानने से इनकार कर सकता है। परन्तु यदि व्यक्ति के ऐसे व्यवहारों में सम्प्रभु उसकी हत्या कर दे तो उसमें न्याय-अन्याय की कोई धारणा लागू नहीं हो सकती। इस प्रकार डनिंग का मत है कि 'अपने इस सिद्धान्त द्वारा हॉब्स उन सब विचारकों की धारणाओं का विरोध करता है जो यह मानते हैं कि वैयक्तिक स्वतन्त्रता, व्यक्तिगत सम्पत्ति, विचार-अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, विश्वास की स्वतन्त्रता, तथा अन्य विशेषाधिकार व्यक्ति के ऐसे अधिकार हैं जिनका अतिक्रमण सम्प्रभु केवल अन्याय के द्वारा ही कर सकता है।'[3] यद्यपि हॉब्स सम्प्रभु को जिस प्रकार चाहे उस प्रकार शासन करने का अधिकार देता है, बशर्ते कि वह प्रजाजनों की जीवन-रक्षा का ध्यान रखे, तथापि उसका विश्वास था कि शासक के

[1] Dunning, *op. cit.*, 286.

[2] 'The greatest liberty of the subject consists in the silence of law.'
—Hobbes.

[3] 'Such is the doctrine by which Hobbes shuts out the pretentions of those who maintain that personal liberty, private property, freedom of expression, freedom of conscience and other privileges are rights in the individual which may infringed by the sovereign only through injustice.' —Dunning, *op. cit.*, 288.

लिए यह बात अबुद्धिमत्तापूर्ण तथा अव्यावहारिक होगी कि वह जनता के जीवन से सम्बद्ध उन छोटी-छोटी बातों के सम्बन्ध में हस्तक्षेप करे जिनका सम्बन्ध राज्य की शान्ति तथा एकता से नहीं है। चूंकि हॉब्स व्यक्तियों को उन कार्यों को करने की स्वतन्त्रता प्रदान करता है जिन्हें सम्प्रभु ने मना नहीं किया है, अतः व्यक्ति अनेक वैयक्तिक स्वतन्त्रताओं का उपभोग कर सकते हैं, यथा क्रय-विक्रय, पारस्परिक संविदा, आवास की स्वतन्त्रता, भोजन तथा व्यवसाय की स्वतन्त्रता, अपने बच्चों की शिक्षा-दीक्षा की स्वतन्त्रता आदि। कला, साहित्य तथा संस्कृति के क्षेत्र में व्यक्ति को पर्याप्त स्वतन्त्रता दी गयी है। परन्तु यदि सम्प्रभु इनके सम्बन्ध में कोई कानून बनाता है तो व्यक्ति की इन स्वतन्त्रताओं के ऊपर भी उस कानून की सीमा के अन्तर्गत मर्यादा लग जायेगी। अन्यथा कानून के अभाव में व्यक्ति इन स्वतन्त्रताओं का उपभोग कर सकते हैं।

स्वतन्त्रता की धारणा के सम्बन्ध में भी हॉब्स का निरंकुशतावाद स्पष्ट है। परन्तु हॉब्स की दृष्टि में स्वतन्त्रता का महत्त्व व्यावहारिक है न कि नैतिक। अतः एक बुद्धिमान शासक न्याय का अनुसरण करेगा, न कि अत्याचारी स्वेच्छाचारितावाद का, जिसका परिणाम जनता को पुनः प्राकृतिक स्थिति में प्रत्यावर्तित करना हो सकता है। हॉब्स शासक को विधि के शासन को बनाये रखने की सलाह देता है जिसका आधार समानता है। यह प्राकृतिक कानून से संगति रखता है, जिसे व्यावहारिकता तथा उपयोगिता के हित में शासक को मानना चाहिए। सामान्यतया हॉब्स की विचारधारा के अन्तर्गत व्यक्ति को जो स्वतन्त्रताएँ प्राप्त हैं उन्हें दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। पहला ऐसे कार्यों को कर सकना जिनके लिए सम्प्रभु ने मना नहीं किया है, और दूसरा ऐसे कार्यों को करने की स्वतन्त्रता जिनका परित्याग मूल संविदा के द्वारा नहीं किया गया है। हॉब्स ऐसे किसी प्राकृतिक तथा मौलिक अधिकार को मान्य नहीं करता, जो कि अलंघ्य हो। विचार-अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, सम्पत्ति, आदि को मौलिक प्राकृतिक अधिकार मानने की धारणा हॉब्स की विचारधारा से संगति नहीं रखती है। विश्वास की स्वतन्त्रता से हॉब्स को आपत्ति नहीं है, बशर्ते कि वह व्यक्ति का पूर्णतया वैयक्तिक मामला बना रहे। इस प्रकार कोई भी स्वतन्त्रता सम्प्रभु के द्वारा बनाये गये कानून की सीमा के अन्दर ही विद्यमान रह सकती है। हॉब्स शासक या सम्प्रभु को 'अनावश्यक' कानूनों का निर्माण न करने की सलाह देता है। अर्थात् शासक ऐसे कानून नहीं बनायेगा जिनका सम्बन्ध व्यक्तियों के जीवन की रक्षा से नहीं है। अतएव अत्यधिक कानूनों के अभाव में व्यक्ति पर्याप्त स्वतन्त्रताओं का उपभोग कर सकेंगे। हॉब्स का लैवाइथन एक प्रकार का पुलिसमैन है जिसका कार्य यह देखते रहना है कि नागरिकों के जीवन की रक्षा के मार्ग में जो अवरोध आवें वह उनका निराकरण करे और इसके निमित्त बल-प्रवर्ती शक्ति का प्रयोग करे।

राज्य की सुरक्षा—मैकियाविली की भाँति हॉब्स भी राज्य तथा सम्प्रभु-शक्ति की सुरक्षा को सबसे अधिक महत्त्व देता है। उसके विचार से इनके विनष्ट होने का परिणाम यह होगा कि मनुष्य पुनः प्राकृतिक स्थिति में प्रत्यावर्तित हो जायेंगे। इसलिए हॉब्स राज्य तथा सम्प्रभु की सुरक्षा तथा सुदृढ़ता के उपचार भी बताता है। उसकी धारणा यह है कि सम्प्रभु को अपनी नियन्त्रणकारी शक्ति में

शिथिलता नहीं आने देनी चाहिए, क्योंकि यदि एक बार वह शिथिलता लायेगा तो जनता अपने प्राकृतिक स्थिति के पाशविक अधिकारों को बढा लेगी और आवश्यकता पड़ने पर कठोरता लाने में क्रान्ति की सम्भावना बढ़ जायेगी। दूसरी बात ध्यान में रखने की यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को भले या बुरे कार्यों का निर्णय स्वयं करने का अधिकार नहीं होना चाहिए। यह बात तो प्राकृतिक स्थिति में होती थी। राज्य का निर्माण हो जाने पर ऐसा अधिकार पूर्णतया सम्प्रभु को प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अन्तरात्मा से सार्वजनिक कार्य करने की स्वतन्त्रता भी नहीं होनी चाहिए। कानून सार्वजनिक अन्तरात्मा की अभिव्यक्ति है, जो सम्प्रभु की इच्छा से व्यक्त होता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को कानून के अनुसार ही कार्य करना चाहिए न कि अपनी अन्तरात्मा की प्रेरणा के अनुसार। जनता में यह धारणा नहीं होनी चाहिए कि उसका दायित्व नागरिक सत्ता की अपेक्षा धार्मिक विश्वास के प्रति अधिक है। धर्म-गुरुओं के आदेश स्वार्थमय होते हैं, अतः दैवी आदेश का स्रोत धर्म-गुरुओं द्वारा दी गई व्याख्या में नहीं हैं, बल्कि सम्प्रभु का विवेक है। यह धारणा भी भ्रान्त है कि सम्प्रभु नागरिक-कानून के अधीन होता है, क्योंकि यदि ऐसा होगा तो नागरिक कानून का उल्लंघन करने की स्थिति में किसी अन्य न्यायाधीश को निर्णय करना पड़ेगा, जो सम्प्रभु से उच्चतर स्थिति रखेगा। ऐसा सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि मूल संविदा सम्प्रभु के अतिरिक्त किसी अन्य सर्वोच्च सत्ता को मान्य नहीं करती। इसके अतिरिक्त राज्य में विविध संवासों की सत्ता पूर्णतया सम्प्रभु के अधीन होनी चाहिए। उन्हें सम्प्रभु सत्ता के साथ प्रतियोगिता करने का अधिकार नहीं हो सकता। यदि वे अपनी उच्चतर सत्ता का दावा करने लगेंगे तो प्रभुसत्ता विभाजित हो जायेगी। कोई व्यक्ति दो सम्प्रभुओं के आदेशों का पालन नहीं कर सकता। अतः राज्य में समस्त समुदायों को सम्प्रभु की पूर्ण आधीनता में रहना चाहिए। राज्य की सुरक्षा के लिए हॉब्स व्यक्ति के सम्पत्ति के अलंघ्य अधिकार की भी मान्यता नहीं देता। उनके मत से ऐसे अधिकार की मान्यता द्वारा राज्य में व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य सम्पत्ति की असमानता हो जाने से संघर्षों का भय हो सकता है। अतएव सम्प्रभु को ही सम्पत्ति का नियमन करने का अधिकार होना चाहिए। उसे यथासम्भव सम्पत्ति की समानता को बनाये रखने की व्यवस्था करनी चाहिए। साथ ही वह व्यक्ति की सम्पत्ति पर करारोपण भी कर सकता है, ताकि उससे प्राप्त आय को राज्य तथा व्यक्तियों की सम्पत्ति के सुरक्षात्मक कार्यों में व्यय किया जा सके। इसके अतिरिक्त राज्य की सुरक्षा की एक महान् बाधा हॉब्स को चर्च का अस्तित्व तथा उसकी गतिविधियाँ प्रतीत हुईं। इसके सम्बन्ध में उसने पर्याप्त विवेचन किया है।

राज्य तथा चर्च

हॉब्स के युग में राज्य तथा चर्च के मध्य सत्ता-संघर्ष उस रूप में नहीं रह गया था जिस रूप में वह मध्ययुग में था। तथापि हॉब्स ने अनुभव किया कि फ्रांस तथा इंग्लैण्ड में जो अशान्ति तथा संघर्ष का वातावरण उत्पन्न हुआ है, उसका मुख्य कारण धार्मिक मतभेदों का होना है। फ्रांस में कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेन्ट संघर्ष के कारण राजा हेनरी चतुर्थ का वध, इंग्लैण्ड में कैथोलिकों द्वारा संसद में बम विस्फोट का षड्यन्त्र रचा जाना तथा प्यूरीटन आन्दोलन के कारण गृह-युद्ध का होना और राजा चार्ल्स की हत्या आदि सब धार्मिक मत-मतान्तरों के कारण ही हुए थे। हॉब्स

स्वयं किसी धर्म-विशेष का मानने वाला नहीं था। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह नास्तिक था। डनिंग के मत से वह ईश्वरवादी था।[1] भले ही उसके युग के कुछ धर्मवादी उसे नास्तिक कहते रहे हों। परन्तु जहाँ तक धार्मिक विचारों का सम्बन्ध है, वह चर्च की सत्ता का विरोधी (erastian) था। हारमन ने कहा है कि हॉब्स की दृष्टि में 'विभिन्न संगठनों में से जो कि राज्य के साथ शक्ति-प्रतियोगिता कर सकते हैं, चर्च प्रमुख अपराधी संगठन है।'[2] अत: हॉब्स चर्च को पूर्णतया राज्य के नियन्त्रण में रखना चाहता है। उसकी सहानुभूति किसी विशिष्ट चर्च से (papist, anglican or presbytarian) नहीं थी। जोन्स के मत से 'सम्भवत: हॉब्स उन सभी को समान रूप से भ्रामक मानता था। चूँकि वह स्वयं किसी भी धार्मिक विचार से पूर्णतया पृथक् था, अत: वह उन समस्त धार्मिक सिद्धान्तों तथा हठ-धर्मिताओं के प्रति पूर्णतया उदासीन था, जिनमें फँसकर उसके देशवासी इतने विद्रोही हो गये थे कि वे रक्तमय गृह-कलहों के द्वारा एक-दूसरे को मार देने को उद्यत थे।'[3]

हॉब्स के मत से चर्च ईसाई धर्म को मानने वाले ऐसे लोगों का समूह है जो कि एक सम्प्रभु के व्यक्तित्व के अधीन संयुक्त होते हैं, उसी के आदेशों के अन्तर्गत उन्हें एक साथ समवेत होना चाहिए और बिना उसकी सत्ता के वे एक साथ समवेत नहीं हो सकते। यदि वे सम्प्रभु की आज्ञा के विरुद्ध एकत्र होते हैं तो उनकी सभा एक गैर-कानूनी सभा कहलायेगी। हॉब्स सार्वभौम चर्च जैसी धारणा को भी अमान्य करता है। उसके विचार से चर्च राज्य के अन्तर्गत अनेक निगमों (corporations) की भाँति है, जिसका एक प्रधान राज्य का सम्प्रभु ही है। वह इस धारणा को पूर्णतया भ्रामक मानता है कि चर्च ईश्वर का राज्य है, जिसकी प्रभुसत्ता राज्य की प्रभुसत्ता से पृथक् होती है।

एक भौतिकवादी होने के नाते हॉब्स आध्यात्मिकता जैसी धारणा को एक कोरी कल्पनामात्र कहता है। दैवी ज्ञान या आध्यात्मिक सत्य जैसी कोई चीज हो सकती है, परन्तु हॉब्स इन्हें विवेक पर आधारित नहीं मानता। उसका कथन था कि 'हमारे धार्मिकता के रहस्य उसी भांति के हैं जैसे बीमार के लिए प्रभावशाली दवा की गोलियाँ, जिन्हें पूर्णतया निगल लिया जाय तो वे रोग को नष्ट करती हैं, यदि चबाया जाय तो उनका अधिकांश भाग नष्ट होकर वे प्रभावहीन हो जाती हैं।'[4] हॉब्स के मत से धार्मिक विश्वासिता को बलात् व्यक्तियों पर नहीं लादा जा सकता। चर्च अधिकारियों का यह दावा तर्क-सम्मत नहीं है कि स्वयं ईश्वर ने कुछ रहस्य किसी मानव को बताया है, और इसलिए अन्य मानवों को उस मानव द्वारा प्राप्त दैवी ज्ञान पर विश्वास करना चाहिए। इस प्रकार हॉब्स धार्मिक विश्वासिता सम्बन्धी चर्च के किसी भी अधिकार को स्वीकार नहीं करता। वह धर्म तथा चर्च के समस्त

[1] Dunning, *op. cit.*, 297.

[2] 'Among all the organizations that may compete with the state for power, the Church is the principal offender.' —Harmon, *op. cit.*, 232.

[3] 'He (Hobbes) probably regarded them all equally deluded : being himself completely lacking in any religious feeling, he was utterly indifferent to all the doctrinal and dogmatic questions over which the men of his country had become so enraged that they were tearing each other to pieces in bloody civil strife.' —W. T. Jones, *op. cit.*, 141.

[4] 'For it is with the mysteries of our religion, as with wholesome pills for the sick, which swallowed whole, have the virtue to cure ; but chewed, are for the most part cast up again without effect.' —Hobbes,

अधिकार राज्य के सम्प्रभु को देना चाहता है। उसकी दृष्टि से लौकिक तथा धार्मिक सरकारों की धारणाएँ भ्रामक हैं। एकमात्र सरकार लौकिक होती है और सम्प्रभु को ही धर्म बहिष्कृत करने अथवा अन्य धर्मगत दण्ड देने का अधिकार है। इस प्रकार हॉब्स राज्य-चर्च की स्थापना पर बल देता है, जिसमें राज्य का सम्प्रभु चर्च का भी प्रधान होगा। वही लौकिक तथा धार्मिक कानूनों का स्रोत रहेगा। ऐसी व्यवस्था में धर्मसत्ता के पृथक् अस्तित्व के अभाव में धर्म के नाम पर होने वाले विवादों को निर्णीत करने की शक्ति केवल सम्प्रभु के हाथ में होने से राज्य की सुरक्षा बनी रहेगी।

हॉब्स का व्यक्तिवाद

सामान्यतया राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में हॉब्स की विचारधारा निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन करने वाली मानी जाती है। परन्तु उसकी धारणा का निरंकुशतावाद उसे राज्य-पूजक नहीं बनाता। 17वीं शताब्दी के यूरोपीय राजनीतिक वातावरण में राष्ट्रीय राज्यों के अन्तर्गत जिस प्रकार की अराजकता छाई हुई थी, उसके निराकरण के लिए हॉब्स ने एक सुदृढ़ शासन-व्यवस्था को सर्वोत्तम समाधान सिद्ध किया। परन्तु उसका निरंकुशतावाद एक ऐसे सर्वाधिकारवादी राज्य का सिद्धान्त नहीं है, जिसमें राज्य स्वयं साध्य तथा व्यक्ति उसका साधन मात्र रह जाय। प्रत्युत् हॉब्स की विचारधारा में व्यक्ति साध्य है और राज्य या शासन साधन। राज्य का उद्देश्य व्यक्ति की सुरक्षा तथा कल्याण है। सैबाइन ने उचित ही कहा है कि 'सम्प्रभु की निरंकुश सत्ता का सिद्धान्त, जिसके साथ सामान्यतया हॉब्स के नाम को संयुक्त किया जाता है, वास्तव में उसके व्यक्तिवाद का आवश्यक सम्पूरक था।'[1] अपनी विचारधाराओं का विकास करने में हॉब्स व्यक्तिगत मनोविज्ञान का सहारा लेता है। वह मानव प्रकृति का अध्ययन करते हुए व्यक्ति के हित को अपने दर्शन का केन्द्र बनाता है। व्यक्ति की सुरक्षा तथा कल्याण हॉब्स का एकमात्र उद्देश्य है, क्योंकि मानव प्रकृति के सम्बन्ध में हॉब्स के निष्कर्ष यह हैं कि मनुष्य की स्वार्थमयी प्रकृति मानवों के मध्य पारस्परिक संघर्ष तथा कलह का कारण होती है। अतः जब तक मानव प्रकृति का नियमन नहीं किया जायेगा तब तक मनुष्य की जीवन-रक्षा तथा कल्याण की कल्पना नहीं की जा सकती। हॉब्स प्राकृतिक स्थिति में सभी व्यक्तियों को समान मानता है। प्राकृतिक स्थिति में मानव-मानव के मध्य जो संघर्ष होते थे उनका एक कारण यह था कि व्यक्ति अपनी स्वार्थी प्रवृत्ति के कारण इस समानता को उलटने की कोशिश करते थे और दूसरों के साथ प्रतियोगिता करने लगते थे। अतएव व्यक्ति की ऐसी स्वतन्त्रता को नियन्त्रित रखना सभ्य समाज का दायित्व है। इसकी पूर्ति के निमित्त 'जहाँ हॉब्स की विचारधारा निरंकुशतावाद में परिणत हुई, वहाँ इसका आधार यह भी था कि सभी मानव प्रकृतितः समान हैं और इसलिए पर्याप्त मात्रा में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता दिया जाना वांछनीय है।'[2] परन्तु स्वतन्त्रता

[1] 'The absolute power of the sovereign—a theory with which Hobbes' name is more generally associated—was really the necessary complement of his individualism.' —Sabine, *op. cit*, 403.

[2] 'While Hobbes' theory of sovereignty resulted in absolutism it was never the less based on the doctrine that all men are equal naturally and upon the belief in the desirability of a large measure of individual freedom.'

—Vaughan.

तथा समानता को अप्रतिबन्धित रखना भी अवांछनीय था। इसलिए एक सुदृढ़ शासन की आवश्यकता है। जब तक मनुष्य अपनी व्यक्तिगत इच्छा की पूर्ति में ही लीन रहेंगे, तब तक सामाजिक शान्ति सम्भव नहीं हो सकती। अतएव हॉब्स संविदा द्वारा व्यक्तियों की इच्छा को सम्प्रभु की इच्छा में विलीन कर देना चाहता है, ताकि व्यक्ति सम्प्रभु की इच्छा द्वारा बनाये गये कानूनों का ही अनुगमन करे। राज्य तथा सम्प्रभु का एकमात्र कार्य व्यक्ति को सुरक्षा प्रदान करना है। व्यक्ति का अस्तित्व केवल सम्प्रभु की आज्ञा मानने या राज्य के हितों का साधन करने के लिए नहीं है। 'राज्य की शक्ति तथा कानून की सत्ता का औचित्य इस बात पर निर्भर करता है कि वे व्यक्तिगत मानवों की सुरक्षा में योगदान करें। सत्ता के प्रति निष्ठा तथा आज्ञाकारिता का एकमात्र आधार यही है कि वे अधिकाधिक व्यक्तिगत लाभ प्रदान करेंगे।'[1] हॉब्स की विचारधारा में व्यक्ति के हित के विरुद्ध राज्य या समाज के विशिष्ट अधिकारों या हितों जैसी कोई धारणा नहीं है। समाज या राज्य को व्यक्ति से पूर्व मानने, अथवा उन्हें व्यक्ति से प्राथमिकता देने की धारणा भी हॉब्स को मान्य नहीं है। उसकी विचारधारा का समाज नैसर्गिक न होकर यांत्रिक है, जिसका निर्माण व्यक्तियों ने अपनी सुरक्षा के लिए किया है। सम्प्रभु को जो असीम तथा निरंकुश सत्ता प्राप्त हुई है वह किसी दैवी अधिकार के परिणामस्वरूप प्राप्त नहीं हुई है, अपितु व्यक्तिगत सुरक्षा के उद्देश्य से जनता ने उसे ऐसी सत्ता प्रदान की है। परन्तु यदि व्यक्तियों को सुरक्षा प्रदान करने में सम्प्रभु असमर्थ होता है, तो व्यक्ति उसकी सत्ता को अमान्य कर सकते हैं, जिसका परिणाम पुन: अराजकता की स्थिति में प्रत्यावर्तन हो जायेगा।

व्यक्तिवादी चिन्तक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का समर्थन करते हुए व्यक्तियों के अधिकारों के विरुद्ध राज्य की सत्ता को मर्यादित करना चाहते हैं। परन्तु हॉब्स की विचारधारा व्यक्तिवादियों के इस दृष्टिकोण को भी नहीं अपनाती। इसका यह अर्थ भी नहीं है कि हॉब्स व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का विरोधी था। उसके मत से व्यक्ति अनेक स्वतन्त्रताओं का उपभोग कर सकते हैं। वे उन समस्त कार्यों को करने के लिए स्वतन्त्र हैं जिन्हें सुरक्षा के हित में सम्प्रभु अमान्य नहीं करता। 'हॉब्स की सरकार जनता के लिए है, भले ही वह जनता द्वारा संचालित नहीं है। उसका व्यक्तिवाद मध्य युग से आधुनिक युग की ओर संक्रमण का द्योतक है, और वह आगामी दो शताब्दियों के विकास हेतु एक चरण का कार्य करता है।'[2] हॉब्स की विचारधारा में शासन का स्वरूप पूर्णतया धर्म-निरपेक्ष तथा उपयोगितावादी है। उसका महत्त्व उसके कार्यों के द्वारा आँका जा सकता है। उसे वास्तव में व्यक्तियों के लिए लाभकारी होना चाहिए, ताकि वह व्यक्ति को शान्ति, सुख तथा जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा प्रदान करा सके। हॉब्स की दृष्टि में 'सार्वजनिक इच्छा की भाँति सामान्य तथा सार्वजनिक हित की धारणा एक कपोल कल्पना मात्र है; एक मात्र हित व्यक्तियों का है जिन्हें अपने जीवन के साधनों के रूप में सुरक्षा प्राप्त हो सके। यदि ऐसा नहीं होता तो समाज में अराजकता छा जाती है।' इस प्रकार हॉब्स का एक-

[1] Sabine, *op. cit.*, 397.

[2] Hobbes's government is for, although not by, the people. His individualism is a symbol of the transition from medievalism to modern times, and it sets the stage for the developments of the next two centuries.' —Harmon, *op. cit.*, 236.

मात्र उद्देश्य व्यक्ति का हित साधन है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसका विश्वास था कि जब तक समाज का नियन्त्रण तथा नियमन एक ऐसे निरंकुश सत्ताधारी के हाथ में न हो, जिसकी आज्ञा का पालन प्रत्येक व्यक्ति स्वभावतः करें, तब तक व्यक्ति अपने स्वार्थपूर्ण उद्देश्य में रत रहकर समाज में मत्स्य-न्याय का वातावरण बनाये रखेंगे। ऐसा समाज व्यवस्थित समाज न होकर विभिन्न सावयव प्राणियों का झुण्ड-मात्र होगा। इस दृष्टि से 'हॉब्स अपने विचारों का आरम्भ एक व्यक्तिवादी के रूप में करता है, परन्तु उनका समापन एक निरंकुशतावादी के रूप में।'[1] व्यक्ति के कल्याण तथा व्यक्ति की सुरक्षा के लिए ही वह निरंकुश राजतन्त्र को एकमात्र सर्वोत्तम तथा व्यावहारिक राज्य-व्यवस्था मानता है। आधुनिक नवीन व्यक्तिवाद से भी हॉब्स को कोई अभिरुचि नहीं है, क्योंकि इसके अन्तर्गत विविध संवासों की स्वतन्त्रता तथा सम्प्रभु सत्ता के साथ उनकी प्रतियोगिता की धारणा विद्यमान रहती है। अतएव हॉब्स का व्यक्तिवाद उसकी अपनी अद्वितीय विचारधारा है जो न तो 18वीं तथा 19वीं शताब्दी के उदारवादी व्यक्तिवाद से मिलती-जुलती है न आधुनिक बहुवादी व्यक्तिवाद से। सैबाइन के अनुसार, 'इसी स्पष्ट व्यक्तिवाद के कारण हॉब्स का दर्शन अपने युग में अत्यधिक क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ।'[2] परन्तु हॉब्स की विचारधारा का व्यक्तिवाद बाद की पीढ़ियों के व्यक्तिवादी विचारों का प्रेरणा स्रोत सिद्ध हुआ। साथ ही उसने उपयोगितावादी विचारधारा को प्रभावित करने में भी महत्त्वपूर्ण योगदान किया। 17वीं शताब्दी की राजनीतिक परिस्थितियों में निरंकुशतावाद ही सम्भवतः राज्यों की अराजक स्थिति का निराकरण करने का एकमात्र समाधान था। इस प्रकार हॉब्स ने व्यक्तिगत स्वार्थों की मान्यता तथा उनसे उत्पन्न होने वाली बुराइयों को रोकने के लिए अपने विवेकपूर्ण तथा तार्किक विवेचन से निरंकुशतावाद का समर्थन करके राजनीति विज्ञान के इतिहास में एक महान् विचारक सिद्ध होने और भावी पीढ़ियों के विचारकों का प्रेरणा-स्रोत तथा दार्शनिक मार्ग-दर्शक होने का श्रेय प्राप्त किया है। निस्सन्देह हॉब्स लोकतन्त्र का समर्थन नहीं कर पाया। परन्तु उसे अलोकतन्त्री भी नहीं कहा जा सकता। उसके व्यक्तिवादी विचार लोकतन्त्र की मान्यताओं को स्वीकार करते हैं। परन्तु उसका निरंकुशतावाद यह दर्शाता है कि 'लैवाइथन लोकतन्त्र के ऊपर सबसे पहला लोकतान्त्रिक आक्रमण था।'[3]

हॉब्स के व्यक्तिवाद की समीक्षा—राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में जहाँ हॉब्स को निरंकुशतावाद का महानतम समर्थक माना जाता है, वहाँ उसे सबसे पहला व्यक्तिवादी मानने में भी कोई सन्देह नहीं है। हॉब्स के विचारों में इन दो परस्पर विरोधी धारणाओं का सम्मिश्रण एक आश्चर्यजनक बात है। परन्तु हॉब्स का निरंकुशतावाद साधन है और व्यक्तिवाद साध्य। यह कहना बहुत सत्य नहीं है कि हॉब्स व्यक्तिवाद से प्रारम्भ करके निरंकुशतावाद पर समापन करता है। वास्तव में व्यक्ति की सुरक्षा की धारणा उसके विचारों में आद्योपान्त बनी रही थी। प्रो० वेपर के शब्दों में 'लैवाइथन मात्र प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का शक्तिशाली प्रतिपादन नहीं है, प्रत्युत् यह व्यक्तिवाद का एक शक्तिशाली वक्तव्य भी है।' हॉब्स की समूची विचार-

[1] 'Hobbes starts as an individualist, but ends as an absolutist.'

[2] 'It is this clear-cut individualism which makes Hobbes's philosophy the most revolutionary of the age.' —Sabine.

[3] Leviathan was the first democratic attack on democracy.

धारा का केन्द्र व्यक्ति है। उसके अन्तर्गत व्यक्ति एक ऐसी धुरी है जिसके इर्द-गिर्द उसका समूचा मनोविज्ञान, दर्शन, संविदा सिद्धान्त, निरंकुशतावाद आदि चक्कर लगाते हैं। व्यक्ति की प्राकृतिक समानता, उसका कल्याण, उसकी जीवन-रक्षा तथा उसे सभ्य मानव बनाना ही हॉब्स का एकमात्र उद्देश्य था। निस्सन्देह हॉब्स ऐसा व्यक्तिवादी नहीं था जो व्यक्ति की कुछ मौलिक स्वतन्त्रताओं को अलंघ्य मानकर उनके हित में राज्य की सत्ता को मर्यादित करे और इस प्रकार लोकतन्त्र तथा उदारवाद का समर्थन करे। प्रत्युत् हॉब्स समाज को व्यक्तियों से निर्मित ऐसा समूह मानता है जिसका निर्माण करने वाला प्रत्येक सदस्य सुरक्षा तथा सुख का जीवन व्यतीत कर सके। उसका निरंकुशतावाद समष्टिगत समाज की धारणा का द्योतक नहीं है। जनता (the people) या सामूहिक इच्छा या सामान्य इच्छा सदृश धारणाओं अथवा सामुहिक हित जैसी किसी धारणा का समर्थन हॉब्स नहीं करता क्योंकि ऐसी धारणाओं के अनुसार व्यक्ति की इच्छा या हित स्वतन्त्र न रहकर समाज की इच्छा या हित में विलीन हो जाते हैं। व्यक्ति संविदा कर लेने के बाद यद्यपि व्यक्ति अपने प्राकृतिक अधिकार सम्प्रभु को सौंप देते हैं, तथापि वे अपनी वैयक्तिकता (individuality) को नहीं खो देते। वे अपने जीवन के अधिकार को बनाये रखते हैं। उसकी सुरक्षा का दायित्व सम्प्रभु का होता है। संविदा द्वारा किसी सामूहिक इच्छा का निर्माण नहीं होता जिसमें कि व्यक्तियों की इच्छा विलीन हो जाती हो, प्रत्युत् एक ऐसी इच्छा का निर्माण होता है जिसका उद्देश्य सामूहिक होता है, अर्थात् वह इच्छा विभिन्न संघर्षरत इच्छाओं का स्थान ले लेती है। इस प्रकार एक कृत्रिम प्रतिनिध्यात्मक इच्छा का निर्माण होता है जो प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा के स्थान पर कार्य करती है। वह प्रतिनिध्यात्मक इच्छा प्रत्येक व्यक्ति के जीवन की रक्षा के अतिरिक्त और कुछ नहीं करती। इस दृष्टि से हॉब्स की विचारधारा पूर्णतया व्यक्तिवादी है (He was an individualist out-and-out)। उसकी धारणा के निरंकुश सम्प्रभु की सृष्टि व्यक्तियों की पारस्परिक संविदा के द्वारा होती है और सम्प्रभु का एकमात्र दायित्व व्यक्तियों की जीवन-रक्षा करना है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसे असीम सत्ता का प्रयोग करना पड़ता है। इसी के निमित्त वह कानून बनाता है। अन्यथा ऐसे कानून के अभाव में व्यक्ति विविध वैयक्तिक स्वतन्त्रताओं का उपभोग करते रहते। जहाँ पर सम्प्रभु व्यक्तियों की जीवन-रक्षा में असफल होता है, वहाँ व्यक्ति उसके विरुद्ध प्रतिरोध तक कर सकते हैं। निस्सन्देह हॉब्स सम्प्रभु शक्ति के प्रयोग में जन-सहमति सदृश धारणा को अमान्य करता है। परन्तु उसकी धारणा में सम्प्रभु शक्ति भले ही जनता के द्वारा प्रयुक्त नहीं होती, तथापि वह जनता के लिए प्रयुक्त होती है और वह शक्ति जनता की है। इस प्रकार हॉब्स की धारणा लोकतन्त्र के ऊपर लोकतन्त्री प्रहार की द्योतक है। परन्तु वह पूर्णतया व्यक्तिवादी है।

हॉब्स के राजनीतिक विचारों का मूल्यांकन

17वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड यूरोपीय राजनीतिक चिन्तन का केन्द्र हो गया था। गैटल ने कहा है कि 'यदि 16वीं शताब्दी धार्मिक मतभेदों का युग थी, तो 17वीं शताब्दी राजनीतिक परिचर्या का काल था।'[1] इस युग में नैतिक तथा आर्थिक

[1] Gettell, *op. cit.*, 199.

परिचर्याओं के स्थान पर कानूनी तथा राजनीतिक सिद्धान्तों का विवेचन प्रमुखता की स्थिति में आ गया था। कैटलिन ने कहा है कि 'जिस प्रकार 15वीं शताब्दी सामाजिक विषयों के अध्ययन का काल था, उसी प्रकार 17वीं शताब्दी का काल नये आविष्कारों तथा खोजों के लिए गणित के महत्त्व की भावना से ओत-प्रोत था।'[1] निस्सन्देह इंग्लैण्ड के महान् दार्शनिक हॉब्स की विचारधाराएँ न केवल उपर्युक्त विकासों से प्रभावित थीं, अपितु वे इन दोनों का प्रतिनिधित्व भी करती हैं। 17वीं शताब्दी के आरम्भ से ही इंग्लैण्ड के राजनीतिक वातावरण में राजतन्त्र समर्थकों तथा संसद के अधिकारों के समर्थकों के मध्य भीषण संघर्ष प्रारम्भ हो चुका था और एक ओर राजा के दैवी अधिकार सिद्धान्तों का जोरदार समर्थन किया गया, तो दूसरी ओर उनके विरोधियों ने राजा की सत्ता को संसद द्वारा मर्यादित करने का आन्दोलन प्रारम्भ किया। कैथोलिक तथा प्रॉटेस्टेंटों के मध्य धार्मिक संघर्ष भी राजनीति को प्रभावित कर रहे थे। दूसरी ओर गैलीलियो, गैसेंडी, यूक्लिड, न्यूटन, डेकार्ट आदि ने विज्ञान तथा गणित के क्षेत्र में जो नये शोध-कार्य किये थे, वे भी दार्शनिक चिन्तन को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करने में सहायक सिद्ध हुए। हॉब्स के विचारों में एक ओर इंग्लैण्ड की तत्कालीन राजनीतिक घटनाओं का और दूसरी ओर भौतिकशास्त्र तथा गणित की नयी खोजों का व्यापक प्रभाव पड़ा। उसने अपनी राजनीतिक विचारधाराओं का प्रतिपादन करने में इन दोनों का समावेश किया। इंग्लैण्ड की तत्कालीन संघर्षमय राजनीति के अन्तर्गत उसे अराजक स्थिति का आभास हुआ। स्वयं इस स्थिति के कारण उसे आत्मरक्षा हेतु कई अवसरों पर इधर-उधर शरण लेनी पड़ी थी। राजनीतिक दर्शन का प्रतिपादन करने में हॉब्स ने विज्ञान तथा गणित की सत्यता का अवलम्बन किया और उसी के आधार पर तत्कालीन राजनीतिक अस्त-व्यस्तता का निराकरण करने के समाधान की खोज की। इस प्रकार, जैसा सैबाइन ने कहा है, 'हॉब्स वास्तव में सबसे पहला महान् आधुनिक दार्शनिक था जिसने राजनीतिक विचारधारा को पूर्णतया आधुनिक चिन्तन प्रणाली से घनिष्टतया सम्बद्ध करने का प्रयास किया, और उसने इस पद्धति को व्यापक रूप से वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर प्रकृति के समस्त तथ्यों के साथ, जिनमे मानव व्यवहार के व्यक्तिगत तथा सामाजिक पक्ष भी शामिल हैं, संगत बनाने का प्रयत्न किया।'[2]

निस्सन्देह, हॉब्स को एक महान् विचारक मानने में सभी विद्वान् सहमत नहीं हैं। उदाहरणार्थ, वोहान (Vaughan) का कथन है कि 'जहाँ तक राजनीतिक चिन्तन के प्रभावपूर्ण विकास का सम्बन्ध है, लैवाइथन प्रभावहीन तथा निष्फल रहा है, और उसे ऐसा रहना ही चाहिए; उसकी काल्पनिक वर्ण-संकरता उसके स्वरूप का प्रचार करने में असमर्थ थी।[3] डनिंग के मत से 'हॉब्स सबसे पहला अंग्रेज था

[1] Catlin, *op. cit.*, 230.

[2] 'Hobbes was in fact the first of the great modern philosophers who attempted to bring political theory into intimate relation with a thoroughly modern system of thought, and he strove to make this system broad enough to account, on scientific principles, for all the facts of nature, including human behaviour both in its individual and social aspects.' —Sabine, *op. cit.*, 388.

[3] 'So far as the vital development of political thought is concerned, *Leviathan* has remained and deserves to remain, without influence and without fruit : a fantastic hybrid, incapable of propagating its kind.' —Vaughan, *History of Political Philosophy*, Vol. I, 37.

जिसने राजनीतिक दर्शन की ऐसी पद्धति को प्रस्तुत किया है जो कि इतिहास की महान् पद्धतियों में खड़ी रह सकती है।' उक्त विद्वान् ने हॉब्स को प्रथम श्रेणी के राजनीतिक चिन्तकों के अन्तर्गत रखा है, यद्यपि वह यह भी स्वीकार करता है कि हॉब्स के दर्शन ने दार्शनिकों को उसके समर्थकों एवं विरोधियों में विभक्त कर दिया था।[1] आर० एच० मुरे की भी यही धारणा है कि हॉब्स के समर्थक कम थे, विरोधी अधिक। इसका कारण यह था कि हॉब्स नास्तिकता, भौतिकवादिता तथा स्वेच्छाचारितावाद का समर्थक था। गैटल के मत से 'हॉब्स की विचारधारा का इंग्लैण्ड के राजनीतिक चिन्तन में तुरन्त अनुसरण नहीं हुआ, बल्कि तभी होने लगा जबकि बेंथम, ऑस्टिन, स्पेंसर तथा अन्य समाजशास्त्रियों ने उन्हें अपनाया।'[2] लुई स्ट्रॉस के अनुसार, 'हॉब्स का राजनीतिक दर्शन मनुष्य के सम्यक् जीवन अथच समाज की सम्यक् व्यवस्था के प्रश्न का संयुक्त तथा विशद् उत्तर प्रदान करने वाला सबसे प्रथम विशिष्ट रूप का आधुनिक प्रयास है।'[3] हारमन के मत से 'हॉब्स का दर्शन तर्कशास्त्र की सर्वोत्तम रचना है, जिनमें सैद्धान्तिक संरचना की एक सीढ़ी अपनी पूर्ववर्ती सीढ़ी के ऊपर सुदृढ़ता से जमी हुई है।'[4] उपर्युक्त विद्वानों की इन धारणाओं में बहुत कुछ सत्यांश हो सकता है। इसका मुख्य कारण जैसा मैक्सी ने कहा है यह है कि 'हॉब्स सदृश विचारक की रचनाओं का मूल्यांकन करने की महान् कठिनाई यह है कि उसके चिन्तन के बहुत थोड़े से प्रशंसक उतने ही वस्तुपरक (objective) तथा भावावेश-रहित (unsentimental) हो सकते हैं, जितना कि स्वयं हॉब्स था।'[5] स्वयं मैक्सी भी हॉब्स को 'अंग्रेज जाति का एक महानतम राजनीतिक चिन्तक' मानता है, 'जिसका नाम तब तक बना रहेगा जब तक कि मानव राजनीतिक मामलों में अपना ध्यान लगाने की चिन्ता करते रहेंगे।' सैबाइन ने कहा है कि 'हॉब्स का राजनीतिक दर्शन इंग्लैण्ड के गृह-युद्धों की अवधि में निर्मित एक ऐसी सर्वाधिक प्रभावशाली संरचना है जिसकी कोई तुलना नहीं की जा सकती।'[6]

राजनीतिक चिन्तन पर हॉब्स की प्रसिद्ध रचना लैवाइथन है। इसमें हॉब्स ने जिन धारणाओं को रखा है, वे भले ही सत्य न हों, अथवा केवल काल्पनिक हों, परन्तु इस तथ्य से कोई इनकार नहीं कर सकता कि हॉब्स ने उन विचारों को जिस तार्किक क्रम से विकसित करके अपनी राजनीतिक दर्शन रूपी इमारत को खड़ा किया है उसमें कोई कमी नहीं रखी है। हॉब्स का मुख्य उद्देश्य निरपेक्ष सत्य का प्रतिपादन करना था और उसे प्राप्त करने के साधन उसकी विश्लेषण तथा संश्लेषण की पद्धतियाँ थीं। अपने विचारों के विकास में उसने विवेक तथा तर्क का सहारा

[1] Dunning, *op. cit.*, 300.

[2] Gettell, *op. cit.*, 221.

[3] 'Hobbes's political philosophy is the first peculiarly modern attempt to give a coherent and exhaustive answer to the question of man's right life, which is at the same time the question of the right order of society.' —Leo Strauss, *op. cit.*, 1.

[4] 'His philosophy is a masterpiece of logic, with each step in the theoretical structure grounded upon the preceding step.' —Harmon, *op. cit.*, 255.

[5] 'The great difficulty in evaluating the work of such a thinker as Hobbes is that few appraisers of his thought can be as objective and unsentimental as was Hobbes himself.' —Maxey, *op. cit.*, 231.

[6] 'Hobbes's political philosophy is beyond all comparison the most imposing structure that the period of English civil wars produced.' —Sabine.

लेकर अपने राजनीतिक दर्शन को केवल चिन्तनात्मक नहीं छोड़ा, अपितु उसे वैज्ञानिक बनाने का सफल प्रयास भी किया है। यही उसकी महानता का मुख्य कारण है। दूसरी ओर हॉब्स के आलोचकों का मुख्य तर्क यह है कि उसके मानव स्वभाव सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक निष्कर्ष भ्रामक एवम् असत्य है और उसने जिन राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है वे या तो असामयिक थे अथवा भविष्य में भी अव्यावहारिक सिद्ध हुए। कैटलिन ने उचित ही कहा है कि 'उसके राजनीतिक दर्शन की बहुत कुछ कमी उसके बुरे मनोविज्ञान के कारण है।'[1] हॉब्स के विचारों की आलोचना इस आधार पर भी की गई है कि हॉब्स के दर्शन में नैतिक आध्यात्मिक एवं धार्मिक मूल्यों की अवहेलना की गयी है और उनकी ऐतिहासिक महत्ता को उपेक्षित रखकर कोरे भौतिकवादी तर्क प्रस्तुत किए गए हैं। बुद्धिवादी आलोचक हॉब्स के सैद्धान्तिक तर्कों की युक्तिसंगतता पर सन्देह करते हैं। परन्तु यह भी ज्ञातव्य है कि विभिन्न आलोचकों ने हॉब्स के दर्शन को समग्र रूप में लेने का प्रयास न करके उसके किसी एक पक्ष को लेकर आलोचना की है। सामान्यतया आलोचक हॉब्स के दर्शन की भर्त्सना उसके भौतिकवाद, नास्तिकतावाद तथा निरंकुशतावाद को लेकर करते है।

मानव स्वभाव का चित्रण करने में भूल—हॉब्स अपनी विचारधारा का विकास मानव प्रकृति के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से आरम्भ करता है। वह मनुष्य को स्वभावतः स्वार्थी कहता है और स्वार्थमयी प्रकृति के कारण एक मनुष्य दूसरे को हानि पहुँचाने, यहाँ तक कि उसके प्राण लेने तक को तत्पर रहता है। इसलिए प्राकृतिक स्थिति में मनुष्य को सदैव मृत्यु का भय बना रहता था। इसी से त्राण पाना मनुष्य का उद्देश्य है। मानव स्वभाव का नैराश्यपूर्ण चित्रण करना, जैसा जोन्स ने कहा है, हॉब्स का मानव मनोवैज्ञानिक का एकतरफा दृष्टिकोण (one sided view of human psychology) है। वह मानव स्वभाव में दया, सहानुभूति, सहकार, पारस्परिक मैत्री आदि प्रकृतियों के अस्तित्व की उपेक्षा करता है। अतः मानव स्वभाव में जिन बातों को वह स्वीकार करता है उनके बारे में वह भूल नहीं करता बल्कि जिन्हें वह अमान्य करता है उनके सम्बन्ध में उसकी भूल है।'[2] यह भूल बाद में रूसो ने भी की थी, जो कि मनुष्य को मौलिक रूप से बहुत उत्तम स्वभाव का मानता था। राजनीतिक विचारधारा के प्रतिपादन के लिए मानव स्वभाव में हॉब्स की भाँति केवल दोषों को ही खोजना अथवा रूसो की भाँति उसे आदर्श बताना दोनों बातें अतिवादिता की द्योतक हैं। वास्तव में जैसा अरस्तू का मत था, मनुष्य अत्यन्त जटिल प्रकृति का प्राणी है। वह एक जानवर अवश्य है, परन्तु साथ ही वह एक मानव प्राणी भी है। यदि वह पूर्णतया स्वार्थी ही होता तो यह सम्भव नहीं होता कि वह अपने बच्चों के पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा आदि की चिन्ता करता। बहुधा मानव निःस्वार्थ सेवा के कार्यों में अपना सर्वस्व, यहाँ तक कि अपने प्राणों को देने तक में नहीं हिचकते। राज्य की स्थापना से पूर्व की (प्राकृतिक) स्थिति का जो दयनीय चित्र हॉब्स ने प्रस्तुत किया है उसका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। हॉब्स से अनेक सदियों पूर्व प्राचीन भारत में महाभारत तथा बौद्ध ग्रंथ

[1] 'Much of his bad political philosophy is due to his bad psychology.'
—Catlin.

[2] 'He goes wrong, not in what he affirms, but in what he denies.'
—W.T. Jones, *op. cit.*, 147.

दिग्घनिकाय में भी प्राकृतिक स्थिति का चित्रण किया गया है जो यह दर्शाता है कि राज्य की स्थापना के पूर्व मनुष्य प्रकृति तथा धर्म के नियमों के अनुसार आचरण करते थे। अराजक स्थिति आने का कारण मानव-स्वभाव की स्वार्थी प्रकृति नहीं, अपितु मानव स्वभाव तथा सामाजिक जीवन की जटिलताएँ हैं, जो परिस्थितिवश उत्पन्न होती हैं न कि किसी सार्वभौम प्राकृतिक नियम के अनुसार, और ये परिस्थितियाँ कभी मानव को बुरा बना देती हैं, तो कभी उसे अच्छा भी बनाती हैं। अतः मानव प्रकृतितः न बुरा है और न अच्छा, बल्कि दोनों का सम्मिश्रण है।

हॉब्स का तर्क इस दृष्टि से भी सही नहीं सिद्ध होता कि प्राकृतिक स्थिति के स्वार्थ-भावना से भरे मानव जो कि सदैव एक-दूसरे के शत्रु हैं और एक-दूसरे को हानि पहुँचाने में रत रहते हैं, जिन्हें न्याय-अन्याय तथा उचित-अनुचित का बोध नहीं है, अपनी आत्मरक्षा हेतु परस्पर संविदा द्वारा एक दीर्घकाय (सम्प्रभु) को अपने को शासित करने के अधिकार सौंपने को कैसे उद्यत हो जाते हैं। हॉब्स के तर्क में यह भी विरोधाभास है कि वह एक ओर तो मनुष्य को स्वार्थी तथा दुष्ट प्रवृत्ति का कहता है, दूसरी ओर वह उसमें विवेक तत्त्व के अस्तित्व को भी स्वीकार करता है। प्रश्न यह उठता है कि क्या मनुष्य में विवेक तत्त्व का अस्तित्व उसे अपने को एक दीर्घकाय की आधीनता स्वीकार कर लेने भर तक सीमित है? क्या उसका विवेक उसे प्राकृतिक स्थिति में सभ्य जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देने के लिए काम नहीं कर सकता था? हॉब्स की इस धारणा का उपहास करते हुए लॉक ने कहा है कि 'यह विचार ऐसा ही है जैसा यह सोचना कि मनुष्य इतने मूर्ख हैं कि वे गन्धमार्जार (polecats) तथा लोमड़ियों द्वारा की जाने वाली शरारतों से तो बचना चाहते हैं लेकिन एक शेर द्वारा खाये जाने में सन्तुष्ट रहते हैं तथा अपना बचाव समझते हैं।' हॉब्स की संविदा की धारणा भी एक-तरफा है। यह संविदा शासक तथा शासितों के मध्य नही है। शासक संविदा से बाध्य नहीं है। इस प्रकार तथ्यों की दृष्टि से हॉब्स की मानव स्वभाव, प्राकृतिक स्थिति के जीवन, तथा राज्य व सम्प्रभु की स्थापना हेतु संविदा सिद्धान्त की धारणाएँ त्रुटिपूर्ण हैं। परन्तु हॉब्स के पक्ष मे यह कहा जा सकता है कि अपनी विचारधारा के निर्माण में उसकी तार्किक क्रमबद्धता में कोई दोष नहीं है। उसका उद्देश्य अराजकता के निवारणार्थ निरंकुश तथा सुदृढ़ राजसत्ता का समर्थन करना था। अतः इसका प्रतिपादन करने में उसने अपने विचारों को क्रमबद्ध ढंग से प्रस्तुत करके एक समग्र दर्शन के रूप में प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है। इस दृष्टि से हॉब्स के पक्ष में यह तर्क नहीं लिया जाना चाहिए कि वह अपने निष्कर्षों में सही था या गलत, अथवा उसे मानव विज्ञान तथा राजनीति को भौतिकशास्त्र में विलीन करने में सफलता मिली या नहीं; बल्कि इस दृष्टि से वह प्रशंसा का पात्र है कि उसने अपनी चिन्तन-प्रणाली को क्रमबद्ध बनाया और अपने निष्कर्ष निकालने में युक्ति-संगत तर्क प्रस्तुत किए।

नैतिकता तथा यथार्थवादिता—हॉब्स एक भौतिकवादी चिन्तक होने के साथ-साथ प्रयोगवादी विचारक भी सिद्ध होता है। यद्यपि मैकियाविली की भाँति ही उसने मानव-स्वभाव का निराशाजनक चित्र प्रस्तुत किया है, और धर्म के प्रति भी उसकी भावना गैर-ईसाइयत की रही है, तथापि उसने अपने राजनीतिक विचारों से धर्म तथा नैतिकता को पृथक् नहीं किया। उसका उद्देश्य मानव में नैतिक गुणों का संचार करना भी था। उसका यह विश्वास था कि जब तक एक सर्वोच्च तथा

शक्तिशाली सम्प्रभु अराजकता की स्थिति को समाप्त नहीं कर देगा तब तक मानवों को नैतिक प्राणी बना सकना सम्भव नहीं है। हॉब्स का भौतिकवाद धर्म तथा नैतिकता से रहित नहीं था। वह ईश्वर पर विश्वास रखता था। परन्तु दैवी विधान के नियमों तथा उचित-अनुचित का निर्वचन करने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति के विवेक को नहीं देना चाहता था। उसके मत से इनका एकमात्र निर्णायक सम्प्रभु का विवेक है। वही राज्य में प्रधान धर्माधिकारी हो सकता है न कि कोई अन्य संगठन या व्यक्ति। हॉब्स से पूर्व प्राकृतिक कानून के समर्थकों मुख्यतया ग्रोशियस ने प्राकृतिक कानून को विवेक का आदेश कहकर उसे नैतिक स्वरूप प्रदान किया था। परन्तु इन विचारकों ने यह स्पष्ट नहीं किया कि नैतिक कानून किस मानव का विवेक है? उसका निर्वचन कौन करेगा ? हॉब्स भी प्राकृतिक कानून को विवेक का आदेश मानकर उसे अपनी राजनीतिक विचारधारा का मुख्य अंग बनाता है। परन्तु वह इस बात को स्पष्ट रूप से व्यक्त कर देता है कि प्राकृतिक कानून केवल मात्र सम्प्रभु का विवेक है, जिसकी अभिव्यक्ति उसी के द्वारा बनाए गए कानून के द्वारा होती है; क्योंकि संविदा करते हुए मानवों के विवेक ने सम्प्रभु के हाथ में ऐसी शक्ति सौंप दी थी और उन्हें यह बताया था कि संविदा को बनाए रखना आवश्यक है।

निरंकुश प्रभुसत्ता की धारणा—यद्यपि निरंकुश प्रभुसत्ता की धारणा का प्रतिपादन हॉब्स से पूर्व जीन बोदां भी कर चुका था, तथापि हॉब्स ने इसे अधिक स्पष्ट करके इसमें से बोदां की कमियों तथा असंगतियों को दूर करके अमर्यादित प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को पूर्ण किया। उसका निरंकुश प्रभुसत्ता का सिद्धान्त राज्य को कानूनी दृष्टि से सर्वोच्च सत्ता प्रदान करता है और सम्प्रभु इसलिए सर्वोच्च सत्ता धारण करता है कि उसे यह सत्ता मानवीय आधार पर प्राप्त हुई है। इस प्रकार हॉब्स की विचारधारा शासकों के काल्पनिक दैवी अधिकार सिद्धान्त का खण्डन करने में सफल सिद्ध हुई। परन्तु राज्य की सर्वोच्चता के सिद्धान्त का प्रतिपादक होते हुए भी हॉब्स पूर्णतया व्यक्तिवादी है। उसकी सम्पूर्ण विचारधारा का केन्द्र व्यक्ति है। व्यक्तियों ने अपने हित साधन के लिए ही राज्य का निर्माण किया और राज्य के सम्प्रभु को सर्वोच्च सत्ता प्रदान की। राज्य स्वयं साध्य नहीं है, न व्यक्ति राज्य के लिए है, प्रत्युत् राज्य का अस्तित्व व्यक्ति की सुरक्षा तथा कल्याण के लिए है। सम्प्रभु के ऊपर यही एक कानूनी तथा नैतिक मर्यादा है। यदि सम्प्रभु इनकी उपेक्षा करता है तो क्रान्ति सम्भव हो सकती है जिसका परिणाम यह होगा कि न राज्य रहेगा न सम्प्रभु, बल्कि पुनः अराजक तथा प्राकृतिक स्थिति का प्रत्यावर्तन हो जायेगा, जिसे राज्य की स्थापना हो जाने पर न व्यक्ति चाहते हैं और न सम्प्रभु। इसीलिए निरंकुश राजसत्ता का अस्तित्व अपरिहार्य है।

भले ही व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के समर्थक तथा लोकतन्त्रवादी विचारक हॉब्स के निरंकुशतावाद का समर्थन न करें और यह आकांक्षा रखें कि शिक्षा तथा धर्म के द्वारा मनुष्य अपनी अन्तरात्मा का विकास करके किसी बल-प्रवर्ती शक्ति की आवश्यकता प्रतीत नहीं करेगा तथापि यह केवल सैद्धान्तिक बात है। मैक्सी ने उचित ही कहा है कि 'हम में से अधिकांश लोग आज भी पुलिस को पेंशन देकर स्कूलों तथा चर्चों की कृपा पर अपने भाग्य को रख देने के लिए तैयार नहीं हैं।'[1]

[1] 'Most of us are not yet ready to pension the police and take our chances on the good work of Schools and Churches.' —Maxey, *op. cit.*, 234.

आज के लोकतन्त्रों में भी सत्ताधारी लोक प्रतिनिधि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के स्वच्छंदता मे परिवर्तित होने की स्थिति आने पर पूर्णतया दमन की नीति अपनाते है। भले ही स्वभावत: मनुष्य स्वार्थी, निर्दय तथा दूसरे के अहित पर लीन रहने वाला प्राणी न हो, तथापि अवसरवशात् उसमें स्वार्थ-भावना इस रूप में विकसित होती ही है कि वह ठीक वैसा ही आचरण करने लगता है जैसी हॉब्स ने उसके बारे में कल्पना की है। समाज में आए दिन जो अमानुषिक अपराध होते रहते हैं, यथा चोरी, भ्रष्टाचार, व्यभिचार, अवांछित शोषण, आदि यह सब अराजकता तथा अव्यवस्था के द्योतक है। हॉब्स ने मानव-स्वभाव तथा प्राकृतिक स्थिति का चित्रण करने में इन्हीं तत्त्वों को बढ़ा-चढ़ा कर कहा है। इनका दमन करने के लिए राज्य की सत्ता कठोर तथा शक्तिशाली दमन-नीति अपनाने को विवश होती है। अत: राजनीति में राजसत्ताधारी की निरंकुशता का अन्त नहीं हुआ है। यदि हॉब्स ने इसका समर्थन किया है तो यह उसकी कोई भूल नहीं मानी जा सकती। वास्तव में उसके युग की यह एक मूल आवश्यकता थी, जिसे उसने एक क्रमबद्ध ढंग से समझाया। उसने यही निष्कर्ष निकाला कि सामाजिक सुव्यवस्था निरंकुश राज-सत्ता के द्वारा ही सम्भव है, अन्यथा केवल अराजकता ही हो सकती है। हॉब्स के आलोचक यह तर्क भी देते हैं कि हॉब्स ने निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन व्यक्तिगत पक्षपात के कारण किया है। वह सदैव राजसी परिवारों के सम्पर्क में रहा था और क्रामवेल को प्रसन्न करने के उद्देश्य से उसने निरंकुशतन्त्र का समर्थन किया। परन्तु हॉब्स के व्यक्तिवाद-प्रेम को देखते हुए यह तर्क स्वयं खण्डित हो जाता है।

प्रभाव—यद्यपि हॉब्स के राजनीतिक दर्शन का तत्काल बहुत प्रभाव नहीं हुआ, और उसकी रचनाएँ तथा विचारधाराएँ वाद-विवाद तथा मतभेद का विषय बनी रहीं, तथापि उसकी विचारधारा स्वप्नलोकी नहीं कही जा सकती। इंग्लैण्ड के तत्कालीन शासक क्रामवेल ने उसका स्वागत किया, क्योंकि वह उसके अधिनायकवाद के औचित्य से सगति रखती थी। चर्च ने अवश्य हॉब्स के विचारों का विरोध किया क्योंकि मारसीलियो की भाँति हॉब्स ने भी धर्मसत्ता को गौण रूप प्रदान किया था। राजतन्त्रवादी भी उसके विरुद्ध थे क्योंकि हॉब्स ने राजाओं के दैवी अधिकार सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया था। संसदवादी भी इन विचारों के विरुद्ध ही थे, क्योंकि हॉब्स ने सम्प्रभु के ऊपर कोई भी वैधानिक नियन्त्रण नहीं रखा और उसने मिश्रित सरकार की धारणा को अमान्य किया था। 1660 में इंग्लैण्ड में राजतन्त्र की पुनर्स्थापना हो जाने पर चार्ल्स द्वितीय गद्दी पर बैठा, जो स्वयं हॉब्स का शिष्य रह चुका था। परन्तु स्वयं चार्ल्स द्वितीय तथा उसके पश्चात् जेम्स द्वितीय के शासनकाल मे भी हॉब्स की विचारधारा बहुत मान्य नहीं हो पायी, क्योंकि ये राजा धर्म के आधार पर निरंकुश सत्ता की स्थापना के समर्थक थे, जबकि हॉब्स की विचारधारा धर्म-निरपेक्ष थी।

इंग्लैण्ड में हॉब्स की विचारधारा तभी प्रभावी होने लगी जबकि बैंथम तथा अन्य उपयोगितावादियों ने उसके विचारों को ग्रहण किया और उसके इच्छा तथा विरक्ति (desire and aversion) के सिद्धान्तों को सुख तथा दु:ख (pleasure and pain) के सिद्धान्तों में परिणत करके राज्य के औचित्य का आधार उपयोगिता को मानकर भौतिकवादी नैतिकता का सिद्धान्त अपनाया। इसके पश्चात् ऑस्टिन ने न्यायशास्त्रीय विधि से हॉब्स के सम्प्रभुता के सिद्धान्त का विकास किया और उसके

निरंकुशतावाद का समर्थन किया। महाद्वीप में अन्यत्र 'लैवाइथन के प्रकाशन के पश्चात् ही राजनीति विज्ञान में इसकी शिक्षाओं को प्रमुखता प्राप्त हुई।'[1] वेपर का मत है कि 'हॉब्स वास्तव में अंग्रेज राजनीतिक दर्शन की शैली का महानतम चिन्तक था जिसका नाम हूकर, मिल्टन तथा बर्क सदृश चिन्तकों की श्रेणी में आता है।'

हॉब्स को राज्य की प्रभुसत्ता की आधुनिक धारणा की पुष्टि करने वाला सबसे प्रथम चिन्तक माना जाना चाहिए। उसके विचारों ने राज्य की उत्पत्ति के दैवी अधिकार सिद्धान्त को निर्मूल सिद्ध किया। उसके विचारों ने व्यक्तिवाद तथा उपयोगितावाद की विचारधाराओं के विकास को प्रेरणा प्रदान की। राज्य की कानूनी सर्वोच्च प्रभुसत्ता की धारणा हॉब्स के विचारों का ही फल है। उसके भौतिकतावाद ने भविष्य के समाजवादी चिन्तकों को प्रभावित किया। राजनीति के चिन्तन में वैज्ञानिक पद्धति को अपनाने वाला वह सबसे पहला आधुनिक चिन्तक है। विवेकवाद के युग में उसने अपनी विचारधारा का निर्माण तथा विकास करने में यथार्थ को उपेक्षित नहीं किया। गृह-युद्धों के वातावरण में जो अराजक स्थिति उत्पन्न हो गयी थी, उसका विश्लेषण तथा समाधान उसके चिन्तन की मूलभूत धारणा बनी रही। इस प्रकार वह यथार्थ पर आधारित राजनीतिक चिन्तन का प्रतिपादक सिद्ध हुआ है। उससे पूर्व का चिन्तन प्राकृतिक कानून की भावनामूलक धारणा पर विकसित हो रहा था। हॉब्स ने मानव निर्मित विध्यात्मक कानून की महत्ता को दर्शाया और वैज्ञानिक विधायन के प्रतिपादकों के लिए उसने मार्ग प्रशस्त किया। बेंथम तथा ऑस्टिन सदृश उपयोगितावादियों के दर्शन पर हॉब्स का प्रभाव स्पष्टतया प्रकट होता है।

यद्यपि हॉब्स के अनेक निष्कर्षों या पूर्व अवधारणाओं में अनेक कमियाँ या असंगतियाँ रह गयी हैं, तथापि उनकी पुष्टि के निमित्त हॉब्स ने जिस क्रमबद्ध ढंग के तर्क दिये हैं, वे उसे एक वैज्ञानिक चिन्तक होने की स्थिति प्रदान करते हैं।

[1] 'On the continent, however, from the time the *Leviathan* appeared, its teachings assumed a conspicuous place in political science.'—Dunning, *op. cit.*, 303.

चौदहवाँ अध्याय

स्वतन्त्रता तथा वैधानिकतावाद

17वीं शताब्दी के इंग्लैण्ड के कुछ अन्य विचारक—17वीं शताब्दी के मध्यवर्ती काल में इंग्लैण्ड के गृह-युद्ध ने राजनीतिक चिन्तन तथा विचारधाराओं के विकास को प्रचुर सामग्री प्रदान की। गृह-युद्ध की अवधि में अथवा इससे पूर्व तथा पश्चात् इंग्लैण्ड के राजनीतिक चिन्तन में योगदान करने वाले प्रमुख विचारक हूकर, मिल्टन, हैरिंग्टन, फिल्मर, हैलीफैक्स आदि थे। हॉब्स गृह-युद्ध की अवधि का सबसे महान् दार्शनिक था। उसके पश्चात् इंग्लैण्ड के राजनीतिक चिन्तन में दूसरा महान् विचारक जॉन लॉक (John Locke) हुआ है। हॉब्स ने गृह-युद्ध की अवधि में उत्पन्न हो गयी अराजकता की स्थिति के निवारण हेतु निरंकुश शासन का समर्थन किया। हैरिंग्टन गणतन्त्रवादी था। उसके राजनीतिक विचारों का आधार मुख्यतः आर्थिक है। यद्यपि वह न तो लोकतन्त्रवादी था और न समाजवादी, तथापि वह राजनीतिक आधार पर सम्पत्ति के समुचित वितरण की व्यवस्था को आवश्यक मानता था। अतः उसके विचारों ने बाद के समाजवादी चिन्तन को प्रभावित किया। जॉन मिल्टन (1608–1674) क्रान्ति के युग में संसदीय दल का समर्थक था। वह व्यक्ति की विचार-अभिव्यक्ति तथा स्वतन्त्रता के अधिकारों का प्रबल समर्थक था। परन्तु शासन के सम्बन्ध में उसने कुलीनतन्त्र का पक्ष लिया है। वह धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धान्त को मानता था। फिल्मर की विचारधारा हॉब्स की भाँति निरंकुशतावादी थी। वह राजतन्त्र का समर्थक और राजतन्त्र के दैवी अधिकार सिद्धान्त की मान्यता के कारण राजा के प्रति जनता के सविनय आज्ञाकारिता के दायित्व का भी प्रतिपादक था। हैलीफैक्स न तो निरंकुश राजतन्त्र का समर्थक था न गणतन्त्र का। गृह-युद्ध की अवधि में इन दोनों के कुप्रभाव प्रकट हो चुके थे। अतः उसने वैधानिक राजतन्त्र का समर्थन किया था। उसने राष्ट्र की सुदृढ़ता में जनबल को महत्त्वपूर्ण माना। उसके मत से जन-इच्छा का प्रतिनिधित्व संसद करती है। शासकों को सुयोग्य तथा सार्वजनिक भावना से युक्त होना चाहिए। परन्तु उसने यह स्पष्ट नहीं किया कि शासकों को संसद के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। वह राजनीतिक दलबन्दियों के भी विरुद्ध था। इस प्रकार 17वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड के अनेक विचारकों ने गृह-युद्ध की संकटमय स्थिति के निवारणार्थ भिन्न-भिन्न प्रकार के राजनीतिक विचार व्यक्त किये। परन्तु राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में इनमें से हॉब्स और उसके पश्चात् लॉक के राजनीतिक विचारों का विशेष महत्त्व है।

लेवलर्स तथा डिग्गर्स—क्रान्ति के युग में इंग्लैण्ड के राजनीतिक चिन्तन को प्रभावित करने वाले दो आन्दोलनों का उल्लेख भी आवश्यक है। इनमें से एक लेवलर्स (Levellers) का था। यह दल निम्न मध्यमवर्गी लोगों का था जो क्रामवेल

की सेना का निर्माण करने वाले थे। क्रामवेल-शासन की निरंकुशता की अवधि में इन लोगों ने उत्तरदायी शासन, मताधिकार की व्यापकता तथा संसद के लिए और अधिक समानता के आधार पर प्रतिनिधित्व की माँग की। यह दल लोक-प्रभुसत्ता, संसद की सर्वोच्चता तथा धार्मिक स्वतन्त्रता की माँग करता था। इसका सिद्धान्त राजनीतिक समानता की प्राप्ति था। दूसरा आन्दोलन डिग्गर्स (Diggers) दल के द्वारा किया गया था। यह गुट धार्मिक-आर्थिक प्रकृति का था। इसने प्राचीन ईसाई शिक्षाओं के आधार पर सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व का विरोध किया। इस दल के आन्दोलनकारी व्यक्तिगत सम्पत्ति को मनुष्य के पतन का कारण मानते थे। वे सम्पत्ति के सामूहिक उपभोग तथा समान वितरण के सिद्धान्त पर जोर देते थे। यद्यपि यह आन्दोलन प्रभावहीन तथा शान्तिपूर्ण था, तथापि इसे 19वीं शताब्दी की सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति का प्राथमिक रूप माना जा सकता है।

जॉन लॉक (1632–1704)

17वीं शताब्दी के इंग्लैण्ड के राजनीतिक दर्शन में हॉब्स की भाँति लॉक के राजनीतिक विचारों का आधार भी तत्कालीन गृह-युद्ध से उत्पन्न राजनीतिक परिस्थितियाँ थीं। हॉब्स की विचारधाराओं में तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितयों के साथ-साथ स्वयं उसके दार्शनिक विचारों का प्रभाव अधिक है, परन्तु लॉक की विचारधाराएँ मूल रूप से उसकी सक्रिय राजनीति में भाग लेने का फल है। हॉब्स ने इंग्लैण्ड की अराजक स्थिति से भयभीत होकर सुव्यवस्था लाने तथा व्यक्ति की सुरक्षा हेतु सुदृढ़ शासक की आवश्यकता का समर्थन करते हुए अपने विचारों का प्रतिपादन किया था, परन्तु लॉक चार्ल्स द्वितीय तथा जेम्स द्वितीय के शासन के विरुद्ध था, मुख्यतया उनके कैथोलिक होने तथा अपनी निरंकुशता को बनाये रखने की प्रवृत्ति के कारण। अतः उसकी विचारधाराएँ 1688 की रक्तहीन क्रान्ति के औचित्य को सिद्ध करती हैं, और मर्यादित शासन के सिद्धान्त का समर्थन करती हैं। हॉब्स की भाँति लॉक भी अपने जीवन में इंग्लैण्ड के गृह-युद्ध की घटनाओं का पर्यवेक्षक रह चुका था। साथ ही सक्रिय राजनीति से उसका पर्याप्त निकट सम्बन्ध रहा था।

लॉक का जन्म 1632 में सामरसेटशायर के रिंग्टन (Wrington) नामक स्थान पर एक धनी वकील के घर में हुआ था। गृह-युद्ध की अवधि में उसका पिता प्यूरिटन क्रान्ति के नेता क्रमवेल की सेना में एक कप्तान के रूप में रह चुका था। लॉक की प्रारम्भिक शिक्षा घर में ही हुई। बाद में वह वेस्टमिन्स्टर के स्कूल में भर्ती हुआ। 1652 में वह ऑक्सफोर्ड के क्राइस्ट चर्च कालेज में भर्ती हुआ, जहाँ से उसने 24 वर्ष की उम्र में बी० ए० तथा 26 वर्ष की उम्र में एम० ए० की शिक्षा पूर्ण की। इसके पश्चात् उसे ऑक्सफोर्ड में ग्रीक, दर्शन तथा अलंकार-शास्त्र का अध्यापक नियुक्त किया गया। परन्तु उसे इस व्यवसाय में कोई अभिरुचि नहीं थी। अतः उसने ऑक्सफोर्ड के एक सुप्रसिद्ध चिकित्साशास्त्री डेविड टॉमस के साथ चिकित्सा विज्ञान का अध्ययन प्रारम्भ किया। कालान्तर में वह टॉमस के सम्पर्क से एक सुयोग्य चिकित्सक बन गया। इस बीच लार्ड ऐस्ले (Lord Ashley), जो बाद में अर्ल आव शैफ्ट्सबरी बना था, डेविड. टॉमस के पास इलाज के लिए आया। लॉक को शैफ्ट्सबरी के साथ सम्पर्क बनाने तथा मित्रता स्थापित करने का अवसर मिल

गया। अगले वर्ष शैफ्ट्सबरी ने लॉक को अपना गृह चिकित्सक तथा गोपनीय सचिव बना लिया। शैफ्ट्सबरी एक प्रभावशाली राजनयिक था, जिसने 1660 में चार्ल्स द्वितीय को राजगद्दी दिलाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका सम्पन्न की थी। अतः राजा ने उसे एक प्रिवी कौन्सिलर बना दिया था। कालान्तर में शैफ्ट्सबरी ने ह्विग (Whig) दल का संगठन किया। परन्तु वह कैथोलिक विरोधी था, अतः राजा तथा उसके मध्य संघर्ष चलता रहा। इस बीच लॉक को भी उच्च प्रशासकीय पदों पर नियुक्त किया गया था। 1673 में शैफ्ट्सबरी को राजा से संघर्ष होने के कारण अपने राजनयिक पद से अलग होना पड़ा। अतः लॉक भी पद-मुक्त हो गया। उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं था। अतः वह इलाज के लिए फ्रांस चला गया। 1679 में जब शैफ्ट्सबरी को पुनः अपने पद पर नियुक्त किया गया, तो लॉक भी वापस आया। परन्तु शैफ्ट्सबरी का निकट सूत्री होने के कारण उसे भी राजा के विरुद्ध षड्यन्त्रकारी माना जाता रहा। अतः जब शैफ्ट्सबरी को पुनः 1681 में राजा के साथ संघर्ष होने के कारण हालैण्ड भागना पड़ा, तो लॉक भी अपने पद से अलग हो गया और हालैण्ड चला गया, जहाँ वह छिपकर रहा। 1683 में शैफ्ट्सबरी की मृत्यु हो गयी। इसके पश्चात् लॉक ने अपने ग्रन्थों की रचना आरम्भ की।

हॉलैण्ड में लॉक का सम्पर्क विलियम ऑव ऑरेंज के साथ हुआ जो राजा जेम्स द्वितीय का दामाद था, और प्रोटेस्टेंट धर्म को मानता था। चूँकि लॉक चार्ल्स द्वितीय तथा जेम्स द्वितीय का विरोधी था और राजगद्दी पर कैथोलिक के उत्तराधिकार को स्वीकार नहीं करता था, अतः जेम्स द्वितीय को गद्दी से उतरवाकर उसके स्थान में विलियम तथा मेरी को सिंहासनारूढ़ करने की क्रान्ति में लॉक का सक्रिय भाग होना कोई छिपी बात नहीं थी। 1688 में जब यह क्रान्ति सफल हो गयी तो कहा जाता है कि लॉक भी इंग्लैण्ड वापस जाते हुए उसी जहाज में गया जिसमें विलियम तथा मेरी यात्रा कर रहे थे। 1689 में उसकी प्रसिद्ध रचनाएँ Two Treatises on Government प्रकाशित हुईं। हारमन का मत है कि 'आधुनिक खोजों के आधार पर यह माना जाने लगा है कि वास्तव में Two Treatises 1681 में ही लिख ली गयी थी। यदि वे इससे पूर्व भी लिखी गयी हों तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि वे शैफ्ट्सबरी के साथ चार्ल्स द्वितीय के संघर्ष की भी परिचायक हैं।' जो भी हो, इस ग्रन्थ का उद्देश्य 1688 की क्रान्ति के औचित्य को दर्शाना था। लॉक के लिए यह सम्भव भी नहीं था कि उन परिस्थितियों में वह अपने विचारकों का प्रकाशन पहले करा सकता।

इंग्लैण्ड लौटने पर राज-दम्पत्ति ने लॉक के ऊपर बड़ी कृपा दर्शायी। उसे एक राजदूत का पद-ग्रहण करने का आमन्त्रण दिया गया, परन्तु स्वास्थ्य की दुर्बलता के कारण वह उसे स्वीकार नहीं कर सका। उसने व्यापार आयुक्त का पद-ग्रहण किया जो ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल में आज तक एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पद माना जाता है। इस अवधि में उसने अपने अन्य ग्रन्थों की रचना भी की और एक महान् विचारक होने की ख्याति प्राप्त कर ली। उसकी अन्य रचनाएँ First to Fourth Letters on Toleration हैं, जिनमें से अन्तिम उसकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुई। 1700 में पुनः स्वास्थ्य की दुर्बलता के कारण उसे अपना शासकीय पद छोड़ना पड़ा। परन्तु आजन्म वह अध्ययन कार्य करता रहा। उसकी छोटी-बड़ी समस्त

रचनाएँ कई हैं और वे राजनीति, शिक्षा, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र, प्रकृति विज्ञान, धर्मशास्त्र आदि विविध विषयों पर लिखी गयी है। 1704 में लॉक की मृत्यु हो गयी।

विचार-पद्धति

हॉब्स की भाँति लॉक न तो एक दार्शनिक था और न ही उसकी राजनीतिक विचारधाराओं में मौलिकता है। राजनीतिक विचारों के सम्बन्ध में जो कुछ भी सिद्धान्त उसने प्रतिपादित किये हैं उनके बारे में उसके पूर्ववर्ती विचारक किसी न किसी रूप में अपने मत व्यक्त कर चुके थे। परन्तु लॉक का महत्त्व इसलिए अधिक है कि उसने इन विचारों को विवेकपूर्ण ढंग से एक क्रमबद्ध दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया। अपने पूर्ववर्ती जिन विचारकों से उसका विरोध था उनकी धारणाओं का उसने एक-एक करके खण्डन किया। उसके पूर्ववर्ती विचारकों की जो धारणाएँ उसकी दृष्टि से अपूर्ण तथा असंगत थीं, उन्हें उसने अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त करने का प्रयास किया।

परिस्थितियों का प्रभाव—लॉक की विचारधाराएँ मुख्यतया तत्कालीन राजनीतिक वातावरण तथा उसके पूर्ववर्ती विचारकों की धाराओं से प्रभावित हैं। इस सम्बन्ध में शैफ्ट्सबरी के साथ उसका घनिष्ट सम्पर्क अधिक महत्त्वपूर्ण है। शैफ्ट्सबरी ह्विग दल का संस्थापक था और लॉक उसका मुख्य सचिव। ये दोनों चार्ल्स द्वितीय की निरंकुशता तथा शासन-व्यवस्था में कैथोलिक समर्थक प्रवृत्तियों के विरोधी थे। लॉक के विचारों में धार्मिक सहिष्णुता तथा मर्यादित शासन का समर्थन पाया जाता है। यह एक सामान्य धारणा है कि किसी भी विचारक के विचार अपनी परिस्थितियों से प्रभावित होते हैं। लॉक की विचारधाराएँ उसके सक्रिय राजनीति में भाग लेने के कारण प्रभावित हुई थीं। परन्तु जैसा जोन्स का कथन है लॉक की विचार-पद्धति पूर्णतया उसकी व्यक्तिगत परिस्थिति के अनुकूल सिद्ध नहीं होती।[1] हॉब्स ने मानव-स्वभाव तथा अराजक 'प्राकृतिक स्थिति' का चित्रण करने में अपने व्यक्तिगत स्वभाव तथा भय को प्रतिबिम्बित किया है, क्योंकि उसे स्वयं अपने प्राणों का भय सताता रहा था। लॉक के समक्ष भी ऐसी परिस्थितियाँ आयीं, और वे हॉब्स की अपेक्षा कहीं अधिक कष्टकारी थीं, परन्तु हॉब्स के विपरीत लॉक मानव स्वभाव को सद्भावना से पूर्ण तथा प्राकृतिक स्थिति के जीवन को उत्तम बताता है। हॉब्स ने अपनी विचारधाराओं को दार्शनिक तथा तार्किक क्रम से प्रस्तुत करने में चिन्तनात्मक पद्धति को अधिक अपनाया है, जबकि लॉक एक व्यावहारिक राजनयिक तथा विचारक था। वह जहाँ कहीं भी गया और जिस किसी के साथ उसका सम्पर्क हुआ, उन सब दशाओं में उसे लोगों का प्रेम तथा सद्भावना प्राप्त हुई। अतः उसके लिए यह कल्पना करना उचित नहीं था कि मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी तथा कृतघ्नी होता है। हॉब्स मानव-स्वभाव का विवेचन करने में चार्ल्स प्रथम के मृत्यु-दण्ड की घटना से प्रभावित था। इसके विपरीत लॉक के ऊपर 1688 की रक्तहीन क्रान्ति का प्रभाव था। अतएव मानव-स्वभाव तथा प्राकृतिक स्थिति के जीवन के सम्बन्ध में दोनों के निष्कर्ष एक-दूसरे के विरोधी हैं।

पूर्ववर्ती विचारकों का प्रभाव—हॉब्स की भाँति लॉक ने भी अपनी विचार-

[1] Jones, *op. cit.*, 151–52,

धाराओं के विकास में 17वीं शताब्दी में प्रचलित राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक संविदा सिद्धान्त की परम्परा अपनायी है। इस विचारधारा के प्रतिपादन में वह भी हॉब्स के क्रम को अपनाता है, परन्तु उसके निष्कर्ष पूर्णतया हॉब्स के विपरीत हैं। साथ ही उसकी विचारधाराओं पर मिल्टन, प्यूफनडौर्फ, हूकर, सिडनी, हैरिंग्टन तथा फिल्मर की विचारधाराओं का भी प्रभाव है, जिनमें से कुछों को ग्रहण करके उसने और अधिक स्पष्ट किया और कुछों का तीव्र खण्डन किया। उसका मुख्य विरोध फिल्मर तथा हॉब्स के निरंकुशतावाद से था, परन्तु हूकर तथा सिडनी के विचारों से उसने बहुत प्रेरणा ली। किन्तु अपनी विचारधाराओं का प्रतिपादन करने में उनकी पुष्टि के निमित्त उसने अपने पूर्ववर्ती विचारकों की प्रामाणिकता को उद्धृत नहीं किया। अपितु अपने विचारों को स्वतन्त्र तथा मौलिक रूप से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। लॉक की विचारधाराएँ दार्शनिक चिन्तन के रूप की न होकर व्यावहारिक राजनीतिक विचारधाराओं के रूप की अधिक हैं, जिनका उद्देश्य मुख्यतया तत्कालीन इंग्लैण्ड की परिस्थितियों हेतु वैधानिक शासन-पद्धति का प्रतिपादन करना था। उसने अपने विचारों को इतने सुयोजित ढंग से तथा व्यावहारिकता के साथ प्रस्तुत किया है कि इसके कारण लॉक की विचारधाराएँ न केवल 17वीं शताब्दी के ही उपयुक्त सिद्ध हुईं, वरन् आज तक भी वे राजनीतिक चिन्तन एवं व्यवहार में प्रभावी सिद्ध होती हैं।

लॉक की रचनाएँ—शासन के दो ग्रन्थों (The Treatises on Government) में से प्रथम ग्रन्थ का उद्देश्य रॉबर्ट फिल्मर के विचारों का खण्डन करना था। हॉब्स की भाँति फिल्मर भी निरंकुशतावादी था उसका ग्रन्थ 'Patriarcha' सम्भवतः 1651–1653 के बीच लिखा गया था। इसमें जो विचार रखे गये हैं वे अत्यधिक मात्रा में हॉब्स के विचारों से प्रभावित लगते हैं। फिल्मर 1653 में मर गया था परन्तु उसका ग्रन्थ 1680 में प्रकाशित हुआ। इसमें 1660 में राजा चार्ल्स द्वितीय के पुनः राजगद्दी पर प्रत्यावर्तित हो जाने के औचित्य को दर्शाया गया है। सम्भवतः फिल्मर की मृत्यु के बाद इस अप्रकाशित पाण्डुलिपि में ये धारणाएँ उसके अनुयायियों ने जोड़ दी होंगी। फिल्मर लोक-प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को नहीं मानता। वह राजा की सम्प्रभु सत्ता को प्राकृतिक मानता है। राजा को वह आदम का उत्तराधिकारी कहता है। इस प्रकार फिल्मर बाइबिल का अनुसरण करके राजा के दैवी अधिकार का समर्थन करता है। यद्यपि लॉक ने फिल्मर के विचारों पर तीव्र प्रहार किया है, तथापि ऐसा करने में उसके अनेक तर्क असंगतिपूर्ण लगते हैं, उदाहरणार्थ, फिल्मर ने प्राकृतिक स्थिति, संविदा आदि के सम्बन्ध में जिन ऐतिहासिक तर्कों को दिया है, लॉक उनका खण्डन करने में ऐतिहासिक प्रमाण नहीं दे सका।[1] ऐसा भी माना जाता है कि लॉक का उद्देश्य फिल्मर का विरोध करना उतना अधिक नहीं था जितना कि हॉब्स का विरोध करना था, भले ही उसने अपने प्रथम ग्रन्थ में हॉब्स का उल्लेख नहीं किया है। फिर भी यह माना जाता है कि लॉक ने अपने प्रथम ग्रन्थ के विचारों को द्वितीय में अपनाया है और द्वितीय में स्पष्टतया फिल्मर तथा हॉब्स दोनों के विचारों का खण्डन किया गया है। फिल्मर तथा हॉब्स का विरोध करने में लॉक फिल्मर सदृश दुर्बल चिन्तक का विरोध तो आसानी से कर सकता था, परन्तु उसमें हॉब्स सदृश महान् दार्शनिक एवं उसकी तर्कसंगत विचारधारा का खण्डन

[1] Harmon, *op. cit.*, 246.

कर सकने की प्रतिभा नहीं थी। भले ही उसने हॉब्स के विचारों का विरोध किया है, तथापि उसने हॉब्स के अनेक सिद्धान्तों तथा तर्कों को अपनाया भी है। इनमें से संविदा सिद्धान्त का क्रम तथा व्यक्तिवाद प्रमुख हैं। जिस प्रकार हॉब्स का समूचा दर्शन व्यक्ति के इर्द-गिर्द घूमता है, उसी प्रकार व्यक्ति का कल्याण लॉक की विचारधारा का भी केन्द्रीय तत्त्व है। निष्कर्ष अवश्य अलग हैं, क्योंकि लॉक वैधानिकतावाद का समर्थक है; जबकि हॉब्स निरंकुशतन्त्र का।

लॉक ने सिडनी के विचारों से भी बहुत प्रेरणा ली है। 1683 में सिडनी को राजद्रोह के अपराध में मृत्यु-दण्ड दिया गया था। उसकी रचना 'Discourses Concerning Government' उसकी मृत्यु तथा 1688 की क्रान्ति के पश्चात् प्रकाशित हुई थी। सिडनी ने हॉब्स तथा फिल्मर दोनों के विचारों का विरोध किया था। उसका मत था कि सत्ता का आधार सहमति है। शासक की सत्ता जनता की प्रभुत्व शक्ति के अधीन है। सिडनी लोक-प्रभुसत्ता तथा कुलीनतन्त्री शासन का समर्थक था। लॉक ने सिडनी के ही विचारों को और अधिक क्रमबद्ध ढंग से प्रस्तुत किया है। लॉक के विचारों में हूकर के विचारों का प्रभाव सर्वाधिक है। हूकर आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में सामाजिक समझौता सिद्धान्त का सबसे पहला संगतिपूर्ण विचारक था। शासन को सहमति पर आधारित मानने और संविदा सिद्धान्त का प्रतिपादन करने में लॉक ने हूकर के विचारों को बहुत अधिक मात्रा में अपनाया है। हूकर की भाँति लॉक के विचारों में भी मध्ययुगीन प्रभाव है। शासन के ऊपर नैतिक मर्यादा, शासकों का शासित जनसमूह के प्रति उत्तरदायित्व तथा शासकों के ऊपर कानून की मर्यादा के सिद्धान्त हूकर ने मध्ययुगीन परम्परा के आधार पर अपनाये थे और लॉक भी इन्हें व्यक्त करता है। जन-प्रभुसत्ता तथा राजा के ऊपर संसद की उच्चता के सिद्धान्त को लॉक ने हूकर से ग्रहण किया।

लॉक का शासन पर द्वितीय ग्रन्थ 'Second Treatise' ही वास्तव में उसकी राजनीतिक विचारधारा की आत्मा है। इसमें उसने शासन की उत्पत्ति, उसके स्वरूप, क्षेत्र तथा उद्देश्यों का विवेचन किया है। सहिष्णुता पर उसके चार निबन्ध (The Four Letters on Toleration) राजनीति में धार्मिक सहिष्णुता बरतने के सम्बन्ध में हैं। उसके पूर्ववर्ती कई विचारकों ने धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धान्त का औचित्य सार्वजनिक शान्ति, ईमानदार शासन तथा वर्गगत हितों के समर्थन की दृष्टि से सिद्ध किया था। परन्तु लॉक इसके औचित्य को 'मानव की बौद्धिक दुर्बलता तथा उसमें सूझ-बूझ की सीमितता' (frailty of the human intellect and limitations of human understanding) के आधार पर सिद्ध करता है। उसके विचार से मनुष्य सोचते हैं कि वे उचित हैं पर वे इसे जान नहीं सकते।[1] 'Essay Concerning Human Understanding' में वह अपने ज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्त का विवेचन करता है। उसकी अन्य रचना 'The Fundamental Constitution of Carolina' है, जो उसकी मृत्यु के पश्चात् (1706) प्रकाशित हुई। यह अमरीका के अनेक राज्यों के संविधान-निर्माण हेतु सहायक सिद्ध हुई थी।

लॉक के राजनीतिक चिन्तन का केन्द्र व्यक्ति तथा राज्य के मध्य सम्बन्धों का विवेचन करना था। वह इस समस्या को लेकर चलता है कि राजनीतिक सत्ता के अस्तित्व का, जो कि कानून बनाने तथा दण्ड देने का अधिकार रखती है, क्या

[1] Maxey, *op. cit.*, 250–51.

कारण है ? लॉक का उत्तर है कि उसका औचित्य जनता का हित करना है। इसी आधार पर वह व्यक्तियों के राज्य की आज्ञाकारिता के कारणों का भी विवेचन करता है। प्रत्येक राजनीतिक चिन्तन के समक्ष यही समस्या प्रमुख रहती है। इस दृष्टि से हॉब्स तथा लॉक के चिन्तन के उद्देश्य में कोई अन्तर नहीं है। लॉक भी इस विवेचन में हॉब्स के क्रम को ही अपनाता है, अर्थात् वह भी मानव स्वभाव, प्राकृतिक अधिकारों, प्राकृतिक कानून, संविदा, प्रभुसत्ता के स्वरूप आदि के क्रम को अपनाता है, परन्तु प्रत्येक चरण में उसके निष्कर्ष हॉब्स के निष्कर्षों से विपरीत है। वह चाहता तो यह था कि वह हॉब्स के समूचे दर्शन को निरर्थक एवं मिथ्या सिद्ध करे, परन्तु उसमें न हॉब्स की सी दार्शनिक तथा तार्किक प्रतिभा थी; न वह हॉब्स की भाँति समाज एवं सरकार के सम्बन्ध में प्राथमिक सिद्धान्तों की गहनता में पहुँच पाया। उसका दर्शन मौलिक सिद्ध नहीं हुआ। जो कुछ उसने कहा, उसे उसके पूर्ववर्ती विचारक जिनसे उनसे प्रेरणा ली थी, पहले ही कह चुके थे। उसके विचारों की सबसे बड़ी महत्ता यही थी कि उसने विभिन्न स्रोतों से राजनीतिक विचारों तथा आदर्शों को ग्रहण किया, और उन्हें अपने ढंग से प्रस्तुत किया। मौलिकता के अभाव में उसने व्यवहार-बुद्धि (commonsense) को अधिक महत्त्व दिया, भले ही तार्किक दृष्टि से वह सही हो या न हो। इस प्रकार राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में उसे एक व्यवहार-बुद्धि का दार्शनिक (a commonsense philosopher) माना जाता है।

मानव-स्वभाव तथा प्राकृतिक स्थिति

लॉक का ज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्त—यद्यपि लॉक एक दार्शनिक नहीं था, तथापि अपने राजनीतिक विचारों का प्रतिपादन करने में उसने भी अपनी मनोविज्ञान सम्बन्धी धारणाओं का उपयोग किया है। इनमें से उसका 'ज्ञान का सिद्धान्त' (Theory of Knowledge) उल्लेखनीय है। राजनीतिक विचारधाराओं के प्रतिपादन में इस सिद्धान्त का अनुगमन करने के कारण उसकी विचारधारा विवेकवादी वर्ग (Rational School of Thought) की अर्थात् हेतुवादी मानी जाती है। लॉक के मत से मनुष्य के मस्तिष्क में जन्मजात कोई प्रत्यय नहीं होते। जन्म के समय मानव का मस्तिष्क कोरे कागज की भाँति होता है। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभव उसके मस्तिष्क में प्रवेश करते हैं, जो उसमें चेतना तथा प्रतिबिम्ब उत्पन्न करते हैं। मस्तिष्क में उनके विश्लेषण, तुलना तथा एकीकरण की क्रिया होती है, जिनके कारण जटिल विचार बनते हैं। ये ज्ञान नहीं, बल्कि ज्ञान के साधन हैं। ज्ञान की उत्पत्ति तब होती है, जबकि मस्तिष्क इन विविध विचारों के मध्य तुलना द्वारा सहमति या असहमति व्यक्त करता है। इस सिद्धान्त के द्वारा लॉक ज्ञान की उत्पत्ति के विवेकमूलक महत्त्व का प्रतिपादन करता है। इसी के आधार पर वह राजा के दैवी अधिकार सिद्धान्त को अविवेकमूलक कहता है, जिसका कोई ऐतिहासिक अथवा मनोवैज्ञानिक आधार नहीं है। लॉक के मत से मनुष्य का मस्तिष्क इस विचार के प्रति सहमति प्रकट नहीं कर सकता। ज्ञान की विवेक-मूलक प्रकृति के आधार पर मनुष्य सत्य, विश्वास तथा नैतिकता सम्बन्धी नियमों की परख करता है और उनके औचित्य तथा अनौचित्य का ज्ञान करके ही उन्हें अपनाता है या उनका परित्याग करता है। इसी सिद्धान्त के आधार पर लॉक ने राज्य की उत्पत्ति, राजसत्ता के स्वरूप, शासन सम्बन्धी सिद्धान्तों

तथा राज्य और धर्म के मध्य सम्बन्धों का विवेचन किया है। अतः लॉक का राजनीतिक दर्शन विवेक-मूलक है।

हॉब्स तथा लॉक के विचारों का तुलनात्मक विवेचन—राजनीतिक विचारधारा के प्रतिपादन में लॉक हॉब्स के क्रम से चलता है। मनुष्य के स्वभाव, प्राकृतिक स्थिति के जीवन की कठिनाइयों, संविदा द्वारा राजनीतिक समाज की उत्पत्ति, शासन के स्वरूप का विवेचन, राज्य तथा धर्म के बीच सम्बन्ध, यही सब लॉक की विचारधारा के भी तत्त्व है। परन्तु इनके सम्बन्ध में लॉक की धारणाएँ हॉब्स से बिल्कुल भिन्न है। दोनों विचारक समकालीन तथा एक ही देश के थे। 'हॉब्स गृह-युद्ध का बालक था तो लॉक रक्तहीन क्रान्ति की उपज था।'[1] ये दोनों घटनाएँ एक ही विकास-क्रम की परिचायक है। परन्तु जैसा जोन्स ने कहा है, 'लॉक तथा हॉब्स राज्य के उद्देश्य के बारे में सहमत है; यह उद्देश्य है उनके व्यक्तिगत सदस्यों की शान्ति, सुरक्षा तथा कल्याण, परन्तु इस उद्देश्य की प्राप्ति के तरीके के बारे में दोनों मे मौलिक भेद है, क्योंकि दोनों की मानव-स्वभाव के सम्बन्ध की धारणाओं में अत्यधिक भिन्नता है।'[2] हॉब्स तथा लॉक दोनों व्यक्तिवादी विचारक थे। दोनों की राजनीतिक विचारधारा का केन्द्र व्यक्ति का हित है। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध दोनों विचारक समझौता सिद्धान्त को मानते हैं। राज्य की स्थापना व्यक्तियों के समझौते के द्वारा इसीलिए की जाती है कि राज्य की स्थापना से पूर्व प्राकृतिक स्थिति में व्यक्तियों को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था, वे दूर हो जाये और राजनीतिक समाज के अन्तर्गत व्यक्ति की सुरक्षा, शान्ति तथा कल्याण सुनिश्चित रहे। इस सम्बन्ध में दोनों विचारक राज्य को कृत्रिम रूप से व्यक्तियों के सहयोग तथा संविदा द्वारा निर्मित संस्था मानते हैं, जिसका एक निश्चित उद्देश्य या हेतु है। राज्य के सम्बन्ध में इस हेतुवादी (teleological) दृष्टिकोण का अर्थ यह है कि राज्य एक निश्चित उद्देश्य से निर्मित होता है और उसका कार्य इस निश्चित उद्देश्य को सम्पन्न करना है। अरस्तू ने भी राज्य के सम्बन्ध में हेतुवादी दृष्टिकोण अपनाया था। उसके मत से राज्य का उद्देश्य 'उत्तम जीवन' की प्राप्ति है जो राज्य तथा व्यक्ति दोनों के लिए है। परन्तु अरस्तू राज्य को नैसर्गिक संस्था मानता है। इसके विपरीत हॉब्स तथा लॉक उसे कृत्रिम संस्था मानते हैं। इन दोनों धारणाओं में जो भी भेद हो, परन्तु राज्य के हेतुवादी दृष्टिकोण को मानने का अभिप्राय यह है कि राज्य के अस्तित्व का कोई नैतिक औचित्य होना चाहिए। नैतिक औचित्य को सिद्ध करने का आधार यह धारणा है कि व्यक्ति के कुछ अधिकार होते हैं और राजनीतिक समाज में रहते हुए व्यक्ति का जीवन तभी उत्तम हो सकता है, जबकि व्यक्ति उन अधिकारों की प्राप्ति कर सके। समाज को ऐसे वातावरण की सृष्टि करनी चाहिए जिसके अन्तर्गत व्यक्ति उन सुविधाओं या अधिकारों का उपभोग कर सके। अतः राज्यों को नैसर्गिक संस्था न मानते हुए हॉब्स तथा लॉक दोनों की यह

[1] Hobbes was the child of Civil War, Locke was the product of Glorious Revolution.

[2] 'Locke and Hobbes agree about the end for the sake of which a state exists: it is peace, security and well-being of its individual members; but they disagree fundamentally about the way in which this end can best be attained, because their conceptions of human motivation differ so profoundly.' —W. T. Jones, *op. cit.*, 155.

धारणा थी कि राज्य के अस्तित्व का औचित्य इसलिए है कि वह व्यक्ति को सुरक्षा तथा कल्याण अर्थात् सुखी जीवन उपलब्ध करा सके, और उसके दुःखों का निवारण करे।

उद्देश्य-प्राप्ति के साधनों में भिन्नता—जहाँ तक राज्य के उद्देश्य की पूर्ति के साधनों तथा तरीकों का प्रश्न है, हॉब्स का उद्देश्य यह दर्शाना था कि 'समाज एक काल्पनिक चीज है। उसका अस्तित्व बिना उसके सदस्यों के सहयोग के सम्भव नहीं है। इस सहयोग का कारण सदैव यही है कि समाज के सदस्य व्यक्तिगत रूप ने लाभ प्राप्त कर सकें, और यह समाज तभी वास्तविक बनता है जबकि कोई व्यक्ति उसमें सम्प्रभु शक्ति का प्रयोग करने की क्षमता रखता है।'[1] संक्षेप में, हॉब्स का उद्देश्य राज्य के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए शासक की निरंकुश सत्ता का समर्थन करना था। इनके विपरीत लॉक मध्ययुगीन अरस्तूवाद से प्रभावित था। अतः उसने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि 'राज्य अपने उद्देश्य की प्राप्ति तभी कर सकता है जबकि शासन जनता अथवा शासित जन-समूह के प्रति उत्तरदायी हो। उसकी सत्ता नैतिक कानून तथा राज्य के परम्परागत बैधानिक नियमों से मर्यादित हो। शासन अपरिहार्य है, परन्तु उसका अस्तित्व राष्ट्र के कल्याण के लिए है।'[2] हॉब्स के बिचार से समाज ऐसे व्यक्तियों से निर्मित है, जो स्वभावतः स्वार्थी, परस्पर लड़ाकू, असभ्य तथा संवेगों के पुंज हैं। वे अपनी शक्ति के बल से सदैव दूसरों को दबाये रखने में प्रवृत्त रहते हैं। परन्तु जब उनमें विवेक उत्पन्न होता है तो वे शान्ति तथा सुरक्षा की चाह करते हैं। अतः वे सामाजिक शान्ति तथा व्यवस्था के हित में, तथा अन्य व्यक्तियों से अपनी सुरक्षा से उद्देश्य से, कानून तथा सुदृढ़ शासन की सामना करते हैं और संविदा करके ऐसी शासन-व्यवस्था का निर्माण करते हैं। इसके बिपरीत लॉक की धारणा में व्यक्ति तथा संस्थाएँ दोनों समाज के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। उनका नियमन कानून के अन्तर्गत कार्य करने वाली सरकार के द्वारा समस्त व्यक्तियों के कल्याण के लिए किया जाता है। राज्य के उद्देश्य को प्राप्त करने के साधनों के बारे में हॉब्स तथा लॉक की धारणा के मौलिक रूप से भिन्न होने का मुख्य कारण जैसा जोन्स ने बताया है, यह है कि 'हॉब्स राज्य के उद्देश्य सम्बन्धी नैतिक अथवा मानवीय आचरण को मानव मनोविज्ञान के विशुद्ध एवं सीधे प्रकृतिवाद से संयुक्त करता है। इसके विपरीत लॉक का मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त मानवीय प्रकृति का है।'[3] इसका आशय यह है कि हॉब्स का प्रकृतिवादी मनोविज्ञान

[1] 'A community as such is a pure fiction, that it has no existence except in the cooperation of its members, that this cooperation is always due to advantages enjoyed by its members individually, and that it becomes a community only because some individual is able to exercise sovereign power.' —Sabine, *op. cit*, 444.

[2] 'The medieval tradition that reached Locke through Hooker...held that government...is responsible to the people or the community which it governs; its power is limited both by moral law and by the constitutional traditions and conventions inherent in the history of the realm. Government is indispensable...it exists for the well-being of the nation.' —*Ibid.*

[3] 'Hobbes attempts to combine this essentially moral or humanistic attitude with a pure, straight forward naturalism in human psychology. Locke's theory on the other hand, avoids this contradiction because his psychological theory is humanistic in character.' —W. T. Jones, *op. cit.*, 156.

मानव को स्वार्थी एवं स्वार्थहित में लड़ाकू सिद्ध करता है, और उसकी ऐसी प्रवृत्ति का दमन करने के लिए बल-प्रवर्ती कानून की आवश्यकता है। इसके विपरीत लॉक मानव को मात्र एक प्राणी (animal) नहीं मानता, अपितु वह उसे एक नैतिक तथा सामाजिक प्राणी भी मानता है।

प्राकृतिक कानून तथा प्राकृतिक अधिकार—हॉब्स तथा लॉक के पूर्व प्राकृतिक कानून की धारणा स्टॉइक विचारकों के काल से चली आ रही थी। इस धारणा के अन्तर्गत प्राकृतिक कानून को विवेक का आदेश या विवेक की उपज माना जाता रहा था। हॉब्स के मत से प्राकृतिक स्थिति में अर्थात् राजनीतिक समाज निर्मित होने से पूर्व जंगल का कानून विद्यमान था जो मानव के संवेगों की उपज था, क्योंकि उस स्थिति में हॉब्स मानवों में विवेक के अस्तित्व को नहीं मानता। उसके मत से प्राकृतिक स्थिति में प्राकृतिक अधिकार विद्यमान थे। प्राकृतिक अधिकार का अभिप्राय यह था कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी 'आत्म-रक्षा' के निमित्त अपनी शक्ति के बल पर जैसा चाहता था वैसा करने का अधिकार रखता था। इसीलिए प्राकृतिक स्थिति का जीवन प्रत्येक व्यक्ति का प्रत्येक के साथ युद्ध (war of all against all) की स्थिति का था। ऐसी स्थिति में आत्म-रक्षा की सुनिश्चितता के अभाव में मानव जीवन दु:खमय बना रहा। इसके बाद मानव में विवेक की उत्पत्ति हुई। इस विवेक के कारण प्राकृतिक कानून का अभ्युदय हुआ जिसने मनुष्य को बताया कि वह आत्म-रक्षा के अधिकार की सुरक्षा के लिए शान्ति की चाह करे, प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक के साथ संविदा करके अपने प्राकृतिक अधिकारों का प्रयोग करने की शक्ति का परित्याग करे और संविदा को बनाये रखे। संविदा के आधार पर सम्प्रभु का निर्माण हो जाने पर जिस समाज की सृष्टि होती है वह राजनीतिक समाज है उसमें नागरिक कानून विद्यमान रहता है जो सम्प्रभु का आदेश होता है।

इसके विपरीत लॉक प्राकृतिक स्थिति के मानवों में विवेक के अस्तित्व को स्वीकार करता है। अतएव उस स्थिति में विवेक पर आधारित प्राकृतिक कानून भी विद्यमान रहता है। मानव विवेक की उपज होने के कारण प्राकृतिक कानून मानव में सामाजिकता की भावना उत्पन्न करता है। यह भावना मानवीय समानता की परिचायक है। अतएव लॉक के अनुसार प्राकृतिक स्थिति सामाजिकता की स्थिति है, परन्तु राजनीतिकता की नहीं। इसमें सभी मानव प्राकृतिक कानून के द्वारा निर्देशित होते हैं। यह प्राकृतिक कानून मानव को कुछ जन्मजात अधिकारों के उपभोग करने की प्रेरणा देता है। लॉक प्राकृतिक स्थिति में जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के प्राकृतिक, अलंघ्य अथा जन्मजात अधिकारों के अस्तित्व को स्वीकार करता है, जिन्हें विवेकशील मानव समानता के आधार पर प्रयुक्त करते थे। अत: लॉक की दृष्टि में प्राकृतिक स्थिति में सभी मानव नैतिकता की दृष्टि से समान थे, न कि शारीरिक या मानसिक दृष्टि से। मानवीय समानता की ऐसी धारणा विवेक पर आधारित प्राकृतिक कानून की उपज थी, जो यह बताती थी कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के प्रभुत्व से स्वतन्त्र है। स्वतन्त्र तथा समान मानव प्राकृतिक कानून की सीमा के अन्तर्गत जो भी उचित था उस कार्य को कर सकते थे। इस प्रकार स्वतन्त्रता अमर्यादित नहीं थी।

लॉक की धारणा जीवन के प्राकृतिक अधिकार को विवेक पर आधारित प्राकृतिक कानून की सीमा के अनुसार मानती है, न कि हॉब्स की भाँति प्राकृतिक स्थिति के विवेकहीन तथा कानूनरहित व्यवस्था के अन्तर्गत। इसी प्रकार स्वतन्त्रता

का प्राकृतिक अधिकार भी प्राकृतिक कानून के अधीन है। चूँकि यह भी विवेक की उपज है, अतः स्वतन्त्रता का अर्थ यह है कि प्राकृतिक कानून (विवेक) की सीमा के अधीन व्यक्ति जो भी करना चाहे कर सकता है। सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकार को लॉक संकीर्ण तथा व्यापक दो अर्थों में लेता है, इसका पृथक् विवेचन हम आगे करेंगे। इस प्रकार उक्त प्राकृतिक अधिकारों को विवेक के अधीन मानते हुए लॉक प्राकृतिक कानून का अर्थ उचित तथा अनुचित का ज्ञान कराने वाले नियमों के रूप में लेता है।

सम्पत्ति का अधिकार—प्राकृतिक कानून की धारणा लॉक की राजनीतिक विचारधारा का केन्द्रीय विचार है। यह विवेक पर आधारित एवं सर्वोच्च कानून है। प्राकृतिक स्थिति में इसी कानून के द्वारा मानव के समस्त कार्यकलापों तथा व्यापारों का नियमन होता है। उस स्थिति में इसके निर्वचन, परिपालन एवं कार्यान्वयन हेतु किसी सर्वमान्य मानवीय सत्ता के अभाव में जो कठिनाई थी, उसी को दूर करने के लिए राजनीतिक समाज निर्मित करने की संविदा व्यक्तियों के द्वारा की जाती है। राजनीतिक समाज की स्थापना हो जाने पर भी प्राकृतिक कानून की सम्प्रभुता बनी रहती है। राज्य की सरकार इस कानून से असंगति रखने वाले किसी कानून का निर्माण नहीं कर सकती। इसी कानून के अन्तर्गत प्राकृतिक स्थिति में व्यक्ति अनेक अधिकारों का उपभोग करते हैं। ये अधिकार प्राकृतिक तथा अलंघ्य हैं। इन्हीं की रक्षा के लिए राजनीतिक समाज का निर्माण किया जाता है। लॉक अपने ग्रंथों में यत्र-तत्र जिन प्राकृतिक अधिकारों का उल्लेख करता है वे हैं जीवन, स्वतन्त्रता, स्वास्थ्य तथा सम्पत्ति के अधिकार। परन्तु लॉक इनमें से सम्पत्ति के अधिकार को सबसे प्रमुख स्थान देता है। उसके विचार से अन्य अधिकार इसी अधिकार के अन्तर्गत आ जाते हैं। लॉक ने कहा है कि 'मानवों के समाज में प्रवेश करने का कारण ही अपनी सम्पत्ति की सुरक्षा है।'[1] इसका यह निष्कर्ष है कि नागरिकों के प्राकृतिक अधिकार राज्य से पूर्व हैं, अर्थात् अधिकारों की सृष्टि राज्य या समाज के द्वारा नहीं होती, अपितु व्यक्तियों के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा के लिए राज्य की सृष्टि होती है। शासन तथा कानून इन अधिकारों में कोई कमी नहीं कर सकते। कानून नैतिकता की सृष्टि नहीं करता, बल्कि कानून की नैतिकता की परख प्राकृतिक कानून की विवेकशीलता के द्वारा होती है जो कि प्राकृतिक अधिकारों की सृष्टि करती है। अतः राजनीतिक समाज की स्थापना हो जाने पर यही प्राकृतिक अधिकार कानूनी अधिकार बन जाता है और शासन उन्हें लागू करने के लिए बाध्य होता है।

चूँकि लॉक सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकार का ही उल्लेख अधिक करता है और अन्य प्राकृतिक अधिकारों को इसी अधिकार के अन्तर्गत मानता है, अतः सम्पत्ति के अधिकार के सम्बन्ध में लॉक की विचारधारा का ज्ञान करना आवश्यक है। लॉक से पूर्व अरस्तू तथा बोदां ने भी सम्पत्ति के अधिकार को बहुत महत्त्वपूर्ण माना था। परन्तु लॉक की सम्पत्ति सम्बन्धी धारणा उक्त विद्वानों की धारणा से भिन्न प्रकृति की है। लॉक के मत से ईश्वर ने मनुष्य को जीवन दिया है और स्वस्थ जीवन बिताने की स्वतन्त्रता दी है। इसलिए ईश्वर ने पृथ्वी में जितनी चीजें पैदा की हैं, स्वस्थ जीवन व्यतीत करने के लिए उन सबका उपभोग करने की मानव को

[1] The reason why people enter into society is the preservation of their property.

पूर्ण स्वतन्त्रता है। प्रारम्भ में इन समस्त चीजों पर मानवों का सामूहिक स्वामित्व था। मनुष्य अपने जीवन की आवश्यकता के अनुसार जंगल में उत्पन्न होने वाले फलों का उपभोग स्वयमेव करता था। ऐसा करने में उसके ऊपर कोई प्रतिबन्ध न था। अगर कोई प्रतिबन्ध था तो यह कि व्यक्ति आवश्यकता से अधिक वस्तुओं को (फलों को) लेकर उन्हें नष्ट न होने दे। वह संचय भी कर सकता था, परन्तु केवल अपने व्यक्तिगत उपभोग के लिए, न कि उन्हें नष्ट होने देने के लिए, क्योंकि लॉक का मत है कि पृथ्वी में ईश्वर ने जितनी चीजें उत्पन्न की हैं, वे सब मनुष्य के द्वारा उपभोग किये जाने के लिए की है, न कि नष्ट किये जाने के लिए। यही नियम भूमि के सम्बन्ध में लागू होता है जिसके सम्बन्ध में व्यक्तिगत सम्पत्ति की धारणा का विवेचन लॉक का मुख्य विषय है। ईश्वर ने पृथ्वी में अनेक पदार्थों की उत्पत्ति करने के साथ-साथ मानव में विवेक की सृष्टि भी की है ताकि वह पृथ्वी के पदार्थों का उपभोग करने में विवेक का प्रयोग करे। इन समस्त वस्तुओं पर सामूहिक स्वामित्व के उपरान्त व्यक्तिगत स्वामित्व की धारणा का विकास हुआ। मनुष्य स्वतन्त्र है। अपने शरीर तथा अपने श्रम पर उसका पूर्ण अधिकार है। लॉक ने कहा है, 'प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने में एक बहुमूल्य व्यक्तिगत सम्पत्ति धारण करता है, जिसे कोई अन्य व्यक्ति उससे नहीं छीन सकता। यह सम्पत्ति उसका श्रम तथा पसीना है।' अत: जब वह प्रकृति की किसी वस्तु पर अपना श्रम लगाता है तो वह वस्तु उसके स्व का अंग बन जाती है अर्थात् वह उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति हो जाती है। उदाहरणार्थ, सोते का जल किसी व्यक्ति का अपना नहीं है। परन्तु जब कोई व्यक्ति उसमें से अपनी बाल्टी में जल भरकर लाता है, तो उसमें वह अपना श्रम लगाता है, अत: बाल्टी में भरा जल उसकी अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति है। यही बात जंगल से चुने फलों के बारे में भी सत्य है। इसी प्रकार भूमि के किसी खण्ड पर यदि व्यक्ति अपना श्रम लगाकर उसे कृषि कार्य या अपने जीवन की किसी आवश्यकता के लिए तैयार करता है तो उसमें उसका श्रम लगाने के कारण वह उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति हो जाती है। इसी श्रम की मात्रा से उस सम्पत्ति का मूल्य निर्धारित किया जाता है।[1]

लॉक के अनुसार व्यक्तिगत सम्पत्ति व्यक्ति का प्राकृतिक अधिकार है। परन्तु यह अधिकार अमर्यादित नहीं है। व्यक्ति उतनी ही सम्पत्ति पर अपना श्रम लगाकर उसे व्यक्तिगत बनाने का अधिकारी है जितनी उसके तथा उसके बच्चों के जीवन के लिए आवश्यक है, ताकि उसके द्वारा अतिरिक्त उत्पादित वस्तुएँ नष्ट न हों। दूसरा प्रतिबन्ध यह है कि मनुष्य दूसरों के अहित में सम्पत्ति का अर्जन नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसा प्राकृतिक अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त है। यह सब प्राकृतिक कानून का नियम है और प्राकृतिक स्थिति में यह व्यवस्था थी।

सम्पत्ति के अधिकार के सम्बन्ध में लॉक की उपर्युक्त धारणा सम्पत्ति को संकीर्ण अर्थ में व्यक्त करती है। अन्यत्र लॉक जीवन, स्वतन्त्रता, स्वास्थ्य तथा सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकारों को समग्र रूप में सम्पत्ति के अधिकार के अन्तर्गत ही व्यक्त करता है। सम्पत्ति के सम्बन्ध में लॉक का दृष्टिकोण व्यापक है। व्यक्तिगत सम्पत्ति से लॉक

[1] यह कहना असंगति नहीं होगा कि लॉक का यह श्रम तथा मूल्य सम्बन्धी सिद्धान्त बाद में एडम स्मिथ तथा रिकार्डो का प्रेरणा-स्रोत सिद्ध हुआ और मार्क्स ने इसके आधार पर अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। लास्की के अनुसार, 'लॉक का यह व्यक्तिगत सम्पत्ति के स्वामित्व का श्रम सिद्धान्त हॉजस्किन तथा थॉम्पसन के हाथों में आधुनिक समाजवाद का जनक बना।'

का अभिप्राय ऐसी वस्तुओं से है जो व्यक्ति के 'स्व' की अभिन्न अंग होती हैं। जीवन व्यक्ति के स्व का अभिन्न तथा अदेय अंग है। इसी प्रकार स्वास्थ्य तथा स्वतन्त्रता भी हैं। इसलिए जब लॉक यह कहता है कि लोगों के राजनीतिक समाज में प्रविष्ट होने अथवा सरकार की स्थापना करने का मुख्य कारण अपनी सम्पत्ति की रक्षा करना है तो उसका अभिप्राय यही है कि प्राकृतिक स्थिति में व्यक्त इन प्राकृतिक अधिकारों (जीवन, स्वतन्त्रता, स्वास्थ्य तथा सम्पत्ति) के उपभोग के निमित्त जिन कठिनाइयों का अनुभव करते थे, अत: उन्हें दूर करने के लिए वे परस्परिक संविदा द्वारा एक सामूहिक सत्ता की सृष्टि करते है। अत: उनका यह कार्य व्यापक अर्थ में अपनी सम्पत्ति की सुरक्षा करना है। व्यक्ति के इस अधिकार की सृष्टि राज्य या शासन के द्वारा नहीं होती। यह ऐसा अधिकार है जिसे प्रत्येक व्यक्ति समाज में उसी रूप में लाता है जिस रूप में वह अपनी शारीरिक शक्ति को लाता है। शासन व्यक्ति के इस अधिकार का अतिक्रमण नहीं कर सकता। परन्तु व्यक्तियों की सहमति से (अर्थात् जन-समूह के बहुमत की राय से) सरकार व्यक्तिगत सम्पत्ति के नियमन तथा उसकी सुरक्षा की व्यवस्था करती है। प्राकृतिक कानून की भावना के अन्तर्गत शासन उसके अवांछनीय संचय को सार्वजनिक हित का ध्यान रखते हुए रोक सकती है। लॉक की यह धारणा बाद के कतिपय व्यक्तिवादियों की अहस्तक्षेप (laissez-faire) की अमर्यादित नीति की तरह नहीं है। समाज की सहमति से व्यक्तिगत सम्पत्ति पर कर भी लगाया जा सकता है, जो प्राकृतिक कानून की धारणा के विरुद्ध नहीं है। लॉक की सम्पत्ति के अधिकार की धारणा सम्पत्ति के समानीकरण की धारणा की द्योतक भी नहीं है, क्योंकि समाज में जो व्यक्ति अधिक श्रम-शक्ति रखते हैं उनके पास अधिक सम्पत्ति होना स्वाभाविक है। साथ ही विनिमय हेतु मुद्रा का आविष्कार हो जाने से लोग अतिरिक्त उत्पादन का विक्रय करके मुद्रा के रूप में अधिक सम्पत्ति का संचय कर सकते हैं। इसमें अतिरिक्त उत्पादन के नष्ट होने का प्रश्न ही नहीं उठता और न इसके कारण प्राकृतिक कानून का ही उल्लंघन होता है। अतएव समाज में आर्थिक असमानता का हो जाना स्वाभाविक है। सम्पत्ति के अधिकार की महत्ता इतनी अधिक मानने में लॉक की धारणा जो भी रही हो, इतना अवश्य है कि वह इसे पूर्णतया अलंघ्य एवं निरपेक्ष नहीं मानता। प्राकृतिक स्थिति में भी इसके ऊपर अनेक मर्यादाएँ थीं और राजनीतिक समाज की स्थापना के उपरान्त भी वे बनी हुई रहती हैं। अत: जैसा हारमॉन ने कहा है, 'लॉक को ऐसी संज्ञा देना, कि वह ह्विगवाद का चेतनायुक्त प्रवक्ता था जिसने राजा के दैवी अधिकार के स्थान पर सम्पत्ति के दैवी अधिकार को स्थानापन्न किया, नितान्त भूल है।'[1]

लॉक की मानवीय समानता की धारणा—मानव प्रकृति के सम्बन्ध में लॉक की धारणा यह है कि स्वभावत: सभी मानव समान जन्मे हैं। यों तो हॉब्स भी मानता है कि सभी मानव समान रूप से शारीरिक तथा मानसिक क्षमताओं को प्रयुक्त करते हैं, परन्तु लॉक की धारणा हॉब्स से मौलिक भेद रखती है। वह मानवों के मध्य शारीरिक, मानसिक अथवा आर्थिक समानता को प्राकृतिक नहीं मानता, प्रत्युत् वह नैतिक दृष्टि से मानवीय समानता को प्राकृतिक मानता है। इसका यह

[1] 'A designation of Locke as a conscious spokesman for the Whiggism that substitutes the divine right of property for the divine right of monarchs is surely erroneous.' —Harmon, *op. cit.*, 253.

अर्थ है कि मानव होने के नाते सभी मनुष्य अपनी नैसर्गिक स्वतन्त्रता का उपभोग करने की समानता रखते हैं। अर्थात् इस संसार में किसी मानवीय सत्ता द्वारा मानव के नैसर्गिक अधिकारों को प्रतिबन्धित नहीं किया जाना चाहिए। मानव के नैसर्गिक अधिकार केवल प्राकृतिक कानून द्वारा प्रतिबन्धित हो सकते हैं। मानव प्रकृति के बारे में लॉक की दूसरी धारणा यह है कि मनुष्य विवेकशील प्राणी है। परन्तु मनुष्य का विवेक जन्म से ही परिपक्व नहीं होता। प्रौढ़ता प्राप्त करने पर ही मानव प्राकृतिक कानून का अर्थ समझ पाता है। तब तक उसका निदेशन अन्य व्यक्ति (माता-पिता आदि) करते हैं। विवेक में प्रौढ़ता आ जाने पर मानव को व्यक्ति (person) कहा जाता है। तभी वह अपनी प्राकृतिक समानता तथा स्वतन्त्रता के अधिकार तथा कर्त्तव्यों का बोध करने की क्षमता रखता है। विवेकशीलता के इस तत्त्व के कारण ही व्यक्ति मानवीय नैतिकता का आचरण करता है, जो उसे सामाजिक बनाती है और प्राकृतिक कानून को समझने की क्षमता प्रदान करती है। हॉब्स मानव को स्वभावत: स्वार्थी, प्रतियोगिता में रत तथा एक दूसरे का प्रतिद्वन्द्वी कहता है। परिणामस्वरूप प्राकृतिक स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति दूसरे का शत्रु है और किसी भी व्यक्ति को अपने प्राणों की रक्षा की कोई गारण्टी नहीं रहती। इसके विपरीत लॉक की मान्यता यह है कि मानव विवेकशील, सामाजिकता की भावना से युक्त तथा अन्य मानवों से प्रेम और सहकारिता से रहने की भावना से युक्त है। उसे प्राकृतिक कानून का बोध रहता है और वह उसके अनुसार आचरण करता है। उसका विवेक उसे बताता है कि उसके प्राकृतिक अधिकार तभी सुरक्षित रह सकते है, जबकि वह अन्य व्यक्तियों के प्राकृतिक अधिकारों को भी मान्य करे। इन्हीं मौलिक भिन्नताओं के कारण हॉब्स तथा लॉक के राजनीतिक विचार एक-दूसरे से भिन्न दिशा में विकसित हुए हैं।

मानव-स्वभाव के सम्बन्ध में ऐसी धारणा के कारण लॉक प्राकृतिक स्थिति के जीवन का चित्रण करने में भी हॉब्स के विपरीत निष्कर्ष निकालता है। हॉब्स के मत से प्राकृतिक स्थिति का जीवन अराजनीतिक ही नहीं, अपितु असामाजिक भी है, जिसमें मानव एकाकी, दरिद्र, घृणास्पद····जीवन व्यतीत करता है और प्रत्येक एक दूसरे का शत्रु तथा उसके साथ संघर्ष की स्थिति में रहता है। इसके विपरीत लॉक का निष्कर्ष है कि प्राकृतिक स्थिति में मानव-जीवन सामाजिक है, परन्तु राजनीतिक नहीं। 'उसमें प्राकृतिक कानून विद्यमान रहता है, और वही सबके ऊपर शासन करता है। विवेक इस कानून का रूप है, जो प्रत्येक व्यक्ति को यह सिखाता है कि चूँकि सभी व्यक्ति समान अथवा स्वतन्त्र हैं, अत: किसी को दूसरे के जीवन, स्वास्थ्य, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति को हानि नहीं पहुँचानी चाहिए।'[1] इस प्रकार लॉक का निष्कर्ष यह है कि प्राकृतिक स्थिति का जीवन 'शान्ति, सद्भावना, पारस्परिक सहयोग तथा सुरक्षा (peace, goodwill, mutual assistance and preservation) का जीवन है उसमें प्रत्येक व्यक्ति प्राकृतिक कानून के अनुसार अपने अधिकारों का उपभोग तथा कर्त्तव्यों का पालन करता है।' इस स्थिति में व्यक्ति अपने कार्यों को व्यवस्थित करने की पूर्ण स्वतन्त्रता रखते हैं। उन्हें अपनी इच्छा के अनुसार अपनी जान-माल की रक्षा करने का अधिकार रहता है, जिसके लिए वे किसी अन्य मानव

[1] 'The State of Nature has a Law of Nature to govern it, which obliges every one : and Reason, which is that law, teaches all Mankind, who will but obey it, that being all equal and independent, no one ought to harm another in his Life, Health, Liberty, or Possessions.' —Locke.

प्राधिकारी के आदेशों पर निर्भर नहीं रहते, प्रत्युत् प्राकृतिक कानून का अनुसरण करते हैं, जो उनके विवेक द्वारा अभिव्यक्त होता है। लॉक का प्राकृतिक स्थिति का ऐसा अनुमान स्टोइक दार्शनिकों की धारणा में भी पाया जाता है। प्राचीन भारतीय विचारकों ने भी ऐसी धारणा व्यक्त की थी। महाभारत के शान्ति-पर्व में तथा बौद्ध ग्रन्थ दीघ निकाय में भी राजनीतिक समाज की स्थापना के पूर्व ऐसी ही सतयुगीन व्यवस्था का विवरण दिया गया है। मध्य युग में भी ऐसी धारणा विद्यमान थी कि जब सब मानव एक परमात्मा की सन्तान है, तो सब समान है। यह एक धार्मिक तथा नैतिक धारणा थी जिसे लॉक ने हूकर (Hooker) से अपनाया था। इसके अनुसार नैतिकता विध्यात्मक कानून से अधिक व्यापक मानी गयी है। उसका स्रोत दैवी इच्छा हो, या मानव-विवेक अथवा मानवता, वह एक ऐसा मानदण्ड प्रस्तुत करती है जिसे शासक को मानना पड़ता है, चाहे प्राकृतिक स्थिति के जीवन की धारणा को सत्य माना जाय या नहीं। प्राकृतिक स्थिति की कल्पना करने में 'हॉब्स के विपरीत लॉक यह धारणा रखता है कि नैतिक अधिकार तथा कर्त्तव्य मानव समाज में अन्तर्निहित हैं, नैतिकता कानून को जन्म देती है न कि कानून नैतिकता को, और शासन को कानून निर्मित करने से पूर्व उन बातों को कार्यान्वित करना पड़ता है जो प्रकृतितः उचित है।'[1]

प्राकृतिक स्थिति की कठिनाइयाँ—प्रश्न यह है कि जब प्राकृतिक स्थिति में जीवन सामाजिक, सद्भावनापूर्ण, पारस्परिक सहयोग तथा शान्ति का था, तो राजनीतिक समाज निर्मित करने तथा शासन-सत्ता की स्थापना करने की आवश्यकता क्यों पड़ी? लॉक यह तर्क देता है कि प्राकृतिक स्थिति के जीवन में कुछ कठिनाइयाँ थीं: (1) उस स्थिति में एक ज्ञात तथा स्थापित कानून का अभाव था; (2) कानून का परिपालन कराने के लिए निष्पक्ष तथा निश्चित न्यायाधीश नहीं थे; और (3) कानून के अनुसार निर्धारित निर्णयों तथा नियमों को लागू करने वाली अधिशासनिक सत्ता नहीं थी। अतः प्राकृतिक स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति प्राकृतिक कानूनों का निर्वचन करने तथा उन्हें लागू करने की स्वतन्त्रता रखता था और उनका उल्लंघन करने वाले को दण्डित करने का भी अधिकारी था। इस स्थिति में यदि किसी व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकार को दूसरा व्यक्ति किसी भी रूप में छीनने का प्रयत्न करे, तो प्रथम व्यक्ति प्राकृतिक कानून की सीमा के अन्तर्गत उस दूसरे व्यक्ति को दण्ड दे सकता था। लॉक का कथन है कि प्राकृतिक कानून की धारणा यह माँग करती है कि अपराधी को केवल 'उतना ही दण्ड दिया जाना चाहिए जितना कि शान्त विवेक तथा अन्तरात्मा आदेश दे और जो अपराधी को प्रतिबन्धित करने में समर्थ हो।'

प्राकृतिक कानून तथा प्राकृतिक अधिकारों की लॉक की धारणा यह दर्शाती है कि प्राकृतिक स्थिति में प्राकृतिक अधिकारों के साथ व्यक्ति के कर्त्तव्य भी विद्यमान थे, क्योंकि उसका विवेक उसे कर्त्तव्य की प्रेरणा भी देता था कि व्यक्ति को अपने अधिकारों के प्रयोग में अन्यों के वैसे ही अधिकारों का सम्मान करना चाहिए। लॉक ने कहा है, 'प्राकृतिक स्थिति का नियमन प्राकृतिक कानून द्वारा होता था, जो प्रत्येक

[1] 'Against Hobbes, however, Locke sets up the proposition that moral rights and duties are intrinsic, that morality makes law and not law morality, and that governments have to give effect to what is naturally right prior to its enactment.' —Sabine, *op. cit.*, 445-46.

व्यक्ति को प्रतिबन्धित करता था; और विवेक ऐसा कानून था जो सब मानवों को यह शिक्षा देता था कि चूँकि सभी लोग स्वतन्त्र तथा समान हैं, अतः किसी को दूसरे के जीवन, स्वतन्त्रता, स्वास्थ्य तथा सम्पत्ति को हानि नहीं पहुँचानी चाहिए।' परन्तु लॉक यह भी मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति में इस प्रकार से अपने विवेक का समुचित प्रयोग करने की क्षमता नहीं थी। मनुष्य में स्वार्थ तथा पक्षपात की भावना भी विद्यमान रहती है। अतः 'प्रत्येक व्यक्ति का अपने मामले में स्वयं ही निर्णायक होना ठीक नहीं है, क्योंकि उसका आत्म-प्रेम उसे अपने तथा अपने मित्रों के प्रति पक्षपाती बना देता है। साथ ही उसकी कुप्रवृत्ति, संवेग तथा बदले की भावना उसे दूसरों को दण्ड देने में बहुत उग्र बना सकती है।' स्पष्ट है कि लॉक के अनुसार, प्राकृतिक स्थिति में प्राकृतिक कानून का निर्वचन करने की शक्ति के हाथ में रहने से कानून की विवेक-संगतता नहीं रह सकती और इसके कारण समाज में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाने की आशंका रहती है। 'इसीलिए मानवों की हिंसात्मक तथा पक्षपातपूर्ण प्रवृत्ति को रोकने के लिए परमात्मा ने सरकार की सृष्टि की है।' लॉक की दृष्टि में प्राकृतिक स्थिति अराजनीतिक है जिसमें राज्य तथा सरकार का अभाव था। सरकार का संचालन करने के निमित्त उसके तीन अंगों—व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका—की आवश्यकता को लॉक प्रमुखता देता है। इनके अभाव में सामाजिक जीवन में प्राकृतिक कानून के रहते हुए भी अव्यवस्था आ जाने की आशंका को रोकने के लिए राज्य तथा सरकार की स्थापना आवश्यक है।

प्राकृतिक स्थिति के अस्तित्व के सम्बन्ध में ऐतिहासिक तर्क—लॉक की धारणा प्राकृतिक स्थिति में एक नैतिक व्यवस्था के अस्तित्व का आभास कराती है। आलोचक लॉक की यथार्थवादिता पर भ्रम कर सकते हैं और इसे केवल एक आदर्शात्मक विचार मान सकते हैं, परन्तु लॉक के मत में ऐसी स्थिति कल्पनामात्र नहीं है। इतिहास में ऐसे अनेक दृष्टान्त मिलते हैं जबकि कई जन-समूह अ-राजनीतिक समाजों के रूप में रहते थे और प्राकृतिक स्थिति के जीवन को बिताते थे।[1] अरस्तू की भाँति लॉक भी मनुष्य की सामाजिकता की प्रवृत्ति को स्वीकार करता है। प्रारम्भिक मानव ने अपने एकाकी जीवन की अनेक असुविधाओं तथा कष्टों को देखकर सामाजिक जीवन व्यतीत करने की आवश्यकता को समझा और प्रथम समाज स्त्री-पुरुष के रूप में बना तथा कालान्तर में परिवार के रूप में विकसित हुआ। उसमें मुखिया को अन्य सदस्यों के ऊपर शासन करने का अधिकार प्राप्त रहा। प्राकृतिक स्थिति पर विश्वास न रखने वालों को लॉक का यह उत्तर था कि उन लोगों के प्रश्नों का जो कहते हैं कि कभी भी कोई मनुष्य प्राकृतिक स्थिति में नहीं थे, मेरा यही उत्तर है कि सभी मनुष्य स्वभावतः उस स्थिति में होते हैं और तब तक उसी स्थिति में बने रहते हैं जब तक कि वे स्वयं अपने को अपनी राय से किसी राजनीतिक समाज का सदस्य नहीं बना लेते। इस प्रकार की प्राकृतिक स्थिति का चित्रण करते हुए लॉक इसकी सत्यता को सिद्ध करने के लिए ऐतिहासिक तर्क भी देता है। परन्तु उसका मुख्य उद्देश्य इसके द्वारा राजनीतिक समाज की संविदागत स्थापना को दर्शाना था, न कि ऐतिहासिक तथ्यों का विवेचन करना।

[1] अपनी इस धारणा की पुष्टि हेतु लॉक रोम, वेनिस, स्पार्टा तथा अमरीकी-इण्डियन जन-समूहों के दृष्टान्त देता है। इसी प्रकार आरम्भिक जन-समूहों के मध्य पितृसत्तात्मक शासनों में भी जहाँ वंशानुगत शासकों के स्थान पर अन्य व्यक्ति चुने जाते थे, वह भी संविदा के द्योतक हैं।

संविदा

संविदा का स्वरूप—लॉक के मत से प्राकृतिक स्थिति की तीन कठिनाइयों (उसमें एक स्थापित, निश्चित तथा ज्ञात कानून का अभाव; एक ज्ञात तथा निष्पक्ष निर्णायक का अभाव; तथा निर्णयों को कार्यान्वित करने वाले अधिशासकों का अभाव) के कारण 'मानव जाति, प्राकृतिक स्थिति के समस्त लाभों को समझते हुए भी, इन कठिनाइयों के निवारणार्थ तुरन्त एक राजनीतिक समाज निर्मित करने की दिशा में प्रवृत्त होती है।' इस प्रक्रिया में प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे के साथ संयुक्त होकर एक राजनीतिक समाज का निर्माण करने की संविदा करता है। संविदा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति 'प्राकृतिक कानून का स्वयं निर्वचन करने, उसे स्वयं लागू करने तथा अपराधी को स्वयं दण्ड देने के' अपने प्राकृतिक अधिकार का परित्याग करके ऐसा अधिकार सम्पूर्ण समाज को प्रदान करता है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति अपने केवल इसी प्राकृतिक अधिकार का परित्याग करता है न कि समस्त प्राकृतिक अधिकारों का। अन्य प्राकृतिक अधिकार (जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति) व्यक्ति के हाथ में बने रहते हैं। लॉक कई स्थानों पर केवल सम्पत्ति के अधिकार को ही एकमात्र अधिकार मानता है जिसके अन्तर्गत अन्य अधिकार यथा जीवन, स्वतन्त्रता, स्वास्थ्य भी आ जाते हैं। उसका कथन है कि 'मनुष्यों के राजनीतिक समाज में प्रवेश करने का मुख्य उद्देश्य अपनी सम्पत्ति की सुरक्षा है।' संविदा की एक विशेष बात यह भी है कि व्यक्ति अपने जिस अधिकार का परित्याग करते हैं, उसे वे किसी एक व्यक्ति-विशेष को अर्पित नहीं करते, जैसा कि हॉब्स की व्यवस्था के अन्तर्गत बताया गया है। अपितु यह अधिकार समूचे समाज को अर्पित किया जाता है। समझौते के द्वारा समाज का निर्माण नहीं होता बल्कि राज्य (राजनीतिक समाज) का निर्माण होता है, समाज तो पहले से ही विद्यमान था। अब उसके हाथ में राजनीतिक सत्ता आ जाती है। संविदा द्वारा सरकार की उत्पत्ति नहीं होती, जैसी कि हॉब्स ने बतायी थी। प्रत्युत् लॉक के अनुसार सरकार की सृष्टि राज्य एक न्यासधारी के रूप में करता है। सरकार की शक्ति को लॉक fiduciary power कहता है जो कुछ निश्चित उद्देश्यों के लिए काम करती है। इसका तात्पर्य यह है कि प्राकृतिक कानून का निर्वचन करने, उसका उल्लंघन करने वालों के लिए दण्ड का निर्धारण करने तथा अपराधियों को दण्डित करने का अधिकार वैयक्तिक रूप से व्यक्तियों के हाथ में न रहकर समूचे समाज के हाथ में चला जाता है। लॉक की धारणा में राजनीतिक सत्ता के क्षेत्राधिकार का निर्धारण करने वाले यही कार्य हैं। जिस समाज में सदस्यों द्वारा स्थापित ऐसी सर्वोच्च सत्ता विद्यमान रहती है उसे राजनीतिक समाज कहा जाता है। ऐसी सत्ता के अभाव में समाज प्राकृतिक स्थिति में बना रहता है। लॉक की विचारधारा में निरंकुश तथा अमर्यादित सम्प्रभुता की धारणा का सर्वथा अभाव है। संविदा द्वारा निर्मित सम्प्रभु-समाज की शक्तियों के ऊपर व्यक्तियों के प्राकृतिक अधिकारों की मर्यादा उसी रूप में बनी रहती है, जिस रूप में प्राकृतिक स्थिति में व्यक्ति के अधिकारों के ऊपर प्राकृतिक कानून की मर्यादा थी। हॉब्स की धारणा में संविदा के उपरान्त प्राकृतिक कानून समाप्त हो जाता है। परन्तु लॉक इसके निरन्तर अस्तित्व को स्वीकार करता है। उसके मत से राजनीतिक समाज की स्थापना हो जाने पर इसका महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है। वह प्राकृतिक अधिकारों को

संरक्षण देता है। संविदा दासता का बन्धन न होकर स्वतन्त्रता का अधिकार-पत्र बन जाती है।

संविदा तथा सहमति—लॉक के विचार से राजनीतिक समाजों की स्थापना की एकमात्र विधि जनता की सहमति है। उसने कहा है कि 'प्रकृतितः समस्त मानव स्वतन्त्र, समान तथा स्वाधीन हैं, अतः किसी भी व्यक्ति को बिना उसकी निजी सहमति के उसकी सम्पत्ति से विहीन या दूसरे की राजनीतिक सत्ता के अधीन नहीं रखा जा सकता।'[1] अतएव प्राकृतिक कानून का निर्वचन करने, उसका निर्णय करने तथा उसे लागू करने के अपने प्राकृतिक अधिकार का परित्याग करते हुए स्वतन्त्र तथा समान व्यक्ति पारस्परिक सहमति द्वारा एक समाज में संयुक्त होने की संविदा करते हैं ताकि 'वे परस्पर शान्तिपूर्ण, सुरक्षा का तथा आरामदेह जीवन व्यतीत कर सकें, जिसमें उन्हें अपनी सम्पत्ति का उपभोग सुरक्षित प्रतीत रहे और उन्हें अपने समाज से बाहर के तत्वों के विरुद्ध भी सुरक्षा प्राप्त हो।' यह संविदा समाज में शामिल होने वाले समस्त व्यक्तियों की निर्विरोध सहमति से की जाती है। किसी भी व्यक्ति को इसके लिए बाध्य नहीं किया जा सकता; जो इस समाज में शामिल नही होना चाहते थे, वे प्राकृतिक स्थिति में बने रह सकते हैं। ऐसी संविदा को लॉक 'मूल संविदा' (original compact) कहता है। इसके आधार पर संविदा करने वाले व्यक्ति एक राजनीतिक समाज का निर्माण करते हैं। परन्तु इस 'मूल संविदा' की एक कठिनाई, जैसा सैबाइन का कथन है, यह है कि लॉक स्पष्टतया यह नहीं बताता कि इससे समाज बनता है अथवा सरकार। यद्यपि लॉक राज्य (राजनीतिक समाज) तथा सरकार के मध्य भेद करता है, तथापि जो अधिकार व्यक्तियों द्वारा त्याग दिये गये हैं, उन्हें प्रयुक्त करने की शक्ति उन्होंने सम्पूर्ण समाज को दी है अथवा सरकार को, यह स्पष्ट नहीं होता। सैबाइन के मत से एलथ्यूजियस तथा प्यूफनडॉर्फ सदृश संविदावादियों ने स्पष्टतया दो संविदाओं के सिद्धान्त को अपनाया था। प्रथम के अनुसार व्यक्ति राजनीतिक समाज की रचना करते हैं। द्वितीय संविदा के आधार पर समाज सरकार का निर्माण करता है। यद्यपि लॉक ने ऐसी धारणा कहीं भी व्यक्त नहीं की है, तथापि कुछ ऐसी ही अन्तर्भूत धारणा को वह भी मानता है। वह दो संविदाओं की धारणा को स्पष्टतया व्यक्त न करके एक के द्वारा ही दोनों को व्यक्त करने का प्रयास करता है।

बहुमत की सहमति का सिद्धान्त—सहमति द्वारा राजनीतिक समाज की स्थापना किये जाने का एक निष्कर्ष है, 'बहुमत की सहमति', अर्थात् बहुमत का शासन। लॉक की धारणा यह थी कि सामुदायिक कार्य-प्रणाली का सिद्धान्त यह है कि बहुमत की बात मानी जानी चाहिए। यह व्यावहारिक दृष्टि से आवश्यक ही नहीं है, अपितु इसके अभाव में सामूहिक कार्य का सम्पादन असम्भव हो जाता है। उसके मत से 'जन-समूह का कार्य उसके व्यक्तियों की सलाह ही है, और यह आवश्यक है कि सम्पूर्ण को एक ही दिशा की ओर जाना चाहिए; इसके लिए यह भी आवश्यक है कि सम्पूर्ण को उसी दिशा की ओर बढ़ना चाहिए जिस दिशा को अधिक शक्ति ले जाती है और यह शक्ति बहुमत की सहमति है।' लॉक की धारणा

[1] 'Men being by Nature all free, equal and independent, no one can be put out of his estate, and subjected to the political power of another without his own consent.'—Locke.

के अनुसार मूल संविदा में यह तत्त्व निहित था कि व्यक्तिगत सदस्यों तथा अल्पसंख्यकों को बहुमत की बात माननी चाहिए, अन्यथा समाज की एकता नष्ट हो जायेगी। लॉक के 'बहुमत के शासन' के सिद्धान्त की बहुत आलोचना हुई है, सम्भवत: वह 'बहुमत के अत्याचार' (tyranny of the majority) जैसी धारणा की कल्पना नहीं करता था। साथ ही यह मानना भी उचित नहीं है कि लॉक का उद्देश्य यह बताना था कि यदि बहुमत का शासन नहीं रहेगा तो समाज नष्ट हो जायेगा। लॉक अल्पसंख्यकों के शासनों से अनभिज्ञ नहीं था, अतः यदि बहुमत का शासन नहीं होगा तो अल्पसंख्यक शासन करेंगे। तब भी समाज के नष्ट होने का प्रश्न नहीं उठ सकता। परन्तु लॉक का उद्देश्य केवल यह दर्शाना था कि अल्पसंख्यकों का शासन समाज की उत्तमता के लिए अनुचित होगा।[1] लॉक का उद्देश्य समाज को एक व्यक्ति या अल्पसंख्यकों के अत्याचारों से सुरक्षित रखने की धारणा को दर्शाना था। इससे लॉक की लोकतन्त्रवादी धारणा स्पष्ट होती है, क्योंकि लोकतन्त्र की कार्यान्विति में बहुमत के शासन के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प सम्भव नहीं है। यदि लोकतन्त्र को समस्त जनता की सहमति द्वारा शासन माना जाय, तो लॉक इस तथ्य से भी अनभिज्ञ नहीं था कि किसी विषय पर समस्त जनता का एकमत हो सकना असम्भव है। यदि प्रत्येक व्यक्ति को स्वेच्छा तथा अपनी सहमति के अनुसार कार्य करने को स्वतन्त्र माना जाय तो वह बात प्राकृतिक स्थिति की द्योतक है। संविदा द्वारा व्यक्तियों ने प्राकृतिक स्थिति की ऐसी स्वतन्त्रता का परित्याग किया है। अतः मूल संविदा में यह धारणा अन्तर्निहित (tacit) है कि व्यक्ति बहुमत की सहमति के अनुसार शासित होंगे। इसमें अल्पसंख्यक व्यक्तियों को बहुमत की राय मानने को बाध्य नहीं किया जा सकता। परन्तु लॉक के 'बहुमत की सहमति' के सिद्धान्त सम्बन्धी तर्क बहुत सन्तोषजनक सिद्ध नहीं हुए हैं।[2]

स्पष्ट तथा अन्तर्निहित सहमति—लॉक ने बहुधा स्पष्ट (explicit) तथा अन्तर्निहित (tacit) सहमति शब्दों का भी प्रयोग किया है। स्पष्ट सहमति से उसका अभिप्राय मूल संविदा करने वाले व्यक्तियों की सहमति से है, जिन्होंने प्राकृतिक स्थिति का परित्याग करके राजनीतिक समाज में प्रविष्ट होने की संविदा की थी। यह सहमति उन्हें बाध्य करती है। वे इससे विलग नहीं हो सकते। ऐसी संविदा करने वाले व्यक्ति नागरिक (persons) हैं, परन्तु ऐसी संविदा में भाग न लेने वाली उनकी सन्तान की ऐसी स्थिति नहीं है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या मूल संविदा में उनकी सहमति स्वयं अन्तर्निहित है? लॉक का मत है कि उसकी सहमति स्पष्ट तो नहीं है क्योंकि वह तो तभी सम्भव हो सकती है जबकि वे वयस्क होते; तब तक वे अपने अभिभावकों के अधीन हैं। चूँकि वे राजनीतिक समाज में रहते आये हैं, अतः वयस्कता प्राप्त कर लेने पर वे स्पष्ट सहमति (explicit consent) न देकर अन्तर्निहित (tacit) सहमति देते हैं। परन्तु उन्हें बाध्य नहीं किया जा सकता। वे प्राकृतिक स्थिति में रह सकते हैं अथवा अपना अलग समाज निर्मित कर सकते हैं। लॉक का यह तर्क भी अस्पष्ट तथा भ्रामक सिद्ध होता है।'[3]

[1] Harmon, *op. cit.*, 249.
[2] W. T. Jones, *op. cit.*, 172–73.
[3] Harmon, *op. cit.*, 250.

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में 'हॉब्स का संविदा सिद्धान्त काल्पनिक उड़ान थी, जबकि लॉक की विचारधारा में वह आवश्यक है।'[1] इस कथन का अर्थ यह है कि हॉब्स राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धान्त का प्रतिपादन करने में मानव-स्वभाव तथा प्राकृतिक स्थिति का वास्तविक चित्र प्रस्तुत नहीं कर पाया। उसके मनोवैज्ञानिक निष्कर्ष यथार्थ तथ्यों पर आधारित न होकर उसके दार्शनिक तर्कों पर आधारित थे। उसका मुख्य उद्देश्य शासन में निरंकुशतावाद का समर्थन करना था जिसके लिए उसने दैवी अधिकार सिद्धान्त को न मानकर अपने मनोवैज्ञानिक दर्शन तथा भौतिकवाद का अवलम्बन किया। संविदा द्वारा सम्प्रभु तथा राज्य के निर्माण की धारणा केवल उसके द्वारा अपने तर्कों की पुष्टि करने की द्योतक है। इस सम्बन्ध में वह तथ्यों का सही निरूपण नहीं कर पाया बल्कि उसकी संविदा की धारणा केवल कल्पना-मात्र रह गयी। हॉब्स के संविदा सिद्धान्त की सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि संविदा एक-तरफा है और वह सम्प्रभु को मर्यादित नहीं करती। वास्तव में कोई संविदा बिना शर्त के नहीं हो सकती। हॉब्स का यह तर्क भी युक्ति-संगत नहीं है कि प्राकृतिक स्थिति के स्वार्थी मानव क्योंकर अपने समस्त अधिकार सम्प्रभु को बिना उसके ऊपर कोई मर्यादा आरोपित किये हुए प्रदान करने को राजी हो जाते हैं। हॉब्स के तार्किक क्रम में कोई सन्देह नहीं हो सकता। परन्तु मर्यादित-रहित संविदा की धारणा केवल कल्पना ही कही जा सकती है। संविदा सदैव अधिकारों की रक्षा के लिए की जाती है और संविदा करते हुए व्यक्ति उन्हें बनाये रखना चाहते हैं। परन्तु हॉब्स न तो प्राकृतिक स्थिति में व्यक्तियों के जीवन रक्षा के अधिकार के अतिरिक्त अन्य किन्हीं अधिकारों के अस्तित्व को मानता है और न राज्य की उत्पत्ति के उपरान्त ही उनके पास कोई अधिकार रह जाने की धारणा मान्य की गयी है। इसका यह अर्थ हुआ कि प्राकृतिक स्थिति की अव्यवस्था की समाप्ति के लिए मानव सदैव अपने को ऐसे भेड़ों का झुण्ड मानने की संविदा करते हैं जिन्हें लैवाइथन रूपी गडरिया स्वेच्छानुसार हांका करेगा। यदि निरंकुशतावाद का ही समर्थन करना था तो हॉब्स संविदा की अपेक्षा दैवी अधिकार या शक्ति सिद्धान्त के द्वारा अपने विचारों को विकसित कर सकता था। चूँकि वह संविदावाद के युग का विचारक था, अतः उसने बड़े कौशलपूर्ण दार्शनिक तर्कों के आधार पर संविदा द्वारा राजसत्ता की निरंकुशता के सिद्धान्त को अपनाया। परन्तु ऐसा करने में उसकी संविदा सम्बन्धी विचारधारा कोरी कल्पना (sham) रह गयी। इस सम्बन्ध में जोन्स ने ठीक ही कहा है कि 'संविदा की धारणा जो कि हॉब्स के हाथों में बहुत चतुराई के साथ तोड़ी-मरोड़ी गयी है, स्वभावतः लॉक की विचारधारा में संगतिपूर्ण लगती है। यह वास्तव में लॉक की विचारधारा के अन्तर्गत केन्द्रीय स्थिति रखती है।'[2]

लॉक ने मानव-स्वभाव तथा प्राकृतिक स्थिति का बहुत कुछ यथार्थ चित्रण किया है। उसकी प्राकृतिक अधिकारों सम्बन्धी धारणा मानवीय है। उसकी विचारधारा के क्रम में यह सन्देह करने की गुंजाइश कम है कि प्राकृतिक स्थिति के मानव संविदा द्वारा राजनीतिक समाज निर्मित करने को क्यों प्रेरित हुए, क्योंकि

[1] 'The contract idea was a sham to Hobbes's theory, it was essential to that of Locke.'

[2] 'The notion of a contract though capable of ingenious distortion by Hobbes, more naturally accords with a theory like Locke's. It is indeed central to such a theory.' —Jones.

प्राकृतिक स्थिति के जीवन में जो कठिनाइयाँ थीं उन्हें लॉक तर्क-सम्मत ढंग से व्यक्त कर सका है। लॉक ने संविदा की धारणा को इसलिए आवश्यक दर्शाया है कि वह लोकतन्त्र तथा मर्यादित शासन के सिद्धान्त का समर्थक है। संविदा द्वारा व्यक्ति जिस प्राकृतिक अधिकार का परित्याग करते हैं वह किसी व्यक्ति-विशेष या समूह विशेष को नहीं प्राप्त होता, बल्कि सम्पूर्ण समाज को प्राप्त होता है। अतः उस अधिकार का प्रयोग करने की सर्वोच्च शक्ति सम्पूर्ण समाज को प्राप्त होती है। यह लॉक की लोकतन्त्री धारणा की प्रतीक है। दूसरी ओर सम्प्रभु-समाज की शक्ति अमर्यादित नहीं है। उसके ऊपर व्यक्तियों के प्राकृतिक अधिकारों की मर्यादा है। मर्यादित शासन संविदागत ही हो सकता है। राजनीतिक समाज तथा उसके अभिकर्त्ता शासन-संगठन को जो सत्ता प्राप्त होती है, वह व्यक्तियों की संविदा द्वारा प्राप्त होता है। संविदा की धारणा लॉक की विचारधारा में सदैव केन्द्रीय स्थान रखती है। संविदा करने के लिए व्यक्तियों को बाध्य नहीं किया जा सकता, परन्तु संविदा करने वाले व्यक्ति संविदा द्वारा बाध्य हैं। संविदा बहुमत के शासन की द्योतक है जो कि लोक-तन्त्र का आधारभूत व्यावहारिक तत्त्व है। संविदा किसी भी रूप में निरंकुश या स्वेच्छाचारी शासन की द्योतक नहीं है।

प्रभुसत्ता तथा सरकार

प्रभुसत्ता या सर्वोच्च सत्ता—प्रभुसत्ता की धारणा के सम्बन्ध में लॉक के पूर्ववर्ती विचारकों ने पर्याप्त विवेचन किया था। इस श्रेणी के विचारकों में सत्रहवीं शताब्दी के संविदावादी विचारक भी शामिल हैं। परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि लॉक ने इस धारणा के सम्बन्ध में लगभग उपेक्षापूर्ण रुख अपनाया है। वह अपने ग्रन्थ में 'प्रभुसत्ता' (sovereignty) शब्द का प्रयोग तक नहीं करता। उसने 'सर्वोच्च-सत्ता' (supreme power) शब्द का प्रयोग किया है। सम्भवतः इसका कारण यह हो सकता है कि जहाँ उसके पूर्ववर्ती विचारकों—हॉब्स, प्यूफनडॉर्फ, फिल्मर, आदि ने शासन की निरंकुश सत्ता का समर्थन किया था, वहाँ लॉक उसके ऊपर मर्यादा आरोपित करता है। इसलिए उसकी धारणा में प्रभुसत्ता का अभिप्राय निरंकुशता रहा हो। उसका कथन है कि 'समाज' तथा शासन के उद्देश्य के साथ निरंकुश स्वेच्छाचारी शक्ति अर्थात् बिना निश्चित स्थापित कानूनों के शासन करने की धारणा कोई संगति नहीं रखती।' डनिंग ने कहा है 'लॉक की विचारधारा सामाजिक संविदा की धारणा को एक उच्च कोटि की निश्चितता प्रदान करती है और साथ ही इसमें व्यक्तिवादी प्रभाव की विशिष्ट महत्ता भी है।'[1] लॉक की विचारधारा में राज्य की सर्वोच्चसत्ता संविदा द्वारा निर्मित सम्पूर्ण समाज में निवास करती है। यह सदैव सक्रिय नहीं रहती, बल्कि उसी स्थिति में सक्रिय होती है जबकि सरकार भंग हो जाती है। उसका प्रयोग सम्पूर्ण समाज के बहुमत द्वारा किया जाता है और सरकार उसका एक अभिकरण मात्र है। प्रभुसत्ता अर्थात् लॉक की शब्दावली में सर्वोच्च शक्ति 'समाज की सार्वजनिक इच्छा' है, और जनता केवल इसी के आदेश का पालन करने को बाध्य है। लॉक का मत है कि 'समाज की एकता का सारभूत तत्त्व एक

[1] 'It (Locke's doctrine) does, however, give to the conception a high degree of definiteness and moreover brings into peculiar prominance its individualistic implications.' —Dunning, *op. cit.*, 352.

इच्छा होने में निहित है।' यह धारणा रूसो की सामान्य इच्छा की धारणा से मिलती जुलती है। चूंकि सम्पूर्ण समाज में राज्य की सर्वोच्च शक्ति होने की धारणा अस्पष्टता की सूचक है, विशेष रूप से इस अर्थ में कि वह सदैव सक्रिय नहीं रहती, अतः लॉक की विचारधारा में सर्वोच्च शक्ति अन्ततोगत्वा शासन के विधायी अंग में निवास करती है।

शासन संगठन या सरकार की स्थापना—हॉब्स ने राज्य तथा शासन के मध्य भेद नहीं किया है, परन्तु लॉक की विचारधारा इस भेद को स्पष्ट करती है। उसके अनुसार मूल संविदा द्वारा सर्वोच्च शक्ति से युक्त राजनीतिक समाज या राज्य का निर्माण होता है। इसके पश्चात् राज्य की इच्छा को कार्यान्वित करने के लिए सम्प्रभु समाज (जनता) अपने अभिकर्ता के रूप में शासन संगठन की स्थापना करता है। परन्तु शासन संगठन या सरकार की स्थापना संविदा द्वारा नहीं की जाती। सरकार एक प्रकार का प्रन्यास (trust) है जिसका आधार संविदा नहीं हो सकता, क्योंकि संविदा करने वाले पक्ष समानता की स्थिति में होते हैं, जबकि लॉक के मत से जन-समूह तथा सरकार कभी भी समानता की स्थिति में नहीं हो सकते। सरकार केवल प्रन्यासधारी (trustee) के रूप में है, वह जन-समूह के प्रति उत्तरदायी है और जन-समूह के लिए कार्य करने वाली अभिकर्ता है। उसके अधिकार जनता के अधिकारों के साथ समता की स्थिति धारण नहीं कर सकते प्रत्युत् उसके केवल दायित्व हैं जिन्हें उसे उस जन-समूह के प्रति सम्पन्न करना होता है जिसकी वह अभिकर्ता है।

शासन के रूप—राजनीतिक समाज का निर्माण करने वाला बहुसंख्यक अंग राज्य में सर्वोच्च-शक्ति धारण करता है। वही समाज की सार्वजनिक इच्छा की अभिव्यक्ति करता है। अतएव सार्वजनिक इच्छा को विध्यात्मक स्वरूप प्रदान करना अर्थात् विधि का निर्माण करना राज्य का सबसे प्रमुख कार्य है। उसके पश्चात् उस विधि को लागू करने का प्रश्न उठता है। बहुसंख्यक जन-समूह इस कार्य के लिए सरकार की स्थापना करता है और उसके रूप का निर्धारण करता है। यदि वह समूचा जन-समूह विधि-निर्माण का कार्य स्वयं अपने हाथ में रखे और उसे कार्यान्वित करने के लिए स्वयं प्रशासक वर्ग की नियुक्ति करके अपनी आधीनता में उनसे विधि को लागू कराने का कार्य करावे तो ऐसे शासन को लोकतन्त्र कहा जाता है। यदि जन-समूह अर्थात् जनता विधि-निर्माण तथा उसके कार्यान्वयन की व्यवस्था करने की शक्ति थोड़े-से चुने हुए व्यक्तियों अथवा वंश परम्परा के आधार पर थोड़े से व्यक्तियों को दे तो वह रूप वर्गतन्त्र (oligarchy) कहलाता है। इसी प्रकार यदि जनता ऐसी शक्ति किसी एक व्यक्ति को दे दे तो वह शासन राजतन्त्र कहलाता है। राजतन्त्र वंशानुगत अथवा निर्वाचित किसी भी रूप का हो सकता है। जन-समूह शासन के रूप को इच्छानुसार मिश्रित प्रकृति का भी बना सकता है। परन्तु हर स्थिति में सर्वोच्च शक्ति जन-समूह के हाथ में रहती है। शासन केवल उसका अभिकर्ता या प्रन्यासधारी है। शासन के रूप का निर्धारण करने की कसौटी राज्य की विधायी शक्ति का निवास निश्चित करने का ढंग है। लॉक के विचार से सर्वोत्तम शासन-व्यवस्था वह है, 'जिसमें विधायी शक्ति विविध प्रकार के व्यक्तियों के हाथ में रहती है, जो एक सभा में समवेत होकर स्वयं या दूसरों के साथ संयुक्त होकर कानून निर्माण की शक्ति धारण करते हैं।' इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि 'लॉक,

निस्सन्देह विधायी निकाय के रूप में एक प्रतिनिध्यात्मक सभा की वांछनीयता का समर्थन करता है ।'[1]

सरकार के अंग तथा कार्य

(1) **विधायिका** (Legislature)—लॉक की दृष्टि में सरकार का विधायी अंग सबसे महत्त्वपूर्ण है, जो सम्पूर्ण जन-समूह की सर्वोच्च शक्ति का अभिकर्ता है । सरकार की विधायी शक्ति सर्वोच्च होती है, परन्तु विधायिका सर्वोच्च शक्ति से युक्त होते हुए भी निरंकुश या स्वेच्छाचारी नहीं है । उसके ऊपर अनेक मर्यादाएँ हैं; (i) विधायिका मनमाने ढंग से अपनी शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकती, यह शक्ति तो स्वयं राजनीतिक समाज को भी प्राप्त नहीं है, क्योंकि उसकी सत्ता प्राकृतिक कानून से मर्यादित है, उसके कार्यकलाप सार्वजनिक कल्याण की धारणा से नियन्त्रित हैं । (ii) विधायिका को अकस्मात् जारी की गयी आज्ञप्तियों (extemporary decrees) के अनुसार शासन नहीं करना चाहिए, क्योंकि जनता स्थायी कानून (प्राकृतिक कानून) की धारणा से अनभिज्ञ नहीं है, भले ही वह अलिखित है । अतः विधायिका को न्यायिक कार्य हेतु अधिकृत स्थायी कानून तथा न्यायाधीशों के जरिये से कार्य करना चाहिए ।[2] (iii) विधायिका को यह अधिकार नहीं है कि वह किसी व्यक्ति को उसकी सहमति के बिना उसकी सम्पत्ति से विहीन कर सके । लॉक के अनुसार व्यक्तिगत सम्पत्ति ही ऐसी चीज है जिसके संरक्षण के लिए समाज की स्थापना की गयी है । अतः सरकार का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति की सम्पत्ति की रक्षा करना है । यह भी आवश्यक है कि सरकार के संचालन के लिए धन की आवश्यकता होती है । जिस सम्पत्ति की रक्षा के लिए सरकार की आवश्यकता है, उस सम्पत्ति से सरकार कर के रूप में अपना अंश लेने की अधिकारी है । परन्तु ऐसा अधिकार स्वयं सरकार को प्राप्त नहीं है, अपितु जनता या उसके प्रतिनिधियों को प्राप्त है । अतएव विधायिका व्यक्ति की सम्पत्ति पर कर लगाने का कार्य जन-समूह के बहुमत अथवा प्रतिनिधियों की सहमति के अनुसार ही कर सकती है । (iv) विधायिका अपनी कानून-निर्माण की शक्ति को प्रत्यायोजित नहीं कर सकती । विधायिका को विधि-निर्माण की शक्ति जन-समूह द्वारा प्रत्यायोजित की जाती है । अतः जनता से प्राप्त इस शक्ति का पुनः किसी अन्य संस्था को प्रत्यायोजन करना विधायिका की शक्ति से बाहर है । ऐसा अधिकार केवल सम्प्रभु जन-समूह को ही प्राप्त है ।

(2) **कार्यपालिका** (Executive)—चूँकि विधायिका विधि का निर्माण करती है, जो जन-समूह की इच्छा की अभिव्यक्ति है, अतः यह कार्य थोड़े से समय में हो जाता है और विधायिका को निरन्तर कार्यरत रहने की आवश्यकता नहीं पड़ती । साथ ही विधि का निर्माण हो जाने पर उसे लागू करने के लिए निरन्तर कार्य करने वाली संस्था भी आवश्यक है । यदि एक ही संस्था इन दोनों कार्यों को करे तो यह सम्भावना है कि विधायक विधि का निर्माण करते समय अपने स्वार्थों का ध्यान रखने लग जायेंगे । अतः यह आवश्यक है कि कानूनों को कार्यान्वित करने के लिए पृथक् संगठन (कार्यपालिका) का निर्माण किया जाना चाहिए । लॉक की यह धारणा

[1] 'Locke is, of course, asserting the desirability of a representative assembly as the legislative body.' —Harmon, *op. cit.*, 251.

[2] 'The Legislative...is bound to dispense justice, ...by promulgated standing Laws, and known authoriz'd judges.' —Locke.

शासन में शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त की पूर्वगामी धारणा है जिसका विशद विवेचन लॉक के पश्चात् फ्रांसीसी दार्शनिक माटेस्क्यू ने किया था। लॉक के मत से कार्य-पालिका की शक्ति विधायिका की शक्ति के अधीन है। वस्तुत: कार्यपालिका उसी प्रकार विधायिका की अभिकर्ता है, जिस प्रकार की विधायिका सम्पूर्ण समाज की अभिकर्त्ता है।

(3) **संघात्मक शक्ति** (Federative Power)—लॉक ने शासन-संगठन की एक अन्य सत्ता की भी कल्पना की है जिसे वह संघात्मक शक्ति कहता है। इसका कार्य एक राजनीतिक समाज या उसके सदस्यों के अन्य राजनीतिक समाजों या उनके सदस्यों के साथ सम्बन्धों का नियमन करना है। इसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध, शान्ति, संगठन, सन्धि आदि से सम्बन्ध रखने वाले विषयों की व्यवस्था करने के कार्य आते हैं। लॉक इस कार्य के लिए शासन के पृथक् अंग की आवश्यकता को नहीं बताता, अपितु उसे कार्यपालिका के अधीन ही रखने की धारणा दर्शाता है।

(4) **न्यायपालिका** (Judiciary)—लॉक शासन के पृथक् न्यायपालिका संगठन का उल्लेख नहीं करता। उसका कथन है कि प्राकृतिक स्थिति में निष्पक्ष न्यायाधीशों का अभाव था, अतएव राजनीतिक समाज की स्थापना हो जाने पर विधायिका द्वारा बनाए हुए कानूनों का परिपालन कराने के लिए 'ज्ञात अधिकृत न्यायाधीशों' (known authorised judges) का होना आवश्यक है। लॉक ने स्वतन्त्र तथा पृथक् न्याय-पालिका अंग की धारणा स्पष्टतया व्यक्त नहीं की है। इस सम्बन्ध में हारमॉन का निष्कर्ष है कि 'लॉक पृथक् न्यायपालिका का समर्थन तो करता है, परन्तु स्वतन्त्र न्यायपालिका का नहीं। लॉक के युग में न्यायिक कार्य कार्यपालिका के कार्यों का ही अंग माना जाता था; और चूँकि न्यायपालिका को कार्यपालिका का अंग माना जाता था, अत: राजा न्यायाधीशों की नियुक्ति करने का अधिकार रखता था।'[1]

(5) **परमाधिकार** (Prerogative)—लॉक ने कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के पृथक् संगठन निर्मित करने की बात तो कही है। परन्तु वह इन दोनों अंगों को एक-दूसरे से स्वतन्त्र या समता की स्थिति में नहीं रखता। वह व्यवस्थापिका की सर्वोच्चता की धारणा व्यक्त करता है। उसका मत है कि व्यवस्थापिका अपना कार्य थोड़े से समय में कर लेती है। उसके पश्चात् उसका सत्रावसान हो जाता है। परन्तु कार्यपालिका निरन्तर कार्य करती रहती है। कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि व्यवस्थापिका के सत्रावसान-काल में किसी आकस्मिक परिस्थिति का सामना करने के लिए कानून-निर्माण की या अन्य किसी प्रकार की आकस्मिक व्यवस्था करने की आवश्यकता पड़ सकती है। ऐसी स्थिति में कार्यपालिका को परमाधिकार (prerogative) प्राप्त रहना चाहिए कि वह 'जन-कल्याण' को ध्यान में रखते हुए तुरन्त आवश्यक कदम उठाये। ऐसा कोई परमाधिकार 'जन-कल्याण' में प्रयुक्त किया गया है अथवा नहीं, इसका निर्धारण जनता ही कर सकती है। अतएव ऐसे परमाधिकार जारी हो जाने पर बाद में जनता की प्रतिनिधि सभा उसकी पुष्टि के निमित्त आवश्यक निर्णय ले सकती है।

शक्ति-पृथक्करण—लॉक की धारणा में शासन के प्रमुख अंग व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका, दो ही होते हैं। चूँकि व्यवस्थापिका अपना कार्य अपेक्षाकृत थोड़ी-सी अवधि में सम्पन्न कर लेती है और कार्यपालिका को निरन्तर कार्यरत रहने की

[1] Harmon, *op. cit.*, 252.

आवश्यकता पड़ती है, अतएव ये दोनों शक्तियाँ पृथक् निकायों के हाथ में रहनी चाहिए। इस प्रकार के पृथक्करण के सम्बन्ध में लॉक का महत्त्वपूर्ण तर्क यह है कि यदि विधि-निर्माण तथा उसे लागू करने का कार्य एक ही निकाय के हाथ मे रहेगा तो विधि-निर्माता जिन कानूनों को बनायेंगे उनका पालन कराने की शक्ति भी स्वयं अपने हाथ में रख लेंगे। इस प्रकार कानून-निर्माण तथा उन्हें लागू करने की व्यवस्था स्वयं एक ही जनसमूह में विद्यमान रहने का परिणाम यह होगा कि विधि-निर्माता अपने को जन-समुदाय के शेष भाग से पृथक् कर लेंगे। इसके कारण समाज तथा शासन का उद्देश्य नष्ट हो जायेगा। लॉक के मत से शासन के कार्यपालिका तथा संघात्मक कार्यों में भी पृथक्करण होना चाहिए। परन्तु इन दो अंगों को पृथक् करने का परिणाम यह हो सकता है कि दोनों को सेना की आवश्यकता पड़ती है। सेना का पृथक्करण या विभाजन अवांछनीय है, अतः संघात्मक कार्य कार्यपालिका के अधीन ही रखा जाना चाहिए। लॉक की व्यवस्था में स्वतन्त्र न्यायपालिका की धारणा का अभाव है, अतः उसके पृथक्करण की समस्या का प्रश्न नहीं उठता था।

सरकार के अंगों के मध्य शक्ति-पृथक्करण की धारणा को लॉक ने केवल सिद्धान्त रूप में ही व्यक्त किया है। वह इसका विशद विवेचन नहीं करता। वस्तुतः उसका सिद्धान्त व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के पृथक् संगठनों की स्थापना का समर्थन करना है, जिसके अन्तर्गत कार्यपालिका व्यवस्थापिका से पृथक् होते हुए भी उसके अधीन उसकी अभिकर्ता के रूप में है, न कि उससे स्वतन्त्र। शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त का विशद विवेचन लॉक के पश्चात् फ्रांसीसी दार्शनिक मांटेस्क्यू ने किया। भले ही मांटेस्क्यू का सिद्धान्त लॉक की धारणा से मौलिक भिन्नताएँ रखता है, तथापि लॉक को भी इसका श्रेय इसलिए प्राप्त है कि उसने मांटेस्क्यू के सिद्धान्त हेतु आधार प्रस्तुत किया। ऐसे सैद्धान्तिक विवेचन की आवश्यकता लॉक ने इसलिए प्रतीत की कि तत्कालीन ब्रिटिश शासन-प्रणाली के अन्तर्गत राजा तथा संसद के मध्य जो विवाद चल रहा था, उसके समुचित समाधान हेतु वह मर्यादित शासन के सिद्धान्त को उपादेय मानता है। इसीलिए वह संसद की सर्वोच्चता तथा राजा की शक्ति को मर्यादित करने की धारणा व्यक्त करता है।

क्रान्ति या प्रतिरोध का अधिकार

लॉक के विचारों का मुख्य उद्देश्य 1688 की रक्तहीन क्रान्ति के औचित्य को सिद्ध करना था, जिसके अनुसार निरंकुश राजा जेम्स द्वितीय को अपदस्थ किया गया था। इसके साथ-साथ लॉक इंग्लैण्ड की गत 50 वर्षों की राजनीतिक गतिविधियों से भी प्रभावित था, जिनके अन्तर्गत चार्ल्स प्रथम को मृत्यु-दण्ड दिया जाना, दीर्घ संसद की गतिविधियाँ, गणतन्त्र की स्थापना, राजतन्त्र की पुनर्स्थापना आदि शामिल थे। लॉक के पूर्ववर्ती विचारकों—बोदां, हॉब्स, फिल्मर आदि—ने निरंकुश प्रभुसत्ता की धारणा का प्रतिपादन करके सम्प्रभु शासकों को कानून के बन्धन से मुक्त रखने की धारणाएँ व्यक्त की थीं। उनकी विचारधारा में जन-क्रान्ति के द्वारा शासन को परिवर्तित करने के जनता के अधिकार को अमान्य किया गया था। हॉब्स ने व्यक्ति के आत्म-रक्षा के प्राकृतिक अधिकार को सर्वाधिक महत्त्व दिया था। उसके अनुसार यदि शासक व्यक्तियों की आत्म-रक्षा करने में असमर्थ हो जाता तो जनता उसके विरुद्ध क्रान्ति करने की अधिकारी थी। परन्तु उसका अर्थ होता प्राकृतिक स्थिति में

प्रत्यावर्तन अर्थात् स्वयं राज्य का विनाश। परन्तु लॉक का दृष्टिकोण इससे सर्वथा भिन्न है। वह राज्य तथा शासन के मध्य स्पष्ट भेद करता है। उसके विचार से समाज या राज्य के कल्याण के लिए ही शासन का अस्तित्व है। शासन-संगठन राजनीतिक समाज के निर्माण करने वाली जनता के द्वारा स्थापित किया जाता है और वह एक न्यासधारी के रूप में है। अत: यदि शासन न्याय का दुरुपयोग करे तो सम्प्रभु जनता उसका प्रतिरोध करने और उसे अपदस्थ करने की अधिकारी है। ऐसा निर्णय समाज के बहुमत द्वारा किया जाता है। इसका निष्कर्ष यह है कि लॉक निरंकुशतन्त्र के विरुद्ध जनता के क्रान्ति करने के अधिकार को मान्य करता है। 1688 की क्रान्ति इसी उद्देश्य से निदेशित थी। अत: लॉक की दृष्टि में वह पूर्णत: न्यायोचित थी।

शासन को अपदस्थ करने की स्थितियाँ—लॉक की दृष्टि में राजनीतिक समाज को यह अधिकार है कि वह 'शासन को दो परिस्थितियों में भंग कर सकता है : या तो विधायी शक्ति के निवास स्थान में परिवर्तन करने की स्थिति में अथवा शासन को जो न्यास प्रदान किया गया है उसका उल्लघन करने पर।' लॉक ने यह अनुभव किया कि इंग्लैण्ड में विगत 50 वर्षों में स्वयं राजा लोग क्रान्ति के लिए उत्तरदायी थे, क्योंकि उन्होंने संसद के बिना ही अपने परमाधिकारों के द्वारा शासन करने की प्रवृत्ति अपनायी थी और इस प्रकार उन्होंने जनता द्वारा अपने प्रतिनिधियों को दी हुई विधायी शक्ति का निवास स्थान परिवर्तित कर दिया था। साथ ही दीर्घ संसद ने भी अनुचित व्यवहार करके न्यास का उल्लंघन किया था। अतएव लॉक का मत था कि जो व्यवस्थापिका या कार्यपालिका जनता के जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकारों का संरक्षण नहीं करती, उन्हें पदच्युत करना जनता का वैध अधिकार है। इस दृष्टि से लॉक न तो व्यवस्थापिका को अप्रतिबन्धित रखना चाहता था और न ही कार्यपालिका को मनमाने परमाधिकारों से युक्त करके स्वेच्छाचारी बनने देना चाहता था। परन्तु लॉक यह भी मानता है कि शासन को परिवर्तित करने में बल का प्रयोग तभी किया जाय, जबकि वह सर्वथा आवश्यक हो। यद्यपि वह बल-प्रयोग का पूर्णतया बहिष्कार नहीं करता, तथापि यथासम्भव नैतिक बल को महत्त्वपूर्ण मानता है।

लॉक ऐसे शासनों का दृष्टान्त भी देता है जो युद्ध, आक्रमण या शक्ति के द्वारा जनता के ऊपर शासन करते हैं। ऐसे शासनों को विजित जनता की स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति का अतिक्रमण करने का न्यायोचित अधिकार नहीं है। शक्ति द्वारा स्थापित सरकार का औचित्य तभी है जबकि वह जन-समूह तथा उसके व्यक्तियों के नैतिक अधिकारों को मान्यता तथा समर्थन प्रदान करे। ऐसी सरकार को अपदस्थ करने से पूर्व यह निर्धारण कर लेना चाहिए कि वह किस रूप से शासन कर रही है, क्योंकि शक्ति स्वयं अपनी न्यायोचितता की कसौटी नहीं है। यद्यपि लॉक स्पष्टतया प्रभुसत्ता के सिद्धान्त के बारे में कोई विवेचन नहीं करता, तथापि जनता को सरकार की स्थापना करने तथा उसे पदच्युत करने की शक्ति से युक्त मानना यह दर्शाता है कि लॉक 'लोक-प्रभुसत्ता' की धारणा को मानता है।

राज्य तथा धर्म

लॉक के काल में मध्ययुग की भाँति धर्मसत्ता तथा राजसत्ता के मध्य

उच्चता का संघर्ष तो नहीं था, परन्तु कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेंट धर्मावलम्बियों के मध्य संघर्ष जारी था। इंग्लैण्ड की राजनीति में यह समस्या बहुत अधिक प्रभावी थी। स्टुअर्ट राजा कैथोलिक थे, और कैथोलिक हितों के सम्बन्ध में उनकी नीतियाँ पक्षपातपूर्ण थीं। एक सक्रिय राजनेता की क्षमता में स्वय लॉक कैथोलिक राजाओं के विरुद्ध था। परन्तु इतना होते हुए भी वह धार्मिक सहिष्णुता की नीति का समर्थक था। लार्ड शैफ्ट्सबरी के साथ सम्पर्क होने तथा ब्रैंडनबर्ग में अपने प्रवास की अवधि में उसने यह अनुभव किया कि किसी भी समाज में विविध धर्मावलम्बियों का रहना सामुदायिक एकता को नष्ट नहीं करता, परन्तु जब बलपूर्वक धार्मिक एकता लाने का प्रयास किया जाता है तो राष्ट्रीय एकता तथा व्यापार को हानि पहुँचती है।

लॉक व्यक्ति के स्वतन्त्रता के अधिकार का समर्थक है। राज्य का उद्देश्य व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति का संरक्षण करना है। अतः नागरिक-शासन का कार्य धर्म-निरपेक्ष है। राज्य किसी व्यक्ति को किसी धर्म-विशेष के प्रति विश्वास रखने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। धार्मिक विश्वास व्यक्ति की अन्तरात्मा का विषय है। नागरिक प्रशासक (magistrates) केवल बाहरी शक्ति (outward force) का प्रयोग कर सकते हैं। चर्च ऐच्छिक संगठन हैं, जिनका कार्य व्यक्ति को आत्मिक मुक्ति का मार्ग-दर्शन कराना है। वह किसी व्यक्ति को किसी चर्च-विशेष का सदस्य बनाये जाने तथा किसी धर्म-विशेष के नियमों को व्यक्ति से मनवाने के लिए राज्य की सहायता तथा समर्थन प्राप्त करने का अधिकारी नहीं है। चर्च अपने सदस्यों को धर्म के नियमों की अवहेलना करने पर धर्म-बहिष्कृत करने, सलाह देने तथा फटकारने का अधिकार रख सकता है। परन्तु ऐसे व्यवहार का व्यक्ति के नागरिक अधिकारों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि कोई प्रशासक किसी धर्म-विशेष का अनुयायी है तो उससे उस धर्म-विशेष या चर्च की शक्ति के बढ़ने का प्रश्न नहीं उठता। वह प्रशासक अपनी नागरिक सत्ता को चर्च संगठन में नहीं ले जाता।

राज्य तथा चर्च दोनों का कार्य नैतिकता तथा उत्तम जीवन का विकास करना है। कभी-कभी नागरिक प्रशासक को चर्च के ऐसे कार्यकलापों पर रोक लगानी पड़ती है, जो नागरिक जीवन के हित में गैर-कानूनी प्रतीत हों। उसका यह कार्य पूर्णतया नागरिक है, न कि धार्मिक। यदि कभी राज्य तथा चर्च के नियम परस्पर विरोधी सिद्ध हों तो व्यक्ति को अपनी अन्तरात्मा से उनमें से एक को ग्रहण करना चाहिए जिसे वह गैर-कानूनी न समझे और ऐसे दण्ड को स्वीकार करने के लिए तैयार रहना चाहिए जिसे सहन करना उसे गैर-कानूनी प्रतीत न हो। लॉक शासकों को भी सलाह देता है कि वे धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनायें। सामुदायिक एकता बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है। बल-प्रयोग द्वारा धार्मिक एकता लाने का प्रयास करना अवांछनीय है। ऐसा करने का परिणाम यह होगा कि या तो नागरिक राज्य छोड़कर चले जायेंगे और दूसरे देश की शक्ति को सुदृढ़ करेंगे जिससे मातृभूमि उनके लाभ से वंचित होगी, अथवा यदि उन्हें देश के अन्दर ही दण्ड दिया जायेगा तो वे भूमिगत षड्यन्त्रों द्वारा देश में अशान्ति फैलायेंगे।

परन्तु लॉक की धार्मिक सहिष्णुता की धारणा यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती। उसका मत है कि राज्य ऐसे चर्च तथा धर्म के प्रति सहिष्णुता की नीति न अपनाये जिनकी निष्ठा विदेशी राजाओं के प्रति होती है। इससे उसका अभिप्राय

कैथोलिकों से था। साथ ही नास्तिकों के साथ भी सहिष्णुता की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। जो चर्च समाज के लिए निर्धारित नैतिक नियमों के विरुद्ध आचरण करे या जो धर्म के नाम पर अपने सदस्यों के विशेषाधिकारों की माँग करे, वह भी सहिष्णुता का अधिकारी नहीं है। सारांश यह है कि लॉक की सहिष्णुता की नीति का आधार राजनीतिक सुरक्षा है। यदि धर्म इसके मार्ग में बाधक हो तो राज्य उसके विरुद्ध कार्यवाही कर सकता है।

लॉक के राजनीतिक विचारों का मूल्यांकन

राजनीतिक विचारों की विशेषता—एक राजनीतिक चिन्तक के रूप में जॉन लॉक की महत्ता की परख इस आधार पर करना उपयुक्त नहीं है कि उसका राजनीतिक दर्शन मौलिक था या नहीं, अथवा उसकी विचारधाराएँ तार्किक चिन्तन पर खरी उतरती है या नहीं, क्योंकि उसकी विचारधाराएँ न तो मौलिक है, न वह हॉब्स की भाँति एक दार्शनिक था। जो कुछ लॉक ने लिखा है, उस सम्बन्ध में उसके पूर्ववर्ती विचारक बहुत कुछ लिख चुके थे। अतएव लॉक की विचारधारा की महत्ता इस बात पर है कि वह पूर्ववर्ती रचनाओं का सारांश है, वह पढ़ने योग्य है, और यह कि उसे विशेष रूप से उचित समय पर प्रस्तुत किया गया था। लॉक ने जिस शास्त्र के क्षेत्र मे भी लिखा है, उसके विचार पूर्णतया बुद्धि-मूलक है। मैक्सी ने कहा है कि 'विवेकवाद (rationality) उसके जीवन का आधारभूत तत्त्व (keynote) था और यही उसकी मानसिक शोध का केन्द्रीय उद्देश्य था।'[1] जब वह धर्म पर लिखता था तो वह यह दर्शाता था कि धार्मिक विश्वासिता की मान्यता का समुचित आधार व्यावहारिक ज्ञान (commonsense) तथा विवेक है। जब वह शिक्षा पर लिखता था तो वह ऐसी पद्धतियों पर बल देता था जिनके द्वारा विद्यार्थी सत्य का विवेकपूर्ण ढंग से ज्ञान कर सके। जब वह शासन के बारे में लिखता था तो उसका उद्देश्य राजनीतिक सत्ता की युक्ति-सगतता (reasonableness) की खोज करना तथा यह समझना होता था कि शासन के कौन से रूप तथा प्रक्रियाएँ विवेक के आदेशों के अनुसार थीं। लॉक की विचारधाराएँ न तो विद्वता का प्रदर्शन करतीं न तर्क पर आधारित है, अपितु वे उस व्यावहारिक ज्ञान को प्रदर्शित करती हैं जिसके द्वारा उसने दर्शन, राजनीति, नीतिशास्त्र, शिक्षा आदि विविध शास्त्रों की मुख्य-मुख्य धारणाओं को एकत्रित करके अपने युग के विद्वानों के समक्ष रखा। इन धारणाओं को उसने अत्यन्त सरल परन्तु चित्ताकर्षक ढंग से व्यक्त करके अपनी भावी शताब्दी के विद्वानों को संक्रमित किया। इस प्रकार उसकी विचारधाराओं ने 18वीं तथा 19वीं शताब्दी के राजनीतिक चिन्तन के लिए प्रचुर सामग्री प्रस्तुत की।[2]

हॉब्स तथा लॉक की तुलना—राज्य दर्शन के क्षेत्र में लॉक से पूर्व हॉब्स के दर्शन ने पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर ली थी। हॉब्स ने जिस तार्किक क्रम से अपनी विचारधाराओं को प्रस्तुत किया था उनके समक्ष लॉक का दर्शन फीका सिद्ध होता है। हॉब्स की तुलना में लॉक कम तर्कसंगत है, परन्तु वह हॉब्स से अधिक समझदार है (Locke is less logical but more sensible than Hobbes)। हॉब्स ने

[1] 'Rationality was at once the keynote of his life and the central purpose of all his mental questing.' —Maxey, *op. cit.*, 250.
[2] Sabine, *op. cit*, 443.

राजनीतिक निरंकुशतावाद के समर्थन में अपनी विचारधाराओं को अत्यन्त सावधानी से तथा तार्किक ढंग से व्यक्त करने में अतीव सफलता प्राप्त की थी और उसकी विचारधाराओं में असंगति दोष का प्रायः अभाव रहा है। परन्तु लॉक का उद्देश्य हॉब्स के विचारों का विरोध करना होते हुए भी, उसने अपने विरोध का लक्ष्य फिल्मर को बनाया। यदि वह सीधे हॉब्स की विचारधाराओं का विरोध करने बैठता तो सम्भवतः उसकी विचारधाराएँ और गहराई तक पहुँचतीं और उनमें जो असंगति दोष आ गये हे, वे कम हो जाते। परन्तु अपनी विचारधाराओं का प्रतिपादन करने में लॉक ने जिन समस्याओं को अपनाया वे इतनी अधिक थीं कि लॉक ही नहीं, किसी भी अन्य राजनीतिक चिन्तक के लिए उनको संगतिपूर्ण ढंग से रख सकना सम्भव नहीं था। वह ऐसी समस्याएँ हैं, जिनका अन्तिम समाधान लॉक के पश्चात् आज तीन शताब्दी की अवधि बीत जाने पर भी कोई विद्वान् प्रस्तुत नहीं कर सका है। भले ही हॉब्स के निरंकुशतावाद के विरुद्ध लॉक ने मर्यादित शासन के सिद्धान्त का समर्थन किया है, और लॉक की विचारधाराएँ दर्शन तथा तर्क की दृष्टि से हॉब्स की तुलना में निर्बल सिद्ध होती हैं, तथापि लॉक की विचारधारा का महत्त्व हॉब्स की विचारधारा से कहीं अधिक है, 'जहाँ हॉब्स लॉक से भेद रखता है वहाँ भावी पीढ़ियाँ लॉक के साथ है।'[1] प्रभाव की दृष्टि से हॉब्स के दर्शन का प्रभाव चिरस्थायी सिद्ध नहीं हो सका। राजनीति में निरंकुशतावाद समाप्ति की दिशा मे था और लोकतन्त्र तथा सांविधानिकतावाद प्रस्फुटित हो चुके थे। यद्यपि हॉब्स के पश्चात् जर्मन आदर्शवादियों में और उनके पश्चात् नाजी तथा फासीवादी व्यवस्थाओं मे निरंकुशतावाद के दर्शन होते हे, तथापि ये व्यवस्थाएँ पूर्णतया हॉब्स की विचारधाराओ पर आधारित नहीं हैं। इंग्लैण्ड के अनेक विचारकों ने हॉब्स के निरंकुश प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को विकसित करके प्रभुसत्ता की धारणा का विकास किया है। इनमें उपयोगितावादी ऑस्टिन तथा बेंथम प्रमुख हे। उसके दर्शन ने उपयोगितावादी दर्शन के विकास में पर्याप्त योगदान किया हे, परन्तु इन सबमे पूर्णतया हॉब्स की विचारधारा की छाप नहीं मानी जा सकती। निरंकुश राजतन्त्र, जिनका समर्थन हॉब्स की विचारधारा का केन्द्रीय तत्त्व था, समाप्त होते गये। आधुनिक अधिनायकवादों का हॉब्स की विचारधारा से कोई मेल नही है। परन्तु लॉक ने जिन राजनीतिक समस्याओं को लिया, वे उसके युग से लेकर आज तक निरन्तर राजनीतिक चिन्तन की समस्याएँ बनी हुई हैं, और लॉक के युग से लेकर आज तक के राजनीतिक चिन्तन तथा व्यवहार में लॉक की विचारधाराएँ किसी न किसी रूप में उनके समाधान के लिए प्रभाव डालती आई हैं।

प्राकृतिक अधिकारों की धारणा तथा मर्यादित शासन—डनिंग ने कहा है कि 'राजनीतिक विचारधाराओं को लॉक का सबसे 'विशिष्ट' (distinctive) योगदान उसका प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त है।'[2] मैक्सी के मत से केवल 'विशिष्ट' योगदान ही नहीं, अपितु सबसे अधिक 'शक्तिमान' (dynamic) योगदान भी इसे कहा जाना चाहिए। लॉक ने जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकारों को व्यक्ति के अलंघ्य प्राकृतिक अधिकार घोषित करके राजनीतिक सत्ता को इनके द्वारा मर्यादित रखने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। यह धारणाएँ लॉक के पश्चात् आज तक न

[1] 'Where Hobbes differs from Locke, posterity is with Locke.'
[2] Dunning, *op. cit.*, 364.

केवल राज्यों के संविधानों में ही, अपितु अन्तर्राष्ट्रीय संघ (U. N. O.) के द्वारा भी मानवीय अधिकार के रूप में मान्य की गयी हैं। आज विश्व के सभी संविधानों में व्यक्ति के इन अधिकारों को मौलिक अधिकारों के रूप में घोषित करने तथा राज्य की सम्प्रभु शक्ति का प्रयोग करने वाली सरकार को इनके द्वारा मर्यादित रखने की परम्परा अपनायी जा रही है। व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार लॉक की विचारधारा का केन्द्रीय तत्त्व था। चाहे लॉक ने इसके औचित्य को जिस रूप में भी चित्रित किया हो, परन्तु यह धारणा ऐसी है जिसने भविष्य की व्यक्तिवादी, पूँजीवादी, समाजवादी, साम्यवादी आदि सभी विचारधाराओं को इस पर चिन्तन करने की प्रेरणा दी है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि लॉक 17वीं शताब्दी के पश्चात् की किसी शताब्दी में उत्पन्न होता तो सम्पत्ति के सम्बन्ध में उसकी विचारधाराएँ भिन्न प्रकृति की होतीं, क्योंकि भविष्य की शताब्दियों के आर्थिक व्यवस्था के परिवर्तन उसकी इस धारणा को बदल देते।

लॉक का व्यक्तिवाद—लॉक पूर्णतया एक व्यक्तिवादी विचारक है। उसकी विचारधारा में प्रत्येक बात व्यक्ति के इर्द-गिर्द घूमती है और प्रत्येक बात का समाधान इस रूप मे किया गया है कि जिससे व्यक्ति की सम्प्रभुता सुनिश्चित रहे।[1] लॉक की विचारधारा हॉब्स की भाँति व्यक्ति के स्वभाव का विवेचन करने से प्रारम्भ होती है। प्राकृतिक स्थिति का चित्रण करते हुए लॉक ने अपने विचारों का केन्द्र व्यक्ति को बनाया है। प्राकृतिक स्थिति के जीवन में जो कठिनाइयाँ बतायी गई हैं, वे व्यक्ति की कठिनाइयाँ हैं। सामाजिक जीवन का अस्तित्व प्राकृतिक तथा राजनीतिक दोनों स्थितियों में व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों विशेषतया 'सम्पत्ति' की रक्षा के लिए है। जिसका अभिप्राय लॉक के अनुसार व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता, स्वास्थ्य तथा चल और अचल सम्पत्ति की सुरक्षा से है। राजनीतिक समाज के निर्माणकारी तत्त्व भी व्यक्ति है। समाज की सत्ता व्यक्ति के अधिकारों से मर्यादित सिद्ध की गयी है। राज्य की सत्ता तथा शासन का उद्देश्य भी व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करना है; व्यक्ति के यह अधिकार अलंघ्य हे। इनके ऊपर यदि कोई मर्यादा है तो वह प्राकृतिक कानून की है। सरकार इससे असंगति रखने वाले किसी भी कानून का निर्माण नहीं कर सकती। यदि शासन व्यक्ति के इन प्राकृतिक अधिकारों को सुरक्षा नहीं प्रदान कर सकता या इनके विरुद्ध आचरण करता है, तो व्यक्ति शासन का प्रतिरोध कर सकते हैं और उसे पदच्युत करने के लिए शक्ति का प्रयोग तक कर सकते हैं। राजसत्ता या चर्च तक, व्यक्ति को विश्वास की स्वतन्त्रता से वंचित नहीं कर सकती। इस प्रकार लॉक की विचारधारा में व्यक्ति की सम्प्रभुता सुनिश्चित रखने की सभी धारणाएँ विद्यमान हैं। उसके विचार में राज्य एक सीमित उत्तरदायी कम्पनी (limited liability company) से अधिक कुछ नहीं है और राज्य की वास्तविक प्रभुसत्ता व्यक्ति मे निहित है। राज्य के कुछ दायित्व हैं जिन्हें सम्पन्न करना ही उसका अधिकार है। व्यक्ति के अधिकारों के विरुद्ध उसके अपने अधिकार यही हैं कि वह व्यक्ति को उन अधिकारों की प्राप्ति कराये।

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में लॉक को एक पक्का व्यक्तिवादी (an individualist out-and-out) कहा गया गया है। यद्यपि हॉब्स भी किसी भाँति

[1] 'Everything in Locke's system revolves round the individual, everything is disposed so as to ensure the sovereignty of the individual.' —Vaughan.

कम व्यक्तिवादी नहीं था, तथापि उसका व्यक्तिवाद निरंकुशतावाद का समर्थन करने के कारण असंगतिपूर्ण हो जाता है। हॉब्स का प्राकृतिक स्थिति के मानव-स्वभाव का चित्रण, प्राकृतिक कानून तथा प्राकृतिक अधिकारों की धारणा एवं संविदा सिद्धान्त उसके मनोवैज्ञानिक तर्कों की दृष्टि से भले ही संगतिपूर्ण लगें, तथापि वे यथार्थ को तोड़-मरोड़ कर रखे गये हैं और हॉब्स ने उन्हें अपनी तार्किक प्रतिभा के आधार पर एक क्रमबद्ध दर्शन का रूप देने का प्रयास किया है। परन्तु अपनी विचारधारा का केन्द्र व्यक्ति को बनाते हुए भी व्यक्तिवाद के समर्थन में उसने जो साधन बताये है (अर्थात् शासन की निरंकुश प्रभुसत्ता का समर्थन करना) वे उसके व्यक्तिवाद से पूर्णतया संगति नहीं रख सके। इसके विपरीत लॉक ने अपने व्यक्तिवादी दर्शन को एक क्रमबद्धता प्रदान करने में सफलता प्राप्त की है।

लॉक यह मानकर चलता है कि प्राकृतिक स्थिति में व्यक्ति विवेक पर आधारित प्राकृतिक अधिकारों का समान रूप से उपभोग करते थे। उन्हीं अधिकारों की उत्तमतर उपलब्धि तथा सुरक्षा के लिए वे पारस्परिक संविदा द्वारा राजनीतिक समाज में प्रविष्ट होते हैं। अतः राज्य के अस्तित्व का आधार व्यक्ति के उन प्राकृतिक अधिकारों की सुरक्षा करना है जो प्राकृतिक स्थिति में विद्यमान थे, क्योंकि वे विवेक पर आधारित थे। उनकी प्राप्ति का आधार समानता था। अतः लॉक का राजनीतिक दर्शन प्रत्येक व्यक्ति की समान स्वतन्त्रताओं को सुनिश्चित करने का लक्ष्य रखता है। प्राकृतिक अधिकारों की प्राप्ति में धनी-निर्धन, शक्तिशाली तथा अशक्त, भाग्यशाली या अभाग्यशाली के मध्य भेद नहीं किया गया है। लॉक के मत से निरंकुश शासन को शासन कहना अनुपयुक्त है। वास्तविक शासन का उद्देश्य व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की सुरक्षा करना है और वही शासन वास्तविक हो सकता है जो व्यक्तियों की सहमति द्वारा निर्मित तथा संचालित हो। ऐसे शासन से युक्त राज्य का स्वरूप निषेधात्मक होगा। उसका कार्य केवल एक ऐसे प्रहरी के रूप में विद्यमान रहना है जो व्यक्तियों को अन्य व्यक्तियों के प्राकृतिक अधिकारों की प्राप्ति के मार्ग में बाधा पहुँचाने से रोके। राज्य व्यक्ति के अन्य निजी मामलों में न हस्तक्षेप करेगा और न उनके निमित्त कोई विध्यात्मक कार्य करेगा, क्योंकि उसका ऐसा कार्य व्यक्ति के अपने प्राकृतिक अधिकारों की प्राप्ति के मार्ग में अवरोधकारी सिद्ध हो सकेगा। अतः राज्य के कार्य निषेधात्मक ही हो सकते हैं। लॉक की व्यक्तिगत सम्पत्ति की धारणा भी उसकी कट्टर व्यक्तिवादिता की परिचायक है। वैयक्तिक श्रम द्वारा अर्जित वस्तु को व्यक्ति की निजी सम्पत्ति मानना, व्यक्तिगत सम्पत्ति में व्यक्ति की वैयक्तिकता को विलीन करना है। व्यक्तिवाद का इससे उत्तम दृष्टान्त और नहीं हो सकता।

लॉक की प्राकृतिक कानून की धारणा भी उसके व्यक्तिवाद से संगति रखती है। व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों का स्रोत प्राकृतिक कानून था जो प्राकृतिक स्थिति में विद्यमान था और राजनीतिक समाज में भी विद्यमान रहता है। दोनों स्थितियों में व्यक्तियों के अधिकारों का औचित्य इसी कानून की विवेकपूर्णता पर निर्भर है। अतएव राज्य का विवेक या किसी एक व्यक्ति विशेष का विवेक व्यक्ति के अधिकारों का निर्णायक नहीं हो सकता, जैसा कि संविदा के उपरान्त हॉब्स ने सम्प्रभु को प्रदान किया था। राज्य का कानून प्राकृतिक कानून के विरुद्ध नहीं हो सकता, प्रत्युत् उसे प्राकृतिक कानून के अनुरूप होना चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं होता तो व्यक्तियों को राज्य के विरुद्ध क्रान्ति करके ऐसी सरकार को पदच्युत करने का कानूनी अधिकार

प्राप्त रहता है। यों तो हॉब्स भी क्रान्ति का सीमित अधिकार व्यक्तियों को प्रदान करता है जबकि शासक उनकी जीवन-रक्षा में असफल हो, तथापि हॉब्स के मत से ऐसा करने का अभिप्राय पुनः प्राकृतिक स्थिति के दुःखमय जीवन में प्रत्यावर्तित हो जाने के तुल्य होगा। इसके विपरीत लॉक की धारणा में क्रान्ति का अभिप्राय केवल शासन सत्ताधारियों का परिवर्तन होगा। सम्प्रभु व्यक्ति सम्प्रभु बने रहते हैं, क्रान्ति राज्य की समाप्ति नहीं करती। लॉक का दर्शन सुखवादी सिद्धान्त का प्रतीक है। प्राकृतिक स्थिति के व्यक्ति अधिक सुख की प्राप्ति तथा कष्टों के निवारणार्थ ही राजनीतिक समाज की स्थापना करते हैं। राज्य या सरकार की उपयोगिता इसी बात पर निर्भर करती है कि वह व्यक्तियों के प्राकृतिक अधिकारों की समुचित उपलब्धि कराकर उन्हें और अधिक सुखी जीवन प्रदान करा सके।

लॉक का प्रभाव—लॉक के व्यक्तिवादी विचारों ने 18वीं तथा 19वीं सदी के अल्प व्यक्तिवादी विचारकों द्वारा समर्थित अहस्तक्षेप (laissez-faire) की नीति के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। लॉक की व्यक्तिवादिता से प्रभावित होकर उपयोगितावादियों ने सुखवादी दर्शन को राजनीतिक चिन्तन का आधार बनाया। मुख्य व्यक्तिवादी चिन्तक जे० एस० मिल ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अधिकार को उसी रूप में महत्त्वपूर्ण माना जिस रूप में लॉक ने सम्पत्ति के अधिकार को माना था। 18वीं शताब्दी की फ्रांसीसी तथा अमरीकी स्वतन्त्रता क्रान्तियों के विचारों में लॉक का प्रभाव स्पष्टतः दीखता है। फ्रांसीसी क्रान्ति का एक नारा 'स्वतन्त्रता' था। इस क्रान्ति का एक प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता के हित में निरंकुशतावाद का अन्त करना था। अमरीकी स्वतन्त्रता की क्रान्ति लॉक के सम्पत्ति सम्बन्धी विचारों से प्रभावित थी। अमरीकी प्रवासी यह सहन नहीं कर सके कि उनकी सम्पत्ति पर ब्रिटिश सरकार बिना उसके प्रतिनिधियों की सहमति से कर लगाये। केवल स्वतन्त्रता की क्रान्ति पर नहीं, बल्कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान तथा वहाँ के अनेक राज्यों के संविधानों में भी लॉक की वैधानिकतावादी विचारधाराओं को अपनाया गया था। संविधान-निर्माण, उसमें नागरिकों के मूल अधिकारों को समाविष्ट करने तथा शासन-प्रणाली में शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त को अपनाने में अमरीकी नेता लॉक के विचारों से ही मुख्यतया प्रभावित हुए थे। अमरीकी संविधान निर्माताओं के लिए, लॉक उनके दार्शनिक गुरु के रूप में सिद्ध हुआ। आधुनिक लोकतन्त्रों में विधायिका की सर्वोच्चता, बहुमत का शासन, प्रतिरोध का अधिकार, मर्यादित शासन, राजनीतिक समानता तथा लोक-प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को मान्यता आदि लॉक की विचारधारा की देन हैं। लॉक के द्वारा प्रतिपादित लोक-प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को बाद में रूसो ने अपने सामान्य इच्छा के सिद्धान्त के द्वारा और शासन में शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त को मांटेस्क्यू ने अपनाया। इस प्रकार यद्यपि इंग्लैण्ड के गृह युद्ध की अवधि के दो प्रमुख राजनीतिक चिन्तकों (हॉब्स तथा लॉक) में से दोनों व्यक्तिवादी थे और लॉक की अपेक्षा हॉब्स के विचार कहीं अधिक तर्कसंगत एवं दार्शनिकता की दृष्टि से उच्च कोटि के सिद्ध होते हैं, तथापि दोनों के निष्कर्ष भिन्न हैं। हॉब्स ने गृहयुद्ध की अवधि की अराजकता के निवारण हेतु निरंकुशतावाद का समर्थन किया जो एक स्थायी समाधान सिद्ध नहीं हो सकता था। इसके विपरीत लॉक ने वैधानिकतावाद तथा मर्यादित सरकार के सिद्धान्त का समर्थन किया जो भविष्य के राजनीतिक व्यवहार का सामान्य सिद्धान्त बन गया है।

अतएव जहाँ लॉक हॉब्स से भिन्नता रखता है, भावी पीढ़ियाँ लॉक के साथ हैं।[1]

लॉक के विचारों में असंगतियाँ—यद्यपि लॉक का राजनीतिक दर्शन व्यवहार की दृष्टि से बहुत अधिक प्रभावकारी सिद्ध हुआ है, तथापि उसकी विचारधाराओं में अनेक कमियाँ तथा अस्पष्टताएँ रह गयीं, अत्यन्त सरल रूप की ओर साथ ही समयानुकूल भी थीं, जिनके कारण वे बहुत अधिक लोकप्रिय सिद्ध हुईं। परन्तु जैसा सैबाइन का मत है, वास्तव में वे अत्यन्त जटिलता लिये हुए हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि लॉक ने अपनी विचारधाराओं के प्रतिपादन में अपने काल की उन तमाम राजनीतिक समस्याओं को जो भी उसे दृष्टिगोचर हुईं लिया। परन्तु वह उन्हें युक्तिपूर्ण ढंग से एक समग्र दर्शन का रूप देने में असमर्थ रहा। सैबाइन का निष्कर्ष है कि 'विविध क्षेत्रों में लॉक के दर्शन की सबसे बड़ी दुर्बलता यह रही है कि वह कभी भी प्राथमिक सिद्धान्तों की ओर नहीं आ सका। सम्भवत: वह अपने व्यावहारिक ज्ञान के कारण अनेक विवादास्पद प्रलापों से बच गया। परन्तु इसका परिणाम यह हुआ कि उसने अनेक बातों को बिना उसका पर्याप्त विश्लेषण किये सही मान लिया और उनमें ऐसी प्रस्थापनाओं को जोड़ा जो विश्लेषण के परिणामस्वरूप असंगत सिद्ध हुईं।'[2] उदाहरणार्थ, लॉक ने व्यक्ति के सम्पत्ति के अधिकार को इतना अधिक महत्त्व दिया है कि वह उसे पूर्णतया अलंघ्य अधिकार मान लेता है, परन्तु साथ ही वह सार्वजनिक हित में राज्य द्वारा सम्पत्ति का नियमन किये जाने की धारणा को भी स्वीकार करता है। इसी प्रकार वह व्यक्ति के समस्त प्राकृतिक अधिकारों जिनमें सम्पत्ति का अधिकार भी शामिल है, पर प्राकृतिक कानून की मर्यादा भी आरोपित करता है। दूसरी ओर वह पूर्णतया व्यक्तिवादी है, परन्तु साथ ही वह बहुमत द्वारा संचालित लोकतन्त्र का भी समर्थक है। अर्थात् व्यक्ति के अलंघ्य अधिकारों पर समाज के बहुमत की सहमति द्वारा नियन्त्रण को स्वीकार करता है। लॉक शासन के विधायी अंग की सर्वोच्च सत्ता के सिद्धान्त को मानता है, परन्तु वह कार्यपालिका के परमाधिकारों (prerogatives) को भी स्वीकार करते हुए व्यवस्थापिका की सर्वोच्च शक्ति को कम कर देता है। इसके अतिरिक्त लॉक ने प्राकृतिक स्थिति का जो चित्र प्रस्तुत किया है, उसमे ऐसा आभास होता है कि मानो प्राकृतिक स्थिति का जीवन एक स्वस्थ नागरिक समाज का जीवन था। यदि यह बात थी तो फिर संविदा द्वारा राजनीतिक समाज की स्थापना करने का कोई तार्किक औचित्य सिद्ध नहीं होता। जिस रूप में उसने राज्य की धारणा को प्रस्तुत किया है, उसमें व्यक्ति राज्य के ऊपर आ जाता है और राज्य एक प्रभुत्व सम्पन्न संस्था होने की अपेक्षा एक सीमित उत्तरदायी कम्पनी (limited liability company) की भाँति का रह जाता है। डनिंग के अनुसार, 'लॉक की राजनीतिक विचारधारा उसके ह्विग दलीय व्यावहारिक कार्यकलापों से संगति रखती थी। यह ऐसी विचारधारा थी जो कि उस प्राकृतिक स्थिति का विवेचन करती है जो बुरी नहीं थी और वह इस स्थिति को एक अस्पष्ट शर्तों वाले तथा अस्पष्ट अनुशासन वाले समझौते के द्वारा उस राजनीतिक समाज में

[1] Where Hobbes differs from Locke, posturity is with Locke.

[2] 'The greatest weakness of Locke's philosophy in all its branches was that he never got back to the first principles. His common sense saved him perhaps from many dialectical quibbles, but in the end it means that he took much for granted on inadequate analysis and combined propositions that analysis showed to be incompatible.' —Sabine, *op. cit.*, 443–44.

परिवर्तित करता है जो पूर्णतया अच्छा नहीं है।'[1]

हॉब्स की विचारधारा इन अनेक असंगतियों से मुक्त रही। इसका कारण यह है कि उसने व्यक्ति के अधिकारों को अमान्य करके समाज की सारी सत्ता सम्प्रभु को प्रदान कर दी। परन्तु लॉक इसके लिए तैयार नहीं था। 'उसने स्वतन्त्रता तथा सत्ता दोनों की आवश्यकता को प्रतीत किया और एक ऐसी व्यवस्था स्थापित करने की योजना रखी जिसमें दोनों के मध्य समुचित सन्तुलन बना रहे।' इसी प्रकार उसने व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा बहुमत के शासन के मध्य भी सन्तुलन बनाये रखने की आवश्यकता का अनुभव किया। इनके मध्य संघर्ष की स्थिति में उसने मानव के विवेक को आवश्यक धर्म (attribute) माना। इस प्रकार लॉक ने जिन समस्याओं को लिया उनके समाधान के लिए अन्य कोई उपयुक्त योजना निर्धारित कर सकना सम्भव भी नहीं था। इस दृष्टि से लॉक की विचारधारा को सर्वथा त्रुटिपूर्ण मानना उचित नहीं है।

निस्सन्देह लॉक की विचारधारा में एक बहुत बड़ी कमी उसकी यह धारणा है कि मानव एक-दूसरे से पृथक् प्राणी हैं और वे अपने जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति की रक्षा के लिए ही एक संविदा के द्वारा एक राज्य के रूप में परस्पर आबद्ध होते हैं। सामाजिक संरचना के सम्बन्ध में ऐसा निष्कर्ष निकालना समाज को एक कृत्रिम रूप से निर्मित संगठन सिद्ध करना है, जो सही नहीं है। वास्तव में मानव को सामाजिकता के बन्धन में जोड़ने वाले अनेक अन्य तत्त्व भी हैं जिनमें जातीयता, भौगोलिक स्थिति, धर्म आदि का महत्त्वपूर्ण योगदान है। लॉक अरस्तू तथा टॉमस ऐक्विना की इन धारणाओं को अमान्य करता प्रतीत होता है कि मनुष्य स्वभावतः एक सामाजिक तथा राजनीतिक प्राणी है। लॉक की यह धारणा कि विधायिका को सर्वोच्च सत्ता प्राप्त रहनी चाहिए क्योंकि वही बहुमत का समुचित प्रतिनिधित्व कर सकती है, सदैव तथा सब शासन-व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में सही नहीं बैठती। यह सही है कि लॉक ने 17वीं शताब्दी के राजतन्त्रों के सम्बन्ध में इस धारणा को व्यक्त किया था। परन्तु आज दिन अमरीका में जिस रूप में राष्ट्रपति (कार्यपालिका) का निर्वाचन होता है, और जिस प्रकार कांग्रेस (व्यवस्थापिका) उस देश में कार्य करती है, उससे तो यह स्पष्ट होता है वास्तव में वहाँ व्यवस्थापिका की अपेक्षा कार्यपालिका बहुसंख्यक जनता की सही प्रतिनिधि है। लॉक के विचारों की एक अन्य त्रुटि यह है कि जहाँ एक ओर वह व्यक्ति तथा उसके अधिकारों को प्रमुखता देता है, वहीं वह समाज को भी इन्हीं से युक्त कर देता है। समाज के अन्तर्गत भी वह बहुमत की सर्वोच्चता को स्वीकार करता है। इस प्रकार उसकी धारणा में व्यक्ति की सम्प्रभुता की धारणा समाज के बहुमत की सम्प्रभुता की धारणा में बदल जाती है जो एक असंगतिपूर्ण तर्क है।

लॉक का महत्त्व—परन्तु उपर्युक्त कमियों, असंगतियों तथा अस्पष्टताओं के बावजूद इस बात को अमान्य नहीं किया जा सकता है कि लॉक की राजनीतिक विचारधारा व्यावहारिक राजनीति की दृष्टि से पर्याप्त महत्त्व रखती है। भले ही

[1] 'Locke's political theory corresponded to this Whiggish practical work. It was a theory treating of a state of nature that was not altogether bad, and its transformation into a civil state that was not altogether good, by a contract which was not very precise in its terms or very clear in its sanction.' —Dunning, *op. cit.* 367.

वह विद्वत्ता, दर्शन तथा तर्क की दृष्टि से अपने पूर्ववर्ती चिन्तक हॉब्स की तुलना में नहीं ठहर सकता, तथापि एक सामान्य बुद्धि (commonsense) के विचारक के रूप में उसकी तुलना में उसका समकालीन अन्य कोई विद्वान् नहीं ठहर सकता। उसके अनेक विचार उसके युग की परिस्थितियों के अनुकूल थे। परन्तु उनका महत्त्व भावी पीढ़ियों के विचारों को प्रभावित करने में भी कम सिद्ध नहीं होता। उसने अपने विचारों में अतीत के विविध तत्त्वों का भी सम्मिश्रण किया है इसलिए उसके राजनीतिक दर्शन से उसके बाद की शताब्दियों में विविध विचारधाराओं की उत्पत्ति हुई।' लॉक की विचारधारा ने 18वीं शताब्दी के उपयोगितावाद तथा व्यक्तिवाद के विकास को प्रभावित किया है, परन्तु उसका उद्देश्य केवल व्यक्तिगत सुखवादी नैतिकता या शोषणकारी पूँजीवाद को बढ़ावा देना मात्र नहीं था। जैसा मैक्सी ने कहा है, 'यदि लॉक अपने तत्कालीन मध्यमवर्गीय दृष्टिकोण से युक्त रहते हुए आज जीवित होता तो यह सर्वथा सम्भव है कि वह अपने सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार के सिद्धान्त को कुछ दूसरे ही ढंग से व्यक्त करता। वह व्यक्ति के सम्पत्ति के प्राकृतिक तथा अदेय अधिकार पर अवश्य जोर देता, परन्तु मध्यम वर्ग के तथा अवश्य ही जनसाधारण के भी इस अधिकार की सुरक्षा के लिए इस तथ्य को स्वीकार करता कि सम्पत्ति के निगमात्मक संचय पर सामाजिक नियन्त्रण रहना चाहिए जो कि 17वीं शताब्दी की गैर-औद्योगिक व्यवस्था में आवश्यक नहीं था।'[1] उसकी उदारवादी तथा शान्तिपूर्ण ढंग से सुधारों की नीति, स्वतन्त्रता के प्रति उसका असीम प्रेम, बहुमत की सहमति द्वारा शासन तथा शासन में शक्ति-पृथक्करण की धारणाएँ आज भी लोकतन्त्र के लिए महान् देन सिद्ध हुई हैं। सैबाइन के मत से 'उसकी विचारधारा में यथार्थता, उसकी अगाध नैतिक विश्वासिता, स्वतन्त्रता के प्रति उसका वास्तविक प्रेम, मानव अधिकारों तथा मानव के सम्मान के प्रति प्रेम, जिनके साथ उसकी उदारता तथा सद्भावना शामिल है, इन सबने उसे मध्यमवर्गीय क्रान्ति का आदर्श प्रवक्ता सिद्ध किया था।'[2] लॉक ने विश्व को व्यक्तिवाद का एक क्रमबद्ध, हेतुवादी तथा यथार्थ दर्शन, लोक-प्रभुसत्ता का सिद्धान्त तथा वैधानिक शासन का सिद्धान्त प्रदान किये हैं। यद्यपि व्यक्तिवाद आज अपने नग्न रूप में समाप्त हो चुका है और दुनिया भी आज हॉब्स की निरंकुशतावादी प्रवृत्ति को अधिक अपना रही है, जिसका रूप साम्यवादी, फासीवादी, नाजीवादी, न्यू डील विधायन (New Deal Legislation) तथा समष्टिवादी विचारधाराओं एवं व्यवहारों के अन्तर्गत पाया जाता है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि लॉक की विचारधाराओं का अन्त हो गया है। समाज में व्यक्ति का महत्त्व अब भी बना हुआ है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता के नाम पर राज्य की सत्ता को मर्यादित करने की प्रवृत्ति का विनाश नहीं हुआ है। अतः जैसा मैक्सी का मत है 'हमें लॉक की विचारधाराओं का फिर से अध्ययन करना चाहिए और उन्हें अधिक गहराई के साथ समझना चाहिए। हम उनमें विचार करने के लिए और अधिक सामग्री पायेंगे, जिन्हें हम अपने आधुनिक समाज की आवश्यकता के अनुसार प्रयुक्त कर सकेंगे। तब हमें अनुभव होगा कि लॉक केवल सबलों, समर्थों तथा भाग्यशालियों की ही स्वतन्त्रता की खोज नहीं कर रहा था, अपितु वह

[1] Maxey, *op. cit.*, 262.
[2] Sabine, *op. cit.*, 456.

सामाजिक स्थिति का ध्यान न रखते हुए प्रत्येक व्यक्ति की स्वतन्त्रता की कामना करता था; साथ ही वह शासन को बहुमत के एक ऐसे आवश्यक तथा समुचित अभिकरण के रूप में देखता था जो कि सबकी स्वतन्त्रता का रक्षक हो।'

लॉक को 1688 की इंग्लैण्ड की रक्तहीन क्रान्ति का पृष्ठपोषक (apologist) कहा जाता है। जेम्स प्रथम से लेकर जेम्स द्वितीय तक के शासन की अवधि में इंग्लैण्ड के स्टुअर्ट-वंशीय राजा अपनी निरंकुश सत्ता बनाये रखने में प्रयत्नशील रहे थे। वे राजा के दैवी अधिकार सिद्धान्त की परम्परा पर चलते रहे थे। इसीलिए इंग्लैण्ड में राजसत्ता समर्थकों तथा संसद की सत्ता के समर्थकों के मध्य गृह-युद्ध चलता रहा। ह्विग दल ने राजाओं की निरंकुश सत्ता के ऊपर व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा के हित में संसद की सत्ता की मर्यादा आरोपित करने का अभियान प्रारम्भ किया था। 1688 में जो क्रान्ति हुई थी, वह शान्तिपूर्ण तथा रक्तहीन थी। उसके अनुसार राजा जेम्स द्वितीय को राजसिंहासन त्यागने के लिए विवश होना पड़ा था और उसके स्थान पर उसके दामाद तथा पुत्री को संयुक्त रूप से राजगद्दी पर बैठाया गया था। यह क्रान्ति ह्विग दल के नेतृत्व में की गयी थी और लॉक इस दल का एक सक्रिय कार्यकर्त्ता था। नये राजा तथा रानी ने संसद की सर्वोच्च सत्ता के अधीन अपनी वैधानिक स्थिति को स्वीकार किया था।

इस शान्तिपूर्ण क्रान्ति के औचित्य को दर्शाने में लॉक ने व्यक्ति को स्वभावतः उत्तम सिद्ध किया है, क्योंकि सभ्य तथा सामाजिक मानव ही शान्तिपूर्ण ढंग से ऐसा सत्ता-परिवर्तन कर सकते थे। नये राजा-रानी की प्रतिष्ठापना का आधार संविदागत था। इस प्रकार इंग्लैण्ड में मर्यादित शासन की स्थापना हुई थी। लॉक के विचार यही दर्शाते हैं कि जनता अपनी सर्वोच्च सत्ता के द्वारा उस सरकार को वैधानिक ढंग से बदल सकती है जो जनता के प्राकृतिक अधिकारों को सुरक्षा प्रदान करने में असमर्थ हो और यह उसका कानूनी तथा युक्तिपूर्ण अधिकार है। इस दृष्टि से लॉक का समूचा दर्शन उक्त क्रान्ति का पृष्ठपोषक सिद्ध होता है।

पन्द्रहवाँ अध्याय

राजनीति का समाजशास्त्रीय अध्ययन : मांटेस्क्यू (1689–1755)

मांटेस्क्यू के विचारों की पृष्ठभूमि

फ्रांस का राजनीतिक वातावरण—सैबाइन ने ठीक ही कहा है कि 'राजनीतिक विचारधारा की उत्पत्ति संघर्ष से होती है न कि शून्य में।'[1] सत्रहवीं शताब्दी में इंग्लैण्ड के राजनीतिक गृह-युद्ध की घटनाओं के कारण हॉब्स तथा लॉक के राजनीतिक विचारों का सृजन हुआ। 1688 की रक्तहीन क्रान्ति के पश्चात् इंग्लैण्ड में राजनीतिक वातावरण शान्त हो गया था और अब वहाँ के राजनेता इस क्रान्ति की उपलब्धियों के अन्तर्गत राजनीतिक संस्थाओं की कार्य-प्रणाली में सुधार लाने की दिशा में सचेष्ट होने लगे। अत: राजनीतिक हलचल संघर्ष की न रहकर शान्तिपूर्ण ढंग की हो गयी थी। इसके विपरीत फ्रांस का आन्तरिक राजनीतिक वातावरण दिनोंदिन संघर्षपूर्ण होता आ रहा था। 16वीं शताब्दी से ही वहाँ निरंकुशतन्त्रों के कारण जन-असन्तोष बढ़ता आ रहा था। परम्परागत राजनीतिक संस्थाओं को कुचला जा रहा था। ऐसी स्थिति में 18वीं शताब्दी में फ्रांस की राजनीतिक स्थिति ने वहाँ के चिन्तकों को चिन्तन करने का अवसर दिया।

इंग्लैण्ड में राजनीतिक स्थिरता आ जाने के कारण अब फ्रांस राजनीतिक चिन्तन का स्थल बन गया। वहाँ की शासन-व्यवस्था में निरंकुशतावाद 1589 में हेनरी चतुर्थ के काल से प्रारम्भ हुआ था। हेनरी ने अपने कौशल से अपनी शक्ति को पर्याप्त सुदृढ़ कर लिया था। परन्तु उसके पश्चात् उसके अवयस्क पुत्र लुई 13वें के शासन-काल (1610–43) में रिशल्यू ने (Richelieu), जो उसका संरक्षक एवं वास्तविक शासक था, पूर्णतया मैकियाविलीवाद की नीति अपनायी। उसने ह्यूजनॉटों का दमन किया और राजनीतिक विशेषाधिकार प्राप्त कुलीन वर्ग (nobility) का भी दमन किया। शासन में केन्द्रीकृत व्यवस्था लाने के लिए देहाती क्षेत्रों में मध्यवर्गी नौकरशाही को बढ़ावा दिया। लुई 13वीं की मृत्यु (1643) के समय उसका पुत्र, जो बाद में लुई 14वें के नाम से राजा बना, केवल 5 वर्ष की आयु का था। 1642 में रिशल्यू भी मर चुका था। अत: लुई 14वें की अल्प-वयस्कता के काल (1642–61) में वास्तविक सत्ता कार्डिनल मजारिन (Mazarin) के हाथ में बनी रही। मजारिन भी रिशल्यू की ही भाँति निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी शासक था। उसकी वित्तीय नीतियों ने कुलीन वर्ग तथा सम्पत्तिशाली वर्ग को रुष्ट कर दिया था, यद्यपि मध्यम वर्ग उसका समर्थक बना रहा। 1661 में मजारिन की मृत्यु हो जाने पर लुई ने सारी शासन-सत्ता अपने हाथ में ले ली और 1715 तक वह फ्रांस का

[1] 'Political theory arises out of conflict and not in a vacuum.'—Sabine.

विख्यात स्वेच्छाचारी राजा बना रहा। वह अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी राजा था। उसने अपने शासन-काल में पूर्णतया रिशल्यू तथा मजारिन की नीतियों को अपनाया, कुलीन वर्ग का दमन किया, देहाती क्षेत्रों में जो परम्परागत वंशानुगत न्यायालय (*Parlements*) थे उनकी शक्ति कम की, और एक केन्द्रीकृत नौकरशाही प्रशासनिक व्यवस्था कायम की। वह साम्राज्य-विस्तार के स्वप्न देखता था, सम्भवत. वह समूचे यूरोप में अपना निरंकुश राज्य स्थापित करना चाहता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सेना-विस्तार तथा सुदृढ़ प्रशासनिक-व्यवस्था कायम करने में जो अपार धन व्यय हुआ, उसका भार जनता को सहन करना पड़ा। यद्यपि उसकी साम्राज्य विस्तार की कल्पनाएँ साकार नहीं हो पायीं, तथापि सेना-संचय, शान-शौकत से युक्त दरबार तथा अन्य शासनिक कार्यकलापों में व्यय की गयी धनराशि जनता से करों के रूप में वसूल की गयी। परिणामस्वरूप जनता भारी कर-भार से लद गयी और देश की आर्थिक तथा वित्त-व्यवस्था खराब हो गयी। उसकी धार्मिक असहिष्णुता की नीति के कारण लाखों ह्यूजनॉटो को देश त्यागने को विवश होना पड़ा, जो अपने साथ देश के बौद्धिक तत्त्वों को भी ले गए। इस प्रकार 18वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों तक फ्रांस की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति राजनीतिक स्वेच्छाचारितावाद के कारण पर्याप्त डाँवाडोल हो चुकी थी।

इससे पूर्व फ्रांस का दार्शनिक चिन्तन गणित, अध्यात्म-चिन्तन तथा धर्म-शास्त्रीय चिन्तन के क्षेत्रों तक सीमित रहा था। परन्तु 18वीं शताब्दी में फ्रांसीसी चिन्तन समाजशास्त्रीय तथा राजनीतिक क्षेत्रों की ओर उन्मुख होने लगा। चिन्तन के विविध क्षेत्रों में सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं पर विवेचन होने लगा। जहाँ तक राजनीतिक चिन्तन का सम्बन्ध है, 18वीं शताब्दी में फ्रांस में दो महान् विचारक हुए हैं: पहला, मांटेस्क्यू; तथा दूसरा, रूसो। इस अध्याय में मांटेस्क्यू के विचारों का विवेचन किया जाता है और अगले में रूसो का।

फ्रांस की राजनीतिक विचारधाराओं के प्रेरणा-स्रोत—इस अवधि के राजनीतिक चिन्तन को न्यूटन की वैज्ञानिक खोजों तथा लॉक के राजनीतिक विचारों ने अत्यधिक प्रभावित किया था। न्यूटन की खोजों ने दार्शनिकों को यह बताया कि भौतिक जगत के व्यवहार को नियमित करने वाले प्राकृतिक नियम मानव समाज की गतिविधियों में भी लागू होते हैं। लॉक के विचारों ने निरंकुशतावाद के विरुद्ध व्यक्ति की स्वतन्त्रता के प्राकृतिक अधिकार को राजनीतिक व्यवहार में लागू करके मर्यादित शासन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। अतः निरंकुशतावाद के विरुद्ध विचार करने के लिए उसके विचार फ्रांसीसी निरंकुशवाद के विरोधियों के निमित्त प्रेरणास्पद सिद्ध हुए। सैबाइन के मत से 'लॉक के विचारों को फ्रांसीसी भूमि में उगाने का परिणाम यह हुआ कि उनके फलस्वरूप एक नयी फसल उत्पन्न हुई।'[1] फ्रांस की सामाजिक परिस्थितियाँ तथा समस्याएँ और राष्ट्रीय चरित्र इंग्लैण्ड से कई बातों में भेद रखते थे। अतः वहाँ लॉक के क्रान्तिकारी विचारों का प्रभाव भिन्न प्रकार से पड़ना स्वाभाविक ही था। आरम्भ में, जिस रूप में फ्रांस की राजनीतिक विचार-धाराएँ विकसित हुईं, वे पर्याप्त संयमित (moderate) रूप की थीं। इनका दिग्दर्शन मांटेस्क्यू की रचनाओं से होता है।

[1] 'The planning of Locke's political philosophy in French soil resulted in a novel kind of crop.' —Sabine.

मांटेस्क्यू का जीवन-परिचय

मांटेस्क्यू का जन्म 1689 में फ्रांस के बोर्डो (Bordeaux) नगर के पास एक देहाती स्थान ला-ब्रेड के एक धनी परिवार में हुआ था। उसकी माँ को यह स्थान दहेज में मिला था। मांटेस्क्यू का बचपन का नाम चार्ल्स लुई डी सेकन्ड (Charles Louis de Secondat) था। सात वर्ष की आयु में उसकी माता का देहान्त हो गया था, अतः उसकी दहेज की सम्पत्ति चार्ल्स (मांटेस्क्यू) को मिली। 11 वर्ष की अवस्था में उसे ज्यूली (Juilly) के एक विद्यालय में भेजा गया जहाँ वह 1711 तक अध्ययन करता रहा। तत्पश्चात् उसने बोर्डो के विश्वविद्यालय में कानून का अध्ययन किया। 1715 में उसकी शादी हुई, उसकी पत्नी भी विशाल सम्पत्ति दहेज के रूप में लायी। यद्यपि यह प्रेम-विवाह नहीं था, तथापि दम्पत्ति का वैवाहिक जीवन बहुत सफल रहा। 1716 में उसके चाचा की मृत्यु होने पर उसे और अधिक सम्पत्ति मिली। उसका चाचा बोर्डो के न्यायालय (*Parlement*) का अध्यक्ष था। उस समय यह पद व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में माना जाता था। उसके चाचा ने इस शर्त पर अपनी सम्पत्ति तथा पद चार्ल्स लुई डी सेकन्ड को संक्रमित की थी कि वह अपना नाम मांटेस्क्यू रखे। अतः 1716 से उसका नाम मांटेस्क्यू (Baron de Montesquieu) हो गया। यद्यपि मांटेस्क्यू पर्याप्त धनी हो चुका था और बोर्डो के न्यायालय का अध्यक्ष भी था, तथापि उसकी शिक्षा-दीक्षा उत्तम ढंग से हुई थी और उसकी अध्ययन के प्रति अभिरुचि इतनी अधिक थी कि वह अपना अधिकांश समय अध्ययन कार्य में ही लगाता था। कालान्तर में वह बोर्डो में साइन्स अकादमी का सदस्य बन गया।

प्रारम्भिक रचनाएँ—1721 में मांटेस्क्यू की रचना The Persian Letters प्रकाशित हुई। यद्यपि इस रचना के लेखक का नाम गुप्त रखा था, तथापि यह प्रकट होने लग गया कि इसका लेखक मांटेस्क्यू ही हो सकता है। यह रचना एक प्रकार के उपहास तथा कटाक्ष (satire) के रूप में लिखी गई थी। यह संवाद के रूप में है, जिसके पात्र दो परसियन यात्री हैं। वे यूरोपीय, विशेष रूप से फ्रांस की तत्कालीन सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था के बारे में पत्र लिखते हैं। यद्यपि यह रचना लुई 14वें की मृत्यु के 6 साल बाद प्रकाशित की गई थी, तथापि इसके विचार लुई 14वें के शासन-काल की व्यवस्था को प्रतिबिम्बित करते हैं। यह रचना अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुई और इसके गुप्त लेखक का आभास हो जाने से मांटेस्क्यू की एक लेखक के रूप में पर्याप्त ख्याति हो गई। 1725 में मांटेस्क्यू को पेरिस विश्वविद्यालय की अकादमी का सदस्य बनाया गया जिसके कारण उसे पेरिस में निवास करना आवश्यक हो गया। परन्तु उसे आधा समय देहात में अपनी सम्पत्ति की व्यवस्था करने में लगाना पड़ता था।

अन्तिम रचनाएँ—1728 में मांटेस्क्यू यूरोपीय देशों की यात्रा में गया। इस यात्रा का उद्देश्य विभिन्न देशों की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का अध्ययन करना था। इस यात्रा में मांटेस्क्यू ने अपना अधिकांश समय तथा अभिरुचि इंग्लैण्ड की राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन में लगाई। मांटेस्क्यू इंग्लैण्ड की संस्थाओं से अत्यधिक प्रभावित हुआ। यद्यपि इंग्लैण्ड की शासन संस्थाओं के सम्बन्ध में निकाले गए उसके निष्कर्ष सही नहीं थे, (जैसा आगे विवेचन करेंगे) तथापि मांटेस्क्यू ने अपने विचारों की पुष्टि में उन्हें प्रामाणिक

माना। फ्रांस लौटने पर वह पुन: अपने देहाती निवास में रहने लगा और अध्ययन कार्य में लीन रहा। 1734 में उसने अपनी रचना 'Considerations on the Greatness and Decline of Rome' प्रकाशित की। यह रचना इतिहास के दर्शन का विवेचन करने वाली महत्त्वपूर्ण रचना थी। परन्तु 'पर्सियन लेटर्स' से परिचित अनेक पाठकों ने इसे उसकी तुलना में हीनतर स्थिति का माना। 20 वर्ष तक (1728–48) अथक् परिश्रम करके और पर्याप्त सामग्री इकट्ठी करके 1748 में मांटेस्क्यू ने अपनी अमर रचना 'L' Esprit Des Lois' (The Spirit of the Laws) प्रकाशित की। यद्यपि 'पर्सियन लेटर्स' के विचार तत्कालीन स्वेच्छाचारितावाद की बुराइयों पर व्यंग्यात्मक तथा उपहासास्पद ढंग के कटाक्ष करने वाले थे, और इस दृष्टि से उसके विचार भी मांटेस्क्यू की राजनीतिक विचारधारा को व्यक्त करते हैं, तथापि एक क्रमबद्ध राजनीतिक चिन्तन की दृष्टि से मांटेस्क्यू का ग्रन्थ 'दी स्पिरिट ऑव दि लॉज' एक सुसंबद्ध रचना सिद्ध हुई। इसके विचारों ने स्वेच्छाचारितावाद के समर्थकों को अवश्य अप्रसन्न किया और कैथोलिक चर्च ने तो इसको जब्त भी कर लिया, तथापि सामान्यतया इस रचना का बड़ा स्वागत हुआ। 1755 में मांटेस्क्यू का देहान्त हो गया।

मांटेस्क्यू के विचारों के स्रोत

(1) **मांटेस्क्यू का ब्रिटिश संविधान का अध्ययन**—मांटेस्क्यू के विचार उसके व्यापक भ्रमण तथा प्रत्यक्षदर्शी अनुभवों पर आधारित हैं। यह बहुत समय तक इंग्लैण्ड में रहा था। उसने अनुभव किया कि इंग्लैण्ड की जनता सर्वाधिक मात्रा में राजनीतिक स्वतन्त्रता का उपभोग करती है, जबकि फ्रांस के लोगों को निरंकुश-शाही ने सता रखा है। उसने यह निष्कर्ष निकाला कि ब्रिटिश जनता की ऐसी स्वतन्त्रता का कारण वहाँ शासन के विभिन्न अंगों के मध्य शक्ति-पृथक्करण का होना है। मांटेस्क्यू ब्रिटिश शासन-प्रणाली का महान् प्रशंसक बन गया और उस प्रणाली को फ्रांस में लाने की कामना करने लगा। अत: उसका प्रसिद्ध 'शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त' इसी प्रेरणा के आधार पर विकसित हुआ है।

(2) **उसका रोमन इतिहास का ज्ञान**—मांटेस्क्यू का इतिहास का ज्ञान अत्यन्त व्यापक था। उसने रोमन इतिहास का अध्ययन किया था और उसके आधार पर निष्कर्ष निकाला था कि रोमन साम्राज्य काल में वहाँ के लोग पूर्ण राजनीतिक स्वतन्त्रता का उपभोग करते थे, किन्तु फ्रांस के निवर्तमान राजतन्त्र के अधीन जनता की स्वतन्त्रता नष्ट हो गयी थी। मांटेस्क्यू ने उन कारणों को ऐतिहासिक दृष्टि से खोजने तथा विश्लेषण करने का प्रयास किया है, जिनके द्वारा रोमन साम्राज्य का पतन हुआ था। रोमन इतिहास के द्वारा उसने यह निष्कर्ष निकाला कि रोम में राजा, सीनेट, एसेम्बली तथा ट्रिब्यूनेट शासन के पृथक्-पृथक् अंग थे और उनके अन्तर्गत शक्ति-पृथक्करण विद्यमान था। इसलिए जनता स्वतन्त्रता का उपभोग करती थी। गणतन्त्र तथा साम्राज्य के प्रारम्भिक वर्षों में भी वहाँ ऐसी ही व्यवस्था बनी रही। परन्तु अपने युग के फ्रांस में उसने यह अनुभव किया कि वहाँ परम्परागत संस्थाओं का लोप हो गया था और समस्त शक्तियाँ राजाओं के हाथ में केन्द्रित हो गयी थीं। अत: जनता की स्वतन्त्रता भी छिन चुकी। उसे यह भय था कि निरंकुश राजतन्त्रों ने फ्रांस के परम्परागत संविधान को इस प्रकार कुचल

दिया था कि स्वतन्त्रता सदा के लिए असम्भव प्रतीत होने लगी थी। अतएव उसका चिन्तन केन्द्र उन सांविधानिक स्थितियों का विश्लेपण करना हो गया जिन पर स्वतन्त्रता निर्भर रहती है ताकि वह उन साधनों को प्रस्तुत कर सके जिनके द्वारा फ्रांस के लोग अपनी प्राचीनयुगीन स्वतन्त्रता को पुनः प्राप्त करने में समर्थ हो सकें।

(3) **अरस्तू तथा बोदां का प्रभाव**—मांटेस्क्यू के विचारों का तीसरा स्रोत अरस्तू तथा जीन बोदां के विचार थे। उन्हीं की भाँति उसने भी राजनीतिक समस्याओं के अध्ययन के निमित्त ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक पद्धतियों को अपनाया। दोनों से उसने यह सीखा कि भौगोलिक परिस्थितियाँ भी किसी जन-समूह के राजनीतिक विचारों, आदर्शों तथा आचरणों को प्रभावित करती हैं। इस धारणा को अरस्तू तथा बोदां ने तो सरसरी तौर पर व्यक्त किया था। परन्तु मांटेस्क्यू ने इसे पर्याप्त वैज्ञानिक रूप देने का प्रयास किया। इस प्रकार जीन बोदां का अनुगामी बनने के साथ-साथ उसने इस दृष्टिकोण को वैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय ढग से प्रस्तुत करके राजनीतिक संस्थाओं की कार्य-प्रणाली को अधिक यथार्थवादिता के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

उपर्युक्त तीन प्रमुख स्रोतों के अतिरिक्त मांटेस्क्यू के राजनीतिक विचारों के अन्य स्रोत थे—उसका विधि का ज्ञान, उसकी व्यक्तिगत सामाजिक स्थिति तथा फ्रांस का तत्कालीन राजनीतिक वातावरण जिसके अन्तर्गत निरंकुशतन्त्र ने जनता एवं अभिजात वर्ग को सता रखा था और स्वयं मांटेस्क्यू का भी ऐसा एक भुक्तभोगी अभिजात-वर्गी व्यक्ति होना।

चिन्तन पद्धति

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में मांटेस्क्यू को 18वीं सदी का अरस्तू कहा जाता है। इसका कारण, जैसा ऊपर बताया जा चुका है, यह है कि मांटेस्क्यू ने अपनी विचारधाराओं के प्रतिपादन में मुख्य रूप से अरस्तू की चिन्तन पद्धति को अपनाया है। मांटेस्क्यू का साहित्य तथा इतिहास का अध्ययन बहुत गहन था। साथ ही उसने विभिन्न यूरोपीय देशों का भ्रमण करके वहाँ की सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का प्रत्यक्षदर्शी ज्ञान संचित किया था। वह स्वयं एक विधिवेत्ता भी था। 18वीं सदी के अन्य विचारकों की भाँति उसने कोरी भावना-मूलक तर्कवादी चिन्तन पद्धति का अवलम्बन न करके व्यावहारिक तथा अनुभवमूलक (empirical) पद्धति को अपनाया। अरस्तू की भाँति उसने ऐतिहासिक तथा पर्यवेक्षणात्मक विधियों को अपने चिन्तन का आधार बनाया। उसके निष्कर्ष आगमनात्मक पद्धति पर आधारित हैं। इस प्रकार उसकी विचार-पद्धति पूर्णतया अरस्तूवादी है। मांटेस्क्यू से पूर्व जो महान् चिन्तक हुए हैं उनमें से वह बहुतों से सामीप्य रखता है तो कुछों से बहुत दूर है। परन्तु कुछों की थोड़ी सी बातें अपनाकर शेष बातों का त्याग कर देता है। स्वयं अपने युग की विचार-पद्धति को भी उसने पूर्ण रूप से नहीं अपनाया, क्योंकि उसका युग विवेक तथा तर्कवाद का युग था, जबकि उसकी स्वयं की पद्धति अनुभवमूलक है।

यह प्लेटो तथा हॉब्स की निगमनात्मक तथा कोरी दार्शनिक चिन्तन की पद्धति को नहीं अपनाता। अरस्तू तथा बोदां की पद्धतियों में से उसने बहुत कुछों

को ग्रहण किया। अरस्तू तथा बोदां ने राज्य की उत्पत्ति, उसके स्वरूप, उद्देश्य आदि के सम्बन्ध में चिन्तनात्मक व्याख्या करने में जोर दिया है। परन्तु मांटेस्क्यू इन धारणाओं के चिन्तनात्मक विवेचन करने की अपेक्षा राज्य के कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध में उसके व्यावहारिक पक्षों का विवेचन करता है। इस दृष्टि से वह मैकियाविली से अधिक सामीप्य रखता है। जिस प्रकार मैकियाविली ने अपने युग की राजनीतिक चिन्तन की प्रवृत्तियों से अपने को पृथक् करके व्यावहारिक राजनीति के सिद्धान्तों को व्यक्त किया था, उसी प्रकार मांटेस्क्यू ने भी अपने युग की प्रमुख राजनीतिक चिन्तन की प्रवृत्तियों का परित्याग करके व्यावहारिक राजनीति से सम्बद्ध सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। परन्तु मांटेस्क्यू का चिन्तन क्षेत्र मैकियाविली की अपेक्षा अत्यन्त व्यापक है और उसका उद्देश्य तथा उसके निष्कर्ष मैकियाविली से बिल्कुल भिन्न प्रकृति के हैं। दोनों के समक्ष मौलिक समस्याएँ भिन्न प्रकार की थीं। मांटेस्क्यू का दर्शन धर्म तथा नैतिकता से विहीन नहीं है। प्लेटो तथा प्यूफनडॉर्फ की भाँति वह राजनीति को नैतिकता के अन्तर्गत विलीन नहीं कर देता। इसी प्रकार टॉमस ऐक्विना तथा स्योरेज की भाँति वह राजनीति को धर्म के अधीन नहीं करता। ग्रोशियस तथा लॉक की भाँति उसने प्राकृतिक कानून की विवेकमूलक धारणा को भी अपने चिन्तन का आधार नहीं बनाया।

प्रकृतिवाद तथा यथार्थवाद—संक्षेप में, यदि मांटेस्क्यू अपने पूर्ववर्ती राजनीतिक चिन्तकों में से किसी से सामीप्य रखता है तो वह अरस्तू है। अरस्तू की भाँति वह भी प्रकृतिवादी दार्शनिक है। परन्तु इन दोनों विचारकों की प्रकृतिवादी धारणा है। अरस्तू अपने प्रकृतिवादी दर्शन के आधार पर ही राज्य के स्वरूप, उत्पत्ति, उद्देश्य आदि की व्याख्या करता है और राजनीतिक संस्थाओं के संगठन, कार्यकलाप आदि के सम्बन्ध में उसके निष्कर्ष ऐतिहासिक, तुलनात्मक तथा पर्यवेक्षणात्मक पद्धतियों पर आधारित हैं। मांटेस्क्यू की प्रकृति सम्बन्धी धारणा उसके युग के भौतिक विज्ञान की प्रगति से प्रभावित है। 'उसकी विचारधारा में 'प्रकृति' की धारणा सर्वत्र बार-बार आती है, जो अन्ततोगत्वा इतिहास तथा पर्यवेक्षण द्वारा संस्थाओं का परीक्षण करने की कसौटी है।'[1] अरस्तू तथा बोदां की भाँति मांटेस्क्यू भी उन सब परिस्थितियों (धर्म, जलवायु, भौगोलिक स्थिति, सामाजिक परम्पराओं आदि) का अध्ययन करता है जो राजनीतिक संस्थाओं तथा पद्धतियों को प्रभावित करती हैं। वह प्रभुसत्ता, प्राकृतिक अधिकार, राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में संविदावाद आदि की भावना-मूलक धारणाओं के दार्शनिक विवेचन करने की प्रवृत्ति से दूर रहा है। वह एक यथार्थवादी तथा व्यावहारिक चिन्तक है। अतः उसने अपने दर्शन में कानून, राजनीतिक व्यवहार तथा विधायन के क्षेत्र में एक ऐसी विचारधारा का प्रतिपादन किया है जो विभिन्न शासन-प्रणालियों की आवश्यकताओं के अनुकूल सिद्ध हो सके। इस दृष्टि से मांटेस्क्यू को एक सुधारवादी विचारक कहा जा सकता है, जिसका उद्देश्य शासन तथा न्याय के व्यावहारिक प्रश्नों के समाधान की खोज करना था, न कि केवल सैद्धान्तिक विचारों की अभिव्यक्ति करना।

[1] 'The conception of 'nature', as the criterion by which in the last instance the institutions known through history and observation are to be tested, recurs frequently throughout his work.' —Dunning, *op. cit.*, 429.

मांटेस्क्यू की विचार-पद्धति एक चिकित्सक की सी है जिसके अन्तर्गत 'सार्वभौम विवेक, सार्वभौम सत्य, तथा सार्वभौम नियम' सदृश धारणाओं को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। उसके निष्कर्ष तथ्यगत हैं। मैक्सी का कथन है कि 'मांटेस्क्यू की पद्धति के अनुसार सत्य की खोज के लिए केवल मात्र विशुद्ध विवेक का द्रुत तथा सरल मार्ग उचित नहीं है, अपितु वह अध्यवसाय द्वारा शोध, सावधान विश्लेषण तथा संश्लेषण का दीर्घ तथा कठिन पथ है।'[1] अपनी विचारधाराओं के प्रतिपादन में मांटेस्क्यू ने जिस वैज्ञानिक, यथार्थवादी, पर्यवेक्षणात्मक तथा ऐतिहासिक पद्धति को अपनाया उसके कारण उसे 'आधुनिक ऐतिहासिक शोध का जनक' कहने के साथ-साथ 18वीं सदी का अरस्तू कहना उचित ही है।

राजनीति शास्त्र का समाजशास्त्रीय अध्ययन—मांटेस्क्यू की राजनीतिक विचारधारा, जैसा सेबाइन का मत है, दो मुख्य उद्देश्यों को लेकर चलती है। यद्यपि इन दोनों के मध्य कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है, तथापि उसकी विचारधारा के ये दो पहलू कभी भी एक-दूसरे से पृथक् नहीं रहे। इनमें से प्रथम यह है कि मांटेस्क्यू ने शासन तथा कानून के सम्बन्ध में एक समाजशास्त्रीय विचारधारा को विकसित करने की योजना अपनायी और यह दर्शाया कि इनकी संरचना तथा कार्य-प्रणाली उन परिस्थितियों पर निर्भर रहती है, जिसके अन्तर्गत कोई जन-समूह निवास करता है। यह परिस्थितियाँ उस जन-समूह की भौगोलिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, मानसिक चरित्र, सामाजिक परम्पराएँ आदि हैं, जो उसके राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण करती हैं। अतः किसी जन-समूह की शासन-पद्धति की सुव्यवस्था तथा स्थायित्व के लिए यह आवश्यक है कि वहाँ की शासन-प्रणाली इन समस्त संस्थाओं तथा परिस्थितियों के मध्य पारस्परिक सामंजस्य बनाये रखे। दूसरा पहलू यह था कि मांटेस्क्यू को यह भय था कि फ्रांस में निरंकुश राजतन्त्र ने परम्परागत संविधान को इतना कुचल दिया है कि जनता के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति असम्भव हो गई है। अतः मांटेस्क्यू का उद्देश्य ऐसी सांविधानिक स्थितियों का विश्लेषण करना था, जिनके अन्तर्गत जनता की स्वतन्त्रता बनी रह सकती है और जिसके कार्यान्वयन द्वारा जनता पुनः अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता को प्राप्त करने में समर्थ हो सके। मांटेस्क्यू ने अनुभव किया कि स्वेच्छाचारी राजतन्त्र ने फ्रांस की प्रादेशिक सभाओं, देहाती न्यायालयों (*parlements*), कुलीन वर्गों के विशेषाधिकारों आदि को कुचल कर जनता की परम्परागत संस्थाओं को नष्ट कर दिया है, और कानून की आत्मा नष्ट हो चुकी है। कानून सम्प्रभु का आदेश-मात्र रह गया है। 'पर्सियन लेटर्स' में उसकी विचारधारा फ्रांस की तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का समाजशास्त्रीय विवेचन करती है। और 'स्पिरिट ऑव दि लॉज' में वह स्वेच्छाचारितावाद के विरुद्ध कानून की धारणा पर आधारित सांविधानिक तथा शासनिक-व्यवस्था का विवेचन करता है।

कानून-सिद्धान्त तथा कानून की प्रकृति

मांटेस्क्यू की राजनीतिक विचारधाराओं का सुसम्बद्ध रूप उसके ग्रंथ 'स्पिरिट ऑव दि लॉज' में पाया जाता है। 'कानून की आत्मा', जैसा इस पुस्तक के नाम का

[1] 'The way to truth by his method is not the quick and easy path of pure reason, but the long and tortuous road of tadious investigation, careful analysis and cautious synthesis.' —Maxey, *op. cit.*, 325.

हिन्दी अर्थ है, इस बात का द्योतक है कि मांटेस्क्यू के राजनीतिक विचारों का आधार उसकी कानून सम्बन्धी धारणा है। मांटेस्क्यू की दृष्टि से कानून न तो विवेक का आदेश है जिसका अस्तित्व प्रकृति में हो, और न वही वह ईश्वर या सम्प्रभु का आदेश है, अपितु कानून की धारणा विभिन्न वस्तुओं के अन्तर्गत 'कार्य-कारण सम्बन्ध' के द्वारा ज्ञात होती है। कानून की पारिभाषिक व्याख्या करते हुए ग्रंथ के प्रारम्भ में वह लिखता है कि 'अपने सर्वाधिक सामान्य अर्थ में, कानून वस्तुओं की प्रकृति से निकलने वाले आवश्यक सम्बन्ध हैं।'[1] इस अर्थ में संसार की समस्त वस्तुओं के अपने कानून होते हैं—देवता का अपना कानून है, भौतिक ससार का अपना कानून है, मानव से उच्च विद्वताओं का अपना कानून है, जानवरों का अपना कानून है, मानव का अपना कानून है। मांटेस्क्यू द्वारा दी गई कानून की यह एक परिभाषा अद्भुत है, जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इस सम्पूर्ण विश्व का संचालन तथा नियमन कानून के द्वारा होता है, जिसे प्राकृतिक कानून कहा जा सकता है। यह सृष्टि की सजीव तथा निर्जीव सभी वस्तुओं पर लागू होता है। माटेस्क्यू की इस धारणा की बहुत आलोचना हुई है विशेष रूप से विधिशास्त्रियों के दृष्टिकोण से। प्लेटो से लॉक तक विभिन्न विचारकों ने कानून की परिभाषा विविध दृष्टियों से की थी और दो धारणाएँ अत्यधिक विवाद का विषय बनी रहीं कि कानून विवेक का आदेश है अथवा उच्चतम सत्ता का आदेश है। परन्तु इन विचारकों में से किसी ने भी यह दर्शाने का प्रयास नहीं किया कि कानून वस्तुओं के मध्य के पारस्परिक 'सम्बन्धों' की उपज है। मांटेस्क्यू की धारणा में विश्व की समस्त वस्तुओं के अस्तित्व में उनसे सम्बद्ध कानून के अन्तर्गत कार्य-कारण सम्बन्ध का होना आवश्यक है। अर्थात् जहाँ कहीं भी वस्तुओं के मध्य सम्बन्ध होते हैं, वहाँ उन सम्बन्धों का नियमन करने के लिए कानून होते हैं, क्योंकि सम्पूर्ण विश्व का नियमन कानूनों के द्वारा होता है।

कानून तथा मानव—चूँकि मांटेस्क्यू कानून के सामान्य सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए सामाजिक प्राणी के रूप में मानव संस्थाओं का अध्ययन करता है, अतः उसकी परिभाषा में एक बौद्धिक प्राणी के रूप में मानव की स्थिति अन्य पदार्थों की अपेक्षा भिन्न है, जिसके कारण मानव-सम्बन्धों का स्वरूप अन्य जीवों तथा पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्धों की अपेक्षा अधिक जटिल प्रकृति का होता है। भौतिक प्राणी के रूप में मानवों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन अन्य भौतिक पदार्थों की भाँति स्थिर कानूनों के द्वारा होता है। परन्तु एक बौद्धिक प्राणी होने के नाते मानव के आचरण सदैव एक से नहीं रहते। उसकी विवेक तथा बुद्धि की अपूर्णता उसे प्राकृतिक कानून के अनुसार आचरण करने के लिए असमर्थ सिद्ध कर देती है। वह अपने सृष्टा ईश्वर को भूल जाता है, स्वयं अपने को भूल जाता है और अपने साथियों को भूल जाता है। इसलिए ईश्वर ने उसके लिए धर्म के, दार्शनिकों ने नैतिकता के तथा विधायकों ने विध्यात्मक कानूनों की रचना की है ताकि उनका पालन करते हुए वह ईश्वर के साथ, स्वयं अपने साथ और समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ अपने सम्बन्धों के निर्धारण में अपने को नियन्त्रित कर सके। इन कानूनों की सृष्टि से पूर्व मनुष्य प्राकृतिक स्थिति में रहता था, जबकि उसका नियमन केवल

[1] 'Laws, in their most general sense, are the necessary relations, arising out of the nature of things.'

प्राकृतिक कानून के द्वारा होता था। मांटेस्क्यू के अनुसार प्राकृतिक स्थिति में मनुष्य अत्यन्त निर्बल, भयभीत तथा अशक्त था। वह दूसरे व्यक्तियों से अपने को सदैव हीनतर समझता था। प्राकृतिक स्थिति युद्ध की स्थिति नहीं थी जैसा कि हॉब्स का विचार था। मांटेस्क्यू के मत से संघर्ष की स्थिति तो सामाजिक जीवन में आती है, न कि उससे पूर्व की स्थिति में।[1] प्राकृतिक स्थिति में मानव आचरण का नियमन करने वाले प्राकृतिक कानून थे—(1) शान्ति तथा सुरक्षा की चाह, (2) मानव की अपनी भौतिक आवश्यकताओं को तृप्त करने की तृष्णा, (3) एक दूसरे के साथ मिल-जुलकर रहने की प्रवृत्ति, तथा (4) एक संगठित समाज बनाकर जीवन व्यतीत करने की इच्छा, जो मानव में विवेक तत्त्व (intelligence) होने के कारण होती है। प्राकृतिक स्थिति का ऐसा चित्रण करते हुए मांटेस्क्यू का निष्कर्ष यह है कि समाज तथा राजनीतिक संगठन निर्मित करने के लिए मानव कोई संविदा नहीं करते, जैसा कि हॉब्स तथा लॉक ने दर्शाया था, बल्कि राजनीतिक समाज नैसर्गिक है, जो प्राकृतिक स्थिति में मनुष्य की सामाजिकता तथा संगठित समाज में जीवन व्यतीत करने के प्राकृतिक नियमों पर आधारित है। अतः समाज की स्थापना हो जाने पर जब मनुष्य उसमें प्रवेश करता है तो वह प्राकृतिक स्थिति की समानता की भावना को खो देता है, साथ ही प्राकृतिक स्थिति को अपनी दुर्बलता तथा अशक्तता को खो देता है। परन्तु समाज-निर्माण के बाद भी मनुष्य की झगड़ालू प्रवृत्ति के कारण मानव-मानव के मध्य तथा विविध समूहों के मध्य मानवों के आचरण को नियमित करने की क्षमता प्राकृतिक कानून स्वयं अपने में नहीं पाता। अतएव समाज के इन सम्बन्धों के नियमन के लिए विध्यात्मक कानून की आवश्यकता पड़ती है।

कानूनों के भेद—मानव के विवेक तथा बुद्धि की अपूर्णता तथा सीमितता के कारण सामाजिक जीवन में मनुष्य के संघर्ष तीन प्रकार के होते हैं, जिनके फलस्वरूप तीन प्रकार के विध्यात्मक कानूनों का सृजन होता है। पहला, जब अनेक समाजों की स्थापना हो जाती है तो ये समाज अपने-अपने लाभ की आकांक्षा से एक-दूसरे के साथ संघर्ष करने लगते हैं। अतः इन विभिन्न समाजों (राज्यों) के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सृष्टि होती है। दूसरा, राजनीतिक समाज का नियमन तथा संचालन करने के लिए शासन की आवश्यकता पड़ती है। राज्य में शासक तथा शासितों के मध्य भी संघर्ष की स्थिति आती है। इनके पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करने के लिए राजनीतिक कानून की रचना आवश्यक होती है। तीसरा, समाज में व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य भी संघर्ष होता है। अतः व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करने के लिए नागरिक कानून का निर्माण किया जाता है। इन कानूनों को मांटेस्क्यू विध्यात्मक कानून की श्रेणी में रखता है। यह कानून प्राकृतिक कानून पर आधारित होना चाहिए क्योंकि यह मानव तथा उसके विवेक पर लागू होता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि मानवों के सब कानून सर्वत्र तथा सदैव एक समान हों। प्रत्युत् वे जिस जन-समूह के लिए बनाये जाते हैं, उसकी विविध परिस्थितियों के अनुकूल भी होने चाहिए, ताकि जनता उनके अनुसार जीवन आचरण करने में समर्थ हो सके। इस दृष्टि से

[1] 'As soon as man enters into a state of society he loses the sense of his weakness, equality ceases, and then commences the state of war.'

—Montesquieu.

मांटेस्क्यू की कानून की धारणा कानून को बाहर से थोपी गयी किसी कृत्रिम व्यवस्था को नहीं मानती। प्रत्युत् कानून समग्र रूप में वह व्यवस्था है जो कि सामाजिक सम्बन्धों को एक विशिष्ट तथा अद्वितीय स्वरूप प्रदान करती है। यह समाज की एक मूलभूत आवश्यकता है। विध्यात्मक कानून राज्य की शासन-व्यवस्था, भौगोलिक परिस्थितियों (जलवायु, भूमि प्रदेश, आदि), जनता की राजनीतिक चेतना, धर्म, सामाजिक परम्पराओं तथा संस्थाओं के अनुकूल होना चाहिए। अतः यह आवश्यक नहीं है कि एक राज्य का कोई कानून जो वहाँ के लिए सर्वथा उपयुक्त है, दूसरे राज्य में भी उसी प्रकार उपयुक्त सिद्ध हो।

मांटेस्क्यू ने अपने पूर्ववर्ती विचारकों की कानून के सम्बन्ध की निरपेक्ष धारणाओं का विरोध किया है। उसके विचार से पूर्ववर्ती विचारकों की राजनीतिक धारणाएँ पूर्णतया हठधर्मी सिद्धान्तों के युक्त (dogmatic) थीं। उन्होंने प्राकृतिक अवस्था का काल्पनिक चित्रण स्वेच्छा से करके संविदा के स्वरूप, प्रभुसत्ता के स्वरूप आदि के सम्बन्ध में जो अपनी धारणाएँ बना ली थीं उन्ही के समर्थन तथा पुष्टि के लिए अपनी कानून सम्बन्धी धारणाओं का निर्वचन किया है। मैक्सी ने कहा है, 'मांटेस्क्यू का उद्देश्य सिद्ध करना नहीं था, बल्कि व्याख्या करना था, औचित्य सिद्ध करना या निन्दा करना नही था, बल्कि यह दर्शाना था कि कोई भी बात जैसी है वह किस प्रकार हुई, उसका उद्देश्य आदर्शों का वर्णन करना भी नहीं था, बल्कि उन नैसर्गिक सिद्धान्तों की खोज करना था जो मानव-संस्थाओं की भलाई के लिए प्रयुक्त किये जा सकें।' अतएव मांटेस्क्यू की विचारधारा में निरपेक्षता अथवा भावनामूलकता का कोई स्थान प्राप्त नहीं है। उसकी अभिरुचि उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने में थी, जिनका अनुसरण करते हुए विविध परिस्थितियों के अन्तर्गत विधि-निर्माण का कार्य करने में विधायक का मार्ग-दर्शन किया जा सके। अतः मांटेस्क्यू का उद्देश्य कानूनों की भावना का विवेचन करने का था, न कि उनकी विषय-वस्तु का वर्णन करने का। मांटेस्क्यू ने कहा है कि 'मैं कानूनों का विवेचन करने का उद्देश्य नहीं रखता, बल्कि उनकी भावना का विवेचन करना चाहता हूँ, और चूंकि यह भावना उन विविध सम्बन्धों में विद्यमान रहती है, जो कि कानून के विविध वस्तुओं के साथ होते हैं, अतः मेरा उद्देश्य कानूनों की नैसर्गिक व्यवस्था का अनुसरण करना उतना नहीं है जितना कि उन वस्तुओं तथा उनके सम्बन्धों का निरूपण करना है।'

'स्पिरिट ऑव दी लॉज़' में कानून की ऐसी धारणा को लेकर ही मांटेस्क्यू राज्य की शासन पद्धतियों, जलवायु तथा भूमि, जनता के आचार-व्यवहार तथा परम्पराओं, व्यापार-व्यवसाय, जनसंख्या तथा धर्म के सम्बन्ध में कानून का विवेचन करता है। इस दृष्टि से मांटेस्क्यू की राजनीतिक विचारधारा का केन्द्रीय तत्त्व कानून तथा समाजशास्त्रीय अध्ययन है।

सिद्धान्त तथा स्वरूपों की दृष्टि से शासनों का वर्गीकरण

वर्गीकरण के आधार—शासनों का वर्गीकरण करने मे मांटेस्क्यू अरस्तू की विचार-पद्धति को अपनाता है परन्तु उसका वर्गीकरण अरस्तू की अपेक्षा अधिक परिष्कृत है। इसका कारण स्पष्ट है कि मांटेस्क्यू को अरस्तू की अपेक्षा लगभग 2000 वर्ष से भी अधिक लम्बी अवधि की विभिन्न शासन प्रणालियों के अध्ययन का अवसर

मिला था। अतः उनके आधार पर मांटेस्क्यू ने शासकों के सिद्धान्त एवं व्यवहारों को अधिक व्यापक ढंग से अपने वर्गीकरण का आधार बनाया। अरस्तू के वर्गीकरण का आधार शासन की सर्वोच्च शक्ति धारण करने वाले व्यक्तियों की संख्या तथा शासन का उद्देश्य थे। मांटेस्क्यू का वर्गीकरण शासन की 'प्रकृति' (nature) तथा 'सिद्धान्त' (principle) पर आधारित है। 'प्रकृति' शब्द से मांटेस्क्यू का अभिप्राय राजनीतिक समाज द्वारा अपनाये गये शासन-स्वरूप (rulership) से और 'सिद्धान्त' से उसका अभिप्राय उस शक्ति से है जिसके द्वारा उस समाज की गति का संचालन होता है।[1] इसके अतिरिक्त मांटेस्क्यू विभिन्न प्रकार के शासनों के विकृत होने के कारणों, उसके परिणामों तथा विविध शासनों के लिए वांछित प्रादेशिक स्थितियों का भी विवेचन करता है। मांटेस्क्यू द्वारा किये गये शासनों के वर्गीकरण का ज्ञान निम्नांकित सारणी द्वारा सुगमता से हो जायेगा—

शासन का रूप	प्रकृति	सिद्धान्त	विकृत होने का कारण	विकृत होने पर परिवर्तित रूप	वांछित प्रादेशिक स्थितियां
1. गणतन्त्र (अ) लोकतन्त्र	सम्पूर्ण समाज के हाथ में सम्प्रभु शक्ति का होना	सद्‌गुण (समानता)	समानता की धारणा की इति, समानता की धारणा की अति	राजतन्त्र या कुलीनतन्त्र, अराजकता अथवा स्वेच्छाचारीतन्त्र	छोटे आकार वाले प्रदेश उपयुक्त है परन्तु इनमें स्थायित्व नहीं रह पाता, अतः संघात्मक रूप में इनको संगठित होना उपयुक्त है
(ब) कुलीनतन्त्र	समाज के थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में सम्प्रभु शक्ति का होना	संयम	मनमाने या अनुत्तरदायित्व-पूर्ण ढंग से शासन करना, अथवा कुलीनतन्त्र का वंशानुगत हो जाना	वर्गतन्त्र	
2. राजतन्त्र	निश्चित कानूनों के अनुसार एक व्यक्ति का शासन	सम्मान	भद्र पुरुषों (nobility) की प्रतिष्ठा में कमी आ जाना	स्वेच्छाचारी तन्त्र या लोक-तन्त्र	न बहुत बड़े न बहुत छोटे प्रदेश
3. स्वेच्छाचारीतन्त्र	कानून तथा प्रतिबन्धों से रहित एक व्यक्ति का शासन	भय	ऐसा शासन तत्त्वतः अस्थायी होता है। भय के तत्त्व में कमी आ जाना भी इसे बदल सकता है	किसी भी अन्य रूप में बदल सकता है	विशाल प्रदेश

[1] 'There is this difference between the nature and principles of government, that the former is that by which it is constituted, the latter that by which it is made to act, one is its particular structure, and other the human passions which set it in motion.' —Montesquieu.

उक्त सारणी यह प्रदर्शित करती है कि मांटेस्क्यू शासनों के मुख्यतया तीन रूप गणतन्त्रात्मक, राजतन्त्रात्मक तथा स्वेच्छाचारी-तन्त्रों को मानता है। लोकतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र को उसने गणतन्त्रों के अन्तर्गत माना है। अतः शासन के चार रूप हुए। शासनों के वर्गीकरण में उनके सामान्य तथा विकृत रूपों को वह अरस्तू की की भांति चित्रित नहीं करता। प्रत्युत् उसके अनुसार कोई शासन व्यवस्था अपनी मूल प्रकृति तथा सिद्धान्त से विमुख हो जाने पर विकृत शासन प्रणाली में परिवर्तित हो जाती है। परन्तु अरस्तू की भांति ही वह भी इनके अतिरिक्त किन्हीं अन्य रूपों को भी स्वीकार नहीं करता। इसका अर्थ यह है कि मांटेस्क्यू के मत से किसी भी राज्य में इन चार रूपों में से किसी एक के अतिरिक्त शासन का अन्य कोई रूप नहीं हो सकता। मांटेस्क्यू यह भी नहीं मानता कि शासनों के रूपों का परिवर्तन-चक्र निश्चित होता है। शासन के विकृत होने का कारण उसमें निहित सिद्धान्त में परिवर्तन का होना है, अतः उसी के अनुसार शासन के रूप में भी परिवर्तन आता है।

शासनों के सिद्धान्त

(क) **प्रकृति**—गणतन्त्रात्मक शासन का स्वरूप लोकतन्त्री तब होता है जबकि समूचा जन-समूह शासन संचालन करने वाली संस्थाओं के पदाधिकारियों का निर्वाचन करता है। मांटेस्क्यू के मत से यह आवश्यक नहीं है कि लोकतन्त्र में सम्पूर्ण जनता शासन संचालन की योग्यता रखे, ऐसा सम्भव है। इसमें जनता प्रभुत्व शक्ति का प्रयोग अपने शासकों का निर्वाचन करके अथवा विधायी शक्ति का प्रयोग करके करती है। कुलीनतन्त्र में थोड़े से योग्य व्यक्ति विधायी तथा अधिशासनिक अंगों में कार्य करते है, परन्तु वे जन-कल्याण की भावना से शासन-कार्य करते हैं। राजतन्त्र में राजा कुलीनवर्ग (nobility), परम्परागत संस्थाओं तथा अधीनस्थ प्रशासकों के सहयोग तथा सहायता से स्थापित कानूनों तथा परम्पराओं के अनुसार शासन करता है। इस सम्बन्ध में मांटेस्क्यू फ्रांस की निरंकुश राजतन्त्रों द्वारा समाप्त की गयी प्रादेशिक न्यायपालिकाओं, प्रादेशिक सभाओं तथा शासन में विशेषाधिकार प्राप्त कुलीन वर्गों का सन्दर्भ देते हुए राजतन्त्र के अन्तर्गत उनकी उपयोगिता तथा महत्त्व को दर्शाता है। स्वेच्छाचारीतन्त्र में शासक कानूनों की उपेक्षा करके मनमाने ढंग से अपने वजीरों (Vizirs) की सहायता से शासन करता है। 'वजीर' शब्द का प्रयोग मांटेस्क्यू पौर्वात्य के स्वेच्छाचारी शासनों के सन्दर्भ में करता है। परन्तु उसका लक्ष्य लुई 13वें के वजीर रिशल्यू तथा लुई 14वें के वजीर मजारिन की स्थिति को दर्शाना रहा हो तो कोई सन्देह नहीं हो सकता।

(ख) **सिद्धान्त**—चूंकि गणतन्त्र में समस्त जनता प्रभुत्व शक्ति का प्रयोग करती है, अतः गणतन्त्रात्मक शासन प्रणाली का सिद्धान्त 'सद्गुण' (virtue) है। सद्गुण का अर्थ है शासन सत्ताधारियों में देश-प्रेम, समानता (विशेष रूप से आर्थिक) तथा सार्वजनिक हित की दृष्टि से अपने निजी स्वार्थों को त्यागने की भावना का विद्यमान रहना। यह सिद्धान्त लोकतन्त्र के लिए आवश्यक है। कुलीनतन्त्र का सिद्धान्त सद्गुण है। परन्तु चूंकि इसमें शासन-सत्ता थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में रहती है, अतः इसमें सद्गुण का सिद्धान्त इतनी व्यापक मात्रा में वांछनीय नहीं है, जितना 'संयम' (moderation) का सिद्धान्त है। अतः शासन सत्ता के प्रयोक्ताओं

को चाहिए कि वे लोकहित में स्वयं अपने ऊपर संयम बनाये रखें। कुलीनतन्त्र को राजतन्त्र की अपेक्षा लोकतन्त्र से अधिक सन्निकट होना चाहिए। राजतन्त्रात्मक शासन का सिद्धान्त 'सम्मान' (honour) है। इस शासन-व्यवस्था में कानून सद्‌गुण का स्थान लेता है, जिसका निर्माण राजा या उसके सहकारी भद्र पुरुष करते हैं। वे जनता के हितों का ध्यान रखते हुए अपने सम्मान को बनाये रखना चाहते हैं। इसमें उनकी भी स्वार्थ-सिद्धि होती है, साथ ही उनकी महत्त्वाकांक्षा की तृप्ति भी होती है। राजतन्त्र के इस सिद्धान्त की पुष्टि में मांटेस्क्यू न्यूटन के सिद्धान्त को लागू करते हुए कहता है कि 'विश्व जगत की भाँति इस शासन-व्यवस्था में भी एक ऐसी शक्ति होती है जो केन्द्र से निरन्तर समस्त निकायों को दूर भगाती है, साथ ही इसमें एक ऐसी गुरुत्व शक्ति भी होती है जो उन्हें केन्द्र की ओर आकर्षित करती रहती है। सम्मान का तत्त्व राजनीतिक समाज के समस्त अंगों को गतिशील रखता है, और अपने कार्यों के द्वारा उन्हें एक साथ मिलाये रखता है। इस प्रकार प्रत्येक अपने हित-साधन के बारे में सोचते हुए सार्वजनिक भलाई की ओर प्रवृत्त रहता है, स्वेच्छाचारीतन्त्र का सिद्धान्त 'भय' (fear) है। जनता शासक की आज्ञा का पालन इसीलिए करती है कि उसके पास विरोध का कोई साधन नहीं होता। जनता का शासक के प्रति सविनय आज्ञाकारिता की भावना बनाये रखनी पड़ती है। इसी में शासन की सफलता निर्भर करती है।

(ग) शासनों की प्रकृति तथा सिद्धान्तों के साथ कानून का सम्बन्ध– विविध प्रकार के शासनों की प्रकृति तथा उनमें निहित सिद्धान्तों का विवेचन करने के उपरान्त मांटेस्क्यू प्रत्येक से सम्बन्धित कानूनों का विवेचन करता है। उसका मत है कि किसी भी शासन प्रणाली के स्थायित्व के लिए यह बात आवश्यक है कि उसमें विधायकों को ऐसे कानूनों का निर्माण करना चाहिए जो शासन की प्रकृति तथा सिद्धान्त से संगति रखें। लोकतन्त्र में शासन-सत्ता जनता के हाथ में रहती है और इसका सिद्धान्त सद्‌गुण तथा समानता है। सद्‌गुण का अभिप्राय बौद्धिक गुण की अपेक्षा संवेगात्मक अधिक है। जनता में देश-प्रेम तथा समानता की भावना होनी चाहिए। अतः लोकतन्त्र में शिक्षा का कानून जनता में देश तथा एक-दूसरे के प्रति प्रेम की भावना का विकास करने वाला होना चाहिए। जनता में आर्थिक समानता का होना भी लोकतन्त्र के लिए आवश्यक है। इसलिए विधायकों को कानून के द्वारा ऐसी आर्थिक व्यवस्था बनाये रखने का प्रयत्न करना चाहिए, जिसमें अत्यधिक अमीरी और गरीबी के मध्य सन्तुलन बना रहे। लोकतन्त्र में शासकों का चयन जनता द्वारा पर्ची-प्रणाली (by lots) से होना चाहिए। मतदान की प्रथा गुप्त न होकर खुली होनी चाहिए। डनिंग का कथन है कि समूचे रूप में लोकतन्त्र में दलगत विरोधों (factions) का रहना अच्छा है। यह कम से कम जनता की सार्वजनिक मामलों में अभिरुचि बनाये रखता है, और इस प्रकार वह (शासन के) नष्ट होने के विरुद्ध बाधा का काम करता है।

कुलीनतन्त्र के स्थायित्व का आधार संयम या समभाव है। कुलीन वर्ग, जिनके हाथ में शासन-सत्ता रहती है, सार्वजनिक हित में अपने स्वार्थों का त्याग करें। उन्हें अपनी सम्पत्ति का कर शासन को देना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो सत्ताधारी कुलीन वर्ग वंशानुक्रम तथा ज्येष्ठता के नियम के आधार पर शासनिक पदों पर न बने रहें। जिस प्रकार लोकतन्त्र में विधायी शक्ति जनता के हाथ में

रहती है, उसी प्रकार कुलीनतन्त्र में वह एक प्रवर-परिषद् (select council) के हाथ में रहनी चाहिए। अधिकारियों का चयन निर्वाचन द्वारा तथा मतदान की प्रथा से होना चाहिए। संयम के सिद्धान्त को बनाये रखने के लिए यह भी आवश्यक है कि शासक-वर्ग व्यापार-व्यवसाय के कार्य में लीन न रहें, क्योंकि ऐसा होने पर धन का थोड़े से व्यक्तियों में केन्द्रीकरण होने लगेगा जो कुलीनतन्त्री सिद्धान्त के विरुद्ध है। शासकों का कार्य-काल लम्बी अवधि का नहीं होना चाहिए। मांटेस्क्यू का कथन है कि 'जहाँ तक सम्भव हो कुलीन-वर्गी परिवारों को जनता के साथ अपने को प्रदर्शित करना चाहिए। जो कुलीनतन्त्र लोकतन्त्र से अधिक सामीप्य रखता है वह उतना ही अधिक पूर्णता से युक्त होता है, और जो जितना ही अधिक राजतन्त्र की ओर झुकाव रखता है, उतना ही अधिक अपूर्ण होता है।' अतः कुलीनतन्त्रात्मक शासन में कानून का उद्देश्य एक ओर तो स्वयं शासक वर्ग के मध्य पारस्परिक असमानता को दूर करना तथा दूसरी ओर शासक और शासितों के मध्य असमानता को दूर करना होना चाहिए।

राजतन्त्रात्मक शासन के अन्तर्गत कानून द्वारा 'सम्मान' के सिद्धान्त को बनाये रखने के लिए मध्यवर्ती कुलीन वर्ग (nobility) के विशेषाधिकारों को सुरक्षित रखा जाना चाहिए। यह वर्ग जो राजा को शासन-कार्य में सहायता देता है, वंशानुगत होना चाहिए। राजा तथा राज-दरबार के सम्मान को बनाये रखने के लिए आवश्यक है कि जनता की आर्थिक समृद्धि का ध्यान रखा जाय। कुलीन वर्गों पर कर भार बहुत नहीं होना चाहिए, ताकि वे अपने 'यशस्वी कार्यों' (glorious actions) के द्वारा लोक-कल्याण के कार्यों को सम्पादित कर सकें। राजतन्त्र की उत्तमता के लिए कानून के संरक्षकों के रूप में न्यायालयों का रहना भी आवश्यक है। सम्भवतः मांटेस्क्यू देहाती वंशानुगत न्यायालयों (*parlements*) के बनाये रखने की व्यवस्था के समर्थन में इस तथ्य का उल्लेख करता है।

स्वेच्छाचारी-तन्त्र किसी कानून पर आधारित व्यवस्था नहीं है। यह शासक की स्वेच्छा से संचालित होता है। ऐसे शासन के सम्बन्ध में किसी कानून की व्यवस्था निर्धारित नहीं की जा सकती। इसमें शासक यही कामना करता है कि शिक्षा, संस्कृति, अर्थव्यवस्था आदि सबके द्वारा जनता में शासक के प्रति सदैव आज्ञाकारिता, भय तथा दासत्व की भावना बनी रहे। अपनी शक्ति बनाये रखने के लिए शासक सुदृढ़ सेना रखता है जिसका व्यय-भार जनता पर पड़ता है। चूँकि मांटेस्क्यू इसे एक निकृष्ट रूप की तथा अवांछनीय शासन प्रणाली मानता है, अतः इसके स्थायित्व के निमित्त कोई सुझाव नहीं देता।

(घ) **व्यवहार तथा दण्डात्मक कानून**—विभिन्न शासन-पद्धतियों से सम्बद्ध कानूनों की प्रकृति तथा सिद्धान्तों का विवेचन करने के उपरान्त मांटेस्क्यू व्यवहार तथा दण्डात्मक (civil and criminal) कानून का विवेचन करता है। 'उसका तर्क है कि व्यवहार तथा दण्ड संहिता और दण्ड विधान भी शासन-विशेष की भावना तथा सिद्धान्त के अनुकूल होने चाहिए। इसी प्रकार न्यायिक प्रक्रिया तथा प्रशासन के नियम भी शासन व्यवस्था-विशेष के सिद्धान्तों का अनुगमन करने वाले होने चाहिए। मांटेस्क्यू के विचार से गणतन्त्र तथा राजतन्त्र में व्यवहार तथा दण्डात्मक कानून और न्यायिक प्रशासन के नियम पर्याप्त व्यापक होने चाहिए। स्वेच्छाचारी-तन्त्र में ऐसे कानूनों तथा नियमों की आवश्यकता नहीं रहती। लोकतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र

का सिद्धान्त समभाव है। अतः ऐसे शासनों में व्यवहार तथा दण्ड सम्बन्धी कानूनों और न्याय प्रशासन का उद्देश्य आर्थिक समानता बनाये रखना होना चाहिए। उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए शासन में विलासिता (luxury) को दबाने और मितव्ययिता (frugality) को प्रोत्साहन देने वाले कानून बनाये जाने चाहिए। राजतन्त्र तथा स्वेच्छाचारी-तन्त्र में विलासिता की स्थिति अवश्य बनी रहती है। परन्तु राजतन्त्र की विलासिता स्वतन्त्रता की, और स्वेच्छाचारी-तन्त्र की विलासिता दासता की द्योतक होती है। गणतन्त्र में महिलाओं के सम्बन्ध में विवाह, सम्पत्ति, दहेज तथा यौन-सम्बन्धों के कानून पर्याप्त नियन्त्रणात्मक होने चाहिए, ताकि विलासिता को रोका जा सके। परन्तु राजतन्त्र में महिलाओं के सम्बन्ध में सम्पत्ति तथा अन्य आचरणों पर इतना प्रतिबन्ध आवश्यक नहीं है। स्वेच्छाचारी-तन्त्र में महिलाएँ पूर्ण दासता की स्थिति में रहती हैं। विभिन्न शासन प्रणालियों के कार्यान्वयन में बहुधा अत्यधिक कानूनों, नियमों तथा विनियमों का होना और न्यायिक प्रक्रिया की जटिलता को स्वतन्त्रता के हक में अवांछनीय माना जाता है। परन्तु मांटेस्क्यू राजतन्त्र तथा गणतन्त्र में इनको वांछनीय मानता है। उसकी धारणा यह है कि 'कानूनों अथवा विधि के शासन पर आधारित सरकार को कानूनों की आवश्यकता होती है, और समय के साथ-साथ उनकी संख्या तथा जटिलता भी बढ़ती जायेगी। ऐसी व्यवस्था के लिए किसी भी प्रकार के असन्तोष, रोष तथा असफलता को भी सहन करना पड़ेगा।'[1]

(ङ) **शासनों की विकृति तथा परिवर्तन**— मांटेस्क्यू के मत से किसी शासन की भ्रष्टता (corruption) 'उसमें निहित सिद्धान्त की विकृति से आरम्भ होती है।' कुछ ग्रीक तथा रोमन विचारकों की भाँति मांटेस्क्यू न तो शासनों के परिवर्तन-चक्र को आवश्यक मानता है और न वह अरस्तू तथा बोदां की भाँति क्रान्ति के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। मांटेस्क्यू का मत है कि समानता का गुण गणतन्त्री लोकतन्त्र का सिद्धान्त है। यदि लोकतन्त्री शासन के अन्तर्गत समानता की धारणा अतिवादी हो जाती है, तो वह स्वच्छन्दता में परिणत हो जाती है। इसी प्रकार यदि समानता को दबाया जाता है, तो उसमें असन्तोष तथा अराजकता आने लगती है। अतः समानता के सिद्धान्त की 'अति' या 'इति' दोनों बातें लोकतन्त्र की विकृति के लक्षण हैं। लोकतन्त्र के स्थायित्व के लिए आवश्यक है कि समानता की भावना बनी रहे, जिसमें योग्यता तथा क्षमता रखने वाले व्यक्ति शासन-सत्ता का संचालन अपने हाथ में लेते हुए न केवल शासित जनता के हितों का ध्यान ही रखेंगे, बल्कि उन्हें समानता की भावना से भी मानेंगे। मांटेस्क्यू की यह धारणा एक प्रकार से प्राकृतिक कुलीनतन्त्र को मानने की है जिसके अन्तर्गत यह माना जाता है कि 'वास्तव में सभी सरकारें अन्ततोगत्वा कुलीनतन्त्रात्मक होती हैं।' परन्तु मांटेस्क्यू के सिद्धान्त में लोकतन्त्र के अन्तर्गत कानून के समक्ष शासक तथा शासितों में समानता की धारणा है। राजतन्त्र का सिद्धान्त सम्मान है। जिस राजतन्त्र में राजा कुलीन वर्गों के

[1] 'It should be understood that a government of laws, a government based upon the rule of law, requires laws, and they will increase in number and complexity as time goes on. The annoyances and frustrations, even the failures constitute the price that must be paid for this kind of system.' —Harmon, *op. cit.*, 278.

परम्परागत राजनीतिक अधिकारों का अतिक्रमण करता है, वहाँ सम्मान का सिद्धान्त समाप्त हो जाता है और शासन स्वेच्छाचारीतन्त्र में बदल जाता है। मांटेस्क्यू के मत से स्वेच्छाचारीतन्त्र स्वयं ही विकृत शासन है। इसके स्थायित्व की शर्त यह है कि बाह्य परिस्थितियाँ, जलवायु, भौगोलिक स्थिति, धर्म, परम्पराओं आदि में स्थायित्व बना रहे। जनता सदैव शासक के भय की दासता में बनी रहे, अन्यथा यह शासन-व्यवस्था भी परिवर्तित हो जाएगी।

(च) **भौगोलिक परिस्थितियाँ तथा शासनों के रूप**—मांटेस्क्यू के मत से देश का आकार भी शासन-प्रणाली के स्वरूप पर प्रभाव डालता है। गणतन्त्री शासन-प्रणाली छोटे आकार के देशों में सम्भव है। यदि राज्य का आकार तथा जनसंख्या बढ़ती है तो वह लोकतन्त्र के उपयुक्त नहीं रहता। छोटे-छोटे राज्य आन्तरिक तथा बाहरी शक्तियों के प्रभाव से लोकतन्त्री स्वरूप तथा सिद्धान्त को बनाये रखने में असमर्थ सिद्ध होने लगें तो उनके स्थायित्व के लिए मांटेस्क्यू संघात्मक व्यवस्था का सुझाव देता है। मांटेस्क्यू के संघ सिद्धान्त ने तत्कालीन अमरीकी राज्यों की विचार-धारा को प्रभावित किया था। स्वतन्त्रता की घोषणा कर देने पर अमरीकी राज्यों के संविधान-निर्माण की अवधि में 'फिडरेलिस्ट' (federalist) साहित्य तथा दल उससे बहुत प्रभावित हुए थे। संयुक्त राज्य अमरीका के लोकतन्त्री गणतन्त्र का संविधान इन्हीं के आधार पर निर्मित हुआ था। राजतन्त्र के लिए राज्य का प्रदेश संयमित आकार (moderate size) का होना चाहिए, अर्थात् न बहुत बड़ा, न बहुत छोटा। स्वेच्छाचारीतन्त्र विशाल आकार के देशों के लिए उपयुक्त होता है जिसमें केन्द्रीकृत नौकरशाही शासन का संचालन करती है। मांटेस्क्यू के कुछ निष्कर्ष यह भी हैं कि ठण्डे जलवायु के देशों में लोग स्वतन्त्रता-प्रेमी, चुस्त तथा कार्य-कुशल होते हैं, अत. वहाँ लोकतन्त्री शासन उपयुक्त होता है। गर्म जलवायु वाले विशाल राज्यों में जनता का आलसी स्वभाव स्वेच्छाचारी शासन के उपयुक्त सिद्ध होता है।

स्वतन्त्रता तथा शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त

राजनीतिक दर्शन को मांटेस्क्यू की सबसे महत्त्वपूर्ण देन उसकी स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा है। मांटेस्क्यू के इस विवेचन में तीन मुख्य बातें हैं—(1) मांटेस्क्यू राजनीतिक (political) तथा वैयक्तिक (personal or civil) स्वतन्त्रता के मध्य भेद करता है। (2) वह स्वतन्त्रता की धारणा के सम्बन्ध में प्रभुसत्ता की धारणा का कोई विवेचन नहीं करता, जैसा कि बोदां तथा हॉब्स ने किया था, न वह स्वतन्त्रता की धारणा को प्राकृतिक कानून तथा अधिकार की धारणा के रूप में लेकर व्यक्त करता है, जैसा कि लॉक आदि ने किया था। (3) वह राजनीतिक स्वतन्त्रता की धारणा के आधार पर शासन के तीन अंगों कार्यपालिका, व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका को मान्य करता है। उसकी धारणा यह है कि व्यक्ति की राजनीतिक स्वतन्त्रता का संरक्षण तभी हो सकता है जब शासन के तीन अंगों के मध्य 'शक्ति-पृथक्करण तथा प्रतिरोध और सन्तुलन' की व्यवस्था बनी रहे।

स्वतन्त्रता की व्याख्या—'स्वतन्त्रता' की व्याख्या करते हुए मांटेस्क्यू स्वतन्त्रता तथा स्वाधीनता के मध्य स्पष्ट भेद करता है। उसके अनुसार, 'स्वतन्त्रता उन कार्यों को करने का अधिकार है, जिनकी अनुमति कानून देते हैं और यदि कोई नागरिक ऐसे कार्यों को कर सकता हो जिनकी अनुमति कानून नहीं देते हैं तो वह ;

व्यक्ति स्वतन्त्रता-प्राप्त नहीं रह जायेगा, क्योंकि उसके सभी अन्य साथियों को भी ऐसी शक्ति प्राप्त रहेगी।' मांटेस्क्यू का कहना है कि 'स्वतन्त्रता' शब्द का अर्थ लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से करते आये हैं, यथा अपने शासकों को चुनने तथा पदच्युत करने की शक्ति रखना, शस्त्र धारण करने तथा विप्लव करने की शक्ति रखना, अपने बनाये हुए कानूनों के अनुसार शासन संचालित कराने अथवा किसी विदेशी शासक द्वारा शासित होने के अधिकार को प्राप्त करना आदि। परन्तु मांटेस्क्यू की दृष्टि में 'कानून द्वारा निदेशित शासनों के अन्तर्गत स्वतन्त्रता ऐसी शक्ति में निहित मानी जाती है कि हम वही करें जैसी कि हमें इच्छा करनी चाहिए और हमें उस कार्य को करने के लिए विवश न होना पड़े जिसके लिए हमें इच्छा नहीं करनी चाहिए।'[1] अतः राजनीतिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय यह है कि राजनीतिक समाज के अन्तर्गत प्रत्येक नागरिक अपनी सुरक्षा के सम्बन्ध में आश्वस्त रहे और शासन संगठन का निर्माण इस प्रकार किया जाय जिसमें किसी व्यक्ति को एक-दूसरे का भय न बना रहे। स्वतन्त्रता की व्याख्या करने में मांटेस्क्यू का उद्देश्य उन सांविधानिक व्यवस्थाओं का विवेचन करना है जो व्यक्ति के लिए पर्याप्त स्वतन्त्रता उपलब्ध करा सकें, साथ ही यह भी सुनिश्चित हो जाय कि शासन की सत्ता आवश्यक है। स्वतन्त्रता न तो अनुमति-पत्र है, न अराजकता (Liberty is neither licence nor anarchy)। बल्कि वह कानून द्वारा व्यक्ति तथा सरकार दोनों को मर्यादित करती है, साथ ही दोनों के महत्त्व को भी सुनिश्चित करती है। मांटेस्क्यू इस तथ्य का समर्थक था कि 'सब सत्ताएँ भ्रष्ट होती हैं और निरंकुश सत्ता निरपेक्ष रूप से भ्रष्ट होती है।'[2] इस दृष्टि से राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक है कि शासन-सत्ता धारण करने वालों की शक्ति मर्यादित रहे।

शासन के अंग तथा शक्ति-पृथक्करण—शासन को संयमित बनाये रखना आवश्यक है। इसलिए शासन में 'एक शक्ति को दूसरी के ऊपर अवरोध का कार्य करना चाहिए' (Power should be a check to power)। जब तक सांविधानिक पद्धति इस प्रकार व्यवस्थित नहीं होगी कि एक शक्ति दूसरी के ऊपर अवरोध का कार्य करती रहे तब तक नागरिक को वास्तविक स्वतन्त्रता की प्राप्ति नहीं होगी। मांटेस्क्यू ने इंग्लैण्ड की राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला था कि इंग्लैण्ड की जनता वास्तविक राजनीतिक स्वतन्त्रता का उपभोग करती है। इसका मुख्य कारण मांटेस्क्यू के मत से यह था कि इंग्लैण्ड में शासन की विविध शक्तियों के मध्य पृथक्करण है और वे एक-दूसरी के ऊपर सत्ता का दुरुपयोग करने की स्थिति में अवरोध का कार्य करती हैं। मांटेस्क्यू से पूर्व लॉक ने शासन के दो प्रमुख अंगों—व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका—के मध्य शक्ति-पृथक्करण तथा एक-दूसरे से स्वतन्त्र रहने की धारणा दर्शायी थी। लॉक न्यायपालिका विभाग को शासन का पृथक् अंग न मानकर उसे कार्यपालिका का ही अंग मानता था। मांटेस्क्यू सबसे पहला विचारक है जिसने शासन के तीन अंगों—व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा

[1] 'In governments, directed by laws, liberty can consist only in the power of doing what we ought to will, and in not being constrained to do what we ought not to will.'—Montesquieu.

[2] 'Power corrupts and absolute power corrupts absolutely.' To this Montesquieu says, 'Constant experience shows us that every man invested with power is apt to abuse it, and to carry this authority as far as it will go.'

न्यायपालिका—को बताया और उसकी यह धारणा आज तक मानी जाती रही है। मांटेस्क्यू के अनुसार प्रत्येक सरकार में तीन प्रकार की शक्तियाँ होती हैं। कानून निर्माण करने की शक्ति (व्यवस्थापिका), उन कानूनों को लागू करने वाली शक्ति (कार्यपालिका), तथा वह शक्ति जो कानून का उल्लंघन करने वाले अपराधियों को दण्ड देती है तथा व्यक्तियों के मध्य उत्पन्न होने वाले विवादों को कानून के अनुसार निर्णीत करती है, न्यायपालिका कहलाती है। मांटेस्क्यू का मत है कि इन तीनों शक्तियों में से प्रत्येक शक्ति का प्रयोग करने वाली संस्था या व्यक्ति एक-दूसरे से पृथक् तथा स्वतन्त्र होने चाहिए। यदि यह तीनों शक्तियाँ एक ही व्यक्ति या निकाय के द्वारा प्रयुक्त होगी तो उस व्यवस्था में राजनीतिक स्वतन्त्रता की कल्पना नहीं की जा सकती। इस धारणा को मांटेस्क्यू ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

'जब विधायी तथा अधिशासनिक शक्तियाँ एक ही व्यक्ति या एक ही प्रशासकों के निकाय में संयुक्त रहती हैं तो स्वतन्त्रता का अस्तित्व नहीं रह सकता, क्योंकि उसमें यह सम्भावना बनी रह सकती है कि वही राजा या परिषद् मनमाने कानूनों का निर्माण करके उन्हें मनमाने ढंग से लागू करेंगे। पुनश्च, यदि न्यायिक शक्ति विधायी तथा अधिशासनिक शक्ति से पृथक् नहीं की जायेगी तो स्वतन्त्रता का अस्तित्व नहीं रहेगा। यदि इसे विधायी शक्ति से संयुक्त किया जायेगा तो प्रजाजन के जीवन तथा स्वतन्त्रता पर मनमाना नियन्त्रण लग जायेगा; क्योंकि न्यायाधीश बल-प्रयोग तथा दमनकारी प्रवृत्ति का प्रयोग करेंगे। यदि वही व्यक्ति या संस्था चाहे वे कुलीन-वर्ग के हों या जनता के, इन तीन शक्तियों, अर्थात् विधि-निर्माण, उन्हें कार्यान्वित करने तथा व्यक्तियों के विवादों का निर्णय करने, को प्रयुक्त करने लगें तो सब काम-तमाम हो जायेगा।'

शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप—मांटेस्क्यू की यह धारणा भ्रामक तथा अशुद्ध है कि इंग्लैण्ड की शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत शासन के अंगों के मध्य इस प्रकार का शक्ति-पृथक्करण था जिसके कारण वहाँ की जनता स्वतन्त्रता का उपभोग करती थी। वास्तव में मांटेस्क्यू ब्रिटिश जनता की उस भावना से प्रभावित हुआ था, जिसके अन्तर्गत इन तीनों अंगों के मध्य शक्ति-पृथक्करण किये जाने की चाह थी। परन्तु वास्तव में इन अंगों के मध्य इंग्लैण्ड में सावयविक पृथक्करण नहीं था, न आज तक हो पाया है। निस्सन्देह, चाहे मांटेस्क्यू की विचारधारा का स्रोत गलत रहा हो, पर सैद्धान्तिक दृष्टि से उसने शक्ति-पृथक्करण तथा अवरोध और सन्तुलन के सिद्धान्त का समुचित निरूपण करके अमरीकी संविधान-निर्माताओं को प्रभावित किया। वहाँ की शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत मांटेस्क्यू के सिद्धान्त की वास्तविक कार्यान्विति देखने को मिलती है।

(1) **व्यवस्थापिका**—मांटेस्क्यू का मत है कि व्यवस्थापिका शक्ति सम्पूर्ण जनता के हाथ में रहनी चाहिए। परन्तु चूँकि यह व्यवहार में सम्भव नहीं है क्योंकि राज्यों का प्रादेशिक क्षेत्र बहुत विशाल है, अतः जनता इस दायित्व को अपने प्रतिनिधियों की सभा को सौंप सकती है। व्यवस्थापिका संगठन के सम्बन्ध में मांटेस्क्यू द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका का समर्थक है, जिनमें से एक सदन विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों से जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों का होना चाहिए। इसके निमित्त मताधिकार केवल ऐसे व्यक्तियों को प्राप्त होना चाहिए जिनमें 'स्वयं अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति करने की क्षमता हो।' दूसरा सदन वंशानुगत कुलीनतन्त्री तत्वों द्वारा

निर्मित होना चाहिए। इस सम्बन्ध में भी मांटेस्क्यू के ऊपर इंग्लैण्ड की संसदीय व्यवस्था का प्रभाव स्पष्ट है, जहाँ कि लार्ड सभा वंशानुगत तत्त्वों से और कॉमन सभा प्रतिनिध्यात्मक तत्त्वों से युक्त थी। मांटेस्क्यू इस व्यवस्था को जनसाधारण तथा कुलीन वर्गों के हितों के लिए परस्पर अवरोध के रूप में सिद्ध होने की दृष्टि से तथा दोनों के हितों के संरक्षण के लिए भी उचित मानता है। वह स्वयं कुलीनवर्गी व्यक्ति था और फ्रांस के निरंकुशतन्त्र के अन्तर्गत कुलीनतन्त्री संस्थाओं के दमन से उसे बड़ी चिन्ता थी। अत: उनके संरक्षण के लिए भी वह ऐसी व्यवस्था को आवश्यक समझता है।

(2) **कार्यपालिका**---मांटेस्क्यू की दृष्टि में कार्यपालिका शक्ति राजा में विहित होनी चाहिए। व्यवस्थापिका के हाथ में कार्यपालिका शक्ति का रहना स्वतन्त्रता के हित में अवांछनीय है। कार्यपालिका को व्यवस्थापिका के अधिवेशन आहूत करने की शक्ति प्राप्त होनी चाहिए। दीर्घ संसदें अवांछनीय हैं। अत: निम्न सदन के लिए समय-समय पर निर्वाचन की व्यवस्था होनी चाहिए। व्यवस्थापिका के हाथ में कार्यपालिका को पदच्युत करने की शक्ति नहीं होनी चाहिए। यह सन्तुलन तथा अवरोध के सिद्धान्त के लिए उचित नहीं है। कार्यपालिका के हाथ में व्यवस्थापिका के प्रस्तावों पर निषेधाधिकार प्रयुक्त करने की शक्ति होनी चाहिए, परन्तु उसे विधि-निर्माण के कार्य में प्रत्यक्षत: भाग लेने का अधिकार नहीं होना चाहिए। राजा के मन्त्रियों द्वारा अनुचित ढंग से अपनी शक्ति प्रयुक्त करने पर उनकी जाँच करने का अधिकार व्यवस्थापिका को प्राप्त होना चाहिए। उसे कार्यपालिका को महाभियोग द्वारा ही पदच्युत कर सकने की शक्ति प्राप्त रहे। यह उसकी असाधारण प्रकृति की न्यायिक शक्ति हो। राजा (प्रधान कार्यपालिका) के मन्त्री व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी हों। इस प्रकार शासन के इन दो अंगों के मध्य अवरोध तथा सन्तुलन का सिद्धान्त लागू किया जाना चाहिए।

(3) **न्यायपालिका**---यद्यपि विधि-निर्माण तथा उनके कार्यान्वियन की शक्ति की अपेक्षा विधि से सम्बद्ध विवादों के परीक्षण करने तथा उन पर निर्णय देने का कार्य लघुतर प्रकृति का है, तथापि मांटेस्क्यू का मत है कि इस शक्ति का प्रयोग करने वाला शासन का अंग भी अन्य दो अंगों से पृथक् तथा स्वतन्त्र होना चाहिए। मांटेस्क्यू की यह धारणा तत्कालीन ब्रिटिश धारणा से प्रभावित थी कि राजा तथा संसद के मध्य विवादों का निर्णय करने वाली न्यायपालिका के ऊपर राजा का दबाव नहीं होना चाहिए। मांटेस्क्यू की न्यायपालिका को कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका से पृथक् तथा स्वतन्त्र करने की धारणा इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है कि न्याय-पालिका ही ऐसी शक्ति है जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव व्यक्ति पर होता है, जबकि कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका का सम्बन्ध राज्य की सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति तथा कार्यान्वियन से होता है। अतएव न्यायपालिका स्थायी संस्था नहीं होनी चाहिए, अपितु वह विधि द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार निश्चित समय पर बैठकें किया करे। परन्तु मांटेस्क्यू न्यायपालिका के पृथक्करण तथा स्वतन्त्रता पर कुछ मर्यादाएँ भी आरोपित करता है, यथा जनसाधारण से लिये गये न्यायाधीशों से निर्मित न्यायपालिका को कुलीन वर्गों के मामलों को निर्णीत करने की शक्ति प्राप्त नहीं होनी चाहिए। इस कार्य के लिए उन्हीं की सभा से लिये गये न्यायाधीशों की संस्था होनी चाहिए। छोटे न्यायालयों द्वारा दिये गये निर्णयों के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार भी इस

न्यायालय को प्राप्त रहना चाहिए। यह धारणा इंग्लैण्ड के सर्वोच्च न्यायालय (प्रिवी कौन्सिल की न्यायिक समिति) के अधिकारों की भाँति की है। महाभियोग के मामलों को निर्णीत करने की शक्ति व्यवस्थापिका के हाथ में होनी चाहिए, न कि न्यायपालिका के हाथ में। इससे मांटेस्क्यू का अभिप्राय उच्च सदन से था जोकि निम्न सदन द्वारा प्रस्तावित महाभियोगों के मामलों में निर्णय लेगा।

आलोचना—मांटेस्क्यू ने 'शक्ति-पृथक्करण' तथा 'अवरोध और सन्तुलन' के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने में दो मुख्य बातों से प्रेरणा ली थी : (1) फ्रांस में निरंकुशतन्त्र का अस्तित्व, तथा (2) उसका इंग्लैण्ड की शासन-प्रणाली का अध्ययन। मांटेस्क्यू की उक्त सिद्धान्तों की व्याख्या शासन संगठन के कार्यान्वित को इस रूप में ढालने की द्योतक है जिसके अनुसार शासन की शक्तियों का केन्द्रीकरण रोका जा सके। यदि तीनों शक्तियाँ एक ही स्थान में केन्द्रित हो जाती हैं तो वह एक असीम शक्ति के रूप में निरंकुश और भ्रष्ट हो जाती है। फ्रांस में क्रान्ति से पूर्व (1789 से पूर्व) यही स्थिति थी। मांटेस्क्यू का निष्कर्ष यह था कि ऐसी असीम सत्ता स्वतन्त्रता का निषेध है।

अतएव यद्यपि मांटेस्क्यू शासन की तीनों शक्तियों के पृथक्करण एवं उन्हें एक-दूसरी से स्वतन्त्र रहने की धारणा को व्यक्त करता है और साथ ही अवरोध तथा सन्तुलन के सिद्धान्त द्वारा उन्हें नियन्त्रित एवं उनके मध्य सामंजस्य स्थापित करने की धारणा भी व्यक्त करता है, तथापि उसका यह सिद्धान्त अपूर्ण ही सिद्ध होता है। वह तीनों शक्तियों के पृथक्करण की बात तो कहता है, परन्तु तीनों को समानता की स्थिति में नहीं रखता। वह निश्चित ही व्यवस्थापिका को सर्वोच्चता की स्थिति प्रदान करता है। इसका कारण यह था कि मांटेस्क्यू के इस सिद्धान्त का स्रोत इंग्लैण्ड की शासन-प्रणाली था। उसके काल में इंग्लैण्ड में व्यवस्थापिका (संसद) की सर्वोच्चता की धारणा सुस्थापित हो चुकी थी। परन्तु यह भी स्मरणीय है कि सही अर्थ में इंग्लैण्ड में न तो मांटेस्क्यू के काल से पूर्व और न ही इसके पश्चात् कभी भी शक्ति-पृथक्करण विद्यमान रहा है। वहाँ की व्यवस्था में कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के मध्य शक्ति-पृथक्करण न होकर शक्ति-समागम का व्यवहार विद्यमान है। यहाँ तक कि लार्डसभा जो व्यवस्थापिका का एक अभिन्न अंग है, सर्वोच्च न्यायपालिका के रूप में कार्य करती है। आज दिन वहाँ की स्थिति यह है कि अब व्यवस्थापिका की सर्वोच्चता का स्थान 'मन्त्रिमण्डल के अधिनायकवाद' ने ले लिया है। व्यक्ति की राजनीतिक एवं वैयक्तिक स्वतन्त्रता के प्रति मांटेस्क्यू के प्रेम से इनकार नहीं किया जा सकता। परन्तु यदि उसने इसकी प्रेरणा इंग्लैण्ड से प्राप्त की, तो मांटेस्क्यू की यह भूल थी कि वहाँ जनता स्वतन्त्रता का उपभोग शक्ति-पृथक्करण के अस्तित्व के कारण करती थी। वास्तव में स्वतन्त्रता के प्रति प्रेम इंग्लैण्ड की जनता का परम्परागत आचरण है।

निस्सन्देह मांटेस्क्यू के इस सिद्धान्त ने संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान निर्माताओं को प्रेरणा दी थी, और उन्होंने अपनी सांविधानिक व्यवस्था में इसे अपनाया है। परन्तु इसका व्यवहार भी मांटेस्क्यू की धारणा को अक्षरशः नहीं अपनाता। वहाँ भी व्यवहार में शक्ति-पृथक्करण पूर्णतः सम्भव नहीं रहता। शासन एक इकाई है। उसका इस प्रकार का पृथक्करण उसकी आंगिक एकता को समाप्त कर देगा। शासन के अंगों के मध्य व्यक्तियों का पृथक्करण भले ही सम्भव हो, परन्तु

शक्तियों का पूर्ण पृथक्करण न सम्भव है, न वांछनीय ।

अन्य राजनीतिक धारणाएँ

वैयक्तिक या नागरिक स्वतन्त्रता—मांटेस्क्यू ने वैयक्तिक अथवा नागरिक स्वतन्त्रता की स्पष्ट पारिभाषिक व्याख्या नहीं की है। परन्तु उसकी स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणाओं में यत्र-तत्र नागरिक स्वतन्त्रता से सम्बद्ध विषयों का विवेचन किया गया है। मांटेस्क्यू के मत से नागरिकों की वैयक्तिक स्वतन्त्रताएँ सांविधानिक व्यवस्था से प्राप्त नहीं होतीं बल्कि समाज की जीवन-प्रणाली, परम्पराओं, आदतों तथा नागरिक कानूनों से प्राप्त होती हैं। ये व्यक्ति की सुरक्षा की भावना को बनाये रखने के लिए आवश्यक हैं। अतएव नागरिक तथा दण्डात्मक कानून का निर्माण इस प्रकार किया जाना चाहिए कि न्यायिक प्रक्रिया द्वारा अपराधी को अपराध की प्रकृति तथा गरिमा के अनुकूल ही दण्ड दिया जाय, न कि न्यायाधीशों की स्वेच्छाचारिता के अनुसार। एकमात्र साक्षी के प्रमाण के आधार पर मृत्यु-दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए। किसी अपराधी की जाँच गोपनीय प्रक्रिया द्वारा नहीं की जानी चाहिए। विचार-अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता आवश्यक है। देश-द्रोह की व्याख्या अत्यन्त सावधानी से की जानी चाहिए, अन्यथा शासक व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को दबाने के लिए मनमाने ढंग से देश-द्रोह का आरोप लगा देंगे। धार्मिक अपराधों के लिए लौकिक दण्ड तब तक न दिया जाय जब तक कि अपराधी का कृत्य दूसरे व्यक्ति के लिए हानिकारक सिद्ध न हो। धार्मिक अविश्वासिता लौकिक अपराध नहीं है। कर-निर्धारण सम्बन्धी कानून न्याय्यता (equity) के आधार पर निर्मित किये जायें। कर-निर्धारण के कार्य में 'राज्य की आवश्यकता' तथा 'जनता की वास्तविक मांगों' का समुचित ध्यान रखा जाना चाहिए।

दास-प्रथा—मांटेस्क्यू दास-प्रथा का भी विवेचन वैयक्तिक स्वतन्त्रता की दृष्टि से करता है। दास-प्रथा का विवेचन करने में मांटेस्क्यू वैज्ञानिक पद्धति की अपेक्षा नैतिकता का दृष्टिकोण अधिक अपनाता है। वह दास-प्रथा का विरोधी था। उसके मत से दास-प्रथा दास तथा मालिक दोनों के हित में अवांछनीय है। यह दास को आत्म-विकास करने से रोकती है और मालिक का नैतिक पतन करती है। भले ही ऐतिहासिक परम्परा के आधार पर इसके औचित्य को मान्य किया जाय, किन्तु विवेक तथा तर्क की दृष्टि से यह सर्वथा अनौचित्यपूर्ण है। यह मानना कि युद्ध में पराजित व्यक्ति अपनी रक्षा के लिए संविदा द्वारा विजयी की दासता स्वीकार कर लेता है, कोई विवेकपूर्ण तर्क नहीं है। विजयी को पराजितों का जीवन लेने का कोई अधिकार नहीं है। इसी प्रकार यह कहना भी तर्कसम्मत नहीं है कि कोई व्यक्ति अपने को दूसरे के हाथ बेच देता है, क्योंकि विक्रय में मूल्य (value) का विनिमय होता है। यहाँ पर दास को मूल्य नहीं मिलता, जबकि मालिक को सब कुछ मिल जाता है। मांटेस्क्यू अरस्तू की इस धारणा का भी विरोध करता है कि कुछ व्यक्ति प्राकृतिक दास होते हैं। उसके मत से अरस्तू इसे प्रमाणित नहीं कर पाया। मांटेस्क्यू की धारणा है कि 'सभी मानव समान जन्मे हैं, अतः दास-प्रथा अप्राकृतिक है, भले ही कुछ देशों में इसे प्राकृतिक विवेक पर आधारित संस्था माना गया हो।' उसका विचार है कि गर्म जलवायु के देशों में लोग आलसी होते हैं और श्रम करने से बचते हैं, वहाँ उन्हें काम पर लगाये रखने के लिए दास-प्रथा के औचित्य को माना जाता

रहा होगा और सम्भवत: अरस्तू इसी आधार पर कुछ लोगों को नैसर्गिक दास कहता होगा। परन्तु यूरोप सदृश ठण्डे देशों में यह प्रथा समाप्त होती गयी है, जहाँ दास-प्रथा को प्राकृतिक विवेक पर आधारित नहीं माना गया है। यदि कहीं दास-प्रथा को लाभकारी माना जाता है तो उसका कारण विलासिता तथा सुख-भोग की कामना है, न कि सार्वजनिक कल्याण की भावना।

भौगोलिक परिस्थितियाँ तथा राजनीति—मांटेस्क्यू से पूर्व अरस्तू तथा जीन बोदां ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था कि किसी राज्य की राजनीतिक संस्थाओं तथा आदर्शों पर वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है। परन्तु मांटेस्क्यू ने इस तथ्य को और अधिक विस्तारपूर्वक तथा विवेकपूर्ण ढंग से दर्शाया है। भले ही उसके अनेक निष्कर्ष 20वीं शताब्दी के वैज्ञानिक विकास के युग में सही सिद्ध न हों, परन्तु वे केवल स्वप्नलोकी, मन-गढ़न्त या महत्त्वहीन भी नहीं हैं। मांटेस्क्यू ने मानवों के सामाजिक व्यवहार तथा देश की जलवायु, भूमि, प्राकृतिक रचना, प्राकृतिक साधनों आदि के मध्य कार्य-कारक सम्बन्ध दर्शाया है। उसका निष्कर्ष है कि ठण्डी जलवायु के देशों में मनुष्य चुस्त तथा श्रमशील होते हैं, उष्ण जलवायु के देशों में आलसी। ठण्डी जलवायु के देशों में लोग अधिक स्वतन्त्रता-प्रेमी होते हैं, उष्ण-जलवायु में आलस्यवश उनमे दासता की भावना रहती है। विशाल आकार के भूखण्डों में, जहाँ प्राकृतिक सीमाओं का अभाव रहता है लोगों मे राजनीतिक स्वतन्त्रता का अभाव होने से, वे स्वेच्छाचारीतन्त्रों के लिए उपयुक्त होते हैं। इसके विपरीत नदियों तथा पहाड़ों से पृथक् किये गये छोटे-छोटे जन-समूह अधिक स्वतन्त्रता से रहना पसन्द करते हैं। अधिक उपजाऊ देशों के लोग भी आलसी होते हैं, अत: वहाँ स्वेच्छाचारीतन्त्रों की प्रवृत्ति बढ़ती है। जलवायु का प्रभाव सामाजिक व्यवहार पर भी पड़ता है। गर्म जलवायु के देशों में महिलाओं की स्वतन्त्रता की धारणा नहीं रहती, वहाँ बहुपत्नी विवाह तथा पत्नियों को दास के रूप में रखने की प्रवृत्ति बहुत पाई जाती है। ऐसे देशों में स्त्रियों में प्रौढ़ता जल्दी आती है और युवावस्था शीघ्र समाप्त हो जाती है। इसलिए भी पुरुषों में बहुपत्नी विवाह की प्रवृत्ति रहती है। ऐसे देशों में घरेलू दास-प्रथा (domestic slavery) बढ़ती है। इन धारणाओं के सम्बन्ध में मांटेस्क्यू एशिया के उष्ण तथा शीतोष्ण कटिबन्ध के प्रदेशों की तुलना यूरोप के शीतोष्ण तथा शीतोष्ण कटिबन्ध के प्रदेशों की तुलना यूरोप के शीतोष्ण तथा शीत कटिबन्ध के देशों से करता है। जैसा पहले कहा जा चुका है मांटेस्क्यू के यह निष्कर्ष आज की परिस्थिति में सही-सही रूप से लागू नहीं होते। उदाहरणार्थ, आज के युग में एशिया तथा अफ्रीका के उष्ण-कटिबन्ध के देशों में राजनीतिक स्वतन्त्रता की जागृति उसके निष्कर्षों का खण्डन करती है। साथ ही उसका यह निष्कर्ष भी सही नहीं बैठता कि विशाल आकार वाले देश लोकतन्त्र के उपयुक्त नहीं हो सकते। भारत सदृश विशाल तथा गर्म जलवायु का देश आज संसार का महानतम लोकतन्त्री राज्य है। परन्तु अपने युग का उससे पूर्व के युगों की परिस्थितियों के आधार पर मांटेस्क्यू के निष्कर्ष गलत नहीं माने जा सकते।

सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का राजनीति से सम्बन्ध—मांटेस्क्यू का मत है कि कानून के साथ सामाजिक नैतिकता तथा परम्पराओं का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अत: विधायकों को विधि-निर्माण के अवसर पर उनकी ऐतिहासिकता का ध्यान रखना चाहिए। कोई भी राजनीतिक कानून जो जनता की

परम्पराओं तथा नैतिकता से संगति नहीं रखता, महत्त्वहीन होता है। साथ ही राजनीतिक या नागरिक कानून का यह उद्देश्य नहीं होना चाहिए कि वह किसी ऐसे व्यवहार को जिसे सामाजिक नैतिकता मान्य करती है, समाप्त कर दे। जनता की आदतों तथा नैतिकता का सुधार दण्डात्मक कानूनों द्वारा करने की अपेक्षा अन्य साधनों द्वारा किया जाना चाहिए।

आर्थिक विचार—मांटेस्क्यू के आर्थिक विचार उसके युग की व्यापार तथा व्यावसायिक प्रगति के कारण तथा प्राचीन युग के सिद्धान्तों पर उनके प्रभाव के आधार पर विकसित हुए हैं। मांटेस्क्यू इन सिद्धान्तों को विविध प्रकार की शासन-प्रणालियों के सन्दर्भ में लागू करता है। मुद्रा के प्रचलन के कारण व्यापार-विनिमय में मुद्रा के कार्यभाग को वह महत्त्वपूर्ण मानता है। उसका विचार है कि राजतन्त्री शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत व्यापार का आधार उच्च वर्ग की विलासिता है, जिसके कारण विदेशी माल उन्हीं लोगों की विलासिता की तृप्ति हेतु लाया जाता है। परन्तु गणतन्त्रों में व्यावसायिक विकास का लाभ व्यावसायियों को प्राप्त होता है। विकसित-व्यवसाय के अन्तर्गत बैंक तथा बड़े-बड़े निगम राजतन्त्र के लिए उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इनका लाभ जनसाधारण को अधिक होता है, जबकि राजतन्त्र मे उच्च-वर्ग जनसाधारण से धन की दृष्टि में ऊँचा रहना पसन्द करता है। मांटेस्क्यू राजतन्त्री शासन का समर्थक था। वह राजतन्त्र के अन्तर्गत उच्च वर्ग को व्यापारिक प्रयासों में संलग्न रहने की सलाह नहीं देता, क्योंकि यह उस वर्ग के विशेषाधिकारों के सिद्धान्त से संगति नहीं रखता है। मांटेस्क्यू व्यक्ति के सम्पत्ति के अधिकार को महत्त्वपूर्ण मानता है। यद्यपि लॉक की भाँति वह इसे प्राकृतिक अधिकार तो नहीं मानता, तथापि उसकी धारणा यह है कि सार्वजनिक हित में व्यक्ति की सम्पत्ति के अधिकार का कानून द्वारा अतिक्रमण करना अनुचित है।

धर्म—मांटेस्क्यू की ईसाई धर्म के प्रति पूर्ण निष्ठा थी। परन्तु उसकी धर्म-विश्वासिता का आधार वैज्ञानिक है न कि हठधर्मिता। अनेक धर्मपन्थियों ने उनकी आलोचना भी की थी। मांटेस्क्यू के धार्मिक विचार भी उसके कानून तथा शासन-सम्बन्धी विचारों पर लागू किये गये हैं। उसका मत था कि जलवायु, धर्म तथा शासन-व्यवस्थाओं के मध्य परस्पर संगति रहती है। उदाहरणार्थ, मर्यादित शासनों के लिए ईसाई धर्म उपयुक्त है, स्वेच्छाचारीतन्त्रों के लिए इस्लाम धर्म, कैथोलिक धर्म राजतन्त्रों के लिए तथा प्रोटेस्टैंट धर्म गणतन्त्रों के लिए उपयुक्त है। जिस देश में धार्मिक प्रतिबन्ध हल्के होते हैं वहाँ नागरिक कानून कठोर होता है, इसके विपरीत जहाँ राजनीतिक कानून अपर्याप्त होता है, वहाँ धार्मिक कानून उसके पूरक का कार्य करता है। धार्मिक सहिष्णुता की धारणा का विवेचन मांटेस्क्यू किन्हीं भावनामूलक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए नहीं करता, वरन् व्यावहारिक दृष्टि से उसका विवेचन करता है। उसका कथन है कि जो राज्य अनेक धर्मों के अस्तित्व को स्वीकृति देता है, उसे अवश्यमेव धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनानी चाहिए। 'सर्वोत्तम नीति यह है कि जहाँ तक हो सके राष्ट्र को किसी नये धर्म को प्रवेश नहीं देना चाहिए, परन्तु यदि दिया जाय तो उसके प्रति सहिष्णुता बरतनी चाहिए।' राज्य को बलात् किसी धर्म को मानने के लिए व्यक्तियों को विवश नहीं करना चाहिए। साथ ही धार्मिक नियमों में परिवर्तन करने के लिए दण्डात्मक कानून का अनुसरण भी नहीं करना चाहिए।

सामाजिक जीवन की विविध श्रेणियों के लिए विविध प्रकार के कानून होते हैं, यथा दैवी, प्राकृतिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि। अतः विधायन कार्य की कुशलता इसी बात पर निर्भर करती है कि इन विविध श्रेणियों के कानूनों का निर्माण विविध वर्ग करें। यदि विविध प्रकार के कानून एक-दूसरे का अतिक्रमण करते हैं या एक प्रकार के कानून को दूसरे क्षेत्र में लागू किया जाता है तो उसका परिणाम बुरा होता है। उदाहरणार्थ, राजनीतिक कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता की तथा नागरिक कानून सम्पत्ति की रक्षा करता है, अतः राजनीतिक कानून द्वारा व्यक्ति की सम्पत्ति छीनना गलत है; अर्थात् स्वतन्त्रता के नाम पर सम्पत्ति के अधिकार को छीनना उचित नहीं है।

मांटेस्क्यू के राजनीतिक विचारों का मूल्यांकन

(1) **18वीं शताब्दी का सर्वश्रेष्ठ यथार्थवादी विचारक**—मांटेस्क्यू 18वीं शताब्दी के बुद्धिवाद के युग का फ्रांसीसी विचारक था। उस युग में अनेक विचारक हुए है। सैबाइन ने कहा है कि '18वीं सदी के समस्त फ्रांसीसी राजनीतिक चिन्तकों में से (रूसो को छोड़कर) मांटेस्क्यू सबसे महत्त्वपूर्ण है।' यद्यपि मांटेस्क्यू ने अपने युग के सामाजिक दर्शन का अत्यन्त सरलीकरण किया है, तथापि उसे उसकी जटिलता का स्पष्ट ज्ञान था। वही एक ऐसा विचारक था जिसने समाज तथा शासन का यथार्थवादी तथा व्यावहारिक अध्ययन किया है। राजनीतिक विचारधाराओं के प्रतिपादन के लिए उसने इस (empirical) पद्धति को सबसे अधिक उपयुक्त समझकर धर्मशास्त्र, गणित तथा तर्कशास्त्र का अनुगमन नहीं किया। इस अर्थ में उसे एक मौलिक राजनीतिक दार्शनिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जैसा जोन्स ने कहा है 'राजनीतिक सैद्धान्तिकता का प्रतिपादन करने के रूप में मांटेस्क्यू के योगदान का इतना स्थायी महत्त्व नहीं है जितना राजनीतिक तथा सामाजिक अध्ययन हेतु पद्धति का विकास करने में उसका प्रभाव है।'[1] उसके राजनीतिक विचारों ने भले ही सांविधानिक व्यवहारों को प्रभावित किया हो, परन्तु यह भी एक तथ्य है कि उसका प्रमुख योगदान विचारधाराओं (theory) के क्षेत्र में नहीं है, अपितु पद्धति (method) के क्षेत्र में है।

(2) **राजनीति का समाजशास्त्रीय विवेचन करने वाला चिन्तक**—17वीं तथा 18वीं शताब्दी के विचारकों में यह प्रवृत्ति सामान्यतया विद्यमान रही थी कि वे भावनामूलक तर्कवाद (abstract reasoning) के द्वारा राजनीतिक सिद्धान्तों तथा आदर्शों का प्रतिपादन करते आये थे। उनके दर्शन में आपेक्षिकता (relativism) के स्थान पर निरपेक्षता (absolutism) की मात्रा थी। मांटेस्क्यू की विचारधारा एक आपेक्षिकतावादी (relativist) की भाँति की थी। उसका विश्वास था कि राजनीतिक विचारधाराओं का भावात्मक ढंग से प्रतिपादन कर देना राजनीतिक समस्याओं का समाधान नहीं है। राजनीतिक संस्थाओं तथा व्यवहारों को समाज की विविध परिस्थितियाँ प्रभावित करती है। अतः उनका अध्ययन इन विविध परिस्थितियों के सन्दर्भ में किया जाना चाहिए। देश की भौगोलिक परिस्थितियाँ,

[1] 'Montesquieu is not so important for the permanent value of his contributions to political theorizing as he is for his impact on the development of methodology in political and social studies.' —W. T. Jones, *op. cit.*, 218.

आर्थिक समस्याएँ, धार्मिक संस्थाएँ, रीति-रिवाज आदि का प्रभाव राजनीतिक संस्थाओं के स्वरूप तथा कार्य-प्रणाली पर पड़े बिना नहीं रह सकता। इसलिए मांटेस्क्यू का राजनीतिक दर्शन विशुद्ध रूप से समाजशास्त्रीय दर्शन (sociological philosophy) है, जिसके आधार पर उसने राजनीतिक निष्कर्ष निकाले है। इस अध्ययन में उसने ऐतिहासिक तथा पर्यवेक्षण की पद्धति को अपनाकर उसे वैज्ञानिक स्वरूप दिया। 18वीं शताब्दी की चिन्तन पद्धति इसके विपरीत प्रकृति की होने के कारण मांटेस्क्यू की विचारधाराएँ अपने युग के राजनीतिक चिन्तन को प्रभावित करने में बहुत कम सफल हो पायी थीं।

(3) **स्वतन्त्रता की धारणा का यथार्थवादी विवेचन करके उसकी रक्षा के निमित्त शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का प्रतिपादक**—राजनीतिक चिन्तक तथा व्यवहार को मांटेस्क्यू की सबसे महान् देन उसकी स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा है। यद्यपि उससे पूर्व लॉक ने स्वतन्त्रता की धारणा का प्रतिपादन करने में कोई कमी नही रखी थी, तथापि लॉक ने उस धारणा को प्राकृतिक कानून तथा प्राकृतिक अधिकार की अयथार्थवादी धारणा के द्वारा व्यक्त किया था। मांटेस्क्यू ने इसे विध्यात्मक कानून तथा शासन-पद्धतियों से सम्बद्ध करके व्यक्त किया। राजनीतिक स्वतन्त्रता की रक्षा हेतु मांटेस्क्यू का शासन के अंगों में शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस धारणा के प्रतिपादन में मांटेस्क्यू ने इंग्लैण्ड की शासन-पद्धति को दृष्टान्त के रूप में लिया था। मांटेस्क्यू की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणाओं का विरोध नहीं किया जा सकता और न सैद्धान्तिक दृष्टि से उसके शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त का ही। परन्तु मांटेस्क्यू की सबसे बड़ी दुर्बलता इस कारण सिद्ध की जाती है कि उसके इंग्लैण्ड की शासन-पद्धति के अन्तर्गत निकाले गये निष्कर्ष भ्रामक थे। इंग्लैण्ड की तत्कालीन शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत शासन के तीन अंगों के मध्य शक्ति-पृथक्करण नहीं था, और न वह भविष्य में कभी रहा। 1688 की क्रान्ति के पश्चात् वहाँ राजा की कार्यपालिका शक्ति पर्याप्त रूप से मर्यादित हो चुकी थी। वास्तविक कार्यपालिका शक्ति संसद के प्रति उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल के हाथ में होने लगी थी। अत: संसद की सर्वोच्चता का सिद्धान्त सुस्थापित हो चुका था। मांटेस्क्यू की यह धारणा भ्रमपूर्ण थी कि इंग्लैण्ड की जनता राजनीतिक स्वतन्त्रता का उपभोग वहाँ शासन के अंगों में शक्ति-पृथक्करण होने के कारण करती है। दूसरी ओर मांटेस्क्यू का शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त भी अवास्तविक तथा अव्यावहारिक है। वास्तव मे उसके इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने का मुख्य उद्देश्य तत्कालीन फ्रांस में स्वेच्छाचारितावाद का विरोध करना था। उसके समस्त निष्कर्ष वैज्ञानिक आधार पर निकाले गये नहीं माने जा सकते। कुछों के बारे में उसकी पूर्व नियोजित धारणाएँ थीं जिनकी पुष्टि हेतु वह इस सिद्धान्त में अनेक अपवाद लगाता है। उदाहरणार्थ, वह उच्च वर्ग के परमाधिकारों को बनाये रखना चाहता है। कार्यपालिका (राजा) को व्यवस्थापिका के प्रस्तावों पर निषेधाधिकार की शक्ति देता है। न्यायपालिका की स्वतन्त्र सत्ता पर भी अनेक अपवाद जोड़ता है। वास्तव में उसका शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त एक प्रकार से राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा लोकतन्त्र के तत्त्वों का सम्मिश्रण है, जिसमें अवरोध तथा सन्तुलन का सिद्धान्त शासन को स्वेच्छाचारी बनने से रोक सकता है।

(4) **अमरीकी संविधान निर्माताओं का राजनीतिक गुरु**—मांटेस्क्यू के

निष्कर्षों में जो भी कमियाँ थीं, उनके बावजूद यह तो मानना पड़ता है कि उसकी विचारधाराओं ने अमरीकी संविधान निर्माताओं को बहुत प्रभावित किया। वहाँ की गणतन्त्री संघ-व्यवस्था, संविधान के अन्तर्गत शासन के तीन अंगों में शक्ति-पृथक्करण तथा अवरोध व सन्तुलन का सिद्धान्त, द्विसदनात्मक व्यवस्था, न्यायपालिका की स्वतन्त्रता तथा मूल अधिकारों की घोषणा आदि में मांटेस्क्यू के विचार का अक्षरशः पालन किया गया है। यह दूसरी बात है कि वहाँ मांटेस्क्यू की प्रिय व्यवस्था (राजतन्त्र) को नहीं अपनाया गया और शक्ति-पृथक्करण आज अमरीकी संविधान निर्माताओं की भावना का अक्षरशः अनुगमन भी नहीं कर पा रहा है। वास्तव में दल-प्रथा के विकास ने उसके स्वरूप को बहुत परिवर्तित कर दिया है। इसमें भी मांटेस्क्यू की विचारधारा की सच्चाई व्यक्त होती है जैसा कि हारमॉन ने कहा है 'संयुक्त राज्य अमरीका की संघ-व्यवस्था में 1789 से अनेक परिवर्तन हुए हैं। यह सम्भव है कि मांटेस्क्यू, जो कि एक आपेक्षिकवादी होते हुए मानता था कि शासनों के रूप, समय तथा परिस्थितियों से प्रभावित होते हैं, इन परिवर्तनों को मान्यता देता।'[1] यह भी सत्य है कि अमरीकी संविधान निर्माताओं के ऊपर एकमात्र प्रभाव मांटेस्क्यू का न होकर लॉक का प्रभाव भी पर्याप्त अधिक था। अतएव संयुक्त राज्य अमरीका की 18वीं सदी के अन्तिम वर्षों की राजनीति हेतु जहाँ लॉक एक दार्शनिक मार्ग-दर्शक सिद्ध हुआ वहाँ शासन-व्यवस्था के व्यवहार में माटेस्क्यू की विचारधाराओं का व्यापक प्रभाव था।

(5) **राजनीतिक व्यवहार के निमित्त मांटेस्क्यू के कानून तथा शासन-व्यवस्था सम्बन्धी विचारों का पर्याप्त महत्त्व है**—शासन-व्यवस्था तथा विध्यात्मक कानूनों के निर्माण, अधिशासन तथा परिपालन के सम्बन्ध में मांटेस्क्यू की विचार-धारा राजनीतिक व्यवहार हेतु अपूर्व देन सिद्ध हुई है। शासन के तीन प्रमुख अंगों की मान्यता तथा उनके मध्य पारस्परिक सम्बन्धों के निर्धारण में मांटेस्क्यू के काल से लेकर आज तक विभिन्न देशों के शासन संविधानों में जो भी व्यावहारिक परम्पराएँ अपनायी जाती रही हैं, उन पर मांटेस्क्यू के प्रभाव को अमान्य नहीं किया जा सकता। एक व्यवहारवादी विचारक होने के नाते मांटेस्क्यू ने राज्य के सम्बन्ध में उसकी उत्पत्ति, स्वरूप, प्रभुसत्ता आदि का दार्शनिक विवेचन न करके उसके व्यावहारिक पक्षों (कानून तथा शासन-व्यवस्था) का विवेचन करने तक ही अपने को सीमित रखा। परन्तु वह युग बुद्धिवाद का था, जिसके कारण तत्कालीन राजनीतिक दर्शन तथा चिन्तन में उसका प्रभाव इतना अधिक नहीं हो पाया। दूसरा कारण यह भी था कि मांटेस्क्यू की रचना के प्रकाशन के केवल 14 वर्ष बाद ही फ्रांस के महान् दार्शनिक रूसो की सुप्रसिद्ध रचना 'सोशल कॉन्ट्रैक्ट' के प्रकाशन ने मांटेस्क्यू के प्रभाव को कम कर दिया। फ्रांस की तत्कालीन समस्याओं का समाधान मांटेस्क्यू की उदारवादी तथा समभाव वाली (liberal and moderate) विचारधाराएँ न कर पायीं। प्रत्युत् रूसो की क्रान्तिकारी विचारधाराओं ने इन समस्याओं के समाधान का मार्ग प्रशस्त करने में अधिक योगदान किया। परन्तु मांटेस्क्यू की विचारधाराओं ने 19वीं तथा 20वीं सदी की विचारधाराओं तथा राजनीतिक व्यवहार को बहुत अधिक प्रभावित किया है।

[1] Harmon, *op. cit.*, 290.

(6) **भावी शासन व्यवस्थाओं का मार्ग-दर्शक**—विध्यात्मक कानून तथा शासनिक व्यवहार के क्षेत्र में मांटेस्क्यू की विचारधाराएँ चिरस्थायी प्रभाव डालती है। राजनीतिक व्यवहार में समाज की विविध परिस्थितियों (भौगोलिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, ऐतिहासिक आदि) के प्रभावों की उपेक्षा करना किसी भी राज्य-व्यवस्था के लिए अवांछनीय है। यह तथ्य मांटेस्क्यू की विचारधाराओं से ज्ञात होता है। इस दृष्टि से मांटेस्क्यू का राजनीतिक दर्शन केवल अपने काल का दर्शन न होकर युग-युग का राजनीतिक दर्शन सिद्ध हुआ है। मांटेस्क्यू की विचार-धारा की लोकप्रियता तथा महत्ता इस बात से सिद्ध होती है कि जिस कलात्मक तथा सरल ढंग से उसने अपने व्यावहारिक विचारों को प्रस्तुत किया, उनका प्रसार इतना अधिक हुआ कि केवल 2 वर्ष की अवधि में ही ग्रन्थ के 22 संस्करण प्रकाशित हो गये और शीघ्र ही उसका अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ। इस दृष्टि से मांटेस्क्यू के 18वीं सदी के एक महान् राजनीतिक चिन्तक होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

सोलहवाँ अध्याय

आधुनिक राजनीतिक दर्शन का आरम्भ : रूसो (1712—1778)

18वीं सदी में फ्रांस की राजनीतिक स्थिति—1715 में लुई 14वें की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी के रूप में उसका 5 वर्षीय प्रपौत्र लुई 15वें के नाम से गद्दी पर बैठा। शासक-सत्ता ड्यूक ऑफ ऑलियन्स के द्वारा उसके संरक्षक के रूप में संचालित होने लगी। भूतपूर्व सम्राट की स्वेच्छाचारितापूर्ण सत्ता के अभाव में कुलीनवर्ग (nobility) अपनी खोई हुई सत्ता को पुन: अर्जित करने लगे। पेरिस की परम्परागत *parlement* पुन: अपने अधिकारों को प्रयुक्त करने का प्रयास करने लगी। परन्तु फ्रांस की सामाजिक स्थिति इतनी बिगड़ चुकी थी कि मध्यम तथा निम्न-मध्यम वर्ग की जनता कुलीनवर्ग के प्रति राजतन्त्र से भी अधिक घृणा करने लगी थी। 1726 में नवयुवक सम्राट ने कार्डिनल फ्ल्यूरी (Cardinal Fleury) को अपना प्रधानमन्त्री बनाया। यद्यपि उसने देश की वित्त व्यवस्था, व्यापार, मुद्रा आदि में स्थायित्व लाने का प्रयास किया, तथापि वह वांछित सुधार लाने में सफल नहीं हुआ। 1743 में लुई ने स्वयं सारी शासन सत्ता अपने हाथ में ले ली। परन्तु देश की बिगड़ती हुई स्थिति को काबू में करना उसके वश से बाहर हो गया था। जनता में असन्तोष बढ़ता गया। परिणामस्वरूप लुई 16वें का शासन काल फ्रांस की सुप्रसिद्ध क्रान्ति की तैयारी का काल सिद्ध हुआ, जैसा कि स्वयं सम्राट कहा करता था 'मेरे बाद बाढ़' (After me, the deluge)। 1774 में लुई 15वें की मृत्यु हुई और उसके 15 वर्ष पश्चात् फ्रांस की प्रसिद्ध क्रान्ति प्रारम्भ हो गयी।

राजनीतिक चिन्तन की प्रवृत्ति—18वीं सदी ज्ञान तथा तर्क का युग (the age of enlightenment and reason) थी। सैबाइन ने कहा है कि '18वीं सदी को विश्व ज्ञान के कोष (encyclopaedias) का युग उचित ही कहा गया है, यह ऐसा युग था जिसमें यूरोप ने पिछली शताब्दी के मौलिक विद्वानों द्वारा की गयी उपलब्धियों को संचित किया।'[1] 18वीं शताब्दी के राजनीतिक विचार इतने मौलिक नहीं थे जितने कि 17वीं शताब्दी के। यहाँ तक कि मांटेस्क्यू की रचना 'दि स्पिरिट ऑव दि लॉज़' भी प्रभाव की दृष्टि से इंग्लैण्ड के सविधान का विश्लेषण करने के अतिरिक्त 18वीं सदी के राजनीतिक चिन्तन की विशेषताओं से युक्त नहीं थी। उसने यह दर्शाने का प्रयास किया था कि सामाजिक संस्थाओं, परम्पराओं तथा भौतिक परिस्थितियों का प्रभाव राजनीतिक संस्थाओं तथा व्यवहारों पर पड़ता है। उसका यह प्रयोगवाद ज्ञान के क्षेत्र में सहायक अवश्य सिद्ध हुआ। परन्तु उसके युग के अन्य

[1] 'The eighteenth century has rightly been called the age of encyclopaedias, an age in which Europe consolidated the gains made by the more original genius of the preceding century.' —Sabine, *op. cit.*, 482–83.

फ्रांसीसी विद्वानों का विश्वास था कि मानव व्यवहार तथा सामाजिक संस्थाओं के औचित्य या अनौचित्य को सिद्ध करने के लिए विवेक एक निरपेक्ष मानदण्ड प्रस्तुत करता है। फ्रांस की तत्कालीन परिस्थितियों में ज्ञान-युग के विद्वानों ने अपनी विचारधाराओं के द्वारा मध्यम वर्गी जनता को बहुत प्रभावित किया था। इनके विचारों पर 17वीं शताब्दी के विवेकवादी विचारों का प्रभाव था। 17वीं सदी की न्यूटन की भौतिकशास्त्री खोजों ने यह विश्वास दिलाया था कि जिस प्रकार भौतिक जगत का संचालन तथा नियमन निश्चित नियमों के द्वारा होता है, उसी प्रकार सामाजिक जीवन तथा सम्बन्धों का नियमन भी निश्चित प्राकृतिक नियमों के अनुसार होता है, जिन्हें तर्क के द्वारा खोजा जा सकता है। इसी प्रकार लॉक के मनोवैज्ञानिक दर्शन ने भी सामाजिक प्रक्रियाओं के अध्ययन का मनोवैज्ञानिक तर्क न्यूटन के भौतिकशास्त्रीय तर्कों के आधार पर चित्रित किया था। पीरी बायल (Pierre Bayle) ने धार्मिक अन्ध-विश्वासिता तथा असहिष्णुता का घोर विरोध करके यह सिखाया था कि विवेक तथा विश्वास एक-दूसरे से असंगति रखते हैं। अतः मानव को विवेक का अनुसरण करना चाहिए। ज्ञान तथा तर्क के क्षेत्र में उपर्युक्त तथा अन्य विद्वानों की 17वीं सदी की धारणाएँ 18वीं सदी के चिन्तन पर पूर्णतया प्रभावी रहीं। राजनीतिक दर्शन का स्वरूप भी प्राकृतिक अधिकारों की धारणा से प्रभावित रहा। इसका उद्देश्य व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों द्वारा कानून तथा शासन को मर्यादित करना था। इस अवधि में फ्रांस में अनेक विचारक हुए जिन्होंने 17वीं सदी के विचारों से प्रभावित होकर अपने विचारों को प्रस्तुत किया।[1]

18वीं सदी के कुछ उल्लेखनीय विचारक—18वीं सदी के ज्ञान-युग के फ्रांसीसी विचारकों में वोल्टेयर (Voltaire) का नाम प्रमुख है। मांटेस्क्यू की भाँति वह भी 1726 से 1729 तक इंग्लैण्ड में रहा था। वह भी लॉक के विचारों तथा ब्रिटिश जनता की स्वतन्त्रता से प्रभावित हुआ था। यद्यपि वह लोकतन्त्र, प्रतिनिध्यात्मक शासन तथा जनसाधारण की सत्ता का समर्थक नहीं था, तथापि विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर उसकी पूर्ण निष्ठा थी। उसने भी व्यंगात्मक ढंग से फ्रांसीसी स्वेच्छाचारितावाद की भर्त्सना की थी। वह मानवतावादी, तर्कवादी, स्वतन्त्रता-प्रेमी तथा नैतिकतावादी था। वह विद्वानों के लिए विचार-अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का समर्थक था। उसने चर्च की निरंकुशता का विरोध करके धार्मिक सहिष्णुता की नीति पर बल दिया है। उसका प्रभाव फ्रांसीसी मध्यम वर्ग पर बहुत अधिक पड़ा। इस युग का दूसरा विद्वान् हैल्वेशस (Helvetius) था। उसकी नैतिकता उपयोगितावादी थी। उसके अनुसार मानव जीवन का लक्ष्य सुख की प्राप्ति तथा दुःख का निवारण करना था। उसने एक ऐसा कार्यक्रम प्रस्तुत किया जिसके अनुसार शासन के कार्यकलाप मानवों को अधिकतम सुख प्रदान कर सकें। उसके सुधारवादी दृष्टिकोण तथा नैतिकता ने बाद में इंग्लैण्ड के बेंथम एवं उसके उपयोगितावाद को प्रभावित किया जिसके आधार पर 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' की धारणा को राज्य के कार्यकलापों की कुंजी माना गया। वह भी निरंकुशतावाद का विरोधी था और शासन में सुधार लाना चाहता था। तीसरा विद्वान् हॉलबाक्

[1] मांटेस्क्यू भी इसी श्रेणी के विचारकों में से था जिसकी विचारधाराओं का विवेचन गत अध्याय में किया जा चुका है। वह तर्कवादी न होकर व्यवहारवादी था। परन्तु ज्ञान के युग में उसका योगदान भी महत्त्वपूर्ण है।

(Holbach) था, जो पूर्णतया भौतिकवादी तथा नास्तिक था। धर्म के साथ-साथ उसने निरंकुश शासन पर भी प्रहार किया। उसका मत था कि सभी सरकारें और विशेष रूप से फ्रांसीसी सरकार, अज्ञानी, अकुशल, अन्यायी तथा शोषण करने वाली है। इन्हें जन-कल्याण की कोई चिन्ता नहीं रहती। उसके विचारों ने मध्यम वर्ग में वर्ग-चेतना का संचार करने में मदद दी। इस दृष्टि से हॉलबाक के विचार कार्ल मार्क्स के लिए उपयुक्त सिद्ध हुए। उसने शासन-सुधार, व्यक्ति की स्वतन्त्रता, शिक्षा आदि के महत्त्व पर जोर दिया। वह क्रान्ति की अपेक्षा शान्ति के मार्ग का समर्थक था। परन्तु वह लोकतन्त्रवादी भी नहीं था। इसके अतिरिक्त डिडरॉट (Diderot) का नाम भी उल्लेखनीय है, जिसने विश्व-कोष (encyclopaedia) का सम्पादन किया था। क्वैसने (Quesnay) तथा उसके साथी अन्य भौतिक-अर्थशास्त्रियों (physiocrats) ने फ्रांस की अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में व्यक्तिगत स्वतन्त्र प्रयास (free enterprise) की नीति का प्रचार किया। उसके मत से इस नीति के द्वारा उत्पादन बढ़ सकता था और देश की गिरी हुई अर्थव्यवस्था सुधर सकती थी। वे आर्थिक स्वतन्त्रता के पक्षपाती थे, चाहे राजनीतिक स्वतन्त्रता न भी मिले।

उपर्युक्त प्रसिद्ध विद्वानों के अतिरिक्त अन्य अनेक विद्वानों ने भी इसी प्रकार के विचार प्रस्तुत किये थे। यह सब विचार ज्ञान तथा विवेक पर आधारित थे। इन सबका उद्देश्य फ्रास की तत्कालीन राजनीतिक, शासनिक तथा सामाजिक व्यवस्था में सुधार लाने की योजना प्रस्तुत करना था। परन्तु इनमें से कोई भी लोकतन्त्रवादी नहीं था। कुछ तो प्रबुद्ध-निरंकुशतावाद के समर्थक थे जिसमें कि शासक प्राकृतिक कानूनों के अनुसार शासन करे। कुछ वैधानिक राजतन्त्र के समर्थक थे, जैसे मांटेस्क्यू। फ्रांस की तत्कालीन परिस्थिति के लिए ज्ञान तथा तर्क के उस युग में इन विद्वानों में से कोई भी समुचित समाधान प्रस्तुत न कर सका। मैक्सी ने कहा है[1] कि वास्तव में फ्रांस की स्थिति इतनी खराब नहीं थी जितनी खराब वह पहले न रही हो या बाद में न रही हो। किसान, कृषक, मजदूर, नगरों के रहने वाले, व्यापार-व्यवसायी, साधारण श्रमिक, आदि में से कोई भी वर्ग अत्यधिक शोषण की स्थिति में नहीं था। कुलीन वर्ग तथा चर्च वालों को भी अपने पुराने विशेषाधिकारों के खोये जाने का असन्तोष था। परन्तु यह सब परिस्थितियाँ ऐसी नहीं थीं कि क्रान्ति अवश्यम्भावी थी। वास्तव में 'फ्रांसीसी क्रान्ति इसलिए हुई कि वहाँ की संस्थागत संरचना, जो कि कई पीढ़ियों से समाज की गत्यात्मक शक्तियों में तुल्य-भारता बनाये हुए थी, छिन्न-भिन्न हो चुकी थी।'[2] इसका परिणाम यह हुआ कि सामाजिक शक्तियाँ नियन्त्रण से बाहर हो गयीं। विवेक उन्हें नियन्त्रित करता, परन्तु स्वयं विवेक सत्ताधारी नहीं था। वह केवल आलोचना कर सकता था न कि सुधार मांटेस्क्यू की संयमित विचारधाराएँ सुधार ला सकने में असमर्थ रहीं।

फ्रांसीसी क्रान्ति का वास्तविक प्रेरणा-स्रोत—तब प्रश्न यह उठता है कि इन परिस्थितियों में फ्रांसीसी क्रान्ति का आह्वान करने में विजय किसकी हुई। विजय का सेहरा उसके माथे पर बंधा जिसके विचारों ने क्रान्ति को अनिवार्य बना दिया। वह न ज्ञानवादी था, न विवेकवादी, और न व्यवहारवादी। वह इन सबसे घृणा

[1] Maxey, *op. cit.*, 341–42.

[2] 'The French Revolution came because institutional structure which for generations had held in equipoise the dynamic forces of society rotted and crumbled.' —*Ibid.*, 342.

करता था। उसके विचार अन्तर्प्रेक्षण, संवेग तथा कल्पनावाद पर आधारित थे। उसे इस समूचे समाज से घृणा थी। वह न राजा को चाहता था, न कुलीन वर्ग को, न चर्च के पुजारियों को, न मध्यम वर्ग को। उसकी दृष्टि में समस्त मानव समान थे। वह एक लोकतन्त्रवादी था। उसका उद्देश्य सार्वजनिक हित था न कि वर्ग-विशेष का हित। वह था आजन्म भटकता हुआ बरबात् विद्वान् जीन जैक्विस रूसो (The Spoiled Genius Jean Jacques Rousseau) जिसके विचारों ने फ्रांसीसी क्रान्ति को अवश्यम्भावी बनाया।

जीवन-परिचय

बाल्यकाल—रूसो के राजनीतिक विचारों का ज्ञान करने के लिए उसकी जीवनी का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि उसकी विचारधाराओं की जटिलता उसी प्रकृति की है जैसा जटिल उसका जीवन था। उसका जन्म 1712 में जेनेवा के एक साधारण घड़ीसाज के घर में हुआ था। उसके पैदा होते ही उसकी माता का देहान्त हो गया था। उसका पिता यद्यपि अपने व्यवसाय में कुशल था, तथापि स्वभाव से वह बहुत उग्र और फिजूलखर्ची था। रूसो का पालन-पोषण पड़ोसियों ने किया। जब वह 10 वर्ष का था तो उसके पिता ने एक पड़ोसी से मारपीट की और दण्ड से बचने के लिए भाग गया। रूसो के संरक्षकों ने रूसो को साधारण शिक्षा दिलाने की व्यवस्था भी की और उसे कुछ व्यवसाय भी दिलाये। उसे एक नकाशी करने वाले के साथ रखा गया। परन्तु वहाँ रूसो ने केवल चोरी करना और झूठ बोलना सीखा। अन्त में अपने मालिक से लड़कर वह भाग गया। इस समय वह 16 वर्ष का था। यहाँ से उसका भटकने का जीवन प्रारम्भ हुआ।

आवारागर्दी—वह एक कैथोलिक पुजारी के पास पहुँचा जिसने उसे कैथोलिक धर्म में परिवर्तित करके एक विधवा महिला मेडम डि वारेन्स (Madam de Warens) के सुपुर्द किया। इस महिला ने रूसो की शिक्षा तथा आजीविका की व्यवस्था की। परन्तु रूसो अपनी आवारा प्रकृति से विवश था और वहाँ से भागकर चला गया। उक्त महिला भी उससे परेशान होकर मुक्त होना चाहती थी। परन्तु रूसो भटकते-भटकते पुनः उसके पास पहुँच जाता। इस बीच रूसो ने प्लेटो के 'रिपब्लिक' का अध्ययन भी किया, कुछ संगीत भी सीखा, कई विद्वानों के साथ उसका सम्पर्क भी हुआ। परन्तु रूसो अपनी आवारा प्रकृति के कारण कभी भी अपने मित्रों का कृपा-पात्र न बन सका। 1742 में वह पेरिस गया। वहाँ उसका सम्पर्क एक दूसरी महिला मैडम डि ब्रोगली से हुआ। उसने रूसो को फ्रांस के वेनिस स्थित दूतावास में एक साधारण पद पर नियुक्त कराया। परन्तु रूसो को यह पद अच्छा न लगा। वह राजदूत से लड़कर त्याग-पत्र दे आया। आवारा प्रकृति होने के साथ-साथ रूसो की काव्य, संगीत तथा अध्ययन के प्रति बहुत अभिरुचि थी। उसने एक अभिनय भी लिखा यद्यपि वह सफल नहीं हो पाया। उसमें जहाँ पुराने मित्रों से लड़ने की प्रवृत्ति थी, वहाँ नये मित्रों को ढूंढ लेने में भी कमी नहीं थी। इस बीच भटकते-भटकते उसकी अभिरुचि निम्नवर्गीय समाज के प्रति बढ़ने लगी। उसने एक धोबिन महिला थिरेसी को अपना प्रेम-भाजन बनाया। वह आजन्म उसकी साथी बनी रही। उससे उसके 5 बच्चे उत्पन्न हुए। उन सबको उसने अनाथालयों

में रख दिया। 1770 में वृद्धावस्था में रूसो ने उसके साथ विधिवत् विवाह भी कर लिया। 1746 में रूसो का सम्पर्क विश्वकोष के सम्पादक डिडरौट के साथ भी हुआ।

एक लेखक तथा दार्शनिक के रूप में—1750 में रूसो के जीवन में एक महत्त्वपूर्ण घटना हुई। डिजन की अकादमी द्वारा एक निबन्ध प्रतियोगिता घोषित हुई। विषय था, 'विज्ञान तथा कलाओं की प्रगति ने नैतिकता को शुद्ध किया है या भ्रष्ट।' रूसो को इस प्रतियोगिता के निमित्त अपना निबन्ध प्रस्तुत करने की सनक सवार हुई, उसने अपने निबन्ध में यह दर्शाया कि मानव स्वभावत: अच्छा है, परन्तु सामाजिक संस्थाओं ने तथा विज्ञान और कला की प्रगति ने उसे बुरा बना दिया है। इस प्रतियोगिता में रूसो को प्रथम पुरस्कार मिला। पुरस्कार-प्राप्ति के साथ-साथ एक लेखक के रूप में उसकी प्रतिभा तथा प्रतिष्ठा प्रकट हुई। परन्तु इससे उसके जीवन क्रम में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उसकी मानसिक विकृति ज्यों की त्यों बनी रही। परन्तु उसने लिखने का कार्य जारी रखा। परन्तु उसके लेखों में व्यक्त विचार विवेक पर आधारित न होकर सवेगों पर आधारित रहते थे। 1754 में वह जेनेवा गया। वहाँ उसने कैथोलिक धर्म छोड़कर काल्विन-धर्म अपनाया और उसे काफी सम्मान भी प्राप्त हुआ। उसके बाद वह पेरिस लौटा और एक बार फिर एक अन्य महिला मैडम डि इपिने (Madam d' Epinay) के सरक्षण में रहने लगा। उसने रूसो को मौंटमोरेन्सी में रहने के लिए स्थान दिया। 1754 से 1762 तक की 8 वर्ष की अवधि रूसो के ग्रन्थों की रचना का काल रही। उसने डिडरौट के विश्वकोष के लिए 1755 में एक निबन्ध 'Political Economy' प्रस्तुत किया। उसका दूसरा निबन्ध 'The Origin of Inequality' 1755 में प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् 1761 में उसकी रचना 'The New Heloise' एक उपन्यास के रूप में, तथा 1762 में उसकी रचनाएँ 'The Social Contract' तथा 'The Emile' प्रकाशित हुई। इमाइल मुख्यतया शिक्षा पर लिखा गया ग्रन्थ है, और सोशल कॉन्ट्रैक्ट से उसके प्रारम्भ के दो निबन्धों 'A discourse on the moral effects of the arts and sciences' तथा 'The Origin of Inequality' के विचारों का विस्तार है। रूसो के राजनीतिक दर्शन का ज्ञान इन्हीं ग्रन्थों की विचारधाराओं के आधार पर होता है।

रचनाओं का प्रभाव—इन ग्रन्थों में व्यक्त किये गये रूसो के विचार बहुत क्रान्तिकारी सिद्ध हुई। चर्च ने इनका घोर विरोध किया। शासन ने उन्हें जब्त करने तथा रूसो को बन्दी करने का आदेश दिया। स्वयं जेनेवा में उसकी पुस्तकें जला दी गई। रूसो को पेरिस से भागना पड़ा। उसने बर्न के समीप एक ग्राम में शरण ली। 1766 में वह ह्यूम के साथ इंग्लैण्ड गया। परन्तु अपने स्वभाव की विवशता के कारण वह वहाँ भी न टिक सका। वह स्वयं ह्यूम से लड़ गया और भागकर फ्रांस चला आया। इसके पूर्व वह डिडरौट तथा वोल्टेयर से भी भिड़ गया था। सारांश यह है कि रूसो आजन्म अपने हितैषियों से भिड़ता रहा, नये मित्रों का कृपापात्र बनता रहा, परन्तु किसी से भी उसकी अच्छी नहीं पटी। मित्र बनाना, विशेषकर महिलाओं को, उसे खूब आता था। साथ ही अपने मित्रों को रुष्ट कर देने में भी वह कम नहीं था। इसी कारण उसका जीवन सदैव आवारागर्दी का तथा अस्थिर बना रहा। 1770 में थिरेसी से विधिवत् विवाह कर लेने पर उसने जीवन

के शेष 8 वर्ष उसके साथ बिताये। परन्तु अन्तिम क्षणों तक वह लिखता रहा। उसकी अन्तिम रचनाएँ 'The Confessions', 'The Diologues', 'The Reveries' तथा 'The Considerations on the Government of Poland' थीं। 1778 में पक्षाघात के कारण उसकी मृत्यु हो गयी।

रूसो के राजनीतिक विचार

विचार-पद्धति—रूसो का उपर्युक्त संक्षिप्त जीवन-परिचय इस बात को प्रदर्शित करता है कि वह न तो एक क्रमबद्ध तथा सुयोजित शिक्षा प्राप्त व्यक्ति था, और न एक सक्रिय राजनेता या विधि-शास्त्री। 18वीं सदी के ज्ञान, विवेक और व्यवहारवाद के युग में न उसे एक वैज्ञानिक दार्शनिक कहा जा सकता है और न यथार्थवादी चिन्तक। वह सही अर्थ में एक अलौकिक प्रतिभा वाला व्यक्ति (genius) था। परिस्थितियों तथा उसके व्यक्तिगत स्वभाव ने उसे बर्बाद जीवन व्यतीत करने को विवश कर दिया था। इसी आवारागर्दी के जीवन में उसने समस्त ज्ञान संचित किया। उसका इतिहास का अध्ययन भी क्रमिक तथा यथेष्ट नहीं था। जो कुछ उसने सोचा या व्यक्त किया वह सब अपने व्यक्तिगत जीवन की परिस्थितियों के अनुभव पर आधारित था। उसकी समाज के प्रति अरुचि, सामाजिक जीवन की बुराइयों के अनुभव, मानव को स्वभावतः उत्तम मानना और सामाजिक जीवन में उसका भ्रष्ट हो जाना आदि की जो धारणाएँ थीं, उन्हीं के आधार पर उसने अपने अन्तर्प्रेक्षण (intuition), संवेगवाद (sentimentalism) तथा कल्पनावाद (romanticism) से प्रेरित होकर अपने विचार व्यक्त किये। अतएव उसका राजनीतिक दर्शन एक क्रमबद्ध तथा संगतिपूर्ण दर्शन सिद्ध नहीं हो पाया।

दर्शन की विशेषता—हारमॉन ने कहा है कि 'रूसो के राजनीतिक दर्शन की व्याख्या उतने ही ढंगों से की गयी है जितने उसके व्याख्याकार हुए हैं।' रूसो का दर्शन स्वयं उसके व्यक्तित्व की भाँति ही असाधारण रूप से जटिल है। उसके विचार बहुधा भावमूलक तथा सदैव स्पष्ट नहीं हैं। सभ्य समाज के प्रति उसे घृणा थी, अतः वह प्राकृतिक स्थिति के मानव तथा प्रारम्भिककालीन समाज की उत्तमता पर विश्वास रखते हुए समाज के दोषों से उसे मुक्त करने हेतु अपने राजनीतिक विचारों का विकास करता है। उसे निवर्तमान समाज से घृणा है, परन्तु वह समाज को आवश्यक मानता है और अपने दार्शनिक विचारों के द्वारा उसके सुधार की योजना प्रस्तुत करता है। 'वह एक रचनात्मक विचारक है जो उन विशिष्ट समस्याओं को गम्भीरता के साथ लेता है जिन्हें वह सार्वजनिक दृष्टि से वास्तव में आवश्यक समझता है।'[1] रूसो ने अपने से पूर्ववर्ती विचारकों के दर्शन का भी अध्ययन किया था। वह उनके विचारों को केवल अपनी समस्या के समाधान में सहायक होने तक ही ग्रहण करता है। उसने प्लेटो तथा अरस्तू के विचारों का भी अध्ययन किया था। अपने विचारों के प्रतिपादन में वह अरस्तू का विरोधी, परन्तु प्लेटो से बहुत सामीप्य रखता है। वह समकालीन नैतिकतावादी विचारकों—लॉक, ग्रोशियस, डिकार्टे, लीबनीज आदि—से अधिक सहमति रखता था।

व्यक्तिवाद की अपेक्षा समाजवाद की दिशा में प्रवृत्त है—रूसो के समकालीन बुद्धिवाद के युग के विचारक मूल रूप से व्यक्तिवादी थे। वे व्यक्ति को विवेकयुक्त,

[1] J. H. Broome, *Rousseau ; A Study of His Thought*, 1963, 12.

परन्तु स्वार्थी मानते थे। वे सामाजिक संस्थाओं के ऐसे क्रमिक सुधार की बात करते थे, जिसके द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता बनी रहे। अतः उन्होंने स्वतन्त्रता तथा सत्ता के मध्य सन्तुलन स्थापित रखने की विचारधाराएँ रखीं। परन्तु रूसो के विचार बिल्कुल भिन्न दृष्टिकोण अपनाते हैं। वह भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता का समर्थक है, परन्तु वह स्वतन्त्रता तथा सत्ता का संश्लेषण करता है। उसका विश्वास था कि यदि समुचित प्रकार के समाज की स्थापना हो जाय तो स्वतन्त्रता तथा सत्ता एक-दूसरी की सम्पूरक सिद्ध होंगी, न कि विरोधी। व्यक्ति के उत्थान के सम्बन्ध में रूसो के समक्ष दो धारणाएँ थीं। एक तो ईसाई धर्म-प्रवर्तकों की पाप (Original Sin) सम्बन्धी धारणा, जिसके अनुसार मानव की बुराइयों का अन्त मोक्ष के द्वारा किया जाना बताया गया था। दूसरी धारणा थी वोल्टेयर सदृश विचारकों की जिसके अनुसार मानव की बुराइयों का निराकरण विवेक का अनुसरण करते हुए उसका उत्थान करके किया जाना बताया गया था। रूसो ने इन दोनों के मध्य समन्वय का मार्ग अपनाया है। रूसो ईश्वर की सत्ता पर विश्वास रखता था, साथ ही उसकी भलाई पर भी। वह यह नहीं मानता कि बुराई में दैवी हाथ रहता है। दूसरी ओर वह मानवतावादी भी था और मानव को आवश्यक रूप से बुरा नहीं मानता था। इसलिए उसका उद्देश्य इस बात की खोज करना था कि मानव की बुराई का दायित्व किसके ऊपर है जबकि न तो वह स्वयं मौलिक रूप से बुरा है और न उसके बुरा होने में दैवी हाथ है। अतः रूसो का निष्कर्ष बुराई के समाजीकरण की दिशा में निदेशित हुआ। उसने यह दर्शाया कि मनुष्य के बुरा होने का दायित्व समाज पर है न कि समाज का निर्माण करने वाले व्यक्तियों पर।[1] रूसो की राजनीतिक विचारधारा का यह केन्द्रीय तत्त्व है। इसी समस्या को लेकर वह अपने राजनीतिक दर्शन का विकास करता है।

रूसो की विचारधारा में भी हॉब्स तथा लॉक की भाँति प्राकृतिक स्थिति में मानव स्वभाव, सामाजिक जीवन का विवेचन तथा उसकी कठिनाइयाँ, समाज का निर्माण और उसके बाद राजनीतिक सत्ता के स्वरूप का विवेचन मिलता है। इस दृष्टि से रूसो राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धान्तवादियों की श्रेणी में आता है। परन्तु रूसो का सम्पूर्ण दर्शन उसे इस श्रेणी के विचारकों से बहुत आगे ले जाता है। रूसो के राजनीतिक विचारों का ज्ञान करने के लिए केवल उसके ग्रन्थ 'The Social Contract' का पृथक अध्ययन अपर्याप्त होगा। प्रत्युत् उसके 'Discourses', 'Political Economy' तथा 'The Emile' के विचारों के साथ-साथ 'Social Contract' का अध्ययन करना आवश्यक है। अन्यथा रूसो के राजनीतिक दर्शन का स्पष्ट ज्ञान नहीं हो सकता। साथ ही समय-समय पर लिखी गई इन रचनाओं के अध्ययन से रूसो से विचारों के क्रमिक विकास का आभास भी होता है।

मानव प्रकृति तथा प्राकृतिक स्थिति

समाज में नैतिकता का ह्रास—रूसो की विचारधारा हॉब्स तथा लॉक की

[1] Broome's conclusion is that 'Rousseau's solution to this problem is, as it turns out, devastating in its very simplicity. In plain terms, it consists in socializing sin, and transferring the responsibility and the burden of guilt from men as individuals to men collectively in society; in short, in making society the scapegoat, as though it were something distinct from the individuals composing it.' —*Ibid.*, 16-17.

भाँति व्यक्तिवादी नहीं है। यद्यपि वह भी समाज-निर्माण के संविदा सिद्धान्त का प्रतिपादक है, तथापि उसकी संविदा की धारणा का उद्देश्य व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों का संरक्षण करना मात्र नहीं है। रूसो के हृदय में सबसे बड़ी वेदना समाज के नैतिक पतन की थी जिसके कारण व्यक्ति का जीवन संकटमय हो गया था। अतः रूसो समाज-निर्माण तथा समाज की राजनीतिक सत्ता के सम्बन्ध में आदर्शवादी दार्शनिक विवेचन करता है। 'नैतिकता पर विज्ञान तथा कला की प्रगति के प्रभाव' पर लिखा गया उसका प्रथम निबन्ध यह दर्शाता है कि सभ्यता के विकास में विज्ञान तथा कला की उन्नति ने लोगों के ऐशोआराम, सुविधाओं आदि को बढ़ाया है। परन्तु इनके कारण सत्य तथा सद्गुणों का लोप हो गया है। वास्तविक सत्य विज्ञान तथा तर्क के द्वारा प्राप्त नहीं होता, अपितु विश्वास, मनोवेग, भावना तथा प्राकृतिक प्रवृत्तियों पर विश्वास रखने से प्राप्त हो सकता है। समाज में अनेक भौतिकशास्त्री, गणितज्ञ, रसायनशास्त्री, ज्योतिषी, कवि, संगीतज्ञ तथा कलाकार हैं, परन्तु 'नागरिकों' का अभाव है। जो हैं भी तो वे समाज के किसी कोने में उपेक्षित पड़े हुए हैं।

प्राकृतिक स्थिति का जीवन—अपने द्वितीय निबन्ध 'असमानता की उत्पत्ति' में रूसो मानव प्रकृति का विवेचन करते हुए नागरिक समाज की उत्पत्ति का चित्रण करता है। हॉब्स तथा लॉक की भाँति रूसो भी नागरिक समाज के निर्माण से पूर्व मानव-स्वभाव तथा प्राकृतिक स्थिति के जीवन का वर्णन करता है। परन्तु उसका दृष्टिकोण भिन्न प्रकृति का है तथा उसके निष्कर्ष भी भिन्न है। हॉब्स के मस्तिष्क में प्राकृतिक स्थिति एक अराजक समाज की स्थिति थी, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थी होने के कारण एक-दूसरे के शत्रु के रूप में माना गया है। लॉक द्वारा वर्णित प्राकृतिक स्थिति सामाजिक जीवन की स्थिति थी, परन्तु वह राजनीतिक समाज की स्थिति से पूर्व की थी, जिसमें मानव को विवेकशील एवं सामाजिक तथा प्राकृतिक कानून के अनुसार आचरण करने वाला माना गया है। लॉक तो इसकी ऐतिहासिक सत्यता तक दर्शाता है। परन्तु रूसो की धारणा का प्राकृतिक मानव तथा प्राकृतिक स्थिति का जीवन काल्पनिक, अनैतिहासिक तथा प्रारम्भिक अवस्था का है। स्वयं रूसो इसे ऐतिहासिक सत्य नहीं मानता। वह इसे दार्शनिक विवेक पर आधारित धारणा कहता है। यह स्थिति समाज-निर्माण से पूर्व की है, जबकि मनुष्य पूर्णतया एकाकी और असामाजिक जीवन व्यतीत करता था। रूसो अरस्तू की इस धारणा से सहमति नहीं रखता कि मनुष्य स्वभावतः राजनीतिक तथा सामाजिक प्राणी है। रूसो की धारणा का प्राकृतिक मानव 'स्वभावतः अच्छा' था। वह निश्चिन्त तथा सन्तुष्ट जीवन व्यतीत करता था। उसे न अपनी चिन्ता थी न दूसरों की। प्राकृतिक मानव एक ऐसा प्राणी था जिसका आचरण पूर्णतया अपनी प्राकृतिक प्रवृत्तियों से निदेशित होता था न कि विवेक से। रूसो ने कहा है कि 'विचारशील मानव ही शरारतों से भरा होता है' (Thinking man is depraved)। प्राकृतिक मानव न नैतिक था न अनैतिक; न वह सुखी था न दुःखी। मानव में सामाजिकता की उत्पत्ति भावनाओं के कारण होती है न कि विवेक के कारण। प्राकृतिक मानव के पास किसी प्रकार की व्यक्तिगत सम्पत्ति भी नहीं थी। सम्पत्ति, स्वार्थ, भलाई, बुराई, प्रेम, घृणा, युद्ध, शान्ति आदि तो सामाजिक प्राणी की प्रवृत्तियाँ हैं। इनका अभ्युदय तब हुआ जब मानव सामाजिक जीवन व्यतीत करने लगा।

असमानता की उत्पत्ति—रूसो के अनुसार असमानता दो प्रकार की होती है : प्रथम, 'प्राकृतिक' जिसका अर्थ है आयु, स्वास्थ्य, शारीरिक तथा मानसिक क्षमता में असमानता। द्वितीय, असमानता 'नैतिक या राजनीतिक' है; जिसका अस्तित्व सामाजिक जीवन में ही होता है। इसका अर्थ है एक व्यक्ति का दूसरे से अधिक धनी, अधिक सम्माननीय तथा अधिक प्रभावशाली होना, जिससे कि वह दूसरों को अपने अधीन बनाये रख सके। प्राकृतिक स्थिति में भी व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य एक से दूसरे का अधिक शक्तिशाली होना स्वाभाविक था। परन्तु उसके कारण मालिक तथा दास सदृश व्यवस्था उत्पन्न नहीं होती थी। मानव-मानव के मध्य असमानता मानने की व्यवस्था नागरिक समाज की स्थापना हो जाने पर उत्पन्न होती है, क्योंकि इसके अन्तर्गत चतुर व्यक्ति अधिक सम्पत्ति संचित करके अबोधों को अपनी दासता में रखने लगते हैं; कानूनों का सृजन करके ऐसी व्यवस्था का निर्माण करते हैं जिसमें वे अकुशलों तथा निर्बलों का शोषण कर सकें। प्राकृतिक स्थिति का मानव लड़ाकू नहीं था जैसा कि हॉब्स ने बताया है। वह तो डरपोक था और झगड़े से बचना चाहता था। अतः प्राकृतिक स्थिति का जीवन 'प्रत्येक के विरुद्ध प्रत्येक के युद्ध' का नहीं था। रूसो का मत है कि प्राकृतिक मानव में दो भावनाएँ (motivations) थीं—आत्म-प्रेम या आत्म-रक्षा तथा अपने साथियों के प्रति लगाव (compassion)। यही दो भावनाएँ सामाजिक जीवन को सम्भव बनाने के लिए उत्तरदायी हैं।

व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा प्राकृतिक स्थिति—प्राकृतिक मानव तथा प्राकृतिक स्थिति के जीवन का ऐसा चित्रण करने का रूसो का मन्तव्य यह नहीं था कि समाज अवांछनीय है, अतः मानव को पुनः प्राकृतिक स्थिति में प्रत्यावर्तित हो जाना चाहिए। रूसो मानता है कि मनुष्य अपनी पूर्णता प्राप्त करने की चाह रखता है, जो कि प्राकृतिक स्थिति में सम्भव नहीं है। मानव में अपने साथियों के प्रति प्रेम बनाये रखने की भावना ने उसे सामुदायिक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा दी, ताकि वह आत्म-रक्षा कर सके और जीवन के पूर्णत्व को प्राप्त कर सके। इस दृष्टि से रूसो अपने युग की सामाजिक बुराइयों का विवेचन करते हुए उनके निराकरण का दार्शनिक समाधान प्रस्तुत करना चाहता था। प्राकृतिक स्थिति के एकाकी निश्चिन्त और सुखी (idyllic happiness) जीवन को व्यतीत करने वाला मानव नागरिक समाज में कैसे आ गया और प्राकृतिक स्थिति का स्वस्थ समाज आधुनिक युग के स्वार्थी तथा असमानतापूर्ण नागरिक समाज की स्थिति में कैसे परिवर्तित हो गया, इसका एकमात्र कारण रूसो व्यक्तिगत सम्पत्ति को मानता है। रूसो ने कहा है कि 'नागरिक समाज का सबसे प्रथम संस्थापक उस व्यक्ति को माना जाता है, जिसने सबसे पहले किसी भूखण्ड को घेर कर यह घोषणा की होगी कि 'यह मेरा है' और अन्य लोगों को इस बात पर विश्वास करता हुआ पाया होगा।' रूसो यह संकेत करता है कि वास्तव में प्रकृति की सब वस्तुएँ सबकी हैं और भूमि किसी एक की नहीं है। यदि ऐसी धारणा न रहे तो सब बरबाद हो जायगा (you are undone if you once forget that the fruits of the earth belong to us all and the earth itself to nobody)। व्यक्तिगत सम्पत्ति के साथ-साथ कृषि का विकास तथा धातु का प्रयोग शुरू हुआ।[1] इस विकास-क्रम में मानव की स्वार्थमयी प्रवृत्ति

[1] 'Metallurgy and agriculture were the two arts which produced this great revolution. The poets tell us it was gold and silver, but, for philosophers, it was iron and corn, which first civilized men, but ruined humanity.'

काम करने लगी। चतुर तथा शक्तिशालियों ने पर्याप्त लाभ उठाया; निर्बलों को दास बनाया; स्वयं सामाजिक संगठन के सत्ताधारी बन गए; कानून का निर्माण करके दूसरों को अपने अधीन किया और उनका शोषण किया। इस प्रकार समाज में असमानता छा गई। ऐसे समाज में संघर्ष का वातावरण उत्पन्न हो गया। जो लोग अधिक सम्पत्ति अर्जित करने में सफल हो गए वे धनी बने और उन्होंने निर्धनों अर्थात् सम्पत्ति-विहीनों को अपने प्रभाव में लेकर सत्ता का निर्माण करने में शामिल होने के लिए विवश किया, जिससे कि शान्ति स्थापित की जा सके। इस प्रकार समाज तथा कानून की उत्पत्ति हुई, जिसके अन्तर्गत गरीबों की स्वतन्त्रता पर नई बेड़ियाँ लग गईं और धनी लोगों को नई शक्तियाँ प्राप्त हुईं। रूसो अपने काल के समाज में यही सब बुराइयाँ देखता था और उसके समक्ष समस्या यह थी कि इन्हें कैसे दूर किया जा सकता है। यह न तो सम्भव था और न व्यावहारिक कि मनुष्य फिर प्राकृतिक स्थिति में आ जाय। अतः एकमात्र समाधान यह था कि समाज निर्माण की व्यवस्था को एक नये रूप से समझाया जाय जिसमें वर्तमान समाज की भलाइयों को अपनाकर उसकी बुराइयों का परित्याग किया जाय। उसके बाद के ग्रन्थों में (मुख्यतया 'सोशल कन्ट्रैक्ट' में) रूसो इसी समस्या का विवेचन करता है।

सामाजिक संविदा

संविदा सिद्धान्त की पूर्व-मान्यता—जी० डी० एच० कोल के अनुसार, सामाजिक समझौता सिद्धान्त की धारणा ग्रीक के सॉफिस्ट विचारकों के समान ही प्राचीन है। उसके मत से 'अत्याचारीतन्त्र को छोड़कर शेष सभी सरकारों में राज्य का आधार किसी न किसी रूप में सदस्यों तथा शासन के मध्य सहमति का होना है, चाहे वह स्पष्ट हो या अन्तर्निहित, अथवा अतीत की हो या वर्तमान की।'[1] इस संविदा के दो रूप हो सकते हैं: या तो वह जनता तथा शासन के मध्य होती है; अथवा राज्य का निर्माण करने वाले व्यक्तियों के मध्य। प्रथम प्रकार की धारणा प्राचीन तथा मध्य युग के विचारकों में बहुधा पायी गयी है। ग्रोशियस भी इस धारणा को मानता था। परन्तु संविदा सिद्धान्त के दोनों रूपों को एक साथ मिलाकर प्रस्तुत करने की धारणा हॉब्स, लॉक तथा रूसो के विचारों में मिलती है, जो संविदा के दूसरे रूप का भी प्रतिपादन करते हैं। इन विद्वानों के अनुसार राजनीतिक समाज तथा शासन-सत्ता का निर्माण राज्य के व्यक्तियों के मध्य पारस्परिक संविदा के द्वारा होता है। हॉब्स के अनुसार संविदा व्यक्तियों के मध्य होती है जिसमें शासक संविदा करने वाला एक पक्ष नहीं है। व्यक्ति अपने समस्त प्राकृतिक अधिकारों तथा स्वतन्त्रता का परित्याग कर देते हैं। हॉब्स निरंकुश शासन का समर्थन करने हेतु संविदा की धारणा को तोड़-मरोड़ कर रखता है। उसके विचार से मूल संविदा अन्तिम है और व्यक्ति किसी भी रूप में शासन का विरोध नहीं कर सकते। यहाँ तक कि संविदा भावी पीढ़ियों पर भी लागू होती है, क्योंकि उसका उल्लंघन करने पर मानव पुनः प्राकृतिक स्थिति के दुःखमय जीवन में प्रत्यावर्तित हो जायेंगे। इसके

[1] 'Wherever any form of government apart from the merest tyranny exists, reflection on the basis of the State cannot but lead to the notion that in one sense or another, it is based on the consent, tacit or expressed, past or present, of its members.' —G. D. H. Cole, *Introduction to The Social Contract and Discourses; Rousseau*, Everymans Library, 1913, xvi.

विपरीत लॉक वैधानिक शासन का समर्थक है। उसके संविदा सिद्धान्त के अनुसार शासन सदैव जनता की सहमति पर निर्भर रहता है और जन-सहमति के विरुद्ध आचरण करने वाली सरकार को जनता पदच्युत कर सकती है। संविदा भावी पीढ़ी पर इसी अर्थ में लागू होती है कि वह अन्तर्निहित (tacit) होती है। संविदा भंग करने वाली सरकार के विरुद्ध क्रान्ति करने का अधिकार भी जनता के हाथ में बना रहता है। 'संविदा की धारणा' जैसा जोन्स का मत है, 'यद्यपि हॉब्स द्वारा चतुरता-पूर्ण ढंग से तोड़ी-मरोड़ी जा सकती है, तथापि यह स्वभावतः लॉक की विचारधारा से अधिक साम्य रखती है। वास्तव में ऐसी विचारधारा में इसका केन्द्रीय स्थान है।'[1]

रूसो पर संविदा सिद्धान्त का प्रभाव—रूसो भी अपने युग की इस धारणा से प्रभावित था कि राजनीतिक संगठन का आधार व्यक्तियों के मध्य पारस्परिक संविदा है। इसकी यह मान्यता थी कि समस्त मानवों के कुछ निरपेक्ष तथा नैतिक अधिकार होते हैं। शासन का औचित्य इसी बात पर निर्भर करता है कि वह व्यक्तियों के इन अधिकारों को संरक्षण दे, अर्थात् राज्य का उद्देश्य व्यक्तियों का हित तथा कल्याण है और शासक उसके साधन मात्र हैं। हॉब्स व्यक्ति के आत्म-रक्षा के अधिकार को मानता है और उसी हेतु संविदा सिद्धान्त को स्वीकार करके व्यक्तियों द्वारा अपनी स्वतन्त्रता को त्याग देने और सम्प्रभु को निरपेक्ष सत्ता प्रदान किये जाने की धारणा दर्शाता है। परन्तु लॉक तथा रूसो दोनों इसका विरोध करते हैं। उनके विचार से ऐसी संविदा भावी पीढ़ियों पर कैसे लागू हो जायेगी ? लॉक जन-सहमति की धारणा को संविदा में अन्तर्निहित मानता है। परन्तु रूसो लॉक की इस धारणा में और अधिक स्पष्ट और तर्कपूर्ण ढंग से सुधार करता है। वह लॉक की 'अन्तर्निहित सहमति' (tacit consent) के स्थान पर 'सामान्य इच्छा' (general will) की धारणा का समावेश करता है। इसके अनुसार संविदा सदैव सक्रिय रहती है, और समय-समय पर उसका नवीनीकरण होता रहता है। इस दृष्टि से वह संविदा की धारणा में व्यक्तियों के मध्य सम्बन्धों को एक नया दृष्टिकोण प्रदान करता है। जोन्स के अनुसार इस प्रकार सामाजिक जीवन के एक ऐसे सिद्धान्त की उत्पत्ति हुई जिसने उस उग्र-व्यक्तिवाद तथा पृथक्तावाद का सीधा विरोध किया, जिसे हम पूर्व की रचनाओं में पाते हैं।

संविदा का नया रूप—रूसो ने सामाजिक समझौते (social contract) को सामाजिक अनुबन्ध (social-tie) की संज्ञा दी।[2] भले ही उसका सिद्धान्त आधुनिक राष्ट्रीय राज्यों के उपयुक्त न बैठता हो, परन्तु उसने राजनीतिक दायित्व (political obligation) के सिद्धान्त को अपने पूर्ववर्तियों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है। उसके पूर्ववर्ती विचारकों ने इस सिद्धान्त की तर्क-सम्मतता को यथेष्ट रूप प्रदान कर सकने में असमर्थ होकर इसे एक ऐतिहासिक तथ्य के रूप में चित्रित करने का असफल प्रयास किया था। परन्तु रूसो ने इस सिद्धान्त को राजनीतिक दर्शन की एक सामान्य पद्धति के रूप में व्यक्त किया। कोल का मत है कि 'लॉक की अन्तर्निहित सहमति की धारणा ने जनता के नियन्त्रण को इतना

[1] 'The notion of a contract, though capable of ingenious distortion by Hobbes, more naturally accords with a theory like Locke's. It is, indeed, central to such a theory.' —W. T. Jones, *op. cit.*, 252.

[2] रूसो अनेक स्थलों में 'social contract' के स्थान पर 'social tie' शब्द का प्रयोग करता है।

अवास्तविक बना दिया था कि उसे (लॉक) को संविदा की धारणा को ऐतिहासिक तथा यथार्थ मानने के लिए विवश होना पड़ा, जिसके आधार पर भावी पीढ़ियाँ सदा के लिए अनुबन्धित हो गई, और उसे जनता की स्वतन्त्रता के औचित्य हेतु जनता तथा सरकार के मध्य एक अर्ध-संविदा की धारणा को भी स्वीकार करना पड़ा।[1] परन्तु रूसो संविदा की ऐतिहासिकता को अमान्य करता है। 'वह संविदा को राजनीतिक संगठन के मूलभूत सिद्धान्त से न्यूनाधिक और कुछ नहीं मानता। यह एकता का वह आधार है, जो राज्य में हमें कानून-विहीनता तथा स्वच्छन्दता का परित्याग करके राजनीतिक स्वतन्त्रता की अनुभूति करने की क्षमता प्रदान करती है।'[2]

समाज का सावयविक रूप—सामाजिक संविदा सिद्धान्त के द्वारा रूसो केवल सामाजिक जीवन में मानव-मानव के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों तथा सरकार और जनता के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों का ही विवेचन नहीं करता, अपितु वह प्लेटो तथा अरस्तू की भाँति राज्य या राजनीतिक समाज को सावयविक रूप भी प्रदान करता है। अनुबन्ध द्वारा राजनीतिक समाज का निर्माण करने वाले व्यक्ति राज्य सावयव के अंगों की स्थिति में आ जाते हैं। 'समाज व्यक्तियों का कृत्रिम झुण्ड मात्र नहीं है, जिसमें कि प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तिगत हितों से ही प्रेरित होता हो। प्रत्युत्, समाज एक 'जीवित निकाय', एक 'सार्वजनिक व्यक्ति तथा एक 'नैतिक प्राणी' है, जो किसी 'विशिष्ट इच्छा' के द्वारा नियमित न होकर 'सामान्य इच्छा' द्वारा नियमित होता है। व्यक्ति तभी नैतिक हो सकता है जबकि वह समाज का सदस्य बने। इससे बाहर वह शून्य की भाँति है। राज्य से बाहर उत्तम जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। व्यक्ति के अधिकार प्राकृतिक नहीं हैं बल्कि सामाजिक हैं, क्योंकि समाज-निर्माण के पूर्व उसके कोई अधिकार नहीं थे। व्यक्ति का कल्याण समाज के कल्याण से बँधा हुआ है। अतः व्यक्ति की अपेक्षा समाज महत्त्वपूर्ण है।'[3] प्लेटो तथा अरस्तू की राज्य-सावयव की यह धारणाएँ रूसो के सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त से पूर्णतया सहमति रखती हैं। परन्तु जैसा जोन्स का मत है,[4] रूसो इस धारणा को संगतिपूर्ण ढंग से विकसित नहीं कर पाया। वह अपनी पुरानी धारणा को, जो कि उसके 'डिस्कोर्सेज' में व्यक्त की गयी थी, अपने 'सोशल कन्ट्रैक्ट' में भी बनाये रखता है। वह प्राकृतिक स्थिति के एकाकी जीवन को 'प्राकृतिक' मानता है, जबकि उसे अरस्तू की भाँति सामुदायिक जीवन को 'प्राकृतिक' कहना चाहिए था। वह 'सोशल कन्ट्रैक्ट' में यह स्वीकार करता है कि एकाकी जीवन व्यक्ति को पूर्णता प्रदान करने हेतु अपर्याप्त तथा अपूर्ण है। 'प्राकृतिक' शब्द को रूसो प्रारम्भ से ही इस अर्थ में मानता चला आया था। अतः चाहे उसने एकाकी जीवन को बुरा माना है, वह इसे प्राकृतिक ही कहता है।

स्वतन्त्रता तथा सत्ता—समस्त राजनीतिक विचारों की मूलभूत समस्या व्यक्ति तथा राजनीतिक सत्ता (राज्य) के मध्य सम्बन्धों का समुचित निर्धारण करना होती है। व्यक्ति स्वतन्त्रता चाहता है तो राज्य उसकी स्वतन्त्रता को अनेक आधारों

[1] G. D. H. Cole, *op. cit.*, xxi-xxii.

[2] 'He clearly means by it no more and no less than the fundamental principle of political association, the basis of the unity which enables us, in the state, to realise political liberty by giving up lawlessness and licence.' —*Ibid.*

[3] Harmon, *op. cit.*, 303.

[4] W. T. Jones, *op. cit.*, 256.

पर प्रतिबन्धित करता है। इन प्रतिबन्धों के औचित्य या अनौचित्य को समुचित रूप से निर्धारित करना तथा व्यक्ति और राज्य के मध्य सम्बन्धों का समुचित निर्धारण करना राजनीतिक दर्शन या राजनीति विज्ञान की सबसे बड़ी समस्या है। 'सोशल कॉन्ट्रैक्ट' ग्रन्थ का आरम्भ ही रूसो की इस सुविख्यात उक्ति से होता है कि 'मनुष्य स्वतन्त्र जन्मा है, परन्तु वह सर्वत्र बेड़ियों से जकड़ा है।'[1] रूसो की यह धारणा कि 'मनुष्य स्वतन्त्र जन्मा है', उसकी प्राकृतिक स्थिति की मानव प्रकृति की धारणा से सहमति रखती है। राजनीतिक समाज की स्थापना से पूर्व मनुष्य के ऊपर किसी प्रकार का बन्धन नहीं था। वह स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करता था, और उसे अपने जीवन संचालन हेतु किसी सत्ता का भय नहीं था। उक्त वाक्यांश के साथ 'और वह सर्वत्र बेड़ियों से जकड़ा है' पद जोड़ देने का अर्थ यह है कि सामाजिक जीवन में मनुष्य अपनी प्राकृतिक स्थिति की स्वतन्त्रता को खो देता है, उसकी स्वतन्त्रता अनेक सामाजिक बन्धनों के कारण नष्ट हो जाती है। परन्तु रूसो की इस उक्ति का तात्पर्य इतने में ही समाप्त हो गया नहीं माना जाना चाहिए। 'सोशल कन्ट्रैक्ट' की रचना करते हुए रूसो की विचारधारा में जो परिवर्तन आ गये थे उनके सन्दर्भ में भी इस उक्ति का अर्थ समझना आवश्यक है। रूसो के आरम्भिक विचारों के आधार पर प्रथम वाक्यांश का अर्थ यह है कि 'मनुष्य को स्वतन्त्र, स्वाधीन तथा एकाकी होना चाहिए', क्योंकि उसके लिए ऐसा जीवन सर्वोत्तम एवं नैसर्गिक है। इसके आधार पर रूसो की काल्पनिक प्रारम्भिकता (romantic primitivism) के प्रति जो धारणा थी उसका आभास होता है। परन्तु जब रूसो मनुष्य को 'सदैव बेड़ियों में जकड़ा' कहता है तो उसका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य प्रारम्भिक अवस्था की भाँति ही स्वतन्त्र रहे। इसका यह आशय है कि 'मानव को स्वतन्त्र होना चाहिए (केवल इसी अर्थ में नहीं कि वह जो करना चाहे करे, बल्कि इस अर्थ में कि वह जो भी करे उसे सामान्य इच्छा का एक तत्त्व होने के रूप में करे, क्योंकि मानव का जीवन सामान्य इच्छा के जीवन का एक अंग है)।'[2] जब रूसो मनुष्य को 'स्वतन्त्र जन्मा, परन्तु सदैव बेड़ियों में भी जकड़ा' मानता है तो इस सन्दर्भ में उसका यह अभिप्राय है कि 'वह शायद ही कभी स्वतन्त्र हो (क्योंकि अधिकांश राज्यों की स्थापना शक्ति के आधार पर हुई है न कि सामान्य इच्छा के आधार पर, जैसा कि उन्हें होना चाहिए था)।'[3] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रूसो की स्वतन्त्रता की धारणा स्वच्छन्दता की नहीं है। अपितु वास्तविक स्वतन्त्रता समाज के जीवन में समाज की सामान्य इच्छा के साथ सामंजस्यपूर्ण आचरण करने में निहित है। जो राज्य शक्ति पर आधारित है, उनमें मनुष्य स्वतन्त्र नहीं रह सकता, बल्कि सदैव बेड़ियों में जकड़ा रहता है। रूसो के मत से आत्म-रक्षा तथा सामुदायिकता की प्रवृत्तियाँ मानव में स्वभावतः होती हैं। इन्हीं के कारण परिवार की उत्पत्ति होती है। इस स्थिति तक मानव अपनी जन्मजात स्वतन्त्रता का उपभोग करता है परन्तु मनुष्य में विवेक का अभ्युदय बाद में होता है, जो कृत्रिम है। इसके कारण ही मानव समाज में प्रविष्ट होते हैं और समाज में प्रविष्ट हो जाने पर मनुष्य की प्राकृतिक स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है और वह दास बनता जाता है। इसीलिए रूसो ने मनुष्य को सर्वत्र

[1] 'Man is born free, and everywhere he is in chains.'—Rousseau in *Social Contract* I-1.

[2] W. T. Jones, *op. cit.*, 258.

[3] *Ibid.*

बेड़ियों में जकड़ा हुआ कहा है। इस प्रकार रूसो मनुष्य में विवेक शक्ति के अस्तित्व को प्राकृतिक नहीं मानता, प्रत्युत् उसे सामाजिक जीवन के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली शक्ति मानता है। इसकी कृत्रिमता मनुष्य को पराधीन बना देती है।

रूसो विवेकवाद के युग का विचारक है। उस युग के चिन्तकों में एक प्रवृत्ति यह बन गयी थी कि वे सादगी, प्राकृतिक प्रवृत्तियों, भावावेशों आदि को उपेक्षापूर्ण दृष्टि से लेते थे। इनके स्थान पर विवेक पर आधारित कला, साहित्य, विज्ञान आदि द्वारा परिष्कृत जीवन को श्रेष्ठतर स्थिति प्रदान करते थे। रूसो ने अपने निबन्ध में इस प्रवृत्ति की निन्दा की है। उसका निष्कर्ष है कि मनुष्य प्रकृतितः अच्छा होता है, परन्तु सामाजिक संस्थाओं ने उसे विकृत कर दिया है। उसने लिखा था 'हमें अज्ञान, पवित्रता तथा गरीबी को पुनः दे दीजिए, वही हमें सुखी बना सकती है।' ऐसे विचार व्यक्त करने का रूसो का अभिप्राय: यही था कि समाज-निर्माण से पूर्व का मानव स्वस्थ, स्वतन्त्र, ईमानदार तथा सुख से भरा जीवन व्यतीत करता था। समाज ने उसके इन सारे सुखों को छीनकर उसे सर्वत्र बेड़ियों से जकड़ दिया है, क्योंकि उसके ऊपर समाज की सत्ता प्रभावी हो चुकी है और प्राकृतिक स्वतन्त्रता तथा समानता विनष्ट हो गयी है। रूसो के मत से इस सबका कारण यह है कि मानव मस्तिष्क में विवेक तत्त्व के प्रकट हो जाने से असमानता की धारणा और अधिक विवेकपूर्ण व्यक्तियों के द्वारा व्यक्तिगत सम्पत्ति अर्जित कर लेने की प्रवृत्ति आ गयी है। इसके कारण नागरिक समाज का निर्माण हुआ है और अब सभी मानव बन्धन में पड़ गये हैं। रूसो इस सारी समस्या के औचित्य की जाँच नैतिक दृष्टिकोण से करने की आवश्यकता प्रतीत करता है।

स्वतन्त्रता का आधार इच्छा है—आगे रूसो ने कहा है, 'एक व्यक्ति यह सोचता है कि वह स्वयं दूसरों का मालिक है, परन्तु फिर भी वह उन दूसरों की अपेक्षा अधिक दासता की स्थिति में रहता है।'[1] इसका तात्पर्य यह है कि जिस राजनीतिक समाज का आधार शक्ति है, वहाँ कोई भी व्यक्ति चाहे वह मालिक की सी स्थिति में हो अथवा दासत्व की, वास्तविक स्वतन्त्रता की प्राप्ति नहीं कर सकता। ऐसा परिवर्तन क्योंकर हो गया, इसका कोई भी उत्तर रूसो नहीं देता, परन्तु वह इस धारणा के औचित्य को प्रदर्शित करने का साहस करता है। रूसो की प्राकृतिक स्वतन्त्रता की धारणा न तो हॉब्स की सी है, जिसके अन्तर्गत यह माना गया था कि प्राकृतिक स्थिति में मनुष्य अपनी शक्ति के बल पर जो चाहता था, कर सकता था; और न वह लॉक की सी धारणा थी, जिसके अन्तर्गत यह माना गया था कि मनुष्य अपने विवेक के आधार पर जो भी उचित समझता था उसे करता था। प्रथम प्रकार की स्वतन्त्रता का आधार शारीरिक शक्ति तथा द्वितीय का नैतिक विवेक था। रूसो के अनुसार उपर्युक्त दोनों प्रकार की स्वतन्त्रताएँ स्वच्छन्दता की द्योतक है। तथ्य यह है कि कोई स्वतन्त्रता बिना प्रतिबन्ध के वास्तविक हो ही नहीं सकती। मनुष्य की स्वतन्त्रता पर वास्तविक प्रतिबन्ध उन्हीं नियमों का हो सकता है जिन्हें वह स्वयं अपने ऊपर आरोपित करे। इसी धारणा को स्पष्ट करने के निमित्त उसने सामान्य इच्छा सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। मनुष्य सामान्य इच्छा के साथ अपने को समीकृत कर सकता है, क्योंकि उसकी विशिष्ट इच्छा

1 'One thinks himself the master of others, and still remains a greater slave than they.' —Rousseau in *Social Contract* I-1.

(particular will) सामान्य इच्छा का सावयविक अंग है। उसका पालन करते हुए मनुष्य वास्तविक स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है।

हॉब्स तथा लॉक की धारणाओं का विरोध—स्वतन्त्रता तथा सत्ता के औचित्य को दर्शाने के लिए राजनीतिक समाज के स्वरूप का विवेचन आवश्यक था। रूसो यह नहीं मानता कि शक्ति औचित्य का कोई आधार हो सकती है, क्योंकि शक्ति का कोई नैतिक औचित्य नहीं है (might is not right) इसका आधार तो शारीरिक बल है। यदि ऐसा होता तो हम अपने को हानि पहुँचाए बिना अवज्ञा कर सकते और वहाँ पर अवज्ञा करना भी औचित्यपूर्ण माना जाता; और चूँकि बलशाली सदैव ही उचित ठहराये जाते, अतः यही धारणा सबमें बनी रहती कि सर्वाधिक शक्तिशाली बनने का प्रयास किया जाय।'[1] नागरिक शान्ति तथा सुरक्षा की प्राप्ति के लिए व्यक्ति अपने को किसी स्वेच्छाचारी शासक के हाथ बेच नहीं सकते, क्योंकि यदि सुरक्षा ही एकमात्र साध्य होता तो व्यक्ति जेल में जाना पसन्द कर सकते थे, जहाँ उन्हें सुरक्षा प्राप्त होती और वे शान्ति के साथ रह सकते। परन्तु व्यक्ति के सुखी जीवन के लिए ऐसा किसी भी रूप में उपयुक्त नहीं हो सकता। यदि किसी समय लोग मूर्खतावश अपनी सुरक्षा हेतु आत्म-समर्पण करके निरंकुशतन्त्र के अधीन रहना स्वीकार भी कर लें, तो उनकी भावी पीढ़ियाँ उस समझौते से बाध्य नहीं हो सकतीं। स्पष्ट है कि रूसो ने यह तर्क हॉब्स की धारणा के विरोध में व्यक्त किए थे, क्योंकि हॉब्स का संविदा सिद्धान्त यही दर्शाता है कि व्यक्तियों ने आत्म-रक्षा हेतु अपने समस्त अधिकार सम्प्रभु को दे दिये और संविदा हमेशा के लिए लागू हो गयी।

लॉक के संविदा सिद्धान्त का भी रूसो इस आधार पर विरोध करता है कि जनता बिना अपनी स्वतन्त्रता का त्याग किये विधायी शक्ति का प्रत्यायोजन कैसे कर सकती है। पुनः, यदि संविदा करते हुए व्यक्ति कुछ अधिकारों को अपने पास सुरक्षित रख लेते हैं, तो उन अधिकारों के निर्धारण तथा उनके प्रयोग करने की सीमा का निर्णय करने वाली कोई सामूहिक सर्वोच्च सत्ता नहीं रह जावेगी। ऐसी स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति अपना निर्णायक हो जायेगा, जिससे समाज में अराजकता छा जायेगी और वह प्राकृतिक स्थिति में प्रत्यावर्तित हो जायेगा।

अनुबन्ध की मूलभूत समस्या—राजनीतिक समाज में स्वतन्त्रता तथा सत्ता के मध्य सामंजस्य स्थापित करने हेतु रूसो उपर्युक्त दोनों धारणाओं को अमान्य करके सर्वप्रथम मौलिक समस्या का परीक्षण कर लेने की आवश्यकता पर बल देता है। उसका तर्क है कि माना कि प्राकृतिक स्थिति में मानव के समक्ष इतनी कठिनाइयाँ थी कि वह अकेला उनका सामना करने में असमर्थ था, फिर भी वह स्वतन्त्र था। परन्तु अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए वह अपनी ही शक्ति पर आश्रित था। स्वतन्त्रता आवश्यक है, परन्तु उसका दुरुपयोग भी हो सकता है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थी है। अतः सामाजिक जीवन में प्रवेश करते हुए व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा की समस्या पर विचार किया जाना चाहिए। रूसो के अनुसार, 'समस्या यह है कि एक ऐसे रूप के संगठन की खोज की जाय जो प्रत्येक सदस्य के शरीर तथा सम्पत्ति का सामूहिक शक्ति के द्वारा संरक्षण तथा प्रतिरक्षण करे, और जिसमें

[1] 'As soon as it is possible to disobey with impunity, disobedience is legitimate; and, the strongest being always in the right, the only thing that matters is to act so as to become the strongest.' —Rousseau in *Social Contract* I-3.

प्रत्येक, हरेक के साथ अपने को संयुक्त करते हुए भी केवल अपनी ही आज्ञा का पालन करे, और पहले की भाँति ही स्वतन्त्र रह सके।'[1]

रूसो के सामाजिक संविदा सिद्धान्त का मूलाधार उसकी यही धारणा है। उसका सिद्धान्त इसी समस्या के समाधान की खोज करता है। इसके अनुसार संविदा करते हुए प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों सहित अपने को सम्पूर्ण समाज को अर्पित कर देता है। साथ ही, चूँकि प्रत्येक व्यक्ति यही कार्य करता है, अतः कोई व्यक्ति दूसरे के लिए भारस्वरूप नहीं बन सकता। चूँकि कोई भी व्यक्ति अपने किसी अधिकार को अपने लिए सुरक्षित नहीं रखता, अतः यह प्रश्न नहीं उठता कि व्यक्ति अपने किसी निजी हित को लेकर स्वयं निर्णायक बन सकेंगे। अन्ततः, 'प्रत्येक व्यक्ति जब अपने को सम्पूर्ण समाज के समक्ष अर्पित करता है, तो वह अपने को किसी व्यक्ति विशेष को अर्पित नहीं करता और चूँकि समाज में कोई व्यक्ति-समूह ऐसा नहीं है जिसके ऊपर हम उन्हीं अधिकारों को प्राप्त नहीं कर लेते जिन्हें कि वह हमारे ऊपर प्राप्त करता है, क्योंकि हमने उन्हें आत्म-समर्पित कर दिया था, इसका यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक व्यक्ति उतनी ही उपलब्धि करता है जितना वह खोता है और जो कुछ उसके पास रहता है, उसकी सुरक्षा के लिए उसे अधिक शक्ति प्राप्त हो जाती है।'[2] रूसो की इस धारणा के अनुसार, सामाजिक संविदा करते हुए मनुष्य केवल अपनी उस स्वतन्त्रता को खोता है जो उसे असामाजिक भावनाओं के अनुसार कार्य करने को प्रेरित करती थी। ऐसी स्वतन्त्रता वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं थी। इसके स्थान पर मनुष्य नागरिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति करता है तथा अपने वास्तविक प्राप्य का कानूनी अधिकार उसे प्राप्त हो जाता है जिसका संरक्षण समूचा समाज करता है। इस प्रकार समाज में कानून के समक्ष समानता की धारणा का सृजन होता है। रूसो का कथन है कि व्यक्ति सामाजिक संविदा करते हुए इस प्रकार की शर्त करते हैं—'हममें से प्रत्येक व्यक्ति सामूहिक रूप से अपने देह तथा अपनी सारी शक्ति को सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निदेशन में रखता है और अपनी संसृष्ट क्षमता में हम प्रत्येक सदस्य को सम्पूर्ण के एक अभिन्न अंग के रूप में ग्रहण करते हैं।'[3]

अनुबन्ध के फलस्वरूप समाज का रूप—जब व्यक्ति परस्पर ऐसी संविदा कर लेते हैं तो तुरन्त ही पृथक् व्यक्तियों के स्थान पर एक नैतिक तथा सामूहिक निकाय का निर्माण हो जाता है, जिसकी स्वयं अपनी इच्छा, अपना जीवन तथा अपना अस्तित्व है, जो उसमें शामिल होने वाले समस्त व्यक्तियों की इच्छा, जीवन तथा अस्तित्व का योग है। निष्क्रिय रूप में सदस्य इसे राज्य (state) कहते हैं, सक्रिय रूप में सम्प्रभु (sovereign), तथा इसी के सदृश अन्यों की तुलना में शक्ति (power)। इसमें शामिल होने वाले व्यक्ति सामूहिक रूप से जनता (people),

[1] 'The problem is to find a form of association which will defend and protect with the whole common force the person and goods of each associate, and in which each, while uniting himself with all, may still obey himself alone, and remain as free as before.'—Rousseau in *Social Contract* I-6.

[2] 'Each man, in giving himself to all, gives himself to nobody; and as there is no associate over which he does not acquire the same rights as he yields others over himself, he gains an equivalent for everything he loses, and an increase of force for the preservation of what he has.'

[3] 'Each of us puts his person and all his power in common under the supreme direction of the general will, and, in our corporate capacity, we receive each member as an indivisible part of the whole.'

सम्प्रभु शक्ति के कार्यान्वियन में भाग लेते हुए नागरिक (citizens), तथा राज्यों के कानूनों के अधीन रहते हुए प्रजाजन (subjects) कहलाते हैं। इस प्रकार रूसो का सामाजिक संविदा सिद्धान्त हॉब्स तथा लॉक दोनों के सिद्धान्तों का मिश्रण सिद्ध होता है। हॉब्स के सिद्धान्त की भाँति इसमें भी व्यक्ति अपने को पूर्णतया पराधीन कर देते हैं और लॉक के सिद्धान्त की भाँति सत्ता जन-सहमति पर आधारित रहती है। अन्तर यही है कि व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता का समर्पण किसी निश्चित मानव श्रेष्ठ को न करके सामूहिक रूप में स्वयं अपने को करते हैं। प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि व्यक्ति पूर्णतया अपनी स्वतन्त्रता का परित्याग कर देने पर पहले की भाँति ही स्वतन्त्र कैसे रह सकते हैं? रूसो का सीधा उत्तर यही है कि चूँकि राज्य तथा व्यक्ति अभिन्न रूप से एक-दूसरे के साथ संयुक्त हैं, अतः यद्यपि व्यक्ति पूर्णतया राज्य में विलीन हो जाता है, तथापि वह स्वतन्त्र बना रहता है। प्राकृतिक स्थिति नागरिक समाज में परिवर्तित हो जाती है और प्राकृतिक स्वतन्त्रता नागरिक स्वतन्त्रता में। सामान्य इच्छा सम्प्रभु बन जाती है जिसका आधार जन-सहमति है। व्यक्ति तथा राज्य के मध्य दो प्रकार के सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं—(1) राज्य के समस्त व्यक्ति परस्पर एक-दूसरे से आबद्ध हो जाते हैं, तथा (2) राज्य के सदस्य के रूप में नागरिक सम्प्रभु के साथ आबद्ध होते हैं। अनुबन्ध एकाकी है। लॉक की भाँति किसी दूसरी संविदा की कल्पना रूसो की धारणा में नहीं आती। अनुबन्ध द्वारा सम्प्रभु राज्य का निर्माण होता है। सरकार की स्थापना सम्प्रभु समाज करता है और सरकार उसकी अभिकर्ता मात्र है न कि सम्प्रभु सत्ता की भागीदार। लॉक की भाँति व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की सी कल्पना रूसो की धारणा में नहीं है। रूसो अधिकारों को प्राकृतिक न मानकर सामाजिक मानता है। उसके मत से 'सामाजिक व्यवस्था एक पवित्र अधिकार जो अन्य सब अधिकारों का आधार है।'[1]

स्वतन्त्रता का नैतिक आधार—रूसो का कथन है कि प्राकृतिक स्थिति से नागरिक समाज की स्थिति में प्रत्यावर्तित होने पर मनुष्य में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आ जाता है। इससे पूर्व उसके ऊपर प्राकृतिक प्रवृत्तियों का शासन था, अब न्याय का शासन हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप उसमें नैतिकता का संचार होता है। तृष्णा के स्थान पर अधिकार की, शारीरिक संवेग के स्थान पर कर्त्तव्य की, इच्छा के स्थान पर विवेक की और स्वार्थ के स्थान पर परार्थ की भावना उत्पन्न होती है। प्राकृतिक स्वतन्त्रता, जो व्यक्ति की शारीरिक शक्ति द्वारा मर्यादित रहती थी, के स्थान पर सामान्य इच्छा द्वारा मर्यादित नागरिक स्वतन्त्रता की उत्पत्ति होती है। इसी को रूसो नैतिक स्वतन्त्रता की संज्ञा देता है। यह मनुष्य को अपने ऊपर नियन्त्रण रखने की क्षमता प्रदान करती है, क्योंकि प्राकृतिक स्थिति में जब मनुष्य केवल अपनी तृष्णाओं से प्रेरित होकर अपनी स्वतन्त्रता का प्रयोग करता था तो वह दासत्व की प्रतीक थी। इसके विपरीत 'वास्तविक स्वतन्त्रता उन कानूनों का पालन करने में है जिन्हें हम अपने लिए निर्धारित करते हैं।'[2] चूँकि नागरिक समाज में कानूनों का निर्माण सामान्य इच्छा के द्वारा होता है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा शामिल है, अतः उन कानूनों का पालन करने में व्यक्ति वास्तविक स्वतन्त्रता का अनुभव करता है। इस प्रकार रूसो संविदा सिद्धान्त के द्वारा स्वतन्त्रता का नैतिक आधार प्रस्तुत करता है।

[1] 'Social order is a sacred right which is the basis of all other rights.'
[2] 'Obedience to a law which we prescribe to ourselves is liberty.'

सम्प्रभुता का स्वरूप—राज्य की प्रभुसत्ता या सम्प्रभुता की आधुनिक धारणा का विकास बोदां के विचारों से प्रारम्भ हुआ है, हॉब्स ने बोदां द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त की कमियों को दूर करके उसे और अधिक स्पष्टता प्रदान की, जिसके फलस्वरूप भविष्य के विधिशास्त्रीय ढंग से सम्प्रभुता की व्याख्या करने वाले चिन्तकों के लिए हॉब्स का सिद्धान्त बहुत सहायक सिद्ध हुआ। कोल का कथन है कि 'सम्प्रभुता मूल रूप से एक वैधानिक शब्द है, और बहुधा यह माना जाता रहा है कि राजनीतिक दर्शन में इसका प्रयोग केवल भ्रमोत्पादक है।'[1] विधिशास्त्रीय ढंग से सम्प्रभुता की परिभाषा करते हुए जॉन ऑस्टिन ने कहा है कि 'किसी राजनीतिक समाज में सम्प्रभु वह निश्चित मानव श्रेष्ठ अधिकारी है जो अपने सदृश दूसरे मानव श्रेष्ठ अधिकारी की आज्ञा-पालन का अभ्यासी नहीं है परन्तु समाज के विशाल अंग से स्वभावत: आज्ञाकारिता प्राप्त करता है।'[2] इसका यह अर्थ है कि राज्य में सम्प्रभु कोई निश्चित व्यक्ति-श्रेष्ठ (एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह) ही हो सकता है और उसी का आदेश कानून है। इस दृष्टि से हॉब्स की विचारधारा का सम्प्रभु वैधानिक दृष्टि से सर्वोच्च सत्ताधारी होता है और उसका सम्प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त भी कानूनी सम्प्रभुता का सिद्धान्त है। परन्तु आधुनिक लोकतन्त्री राज्यों में कानूनी सम्प्रभु (निश्चित मानव श्रेष्ठ) की खोज कर सकना दुस्तर कार्य है। राजनीति विज्ञान या दर्शन की दृष्टि से राजनीतिक सम्प्रभु का निर्धारण करना भी कठिन कार्य है। कोल के कथनानुसार, 'दार्शनिक अर्थ में सम्प्रभु न तो नामधारी सम्प्रभु है, न वैध सम्प्रभु, न व्यावहारिक अर्थ का राजनीतिक सम्प्रभु; यह एकता के मौलिक अनुबन्ध का परिणाम, सामाजिक संविदा सिद्धान्त का पुनर्वचन अथच सामान्य इच्छा का प्रतिबिम्ब है। राज्य में सम्प्रभु वह निकाय है, जिसमें राजनीतिक शक्ति का निवास सदैव होना चाहिए और जिसमे ऐसी शक्ति का अधिकार सदैव अवश्यमेव रहता है।'[3]

सामान्य इच्छा तथा सम्प्रभुता—रूसो के अनुसार ऐतिहासिक दृष्टि से राजनीतिक संगठन का आधार सामाजिक संविदा है; विधिशास्त्रीय दृष्टि से देखा जाय तो लोक-प्रभुसत्ता का सिद्धान्त इसका आधार है; और दार्शनिक दृष्टि से राज्य का आधार उसके सदस्यों की विवेकपूर्ण इच्छा है। रूसो के राजनीतिक विचारों में सामाजिक संविदा, प्रभुसत्ता तथा सामान्य इच्छा की धारणाओं को परस्पर इस प्रकार गूँथा गया है कि एक के बिना दूसरी धारणा का पृथक् रूप से ज्ञान करना असम्भव है। रूसो के अनुसार, 'सम्प्रभुता सामान्य इच्छा की कार्यान्विति है' (sovereignty is

[1] 'Sovereignty is, first and foremost, a legal term, and it has often been held that its use in political philosophy merely leads to confusion.' —G. D. H. Cole, *op. cit.*, xxiii.

[2] 'A determinate human superior, not in the habit of obedience to a like superior, but receiving habitual obedience from the bulk of a given society.' —Austin.

[3] 'The Sovereign, in the philosophical sense, is neither the nominal Sovereign, nor the legal Sovereign, nor the political Sovereign of fact and common sense : it is the consequence of the fundamental bond of union, the restatement of the doctrine of Social Contract, the foreshadowing of that of General Will. The Sovereign is that body in the State in which political *power ought* always to reside, and in which the *right* to such power *does* always reside.' —Cole, *op. cit.*, xxiii–xxiv.

the exercise of the general will) । दूसरे शब्दों में, राज्य में सामान्य इच्छा ही सम्प्रभु होती है । सामान्य इच्छा को सम्प्रभु मानने का आधार सामाजिक संविदा है । इसका यह निष्कर्ष है कि अपने भविष्य का निर्धारण करने की शक्ति अन्ततोगत्वा जनता के हाथ में है । यह धारणा जनता को सर्वोच्च राजनीतिक सत्ता प्रदान करने की द्योतक है । यहाँ तक कि निरंकुशतावादी हॉब्स भी कम से कम नाम के लिए जनता की सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार करता है, क्योंकि संविदा द्वारा सम्प्रभु सरकार को निरंकुश सत्ता जनता ही प्रदान करती है । रूसो तथा हॉब्स में यही अन्तर है कि रूसो सर्वोच्च सत्ता को अदेय मानता है, जबकि हॉब्स जनता द्वारा उसकी प्रथम संसक्त प्रक्रिया में उसका हस्तान्तरण करा देता है । इस प्रकार वह जनता की सर्वोच्च सत्ता को नष्ट कर देता है । लॉक भी लोक-प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का समर्थक है । उसके विचार से सर्वोच्च शक्ति जनता के हाथ में है, परन्तु वह सदैव सक्रिय नहीं रहती । संविदा के अनुसार वह शासन के विधायी अंग के बहुमत द्वारा प्रयुक्त होती है । परन्तु सर्वोच्च शक्ति के प्रयोग का आधार लोक सहमति ही है । यदि शासक वर्ग लोक सहमति की अवज्ञा करते हैं, तो सर्वोच्च सत्ता सक्रिय हो जाती है और शासकों को पदच्युत कर सकती है । परन्तु रूसो का सामान्य इच्छा सिद्धान्त लोक-प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट करता है । उसके अनुसार सामान्य इच्छा सदैव सक्रिय रहती है और उसकी सत्ता निरपेक्ष तथा अमर्यादित है ।

हॉब्स के संविदा सिद्धान्त के अन्तर्गत भी सम्प्रभु की शक्ति असीम तथा निरपेक्ष बतायी गयी है । सम्प्रभु बौद्धिक दृष्टि से सर्वोच्च सत्ताधारी है । राज्य तथा शासन के मध्य कोई भेद नहीं माना गया है । सम्प्रभु कानून का स्रोत तथा उसको कार्यान्वित करने की शक्ति से युक्त है । इसके विपरीत लॉक की धारणा में जन-सहमति का सिद्धान्त सम्प्रभु के वैध तथा वास्तविक स्वरूपों में भेद करता है । लॉक ने राज्य तथा शासन के मध्य भेद किया है । राज्य अथवा जन-समूह राजनीतिक दृष्टि से वास्तविक सम्प्रभु (सर्वोच्च सत्ताधारी) है । शासन कानूनी दृष्टि से सम्प्रभु है । शासन का विधायी अंग विधि का स्रोत है । परन्तु सत्ता का आधार जन-सहमति है । शासन की सत्ता जनता की सहमति के अधीन है । सर्वोच्च सत्ताधारी जन-समूह शासन को मर्यादित करता है । 'रूसो ने हॉब्स के निरंकुश सम्प्रभुता के सिद्धान्त तथा लॉक के जन-सहमति के सिद्धान्त को लोक-सम्प्रभुता की दार्शनिक धारणा के साथ संयुक्त किया है, जो कि तब से लेकर आज तक इस सिद्धान्त का स्थापित रूप बना हुआ है ।'[1]

सम्प्रभुता के लक्षण—प्रभुसत्ता के लक्षणों को बताने में रूसो भी हॉब्स की भाँति ही निरंकुशतावादी है । यद्यपि दोनों विचारकों की राजनीतिक विचारधाराओं में कोई साम्य नहीं है, तथापि प्रभुत्व शक्ति के स्वरूप का निरूपण करने में दोनों के निष्कर्ष समान हैं । रूसो ने कहा है कि 'जिस प्रकार प्रकृति ने प्रत्येक मानव को अपने अंगों के ऊपर निरपेक्ष शक्ति प्रदान की है उसी प्रकार सामाजिक संविदा राजनीतिक समाज को अपने अंगों के ऊपर असीम शक्ति प्रदान करती है ।' यह शक्ति सामान्य इच्छा द्वारा निदेशित प्रभुसत्ता है । सम्प्रभु शक्ति के असीम होने का

[1] 'Rousseau unites the absolute Sovereignty of Hobbes and the popular consent of Locke into the philosophical doctrine of popular Sovereignty, which has since been the established form of the theory.' —Cole, *op. cit.*, xiv.

आधार जनता की सहमति है। सामान्य इच्छा सदैव सक्रिय रहती है; उसका नवीनीकरण होता रहता है। यह वह शक्ति है जो नागरिकों की सहमति से प्राप्त होती रहती है। अतः यह सम्भव नहीं है कि समूचे रूप में जन-समूह अपनी सत्ता पर किसी की मर्यादा आरोपित करेगा। 'चूँकि सम्प्रभु अपने निर्माणकारी व्यक्तियों के योग से अधिक कुछ नहीं है, अतएव उसका हित उनके हितों के विरुद्ध नहीं हो सकता है।' प्रभुसत्ता का अमर्यादित होना नैतिक दृष्टि से भी औचित्यपूर्ण है, क्योंकि इसका आधार जन-सहमति है। सम्प्रभु के द्वारा बल-प्रयोग किया जाना इसलिए औचित्य रखता है कि ऐसा प्रतिबन्ध व्यक्तियों ने संविदा द्वारा स्वयं अपने ऊपर आरोपित किया है। यदि समाज में सभी लोग पूर्णतया विवेकशील होते और समाज का संचालन एक परिवार की भाँति चलता होता, तो शासन-सत्ता अनावश्यक होती। परन्तु चूँकि समाज ऐसे व्यक्तियों से युक्त नहीं होता और व्यक्ति स्वार्थवश दूसरों का अहित भी कर सकते हैं, अतः व्यक्ति की विशिष्ट इच्छा जब सामान्य इच्छा से विरोध रखती है, तो सामान्य इच्छा को निरंकुश शक्ति प्राप्त होनी ही चाहिए, क्योंकि उसका उद्देश्य सामान्य हित होता है। इसीलिए संविदा द्वारा व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत इच्छा को सामान्य इच्छा के निदेशन में रखते हैं। इस प्रकार 'यदि सामाजिक संविदा को एक खोखला सूत्रमात्र नहीं होना है, तो उसमें यह धारणा अन्तर्निहित है जो कि दूसरों को यह शक्ति प्रदान करती है कि कोई व्यक्ति जो सामान्य इच्छा के आदेश को मानने मे इनकार करता है उसे सम्पूर्ण नागरिक समाज आज्ञा पालन करने को बाध्य करेगा। इसका यह अर्थ है कि ऐसे व्यक्ति को स्वतन्त्र होने के लिए बाध्य किया जायेगा।'[1]

रूसो की यह धारणा लॉक से अधिक सुस्पष्ट है। लॉक की विचारधारा में प्रत्येक व्यक्ति को बहुमत का आदेश मानने को बाध्य बताया गया है क्योंकि संविदा का स्वरूप व्यक्ति से ऐसी अपेक्षा करता है। परन्तु रूसो सामान्य इच्छा की निरपेक्ष सत्ता का समर्थक है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा शामिल है। अतः सामान्य इच्छा के आदेश का पालन करने में व्यक्ति अपनी इच्छा का ही पालन करता है। लॉक की धारणा में जो व्यक्ति बहुमत की इच्छा से विरोध रखता है उसे जन-हित में अपनी इच्छा के विरुद्ध बहुमत की बात को मानने के लिए विवश होने की बात कही गई है। इसके विपरीत रूसो की धारणा में जो व्यक्ति सामान्य इच्छा से विरोध रखता है, उसकी इच्छा को ही सामान्य इच्छा से मेल न रखने के कारण अवास्तविक कहा गया है। ऐसी व्यक्तिगत इच्छा उस व्यक्ति को स्वतन्त्रता की ओर निदेशित नहीं करती। अतएव समाज की सत्ता अर्थात् सामान्य इच्छा उसे अपने आदेश का पालन करने को विवश करके उसे स्वतन्त्र होने के लिए बाध्य करती है। इस कथन से रूसो का अभिप्राय यह है कि सामान्य इच्छा के द्वारा निर्मित कानूनों का पालन करने में ही व्यक्ति की वास्तविक स्वतन्त्रता निहित है। जोन्स का कथन है कि रूसो की यह धारणा अत्यधिक भ्रमपूर्ण है। सामान्यतया यदि कभी कोई व्यक्ति अपने

[1] 'If the social contract be not merely an empty formula, it tacitly implies an understanding which alone gives force to others, that any individual who refuses to obey the general will, will be compelled by the whole body of citizens. This means nothing more than that such a man will be forced to be free.'

किसी स्वार्थ से निदेशित होकर किसी ऐसे कानून का उल्लंघन करने को उद्यत हो जाय जो उसके कृत्य पर स्वयं उसके तथा सार्वजनिक हित के लिए प्रतिबन्ध लगाये (यथा अत्यधिक चाल से किसी वाहन को चलाना), तो ऐसी स्थिति में कानून का प्रतिबन्ध उसे कानून को मानने तथा उसके द्वारा 'स्वतन्त्र होने को बाध्य' कर सकता है। यह नैतिक औचित्य है। परन्तु जो व्यक्ति आदतन अपराधी हों या दण्ड भोग रहे हों, ऐसे विवेकहीन व्यक्तियों को उन कानूनों के प्रतिबन्ध में रहकर स्वतन्त्र होने को बाध्य नहीं किया जा सकता, जो कि उनकी व्यक्तिगत इच्छा के विरुद्ध है। ऐसा अपराधी स्वयं अपने को दण्डित करने वाले कानून को सहमति प्रदान नहीं करेगा। अतः वह कानून जो उसकी सहमति द्वारा नहीं बना है, सार्वजनिक हित में उचित होते हुए भी, उसे स्वतन्त्र होने को बाध्य नहीं कर सकता। रूसो अपराधियों को सामान्य इच्छा में भाग लेने से वंचित नहीं करता। उसे ऐसा करना चाहिए था, क्योंकि कोई व्यक्ति अपराधी इसलिए कहा जाता है कि वह सामान्य इच्छा में भाग लेने में असमर्थ अथवा असफल होता है। जो भी हो रूसो की यह धारणा लॉक की अपेक्षा कहीं अधिक लोकतन्त्री है। इसीलिए 'रूसो हॉब्स के समान ही निरंकुशवादी है, और वह लॉक से अधिक लोकतान्त्रिक है।'[1]

सम्प्रभुता अदेय है—रूसो का कथन है कि राज्य की स्थापना का उद्देश्य सार्वजनिक हित है और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए राज्य का निदेशन केवल सामान्य इच्छा ही कर सकती है। सामान्य इच्छा सम्प्रभु है। इसका हस्तान्तरण नहीं हो सकता, क्योंकि सम्प्रभु, जो कि एक सामूहिक प्राणी है, का अपने अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा प्रतिनिधित्व नहीं किया जा सकता। निस्सन्देह शक्ति का हस्तान्तरण किया जा सकता है, इच्छा का नहीं।'[2] अतः रूसो की दृष्टि से सम्प्रभुता अदेय (inalienable) है। सम्प्रभु शक्ति के अदेय होने के कारण वह अविभाज्य भी है। रूसो के मत से इच्छा या तो सामान्य होती है या विशेष। यदि वह सामान्य है तो वह सम्पूर्ण समाज की है और इस स्थिति में वह कानून का स्रोत है। यदि वह सामान्य नहीं है तो वह समाज के एक अंग-विशेष की होगी, जिसे विशेष इच्छा या प्रशासकीय आदेश कहा जा सकता है। अन्य राजनीतिक चिन्तकों की आलोचना करते हुए रूसो कहता है कि वे सिद्धान्त रूप से सम्प्रभुता को अविभाज्य घोषित करने में असमर्थ रहने के कारण उद्देश्य की दृष्टि से उसका विभाजन करते हैं। कभी वे उसका विभाजन विधायी तथा अधिशासनिक शक्ति के रूप में करते हैं तो कभी सम्प्रभुता से सम्बद्ध अन्य कार्यों तथा न्यायिक, युद्ध या शान्ति सम्बन्धी, करारोपण की शक्ति के रूप में उसका विभाजन करते हैं, जो भ्रामक है। वास्तव में यह सब कार्य विधि-निर्माण के न होकर विधि के परिपालन सम्बन्धी कार्य हैं। इनके द्वारा प्रभुत्व शक्ति के विभाजित होने की बात को मानना भ्रामक है। ये सब कार्य सम्प्रभु की इच्छा के कार्यान्वयन से सम्बद्ध है। परन्तु सम्प्रभुता एक है, जिसका विभाजन नहीं हो सकता।

कानून—रूसो का मत है कि समाज में नागरिकों के अधिकारों को कर्त्तव्यों

[1] 'Rousseau is as absolutist as Hobbes, and more democratic than Locke.'

[2] 'The Sovereign who is no less than a collective being, cannot be represented except by himself: the power indeed may be transmitted, but not the will.'

के साथ जोड़ने तथा इस उद्देश्य हेतु न्याय की स्थापना करने के लिए परम्पराएँ तथा कानून आवश्यक हैं। प्राकृतिक स्थिति में इनकी आवश्यकता नहीं थी। परन्तु राजनीतिक समाज में समस्त अधिकार कानून द्वारा निर्धारित किये जाते हैं। रूसो के अनुसार कानून सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है, जो समस्त जनता के लिए सम्पूर्ण जन-समूह का संकल्प है और जिसका सम्बन्ध उन वस्तुओं से है जो सबसे सम्बन्ध रखती हैं। कानून प्रजाजनों को सामूहिक रूप से तथा उनके कार्यों को भाववाचक अर्थ में लेता है। वह किसी व्यक्ति-विशेष या कार्य-विशेष के उद्देश्य को नहीं लेता। कानून विशेषाधिकारों की सृष्टि कर सकता है, परन्तु उन्हें किसी व्यक्ति-विशेष को प्रदान नहीं कर सकता। इसी प्रकार कानून राजतन्त्रात्मक शासन या वंशानुगत राजतन्त्र के सिद्धान्त को अपना सकता है, परन्तु वह किसी व्यक्ति विशेष को राजा घोषित नहीं कर सकता और न किसी परिवार को शाही घोषित कर सकता है। सारांश यह है कि 'कोई भी कार्य जिसका उद्देश्य किसी व्यक्ति विशेष से हो विधायिका के अधिकार क्षेत्र में नहीं है।'[1]

चूँकि कानून सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है, अतः यह प्रश्न ही नहीं उठता कि राज्य में कानून बनाने का अधिकार किसे है, या यह कि क्या राजा कानून से ऊपर है, क्योंकि वह स्वयं राज्य के एक सदस्य से अधिक कुछ नही है, या यह भी कि कोई कानून उचित है या नहीं, क्योंकि कोई भी व्यक्ति स्वयं अपने लिए अनौचित्य नहीं कर सकता। यदि सम्प्रभु का कोई आदेश किसी विशिष्ट उद्देश्य से सम्बन्धित हो, न कि सार्वजनिक से, तो उसे कानून नहीं कहा जा सकता। वह केवल एक आज्ञप्ति मात्र (decree) है। वह सम्प्रभु का कार्य नहीं, बल्कि अधिशासनिक कार्य है। कोई भी राज्य विधि-संगत तभी है जबकि उसका कानून शासन के आधार पर चलता हो। इस दृष्टि से कोई भी राज्य चाहे वह लोकतन्त्री हो या कुलीनतन्त्री अथवा चाहे वह राजतन्त्रात्मक ही क्यों न हो, यदि वह कानून के अनुसार शासित है तो उसे गणतन्त्र कहा जायगा।

रूसो का सामान्य इच्छा सिद्धान्त

सामान्य इच्छा सिद्धान्त का महत्त्व—राजनीतिक दर्शन को रूसो का सबसे महान् अनुदाय उसका सामान्य इच्छा का सिद्धान्त है। उसके राजनीतिक विचारों के किसी भी पहलू का स्पष्ट ज्ञान करने के लिए उसकी सामान्य इच्छा की धारणा को समझना अत्यावश्यक है, क्योंकि यह धारणा उसके सम्पूर्ण राजनीतिक दर्शन रूपी मेहराब की आधारशिला है। इसी के आधार पर वह स्वतन्त्रता, अधिकार, कानून, सम्प्रभुता, राज्य की उत्पत्ति, संगठन, उद्देश्य आदि का विवेचन करता है। परन्तु रूसो ने सामान्य इच्छा की पारिभाषिक व्याख्या नहीं की है। अपने ग्रन्थों में यत्र-तत्र सामान्य इच्छा का विवेचन करते हुए उसने पाठकों में कई भ्रान्तियाँ उत्पन्न कर दी हैं। इसीलिए रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त की विद्वानों ने बहुत आलोचना की है। परन्तु यह भी स्मरणीय है कि रूसो के इस सिद्धान्त ने भविष्य के आदर्शवादी विचारकों के दर्शन को विकसित करने में बहुत सहायता प्रदान की। कांट, हीगल, बोसांके, ग्रीन आदि सभी प्रत्ययवादी (आदर्शवादी) चिन्तकों ने रूसो की सामान्य

[1] 'No function which has a particular object belongs to the legislative power.'

इच्छा की धारणा को अपनाया है, और उसे अपने विचारों के अनुरूप निर्वचित करने का प्रयास किया है।

सामान्य इच्छा तथा सामूहिक या विशेष इच्छा—सामान्य इच्छा की धारणा को रूसो ने 'Social Contract' की रचना से पूर्व अपने निबन्ध 'Political Economy' में व्यक्त किया था। उसने कहा है कि 'राजनीतिक समाज एक जीव-सावयव के तुल्य है जो मनुष्य से मिलता-जुलता है।'[1] राज्य सावयव तथा जीव सावयव के विभिन्न अंगों में समानता दर्शाते हुए उसका कहना है कि राज्य की इच्छा उसके स्नायु मण्डल का स्रोत है। आगे वह कहता है कि 'राजनीतिक समाज भी एक इच्छा से युक्त नैतिक प्राणी है और यह सामान्य इच्छा जो कि सदैव सम्पूर्ण तथा उसके प्रत्येक अंग की सुरक्षा तथा कल्याण की ओर प्रवृत्त रहती है और कानूनों का स्रोत है, राज्य के समस्त सदस्यों के लिए, उनके एक-दूसरे के साथ तथा राज्य के साथ पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में उन नियमों का निर्माण करती है जो उचित अथवा अनुचित का बोध कराते हैं।'[2] रूसो राजनीतिक समाज की स्थापना का आधार सम्पूर्ण समाज की इच्छा को मानता है। परन्तु वह इस बात को भी स्पष्ट करता है कि सामान्य इच्छा (general will) तथा सामूहिक इच्छा (will of all or common will) में भेद है। उसने कहा है कि 'बहुधा सामान्य इच्छा तथा सामूहिक इच्छा के मध्य भारी अन्तर होता है। सामूहिक इच्छा व्यक्तिगत हितों का ध्यान रखती है जिसके कारण वह विशेष इच्छाओं का योग होने से अधिक और कुछ नहीं है, परन्तु सामान्य इच्छा केवल सामूहिक हित का ध्यान रखती है।'[3] रूसो की धारणा में यह आवश्यक नहीं कि सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति के लिए सर्व-सम्मति आवश्यक है और न सर्वसम्मति का होना सामान्य इच्छा की प्रत्याभूति का व्यावहारिक समाधान ही है। ऐसा सम्भव हो सकता है कि किसी राय को व्यक्त करके जनता कानून बना ले, जो कि सामान्य इच्छा पर आधारित न हो। ऐसी स्थिति तब आती है जबकि उस नीति का लाभ समाज के केवल एक भाग को होता है, चाहे वह बहुसंख्यक हो या अल्पसंख्यक। अतः उसे विशेष इच्छा या सामूहिक इच्छा की अभिव्यक्ति माना जायेगा न कि सामान्य इच्छा की। सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति हेतु रूसो का समाधान यह है कि 'विभिन्न मतभेद जन्य इच्छाओं में से धनात्मक तथा ऋणात्मक तत्त्वों को निकाल लिया जाय, जो कि एक-दूसरे को काट देते हैं; इस प्रकार इन अन्तरों से जो योगफल शेष रहेगा, वही सामान्य इच्छा कहलायेगा।'[4] परन्तु इस कार्य में सावधानी बरतने की आवश्यकता है कि ऐसी राय

[1] 'The body politic, taken individually, may be considered as an organized, living body, resembling that of man.'

[2] 'The body politic, therefore, is also a moral being possessed of a will; and this general will, which tends always to the preservation and welfare of the whole and every part, and is the source of the laws, constitutes for all the members of the State, in their relations to one another and to it, the rule of what is just or unjust.' —Cole, *op. cit.*, 236–37.

[3] 'There is often a great deal of difference between the will of all and the general will; the latter considers only the common interest, while the former takes private interest into account, and is no more than a sum of particular wills.' —Rousseau, *Social Contract* II–3.

[4] 'Take away from these same wills the pluses and minuses that cancel one another, and the general will remains as the sum of the differences.'

की अभिव्यक्ति में व्यक्ति पृथक्-पृथक नागरिकों के रूप में कार्य करें। यदि वे विभिन्न परस्पर विरोधी तथा पक्षपाती गुटों के रूप में अपनी राय व्यक्त करेंगे तो वह इच्छा सामान्य इच्छा न होकर विशेष इच्छा हो जायेगी। वास्तविक सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि समाज में ऐसे छोटे-छोटे गुटों का अस्तित्व न रहे और व्यक्ति नागरिक के रूप में केवल अपनी ही इच्छा को व्यक्त करें। रूसो के मत से ऐसे समुदायों के अस्तित्व का परिणाम यह होगा कि समुदाय के सम्बन्ध में तो उससे सम्बद्ध व्यक्तियों के अस्तित्व का परिणाम यह होगा कि समुदाय के सम्बन्ध में तो उससे सम्बद्ध व्यक्तियों की इच्छा सामान्य होगी, परन्तु समूचे राज्य के सम्बन्ध में वह विशेष इच्छा ही रहेगी।

सामान्य इच्छा तथा बहुमत—रूसो के मत से राजनीतिक समाज की स्थापना हेतु सामाजिक अनुबन्ध के लिए सर्व-सम्मति आवश्यक है। जो व्यक्ति संविदा में शामिल नहीं होते उन्हें नागरिक नहीं अपितु विदेशी माना जायेगा। परन्तु संविदा द्वारा समाज की स्थापना हो जाने पर सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति बहुमत द्वारा होती है। यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि अल्पसंख्यक सामान्य इच्छा द्वारा निर्मित कानून का पालन करने में कैसे स्वतन्त्र रह सकेंगे, जबकि वे उसका विरोध करते थे? इस प्रश्न के समाधान के लिए रूसो यह तर्क देता है कि ऐसा प्रश्न ही भ्रामक है। वास्तव में अल्पसंख्यक सब कानूनों में अपनी सहमति देते हैं। 'जब किसी जन-सभा में किसी कानून को प्रस्तावित किया जाता है तो जनता से यह नहीं पूछा जाता कि वह प्रस्ताव का समर्थन करती है या नहीं, अपितु जनता से यह ज्ञात किया जाता है कि प्रस्ताव सामान्य इच्छा के अनुरूप है या नहीं, जो कि उनकी इच्छा है। प्रत्येक व्यक्ति अपना मत देते हुए, इसी प्रश्न पर अपनी राय व्यक्त करता है और मतगणना द्वारा सामान्य इच्छा का ज्ञान कर लिया जाता है।' ऐसा करने में यदि बहुमत के द्वारा ऐसी राय का समर्थन किया जाता है जो किसी एक व्यक्ति की राय से भिन्न है, तो उस व्यक्ति के बारे में यह माना जायेगा कि वह अपनी राय द्वारा सामान्य इच्छा की सही परख न कर सकने की भूल करता है। उसका निर्णय पक्षपात से निदेशित होता है। यदि कदाचित उसकी धारणा को विजय प्राप्त हो जाती तो सामान्य इच्छा (सार्वजनिक हित) के सम्बन्ध में उसका विचार बदल जाता और उस स्थिति में वह स्वतन्त्र नहीं रह पाता।

आलोचना—बहुमत द्वारा सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति किये जाने की धारणा रूसो को लोकतन्त्र का एक यथार्थवादी समर्थक सिद्ध करती है, क्योंकि लोकतन्त्र में जन इच्छा की अभिव्यक्ति के लिए बहुमत की राय को मानने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प सम्भव नहीं हो सकता। परन्तु इसके समर्थन में जो तर्क रूसो प्रस्तुत करता है वह न तो सन्तोषप्रद है और न तर्कसम्मत। जहाँ तक सामान्य इच्छा द्वारा सामूहिक उद्देश्य को सम्पन्न करने की धारणा का प्रश्न है, वहाँ तक तो रूसो के सिद्धान्त की उपादेयता से इनकार नहीं किया जा सकता। परन्तु यह कैसे मान लिया जाय कि बहुसख्यक जनता ही किसी समस्या पर उसके सामूहिक हित में होने या न होने की सत्यता का निर्धारण करने की योग्यता तथा विवेक रखती है। व्यवहार में, किसी लोकतन्त्री राज्य में सार्वजनिक नीति पर निर्णय लेने का उपाय बहुमत की बात को मानने के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। इस दृष्टि से रूसो का सिद्धान्त ठीक हो सकता है। परन्तु जब रूसो यह कहता है कि

अल्पसंख्यक भूल करते हैं या बहुसंख्यकों की बात मानकर ही वे वास्तव में स्वतन्त्र रह सकते हैं, तो उसकी सामान्य इच्छा का उद्देश्य सही नहीं माना जा सकता। दूसरे, रूसो का सिद्धान्त प्राचीन ग्रीक के नगर-राज्यों के सदृश छोटे-छोटे तथा सम-रूप जन-समूहों के सम्बन्ध में उपयुक्त सिद्ध हो सकता है। परन्तु रूसो विशाल राष्ट्रीय राज्यों के युग का विचारक था। ऐसे राज्यों में विविध हितों से युक्त अनेक अल्पसंख्यक जन-समूहों का अस्तित्व था। ऐसी व्यवस्थाओं में बहुमत द्वारा सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति किये जाने का परिणाम यह हो सकता है कि बहुसख्यक जन-समूह अल्पसंख्यकों के हितों का सार्वजनिक हित के नाम पर शोषण करेंगे। तीसरे, यह धारणा नागरिकों के व्यक्तिगत तथा अलंघ्य अधिकारों की मान्यता के विरुद्ध है। यद्यपि रूसो यह मानता है कि सामाजिक संविदा के आधार पर सम्प्रभु सामान्य इच्छा एक सार्वजनिक व्यक्ति के रूप में उत्पन्न होती है, तथापि वह इस तथ्य की उपेक्षा करता है कि सम्प्रभु तथा उसका निर्माण करने वाले व्यक्तियों के अधिकार पृथक् हैं। 'सामाजिक संविदा द्वारा प्रत्येक मनुष्य अपनी शक्ति, सम्पत्ति तथा स्वतन्त्रता के केवल उतने ही भाग का हस्तान्तरण करता है जितना कि समाज के हित के लिए आवश्यक है, परन्तु यह भी ज्ञातव्य है कि इसका निर्धारण सम्प्रभु के द्वारा किया जाता है।'[1]

सामान्य इच्छा तथा सम्प्रभुता—रूसो सामान्य इच्छा को प्रभुसत्ता से समीकृत करता है। राजनीतिक समाज की स्थापना के लिए जनता संविदा करते हुए अपने अधिकारों का सामान्य इच्छा के पक्ष में समर्पण करके सामान्य इच्छा को प्रभुत्व शक्ति प्रदान करती है। अतः जो लक्षण प्रभुसत्ता के बताये गये हैं, वही सब सामान्य इच्छा के लक्षण भी है। अर्थात् यह अविभाज्य, असीम, अमर्यादित, अप्रतिनिध्यात्मक, अदेय तथा अलंघ्य (indivisible, absolute, unlimited, unrepresentable, inalienable and infallible) है। इसीलिए यह सर्वोच्च या सम्प्रभु है। चूँकि सामान्य इच्छा का उद्देश्य समस्त समाज का सामूहिक हित है न कि विशेष हित, इसलिए सामान्य इच्छा समाज में सदस्यों के मध्य समानता की धारणा को मान्य करती है। अपनी सम्प्रभु सत्ता के कारण ही यह विविध व्यक्तियों या संवासों की विशेष या स्वार्थपूर्ण इच्छाओं को सामूहिक हित के प्रति निदेशित करती है। सामान्य इच्छा की सम्प्रभु सत्ता के कारण अन्य विशिष्ट इच्छाएँ सम्पूर्ण समाज के हित में अपने वैयक्तिक हितों का त्याग करती हैं। इस प्रकार सामान्य इच्छा राज्य में व्यक्तियों एवं संवासों के मध्य सावयविक एकता स्थापित करती है और समाज को एक संगठित सजीव व्यक्तित्व प्रदान करती है। यही राज्य के कानूनों का स्रोत है। यद्यपि राजनीतिक समाज में सामान्य इच्छा सामूहिक या सबकी इच्छा नहीं है, तथापि इसका उद्देश्य सामूहिक तथा सबका हित है। इस दृष्टि से ऐसी व्यक्तिगत इच्छाओं को जो सामान्य इच्छा से सहमति नहीं रखती हैं, सामान्य इच्छा में अपने को विलीन कर देने के लिए बाध्य होना पड़ता है। इसमें उनकी स्वतन्त्रता छिनने का प्रश्न नहीं उठता। सामान्य इच्छा के प्रभुत्व सम्पन्न होने की धारणा राज्य के समष्टिवादी स्वरूप की परिचायक है। रूसो की सामान्य इच्छा की धारणा प्रभुत्व

[1] 'Each man alienates, I admit, by the social compact, only such part of his powers, goods and liberty as it is important for the community to control; but it must also be granted that the sovereign is the sole judge of what is important.'

शक्ति का नैतिक आधार प्रस्तुत करती है। सामूहिक हित का उद्देश्य रखने के कारण सामान्य इच्छा उचित-अनुचित के मध्य भेद करती है।

इन गुणों से युक्त होने के कारण सामान्य इच्छा अदेय है। इसका हस्तान्तरण नहीं किया जा सकता। सम्प्रभु समाज सामूहिक हित में सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति निरन्तर करता रहता है। संविदा में सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति के हस्तान्तरण की कोई शर्त नहीं होती। जिस प्रकार मनुष्य अपने प्राणों का हस्तान्तरण बिना अपने को नष्ट किये नहीं कर सकता, उसी प्रकार सामान्य इच्छा का हस्तान्तरण बिना समाज के नष्ट हुए नहीं हो सकता। रूसो ने कहा है कि 'यदि जन-समूह केवल आज्ञाकारी रहने की प्रतिज्ञा कर ले, तो अपने इस कार्य से वह स्वयं भंग हो जायेगा। वह जन-समूह कहलाने योग्य नहीं रह जायेगा। ज्यों ही किसी समाज में एक स्वामी का अस्तित्व हो जाता है, त्यों ही सम्प्रभु का अस्तित्व समाप्त हो जाता है और राजनीतिक समाज भी समाप्त हो जाता है।'[1] रूसो यह नहीं कहता कि सामान्य इच्छा की ओर से शासक कोई आदेश जारी नहीं कर सकते। शासक सामान्य इच्छा के अभिकर्त्ता हैं। वे इसकी कार्यान्विति हेतु आदेश जारी करेंगे और जब तक सम्प्रभु इच्छा उनका विरोध नहीं करेगी, तब तक वे वैध माने जायेंगे। परन्तु शासन का कोई अभिकरण सम्प्रभु नहीं हो सकता। साथ ही सामान्य इच्छा का विभाजन भी नहीं हो सकता। वह एक एकता (unity) है। चूंकि सामान्य इच्छा विवेकपूर्ण होती है न कि संवेगात्मक, अतः इसमें स्थायित्व तथा निरन्तरता बनी रहती है। साथ ही यह नैतिकता पर आधारित सही इच्छा होती है।

यद्यपि रूसो का सामान्य इच्छा सिद्धान्त सामान्य इच्छा अथवा प्रभुसत्ता के निरंकुशतावादी स्वरूप का समर्थन करता है, तथापि रूसो की यह धारणा कि, सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता, मर्यादित शासन के सिद्धान्त को समर्थन देती है। इस धारणा से रूसो प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का समर्थक सिद्ध होता है। सामान्य इच्छा विवेकपूर्ण इच्छा है, उसका उद्देश्य सामूहिक हित है, शक्ति के द्वारा राजनीतिक समाज की स्थापना नहीं होती। ये धारणाएँ इस तथ्य की द्योतक हैं कि 'राज्य का आधार इच्छा है, न कि शक्ति।' यह सिद्धान्त सार्वजनिक हित को व्यक्तिगत हित की अपेक्षा प्राथमिकता प्रदान करता है और राज्य के निगमात्मक स्वरूप का बोध कराता है। चूंकि सामान्य इच्छा कानून तथा न्याय का स्रोत है, जिसका आधार विवेक है, अतः सामान्य इच्छा की प्रभुसत्ता के अन्तर्गत शासित राज्य में व्यक्ति वास्तविक स्वतन्त्रता का अनुभव करते हुए अपने अविवेकी आचरणों का परित्याग करने की दिशा में प्रवृत्त हो सकेगा।

सामान्य इच्छा का स्वरूप—सामान्य इच्छा की धारणा के द्वारा रूसो ने राजनीतिक समाज को एक ऐसे जीव सावयव के रूप में चित्रित किया है जिसका अपना स्वयं का व्यक्तित्व तथा जीवन है। राज्य सावयव का व्यक्तित्व तथा जीवन उसका निर्माण करने वाले अंगों (व्यक्तियों) के व्यक्तित्व तथा जीवन से बिल्कुल भिन्न हैं। समाज का निगमात्मक व्यक्तित्व 'सामूहिक मैं' (moi-commun or common me) की धारणा व्यक्त करता है। समाज के ऐसे सावयविक स्वरूप के अन्तर्गत

[1] 'If then the people promises simply to obey, by that very act it dissolves itself and loses what makes it a people ; the moment a master exists, there is no longer a Sovereign, and from that moment the body politic has creased to exist.'

सामान्य इच्छा की धारणा सावयव का निर्माण करने वाले सदस्यों के निमित्त नैतिक मानदण्ड प्रस्तुत करती है। ऐसे राजनीतिक समाज मे सामान्य इच्छा की सम्प्रभुता की धारणा सरकार की प्रभुसत्ता (सामान्य इच्छा) की अभिकर्त्ता मात्र स्वीकार करती है। समाज के सदस्य परस्पर आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक बन्धन से आबद्ध हो जाते हैं। सामान्य इच्छा 'सामूहिक में' के रूप में परिणत हो जाती है।

राजनीतिक समाज के ऐसे सावयविक स्वरूप का चित्रण करने में रूसो ने अनुबन्ध सिद्धान्त को अपनाया। उसके समक्ष समाज में व्यक्ति की वैयक्तिक, सम्पत्ति आदि की स्वतन्त्रता को संरक्षण देने की समस्या थी। उसने सम्पूर्ण समाज की सत्ता को ऐसा दायित्व सौंपा। सम्पूर्ण समाज की इच्छा को उसने सामान्य इच्छा माना, जिसका सृजन समाज के सदस्यों की व्यक्तिगत इच्छाओं द्वारा होता है। रूसो के अनुसार व्यक्तिगत इच्छाएं दो प्रकार की होती हैं : यथार्थ (actual) तथा वास्तविक (real)। यथार्थ इच्छा अविवेकपूर्ण, स्वार्थी तथा वैयक्तिक प्रकृति की होती है। इसका उद्देश्य व्यक्तिगत हित-साधन होता है। परन्तु व्यक्ति की वास्तविक इच्छा यथार्थ इच्छा से उच्चतर प्रकृति की होती है और उसका उद्देश्य सबका हित होता है। वह सदैव सामूहिक हित (common good) का उद्देश्य रखती है। सामान्य इच्छा समस्त व्यक्तियों की वास्तविक इच्छाओं का योग या संश्लेषण है। यह व्यक्तियों की वह इच्छा है जबकि वे अपने व्यक्तिगत हितों या किसी वर्ग-विशेष के हितों के सम्बन्ध में इच्छा न करके सामान्य हित की इच्छा करते हैं। इस प्रकार सामान्य इच्छा सब लोगों की आवाज है। स्पष्ट है कि रूसो जब कभी भी सामान्य इच्छा की धारणा व्यक्त करता है, इससे उसका अभिप्राय सबका या सामान्य हित (common good or the good of all) था। सामान्य इच्छा के स्वरूप तथा उद्देश्य की यही एक कसौटी है। स्वयं रूसो कहता है कि सबकी इच्छा (will of all) को सामान्य इच्छा तभी कहा जा सकता है जबकि उसका उद्देश्य सामान्य हित में हो। अन्यथा सामान्य हित का उद्देश्य रखने वाली एक व्यक्ति की या थोड़े से व्यक्तियों की इच्छा को भी सामान्य इच्छा कहा जा सकता है।

संविदा करते हुए जब व्यक्ति अपने समस्त अधिकारों तथा शक्तियों को सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निदेशन में रख देते हैं तो उसका यह अभिप्राय नहीं है कि सामान्य इच्छा व्यक्तिगत इच्छाओं की स्थानापन्न (substitute) या प्रतिनिधि बन जाती है। प्रत्युत् व्यक्तिगत इच्छाएँ समाप्त नहीं हो जातीं, वे फिर भी बनी रहती हैं परन्तु वे अपने अधिकारों के समान संरक्षण के निमित्त सामान्य इच्छा के अधीन हो जाती हैं। इस प्रकार रूसो की मान्यता है कि व्यक्ति जहाँ अपने अधिकारों का समर्पण सामान्य इच्छा के समक्ष कर देते हैं, वहाँ वे सामान्य इच्छा के सदस्यों के रूप में उन्हें पुनः प्राप्त करते रहते हैं। सामान्य इच्छा के निर्माण में उनका भाग निरन्तर बने रहने से प्रत्येक व्यक्ति का अन्यों के ऊपर समान नियन्त्रण बना रहता है। अतः व्यक्ति व्यक्तिगत क्षमता में जो कुछ खोता है उसे सामूहिक क्षमता में प्राप्त करता रहता है।

सामान्य इच्छा की धारणा के दोष

(1) जटिलता—रूसो ने सामान्य इच्छा की धारणा को अनेक अस्पष्ट तथा जटिल दार्शनिक तर्कों के आधार पर व्यक्त किया है। अतएव यह निर्दिष्ट कर सकना

आसान नहीं है कि कौनसी इच्छा 'सामान्य इच्छा' कही जा सकती है। यह कहना असंगत नहीं होगा कि स्वयं सामान्य इच्छा ही इस बात की कसौटी है कि कौन-सी इच्छा सामान्य है और कौनसी नहीं। सामान्य इच्छा तथा सबकी इच्छा या सामूहिक इच्छा में जो भेद किया गया है, वह भी स्पष्ट नहीं है। उचित तथा अनुचित या सामान्य हित तथा विशेष हित के मध्य भेद करने का कोई वैज्ञानिक तरीका सम्भव नहीं है। अत: इसी आधार पर सामान्य इच्छा तथा सबकी इच्छा के मध्य भेद कर सकना भी सम्भव नहीं प्रतीत होता। उद्देश्य की दृष्टि से एक व्यक्ति की या अल्पसंख्यकों की बहुसंख्यकों की अथवा सबकी इच्छा भी सामान्य इच्छा हो सकती है। रूसो का यह तर्क खरा नहीं बैठता कि बहुसंख्यकों की इच्छा सामान्य इच्छा होगी। ऐसा भी सम्भव हो सकता है कि कभी बहुसंख्यकों की इच्छा स्वार्थपूर्ण हो, जबकि अल्पसंख्यकों की इच्छा सामूहिक हित की दृष्टि से अधिक उपयुक्त हो। ऐसी स्थिति में कानून या नीति का स्वरूप न केवल अल्पसंख्यकों का अहित करेगा, अपितु सार्वजनिक हित में भी वह अहितकर सिद्ध होगा। ऐसी धारणा बहुसंख्यकों के अत्याचारीतन्त्र (tyranny of majority) की द्योतक सिद्ध होती है।

(2) **सामाजिक संविदा तथा सामान्य इच्छा के मध्य विरोधाभास**—सामान्य इच्छा की धारणा के आधार पर रूसो राजनीतिक समाज के सावयव स्वरूप को चित्रित करता है। परन्तु राज्य-सावयव की रचना को वह समझौते के द्वारा हुई मानता है। सामान्य इच्छा सामाजिक व्यक्तियों के विवेक से उत्पन्न हुई वास्तविक इच्छाओं का योग है। रूसो प्रारम्भिक प्राकृतिक मानव को जो संवेगों का पुंज था, वास्तव में सुखी मानता है और विवेक को कृत्रिम कहता है। अतएव विवेक की जात सामान्य इच्छा जोकि सामाजिक मानवों के पारस्परिक समझौते से निर्मित हुई है वह सम्प्रभु रहेगी और सामान्य हित का ध्यान रखेगी, ये धारणाएँ परस्पर विरोधी लगती हैं। समझौते के द्वारा राज्य की निरंकुश प्रभुसत्ता को सिद्ध करने में जो त्रुटि हॉब्स ने की थी, वही रूसो ने भी की है। वेपर ने उचित ही कहा है कि 'अगर सामान्य इच्छा सर्वोच्च है तो सामाजिक संविदा अनावश्यक तथा अर्थहीन है, और यदि सामाजिक संविदा आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण है तो सामान्य इच्छा सर्वोच्च नहीं हो सकती।'

(3) **सामान्य इच्छा की निर्माण प्रक्रिया में अस्पष्टता**—रूसो का सामान्य इच्छा सिद्धान्त अपूर्ण तथा अस्पष्ट है। सामान्य इच्छा का निर्माण गणित के अवशेष के रूप में होना एक भ्रामक धारणा है। विविध परस्पर विरोधी निर्णय एक-दूसरे से कट जायेंगे और जो शेष बचेगा वह सामान्य इच्छा के रूप में रह जायेगा, ऐसी धारणा की मान्यता सामाजिक जीवन के क्षेत्र में सामान्य इच्छा के गत्यात्मक स्वरूप का विवेचन नहीं कर पाती। रूसो की धारणा से यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्तियों की इच्छा का वास्तविक या विवेकमय अंग ही सामान्य इच्छा के लिए आवश्यक है। यथार्थ का संवेगमय भाग गणित के नियमों से कट जाता है। परन्तु यह बता सकना कठिन है कि एक संसक्त सामाजिक जीवन के अन्तर्गत व्यक्ति की इच्छा का कौन-सा भाग विवेकमय है और कौन-सा नहीं। स्वयं व्यक्ति की इच्छा का ऐसा विभाजन कैसे सम्भव होगा ? व्यक्ति की इच्छा एक निगमात्मक सम्पूर्णता होती है। रूसो इस तर्क का कोई समाधान प्रस्तुत नहीं करता।

(4) **व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का निषेध**—यह मानना कि सामान्य इच्छा से

विरोध रखने वाले व्यक्ति गलत सोचते हैं, अतः सामान्य इच्छा के आदेश का पालन करने के लिए, (जिसका अर्थ है बहुमत की बात को मानने के लिए) उन्हें बाध्य किया जायेगा, अर्थात् उन्हें स्वतन्त्र होने के लिए बाध्य किया जायेगा, एक अनोखा तर्क है। यह धारणा व्यक्ति की स्वतन्त्रता का निषेध करने के तुल्य है। माना कि कोई व्यक्ति स्वार्थ के वशीभूत होकर सामान्य इच्छा से विरोध रखने में वास्तव में गलती करता था, तो सामान्य इच्छा उसे सही मार्ग पर लाने का सही साधन सिद्ध हो सकती है। यदि व्यक्ति विवेकशील हो तो उसे उस कानून को मानने के लिए विवश करके स्वतन्त्र होने को बाध्य किया जा सकता है। परन्तु समाज में अनेक अपराधी ऐसे होते हैं जो कि कानूनों का उल्लंघन करते हुए अपने स्वार्थों की पूर्ति करने में प्रयत्नशील रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों के सम्बन्ध में उन्हें सामान्य इच्छा के आदेशों अर्थात् कानूनों का पालन करने के लिए उन्हें विवश करके उन्हें स्वतन्त्र होने के लिए बाध्य करने की धारणा किस प्रकार साकार हो सकेगी, इसका सन्तोषजनक उत्तर रूसो ने कहीं प्रस्तुत नहीं किया है। यदि ऐसा होता तो अपराधी दण्ड को सहर्ष स्वीकार करने की अपेक्षा उससे बचने या अपने अपराध को छिपाने के लिए प्रयत्नशील क्यों रहते ? इस दृष्टि से सामान्य इच्छा की धारणा अत्यन्त भावनामूलक तथा संकीर्ण सिद्ध होती है। वास्तविकता यह है कि स्वतन्त्रता तथा बल-प्रयोग के मध्य सामजस्य स्थापित नहीं किया जा सकता। ये दोनों बातें साथ-साथ नहीं चल सकतीं।

(5) **राज्य के निरंकुशतावाद का सूचक**—यह धारणा राज्य को एक अति संस्था (super entity) बना देती है, जिसका अपने निर्माणकारी तत्त्वों से पृथक् अस्तित्व है। व्यक्तियों की वैयक्तिक स्वतन्त्रता का कोई महत्त्व प्राप्त न होने से उन्हें राज्य के समक्ष अपने को बलिदान करना पड़ेगा। इस प्रकार राज्य, जो व्यक्ति के हितों का साधन है, स्वयं साध्य बन जायेगा। व्यवहार में राज्य की सम्प्रभु शक्ति का प्रयोग शासन के अंगों द्वारा किया जाता है। सामान्य इच्छा के अभिकर्त्ता के नाम पर न केवल सम्प्रभु सत्ता के प्रयोक्ता बने रहेंगे, प्रत्युत् वे स्वयं सम्प्रभु सत्ता धारण करने की ओर प्रवृत्त हो जायेंगे, और अत्याचारपूर्ण ढंग से शासन चलाने लगेंगे। सामाजिक व्यवहार में व्यक्तिगत हित तथा सार्वजनिक हित के मध्य भेद करना कठिन कार्य है। बहुधा ये दोनों एक रूप के होते हैं। परन्तु सामान्य इच्छा की धारणा सार्वजनिक हित को महत्त्वपूर्ण मानती है। अतएव कौन-सा हित सार्वजनिक है, इसका निर्धारण करने की कोई कसौटी नहीं रह जाती।

(6) **विशाल राज्यों के लिए अनुपयुक्त**—रूसो का सामान्य इच्छा सिद्धान्त अत्यन्त छोटे तथा समरूप जन-समूहों के लिए उपयुक्त सिद्ध हो सकता है, न कि विशाल राष्ट्रीय राज्यों के लिए, जिनमें विविध तत्त्वों से युक्त जन-समूह होते हैं और जहाँ सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति प्रतिनिध्यात्मक रूप से ही सम्भव हो सकती है। ऐसी स्थिति में सामूहिक हित की व्याख्या कर सकना सम्भव नहीं है।

(7) **जनमत तथा सामान्य इच्छा के मध्य भेद अस्पष्ट**—रूसो सामान्य इच्छा को प्रभुसत्ता से समीकृत करता है। अतः उसे जनमत भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जनमत सम्प्रभु नहीं हो सकता। एक सच्चा तथा स्वस्थ जनमत वही होता है जिसका उद्देश्य सामान्य हित हो। परन्तु उद्देश्य एक होते हुए भी जनमत को रूसो की सामान्य इच्छा नहीं माना जा सकता। साथ ही रूसो की धारणा कानूनी

प्रभुसत्ता की धारणा से भी मेल नहीं रखती, क्योंकि सामान्य इच्छा निश्चित मानव श्रेष्ठ नहीं है।

प्रभाव—इन कमियों के बावजूद रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त को दार्शनिक कल्पनामात्र मानकर उपेक्षित नहीं रखा जा सकता। वास्तव मे रूसो के इस सिद्धान्त ने भविष्य की अध्यात्मवादी (metaphysical) या निरंकुशवादी अथवा प्रत्ययवादी (idealistic) विचारधाराओं के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। कांट, फिक्टे, हीगल, ग्रीन, बोसांके आदि सभी आदर्शवादी विचारकों ने रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त को अपनाया और उसे विकसित करके अपनी विचारधाराओं में उसका समावेश किया। यद्यपि आज यह सभी विचारधाराएँ महत्त्वहीन हो गई हैं, तथापि लोकतन्त्र के विकास में रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त का कम महत्त्व नहीं है। आधुनिक लोकतन्त्रों का आधार जनमत है और जनमत की धारणा रूसो की सामान्य इच्छा की धारणा का ही दूसरा रूप है। प्रत्यक्ष लोकतन्त्र की परम्पराओं (लोक-निर्णय, जनमत संग्रह आदि) मे तथा बहुमत द्वारा लोकतन्त्र की कार्यान्विति में रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त का प्रभाव स्पष्ट है। ग्रीन ने इसी धारणा को अपनाकर यह सिद्ध किया था 'राज्य का आधार इच्छा है न कि शक्ति।' सामान्य इच्छा के आधार पर संगठित समाज की एकता की धारणा ने आधुनिक राष्ट्रवाद के विकास का मार्ग प्रशस्त करने में बड़ा योगदान किया है।

राज्य तथा सरकार

राज्य तथा सरकार में अन्तर—रूसो ने राज्य तथा सरकार के मध्य स्पष्ट भेद किया है। उसके विचार से सामाजिक संविदा के परिणामस्वरूप जिन जन-समुदाय का निर्माण होता है, वह प्रभुत्व शक्ति-सम्पन्न तथा सर्वोच्च शक्ति से युक्त राजनीतिक समाज अथवा राज्य है। इसके विपरीत 'सरकार सम्प्रभु राज्य तथा प्रजाजनों के मध्य निर्मित वह संगठन है, जो उनके पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करता है, सम्प्रभु द्वारा निर्मित कानूनों को लागू करता है तथा नागरिक और राज-नीतिक स्वतन्त्रता को बनाये रखता है।' शासन के अंगों के सम्बन्ध में रूसो की धारणा अपने पूर्ववर्ती विचारकों से भिन्न है। वह विधायिका को सरकार का अंग नहीं मानता। उसके मत से विधायी शक्ति सम्पूर्ण जनता में निहित रहती है जो सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति करके विधि-निर्माण का कार्य करती है। चूँकि सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता, अतः सम्प्रभु समाज विधि-निर्माण हेतु प्रतिनिध्यात्मक व्यवस्थापिका का निर्माण करके उसे सरकार का विधायी अंग स्वीकार नहीं कर सकता। रूसो के अनुसार विधि-निर्माण सम्प्रभु का कार्य है, क्योंकि कानून सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है और सामान्य इच्छा या प्रभुसत्ता अदेय है, अतः सम्प्रभु समाज प्रतिनिध्यात्मक व्यवस्थापिका को अपनी सत्ता का हस्तान्तरण नहीं कर सकता। इंग्लैण्ड की प्रतिनिध्यात्मक व्यवस्थापिका के समर्थकों के विरुद्ध रूसो का यह तर्क था कि 'इंग्लैण्ड की जनता केवल संसद के सदस्यों का निर्वाचन करते समय ही स्वतन्त्र रहती है, शेष अवधि में वह दासता की स्थिति में रहती है।' इस दृष्टि से विधायिका सरकार का अंग नहीं है।

सरकार या शासन से रूसो का अभिप्राय केवल कार्यपालिका अंग से था। उसके मत से समस्त जनता के हाथ में राज्य की अधिशासनिक शक्ति नहीं रह सकती,

क्योंकि अधिशासन 'विशेष कार्यों' (particular acts) से सम्बन्ध रखता है न कि सामान्य कार्यों से, और सम्प्रभु का कार्य केवल सामान्य हित अर्थात् विधि-निर्माण है। इसलिए राज्य में जो संगठन विशेष कार्यों (अधिशासन तथा प्रशासन) से सम्बद्ध उसे सरकार कहा जाता है। सरकार से रूसो का अभिप्राय: मुख्य कार्यपालिका या सर्वोच्च प्रशासन से था। सरकार के अन्तर्गत कार्य करने वाले विभिन्न निम्नस्तरीय पदाधिकारी प्रशासक कहलाते हैं।

विधायिका—सामाजिक संविदा द्वारा समस्त जनता राज्य की स्थापना करती है और कानून द्वारा शासन के स्वरूप का निर्धारण करती है। यही समस्त जन-समूह सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति द्वारा कानून-निर्माण का कार्य करता है। अतएव इसे विधायिका की स्थिति प्राप्त होती है, और वही राज्य की सम्प्रभु-शक्ति का प्रयोग करती है। अत: यह आवश्यक है कि इसे समय-समय पर समवेत होना चाहिए। रूसो इस कठिनाई से भी अनभिज्ञ नहीं था कि समस्त जन-समूह का समय-समय पर एक स्थान में समवेत हो सकना सम्भव नहीं होगा। चूँकि विधायी शक्ति, जिसे रूसो सम्प्रभुता कहता है, का न तो हस्तान्तरण हो सकता, न प्रतिनिधित्व और न विभाजन, इसलिए न तो विधायिका शक्ति किसी प्रतिनिध्यात्मक संस्था को हस्तान्तरित की जा सकती है और न सामान्य इच्छा का ज्ञान करने के लिए जनता को विभिन्न भागों में बाँटा जा सकता है। अत: रूसो विधायिका के सम्बन्ध में दो वैकल्पिक योजनाएँ प्रस्तुत करता है—प्रथम के अनुसार, शासन के प्रधान कार्यालय को राज्य के विभिन्न नगरों में समय-समय पर परिवर्तित करते रहने तथा वहाँ से सामान्य इच्छा को ज्ञात करते रहने की व्यवस्था है। यद्यपि यह एक कठिन प्रक्रिया है, तो भी रूसो कहता है कि जहाँ अधिकार तथा स्वतन्त्रता सब कुछ है वहाँ असुविधा का ध्यान रखना आवश्यक नहीं है। परन्तु बाद में रूसो दूसरे विकल्प पर आता है। वह राजनीतिक समाजों के निर्माण हेतु छोटे-छोटे नगर-राज्यों की व्यवस्था का समर्थन करता है, जो सम्प्रभु राज्य होंगे और जिनमें सुविधानुसार समस्त जनता सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति हेतु एक साथ समवेत हो सकेगी। इसके उपरान्त फिर वह संघात्मक व्यवस्था (confederation) की योजना का उल्लेख करता है।[1] रूसो की दृष्टि से विधायिका ही राज्य की सम्प्रभु सत्ता को धारण करती है और वह सम्पूर्ण नागरिकों की संस्था है, जो सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति द्वारा कानून-निर्माण तथा राज्य की शासन-नीतियों का निर्माण करती है। सरकार (कार्यपालिका) की स्थापना विधायिका के द्वारा की जाती है, जो स्वयं विधायिका की अभिकर्ता तथा उसके प्रति उत्तरदायी है। सम्प्रभु विधायिका ही शासन के मौलिक (सांविधानिक) कानूनों को परिवर्तित कर सकती है, तथा सरकार को पदच्युत कर सकती है। अत: सरकार की स्थापना संविदा के द्वारा नहीं होती।

कार्यपालिका या सरकार के रूप—चूँकि सरकार से रूसो का अभिप्राय कार्यपालिका से है, अत: शासन के रूपों का विवेचन करने में रूसो कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों की संख्या को आधार-स्वरूप मानता है। अर्थात् यदि कार्यपालिका शक्ति में आम जनता भाग ले तो शासन लोकतन्त्री होता है, यदि थोड़े से लोग उसमें भाग लें तो कुलीनतन्त्री तथा केवल एक व्यक्ति मुख्य कार्यपालिका

[1] रूसो ने कहा था कि वह संघात्मक व्यवस्था का विवेचन बाद में करेगा। परन्तु वह अपनी इस प्रतिज्ञा को पूर्ण नहीं कर सका।

शक्ति धारण करे तो वह राजतन्त्र कहलाता है। शासन मिश्रित भी हो सकता है। अपनी मूल प्रकृति के आधार पर कोई शासन-प्रणाली दूसरी से उच्चतर या हीनतर नहीं कही जा सकती। वह विभिन्न राज्यों की भौगोलिक परिस्थितियों, जनसंख्या आदि पर निर्भर करती है, साथ ही उस शासन-प्रणाली द्वारा प्राप्त परिणामों पर भी। इस सम्बन्ध में मैक्सी ने कहा है कि 'रूसो का शासन के रूपों का विवेचन उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता का सूचक है। ....रूसो से पूर्व बीसियों लेखकों ने ये बातें कही थीं, और यदि उनके विचारों में रूसो ने कुछ जोड़ा तो यही कि चाहे शासन का रूप कुछ भी हो, प्रभुसत्ता लोकतन्त्री होती है।'[1] अन्य लेखकों की भाँति रूसो भी मानता है कि लोकतन्त्र अत्यन्त छोटे राज्यों में ही सम्भव हो सकता है। आम जनता में लोकतन्त्री शासन को संचालित करने की क्षमता भी नहीं होती। अतः रूसो निर्वाचित कुलीनतन्त्र को उचित शासन-प्रणाली मानता है। राजतन्त्र अच्छा हो सकता है, परन्तु बहुधा अनेक राजाओं की असफलता तथा उत्तराधिकारी की समस्या के कारण रूसो उसे बहुत अच्छी व्यवस्था नहीं मानता।

राज्य तथा शासन का उद्देश्य—राज्य तथा सरकार के उद्देश्य के सम्बन्ध में रूसो स्वतन्त्रता तथा समानता की उपलब्धि को सबसे अधिक महत्त्व देता है। यह ऐसी उपलब्धियाँ हैं जिनके द्वारा जनता की 'सुरक्षा तथा समृद्धि' हो सकती है। उत्तम शासन वह है जो इन उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक हो। जनता की समृद्धि तथा सुरक्षा के लिए रूसो जनसंख्या की वृद्धि को शुभ मानता है। समानता के बिना स्वतन्त्रता सम्भव नहीं है। अतः विधायकों को नागरिकों के मध्य आर्थिक समानता स्थापित करने की व्यवस्था करनी चाहिए, ताकि समाज में व्यक्ति के द्वारा व्यक्ति का शोषण न किया जा सके। रूसो का मत है कि यदि समाज में सम्पत्ति की अत्यधिक असमानता होती हैं, तो नैतिक समानता सम्भव नहीं हो सकेगी।

शासनिक समस्याएँ तथा उनके समाधान—राजनीतिक संगठन तथा संस्थाओं की सैद्धान्तिक व्याख्या करने के उपरान्त उनके सफल संचालन हेतु रूसो कुछ व्यावहारिक समाधान भी देता है :

(1) वह यह मानता है कि जनता सम्प्रभु है, अतः सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति सम्प्रभु जनता ही कर सकती है। यदि जनता वास्तव में इस उत्तरदायित्व को निभाने की क्षमता रखे तो विधि-निर्माण में कठिनाई नहीं आ सकती। परन्तु ऐसा सर्वत्र सम्भव नहीं है। अतः सम्प्रभु जनता की सुविधा के लिए प्रबुद्ध 'विधायक' की आवश्यकता होती है, जो कि विधि का प्रारूप तैयार करे और जब सम्प्रभु जनता उसके सम्बन्ध में सामान्य इच्छा व्यक्त कर दे तब उसे विधि का रूप दिया जाए। ऐसा विधायक सम्प्रभु जनता के प्रति उत्तरदायी होगा।

(2) रूसो का दूसरा समाधान जनता तथा शासन के मध्य ट्रिब्यूनेट (Tribunate) की स्थापना का है, जो दोनों को संरक्षण प्रदान करेगा और जल्दीबाजी में किये जाने वाले कार्यों को रोकने में सहायक सिद्ध होगा। परन्तु ऐसा निकाय जनता के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए।

(3) रूसो आकस्मिक तथा आपत्काल की परिस्थितियों का सामना करने

[1] 'His treatment of the forms of government is one of his poorest performances.... Scores of writers had said this before Rousseau, and if he added anything at all to their ideas, it was his insistence that sovereignty is democratic regardless of the form of government.' —Maxey, *op. cit.*, 360-61.

के लिए अधिनायकवादी व्यवस्था का प्राविधान करने का सुझाव भी देता है, क्योंकि कानून में लचीलेपन के अभाव के लिए यह व्यवस्था उपयुक्त होगी।

(4) रूसो गुण-दोष-परीक्षण (censorship) की व्यवस्था पर भी जोर देता है। इसका कार्य जनमत को समुचित दिशा में निदेशित करना होगा।

(5) रूसो एक राजकीय धर्म (civil religion) की स्थापना की योजना भी बताता है। यद्यपि इसके लिए उसकी बहुत कड़ी आलोचना हुई है, तथापि रूसो इसे हठधर्मिता (dogma) के रूप में नहीं लेता। उसका विश्वास था कि ईसाई धर्म ने समाज को विध्वंस करने में योगदान किया है। अतः राज्य द्वारा स्वयं अपना धर्म लागू किया जाना चाहिए और सम्प्रभु समाज द्वारा उसके सिद्धान्त निश्चित किये जाने चाहिए। जो व्यक्ति उनका उल्लंघन करेगा उसको नागरिक दण्ड (civil punishment) दिया जाएगा न कि धार्मिक (theological) दण्ड। इस धारणा के द्वारा रूसो न तो ईसाई धर्म-प्रचारकों की धर्म को राज्य में प्राथमिकता देने की नीति का समर्थन करता है और न राजनीति को धर्म से बिल्कुल अलग रखने की नीति का। राजकीय धर्म की स्थापना का स्वप्न रूसो के क्रान्तिकारी मस्तिष्क का परिचायक है।

यद्यपि रूसो लोक-प्रभुसत्ता की धारणा का प्रबल समर्थक था, तथापि उसे इसकी सफल कार्यान्विति की सम्भावना पर सन्देह था। उसका कहना है कि प्रत्येक लोकतन्त्री राज्य के जीवन में बहुधा एक समय ऐसा आता है जबकि सामाजिक बन्धन निर्बल हो जाता है और राज्य दुर्बल हो जाता है। इसका कारण यह है कि सामान्य हित के स्थान पर विशेष हित बलशाली होते जाते हैं और छोटे-छोटे समुदाय बड़े समुदायों को प्रभावित करने लगते हैं और सामान्य इच्छा का स्वरूप बदल जाता है। कानून-निर्माण में व्यक्तिगत हित कार्य करने लगते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि राज्य विकृत तथा उसका संविधान परिवर्तित हो जाता है। सम्प्रभु का स्थान शासक ले लेते हैं। मानव प्रकृति की इस दुर्बलता को राजनीतिक संगठन अथवा राजनीतिक प्रक्रिया की कृत्रिम विधियों द्वारा रोका नहीं जा सकता। अतएव रूसो का सुझाव है कि राजनीतिक पतन को रोकने के लिए सामाजिक संविदा की पुनः पुष्टि करने के लिए समय-समय पर जनता की सभाओं को बुलाया जाना चाहिए, जो निवर्तमान सरकार के बने रहने का प्रस्ताव करें।

रूसो के राजनीतिक विचारों की समीक्षा

संविदावादी होते हुए भी वह अनेक नई विचारधाराओं का जन्मदाता है—रूसो राजनीतिक चिन्तन के संविदावाद के युग का अन्तिम विचारक है। 17वीं सदी के लगभग सभी राजनीतिक विचारक इसी श्रेणी में आते हैं। परन्तु उनमें से हॉब्स तथा लॉक ने संविदा सिद्धान्त को एक क्रमबद्ध रूप से व्यक्त करके इस सिद्धान्त के प्रमुख विचारकों की श्रेणी प्राप्त की है। 18वीं शताब्दी में मांटेस्क्यू ने इस सिद्धान्त की परम्परा को छोड़ दिया था। परन्तु रूसो के दर्शन में पुनः संविदावाद के दर्शन होते हैं। यदि रूसो की राजनीतिक विचारधारा को सम्पूर्ण रूप में लिया जाय तो यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि रूसो, हॉब्स तथा लॉक की भाँति केवल एक संविदावादी विचारक है। वह निस्सन्देह राज्य की उत्पत्ति तथा संगठन को संविदा के आधार पर व्यक्त करता है, परन्तु वह संविदावादी विचारक

होने की अपेक्षा बहुत कुछ अधिक है। उसकी विचारधारा राज्य के सम्बन्ध में अनेक नए आदर्शों की पूर्वगामी कही जा सकती है। वह लोकतन्त्रवाद तथा आधुनिक राष्ट्रवाद को प्रेरणा देने वाली सिद्ध हुई है। उसने 19वीं शताब्दी के राजनीतिक आदर्शवाद के विकास हेतु मार्ग प्रशस्त किया और नवीन राष्ट्रवाद तथा लोकतन्त्रवाद के विकास में योगदान किया है। इस दृष्टि से रूसो का राजनीतिक दर्शन 'आधुनिक राजनीतिक चिन्तन को जन्म देने वाला' माना जाता है। यदि रूसो को संविदावादी माना जाता है तो इसी कारण कि उसने अपने पूर्ववर्ती विचारकों हॉब्स तथा लॉक के विचार-क्रम को अपनाया और अपने राजनीतिक-विषयक ग्रन्थ को 'Social Contract' (सामाजिक संविदा) का नाम दिया। परन्तु यह भी स्मरणीय है कि यद्यपि रूसो का यह ग्रन्थ उक्त नाम से ही प्रसिद्ध है, तथापि रूसो ने इसे दूसरा नाम 'राजनीतिक औचित्य के सिद्धान्त' (Principles of Political Right) भी दिया था। जी० डी० एच० कोल के अनुसार, 'रूसो का उद्देश्य मांटेस्क्यू की भाँति सामान्य रूप से निवर्तमान राज्यों का अध्ययन करना नहीं है, बल्कि उन आवश्यक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना है जो किसी न्यायसंगत समाज का आधार प्रस्तुत करें।'[1]

रूसो की संविदा की धारणा—रूसो के हृदय में जो वेदना थी वह केवल फ्रांस के तत्कालीन निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी राजतन्त्र की बुराइयों की ही नहीं थी, अपितु सामाजिक जीवन में जनसाधारण की विपत्तियों से वह अत्यधिक प्रभावित था। उसने अनुभव किया कि विज्ञान, साहित्य, कला तथा दर्शन की उन्नति ने मानव की प्राकृतिक स्वतन्त्रता का ह्रास कर दिया है। इनके कारण मानवीय नैतिकता समाप्त हो गयी है। मनुष्य-मनुष्य के मध्य समानता की धारणा का लोप हो गया है। मनुष्य में स्वार्थ की भावना बढ़ गयी है। राजनीतिक समाज में भी सत्ताधारी लोग इसी प्रवृत्ति से कार्य करते हैं। ऐसी स्थिति में मानव की प्राकृतिक स्वतन्त्रता, समानता तथा आत्म-निर्भरता लुप्त हो गयी है। अतः रूसो का उद्देश्य यह दर्शाना नहीं था कि राज्य की उत्पत्ति संविदा द्वारा हुई है, अपितु उसके समक्ष समस्या यह थी कि राज्य एवं उसकी सत्ता के औचित्य का समुचित आधार ज्ञात किया जाय, ताकि राज्य की सत्ता के स्वरूप तथा संगठन के ऐसे आधार के अन्तर्गत मानवों की स्वतन्त्रता, समानता एवं आत्म-निर्भरता के संरक्षण के निमित्त व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य पारस्परिक एवं व्यक्ति और राज्य के मध्य सम्बन्धों का समुचित निर्धारण दर्शाया जा सके। इस समस्या के समाधान हेतु रूसो राज्य संगठन का आधार सामाजिक अनुबन्ध की धारणा को मानता है। इसीलिए उसे संविदावादी विचारकों की श्रेणी में रखा जाता है।

संविदा तथा अधिकार—हॉब्स तथा लॉक की भाँति रूसो द्वारा व्यक्त राज्य के सामाजिक संविदा सिद्धान्त की भी मान्यता यही है कि राजनीतिक समाज की स्थापना से पूर्व मानव प्राकृतिक स्थिति का जीवन व्यतीत करते थे और उस जीवन में व्यक्ति कुछ प्राकृतिक अधिकारों का उपभोग करते थे। परन्तु इन अधिकारों के उपभोग के सम्बन्ध में व्यक्ति के समक्ष कुछ कठिनाइयाँ थीं, अतः व्यक्तियों को पारस्परिक संविदा द्वारा राजनीतिक समाज के रूप में संगठित होने की आवश्यकता

[1] 'Rousseau's object is not to deal, in a general way, like Montesquieu, with the actual institution of existing States, but to lay down the essential principles which must form the basis of every legitimate society.'—Cole, *op. cit.*, xiii.

पड़ी। राजनीतिक समाज की स्थापना करते हुए व्यक्तियों ने या तो अपने प्राकृतिक अधिकारों को राजनीतिक सत्ता के हाथ में सौंप दिया, अथवा उनमें से केवल थोड़े से अधिकारों को सौंपकर शेष को अपने हाथ में बनाए रखा। इस प्रकार राजनीतिक समाज में सम्प्रभु सत्ता का जन्म हुआ। संविदा द्वारा व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य तथा व्यक्ति और राज्य के मध्य सम्बन्धों का नये रूप से निर्धारण हुआ। इस प्रकार संविदावादी विचारक व्यक्ति के हितों, अधिकारों, स्वतन्त्रताओं आदि पर जोर देते हुए राजसत्ता के साथ उनके सम्बन्धों का निरूपण करते हैं। हॉब्स तथा लॉक की विचारधाराओं में यह व्यक्तिवादी धारणाएँ स्पष्ट थीं। हॉब्स व्यक्ति के आत्म-रक्षा के अधिकार का प्रबल समर्थक था। उसके सिद्धान्त में व्यक्ति का यही एकमात्र अधिकार राज्य तथा राजसत्ता का आधार है। लॉक व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अलंघ्य अधिकारों का समर्थक था। इन्हीं की रक्षा के लिए व्यक्ति संविदा द्वारा राज्य तथा राजसत्ता का निर्माण करते हैं। रूसो भी प्रारम्भ में व्यक्तिवादी था। व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा समानता की धारणाएँ उसके दर्शन की केन्द्रीय धारणाएं हैं। सामाजिक अनुबन्ध का उद्देश्य व्यक्ति को पूर्ववत् स्वतन्त्र बनाए रखना है। परन्तु रूसो की विचारधारा में अधिकारों के प्राकृतिक होने की धारणा नहीं है, जैसा कि उसके पूर्ववर्ती विचारक मानते थे। वह अधिकारों को सामाजिक मानता है। संविदा के आधार पर सामान्य इच्छा की प्रभुसत्ता के अन्तर्गत व्यक्ति अपने को पूर्णतया विलीन कर देते है। इस प्रकार राजनीतिक समाज में सामान्य इच्छा जैसी भावनामूलक धारणा को सम्प्रभु शक्ति प्रदान की जाती है। चूंकि सामान्य इच्छा सदैव सामान्य अथच सामूहिक हित का ध्यान रखती है, अतः व्यक्ति उस इच्छा में अपनी व्यक्तिगत इच्छा को विलीन करके अपनी स्वतन्त्रता को नहीं खोता। सामान्य इच्छा समाज के प्रत्येक व्यक्ति की विवेकपूर्ण तथा वास्तविक इच्छा का योग है। अतः ऐसी इच्छा की प्रभुसत्ता को मानना लोक-प्रभुसत्ता की स्वीकृति है।

हॉब्स, लॉक तथा रूसो की संविदा सम्बन्धी धारणाओं का तुलनात्मक विवेचन—हॉब्स लॉक तथा रूसो के सामाजिक संविदा सिद्धान्तों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर अनेक निष्कर्ष निकाले गए है और उनमें से कई धारणाएँ समान हैं और उन्हें विभिन्न शब्दावलियों द्वारा व्यक्त किया गया है। एक निष्कर्ष यह है कि 'रूसो का सामाजिक संविदा का विवेचन हॉब्स की पद्धति द्वारा विकसित किया गया लॉक का सारांश है।'[1] हॉब्स की भाँति रूसो भी व्यक्ति की कष्टमय प्राकृतिक स्थिति को लेकर चलता है और सामाजिक संविदा द्वारा प्रत्येक व्यक्ति सम्प्रभु को अपने समस्त अधिकार अर्पित कर देता है। सम्प्रभु की धारणा में राज्य की सत्ता असीम तथा अमर्यादित है। यहाँ तक तो रूसो हॉब्स की पद्धति अपनाता है। परन्तु उसका निष्कर्ष लॉक का सा है। लॉक के संविदा सिद्धान्त के अनुसार राजनीतिक समाज समग्र रूप से सर्वोच्च सत्ताधारी रहता है। सर्वोच्च सत्ता का प्रयोग व्यवस्थापिका करती है जो जनता के प्रति उत्तरदायी है। व्यवस्थापिका जनता की ओर से बहुमत द्वारा निर्णय लेती है, कार्यपालिका व्यवस्थापिका की आधीनता में उसके प्रति उत्तरदायित्व की भावना से कार्य करती है। रूसो का

[1] 'Rousseau's treatment of Social Contract is the substance of Locke developed by the method of Hobbes.'

निष्कर्ष भी यही है कि संविदा द्वारा सम्प्रभु शक्ति सामान्य इच्छा को प्रदान कर दी जाती है। सामान्य इच्छा सम्पूर्ण समाज की विवेकशील इच्छा है। सरकार अर्थात् कार्यपालिका पूर्णतया सम्पूर्ण जनता की सामान्य इच्छा के अधीन रहती है। सामान्य इच्छा का निर्धारण बहुमत द्वारा किया जाता है। इस प्रकार लॉक की राजनीतिक प्रभुसत्ता की धारणा रूसो के विचारों में लोक-प्रभुसत्ता की धारणा में परिवर्तित हो जाती है।

निरंकुशतावाद तथा लोकतन्त्रवाद—इसी प्रकार का एक निष्कर्ष यह भी निकाला गया है कि 'रूसो उतना ही निरंकुशतावादी है जितना हॉब्स तथा वह लॉक की अपेक्षा अधिक लोकतन्त्रवादी है।'[1] संविदा द्वारा प्रभुसत्ता के सम्बन्ध में हॉब्स तथा रूसो के निष्कर्ष एक से हैं। दोनों विचारक प्रभुसत्ता को असीम, अमर्यादित, अविभाज्य, अदेय तथा स्थायी मानते हैं। हॉब्स के अनुसार संविदा करते हुए व्यक्ति अपने समस्त अधिकार सम्प्रभु को समर्पित कर देते हैं। इसी प्रकार रूसो के अनुसार भी व्यक्ति अपने समस्त अधिकार सामान्य इच्छा को अर्पित कर देते हैं। सम्प्रभु का आदेश कानून है। इस दृष्टि से जहाँ हॉब्स एक व्यक्ति की निरंकुश सत्ता का समर्थन करता है। वहाँ रूसो समग्र रूप में राज्य की निरंकुश सत्ता का समर्थन करता है। इस प्रकार रूसो हॉब्स की भाँति ही निरंकुशतावादी है।

यह भी कहा जाता है कि 'रूसो का सामाजिक अनुबन्ध हॉब्स के सिर कटे लैवाइथन की भाँति है।'[2] हॉब्स की धारणा का सम्प्रभु (लैवाइथन) उन्हीं शक्तियों से युक्त है जो शक्तियाँ रूसो सामाजिक अनुबन्ध द्वारा सामान्य इच्छा को प्रदान करता है। 'सिर कटा' शब्द इसलिए कहा गया है कि सामान्य इच्छा किसी व्यक्ति-विशेष या व्यक्ति-समूह-विशेष की इच्छा नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण समाज की इच्छा है जिसमें व्यक्ति की इच्छा शामिल है। परन्तु यदि सामान्य इच्छा व्यक्ति की इच्छा से विरोध रखती है, तो व्यक्ति को अपनी स्वतन्त्रता के हित में अपनी इच्छा का त्याग करने को विवश होना पड़ता है। यद्यपि रूसो सामान्य इच्छा की धारणा के द्वारा जन-प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को सुस्थापित करता प्रतीत होता है, तथापि व्यक्तिगत रूप से मनुष्य सामान्य इच्छा का दास बन जाता है, जिस प्रकार कि हॉब्स के विचारों में स्वतन्त्रता वही है जिसे लैवाइथन अनुमति दे। रूसो ने कहा है, 'जो कोई भी सामान्य इच्छा के आदेशों को मानने से विरोध करेगा उसे ऐसा करने के लिए विवश किया जाएगा, अर्थात् उसे स्वतन्त्र होने के लिए विवश किया जाएगा।' इसका यह अर्थ है कि सामान्य इच्छा के आदेशों का पालन करके ही व्यक्ति स्वतन्त्र हो सकता है, उसके विरुद्ध आचरण करने पर नहीं। इस दृष्टि से भी रूसो का राज्य की निरकुशता का सिद्धान्त हॉब्स की ही भाँति है। परन्तु जहाँ हॉब्स का निरंकुशतावाद सम्प्रभु के स्वेच्छाचारितावाद का समर्थन करता है, वहाँ रूसो का सामान्य इच्छा की प्रभुसत्ता का सिद्धान्त लोक-प्रभुसत्ता का प्रतीक है। रूसो यह मानकर चलता है कि सामान्य इच्छा सदैव लोक-कल्याण का उद्देश्य रखती है। व्यक्ति का कल्याण लोक-कल्याण से पृथक् नहीं हो सकता, क्योंकि व्यक्ति समाज-सावयव का अभिन्न अंग है।

[1] 'Rousseau is as absolutist as Hobbes and more democratic than Locke.'

[2] 'Rousseau's Social Contract is Hobbes' Leviathan with its head chopped off.'

जिस प्रकार प्रकृति प्रत्येक जीवधारी को अपने अंगों के ऊपर सम्पूर्ण सत्ता प्रदान करती है उसी प्रकार समाज-सावयव (राज्य) को अपने अंगों (व्यक्तियों) के ऊपर निरंकुश सत्ता प्राप्त रहती है। राजनीतिक समाज सम्प्रभु है, उसकी सत्ता असीम तथा अमर्यादित है। उसका प्रयोग सामान्य इच्छा करती है जो किसी एक व्यक्ति की नहीं है, अतएव यह सामान्य इच्छा सिर कटे दैत्य की तरह है। हॉब्स के विचारों में ऐसी सत्ता राजा (monarch) के हाथ में आ जाती है। अतः वह सिर-सहित दैत्य बन जाता है। जहाँ तक राज्य की स्थिति का प्रश्न है, हॉब्स तथा रूसो दोनों ही राज्य की सत्ता को सम्प्रभु या असीम मानते हैं। व्यक्ति सम्प्रभु के आदेशों का पालन करने के लिए बाध्य है।

लॉक स्पष्टतया लोकतन्त्रवादी था। वह सर्वोच्च सत्ता को सम्पूर्ण समाज की सहमति पर आधारित करता है। समाज की सहमति केवल शासन-सत्ताधारियों की नियुक्ति करते समय सक्रिय रहती है। अन्य अवसरों पर जनता के प्रतिनिधियों की संस्था (व्यवस्थापिका) उस शक्ति का प्रयोग करती है। अतः लॉक का सिद्धान्त प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र का परिचायक है। इसके विपरीत रूसो की विचारधारा में सामान्य इच्छा अप्रतिनिध्यात्मक है। इसलिए उसकी अभिव्यक्ति हेतु समस्त जनता को सदैव सक्रिय रूप से समवेत होना चाहिए। रूसो की धारणा में सामान्य इच्छा निरन्तर कार्यरत रहती है। उसका ज्ञान केवल नागरिकों द्वारा 4 या 5 वर्ष में एक बार अपने प्रतिनिधियों को चुन लेने भर से नहीं होता। रूसो ने इंग्लैण्ड के बारे में कहा था कि वहाँ की जनता 4 या 5 वर्ष में केवल एक बार स्वतन्त्रता का अनुभव करती है। यह लोकतन्त्र नहीं है। रूसो ने सामान्य इच्छा की निरन्तर अभिव्यक्ति होते रहने के सम्बन्ध में अनेक सुझाव भी दिये थे। यथा, समय-समय पर विभिन्न भागों में जनता को समवेत कराते रहना, राजधानी को विभिन्न स्थानों पर ले जाते रहने की व्यवस्था करना, आदि। वास्तव में रूसो प्रत्यक्ष लोकतन्त्री व्यवस्था का समर्थक था, जिसमें सम्पूर्ण जनता सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति में भाग लेती रहे। अर्थात् सामान्य इच्छा, जो कानून-निर्माण का कार्य करती है, समस्त जनता के द्वारा व्यक्त की जानी चाहिए। इसलिए रूसो व्यवस्थापिका को सरकार का अंग न मानकर सम्प्रभु जनता के रूप में मानता है। शासन अर्थात् कार्यपालिका उस सम्प्रभु सामान्य इच्छा की अभिकर्ता मात्र है। उसका कोई संविदागत या सांविधानिक आधार नहीं है। इस दृष्टि से रूसो न केवल लोकतन्त्र का ही, अपितु प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का समर्थक होने के नाते लॉक से अधिक लोकतन्त्रवादी सिद्ध होता है।

व्यक्ति की सम्प्रभुता तथा राज्य की सम्प्रभुता की धारणाओं के मध्य सामंजस्य—'रूसो के राजनीतिक विचार लॉक के सम्प्रभु व्यक्ति तथा हॉब्स के सम्प्रभु-राज्य की धारणाओं के मध्य सामंजस्य स्थापित करने का उद्देश्य रखते हैं।'[1] लॉक की व्यक्तिवादी विचारधारा में व्यक्ति के हितों को सर्वोच्च माना गया है। व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार अलंघ्य हैं। राज्य का निर्माण उन्हीं अधिकारों की रक्षा के लिए होता है। अतः संविदा द्वारा जब व्यक्ति राजनीतिक समाज की स्थापना करते हैं, तो वे राजनीतिक समाज को केवल प्राकृतिक अधिकारों का निर्वचन करने का अधिकार

[1] 'Rousseau's political theory aimed at reconciling the sovereign individual of Locke with the sovereign state of Hobbes' or,

'Rousseau combines the premises and temper of Hobbes with the conclusions of Locke.'

देते हैं। अन्य अधिकारों को अपने पास बनाये रखते हैं। अतः स्पष्ट है कि लॉक पूर्णतया व्यक्तिवादी है और राज्य की सत्ता को व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों के द्वारा मर्यादित रखता है। दूसरी ओर हॉब्स के अनुसार जब संविदा द्वारा राज्य का निर्माण किया जाता है तो व्यक्ति अपने समस्त अधिकारों सम्प्रभु-राज्य को सौंप देते हैं, इस प्रकार राज्य का निर्माण हो जाने पर सम्प्रभु के ऊपर कोई मर्यादा नहीं रह जाती। लॉक के अनुसार राज्य व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार का अतिक्रमण करने वाला कोई कानून नहीं बना सकता। इसके विपरीत हॉब्स के अनुसार राज्य की इच्छा के विरुद्ध व्यक्ति किसी परम्परा तक को नहीं अपना सकते। अतः स्पष्ट है कि लॉक की विचारधारा में व्यक्ति सम्प्रभु है जबकि हॉब्स की विचारधारा में राज्य सम्प्रभु है। रूसो की विचारधारा इन दोनों अतिवादी दृष्टिकोणों के मध्य समन्वय स्थापित करती है। वह भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता को अमूल्य वस्तु मानता है। परन्तु उसकी दृष्टि से स्वतन्त्रता व्यक्ति का ऐसा प्राकृतिक अधिकार नहीं है, जिसे वह राजनीतिक समाज में सामूहिक हित की उपेक्षा करते हुए प्रयुक्त करने की माँग करे। अधिकार समाज की सृष्टि है, सामूहिक हित को ध्यान में रखते हुए सम्प्रभु सामान्य-इच्छा ही व्यक्ति के अधिकारों को मान्यता देती है। वही उनके ऊपर प्रतिबन्ध लगा सकती है। यही धारणा हॉब्स की भी थी। राजनीतिक समाज की स्थापना हो जाने पर व्यक्ति के अधिकार वही हो सकते हैं जिन्हें सम्प्रभु मान्यता दे। इस प्रकार रूसो व्यक्ति के स्वतन्त्रता के अधिकार को श्रेष्ठ मानते हुए भी उन्हें समाज की सामान्य इच्छा के अधीन रखता है। यह सामान्य इच्छा सम्प्रभु है, जो व्यक्ति के अधिकारों को मर्यादित करती है। अतएव रूसो का सिद्धान्त हॉब्स के सम्प्रभु-राज्य की धारणा को भी मानता है और लॉक की भाँति व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करने का दायित्व भी सम्प्रभु को देता है।

व्यक्तिवादी अथवा समष्टिवादी—स्वतन्त्रता तथा सत्ता दो ऐसी राजनीतिक धारणाएँ हैं जिनके मध्य सामंजस्य स्थापित करने की समस्या निरन्तर राजनीतिक चिन्तकों के मध्य बनी रही है। रूसो के राजनीतिक विचारों में इन दोनों धारणाओं के मध्य सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया गया है। 17वीं तथा 18वीं शताब्दी के राजनीतिक चिन्तकों के समक्ष यह समस्या बनी रही थी। जो लोग व्यक्ति की स्वतन्त्रताओं के कट्टर समर्थक रहे और व्यक्ति के हितों को राज्य के हितों की तुलना में अधिक महत्त्व देकर राज्य की सत्ता को मर्यादित करने के विचार रखते रहे, उन्हें व्यक्तिवादी कहा जाता है। इस श्रेणी में लॉक का नाम प्रमुख है। इसके विपरीत ऐसे भी विचारक थे जो समाज या राज्य की तुलना में व्यक्ति के हितों की उपेक्षा करके राज्य की सत्ता को सर्वोपरि मानते थे और व्यक्ति को राज्य में विलीन कर देने की धारणाएँ रखते थे और व्यक्ति को राज्य रूपी सावयव का एक अंग मानकर उसे अंगी (राज्य) की इच्छा पर रख देना चाहते थे। ऐसे विचारकों को राज्यवादी या समष्टिवादी कहा जाता है। यह एक बड़ा जटिल प्रश्न है कि रूसो को इन दो श्रेणियों में से कौन-सी स्थिति दी जानी चाहिए। यह तो स्पष्ट है कि रूसो एक ऐसा चिन्तक हुआ है, जिसके विचार किसी एक दिशा को नहीं जाते। वे अत्यन्त जटिल एवं परस्पर विरोधी भी हैं। यही कारण है कि उसके विचारों का निर्वचन करते हुए राजनीति शास्त्र के विद्वानों ने उसके बारे में विभिन्न प्रकार के निष्कर्ष निकाले हैं। कुछ विद्वान् उसे पूर्णतया व्यक्तिवादी मानते हैं, तो दूसरे उसे

पक्का राज्यवादी या समष्टिवादी भी कहते हैं। कभी-कभी उसे एक पक्का लोकतन्त्रवादी कहा जाता है, तो साथ ही उसे निरंकुशतावादी भी माना जाता है। जहाँ कुछ उसे व्यक्तिवादी मानते हैं तो वहीं अन्य विद्वान् उसे समाजवादी भी कहते हैं।

रूसो के सम्बन्ध में ऐसे परस्पर विरोधी मतों को व्यक्त करने का एक कारण यह है कि प्रारम्भ से लेकर अन्त तक रूसो ने समय-समय पर जिन रचनाओं को लिखा है उनमें उसके विचारों में परिवर्तन होता रहा है। उदाहरण के लिए अपने प्रारम्भ के निबन्धों (Discourses) में रूसो व्यक्तिवादी लगता है। उसके विचारों का केन्द्र व्यक्ति का हित है। उसे एकमात्र चिन्ता व्यक्ति के कल्याण की है, जिसे वह नैतिक दृष्टि से सर्वोपरिता देता है। उसका निष्कर्ष था कि समाज ने व्यक्ति को नैतिक दृष्टि से पतित कर दिया है। सभ्यता के विकास ने व्यक्ति के प्रारम्भिक सुखी, ईमानदार तथा पवित्र जीवन को नष्ट कर दिया है। उसकी जन्मजात स्वतन्त्रता छिन गयी है। अतः व्यक्ति को उसकी प्राप्ति सुनिश्चित होनी चाहिए। व्यक्ति के सम्बन्ध में ऐसा विचार रखना रूसो को स्पष्टतः एक व्यक्तिवादी चिन्तक की श्रेणी में रखता है। परन्तु जब रूसो 'सोशल कॉन्ट्रैक्ट' की रचना करते हुए व्यक्ति की नैतिक स्वतन्त्रता तथा उत्थान का समाधान प्रस्तुत करता है और उसे समाज में पूर्णतया विलीन कर देता है और व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा कल्याण को निर्बाध रूप में समाज की सामान्य इच्छा की सम्प्रभु सत्ता के अधीन रख देता है, साथ ही समाज को एक सावयव के तुल्य तथा व्यक्ति को उसके एक अंग के रूप में रखकर उसे समाज में पूर्णतया विलीन कर देता है, और व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा कल्याण को निर्बाध रूप से समाज की सामान्य इच्छा के अधीन रख देता है तो वह पूर्णतया निरंशकुतावादी तथा समष्टिवादी बन जाता है। अतः स्पष्टतया यह कहना कठिन है कि रूसो व्यक्तिवादी है या समष्टिवादी।

प्रोफेसर वाहन (Vaughan) ने निष्कर्ष निकाला है कि 'रूसो व्यक्तिवाद का जानी दुश्मन था—वह न केवल व्यक्तिवाद का ही शत्रु था, बल्कि वह वैयक्तिकता का भी शत्रु था।' राजनीतिक समाज में सामान्य इच्छा की निर्बाध सम्प्रभुता को स्वीकार करना और उसी के अनुसार कार्य करने में व्यक्ति की स्वतन्त्रता के बने रहने की धारणा को व्यक्त करना व्यक्ति को समाज की निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी सत्ता के अधीन रख देने के तुल्य है। ऐसी स्थिति में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता या वैयक्तिकता जैसी धारणा के विद्यमान रह सकने की कल्पना नहीं की जा सकती। यह धारणा स्पष्टतया व्यक्ति के ऊपर राज्य की सर्वोपरिता स्थापित करने की द्योतक है। यों तो हॉब्स भी पक्का निरंकुशतावादी था, परन्तु उसने भी व्यक्ति के आत्म-रक्षा के अधिकार को राज्य की सत्ता के ऊपर माना है और वह व्यक्ति को आत्म-रक्षा के हित में राज्य के विरुद्ध क्रान्ति करने के अधिकार तक को स्वीकृति देता है और अपनी आत्म-रक्षा के अहित में व्यक्ति को राज्य के आदेशों को न मानने की स्वीकृति भी देता है। परन्तु एक लोकतन्त्रवादी होते हुए भी रूसो ऐसा अधिकार व्यक्ति को नहीं देता। रूसो की सामान्य इच्छा की धारणा यह दर्शाती है कि व्यक्ति की इच्छा स्वयं व्यक्ति के हित या अहित का ज्ञान नहीं करा सकती। ऐसा निर्णय सामान्य इच्छा ही कर सकती है। रूसो की इस धारणा ने बाद में हीगल के विचारों को प्रभावित किया जिसने राज्यवाद तथा निरंकुशतावाद का जोरदार समर्थन किया था। इस दृष्टि से रूसो को व्यक्तिवादी नहीं माना जा सकता है।

इस धारणा के विपरीत प्रो० कोबन (Cobban) सदृश लेखकों के मत से रूसो पक्का व्यक्तिवादी था। कोबन के अनुसार रूसो का एकमात्र उद्देश्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा नैतिक जीवन को संरक्षण प्रदान करना था। रूसो का साध्य व्यक्ति था, न कि समाज या राज्य, जो कि व्यक्ति के उद्देश्यों की पूर्ति का साधन मात्र था। निस्सन्देह रूसो यह तो मानता है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता बिना राज्य के सम्भव नहीं है। राज्य में रहकर तथा सामान्य इच्छा के आदेशों का पालन करके ही व्यक्ति स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं था कि रूसो राज्य को साध्य मानता था। रूसो की धारणा में संविदा द्वारा राज्य का निर्माण व्यक्ति करते हैं और राज्य व्यक्ति के कल्याण के लिए ही अपना अस्तित्व रखता है, रूसो की सारी विचारधारा व्यक्ति से प्रारम्भ होती है, उसे एकमात्र चिन्ता व्यक्ति की स्वतन्त्रता को बनाये रखने की थी। राज्य का उद्देश्य राज्य का निर्माण करने वाले व्यक्तियों का नैतिक तथा भौतिक कल्याण करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस दृष्टि से रूसो को एक व्यक्तिवादी मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

परन्तु जो भी निष्कर्ष रूसो के विचारों के आधार पर निकाले गये हों, यह कहना कठिन है कि वह किसी एक प्रकार की विचारधारा का प्रतिपादक है। उसे न तो पूर्णतया व्यक्तिवादी कहा जा सकता है और न समष्टिवादी; उसके विचारों में दोनों के अंकुर विद्यमान थे। या यों कहना और उपयुक्त होगा कि उसने इन दोनों के मध्य सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है। रूसो के विविध विचारों ने आधुनिक काल की विभिन्न विचारधाराओं के निमित्त प्रेरणा प्रदान की है। समाजवाद, लोकतन्त्र, निरंकुशतावाद, प्रत्ययवाद, व्यक्तिवाद, राष्ट्रवाद आदि अनेक विचारधाराएँ रूसो के विचारों से प्रेरित तथा प्रभावित हैं। अतएव इनमें से किसी एक ही निश्चित श्रेणी में रूसो को नहीं रखा जा सकता। यह सही है कि रूसो ने किसी एक निश्चित धारा को न अपनाकर विविध धाराओं में विचरण करने तथा उनके मध्य सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है जिसके कारण उसके विचारों में बड़ी अस्पष्टता आ गयी है। इसीलिए सैबाइन ने उचित ही कहा है कि 'रूसो का राजनीतिक दर्शन इतना अस्पष्ट है कि यह नहीं कहा जा सकता कि वह किस दिशा को इंगित करता है।'[1]

लोक-प्रभुसत्ता की धारणा द्वारा व्यक्ति की महत्ता—'व्यक्तिवादी होते हुए भी लॉक राजनीतिक समाज को सर्वोच्च सत्ता प्रदान नहीं कर सका, परन्तु रूसो की सामान्य इच्छा ने जनता को सम्प्रभु बनाया।' यह धारणा लॉक तथा रूसो के संविदा सिद्धान्तों के सम्बन्ध में एक नया निष्कर्ष निकालती है। लॉक एक व्यक्तिवादी विचारक है। उसके मस्तिष्क में व्यक्ति का हित सर्वोच्च स्थान रखता है। व्यक्ति के मौलिक हितों (प्राकृतिक अधिकारों) के लिए ही व्यक्ति परस्पर संविदा करके राजनीतिक समाज की सृष्टि करते हैं। राजनीतिक समाज व्यक्तियों से पृथक् स्वतन्त्र इकाई नहीं है, अपितु संविदा करने वाले व्यक्तियों का ही योग है। परन्तु लॉक व्यक्तियों के इस सम्पूर्ण समूह को व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों से उच्चतर सत्ता प्रदान नहीं करता। राजनीतिक समाज की सत्ता व्यक्ति के अधिकारों द्वारा मर्यादित है। अतः व्यक्तिगत क्षमता में व्यक्ति सम्प्रभु है। परन्तु ऐसे सम्प्रभु व्यक्तियों से निर्मित संसक्त

[1] 'Rousseau's political philosophy is so vague that it can hardly be said to point to any specific direction.' —Sabine.

इकाई सम्प्रभु-शक्ति से विहीन है, अर्थात् अपनी संसक्त क्षमता में व्यक्ति सर्वोच्च सत्ता को धारण नहीं करते। इसके विपरीत रूसो व्यक्ति के अलघ्य अधिकारो को स्वीकार नहीं करता। वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता, समानता, समृद्धि, सुरक्षा आदि सबका समर्थक है। परन्तु सम्पूर्ण समाज के अहित में वह इन्हें समाज की सत्ता द्वारा मर्यादित रखना श्रेयस्कर मानता है। फिर भी यद्यपि सामाजिक संविदा द्वारा व्यक्ति अपने समस्त अधिकारों को सामान्य इच्छा को अर्पित कर देते हैं, तथापि एक संसक्त इकाई के रूप में व्यक्ति सम्प्रभु-सत्ता को धारण किये रहते हैं। रूसो की विचारधारा में न तो लॉक की भाँति व्यक्ति की सम्प्रभुता की धारणा है और न हॉब्स की भाँति संविदा करने वाले व्यक्तियों से पृथक् किसी व्यक्ति-विशेष या व्यक्तियों के किसी समूह-विशेष की सम्प्रभुता की धारणा है। प्रत्युत् संविदा करने वाले व्यक्ति सामूहिक क्षमता में सामान्य इच्छा के द्वारा सम्प्रभु शक्ति को धारण करते हैं।

निरंकुशतावाद तथा वैधानिकतावाद—अन्त में इन तीनों विचारकों के सम्बन्ध में एक और निष्कर्ष का उल्लेख किया जाता है कि 'रूसो की विचारधारा लॉक के वैधानिकतावाद तथा हॉब्स के निरकुशतावाद के मध्य एक समझौता है'[1] अथवा 'रूसो का सिद्धान्त हॉब्स के वैधिक सम्प्रभुता तथा लॉक के राजनीतिक सम्प्रभुता के सिद्धान्तों का सम्मिश्रण है।'[2] हॉब्स के निरकुशतावाद तथा लॉक के वैधानिकतावाद का विवेचन हम ऊपर कर चुके हैं। यह भी बता चुके हैं कि रूसो इन विचारधाराओं को कहाँ तक अपनाता है। हॉब्स ने राज्य तथा सरकार के मध्य भेद नहीं किया है, इसके विपरीत रूसो सम्प्रभु तथा शासन के मध्य स्पष्ट भेद करता है। हॉब्स के मत से सम्प्रभु जिसे व्यक्तियों ने संविदा द्वारा सम्पूर्ण अधिकार सौंपे हैं राज्य का सर्वोच्च शासक है। रूसो की दृष्टि से शासक सम्प्रभु का अभिकर्तामात्र तथा उसके प्रति उत्तरदायी है। रूसो प्रतिनिध्यात्मक शासन का भी विरोधी है। उसके अनुसार चाहे सम्प्रभु शक्ति निरकुश तथा असीम भी हो, तो भी वह सामूहिक हित के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकती। सम्प्रभु को कानून तथा न्याय की दृष्टि से व्यक्ति की समानता को सुनिश्चित करना पड़ता है। रूसो की विचारधारा में सम्प्रभु की असीम तथा निरंकुश सत्ता का प्रयोग उस जनता के ऊपर किया जाता है, जो स्वयं सम्प्रभु है। लॉक के वैधानिकतावाद के अन्तर्गत नागरिक समाज, जिसकी स्थापना जनता संविदा द्वारा करती है, व्यक्तियों के प्राकृतिक अधिकारों से मर्यादित है। प्राकृतिक अधिकार प्राकृतिक कानून के द्वारा मर्यादित हैं, और शासन (व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका) की शक्तियाँ नागरिक समाज की सत्ता द्वारा मर्यादित हैं। स्वयं शासन के अन्तर्गत कार्यपालिका व्यवस्थापिका से मर्यादित अथच उसके प्रति उत्तरदायी है। इस प्रकार प्रत्येक शासनिक सत्ता पर वैधानिक मर्यादाएँ हैं। रूसो की विचारधारा में यद्यपि सम्प्रभुता अमर्यादित तथा निरकुश है, तथापि प्रभुसत्ता स्वयं सम्प्रभु द्वारा मर्यादित है। इस प्रकार हॉब्स की भाँति रूसो की विचारधारा में भी वैध दृष्टि से सामान्य इच्छा सम्प्रभु है। साथ ही लोक-प्रभुसत्ता की धारणा प्रभुसत्ता की राजनीतिक सर्वोच्चता के सिद्धान्त को मानती है। संक्षेप में, जैसा हम पहले भी जी० डी० एच० कोल का मत प्रकट कर चुके हैं रूसो ने हॉब्स

[1] Rousseau's political theory 'is a compromise between the constitutionalism of Locke and the absolutism of Hobbes.'

[2] Rousseau's political theory is a 'combination of Hobbes' legal sovereignty and Locke's political sovereignty.'

के निरंकुश प्रभुसत्ता के सिद्धान्त तथा लॉक के जन-सहमति सिद्धान्त को लोक-प्रभुसत्ता की दार्शनिक धारणा के साथ संयुक्त किया है।

रूसो की विचारधारा में समष्टिवाद, निरंकुशतावाद तथा लोकतन्त्र

समाजवाद या समष्टिवाद—'रूसो की राजनीतिक विचारधारा में समाजवाद, निरंकुशतावाद तथा लोकतन्त्र के बीज विद्यमान थे।'[1] राजनीतिक चिन्तन में व्यक्तिवादी या समाजवादी विचारधाराओं को एक क्रमबद्ध दर्शन का रूप प्रदान करने की प्रवृत्ति रूसो के पश्चात् 19वीं सदी में विकसित हुई थी। रूसो से पूर्व हॉब्स तथा लॉक के दर्शन में व्यक्तिवादी प्रवृत्तियाँ थीं, विशेष रूप से लॉक के दर्शन में। रूसो के विचारों में भी कुछ सीमा तक व्यक्तिवादी धारणाएँ मानी जा सकती है। एक क्रमबद्ध दर्शन के रूप मे समाजवाद का अभ्युदय रूसो के बहुत बाद मे हुआ, जो 19वीं सदी में सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों क्षेत्रों में व्यक्तिवादी प्रवृत्ति के विकास के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में था। कालान्तर में समाजवाद के अनेक रूप विकसित हुए, जिनमें से समष्टिवाद या राज्य-समाजवाद तथा साम्यवाद अधिक स्थायी तथा व्यावहारिक सिद्ध हुए है। समाजवाद चाहे किसी रूप का हो और उसकी उपलब्धि के साधन चाहे कैसे ही माने गये हों, परन्तु सभी समाजवादों के के अन्तर्गत कुछ धारणाओं की मान्यता एक-सी है। उदाहरणार्थ, सभी समाजवादी पूँजी के व्यक्तिगत केन्द्रीकरण का विरोध करते हैं क्योंकि वह आर्थिक शोषण की उत्पत्ति करती है। साथ ही सभी समाजवादी समाज में उत्पादन के भौतिक साधनों के व्यक्तिगत स्वामित्व के स्थान पर सम्पूर्ण समाज के सामूहिक स्वामित्व को मान्यता देते हैं। उत्पादन के समान वितरण का सिद्धान्त भी समाजवाद का एक मुख्य सिद्धान्त है। संक्षेप में, समाजवाद का मुख्य आधार समाज में व्यक्तियों के मध्य आर्थिक समानता की व्यवस्था कायम करना है। यद्यपि रूसो एक क्रमबद्ध विचारधारा के रूप में ऐसी समाजवादी व्यवस्था का चित्रण नहीं करता है, तथापि उसके प्रथम दो निबन्धों (Discourses) में समाजवादी विचारधारा के अंकुर विद्यमान थे।

व्यक्तिगत सम्पत्ति का विरोध—इसका आभास सर्वप्रथम रूसो के 'असमानता की उत्पत्ति' पर लिखे गये निबन्ध से होता है जिसमें वह बताता है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा ने समाज में असमानता की धारणा को जन्म दिया। बाद में जो लोग अधिक शक्तिशाली बन गये उन्होंने गरीबों का आर्थिक तथा राजनीतिक दोनों दृष्टियों से शोषण किया। उन्हें राजनीतिक समाज की सदस्यता स्वीकार करने तथा बाद में अपने हितों के समर्थन में कानून तथा न्याय-व्यवस्था को स्वीकार करने के लिए विवश भी किया। हारमॉन ने कहा है कि 'रूसो की यह उक्ति की व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा असमानता का कारण है और नागरिक-शासन उस प्रथा की बनावटी वैधिकता स्वीकार करने वाला पैशाचिक साधन है, मार्क्सवादी विचारधारा का मूलभूत अंग बन गया।'[2] मार्क्स को वैज्ञानिक समाजवाद का जनक माना जाता

[1] 'Rousseau's political theory contains the seeds of Socialism, Absolutism and Democracy.'

[2] 'Rousseau's statement...that inequality among men attributable to the institution of private property, and that civil government is only a diabolical device which lends a spurious legality to that institution, became an essential ingredient of Marxist theory.' —Harmon, *op. cit.*, 313.

है। उसने भी यही कहा था कि 'राज्य एक वर्ग (सम्पत्तिशाली वर्ग) द्वारा दूसरे वर्ग (सम्पत्तिहीन वर्ग) के शोषण का यन्त्र है।' समाजवादियों की भाँति रूसो भी व्यक्तिगत सम्पत्ति को प्राकृतिक अधिकार के रूप में नही मानता। बल्कि वह इसे समाज द्वारा सृजित अधिकार मानता है, जिसका नियमन समाज की सत्ता के द्वारा किया जाना चाहिए। समाज में आर्थिक समानता लाने के लिए राज्य को सार्वजनिक हित का ध्यान रखते हुए सम्पत्ति का नियमन करना चाहिए। यह सिद्धान्त भी रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त पर आधारित है। रूसो ने 'कोर्सिका के संविधान की योजना' लिखते हुए यहाँ तक कहा है कि 'राज्य ही एकमात्र स्वामित्व रखता है।'[1] अर्थात् समस्त भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व समाज के हाथ में रहना चाहिए। सैबाइन ने लिखा है कि 'निस्सन्देह रूसो एक साम्यवादी नहीं था, क्योंकि अपनी रचना 'Political Economy' में वह सम्पत्ति को नागरिकता का सबसे पवित्र अधिकार मानता है और निबन्ध में भी वह इसे एक अपरिहार्य सामाजिक अधिकार मानता है।'[2] फिर भी वह सम्पत्ति पर सामाजिक हित में समाज के नियन्त्रण को स्वीकार करता है। 'समाजवाद को रूसो की देन यह है कि एक सामान्य धारणा के रूप में समस्त अधिकार, जिनमें सम्पत्ति का अधिकार भी शामिल है, समाज के अन्दर ही अधिकार है न कि उसके विरुद्ध।'[3] आधुनिक काल में समष्टिवादी समाजवाद के अन्तर्गत भी राज्य की सर्वोच्च सत्ता का सिद्धान्त माना जाता है, जिसका उद्देश्य सम्पत्ति का समाजीकरण है, परन्तु कुछ हद तक व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार को भी मान्यता दी जाती है। राज्य का उद्देश्य सार्वजनिक कल्याण माना जाता है। यह धारणा आधुनिक युग में लोकतन्त्री समाजवाद के रूप में विकसित हो रही है। यदि रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त का गहराई के साथ अध्ययन किया जाय तो उसका सिद्धान्त भी स्पष्टतया ऐसा ही था, न कि एक सर्वाधिकारवादी राज्य (totalitarian state) की स्थापना का, जिसमें कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता का राज्य के हित मे बलिदान कर दिया जाता है। रूसो की विचारधारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता, आर्थिक समानता और लोक-कल्याणकारी राज्य की धारणाओं को मान्यता देती है। यही धारणाएँ समष्टिवाद या समाजवाद की भी हैं। अतः रूसो की विचारधारा में समाजवाद के बीज विद्यमान थे।

निरंकुशतावाद—रूसो का राजनीतिक दर्शन प्रभुसत्ता के निरंकुशतावाद का समर्थक है, परन्तु इसे स्वेच्छाचारितावाद नहीं कहा जा सकता, प्रत्युत् निरंकुशतावाद का आधार नैतिक है; उसका उद्देश्य सार्वजनिक कल्याण है; इसके अन्तर्गत शासकों की निरंकुशता को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। परन्तु फिर भी रूसो के राजनीतिक विचारों ने राजनीतिक चिन्तकों के कुछ वर्गों को राज्य की निरंकुशतावादी विचारधाराओं का प्रतिपादन करने में सहायता प्रदान की। रूसो का संविदा सिद्धान्त राज्य को व्यक्तियों का कृत्रिम संगठन मात्र नहीं मानता, जिसका कि कुछ सीमित

[1] Sabine, *op. cit.*, 491.

[2] 'But certainly he was not a communist. In the article on Political Economy he referred to property as 'the most sacred of all the rights of citizenship', and even in the *Discourse* itself he treated it as a quite indispensable social right.' —*Ibid.*

[3] 'What Rousseau contributed to socialism...was the much more general idea that all rights, including those of property, are rights within the community and not against it.' —*Ibid.*, 492.

उद्देश्य हो और जिसके अन्तर्गत व्यक्ति अपना पृथक् एवं स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हों। प्रत्युत् रूसो द्वारा प्रतिपादित सामाजिक अनुबन्ध के द्वारा जिस समाज की सृष्टि होती है, उसमें सावयविक एकता है। व्यक्ति समाज के अभिन्न अंग है। व्यक्ति की भाँति राज्य की निजी इच्छा, निजी व्यक्तित्व तथा नैतिक अस्तित्व हैं, जिनमें समस्त सदस्यों की इच्छा, व्यक्तित्व तथा अस्तित्व शामिल हैं। राज्य के इस सावयव स्वरूप की धारणा को हीगल-पंथी आदर्शवादियों ने अपनाकर राज्य के निरंकुशतावादी तथा अध्यात्मवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था और उनके हाथों में राज्य स्वयं साध्य तथा व्यक्ति उसके साधन मात्र रह गये। इस दृष्टि से रूसो के सामाजिक अनुबन्ध, प्रभुसत्ता तथा सामान्य इच्छा के सिद्धान्त में निरंकुशतावाद के बीज विद्यमान थे, जो उग्र आदर्शवादी विचारकों की धारणा में प्रस्फुटित हुए और बाद में फासीवाद के हाथों में एक पूर्ण पौधे के रूप में विकसित हुए। रूसो ने सामान्य इच्छा से विरोध रखने वाले व्यक्तियों के बारे में कहा था कि उन्हें सामान्य इच्छा के आदेशों का पालन करने तथा स्वतन्त्र होने के लिए विवश किया जायेगा। साथ ही राज्य की समस्याओं के विवेचन के अन्तर्गत उसने सेंसरशिप, ट्रिब्यूनेट तथा आपत्काल के लिए अधिनायकवाद की व्यवस्थाओं का प्राविधान भी बताया था। ये धारणाएँ ऐसी थीं जिन्होंने सर्वाधिकारवादी तथा सर्वसत्तावादी राज्यों की धारणाओं के विकास को प्रेरित किया, भले ही इन धारणाओं के समर्थकों ने रूसो की धारणाओं का अर्थ अपने पक्ष में तोड़ा-मरोड़ा हो, परन्तु रूसो की निरंकुशतावादी धारणा में इनके बीज के विद्यमान होने से इनकार नहीं किया जा सकता। रूसो व्यक्ति के अधिकारों को मौलिक न मानकर समाज अर्थात् राज्य द्वारा सृजित मानता है। उसकी यह धारणा भी सर्वाधिकारवादी अधिनायकतन्त्रों के लिए सहायक सिद्ध हुई, जो कि राज्य के हित को सर्वोपरि मानकर व्यक्ति की स्वतन्त्रता के अधिकार को पूर्णतया मर्यादित रखते हैं।

लोकतन्त्र—अन्ततः, रूसो की विचारधारा में लोकतन्त्र के बीज भी विद्यमान थे। रूसो लॉक की अपेक्षा कहीं अधिक लोकतन्त्रवादी है। रूसो से पूर्व अरस्तू से लेकर मांटेस्क्यू तक जितने भी विचारकों ने लोकतन्त्र की धारणा का विवेचन किया है, उनमें से किसी ने भी वास्तविक लोकतन्त्र का समर्थन नहीं किया है। वास्तविक लोकतन्त्र का आधार लोक-प्रभुसत्ता का सिद्धान्त है। रूसो अरस्तू के इस विचार से सहमत नहीं था कि 'कुछ व्यक्ति शासन करने के लिए तथा कुछ शासित होने के लिए पैदा होते हैं।' रूसो सम्प्रभु शक्ति समस्त जनता को देता है और शासन को पूर्णतया जनता की सामान्य इच्छा के अधीन रखता है। प्रत्यक्ष लोकतन्त्र की ऐसी वास्तविक धारणा का समर्थन अन्य किसी विचारक ने नहीं किया था। यद्यपि न तो आधुनिक राज्यों में और न ही रूसो के युग के विशाल राज्यों में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र सम्भव था अथवा है, तथापि रूसो उसका समर्थन करता है और उसकी कार्यान्विति हेतु अनेक समाधान भी प्रस्तुत करता है, यथा छोटे-छोटे नगर-राज्यों की स्थापना तथा उन्हें संघात्मक रूप से संगठित करने, या सामान्य इच्छा को सुनिश्चित करने हेतु शासन के प्रधान कार्यालयों को विभिन्न स्थानों पर ले जाने की व्यवस्था। भले ही ये समाधान व्यावहारिक प्रतीत न हों, तथापि इनसे स्पष्ट हो जाता है कि रूसो प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के प्रति निष्ठा रखता था। आधुनिक राज्यों में उपक्रम (initiative), लोक निर्णय (referendum), जनमत-संग्रह (plebiscite) तथा प्रत्याह्वान (recall) की प्रथाएँ जिन राज्यों में अपनाई गई हैं, उनके अन्तर्गत प्रत्यक्ष लोकतन्त्र की धारणा को

ही यथासम्भव कार्यान्वित करने का उद्देश्य निहित है। कार्यपालिका के ऊपर व्यवस्थापिका की उच्चता को मानना भी रूसो के इस सिद्धान्त से सहमति रखता है कि शासन जनता की इच्छा का एक अभिकरण मात्र है, अतः उसे जनता के प्रति अथवा जनता की प्रतिनिधि संस्था के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। इस दृष्टि से रूसो निस्सन्देह एक लोकतन्त्रवादी विचारक है, अथवा यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि रूसो ही आधुनिक लोकतन्त्रवाद का जनक है।

परन्तु यह सन्देह किया जा सकता है कि रूसो का लोकतन्त्रवाद सर्वाधिकारवादी लोकतन्त्र (totalitarian democracy) का प्रतिपादन करता है, क्योंकि रूसो व्यक्तिगत अधिकारों का समर्थक नहीं है। परन्तु यह मानना उचित नहीं है कि रूसो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का समर्थक नहीं था। वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर सामूहिक हित की दृष्टि से प्रतिबन्ध लगाना उचित समझता है। वह स्वतन्त्रता तथा सत्ता के मध्य समन्वय स्थापित करना चाहता है अन्यथा स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता में परिणत होकर समाज का अहित कर सकती है। निरपेक्ष स्वतन्त्रता स्वतन्त्रता नहीं कही जा सकती। कोई भी लोकतन्त्र अप्रतिबन्धित स्वतन्त्रता अपने नागरिकों को प्रदान करके समाज का अहित करने का साहस नहीं कर सकता। इसलिए रूसो के बारे में यह कहना उचित नहीं है कि वह नागरिकों की स्वतन्त्रता की धारणा को अमान्य करता है। इस दृष्टि से रूसो की विचारधारा में लोकतन्त्र के बीज पूर्णतया विद्यमान थे।

राजनीतिक चिन्तन को रूसो की देन

रूसो तथा राष्ट्रवाद—सैबाइन के अनुसार, 'रूसो का राजनीतिक दर्शन इतना अस्पष्ट है कि यह बता सकना कठिन है कि वह किसी निश्चित दिशा को इंगित करता है।' विशाल राष्ट्रीय राज्यों के युग का विचारक होते हुए भी वह नगर-राज्यों की स्वतन्त्रता की धारणा के प्रति अपनी विचारधाराएँ व्यक्त करता है। उसकी सामान्य इच्छा की धारणा विशाल राज्यों में कदापि उपयुक्त नहीं हो सकती, इसे वह स्वयं जानता था। अतएव रूसो की विचारधारा 'केवल राष्ट्रीय देशभक्ति को आदर्श रूप प्रदान करने की भावना प्रदर्शित करती थी।' उसने यह दर्शाया कि राज्य एक आदर्श संस्था है, जिसमें राष्ट्रीय सभ्यता के गुण शामिल होने चाहिए। रूसो स्वयं एक राष्ट्रवादी विचारक सिद्ध नहीं होता, परन्तु उसने प्राचीन युग के नागरिकता के आदर्श को अपने युग की परिस्थितियों में राष्ट्रीय भावना के साथ युक्त करने में सहायता प्रदान की। राष्ट्रवाद का वास्तविक आधार केवल स्वदेश-प्रेम तथा राजनीतिक स्वाधीनता नहीं है। सच्चा राष्ट्रवाद राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र जन-समूह के मध्य विविध सामूहिक हितों के सम्बन्ध में एकता की भावना का होना है। राष्ट्रवाद के इस नैतिक पक्ष को रूसो के सामान्य इच्छा के सिद्धान्त ने अधिक पुष्ट किया। सामान्य इच्छा में सामूहिक हित की भावना जनता के मध्य जीवन के विविध क्षेत्रों में एकता तथा समानता का भाव उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध होती है। यह व्यक्ति के मन में नैतिक भावना का संचार करती है। रूसो की इस धारणा को जर्मनी के आदर्शवादी विचारक कांट ने अपनाया और रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त को नैतिक स्वतन्त्र इच्छा (moral free will) का नाम दिया, जिसका उद्देश्य मानवतावाद था। हीगल ने सामूहिक इच्छा का आदर्शीकरण करके एक ऐसे

आदर्शवाद का प्रतिपादन किया जो उग्र राष्ट्रवाद में परिणत हुआ। रूसो का समष्टिवाद राष्ट्रीय संस्कृति, परम्पराओं तथा रीति-रिवाजों का कठोर पुनर्मूल्यांकन कराना चाहता था, अन्यथा सामान्य इच्छा एक खोखला सूत्र मात्र रह जाता। रूसो का संवेगवाद (sentimentalism) परम्पराओं को विवेक की आधीनता में नहीं रख सका, जैसी कि उसके युग के बुद्धिवाद की प्रवृत्ति थी। हीगल ने इन दोनों के मध्य समन्वय स्थापित करके उन्हें राष्ट्रीय भावना तथा चेतना के रूप में एकीकृत करने का प्रयास किया। उसने सामान्य इच्छा की धारणा को राष्ट्र की आत्मा के रूप में माना। सारांश यह है कि रूसो न स्वय राष्ट्रवादी था न उसकी विचारधाराएँ राष्ट्रवादी थीं, परन्तु उसकी विचारधारा ने भविष्य के राष्ट्रवादी चिन्तन हेतु पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की, चाहे उनके रूप तथा उद्देश्य रूसो की भावना से पृथक् प्रकृति के सिद्ध हुए।

क्रान्तिकारी विचारधारा ?—रूसो के विचार इतने जटिल थे कि भविष्य के राजनीतिक चिन्तकों एवं आलोचकों के लिए उनका समुचित निर्वचन करना एक समस्या बनी हुई है। ब्रूम का कथन है कि 'जिस मात्रा में रूसो का समर्थन या विरोध किया गया है उसका कारण रूसो को एक क्रान्तिकारी दार्शनिक के रूप में मानना हो सकता है।'[1] रूसो की विचारधाराएँ फ्रांस की तत्कालीन सामाजिक राजनीतिक एवं आर्थिक स्थिति के सन्दर्भ में उत्पन्न क्रान्तिकारी सिद्ध हुई। यह माना जाता है कि रूसो ने फ्रांसीसी क्रान्ति के नेताओं हेतु दार्शनिक निदेशक का कार्य किया। क्रान्ति का प्रत्येक नेता अपने भाषणों में रूसो की विचारधाराओं का उल्लेख करता था। परन्तु यह भी भ्रम किया जाता है कि रूसो की विचारधारा फ्रांसीसी क्रान्ति के लिए क्योंकर उत्तरदायी ठहराई जाती है, जबकि रूसो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अधिकार को मान्यता नहीं देता और क्रान्ति का नारा 'स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व' था। कोल का मत है कि 'जिस अर्थ में आज के व्यक्तिवादी व्यक्ति के अधिकारों को लेते हैं वह रूसो तथा क्रान्तिकारियों के विचार से अधिकार नहीं थे।'[2] रूसो की स्वतन्त्रता की धारणा मानवीय स्वतन्त्रता की धारणा थी, जो मानव का एक प्राकृतिक अधिकार है। सामाजिक अनुबन्ध स्वयं इसकी रक्षा की गारण्टी करता है। सम्प्रभु को इसकी रक्षा हेतु समाज के सदस्यों के मध्य समानता बनाये रखनी चाहिए। यदि वह इस सामान्य उद्देश्य को विशेष उद्देश्य में परिणत करता है और एक व्यक्ति को दूसरे से अच्छा मानने लगता है तो वह सम्प्रभु नहीं रह जाता। अतः मानवीय स्वतन्त्रता तथा समानता अनुबन्ध के प्रमुख तत्त्व हैं। इसी धारणा को लेकर क्रान्तिकारियों ने स्वेच्छाचारीतन्त्र का विरोध किया था, इसलिए रूसो उनका प्रेरणा-स्रोत सिद्ध हुआ। मैक्सी[3] का मत है कि फ्रांसीसी क्रान्ति के लिए रूसो को उत्तरदायी ठहराना उचित नहीं है। ऐसी महान् क्रान्ति का आह्वान रूसो सदृश किसी एक व्यक्ति के द्वारा नहीं किया जा सकता था। यह सम्भव है कि यदि रूसो के विचार फ्रांसीसियों के मन में भरे न होते तो क्रान्ति का रूप दूसरे ढंग का होता। परन्तु यह बात कोरी कल्पना है कि क्रान्ति विध्वंसात्मक तथा अविवेकपूर्ण नहीं होती। चाहे क्रान्ति किसी रूप की रही हो उसका परिणाम बुरा नहीं कहा जा सकता। क्रान्ति के पश्चात् जिस प्रकार के दोषों से युक्त लोकतन्त्र की स्थापना फ्रांस में हुई, उसमें रूसो के प्रभाव को दोषी

[1] Broome, *op. cit.*, 209.
[2] Cole, *op. cit.*, xv.
[3] Maxey, *op. cit.*, 367–68.

ठहराया जा सकता है। परन्तु वह दोष भी उसी प्रकार के थे जिन्हें रूसो से पूर्व सहस्रों वर्षों के तथा आज के लोकतन्त्रों में पाया जाता है। ब्रूम के अनुसार, 'यह सत्य है कि रूसो की विचारधारा क्रान्तिकारी रूप की है, परन्तु निस्सन्देह सुरक्षा, समन्वय तथा विवेक के नाम पर रूसो क्रान्ति की समाप्ति के लिए काम करने वाला सिद्ध होने का दावा करता।'[1] इसी लेखक ने आगे कहा है कि वास्तव में रूसो की विचारधारा एक दुधारी तलवार के रूप में सिद्ध हुई। उद्देश्य शान्ति तथा समन्वय था, परन्तु परिणाम क्रान्ति हुआ। इसीलिए आलोचक रूसो के विचारों का परस्पर विरोधी रूपों में निर्वचन करते हैं।

विविध विचारधाराओं का प्रेरणा-स्रोत—यह कह सकना कठिन है कि रूसो राजनीतिक विचारधाराओं की किस श्रेणी का विचारक है। ब्रूम के शब्दों में, 'वह ऐसा उदारवादी था जो स्वतन्त्रता की धारणा की उपेक्षा करता है; वह एक ऐसा व्यक्तिवादी था, जिसने व्यक्तिवाद को नष्ट करने का मार्ग प्रशस्त किया; वह एक महान् धार्मिक व्यक्ति था, जिसने अन्दर ही अन्दर धर्म की जड़ें उखाड़ दीं। उसकी सौन्दर्यानुभूति (aesthetic doctrine) शास्त्रीय है, परन्तु उसका प्रस्तुतीकरण (performance) तथा प्रभाव (influence) रोमांचकारी है, इत्यादि।' यही कारण है कि रूसो की विचारधारा ने उन्नीसवीं शताब्दी की विभिन्न विचारधाराओं को प्रभावित करने में सहायता दी। उग्र तथा उदार दोनों प्रकार के आदर्शवादी विचारों पर रूसो का स्पष्ट प्रभाव था। उन्नीसवीं सदी के स्वप्नलोकी तथा वैज्ञानिक दोनों प्रकार की समाजवादी विचारधाराएँ रूसो से प्रभावित थीं। यहाँ तक कि साम्यवाद तथा फासीवाद जैसी सर्वाधिकारवादी विचारधाराएँ भी रूसो के प्रभाव से रहित नहीं हैं। आधुनिक लोकतन्त्रवाद तथा सांविधानिकवाद तो रूसो की सबसे महत्त्वपूर्ण देन है। आधुनिक सांविधानिकवाद के अन्तर्गत मौलिक कानून तथा संविधिगत कानून के मध्य जो भेद किया जाता है, वह रूसो के सामान्य इच्छा तथा शासनिक आज्ञप्तियों के रूप का है। इस दृष्टि से रूसो की विचारधारा ने आधुनिक राजनीतिक चिन्तन की परम्परा को जन्म दिया है। कोल के अनुसार, 'राजनीतिक चिन्तन में रूसो मध्य युग की परम्परागत विचारधारा से राज्य के आधुनिक दर्शन की दिशा में संक्रमण होने की धारणा का प्रतिनिधित्व करता है।' उसकी सामान्य इच्छा की धारणा में सामूहिक हित की महत्ता ने 19वीं सदी के उपयोगितावादी चिन्तकों को प्रभावित किया। 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' का उपयोगितावादी सिद्धान्त रूसो के सामूहिक हित के सिद्धान्त का ही नया रूप था।

आधुनिक राजनीतिक दर्शन का जनक—रूसो के दर्शन में कुछ कमियाँ इस कारण हैं कि वह सच्चे अर्थ में एक विद्वान् (scholar) नहीं था, उसकी तार्किक प्रतिभा निर्बल थी, परन्तु उसकी अन्तर्प्रेरणा विलक्षण थी। केवल राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में ही नहीं अपितु शिक्षा, साहित्य, अर्थशास्त्र आदि विविध क्षेत्रों में उसकी रचनाओं का अमूल्य योगदान है। डनिंग का कहना है कि 'राजनीति के क्षेत्र में रूसो की शिक्षाएँ निर्णायक होने की अपेक्षा परामर्शदात्री प्रकृति की हैं, परन्तु उसके परामर्शों का प्रभाव साहित्य तथा इतिहास का एक मूलभूत तथ्य सिद्ध

[1] 'It is true that his thought assumes revolutionary forms, but he would doubtless claim to be working for the end of revolution, in the name of conservation, conciliation and reason.' —Broome, *op. cit.*, 209.

हुआ है।""उसकी भावनाएँ तथा सिद्धान्त, चाहे उन्हें परिवर्तित रूप में रखा गया हो, उसकी मृत्यु के पश्चात् चिन्तनात्मक तथा शासन की सगठनात्मक पद्धतियों में सर्वत्र पाये जाते हैं।'[1] राजनीतिक चिन्तन को रूसो की सबसे महत्त्वपूर्ण देन उसका सामान्य इच्छा का सिद्धान्त तथा लोक-प्रभुसत्ता की धारणा है। रूसो ने अपने दर्शन में इन्हें वह रूप प्रदान किया है जिसके कारण वे राष्ट्रीय राज्य के धारणा के विकास में सहायक सिद्ध हुई। रूसो से पूर्व मैकियाविली तथा बोदां के दर्शन ने भी राष्ट्रीय राज्यों की धारणा के विकास में सहायता प्रदान की थी, परन्तु रूसो के दर्शन से प्रभावित विचारधाराओं ने वास्तविक राष्ट्रवाद के विकास को व्यापक बनाया। बहुधा रूसो की विचारधारा की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि वह अत्यन्त भावनामूलक (abstract) तथा अधिभौतिकवादी (metaphysical) है। परन्तु कोल का कथन है कि 'कई दृष्टियों से यह उसकी महान् शक्ति है।' 18वीं सदी के दर्शन में विशेषीकरण की अपेक्षा सामान्यीकरण की प्रवृत्ति अधिक थी। रूसो ने भी इस प्रवृत्ति का परित्याग नहीं किया। परन्तु उसका सामान्यीकरण निवर्तमान शासन के विशिष्ट आचरणों से प्रेरित रहा था। कोल ने कहा है कि 'अपने सामान्यीकरण को तुष्टि तथा यथार्थता प्रदान करने की इस शक्ति के कारण ही रूसो आधुनिक राजनीतिक दर्शन का जनक बन पाया है।'[2]

राजनीतिक चिन्तन में नई प्रवृत्तियों का सृष्टा—रूसो विवेकवाद के युग का चिन्तक था। परन्तु उसने विवेकवाद का अवलम्बन नहीं किया। उसके विचारों के साथ विवेकवाद के युग (age of reason) का अन्त हो गया। रूसो के विचारों ने राजनीतिक समस्याओं के समाधान के निमित्त चिन्तन करने वाले विचारकों को संवेगवाद तथा कल्पनावाद (sentimentalism and romanticism) की प्रवृत्तियाँ अपनाने की प्रेरणा दी। रूसो के पश्चात् साहित्य के क्षेत्र में कल्पनावाद का युग आरम्भ हुआ और उसके अन्तर्गत विवेच्य-वस्तु समाज के उच्चतर वर्ग न रहकर जनसाधारण हो गये और यह प्रवृत्ति बढ़ती आयी है। इसलिए रूसो के पश्चात् का युग सामान्य मानव का युग (the age of Common Man) कहलाया जाने लगा है। इस युग में राजनीतिक चिन्तन के केन्द्र राजा महाराजा या उच्चतर अभिजात वर्ग ही नहीं रहे, बल्कि जनसाधारण की समस्याएँ चिन्तन का केन्द्र बनने लगीं जिसके कारण लोकतन्त्र तथा समाजवाद की धारणाओं पर सर्वाधिक विचार किया जाने लगा। लोक-प्रभुसत्ता की धारणा बलवती होने लगी। इस प्रकार रूसो के राजनीतिक दर्शन ने राजनीतिक विचारधाराओं को आधुनिक स्वरूप प्रदान करने में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

रूसो के दर्शन की दुर्बलताएँ

विगत पृष्ठों में रूसो के राजनीतिक दर्शन के विविध पहलुओं का विवेचन करते हुए यदा-कदा उनकी त्रुटियों तथा दुर्बलताओं पर भी प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। यदि समग्र रूप में रूसो के राजनीतिक विचारों को लिया जाय, तो

[1] Dunning, *A History of Political Theories from Rousseau to Spencer*, 38.

[2] 'It is owing to this faculty of giving his generalisations content and actuality that Rousseau has become the father of modern political philosophy.' —Cole, *op. cit.*, vii.

उन्होंने राजनीतिक चिन्तन के निमित्त जो महान् योगदान किये हैं उनके साथ ही रूसो के विचारों की अनेक दुर्बलताएँ भी प्रकट होती हैं। निम्नांकित परिच्छेदों में हम उन दुर्बलताओं का परीक्षण करेंगे।

रूसो के बारे में यह सच ही कहा गया है कि 'उसके विचार उतने ही जटिल हैं जितना जटिल उसका जीवन था।' विवेकवाद के युग में संवेदों पर आधारित विचारों का प्रतिपादन करते हुए, परन्तु साथ ही चिन्तन में उस युग की कुछ प्रवृत्तियों को भी अपनाते हुए उसके विचार अनेक विरोधाभासों से युक्त हो गये। रूसो के विचार न तो एक क्रमबद्ध तार्किक ढंग से विकसित या निर्मित हैं और न ही उनमें आद्योपान्त एक समरूपता रही है, अर्थात् वह किसी एक निश्चित विचारधारा या आदर्श को अपनाने की दिशा में प्रवृत्त नहीं रहा है। इसीलिए उनके विचारों के बारे में कहा गया है कि वह 'अत्यधिक भ्रम का पुंज' (A meblev of excessive confusion) है। यह बता सकना कठिन है कि रूसो ने अपने पूर्वगामी चिन्तकों में से किसके विचारों से प्रेरणा ली थी। रूसो को एक क्रमबद्ध अथवा सुव्यवस्थित शिक्षा प्राप्त करने का अवसर तो मिला नहीं था, परन्तु उसने अपने आवारा-गर्दी के जीवन में यदा-कदा प्लेटो, अरस्तू, हॉब्स, लॉक आदि के विचारों को पढा था। सार्वजनिक जीवन एवं राजनीतिक संस्थाओं के साथ उसका सम्पर्क भी आकस्मिक ही रहा था। परन्तु तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों की बुराइयों का ज्ञान उसे होता रहा। वह स्वयं समाज के एक निम्नतम वर्ग में उत्पन्न हुआ था; उसे जीवन-संघर्ष में सामाजिक जीवन के विविध तत्त्वों के साथ सम्पर्क स्थापित करने का अवसर मिला था। वह कभी भी स्थिर जीवन नहीं बिता सका। परन्तु उसके संवेगों ने उसे कभी निरुत्साहित भी नहीं किया। वह सदैव मस्ती तथा चिन्ताओं से मुक्त जीवन व्यतीत करता रहा। ऐसे ही जीवन को उसने सुखी जीवन कहा है। उसके विचारों का भद्र वन्य-जीव (noble savage) स्वयं रूसो है। विवेकशील मानव से उसे घृणा है। उसने कहा था कि 'विचारशील मानव एक निकृष्ट जीव होता है' (A thinking man is a depraved animal)।

बहुधा यह माना जाता है कि रूसो के विचारों ने फ्रांस की प्रसिद्ध राजक्रान्ति को प्रेरित किया था। क्रान्ति के नेता यदा-कदा रूसो के कथनों को उद्धृत करके क्रान्तिकारियों के संवेगों को प्रोत्साहित करते थे। भले ही रूसो को निरंकुशतावाद का प्रतिपादक तथा व्यक्तिवाद का विरोधी माना जाता हो, तथापि फ्रांसीसी क्रान्ति के प्रसिद्ध नारों 'स्वतन्त्रता, समानता एवं भ्रातृत्व' को रूसो के विचारों में सर्वत्र पाया जाता है। फ्रांसीसी क्रान्ति के कटु आलोचक बर्क ने रूसो के विचारों को महत्त्वहीन (valueless) कहा है। मॉर्ले का मत है कि रूसो को 'चिन्तन कैसे किया जाता है' इसका ज्ञान रहने की ख्याति कभी भी प्राप्त नहीं हो सकती। रूसो के विचारों में भ्रम-जालों का अस्तित्व होने का मुख्य कारण यह है कि जहाँ वह किसी एक विचारधारा या आदर्श को अपनाता है, वहीं पर उसी साँस से वह उस विचारधारा या आदर्श की विरोधी धारणा का समर्थन करने लगता है। उदाहरण के लिए, व्यक्तिवाद तथा समष्टिवाद दो परस्पर विरोधी विचारधाराएँ हैं, परन्तु रूसो के विचारों में दोनों का समर्थन परिलक्षित होता है। इसी प्रकार लोकतन्त्र तथा निरंकुशवाद दो परस्पर विरोधी धारणाएँ हैं, परन्तु रूसो दोनों का पक्ष एक साथ लेता है। एक ओर वह विवेकवाद का शत्रु है और संवेगवाद को महत्त्व देता है

तो दूसरी ओर उसकी सामान्य इच्छा की धारणा यह दर्शाती है कि संवेगजन्य इच्छा बुरी है और मानवों की विवेकमय इच्छाओं के योग से ही सामान्य इच्छा का निर्माण होता है। इस प्रकार रूसो के राजनीतिक विचारों में इन असंगतियों, भ्रान्तियों तथा विरोधाभासों के कारण अनेक कमियाँ रह गई हैं। उसकी धारणाओं की महत्ता अथवा उपयोगिता के बावजूद उनमें अनेक दोष भी हैं :

(1) उसका सामान्य इच्छा का सिद्धान्त प्राचीन ग्रीक के नगर-राज्यों के सदृश राजनीतिक समाजों के लिए भले ही उपयुक्त हो, परन्तु रूसो 18वीं शताब्दी के विशाल-राष्ट्र-राज्यों के युग का चिन्तक था। तब से लेकर आज तक जिन राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना की प्रवृत्ति बढ़ती रही है उनके अन्तर्गत उसकी सामान्य इच्छा या प्रत्यक्ष लोकतन्त्र की कार्यान्विति सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से रूसो एक यथार्थवादी चिन्तक सिद्ध नहीं होता।

(2) रूसो स्वतन्त्रता से आरम्भ करता है, परन्तु निरंकुशतावाद से समाप्त करता है। रूसो के विचारों की राजनीतिक व्यवस्था सर्वाधिकारवादी राज्य-व्यवस्था में परिणत हो जायेगी। यह एक भ्रान्ति है कि सामान्य सम्प्रभु इच्छा, जो निरंकुश है, के आदेशों का पालन करने में ही व्यक्ति स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है। विरोध करने में उसे सामान्य इच्छा के (अर्थात् सम्प्रभु राज्य के) आदेशों का पालन करने पर विवश किया जायेगा और उसे स्वतन्त्र होने के लिए बाध्य किया जायेगा। ऐसी धारणा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा लोकतन्त्र दोनों के विपरीत है। यह फांसीवादी प्रवृत्ति की द्योतक है। इसी प्रकार की उसकी अन्य परस्पर विरोधी धारणाओं के कारण वह एक सुव्यवस्थित तथा क्रमबद्ध राजनीतिक दर्शन का प्रतिपादन नहीं कर पाया।

(3) रूसो की सम्पूर्ण राजनीतिक विचारधारा का केन्द्र उसका सामान्य इच्छा का सिद्धान्त है। परन्तु उसकी यह धारणा अत्यन्त अस्पष्ट, स्वप्नलोकी, तथा अव्यवहार्य है। इसीलिए रूसो को एक स्वप्नलोकी राजनीतिक चिन्तक ही माना जा सकता है। यों तो प्लेटो भी स्वप्नलोकी चिन्तक था, परन्तु प्लेटो ने अपने सम्पूर्ण दर्शन को एक क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित ढंग से विकसित किया है। यही बात हॉब्स के बारे में भी सत्य है। उनके विचारों में भले ही निष्कर्षों तथा यथार्थ के तथ्यों की उपेक्षा की गयी हो, परन्तु उनमें तार्किक क्रम का अभाव नहीं था। परन्तु रूसो के विचारों में तार्किक क्रम पूर्णतया उपेक्षित रहा, जिसके कारण उसके विचार भ्रामक, अस्पष्ट तथा स्वप्नलोकी या रहस्यपूर्ण ही बने रहे।

(4) सामान्य इच्छा की धारणा को लेकर रूसो ने राज्य के स्वयं अपने व्यक्तित्व तथा इच्छा होने के सिद्धान्त को व्यक्त किया है। यह प्रत्ययमूलक धारणा यथार्थ की उपेक्षा करती है। इच्छा या व्यक्तित्व व्यक्ति का होता है, समूह की यदि कोई इच्छा या व्यक्तित्व है तो वह समूह का निर्माण करने वाले सदस्यों की इच्छा या व्यक्तित्व से पृथक् नहीं हो सकते। यथार्थ तथा वास्तविक इच्छा की धारणाएँ भी भ्रामक हैं।

इस प्रकार रूसो के राजनीतिक विचारों ने भले ही भविष्य के राजनीतिक चिन्तन, प्रवृत्तियों, आदर्शों, विचारधाराओं आदि के प्रवर्तकों के लिए सामग्री तथा प्रेरणा प्रदान की हो, तथापि स्वयं में रूसो का सम्पूर्ण दर्शन अनेक असंगतियों, अस्पष्टताओं तथा भ्रमों का जाल बना रहा।

सत्रहवाँ अध्याय

राजनीतिक चिन्तन में रूढ़िवादिता

चिन्तन में नई प्रवृत्तियों का प्रवेश—मध्य युग की समाप्ति के पश्चात् 17वीं शताब्दी में हॉब्स तथा लॉक की विचारधाराओं ने प्राकृतिक कानून की धारणा को नये रूप में प्रस्तुत करके व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों को महत्त्व देने की परम्परा अपनायी। 18वीं शताब्दी में फ्रांस के दार्शनिक मांटेस्क्यू के राजनीतिक विचार प्रयोगवाद, अनुभववाद तथा बुद्धिवाद पर आधारित थे। रूसो ने सामाजिक व्यवहार का विवेचन करने के लिए संवेगवाद को तर्कवाद की अपेक्षा अधिक उपयुक्त समझा था। प्रकृति विज्ञान के क्षेत्र में प्रयोग, पर्यवेक्षण तथा अनुभव के आधार पर सत्य की खोज करने की परम्परा विकसित होती जा रही थी। परिणामस्वरूप यूरोप में दार्शनिक चिन्तन के अन्तर्गत नई-नई प्रवृत्तियों का अभ्युदय होने से राजनीतिक संगठनों, समस्याओं तथा आदर्शों के प्रतिपादन में भी चिन्तन की प्रवृत्तियाँ बदलने लगी थीं। इस प्रकार 17वीं तथा 18वीं शताब्दी की राजनीतिक विचारधाराओं में बुद्धिवाद, तर्कवाद, अनुभववाद तथा संवेगवाद का प्रभाव आने लगा था। इंग्लैण्ड की गृह-क्रान्ति 1688 मे समाप्त हो चुकी थी। 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में क्रान्ति के स्थल अमरीका तथा फ्रांस हो गये। अमरीकी क्रान्ति औपनिवेशिक स्वतन्त्रता की धारणा से निदेशित थी। वहाँ के उपनिवेश-वासी स्वयं अपनी मातृभूमि की सरकार की कर-नीति तथा स्वेच्छाचारितापूर्ण शासन-नीति के विरुद्ध लड़े और स्वतन्त्र हो गये। इसके विपरीत फ्रांस की क्रान्ति गृह-क्रान्ति थी, जिसका उद्देश्य स्वेच्छाचारी राजतन्त्र का अन्त करके लोकतन्त्र की स्थापना करना था। इन क्रान्तियों के फलस्वरूप भी राजनीतिक चिन्तन में भी नई प्रवृत्तियाँ आने लगीं।

इंग्लैण्ड की स्थिति—18वीं सदी के इंग्लैण्ड में बहुत बड़े राजनीतिक चिन्तकों का अभाव रहा। वहाँ की जनता की प्रवृत्ति क्रान्तिकारी न होकर रूढ़िवादी थी। अतएव उन्हें क्रान्तिकारी प्रभाव उत्पन्न करने वाली विचारधाराओं से कोई अभिरुचि नहीं थी। प्रत्युत् वहाँ का राजनीतिक चिन्तन प्रयोगवादी आधार पर विकसित हुआ। निस्सन्देह अमरीकी तथा फ्रांसीसी क्रान्तियों के विचारों का अध्ययन इंग्लैण्ड के चिन्तक करते रहे और उनके विचारों मे इन क्रान्तियों की विचारधाराओं की प्रतिक्रिया भी व्यक्त होती रही, परन्तु उनके चिन्तन पर इन क्रान्तियों का प्रभाव प्रतिकूलात्मक ही रहा। 18वीं शताब्दी के इंग्लैण्ड के प्रमुख विचारकों में स्कॉटलैण्ड के डेविड ह्यूम तथा आयरलैण्ड के इडमण्ड बर्क का नाम उल्लेखनीय है।

डेविड ह्यूम (1711–1776)

जीवन-परिचय तथा रचनाएँ—ह्यूम रूसो का समकालीन था। वह कानून

तथा साहित्य की अच्छी शिक्षा प्राप्त कर चुका था। वह मूल रूप से एक दार्शनिक था। उसकी रचनाएँ 'The Treatise of Human Nature', 'History of England', 'The Original Contract', 'Enquiry concerning the Principles of Morals', 'Political Discourses', तथा 'A Natural History of Religion' हैं। इनमें से ट्रीटाइज सबसे प्रथम तथा महत्त्वपूर्ण परन्तु लेखक के लिए अत्यन्त निराशाजनक सिद्ध होने वाली रचना थी। इसे उसने 'Enquiry concerning Human Understandings' के नाम से प्रकाशित कराया था। ह्यूम की रचनाओं की विशेषता यह है कि वे रचनात्मक सिद्ध होने की अपेक्षा आलोचनात्मक अधिक सिद्ध हुई। अत: यद्यपि राजनीतिक चिन्तन में वे स्वयं महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रखतीं, तथापि उन्होंने राजनीतिक चिन्तन को नया दृष्टिकोण प्रदान किया।

राजनीतिक विचारधारा—ह्यूम प्राकृतिक कानून तथा प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले विचारों का विरोध करता है, क्योंकि इनके अन्तर्गत विवेक को मानवीय नैतिकता, सामाजिक आचरण, धार्मिक विश्वास आदि का मूलभूत मानदण्ड माना गया था। ह्यूम की धारणा थी कि विवेक साधन तथा साध्य का निर्धारण नहीं करता, बल्कि वह संवेगों द्वारा निर्देशित होता है। सामाजिक सम्बन्धों तथा मानव आचरणों के सम्बन्ध में कोई ऐसे पूर्व-निर्धारित सत्य नहीं होते जिन्हें विवेक के द्वारा समझा जा सके। मानवों के सामाजिक सम्बन्ध परम्पराओं तथा सुविधाओं पर आधारित होते हैं। इनका ज्ञान अनुभव द्वारा किया जाता है। मनुष्य अनुभव द्वारा उचित अनुचित का ज्ञान करता है। अत: जो अनुभव सुखद हो वह अच्छा है और जो दु:खद हो, वह बुरा है। समाजशास्त्री को इन्हीं के सन्दर्भ में मानव आचरण का अध्ययन करना चाहिए, न कि भावनामूलक प्राकृतिक कानून की धारणा के आधार पर। स्वतन्त्रता, नैतिकता तथा न्याय कोई पूर्व-निर्धारित सत्य नहीं है, बल्कि उनका आधार उपयोगिता है। ह्यूम के राजनीतिक विचारों का आधार उसकी यही मनोवैज्ञानिक धारणाएँ (psychological concepts) थीं। इनके आधार पर वह दैवी अधिकार सिद्धान्त तथा सामाजिक समझौता सिद्धान्तों का विरोध करता है।

राज्य तथा शासन का आधार उपयोगिता है, न कि दैवी अधिकार या संविदा—ह्यूम के मत से समाज की उत्पत्ति का आधार 'आवश्यकता' है, जो मानव स्वभाव तथा प्रवृत्ति के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। सामाजिक शान्ति, सुरक्षा तथा पारस्परिक व्यवहार के लिए न्याय की आवश्यकता पड़ती है। अत: राजनीतिक समाज की स्थापना की जाती है। मनुष्य की स्वार्थी प्रवृत्ति को सामाजिक हित के अनुरूप बनाने के लिए उसे कानून के अनुसार आचरण करने को विवश करना आवश्यक है। इसलिए प्रशासकों की व्यवस्था करनी पडती है, जो कानून को लागू करने तथा उसका परिपालन कराने के लिए आवश्यक है। सरकार की उत्पत्ति के आधार यही तत्त्व हैं। परन्तु हर शासन के हर आदेश का पालन करना मनुष्य के लिए आवश्यक नहीं है। यदि मनुष्य आदेशों का पालन करता है, तो उसका कारण यह है कि वह आदेश को उसकी उपयोगिता की दृष्टि से उचित समझता है, और

उसका ऐसा स्वभाव हो जाता है। कभी-कभी शासक बल-प्रवर्ती शक्ति का प्रयोग करके भी जनता को आज्ञा-पालन के लिए विवश करते हैं। शासन का आधार दैवी हो सकता है, वह इस अर्थ में कि शासन के बिना व्यवस्था चल सकना ईश्वर की दृष्टि में उचित नहीं रहा होगा। परन्तु ईश्वर ने स्वयं न तो किसी विशेष शासन-पद्धति का निर्माण किया है, और न किसी व्यक्ति विशेष को शासक नियुक्त किया है। इसी प्रकार किसी निश्चित समय में यदि किसी मूल संविदा द्वारा राज्य या शासन की उत्पत्ति हुई हो तो, वह संविदा भविष्य की सैंकड़ों पीढ़ियों तक प्रचलित रहने वाली नहीं मानी जा सकती। भविष्य में जनता उपयोगिता तथा आदत के अनुसार ही आज्ञा-पालन करती है, न कि अतीत में की गयी किसी संविदा को आधार-स्वरूप मानकर। इतिहास बताता है कि अधिकांश शासन 'विजय' तथा 'आक्रमणों' के फलस्वरूप स्थापित होते रहे है। अतः मूल संविदा यदि कोई थी, तो वह समाप्त हो चुकी है। निर्वाचन भी संविदा की धारणा की पुष्टि नहीं कर सकता। इसी प्रकार क्रान्ति द्वारा शासन का परिवर्तन भी संविदा पर आधारित नहीं माना जा सकता। ह्यूम 1688 की क्रान्ति को संविदा की धारणा नहीं मानता, जबकि लॉक ने संविदा सिद्धान्त की धारणा के आधार पर इसके औचित्य को दर्शाया था। ह्यूम का मन्तव्य यह भी नहीं था कि जन-सहमति का सिद्धान्त शासन के लिए अनौचित्यपूर्ण है। वह तो यही दर्शाता है कि यह सिद्धान्त अव्यावहारिक, अनैतिहासिक तथा तथ्यों से रहित है।[1]

शासन तथा जनता—शासन के आदेशों का पालन जनता क्यों करती है? इस प्रश्न के उत्तर में ह्यूम का कहना है कि 'यदि मुझसे यह प्रश्न किया जाए कि हमारी शासन के प्रति आज्ञाकारिता का कारण क्या है, तो मेरा तुरन्त यही उत्तर है कि अन्यथा समाज का अस्तित्व सम्भव नहीं होगा, और यह उत्तर समस्त मानव जाति को स्पष्ट एवं बोधगम्य है।' इसका यह अभिप्राय है कि ह्यूम की दृष्टि से जनता द्वारा शासन की आज्ञाकारिता का मुख्य कारण भौतिक स्वार्थ है। जब तक सरकार समाज में शान्ति, व्यवस्था, नागरिक-सुरक्षा तथा व्यक्ति की सम्पत्ति की रक्षा की व्यवस्था बनाये रखती है, तब तक जनता आदतन उसकी आज्ञा का पालन करती रहती है। ह्यूम की आस्था लोकतन्त्र में नहीं थी। प्रत्युत् वह अपने काल की कुलीनतन्त्री व्यवस्था का समर्थन करता है। उसके मत से जनसाधारण में इतना विवेक नहीं होता कि वह स्वार्थ-हित की अपेक्षा सामान्य-हित की उच्चता के आदर्श का अनुगमन कर सके। अतः शासन-संचालन हेतु ह्यूम उन अल्पसंख्यकों के द्वारा जनता का मार्ग-दर्शन करने की दलील देता है, जो कि शिक्षा तथा सम्पत्ति की दृष्टि से उच्चतर स्थिति में हैं; जिनके संवेग शान्त हैं, न कि उग्र; और जो प्रबुद्ध स्वार्थ से युक्त हैं, न कि केवल वासनामय स्वार्थ से। ह्यूम की यह धारणा भी उपयोगिता पर आधारित है।

प्रभाव—ह्यूम की राजनीतिक धारणाओं के उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि उसने राजनीतिक चिन्तन को एक नई दिशा प्रदान की, और विवेकवाद पर आधारित प्राकृतिक कानून तथा प्राकृतिक अधिकारों की

[1] 'My intention is not to exclude the consent of the people from being the one just foundation of government where it has a place. It is surely the best and most sacred of any. I only pretend, that it has very seldom had a place in any degree, and never almost in its full extent.' —Hume.

धारणाओं तथा संविदा सिद्धान्त की भावनामूलक विचारधारा का परित्याग करके राजनीतिक चिन्तन को व्यवहारवाद, प्रयोगवाद तथा उपयोगितावाद की दृष्टि से व्यक्त करने की प्रेरणा दी। उसके इस दृष्टिकोण ने इंग्लैण्ड के उपयोगितावादी चिन्तन को प्रभावित किया। ह्यूम के दार्शनिक विचारों का जर्मन आदर्शवादी विचारक कांट पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। ह्यूम की रूढ़िवादी राजनीतिक विचारधारा ने बर्क को प्रभावित किया।

इडमंड बर्क (1729–1797)

जीवन-परिचय—बर्क का जन्म आयरलैण्ड के डबलिन नगर में 1729 में हुआ था। उसके पिता प्रोटेस्टेंट धर्मावलम्बी एक वकील थे। वह बर्क को भी कानून की शिक्षा दिलाना चाहते थे। प्रारम्भिक शिक्षा के उपरान्त बर्क डबलिन के ट्रिनिटी कालेज में प्रविष्ट हुआ। 1748 में वहाँ से एक डिग्री प्राप्त कर लेने पर वह 1750 में कानून की शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंग्लैण्ड गया। परन्तु उसकी अभिरुचि कानून में नहीं थी। वह साहित्यिक अध्ययन करना चाहता था। जब उसने कानून छोड़ दिया तो उसके पिता ने उसकी शिक्षा पर व्यय भी कम कर दिया। इससे पिता तथा पुत्र दोनों को निराशा हुई। परन्तु बर्क साहित्यिक अध्ययन करता रहा।

रचनाएँ—1756 में उसने अपना प्रथम निबन्ध 'A Vindication of Natural Society' प्रकाशित किया। इसके निष्कर्ष लगभग रूसो के प्रथम निबन्ध की भाँति के थे। परन्तु वह निबन्ध एक उपहास का रूप था, जैसा कि बर्क ने बाद में स्वयं कहा था, क्योंकि रूसो के विपरीत बर्क की नागरिक संस्थाओं के प्रति अतीव निष्ठा थी। 1758 में बर्क को विलियम जिराल्ड हैमिल्टन, जो कि ब्रिटिश सरकार का आइरिश सचिव था, के साथ एक राजनीतिक पद पर नियुक्त किया गया। परन्तु 1765 में उसकी हैमिल्टन से अनबन हो गयी, और वह तत्कालीन प्रधानमन्त्री लार्ड रॉकिंघम का सचिव बना। शीघ्र ही वह ब्रिटिश संसद का सदस्य भी बन गया। बर्क ने राजनीतिक चिन्तन पर किसी ग्रन्थ की रचना नहीं की है। वह मूल रूप से एक निबन्ध लेखक था। संसद में वह एक महानतम व्याख्यानदाता (orator) सिद्ध हुआ। लगभग 30 वर्ष तक वह बराबर संसद का सदस्य बना रहा। जब उसका दल (ह्विग दल) सत्ताधारी रहता, तो उसे कुछ उच्च पद मिल जाते थे, यद्यपि वह मन्त्री पद कभी प्राप्त न कर सका और विरोधी दल का सदस्य रहने की स्थिति में वह शासन के विरुद्ध प्रभावशाली अवरोध सिद्ध होता था। बर्क के राजनीतिक विचार उसके द्वारा लिखे गये निबन्धों तथा उसके द्वारा संसद या सार्वजनिक स्थलों में दिये गये व्याख्यानों से ज्ञात होते हैं जिनका संकलन अनेक विद्वानों ने किया है।[1] उसकी रचनाएँ 'Abridgement of the History of England' तथा 'Annual Register' हैं। उसके निबन्धों में 'Reflection on the Revolution in France', 'Thoughts in French Affairs', 'A Letter to a Member of National Assembly', 'An Appeal from the Old to

[1] बर्क के लेखों, निबन्धों, भाषणों आदि का संकलन Works of Edmund Burke के रूप में किया गया है। संदर्भ हेतु Works of Edmund Burke (Bohn's edition), 1891 का प्रयोग किया गया है।

the New Whigs' आदि हैं । यह 1790-91 में लिखे गये थे ।

बर्क के राजनीतिक विचारों के स्रोत—बर्क के राजनीतिक विचारों के प्रेरणा-स्रोत तत्कालीन राजनीतिक गतिविधियाँ तथा घटनाएँ थीं । वह एक सक्रिय राजनेता था । उस समय इंग्लैण्ड में ह्विग तथा टोरी दो राजनीतिक दल थे । वह ह्विग दल का सदस्य था । परन्तु बाद में अपने विचारों में परिवर्तन आ जाने के कारण वह टोरी दल में मिल गया और उसने इस दल को रूढ़िवादी दल (Conservative Party) का नाम दिया और आज तक इसी नाम से चलता आ रहा है । अतः उसे व्यावहारिक राजनीति का पर्याप्त ज्ञान था । उस समय इंग्लैण्ड का राजा जार्ज तृतीय संसद से अपने अधिकारों को पुनः प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा था । बर्क ने इसका घोर विरोध किया । बर्क 1688 की क्रान्ति का समर्थक था । उसके मत से राजा द्वारा अपने अधिकारों को बढ़ाने का प्रयास करना सविधान के संरक्षण का उल्लंघन है । उसने अमरीका की स्वतन्त्रता की क्रान्ति को भी उचित ठहराया था । वह ब्रिटिश सरकार की औपनिवेशिक विस्तार की नीति का विरोधी था । उसकी यह धारणा थी कि भले ही ब्रिटिश सरकार को उपनिवेशों पर कर लगाने का औचित्यपूर्ण अधिकार है, तथापि सम्प्रभु अपने ऐसे अधिकार का प्रयोग जनता के अहित में नहीं कर सकता है । सरकार की कर-नीति का औचित्य तभी है जबकि वह उपनिवेश की जनता की सुख-समृद्धि का ध्यान रखे । इसी प्रकार वह ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की शासन-नीति का भी विरोधी था । जब भारत के भूतपूर्व गवर्नर-जनरल वारेन हेस्टिंग्स के ऊपर मुकदमा चलाया गया तो बर्क ने हेस्टिंग्स के कुकृत्यों का खुला विरोध इस आधार पर किया कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासकों का उद्देश्य अन्यायपूर्ण ढंग से पैसा कमाना तथा उपनिवेश की जनता का शोषण करना था । ऐसी नीति उपनिवेशवाद का औचित्य नहीं रखती । बर्क ने फ्रांसीसी राज-क्रान्ति की तीव्र भर्त्सना की । स्वयं ह्विग दल का एक नेता होते हुए भी वह फ्रांसीसी क्रान्ति के सम्बन्ध में अपने दल की जनता के स्वतन्त्रता के अधिकारों की नीति का समर्थन नहीं कर सका । उसका तर्क था कि फ्रांसीसी राज-क्रान्ति का निर्देशन गलत सिद्धान्तों पर आधारित था । क्रान्तिकारी स्थापित संस्थाओं, परम्पराओं तथा संविधान को परिवर्तित करना चाहते थे । इसके लिए हिंसात्मक क्रान्ति का कोई औचित्य नहीं था । इसके पश्चात् जब इंग्लैण्ड तथा फ्रांस के मध्य युद्ध छिड़ा और ब्रिटिश सरकार धनाभाव के कारण फ्रांस के साथ ऐसी सन्धि करने के लिए तैयार होने लगी जो कि फ्रांस के पक्ष में होती तो उस समय भी बर्क ने, यद्यपि वह संसद का सदस्य नहीं था, अपने एक लेख द्वारा जनमत को इस नीति के विरुद्ध संगठित करने में सहायता दी, जिसके कारण सरकार को अपनी नीति बदलनी पड़ी ।

बर्क की विचार-पद्धति—इस प्रकार बर्क के समस्त विचार मुख्यतया तत्कालीन राजनीतिक घटना-चक्रों के सन्दर्भ में व्यक्त किये गये हैं । परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि बर्क के राजनीतिक विचारों का कोई दार्शनिक आधार नहीं है । सैबाइन ने कहा है कि 'बर्क को स्वात्म-चेतना से युक्त राजनीतिक रूढ़िवादिता का संस्थापक उचित ही माना जाता है ।' राजनीतिक रूढ़िवादिता के लगभग सभी सिद्धान्त उसके व्याख्यानों तथा परिपात्रों (pamphlets) में पाये जाते हैं । बर्क अपनी राजनीतिक धारणाओं के प्रतिपादन में मुख्यतया ह्यूम की भाँति प्रयोगवादी, अनुभववादी तथा व्यवहारवादी ही है । वह भी 17वीं शताब्दी के बुद्धिवाद तथा तर्कवाद के भावना-

मूलक सिद्धान्तों का अनुगमन नहीं करता। यद्यपि ह्यूम तथा बर्क दोनों रूढ़िवादी हैं, तथापि दोनों की विचार-पद्धतियाँ अनेक दृष्टियों से वैविध्य भी रखती हैं। ह्यूम की विचार-पद्धति विश्लेषणात्मक, सोद्देश्यतायुक्त तथा पक्षपात-रहित अधिक है। इसके विपरीत बर्क की विचारधारा उग्र तथा संघर्षमय है। वह अधिक दार्शनिकता से युक्त है। ह्यूम विवेक तथा सवेग को पृथक् करता है, जबकि बर्क की विचार-पद्धति में इन दोनों का सम्मिश्रण है। बर्क का स्वयं अपना दर्शन है। हारमॉन के अनुसार, 'बर्क की राजनीतिक विचारधारा का मूलभूत सिद्धान्त 'व्यवस्था' है। उसका विश्वास था कि विश्व व्यवस्थित एव बोधगम्य है और उसका सचालन ईश्वर द्वारा बनाये गये नैतिक कानून के अनुसार होता है। समाज का शासन इसी कानून के द्वारा होना चाहिए।'[1] नैतिक कानून के सिद्धान्त नागरिक समाज में विद्यमान रहते हैं, उनका विकास ऐतिहासिक है। मानव का राजनीतिक विवेक मानव से सम्बन्धित विषयों का संचालन करते हुए उनको स्वीकार करता रहता है। इन सिद्धान्तों का ज्ञान चिन्तनात्मक विवेक के द्वारा नहीं होता क्योंकि वह अव्यावहारिक है। राजनीतिक विवेक की अनुभूति समाज की परम्परागत संस्थाओं तथा सामाजिक रीति-रिवाजों के द्वारा होती है। विवेकवाद पूर्व-निर्धारित सिद्धान्तों के अस्तित्व को मानकर चलता है, न कि अतीतकालीन संस्थाओं में अन्तर्निहित ज्ञान के अस्तित्व पर विश्वास करते हुए। समाज की जटिल संरचना मानवीय अनुभव के विकास का फल है। इसमें परिवर्तन होते रहते हैं। निस्सन्देह परिवर्तन प्राकृतिक व्यवस्था के अंग हैं। परन्तु यह परिवर्तन मन्थर गति से, व्यवस्थित रूप में तथा थोड़ा-थोड़ा करके हुए हैं। इनमें अतीत की निरन्तरता बनी रही है। अतः भविष्य में परिवर्तन हेतु इसी प्राकृतिक नियम का अनुगमन किया जाना चाहिए ताकि अतीत के अनुभवों, परम्पराओं तथा विवेक की निरन्तरता बनी रहे।

राजनीतिक विचारों के प्रतिपादन में बर्क अतिवादी (radical) नहीं है। 'वह एक व्यवहारवादी (a man of expediency) है, परन्तु उसकी यह धारणा मैकियाविलीवादी नहीं है, जिसके अन्तर्गत किसी निश्चित नीति या उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जो कुछ लाभकारी हो उसे ग्रहण कर लेने की छूट मानी गयी थी, बल्कि वह इस अर्थ में व्यवहारवादी है कि वह किसी भी कार्य को करने में जन-समूह के संस्थागत जीवन के आधारभूत तथा स्थायी तत्त्वों को उसके अनुरूप बनाये रखने की नीति का समर्थक था।'[2] बर्क राजनीतिक समाज की उत्पत्ति को न तो संविदा के परिणामस्वरूप हुई मानता है, न विजय का परिणाम और न ही दैवी या मानवीय इच्छा का प्रतिफल। वह इसे एक सावयविक विकास का फल मानता है, जिसकी जड़ें दीर्घकालीन अतीत में गड़ी हैं और टहनियाँ अनिश्चित भविष्य की ओर उन्मुख हैं। अतः एक राजनेता को इन मौलिक तथ्यों का ध्यान रखते हुए राजनीतिक समाज

[1] 'The underlying principle of Burke's political theory is that of 'order'. He believed that the universe is orderly and intelligible and that it operates according to moral law of which God is the author. Society should be governed by this law.' —Harmon, *op. cit.*, 529.

[2] 'He was a man of expediency Not in the Machiavellian sense of condoning whatever may be advantageous in promoting a particular policy or reaching a particular objective, but in the profounder sense of shaping the course of action to conform with the basic and permanent elements of the institutional life of a people.' —Maxey, *op. cit.*, 376.

की विविध समस्याओं का समाधान खोजना चाहिए। बर्क ने एक बार कहा था कि 'एक राजनेता तथा विश्वविद्यालय के प्राध्यापक में यही अन्तर है कि प्राध्यापक समाज को सामान्य दृष्टिकोण से लेता है जबकि राजनेता को इन सामान्य दृष्टिकोणों के साथ अनेक अन्य परिस्थितियों का भी ध्यान रखना पड़ता है, जो समाज के जीवन में आती रहती हैं।'[1] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बर्क राजनीतिक विचारों के प्रतिपादन में केवल भावनामूलक (abstract) सिद्धान्तों का अनुसरण नहीं करता। उसकी विचार-पद्धति चिन्तनात्मक नहीं है, बल्कि पर्यवेक्षणात्मक है।

बर्क के राजनीतिक विचार

राज्य—बर्क राज्य को एक प्राकृतिक संस्था मानता है, जिसका विकास शनैः शनैः होता आया है और जो भविष्य में भी विकासोन्मुख है। प्रारम्भ में समाज प्राकृतिक स्थिति में रहा होगा। अभी भी वह अपनी पूर्णता को प्राप्त हो गया, नहीं माना जा सकता। बर्क ने कहा है कि 'नागरिक समाज की स्थिति प्राकृतिक स्थिति है, परन्तु वह असभ्यता के जीवन से उच्चतर है। स्वभावतः मानव विवेकशील होता है। वह अपनी पूर्णता को तभी प्राप्त हो सकता है, जबकि उसे ऐसी परिस्थितियाँ उपलब्ध हों जिनमें उसके विवेक को विकसित होने का अवसर मिल सके।'[2] अतः नागरिक समाज प्राकृतिक स्थिति से कहीं अधिक उत्तमतर है। इसका उद्देश्य मनुष्य को पूर्णत्व की प्राप्ति कराना होता है। बर्क रूसो की भाँति प्राकृतिक स्थिति के जीवन को उत्तम तथा नागरिक समाज को मनुष्य की नैतिकता को नष्ट करने वाला नहीं मानता। उसके मत से राज्य एक पवित्र संस्था है, जिसमें रहकर ही मनुष्य अपना पूर्ण विकास कर सकता है। लॉक की भाँति वह राज्य को कुछ निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु संविदा द्वारा निर्मित कृत्रिम संस्था भी नहीं मानता।

राज्य का स्वरूप—परन्तु बर्क राज्य के संविदागत संस्था होने के तथ्य को पूर्णतया अस्वीकार भी नहीं करता। वह संविदा के स्वरूप को प्राकृतिक-अधिकार-सिद्धान्तवादियों की धारणा के रूप में नहीं मानता। इस सम्बन्ध मे बर्क के यह शब्द उल्लेखनीय हैं: 'समाज निस्सन्देह एक संविदा है। केवल सामाजिक हितों का उद्देश्य रखने वाली सामाजिक संविदाएँ इच्छानुसार भंग की जा सकती हैं—परन्तु राज्य को इस रूप में नहीं लिया जाना चाहिए कि वह मिर्च, तम्बाकू, कपड़े, कॉफी या अन्य ऐसे छोटे से व्यापारों में साझेदारी के समझौते से और अधिक कुछ नहीं है, जिसे कि किन्हीं अस्थायी हितों के लिए सम्पन्न किया जाय और साझेदारों की इच्छा पर भंग कर दिया जाय।'[3] इसे दूसरे प्रकार की निष्ठा से लेना चाहिए क्योंकि यह ऐसी बातों की साझेदारी मात्र नहीं है, जो कि अस्थायी तथा नष्ट-प्रायः प्रकृति के केवल जैविक अस्तित्व के उद्देश्य को पूर्ण करे। यह समस्त विज्ञानों, कलाओं, सद्गुणों तथा समस्त पूर्णताओं की साझेदारी है। चूँकि ऐसी साझेदारी के उद्देश्य को अनेक पीढ़ियों में प्राप्त नहीं किया जा सकता, अतः यह एक ऐसी साझेदारी है जो केवल उन्हीं के मध्य नहीं है जो कि जीवित हैं, अपितु उनके मध्य है, जो जीवित हैं, जो मर चुके हैं और जो पैदा होने वाले हैं। राज्य के स्वरूप तथा उद्देश्य के

[1] Speech in the House of Commons on 11-5-1792, *Works of Edmund Burke*, vol. 3, 315.

[2] Burke, *An Appeal from the Old to the New Whigs.*

[3] Burke, *Reflections on the Revolution in France.*

बारे में बर्क का यह दृष्टिकोण पर्याप्त व्यापक है। यह दृष्टिकोण ग्रीक दार्शनिकों प्लेटो तथा अरस्तू के राज्य के उद्देश्य की धारणा के सदृश्य ही व्यापक है।

अधिकार—बर्क के पूर्ववर्ती विचारकों का राजनीतिक दर्शन प्राकृतिक अधिकारों की धारणा पर निर्मित होता आ रहा था। इनमें से लॉक की धारणा में व्यक्ति के कुछ अधिकार ऐसे माने गये थे जिनका उपभोग व्यक्ति राज्य के निर्माण से पूर्व करता था। इन्हें प्राकृतिक अधिकार कहा गया था। इन्हीं की सुरक्षा के लिए राज्य का निर्माण संविदा के द्वारा होने तथा राज्य की सत्ता पर इनकी मर्यादा लगाने की धारणा व्यक्त की गयी थी। परन्तु बर्क ने ऐसे प्राकृतिक अधिकारों के अस्तित्व को अमान्य किया। उसके अनुसार राज्य से पूर्व या उससे बाहर किसी प्रकार के अधिकारों की कल्पना नहीं की जा सकती। बर्क के मत से सरकार का निर्माण व्यक्तियों के अधिकारों के कारण नहीं होता। अधिकार भावनामय जगत में नहीं हो सकते। प्रत्युत् मानव होने के नाते प्रत्येक मनुष्य की कुछ मूलभूत आवश्यकताएँ होती हैं और प्रत्येक मनुष्य का अधिकार यह है कि इन आवश्यकताओं की पूर्ति की जाय। सरकार एक ऐसा प्रयास है, जो इन मानवीय आवश्यकताओं को पूर्ण करे। अपनी इन आवश्यकताओं या माँगों की पूर्ति के निमित्त मनुष्य विवेक के स्थान पर संवेग का सहारा ले सकते हैं। अतः नागरिक या राजनीतिक समाज को इन संवेगों पर कुछ नियन्त्रण लगाने की आवश्यकता पड़ती है। ऐसे नियन्त्रण को आरोपित करना सम्पूर्ण समाज का दायित्व है। इस दृष्टि से समाज में व्यक्तियों के अधिकार, उनकी स्वतन्त्रताएँ तथा उनके ऊपर लगाये गये नियन्त्रण सामाजिक हैं। ऐसी स्वतन्त्रताओं तथा नियन्त्रणों का रूप सदैव तथा सर्वत्र एक-सा नहीं रहता। अतः सार्वभौम प्राकृतिक अधिकार जैसी कोई धारणा नहीं होती। मनुष्य नागरिक समाज के बाहर तथा उसके अन्तर्गत समान रूप से अधिकारों का उपभोग नहीं कर सकते। अर्थात् उसके मत से यह धारणा सही नहीं है कि राजनीतिक समाज से पूर्व कोई अधिकार होते थे, जिनका उपभोग व्यक्ति राजनीतिक समाज के निर्माण के बाद भी निर्बाध रूप से कर सकते हैं।

बर्क के अनुसार राजनीतिक समाज के अन्तर्गत व्यक्ति के नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों के मध्य भेद किया जाना चाहिए। नागरिक अधिकारों (civil rights) की प्राप्ति सभी व्यक्तियों को होनी चाहिए। इसके अन्तर्गत न्याय प्राप्त करने, अपने श्रम का फल प्राप्त करने, पैतृक सम्पत्ति प्राप्त करने, स्वस्थ भोजन प्राप्त करने तथा अपनी सन्तान का विकास करने की सुविधाएँ प्राप्त करने के अधिकार शामिल हैं। जहाँ तक राजनीतिक अधिकारों, अर्थात् शासन के कार्यकलापों या सत्ता के प्रयोग में भाग लेने की सुविधाएँ प्राप्त करने का प्रश्न है, बर्क इस अधिकार को प्रत्येक नागरिक को देने का विरोधी था। उसका मत है कि ऐसे अधिकार किन्हें दिये जायें, इस बात का निर्धारण सम्बद्ध समाज की परम्पराओं तथा अभिसमयों के द्वारा किया जाना चाहिए।

स्वतन्त्रता—बर्क का मत था कि स्वतन्त्रता अत्युत्तम वस्तु है। परन्तु सामाजिक जीवन में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की अपेक्षा सामाजिक स्वतन्त्रता अधिक मूल्य रखती है। इसकी प्राप्ति सामाजिक व्यवस्था के अभाव में नहीं हो सकती। व्यवस्था के लिए प्रतिबन्ध का होना आवश्यक है। यदि सामाजिक व्यवस्था के हित में व्यक्ति स्वयं अपने को प्रतिबन्धित कर लेते हैं तो उचित है, अन्यथा समाज

सरकार के माध्यम से व्यक्तियों को प्रतिबन्ध में रखेगा। अतएव स्वतन्त्रता की व्याख्या करने की कसौटी भावनामूलक सिद्धान्त नहीं है, बल्कि सामाजिक परिस्थितियाँ हैं। प्राकृतिक स्वतन्त्रता की भावनामूलक धारणा की आलोचना करते हुए बर्क का कहना है कि इसका अर्थ यह होगा कि एक डाकू या हत्यारे को अपनी स्वतन्त्रता के प्राकृतिक अधिकार की प्राप्ति के लिए कारागार को तोड़कर भाग निकलने के लिए उसे बधाई दी जाय। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अर्थ यह नही है कि व्यक्ति जैसा चाहे वैसा करने की छूट उसे दे दी जाय। बर्क स्वतन्त्रता तथा सत्ता दोनों को मर्यादित मानता है। इनके ऊपर राज्य की स्थापित राजनीतिक पद्धति की मर्यादा है। यह पद्धति कृत्रिम ढंग से निर्मित नहीं होती, अपितु समाज के दीर्घकालीन विकास की एक प्रक्रिया होती है। स्वतन्त्रता तथा सत्ता दोनों का आधार यही राजनीतिक पद्धति अथवा संविधान है, जो सामाजिक अनुभव तथा व्यावहारिकता के आधार पर व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति की रक्षा करता रहता है।

समानता—बर्क समानता की धारणा पर भी विश्वास नहीं रखता। उसके मत से स्वतन्त्रता का उपभोग प्रत्येक व्यक्ति समानता के आधार पर नहीं कर सकता, अपितु वह अपने अधिकारों तथा स्वतन्त्रता का उपभोग सामाजिक जीवन में अपनी स्थिति के अनुसार ही कर सकता है। बर्क की दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने को शासित करने का अधिकारी नहीं है। यदि ऐसी कोई धारणा है भी तो वह प्राकृतिक स्थिति में रह सकती है न कि राजनीतिक समाज में। राजनीतिक समाज की स्थापना हो जाने पर व्यक्ति अपने को शासित करने के प्राकृतिक स्थिति के अधिकार का त्याग कर देते हैं। यदि शासन का आधार संविदागत सहमति भी माना जाय, तो भी उसका यह अर्थ नहीं है कि जिन लोगों ने ऐसी सहमति प्रदान की थी, वे सब समान हैं। सामाजिक सहमति देते हुए विभिन्न वर्ग तथा श्रेणियाँ महत्त्वपूर्ण कार्य-भाग सम्पन्न करती हैं। बर्क के अनुसार ऐसा सोचना बुद्धिमत्ता की बात नहीं है कि एक मूर्ख श्रमिक की सहमति का मूल्य उतना ही है, जितना कि एक अनुभवी, विद्वान् तथा सम्पत्तिशाली व्यक्ति का होना चाहिए।

सरकार—उपर्युक्त राजनीतिक धारणाओं की भाँति शासन-संगठन तथा शासन के रूपों के बारे में भी बर्क अपने पूर्ववर्ती विचारकों की भाँति चिन्तनात्मक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना अनुचित मानता है। उसने कहा है कि 'राज्य का निर्माण, उसका नवीनीकरण अथवा सुधार करने का विज्ञान अन्य प्रयोगात्मक विज्ञानों की ही भाँति है जिसके बारे में पूर्व निर्धारित सिद्धान्तों को नहीं बताया जा सकता।'[1] शासन-विज्ञान दीर्घकालीन अनुभवों पर आधारित प्रयोगात्मक विज्ञान है। बर्क को राजनीतिक समानता की धारणा के प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी। अतः वह लोक-तन्त्रात्मक शासन-प्रणाली का समर्थक नहीं रह पाया। उसके विचार से जो राज्य लोकतन्त्री शासन-पद्धति अपनाते हैं वहाँ का अनुभव यह बताता है कि उनमें बहु-संख्यक अल्पसंख्यकों को उससे भी अधिक क्रूरता से दबाते हैं, जिस प्रकार कि एक स्वेच्छाचारी निरंकुश शासक प्रजा को अपने अत्याचारों से दबाता है। जनसाधारण में इतनी योग्यता तथा क्षमता नहीं होती कि वह शासन को समुचित ढंग से चला

[1] 'The science of constructing a commonwealth, or renovating it, or reforming it, is like every experimental science, not to be taught *a priori*.'
—*Ibid.*, 333.

सके। उसका कहना था कि 'एक नाई या चर्बी-बेचने वाले (tallow chandler) का पेशा किसी भी व्यक्ति को सम्माननीय नहीं लगता, इनसे और अधिक निकृष्ट दासत्वमय पेशे वालों का तो कहना ही क्या है? इसका अर्थ यह नहीं कि राज्य सबको दबाये, बल्कि यदि ऐसे व्यक्ति व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से शासन करने लगें तो स्वयं राज्य का शोषण हो जायेगा।' बर्क को इन धारणाओं के आधार पर अलोकतन्त्री भी नहीं माना जाना चाहिए, क्योंकि उसकी दृष्टि में राज्य या शासन का उद्देश्य समस्त जनता का हित है न कि किसी वर्ग विशेष का। उसका लोकतन्त्र जनता द्वारा न होकर जनता के लिए है। परन्तु उसकी विचारधारा में लोक-प्रभुसत्ता जैसी धारणा का पूर्ण अभाव है।

कुलीनतन्त्री शासन-पद्धति का समर्थन—बर्क कुलीनतन्त्री शासन-पद्धति का समर्थक है। उसके मत से सत्ता धारण करने वाले कुलीन वर्ग को योग्यता, सम्पत्ति तथा जन्म के आधार पर निर्धारित किया जाना चाहिए। केवल योग्यता का होना ही पर्याप्त नहीं है। जब तक योग्यता सम्पत्ति की योग्यता द्वारा सन्तुलित नहीं होगी, तब तक वह हानिकार सिद्ध होगी। बर्क का मत है कि सम्पत्ति का नैसर्गिक गुण असमानता है। अतः राज्य को इस प्रकृति को बनाये रखना चाहिए। यदि सम्पत्ति-विहीन, परन्तु अन्यथा योग्य व्यक्ति शासन-सत्ता धारण करेंगे तो वे सम्पत्तिशाली व्यक्तियों की सम्पत्ति के प्रति द्वेष रखेंगे और उसे छीनने का प्रयास करेंगे। इससे अव्यवस्था फैलेगी, जो समाज के हित में नहीं होगी। यह भी स्वाभाविक नियम है कि समाज में सम्पत्तिहीन लोग सम्पत्तिवानों के ऊपर निर्भर रहते हैं। सम्पत्ति के समान वितरण की योजना द्वारा भी समाज को कोई लाभ नहीं होगा। अतः शासन सत्ता सम्पत्तिशाली योग्य व्यक्तियों के हाथ में रहनी चाहिए। वंशगत कुलीनतन्त्र का समर्थन भी बर्क इसी आधार पर करता है कि राज्य के स्थायित्व के लिए वह आवश्यक है। भद्र खानदानों के लोग समाज के स्थायित्व में योगदान करते रहे हैं। इस दृष्टि से बर्क कुलीनतन्त्री शासन-व्यवस्था को प्रकृति के नियम के अनुकूल मानता है। उसके मत से जब कभी लोग किसी उद्देश्य के लिए परस्पर एकत्र होते हैं तो वे तुरन्त ही यह आभास कर लेते हैं कि उस कार्य में नेतृत्व प्रदान करने के लिए थोड़े से लोग ही अधिक उपयुक्त हैं। इस प्रकार बर्क शासन के लिए बुद्धि, सम्पत्ति तथा जन्म के कुलीनतन्त्र (aristocracy of intellect, property and birth) को सर्वोत्तम व्यवस्था मानता है।

प्रतिनिधित्व का स्वरूप—यद्यपि बर्क राज्य के सामाजिक समझौता सिद्धान्त का विरोधी है, तथापि वह संविदा तथा सहमति की धारणा को निर्मूल नहीं कहता। उसका इस सिद्धान्त से विरोध होने का मुख्य कारण यह है कि इस सिद्धान्त के आधार पर राज्य को एक नैसर्गिक तथा विकसित संस्था न मानकर प्राकृतिक अधिकारों की भावना-मूलक धारणा पर इनकी रक्षा के लिए निर्मित कृत्रिम-संस्था माना गया है। बर्क का यह मत है कि राज्य या शासन की स्थापना का आधार मूल संविदा या सहमति हो सकती है, परन्तु वह संविदा सदैव राज्य या शासन की सत्ता को मर्यादित नहीं कर सकती। राज्य या शासन समाज की परिस्थितियों, अनुभवों तथा व्यावहारिकता को देखते हुए अपने उद्देश्य की पूर्ति करने में स्वतन्त्र हैं। जब शासन करने के लिए प्रतिनिधियों का निर्वाचन हो जाता है तो प्रतिनिधियों का कर्त्तव्य है कि वे जनता के हितों को सजगता के साथ ध्यान रखें। उन्हें जनता की

राय का ध्यान रखना चाहिए, परन्तु वे उसके अधीन नहीं हैं। बर्क का कहना था कि एक प्रतिनिधि कानून तथा शासन के सिद्धान्तों को सीखने के लिए अपने निर्वाचकों के पास स्कूली शिक्षा प्राप्त करने नहीं जाता है। बर्क प्रत्यक्ष निर्वाचन को भी आवश्यक नहीं मानता। उसकी प्रतिनिधित्व की धारणा भी संविदा सिद्धान्त को नहीं अपनाती अर्थात् प्रतिनिधि का निर्वाचन प्रतिनिधि तथा निर्वाचकों के मध्य किसी संविदा का द्योतक नहीं है। अतः बर्क किसी भी रूप में लॉक की भाँति मर्यादित शासन के सिद्धान्त को नहीं मानता।

वैधानिक राजतन्त्री व्यवस्था का समर्थन—बर्क की राजनीतिक विचारधाराओं में प्रभुसत्ता जैसी भावना-मूलक धारणा का अभाव है। वह अधिकार, स्वतन्त्रता, असमानता और यहाँ तक कि शासन-सिद्धान्तों तक की चिन्तनात्मक व्याख्या नहीं करता। राजतन्त्र के सम्बन्ध में वह मर्यादित राजतन्त्री व्यवस्था को इंग्लैण्ड के लिए उचित मानता है, क्योंकि वह 1688 की क्रान्ति का समर्थक था जिसके फलस्वरूप वहाँ ऐसी व्यवस्था स्थापित हो गयी थी। साथ ही जार्ज तृतीय की अपने अधिकारों की वृद्धि करने की आकांक्षा का भी उसने विरोध किया है। बर्क इंग्लैण्ड की सांविधानिक व्यवस्था में अनेक गुण देखता है, क्योंकि वह अभिसमयों के फलस्वरूप शनैः शनैः विकसित तथा परिवर्तित होती रही थी और अनुभवों के आधार पर उसे समयानुकूल बनाने के प्रयास भी हुए थे। उसमें प्रतिबन्ध तथा सन्तुलन के जो सिद्धान्त माने गये थे वे जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति की सुरक्षा को सुनिश्चित करते थे। बर्क का मत है कि शासन को जनता की सम्पत्ति, धर्म तथा अवधारणाओं (prejudices)[1] को बनाये रखना चाहिए। सम्पत्ति की असमानता समाज के स्थायित्व का प्राकृतिक नियम है। धर्म भी समाज के स्थायित्व के लिए महत्त्वपूर्ण योगदान करता है। यह उन प्रश्नों के समाधान प्रस्तुत करता है जिनके लिए विवेक अपर्याप्त सिद्ध होता है। यह स्थापित व्यवस्था को बनाये रखने के लिए भी आवश्यक है। अतीत से चलती आयी अवधारणाएँ भी सामाजिक व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करती हैं। वे स्वयं किसी गुप्त विवेक पर आधारित होती हैं। अतः यदि कोई दार्शनिक उनमें अन्तर्निहित विवेक को वास्तव में खोज लेने में समर्थ हो जाय, तो वह उनके बनाये रखने की बात का समर्थन करेगा न कि उन्हें नष्ट करने का। अतः सामाजिक व्यवस्था में स्थायित्व लाने के लिए यह आवश्यक है कि ऐसी अवधारणाओं को नष्ट करने का प्रयास न किया जाय। इनके बिना मनुष्य के 'नग्न विवेक' को प्रेरक शक्ति प्राप्त न होने से वह कार्यशील नहीं रह पायेगा।

प्राचीन परम्पराओं के प्रति निष्ठा—दीर्घकाल से चलती आयी परम्पराओं के प्रति बर्क की असीम निष्ठा (Rights of Prescription) ही नहीं थी, अपितु उसकी यह धारणा उसके राजनीतिक विचारों की केन्द्रीय विषय-वस्तु है। समाज, राज्य तथा शासन के सम्बन्ध में हम बता चुके हैं कि बर्क उन्हें परम्परागत संस्थाएँ मानता है। उनके स्थायित्व के सम्बन्ध में भी उसकी यही धारणा है कि उनके सम्बन्ध की सुमान्य परम्पराओं को बनाये रखना चाहिए। उसका मत है कि सदियों से विकसित शासनिक संस्थाएँ, कानून, सामाजिक वर्ग, विशेषाधिकार, परम्पराएँ तथा रीति-रिवाज

[1] By the term 'prejudices', Burke means 'a widely held opinion not supported by speculative reason.' —Harmon, *op. cit.*, 334.

'For Burke, a prejudice is a basic and inevitable part of human nature. Its function is to provide a powerful motive for action.' —Jones, *op. cit.*, 364.

इसीलिए स्थायी होते आये हैं कि अनुभव ने उनकी उपयोगिता तथा लाभों को वांछनीय सिद्ध किया है। मानव प्रकृति में नैतिकता का संचार करने में विवेक तथा तर्क की अपेक्षा ये अतीतकालीन संस्थाएँ तथा परम्पराएँ अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। संस्थाओं का अन्वेषण या निर्माण नहीं किया जाता, अपितु वे जीवित तथा विकसित हैं। प्राचीन संस्थाएँ उत्तमता के साथ कार्य करती हैं, क्योंकि जनता दीर्घकाल से उनसे परिचित रही है और उनका सम्मान करती आयी है। नये आविष्कारों द्वारा निर्मित संस्थाएँ चाहे कितनी ही तर्क-सम्मत क्यों न हों, जनता की भावनाओं तथा आदतों के अनुकूल नहीं बैठतीं। इन तर्कों के आधार पर बर्क फ्रांसीसी क्रान्ति का भी विरोध करता है, क्योंकि उसका उद्देश्य देश की स्थापित शासन तथा सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करना था।

परम्परागत संविधान—समाज की परम्परागत संस्थाओं के संरक्षण का औचित्य केवल उपयोगिता के आधार पर ही नहीं है, बल्कि उनके सम्बन्ध में बर्क की धार्मिक निष्ठा भी परिलक्षित होती है। उसका विश्वास था कि इतिहास ईश्वर की इच्छा का सम्पादन है। समाज के विकास में दैवी सत्ता कार्य करती है। अत: प्राचीन परिपाटियों के विकास को दैवी मानकर उनमें आमूल परिवर्तन करना पागलपन है। यदि परिवर्तन आवश्यक हो तो उसे शनैः शनैः किया जाना चाहिए और इस प्रक्रिया में अतीत के प्रति समुचित निष्ठा रखते हुए कार्य करना चाहिए। इसी प्रकार बर्क वंश-परम्परा के आधार पर संक्रमित होने वाले अधिकारों को भी महत्त्वपूर्ण मानता है, क्योंकि उनका आधार भी प्राचीन परम्पराएँ (prescriptions) हैं, जो अतीत को वर्तमान से तथा वर्तमान को भविष्य के साथ जोड़ते हुए अतीत के संचित ज्ञान तथा विद्वत्ता को भावी पीढ़ियों में संक्रमित करती है।

राजनीतिक दल—बर्क के काल में इंग्लैण्ड में न तो संसदीय शासन-प्रणाली थी और न दल-प्रथा ही आज की भाँति विकसित थी। परन्तु बर्क सबसे पहला अंग्रेज था, जिसकी विचारधारा में ऐसी शासन-पद्धति की धारणा विद्यमान थी। वह ह्विग दल का सदस्य था और उसकी यह कल्पना थी कि वह दल मन्त्रिमण्डल का निर्माण करके कॉमन सभा का नेतृत्व करे। राजनीतिक दल की जो शास्त्रीय परिभाषा उसने की है, वह आज तक सुमान्य परिभाषा बनी हुई है—'दल ऐसे व्यक्तियों का निकाय है, जो अपने संयुक्त प्रयासों द्वारा राष्ट्र के हितों की उन्नति करने के लिए, उन विशिष्ट सिद्धान्तों के आधार पर जिन्हें उन सब ने स्वीकार कर लिया हो, आपस में संगठित होते हैं।' उसकी यह धारणा थी कि एक राजनेता के मस्तिष्क में सार्वजनिक नीति के सम्बन्ध में कोई निश्चित दृष्टिकोण होना चाहिए, जिसे कार्यान्वित करने के लिए वह वैसे ही विचार रखने वाले व्यक्तियों के सहचार से कार्य करे और उनके प्रति किन्हीं वैयक्तिक धारणाओं के कारण अपनी निष्ठा को न खोने दे। ऐसे समान विचारों वाले व्यक्ति एक संगठित इकाई निर्मित करें और इन सिद्धान्तों से विरोध रखने वाले व्यक्तियों से सहचार न रखें। संसदीय लोकतन्त्र की सफल कार्यान्विति के लिए ऐसे राजनीतिक दलों का होना अपरिहार्य है।

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में बर्क का स्थान

राजनीतिक चिन्तन की नई पद्धति—राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक क्रमबद्ध राजनीतिक दर्शन का प्रतिपादन करने वाले विचारक के रूप में बर्क का कोई

विशिष्ट स्थान नहीं है। मैक्सी ने कहा है कि 'समस्त विचारधाराओं तथा सिद्धान्त-वादिताओं और समस्त सुधारों तथा नवीनीकरणों का ही नहीं अपितु वास्तव में यथार्थ अनुभव के बिना प्रमाणित किये गये समस्त सिद्धान्तों का एक कठोर दुश्मन होने के नाते वह समस्त चिन्तनात्मक उड़ानों को अमान्य करता है और राजनीतिक संस्थाओं के क्रमबद्ध विवेकीकरण करने के समस्त प्रयासों का विरोध करता है।'[1] 17वीं तथा 18वीं शताब्दी के बुद्धिवाद तथा तर्कवाद के दार्शनिकों की भावनामूलक सिद्धान्तवादिता के विरुद्ध बर्क ने प्रयोगवाद तथा व्यवहारवाद पर आधारित अपने राजनीतिक विचारों को रखकर राजनीतिक चिन्तन को एक बिल्कुल नई दिशा प्रदान की। उसने राज-नीतिक स्वप्नदर्शियों को जागृत करके इस बात को मानने के लिए विवश किया कि समाज कागजी सूत्रों द्वारा उत्पन्न संस्था नहीं है, अपितु एक नैसर्गिक तथा निरन्तर कार्यरत संवास है, जिसका विकास दीर्घकाल से उसके सदस्यों के व्यावहारिक अनुभवों के आधार पर होता आया है। प्राकृतिक अधिकार तथा स्वतन्त्रता की भावनामूलक धारणाओं का खण्डन करके बर्क ने उन्हें मूर्त रूप प्रदान किया और यह दर्शाया कि समाज के अहित में तथा समाज के हितों के विरुद्ध इनका कोई अस्तित्व नहीं है।

राज्य की धारणा का आधार व्यावहारिकता—यद्यपि बर्क राजनीतिक आचरण के सम्बन्ध में व्यावहारिकता (expediency) को अत्यधिक महत्त्व प्रदान करता है और इस कारण उसकी विचारधाराएँ मैकियाविली से मिलती-जुलती हैं, तथापि बर्क का दर्शन मैकियाविलीवाद से बिल्कुल भिन्न प्रकृति का है। बर्क यह नहीं मानता कि राजनीति से धर्म तथा नैतिकता पृथक् है। प्रत्युत् बर्क की समाज की धारणा धर्म के सिद्धान्तों पर आधारित है। उसका दर्शन केवल राज्य की सुरक्षा तथा विस्तार एवं शासक के हितों पर आधारित व्यावहारिकता का समर्थक नहीं है, अपितु जनकल्याण तथा समाज का स्थायित्व एवं परम्पराओं की रक्षा राजनीतिक व्यावहारिकता की कसौटी है। बर्क के विचारों से समाज, राज्य एवं शासन के मध्य सैद्धान्तिक भेद स्पष्ट नहीं होता। अनेक स्थलों पर वह इन्हें पर्यायवाची अर्थ में प्रयुक्त करता है। परन्तु उसका ऐसा प्रयोग आलंकारिक है। उसके विचार स्पष्टतया इन तीनों धारणाओं को पृथक् मानते हैं। राजनीतिक समाज के प्रति उसकी निष्ठा इतनी अधिक थी कि उसका राज्य एक आदर्श राज्य प्रतीत होता है। सैबाइन ने कहा है कि 'राज्य को उन समस्त बातों का, जो कि सभ्यता के लिए सर्वाधिक मूल्यवान हैं, धारण करने वाला मानकर राज्य का आदर्शीकरण करने की यह प्रवृत्ति हीगल तथा अंग्रेज आदर्शवादी विचारकों की विशिष्ट धारणा बन गयी।'[2] हीगल के दर्शन में बर्क के यत्र-तत्र बिखरे हुए समस्त विचार एक क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किये गये हैं, जिसके कारण हीगल ने जर्मनी में एक नये प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था स्थापित किये जाने की धारणा व्यक्त की। सैबाइन का निष्कर्ष है कि यद्यपि हीगल पर रूसो का प्रभाव अधिक स्पष्ट है तथापि उसने उन सब तथ्यों को सिद्ध करने की

[1] 'An unrelenting foe of all theories and dogmas, of all reforms and innovations, and indeed of all principles not verified by actual experience, his mind declined airy flights of speculation and deprecated all attempts at the systematic rationalisation of political institutions.'—Maxey, *op. cit.*, 382.

[2] 'This tendency to idealize the state by making it the bearer of all that has the highest value for civilization, became characteristic of Hegel and of the English idealist.'—Sabine, *op. cit.*, 518.

कोशिश की है जिन्हें बर्क ने सही मान लिया था, और उनमें हीगल ने उन तथ्यों को जोड़ा जिनके बारे में बर्क सोच नहीं पाया था, अर्थात् यह कि 'सामाजिक विकास के विवेकपूर्ण रूप की एक ऐसी पद्धति निर्मित की जा सकती है जो सामान्यतया दर्शन तथा सामाजिक अध्ययन में लागू हो सकती है।'[1]

बर्क की राजनीतिक रूढ़िवादिता—बर्क की राजनीतिक विचारधारा की सबसे महान् विशेषता उसमें रूढ़िवादिता का होना है। बर्क की रूढ़िवादिता का उदाहरण यह है कि वह समाज की जटिलता तथा उसकी परम्परागत व्यवस्था का प्रशंसक था। समाज की स्थापित संस्थाओं की श्रेष्ठता तथा उनके महत्त्व के प्रति उसकी असीम निष्ठा थी, वह धर्म तथा सम्पत्ति की परम्परागत परिपाटियों को बनाये रखना सामाजिक स्थायित्व के लिए वांछनीय समझता था। साथ ही सामाजिक वर्गों की निरन्तरता तथा उनके विशेषाधिकारों के प्रति उसे पूर्ण सहानुभूति थी। इन परम्पराओं के ऊपर वह व्यक्तिगत विवेक तथा इच्छा की उच्चता मानने का विरोधी था। सारांश यह है कि सामाजिक व्यवस्था के स्थायित्व तथा विकास में वह विभिन्न परम्परागत संस्थाओं के कार्य-भाग को दैवी विधान का नैसर्गिक नियम मानता था और उसमें जो भी परिवर्तन मानव को आवश्यक प्रतीत हों उन्हें शनैः शनैः तथा बहुत सोच-समझकर करने की सलाह देता था, ताकि प्राचीन विवेक नष्ट न होने पाये और उन परिवर्तनों को उसी सीमा तक लाया जाए, जहाँ तक कि सामाजिक व्यावहारिकता के हित में वे अपरिहार्य हों। इसी धारणा को लेकर उसने फ्रांसीसी क्रान्ति का विरोध किया था क्योंकि वह इन मान्यताओं के विरुद्ध निर्देशित थी। साथ ही उसने भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की शासन-नीति का भी विरोध इसी आधार पर किया था कि वह भारतीय परम्परागत संस्कृतियों तथा पद्धतियों के विरुद्ध अनैतिक ढंग से अत्याचार कर रही थी। सैबाइन ने कहा है कि 'बर्क को राजनीतिक रूढ़िवादिता का संस्थापक मानना सर्वथा उचित है। इसका यह अर्थ नहीं है कि बर्क से पूर्व रूढ़िवादिता थी ही नहीं, परन्तु वास्तविकता यह है कि बर्क से पूर्व कोई भी रूढ़िवादी दर्शन नहीं था।' आइवर के अनुसार, 'सम्भवतः बर्क ने रूढ़िवादी दर्शन को विश्व भर में सर्वाधिक पूर्ण तथा प्रबुद्ध अभिव्यक्ति प्रदान की है।'[2] बर्क ने इस बात पर जोर दिया कि सामाजिक स्थायित्व के लिए परम्पराओं की शक्ति कितनी महत्त्वपूर्ण है और यह भी कि सामाजिक व्यवस्था की सुरक्षा तथा कल्याण के लिए क्रान्ति नहीं, बल्कि परम्परागत सस्थाओं तथा आदर्शों की निरन्तरता अधिक शक्तिशाली योगदान करती है।

बर्क की राजनीतिक रूढ़िवादिता को समझने के लिए हमें 'रूढ़िवादिता' (conservatism) शब्द का वास्तविक अर्थ समझना चाहिए। हारमॉन ने कहा है कि 'रूढ़िवादिता' के अन्तर्गत सुरक्षित रखने की वांछनीयता निहित है (conservatism implies desirability of conserving)। राजनीति में रूढ़िवादिता (अनुदारवाद) तथा उदारवाद (liberalism) जिस रूप में प्रयुक्त होते आये हैं, उस रूप में बर्क का अनुदारवाद सही अर्थ नहीं देता। इन नामों से इंग्लैण्ड में जो राजनीतिक दल बर्क के पश्चात् विकसित हुए, उनकी नीतियों से बर्क के अनुदारवाद का कोई सम्बन्ध नहीं

[1] '...that the rational form of this evolution might be made into a method generally applicable to philosophy and social studies.' —*Ibid.*, 520.

[2] 'Burke gave to the philosophy of conservatism perhaps the fullest and the most eloquent expression the world has ever heard.' —Ivor.

है। यहाँ तक कि स्वयं बर्क ह्विग दल का समर्थक था, जिसके ऊपर लॉक की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणाओं का प्रभाव स्वाभाविक था, परन्तु बर्क उन धारणाओं का विरोधी था। ह्विग दल फ्रांसीसी क्रान्तिकारियों की स्वतन्त्रता की माँग को लेकर चलने वाली नीति का विरोधी नहीं हो सकता था, जबकि बर्क ने इसका कट्टर विरोध किया। इस दृष्टि से बर्क की रूढ़िवादिता किन्हीं राजनीतिक सिद्धान्तवादों पर आधारित नहीं थी, अपितु वह उसकी आत्म-चेतना (self-consciousness) द्वारा निदेशित थी। बर्क का अटूट विश्वास परम्परागत सस्थाओं, संस्कृति तथा परिपाटियों को बनाये रखने में था, क्योंकि वह उन्हें समाज-निर्माण तथा सामाजिक स्थायित्व की अपरिहार्य आवश्यकताएँ मानता था। बर्क का यह दृष्टिकोण संकुचित भी लगता है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि परम्परागत संस्थाओं मे विद्वता ही हो। उनमे अनेक भारी दोष भी हो सकते हैं, जिनको दूर करने के लिए कभी-कभी क्रान्ति के अतिरिक्त अन्य कोई उपयुक्त साधन सुलभ न हों और फ्रास में शायद ऐसी ही स्थिति आ चुकी थी। तथापि बर्क ऐसे साधनो द्वारा परिवर्तन को लाने का तीव्र विरोध करता है। उसका तर्क है कि किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह अथवा किसी एक पीढ़ी के जनसमूह का विवेक सहस्रों पीढ़ियों के लोगों के विवेक से उच्चतर नही हो सकता। परम्परागत संस्थाएँ इन अनन्त पीढ़ियों के व्यक्तियों के अनुभव पर आधारित उच्चतर विवेक का फल हैं। अतः यदि किसी एक पीढ़ी के मानव क्रान्ति द्वारा इन परम्परागत संस्थाओं को बदल देते हैं तो ऐसा कृत्य पूर्णतया दोषपूर्ण तथा खतरनाक सिद्ध होगा।

सुधार के सम्बन्ध में बर्क का कहना है कि यदि सुधारों के पीछे प्राचीन परम्पराओं को बनाये रखने की न्याय्यता न हो तो वह उन सुधारों का स्वागत नहीं करेगा। सुधारों में ऐतिहासिक परिवर्तनों की निरन्तरता बनी रहनी चाहिए। फ्रांस की राजनीतिक क्रान्ति का विरोध उसने इसी आधार पर किया था कि उसका उद्देश्य प्राकृतिक अधिकारों की मान्यता के निमित्त राष्ट्र की परम्परागत राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक संस्थाओं को नष्ट कर देना था जिसका परिणाम राष्ट्र के जीवन को ही नष्ट कर देने के तुल्य था।

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बर्क ने जो विचार रखे हैं वे भी उसके अनुदारवाद को व्यक्त करते हैं। उसके पूर्ववर्ती ह्विग नेता तथा चिन्तक लॉक ने राज्य की उत्पत्ति को संविदागत सिद्ध किया था, परन्तु बर्क राज्य की उत्पत्ति को निरन्तर ऐतिहासिक विकास का फल मानता है। संविदा की धारणा उसे पूर्णतः अमान्य नहीं है। परन्तु वह संविदा की धारणा को दूसरे ही अर्थ में लेता है। उसके मत से समाज या राज्य का निर्माण किसी राजनीतिक सविदा के आधार पर नहीं हो सकता, प्रत्युत् जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्रों में (कला, विज्ञान, संस्कृति, इतिहास, साहित्य आदि) सामाजिक सहचार तथा सहभाग के निमित्त एक ऐतिहासिक विकास की चिरन्तन प्रक्रिया है, जो राजनीतिक समाज को एक सावयविक स्वरूप प्रदान करती है।

समाज-निर्माण के सम्बन्ध में बर्क का ईश्वर तथा धर्म पर विश्वास भी उसे रूढ़िवादी चिन्तन का संस्थापक सिद्ध करता है। उसके मत से 'सामान्यतः न केवल समाज, बल्कि राजनीतिक समाज या राज्य भी एक दैवी संस्था है और कोई राज्य जो ईश्वर या ईश्वर के कानून की उपेक्षा करता है वह नष्ट हो जाएगा।' वह राज्य की उत्पत्ति तथा उसके अस्तित्व में दैवी इच्छा की महत्ता को स्वीकार करते हुए प्रत्येक व्यक्ति को अपने निर्धारित जीवन-क्षेत्र में अपने कर्त्तव्यों का पालन करने की प्रेरणा

कोशिश की है जिन्हें बर्क ने सही मान लिया था, और उनमें हीगल ने उन तथ्यों को जोड़ा जिनके बारे में बर्क सोच नहीं पाया था, अर्थात् यह कि 'सामाजिक विकास के विवेकपूर्ण रूप की एक ऐसी पद्धति निर्मित की जा सकती है जो सामान्यतया दर्शन तथा सामाजिक अध्ययन में लागू हो सकती है।'[1]

बर्क की राजनीतिक रूढ़िवादिता—बर्क की राजनीतिक विचारधारा की सबसे महान् विशेषता उसमें रूढ़िवादिता का होना है। बर्क की रूढ़िवादिता का उदाहरण यह है कि वह समाज की जटिलता तथा उसकी परम्परागत व्यवस्था का प्रशंसक था। समाज की स्थापित संस्थाओं की श्रेष्ठता तथा उनके महत्त्व के प्रति उसकी असीम निष्ठा थी, वह धर्म तथा सम्पत्ति की परम्परागत परिपाटियों को बनाये रखना सामाजिक स्थायित्व के लिए वांछनीय समझता था। साथ ही सामाजिक वर्गों की निरन्तरता तथा उनके विशेषाधिकारों के प्रति उसे पूर्ण सहानुभूति थी। इन परम्पराओं के ऊपर वह व्यक्तिगत विवेक तथा इच्छा की उच्चता मानने का विरोधी था। सारांश यह है कि सामाजिक व्यवस्था के स्थायित्व तथा विकास में वह विभिन्न परम्परागत संस्थाओं के कार्य-भाग को दैवी विधान का नैसर्गिक नियम मानता था और उसमें जो भी परिवर्तन मानव को आवश्यक प्रतीत हों उन्हें शनैः शनैः तथा बहुत सोच-समझकर करने की सलाह देता था, ताकि प्राचीन विवेक नष्ट न होने पाये और उन परिवर्तनों को उसी सीमा तक लाया जाए, जहाँ तक कि सामाजिक व्यावहारिकता के हित में वे अपरिहार्य हों। इसी धारणा को लेकर उसने फ्रांसीसी क्रान्ति का विरोध किया था क्योंकि वह इन मान्यताओं के विरुद्ध निदेशित थी। साथ ही उसने भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की शासन-नीति का भी विरोध इसी आधार पर किया था कि वह भारतीय परम्परागत संस्कृतियों तथा पद्धतियों के विरुद्ध अनैतिक ढंग से अत्याचार कर रही थी। सैबाइन ने कहा है कि 'बर्क को राजनीतिक रूढ़िवादिता का संस्थापक मानना सर्वथा उचित है। इसका यह अर्थ नहीं है कि बर्क से पूर्व रूढ़िवादिता थी ही नहीं, परन्तु वास्तविकता यह है कि बर्क से पूर्व कोई भी रूढ़िवादी दर्शन नहीं था।' आइवर के अनुसार, 'सम्भवतः बर्क ने रूढ़िवादी दर्शन को विश्व भर में सर्वाधिक पूर्ण तथा प्रबुद्ध अभिव्यक्ति प्रदान की है।'[2] बर्क ने इस बात पर जोर दिया कि सामाजिक स्थायित्व के लिए परम्पराओं की शक्ति कितनी महत्त्वपूर्ण है और यह भी कि सामाजिक व्यवस्था की सुरक्षा तथा कल्याण के लिए क्रान्ति नहीं, बल्कि परम्परागत संस्थाओं तथा आदर्शों की निरन्तरता अधिक शक्तिशाली योगदान करती है।

बर्क की राजनीतिक रूढ़िवादिता को समझने के लिए हमें 'रूढ़िवादिता' (conservatism) शब्द का वास्तविक अर्थ समझना चाहिए। हारमॉन ने कहा है कि 'रूढ़िवादिता' के अन्तर्गत सुरक्षित रखने की वांछनीयता निहित है (conservatism implies desirability of conserving)। राजनीति में रूढ़िवादिता (अनुदारवाद) तथा उदारवाद (liberalism) जिस रूप में प्रयुक्त होते आये हैं, उस रूप में बर्क का अनुदारवाद सही अर्थ नहीं देता। इन नामों से इग्लैण्ड में जो राजनीतिक दल बर्क के पश्चात् विकसित हुए, उनकी नीतियों से बर्क के अनुदारवाद का कोई सम्बन्ध नहीं

[1] '...that the rational form of this evolution might be made into a method generally applicable to philosophy and social studies.' —*Ibid.*, 520.

[2] 'Burke gave to the philosophy of conservatism perhaps the fullest and the most eloquent expression the world has ever heard.' —Ivor.

है। यहाँ तक कि स्वयं बर्क ह्विग दल का समर्थक था, जिसके ऊपर लॉक की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणाओं का प्रभाव स्वाभाविक था, परन्तु बर्क उन धारणाओं का विरोधी था। ह्विग दल फ्रांसीसी क्रान्तिकारियों की स्वतन्त्रता की माँग को लेकर चलने वाली नीति का विरोधी नहीं हो सकता था, जबकि बर्क ने इसका कट्टर विरोध किया। इस दृष्टि से बर्क की रूढ़िवादिता किन्हीं राजनीतिक सिद्धान्तवादों पर आधारित नहीं थी, अपितु वह उसकी आत्म-चेतना (self-consciousness) द्वारा निदेशित थी। बर्क का अटूट विश्वास परम्परागत सस्थाओं, संस्कृति तथा परिपाटियों को बनाये रखने में था, क्योंकि वह उन्हें समाज-निर्माण तथा सामाजिक स्थायित्व की अपरिहार्य आवश्यकताएँ मानता था। बर्क का यह दृष्टिकोण संकुचित भी लगता है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि परम्परागत संस्थाओं में विद्वता ही हो। उनमे अनेक भारी दोष भी हो सकते हैं, जिनको दूर करने के लिए कभी-कभी क्रान्ति के अतिरिक्त अन्य कोई उपयुक्त साधन सुलभ न हों और फ्रास में शायद ऐसी ही स्थिति आ चुकी थी। तथापि बर्क ऐसे साधनो द्वारा परिवर्तन को लाने का तीव्र विरोध करता है। उसका तर्क है कि किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह अथवा किसी एक पीढ़ी के जनसमूह का विवेक सहस्रों पीढ़ियों के लोगों के विवेक से उच्चतर नहीं हो सकता। परम्परागत संस्थाएँ इन अनन्त पीढ़ियों के व्यक्तियों के अनुभव पर आधारित उच्चतर विवेक का फल हैं। अत यदि किसी एक पीढ़ी के मानव क्रान्ति द्वारा इन परम्परागत संस्थाओं को बदल देते हैं तो ऐसा कृत्य पूर्णतया दोषपूर्ण तथा खतरनाक सिद्ध होगा।

सुधार के सम्बन्ध में बर्क का कहना है कि यदि सुधारों के पीछे प्राचीन परम्पराओं को बनाये रखने की न्याय्यता न हो तो वह उन सुधारों का स्वागत नहीं करेगा। सुधारों में ऐतिहासिक परिवर्तनों की निरन्तरता बनी रहनी चाहिए। फ्रांस की राजनीतिक क्रान्ति का विरोध उसने इसी आधार पर किया था कि उसका उद्देश्य प्राकृतिक अधिकारों की मान्यता के निमित्त राष्ट्र की परम्परागत राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक संस्थाओं को नष्ट कर देना था जिसका परिणाम राष्ट्र के जीवन को ही नष्ट कर देने के तुल्य था।

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बर्क ने जो विचार रखे हैं वे भी उसके अनुदारवाद को व्यक्त करते हैं। उसके पूर्ववर्ती ह्विग नेता तथा चिन्तक लॉक ने राज्य की उत्पत्ति को संविदागत सिद्ध किया था, परन्तु बर्क राज्य की उत्पत्ति को निरन्तर ऐतिहासिक विकास का फल मानता है। संविदा की धारणा उसे पूर्णतः अमान्य नहीं है। परन्तु वह संविदा की धारणा को दूसरे ही अर्थ में लेता है। उसके मत से समाज या राज्य का निर्माण किसी राजनीतिक सविदा के आधार पर नहीं हो सकता, प्रत्युत् जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्रों में (कला, विज्ञान, संस्कृति, इतिहास, साहित्य आदि) सामाजिक सहचार तथा सहभाग के निमित्त एक ऐतिहासिक विकास की चिरन्तन प्रक्रिया है, जो राजनीतिक समाज को एक सावयविक स्वरूप प्रदान करती है।

समाज-निर्माण के सम्बन्ध में बर्क का ईश्वर तथा धर्म पर विश्वास भी उसे रूढ़िवादी चिन्तन का संस्थापक सिद्ध करता है। उसके मत से 'सामान्यतः न केवल समाज, बल्कि राजनीतिक समाज या राज्य भी एक दैवी संस्था है और कोई राज्य जो ईश्वर या ईश्वर के कानून की उपेक्षा करता है वह नष्ट हो जाएगा।' वह राज्य की उत्पत्ति तथा उसके अस्तित्व में दैवी इच्छा की महत्ता को स्वीकार करते हुए प्रत्येक व्यक्ति को अपने निर्धारित जीवन-क्षेत्र में अपने कर्त्तव्यों का पालन करने की प्रेरणा

देता है न कि अपने अधिकारों की प्राप्ति करने मात्र की आकांक्षा करने की। उसका मत था कि प्रत्येक व्यक्ति के मानव जाति के प्रति कुछ दायित्व होते हैं। वे दायित्व किसी निश्चित वैकल्पिक अतीत के प्रतिफल नहीं हैं। उनकी उत्पत्ति मनुष्य के मनुष्य के साथ तथा मनुष्य के परमात्मा के साथ सम्बन्धों के कारण होती है। इन्हें निरन्तर बनाये रखना सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक है।

बर्क का रूढ़िवाद उसके द्वारा की गयी ब्रिटिश सांविधानिक प्रणाली की प्रशंसा से भी प्रकट होता है। ब्रिटिश शासन-प्रणाली के अन्तर्गत मिश्रित सरकार तथा अवरोध और सन्तुलन के सिद्धान्त के अस्तित्व की उसने बड़ी प्रशंसा की थी। वह इस प्रणाली की परम्परागत निरन्तरता को एक महान् उपलब्धि मानता था। उसका मत था कि किसी ऐसे संविधान का जो कि सब देशों तथा कालों के लिए उपयुक्त हो, निर्माण कर सकना असम्भव है। परन्तु ब्रिटिश संविधान जो दीर्घकालीन परम्पराओं के आधार पर विकसित होता आया है स्थिर रहा है। इसमें आमूल-चूल परिवर्तन करने का प्रयास भयावह सिद्ध होगा।

बर्क का रूढ़िवाद उसके लोकतन्त्र विरोध से भी स्पष्ट है। वह यह मानकर चलता है कि सब मनुष्य प्रकृतितः असमान होते हैं। अतएव समान राजनीतिक अधिकारों की धारणा अप्राकृतिक है। उसके मत से राजनीतिक सत्ता के कार्यान्वयन में सम्पत्तिवान व्यक्तियों को ही भाग लेने का अधिकार प्राप्त रहना चाहिए, न कि सम्पूर्ण जनसाधारण को। अतः सार्वजनिक कार्यकलापों को सम्पन्न करने का दायित्व उन्हीं लोगों का होना चाहिए जो उनके लिए सक्षम हों। इस दृष्टि से वह शासन में पूर्णतया कुलीनतन्त्र का समर्थक है। वह इसे प्राकृतिक नियमों पर आधारित व्यवस्था मानता है। इसी आधार पर वह गणतन्त्र का भी समर्थन नहीं करता। वह ऐसे राजतन्त्र का समर्थन करता है जो नामधारी न हो बल्कि वास्तविक हो, परन्तु निरंकुश न हो। निरंकुश राजतन्त्र स्थापित सांविधानिक व्यवस्था के निमित्त घातक होता है। स्वयं अपने काल में बर्क ने जार्ज तृतीय की निरंकुशता की दिशा में बढ़ने की प्रवृत्ति का विरोध किया था।

बर्क की यह रूढ़िवादिता कहाँ तक सत्य है, यह कह सकना कठिन है, क्योंकि इतिहास बताता है कि परिवर्तन प्रकृति का नियम है। विभिन्न देशों की राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्थाओं में आमूल परिवर्तन हुए हैं। उनमें क्रान्तियाँ भी हुई और यह नहीं कहा जा सकता कि उनका परिणाम सदैव सामाजिक स्थायित्व अथवा जनकल्याण के लिए अनुचित ही सिद्ध हुआ हो। शासकीय परिवर्तन तो आये-दिन होते ही रहते हैं। स्वयं इंग्लैण्ड का इतिहास बताता है कि वहाँ किसी युग में निरंकुश राजतन्त्र था और कुलीनतन्त्री तत्त्वों का देश की शासन-व्यवस्था में पर्याप्त प्रभाव था। आज वहाँ राजतन्त्र वैधानिक-मात्र रह गया है। कुलीनतन्त्री लार्ड सभा शक्तिहीन हो चुकी है। इस दृष्टि से बर्क की रूढ़िवादी राजनीतिक विचारधाराओं का महत्त्व बहुत अधिक नहीं है। निस्सन्देह, जो लोग परिवर्तन पर विश्वास नहीं रखते उनके लिए बर्क की विचारधाराएँ सहायक सिद्ध हो सकती हैं।

बर्क का उदारवाद—भले ही बर्क को राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में रूढ़िवादिता या अनुदारवाद का संस्थापक माना जाता है, तथापि बर्क में राजनीतिक उदारवादिता भी किसी भाँति कम नहीं है। वह एकाएक किये जाने वाले परिवर्तनों, फ्रांसीसी क्रान्ति के उद्देश्यों, राजतन्त्र तथा लार्ड सभा की समाप्ति, वयस्क मताधिकार

तथा संसदीय सुधारों आदि का विरोधी था। वह रूसो सदृश अतिवादी उदारवादियों का भी विरोधी था। परन्तु साथ ही वह हॉब्स, फिल्मर, जेम्स प्रथम आदि के सदृश निरंकुशतावादियों की तुलना में कहीं अधिक उदार था। उसका उदारवाद इस बात से प्रकट हो जाता है कि उसने अपनी सरकार की साम्राज्यवादी कुप्रवृत्तियों तथा निरंकुशता का तीव्र विरोध किया था। अमरीका की स्वतन्त्रता क्रान्ति का समर्थन, भारत में ईस्ट इण्डिया कपनी के शासकों के अत्याचारों तथा आयरलैण्ड में ब्रिटिश सरकार के अत्याचारों की उसने खुले रूप से भर्त्सना की थी। शासन के अन्तर्गत भ्रष्टाचारों तथा अन्य बुराइयों के प्रति वह निरन्तर संघर्ष करता रहता था। वह राजतन्त्र का समर्थक अवश्य था। परन्तु वह राजा द्वारा सांविधानिक अधिकारों का अतिक्रमण किया जाना कदापि सहन नहीं करता था। वह यहाँ तक स्वीकार करता था कि ऐसे राजा को पदच्युत करना राष्ट्र का अधिकार है। वह राजा के मन्त्रियों से भी यही आशा करता था कि वे राजा तथा संसद दोनों के प्रति अपने सामूहिक उत्तरदायित्व को निभाएँ। उन्हें राजा का स्वार्थपूर्ण कृपापात्र नहीं होना चाहिए। बर्क के मत से सुधार क्रान्ति का पर्याय नहीं है। मानवों के मामले धीमी गति से ही विकसित हो सकते हैं। उनका विकास शनैः शनैः तथा व्यवस्थित ढंग से होना चाहिए। एकाएक परिवर्तन विनाशकारी होते हैं। बर्क स्वतन्त्रता की धारणा का विरोधी नहीं था। परन्तु वह सामाजिक स्वतन्त्रता तथा उत्तमता के समक्ष व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा उत्तमता को उच्चतर नहीं मानता। अपने युग के अन्य उदारवादियों की भाँति वह स्वतन्त्रता को निरपेक्ष नहीं मानता था। स्वतन्त्रता तथा सत्ता को संविधान द्वारा मर्यादित रखने की उसकी धारणा उसके उदारवाद की द्योतक है।

बर्क के विचारों की महत्ता—बर्क की राजनीतिक विचारधाराओं की एक अन्य विशेषता यह है कि वे एक सक्रिय राजनेता की धारणाएँ हैं, जिनको उसने स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष रूप से रखा। उन पर किसी विशिष्ट सैद्धान्तिक दर्शन तथा विचारधारा का प्रभाव नहीं था। प्रत्युत् वे विभिन्न परिस्थितियों के सन्दर्भ में विचारक की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न हुई थीं। उन्हें निर्भीकतापूर्वक उसने व्यक्त किया। यद्यपि वे अस्त-व्यस्त ढंग से उसके विविध भाषणों, परिपत्रों तथा निबन्धों में बिखरी हुई हैं, अतः एक क्रमबद्ध दर्शन के रूप में प्रस्तुत नहीं की गयी हैं, तथापि उनमें विचारक की मूलभूत धारणा में असंगति दोष नहीं पाया जाता। उसका दृष्टिकोण सब परिस्थितियों में उसकी मूलभूत धारणा से निदेशित हुआ है। यदि उसने अमरीकी क्रान्ति का समर्थन और फ्रांसीसी क्रान्ति का विरोध किया है, तो इस दृष्टिकोण को असंगतिपूर्ण या विचार-वैविध्य नहीं कहा जा सकता। उक्त दोनों क्रान्तियों के कारणों तथा उद्देश्यों में भिन्नता थी। अतः दोनों के गुणावगुणों का परीक्षण करते हुए विचारक ने उनके सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए अलग-अलग निष्कर्ष निकाले हैं। इनके सम्बन्ध में उसके तर्क उसकी मूलभूत धारणा से पूर्ण संगति रखते हैं। राजनीतिक व्यवहार में अनुभव तथा व्यावहारिकता को महत्त्व देना तथा परम्परागत संस्थाओं का आदर करना, धार्मिक निष्ठा की भावना से राजनीतिक आचरण की व्याख्या करना और राजनीतिक व्यवहार हेतु भावना-मूलक विचारधाराओं का परित्याग करना, बर्क की राजनीतिक विचारधारा की राजनीतिक चिन्तन को सबसे महत्त्वपूर्ण देन है। 18वीं शताब्दी के बुद्धिवाद तथा तर्कवाद के युग में राजनीतिक चिन्तन को भावनामूलक आदर्शों के आधार पर

व्यक्त करने की परम्परा से मुक्त करके व्यावहारिकता के आधार पर राजनीतिक समस्याओं का विवेचन करने की पद्धति अपनाकर बर्क ने राजनीतिक चिन्तन को एक नयी दिशा प्रदान की।

बर्क की रूढ़िवादितायुक्त विचारधारा में लोकतन्त्री शासन-पद्धति का विरोध किया गया है। आज के लोकतन्त्रवादी इसी कारण से बर्क को कोई प्रशंसा प्रदान नहीं कर सकेंगे। परन्तु यह स्मरणीय है कि बर्क भले ही जनसाधारण की शासन करने की क्षमता पर विश्वास नहीं रखता था, तथापि शासकों द्वारा जनमत का आदर करने तथा जन-कल्याण की धारणा से शासन करने की धारणा सदैव उसकी विचारधारा का केन्द्रीय तत्त्व था। इस दृष्टि से बर्क लोकतन्त्र विरोधी नहीं था, अपितु उसका लोकतन्त्र 'जनता द्वारा शासन' न होकर 'जनता के लिए शासन' है।

राजनीतिक चिन्तन को बर्क के अनेक अनुदाय हैं। वह सबसे पहला चिन्तक है जिसने राजनीतिक समस्याओं के समाधान के निमित्त कोरे भावनामूलक चिन्तन तथा आधिभौतिक तर्कों का परित्याग करके व्यावहारिकतावाद को महत्त्व दिया। उसने शासन-कला के संचालन में अनुभववाद को वरीयता दी और इतिहास तथा अनुभव के द्वारा प्रशासनिक समस्याओं को हल करने में जोर दिया। लास्की ने उचित ही कहा है कि बर्क की प्रशंसा करना सरल है और उसके प्रयासों की महत्ता से मुक्त होना और भी अधिक सरल है। बर्क ने किसी निश्चित चिन्तन-पद्धति का सृजन न करके कुछ ऐसे सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है जिनका अनुसरण न करने की भूल शायद ही कोई राजनेता कर पायेगा। इस प्रकार बर्क को राजनीतिक चिन्तकों की श्रेणी भले ही प्राप्त न हो सके तथापि व्यावहारिक राजनीति के निमित्त उसके विचारों का अत्यधिक महत्त्व है। उनके कार्यान्वयन के सम्बन्ध में उसने नैतिक, धार्मिक, मानवीय आदि सभी पक्षों का विश्लेषण भली-भाँति किया है। 'अपने युग के राजनीतिक दर्शन के निमित्त उसने निर्देशन की भावना, उद्देश्य के सुन्दर उत्साह तथा उसकी जटिलता के सम्पूर्ण ज्ञान को प्रस्तुत किया है जैसा कि किसी अन्य राजनेता को प्राप्त नहीं है।'[1] यह उसका सबसे बड़ा अनुदाय है।

[1] 'He brought to the political philosophy of his generation a sense of direction, lofty vigour of purpose and a full knowledge of its complexity, such as no other statesman has possessed.' —Laski, *Political Thought in England: From Locke to Bentham*, 214.

अठारहवाँ अध्याय

उपयोगितावाद् : बेंथम और मिल

जेरेमी बेंथम (1748–1832)

जीवन-परिचय—जेरेमी बेंथम (Jeremy Bentham) का जन्म इंग्लैण्ड के एक सम्पन्न वकील के घर में हुआ था। वह बचपन से ही एक प्रतिभाशाली व्यक्ति सिद्ध हुआ, जिसने केवल 3 वर्ष की आयु में लैटिन सीखना आरम्भ कर दिया था। प्रारम्भिक शिक्षा के पश्चात् वह ऑक्सफोर्ड में प्रविष्ट हुआ। वहाँ उसकी प्रतिभा इतनी प्रखर सिद्ध हुई कि वह अपने अध्यापकों तक को कभी-कभी समुचित ज्ञान से रहित समझता था। बेंथम के पिता की आकांक्षा थी कि उसे उत्कृष्ट कानून की शिक्षा-दीक्षा दी जाय ताकि किसी दिन वह इंग्लैण्ड के सर्वोच्च न्यायालय का प्रमुख न्यायाधीश बन सके। परन्तु कानून की शिक्षा प्राप्त कर लेने पर यद्यपि बेंथम को वकालत के व्यवसाय पर लगाया गया था, तथापि इस सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण उसके पिता की आकांक्षाओं पर पानी फेरने वाला सिद्ध हुआ। एक बार जब उसके पिता ने उसे एक न्यायिक मामला वकालत के लिए दिया तो बेंथम ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा कि 50 पौण्ड की छोटी-सी रकम वाले विवाद को न्यायालय में ले जाकर उसके विवाद पर पैसा व्यय करने से तो अच्छा यह होगा कि उस विवाद को ही समाप्त करके उस पर व्यय किया जाने वाला धन बचा लिया जाय।

बेंथम के विचारों को प्रभावित करने वाली पुस्तक प्रीस्टले द्वारा लिखी गई 'Essay on Government' थी, जिसमें हचेसन को उद्धृत करते हुए 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' पदावली प्रयुक्त की गई थी। बाद में बेंथम द्वारा प्रतिपादित उपयोगितावादी विचारधारा के अन्तर्गत यह शब्दावली उपयोगितावाद का मूल मन्त्र बन गई। बेंथम इस समस्या पर विचार करने लगा कि मानव को मात्र मानवीय सुख के निमित्त कार्य करना चाहिए। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बेंथम का यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि कानून में सुधार किया जाना चाहिए। ऐसा सुधार विधायन के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। चूँकि बेंथम स्वयं एक कानून का विद्यार्थी रह चुका था, अत: वह इसी बात पर चिन्तन करने लगा कि कानून में विधायन द्वारा कैसे सुधार किया जा सकता है, जिसके द्वारा समाज में 'अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख' की प्राप्ति हो सके। बेंथम को सही माने में एक राजनीतिक चिन्तक की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। यद्यपि वह इंग्लैण्ड के दार्शनिकों—हॉब्स तथा लॉक—के व्यक्तिवादी विचारों से प्रभावित था, तथापि वह उनकी तुलना में नहीं ठहर सका। सी० एल० वेपर के शब्दों में, 'राजनीतिक चिन्तन में इंग्लैण्ड का जो सबसे महान् अनुदाय है वह सम्भवत: न तो हॉब्स है, न लॉक; अपितु वह एक विचारधारा है जो इन दोनों की ऋणी है, यद्यपि इस विचारधारा ने न तो

हॉब्स की तरह के किसी महान् चिन्तक को उत्पन्न किया और न लॉक की तरह के किसी पूर्णतया ब्रिटिश स्वभाव के व्यक्ति को।'[1] यह ब्रिटिश विचारधारा उपयोगितावाद है। बेंथम ने अपने पूर्वगामी चिन्तकों से प्रेरणा लेकर इसे एक क्रमबद्ध विचारधारा का रूप दिया।

कानून का व्यवसाय छोड़कर बेंथम ने निरन्तर कानून के सुधार से सम्बद्ध बातों को अपना लक्ष्य बनाया। इस दृष्टि से 'सही माने में वह सबसे पहला तथा महानतम विधि-दार्शनिक सिद्ध हुआ है।' उसने कानून के सुधार की समस्याओं पर वैज्ञानिक ढंग से चिन्तन किया। उसकी रचनाएँ भले ही विशुद्ध राजदर्शन की श्रेणी में नहीं आतीं, तथापि कानून के एक महानतम सुधारक के रूप में जो कुछ उसने लिखा है उसके अन्तर्गत बेंथम की रचनाएँ अर्थशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, धर्मशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि सभी विषयों को समाविष्ट करती हैं। बेंथम ने विभिन्न देशों का भ्रमण भी किया और उसकी सुधार योजनाओं ने उसे विदेशों में भी लोकप्रियता प्रदान की। फ्रांस ने उसे अपनी नागरिकता भी प्रदान कर दी। अपनी 84 वर्ष की दीर्घ आयु तक वह अविवाहित ही रहा। उसने बीसियों ग्रन्थ लिखे। अनेकों को तो प्रकाशित करवाने तक की उसे चिन्ता न रही। उनका प्रकाशन उसकी मृत्यु के पश्चात् ही हो पाया। उसकी अधिकांश रचनाएँ विखण्डों (fragments) या प्रवेशिकाओं (introductions) के रूप में लिखी गयी थीं। उसकी सबसे पहली प्रकाशित रचना 'The Fragment on Government' (1776) तथा दूसरी 'The Introduction to the Principles of Morals and Legislation' (1789) हैं। बेंथम की राजनीतिक विचारधाराओं का ज्ञान करने के निमित्त इन दो रचनाओं का सर्वाधिक महत्त्व है। अन्य रचनाओं के अन्तर्गत 'The Defence of Usury', 'The Discourses on Civil and Penal Legislation', 'The Essay on Political Tactics', 'The Theory of Punishments and Reward', 'The Treatise on Judicial Evidence', 'The Constitutional Code' आदि हैं। इनमें से अधिकांश रचनाएँ कानून में सुधार से सम्बद्ध हैं। इन रचनाओं के प्रकाशन के बाद अनेक रचनाओं का अन्य देशों की भाषाओं में अनुवाद किया गया। इस प्रकार वे न केवल यूरोपीय देशों में ही लोकप्रिय हुईं, अपितु विदेशों में भी वे बेंथम की ख्याति ले गयीं। हैजलिट (1825) को उद्धृत करते हुए वेपर ने लिखा है कि 'उस (बेंथम) का नाम इंग्लैण्ड में कम लिया जाता है, यूरोप में अधिकतर, और चिली के मैदानों तथा मैक्सिको की खानों में सर्वाधिक लिया जाता है। उसने नई दुनिया के लिए संविधान प्रदान किये और भविष्य के लिए विधि-निर्माण किया।'[2]

बेंथम को इंग्लैण्ड के राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में महानतम सुधारवादी चिन्तकों की श्रेणी में रखा जाता है। प्रारम्भ में वह टोरी दल के साथ सहानुभूति रखता था। टोरी दल अपनी अनुदार तथा रूढ़िवादी धारणाओं के लिए विख्यात है। परन्तु बेंथम का विश्वास था कि 'यह दल सत्ताधारी होते हुए भी सुधारों का विरोधी नहीं है। इस दल के लोग केवल यही जानना चाहते थे कि सुधारों के पीछे क्या भलाई है।' बेंथम के युग में जनसाधारण की स्थिति अच्छी नहीं थी। न्याय

[1] C. L. Wayper, *Political Thought*, 82.
[2] *Ibid.*, 87.

बहुत मँहगा था, साथ ही सुगमता से प्राप्त नहीं हो सकता था। दण्ड-व्यवस्था अत्यन्त कठोर तथा निर्दयी थी। जेलों का जीवन नारकीय था। अतः बेंथम ने कानून में सुधार करके इन सब बुराइयों का अन्त करने की योजना रखी। जब उसकी योजनाओं को शासन से कोई प्रोत्साहन नहीं मिला तो वह उग्र सुधारवादी हो गया। जीवन के अन्तिम क्षणों तक वह लिखता रहा। उसके द्वारा लिखी गयी पाण्डुलिपियाँ जो अप्रकाशित रहीं वे अभी तक लन्दन के संग्रहालय में विद्यमान हैं। उसके उपजाऊ मस्तिष्क में निरन्तर नई-नई समस्याएँ उत्पन्न होती रहती थीं और वह उनके सम्बन्ध में लिखता जाता था। इसलिए भी वह अनेक रचनाओं को क्रमबद्ध ढंग से पूर्ण नहीं कर पाया। जीवन के अन्तिम क्षणों तक वह पूर्ण स्वस्थ रहा। अपने वसीयतनामे में उसने यह जिज्ञासा प्रकट की थी—उसका शरीर दफनाया न जाय, प्रत्युत् उसे जीवशास्त्रियों को अर्पित किया जाय जिससे कि वे अपना ज्ञानार्जन कर सकें। उसकी इस कामना को पूर्ण किया गया और आज भी उसका अस्थिपिंजर संग्रहालय में मोम के अन्दर सुरक्षित रखा हुआ है।

बेंथम के जीवन के अन्तिम 20 वर्षों में उसके अनुयायी उसके सम्पर्क में आये। इनमें जेम्स मिल तथा उसका पुत्र जे० एस० मिल प्रमुख थे। इनके अतिरिक्त लार्ड शेलबर्न तथा जॉन बाउरिंग उसके निकटतम मित्रों में से थे। भले ही बेंथम के विचारों को उसके जीवन-काल में कार्यान्वित करने की दिशा में कम प्रयास किये गये, तथापि ब्रिटिश संसद ने उसकी मृत्यु (1832) के वर्ष महान् सुधार विधेयक (The Great Reform Bill) पास करके उसके प्रति सम्मानपूर्ण श्रद्धांजलि अर्पित की। बेंथम के विचारों को उसके अनुयायियों ने कुछ संशोधनों के साथ विकसित किया। बेंथम द्वारा प्रतिपादित विचारधारा ने इंग्लैण्ड तथा यूरोपीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में उदारवाद, लोकतन्त्र तथा सुधारवाद के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

बेंथम का उपयोगितावाद

उपयोगितावाद का आधार सुख—बेंथम के राजनीतिक विचारधारा को उपयोगितावाद कहा जाता है। यह सुखवादी दर्शन पर आधारित एक मनोवैज्ञानिक तथा सुधारवादी विचारधारा है, जिसका प्रमुख केन्द्र इंग्लैण्ड था। यद्यपि सुखवादी विचारधारा बेंथम से पूर्व अति प्राचीन काल से चली आई है, तथापि इस बात का श्रेय बेंथम को ही प्राप्त है कि सुखवाद को उसने एक क्रमबद्ध राजनीतिक विचारधारा का रूप प्रदान किया। प्राचीन भारत में चार्वाक् दर्शन के अन्तर्गत मनुष्य-जीवन का लक्ष्य निरन्तर सुख भोग माना गया था। उनकी यह उक्ति प्रख्यात है कि मनुष्य को आजीवन सुखी जीवन व्यतीत करने के लिए ऋण लेकर भी घृत पान करना चाहिए। मृत्यु हो जाने पर शरीर भस्म हो जायेगा, फिर दूसरा जन्म कहाँ मिलेगा। प्राचीन काल में यूरोपीय चिन्तन के अन्तर्गत भी सुखवाद ग्रीक दार्शनिकों के विचारों में विद्यमान था। प्लेटो तथा अरस्तू भी राज्य का उद्देश्य मानव को सुखी जीवन प्रदान करना मानते थे। परन्तु उनके सुखवाद का अर्थ व्यापक था। उनके पश्चात् इसे संकुचित अर्थ में व्यक्त किया जाने लगा। इपीक्यूरिन दर्शन मानव को सुख की प्राप्ति तथा दुःख से निवृत्ति का उपदेश देता था। सत्रहवीं तथा अठारहवीं सदी के अनेक भौतिकवादी विचारकों ने भी सुख की प्राप्ति को मानव-जीवन का लक्ष्य माना। परन्तु उस काल के विचारकों में से सुखवाद को एक मनोवैज्ञानिक तथा

नैतिक सामाजिक दर्शन का रूप सर्वप्रथम बेंथम ने प्रदान किया।

बेंथम के मत से मनुष्य स्वभाव में यह बात अन्तर्निहित है कि वह सुख की प्राप्ति तथा दुःख से निवृत्ति चाहता है। वह उन्हीं कार्यों को करना चाहता है जिनसे उसे सुख मिले और आनन्द प्राप्त हो। एक ओर सुख या आनन्द और दूसरी ओर दुःख तथा कष्ट एक-दूसरे से घनिष्टतया सम्बद्ध हैं। किसी वस्तु या कार्य की उपयोगिता का माप-दण्ड उससे प्राप्त होने वाला सुख या दुःख है। यदि वह सुख या आनन्द देती है तो उपयोगी है और यदि इसके विपरीत वह दुःख या कष्ट देती है तो अनुपयोगी है। अर्थात् सुख या दुःख पर आधारित उपयोगिता विध्यात्मक है, न कि निषेधात्मक। पुण्य (virtue) इसीलिए उत्तम चीज है कि उसके आचरण से सुख मिलता है। इसके विपरीत पाप (vice) के आचरण से दुःख मिलने के कारण वह बुरी चीज है। इस दृष्टि से बेंथम के विचारों में उपयोगिता एक सुखवादी सिद्धान्त है। बेंथम ने कहा है कि 'प्रकृति ने मानव को दुःख तथा आनन्द दो सम्प्रभु सत्ताओं के अधीन रखा है; केवल वे ही हमें यह बताती हैं कि हमें क्या करना चाहिए, और वे ही यह निर्धारित करती हैं कि हम क्या करेंगे। इन सत्ताओं के सिंहासन के एक ओर उचित तथा अनुचित के मानदण्ड और दूसरी ओर कारण तथा परिणाम की जंजीरें जुड़ी हुई हैं। जो कुछ हम कहते हैं, जो कुछ हम सोचते हैं उन सबमें वे ही हमारा निर्देशन करती हैं। यदि हम इनकी दासता से मुक्ति पाने का प्रयत्न करेंगे तो वह केवल इन्हीं को प्रदर्शित तथा पुष्ट करने वाला सिद्ध होगा।'[1]

सुख तथा आनन्द में भेद—परन्तु यह भी स्मरणीय है कि सुख तथा आनन्द को बेंथम एक-दूसरे के पर्याय नहीं मानता। उसके मत से मानव के समस्त अनुभव या तो आनन्ददायी हैं या कष्टदायी, अथवा दोनों। आनन्द (pleasures) तो केवल व्यक्तिगत संवेदन हैं। परन्तु सुख (happiness) व्यक्तिगत संवेदन मात्र नहीं हैं। प्रत्युत् यह एक मनःस्थिति अथवा संवेदनों का पुंज है। सुख अनेक आनन्दों का ढेर मात्र भी नहीं है, प्रत्युत् यह उन अनेक आनन्दों का निचोड़ है जिनमें से कुछ को मनुष्य भविष्य में दुःखदायी परिणाम होने के भय से त्याग भी देता है, जबकि साधारणतया वह प्रत्येक आनन्ददायक कार्य या वस्तु को अपनाता है। मदिरा-पान से किसी व्यक्ति को क्षणिक आनन्द प्राप्त हो सकता है परन्तु इस आदत को सुख-दायक नहीं कहा जा सकता क्योंकि मनुष्य के स्वास्थ्य एवं आर्थिक स्थिति पर इसके कुप्रभाव पड़ने से उसे सुख की अपेक्षा कष्ट मिलेगा। अतएव किसी वस्तु या कार्य के द्वारा प्राप्त होने वाला चिरस्थायी सुख ही वास्तविक सुख है। इसी प्रकार सुखवाद पर आधारित किसी कार्य की उपयोगिता का मानदण्ड भी उसके उद्देश्य या प्रयोजन से प्राप्त होने वाला सुख नहीं है, अपितु उस कार्य के परिणाम से प्राप्त होने वाला चिरस्थायी सुख है। उद्देश्य या प्रयोजन की उपादेयता आपेक्षिक होती है, जहाँ तक कि उसका प्रभाव परिणाम पर पड़ता हो। यदि सद्भावना से कोई कार्य किया जाए तो उसके परिणाम के भी उत्तम होने की सम्भावना हो

[1] 'Nature has placed mankind under the governance of two sovereign masters, *pain* and *pleasure* It is for them alone to point out what we ought to do, as well as to determine what we shall do. On the one hand the standard of right and wrong, on the other the claim of causes and effects, are fastened to their throne. They govern us in all we say, in all we think : every effort we make to throw off our subjection, will serve but to demonstrate and confirm it.'—Bentham, *Introduction to the Principles of Morals and Legislation.*

सकती है। बेंथम के मत से परिणाम भी दो प्रकार के हो सकते हैं : प्रारम्भिक तथा माध्यमिक। उदाहरण के लिए, किसी व्यक्ति के धन को लूट लिये जाने पर उसे जो दुःख होता है वह 'प्रारम्भिक' बुराई है। जब धनी व्यक्ति यह प्रतीत करने लगे कि लूट खसोट आसान है और जब ऐसी धारणा अन्य लोगों पर भी व्याप्त होने लगें तो इसे 'माध्यमिक' बुराई कहा जायेगा। कभी-कभी ये माध्यमिक बुराइयाँ प्रारम्भिक बुराइयों की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण हो सकती हैं। इन माध्यमिक परिणामों के निर्धारण में मनुष्य के उद्देश्य बहुत महत्त्व रखते हैं। अतः विधायक को विधि-निर्माण के समय इन पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए।

सुख तथा दुःख का स्वरूप—उपयोगितावादी दर्शन का मूल आधार सुखवाद है। किसी वस्तु या कार्य की उपयोगिता उससे प्राप्त होने वाले सुख पर निर्भर करती है। बेंथम की धारणा थी कि मनुष्य केवल सुख की कामना ही नहीं करता अपितु वह 'अधिकाधिक सुख' की कामना करता है। सामाजिक जीवन के क्षेत्र में इस सिद्धान्त को लागू करने का अभिप्राय यह होगा कि सामाजिक जीवन से सम्बद्ध किसी कार्य या वस्तु की उपयोगिता की परख उस वस्तु या कार्य से समाज के 'अधिकाधिक व्यक्तियों को अधिकाधिक सुख' प्राप्त होने से की जा सकती है। राज्य, शासन, कानून, व्यवस्था आदि जिनका सम्बन्ध राजनीतिक जीवन से होता है, तभी उपयोगी हैं, जबकि वे इस उद्देश्य को पूर्ण करें। इसलिए इनकी उपयोगिता का ज्ञान करने के लिए उनसे प्राप्त होने वाले सुख या दुख की माप करनी पड़ेगी। बेंथम ने इन बातों पर सूक्ष्मता से विचार किया है और इनके सम्बन्ध में अनेक निष्कर्ष भी निकाले हैं :

सुख तथा दुःख में मात्रा का अन्तर है न कि गुण का—बेंथम की यह मान्यता कि 'सुख तथा दुःख में मात्रा का अन्तर है गुण का नहीं' बड़ी महत्त्वपूर्ण है। भले ही बेंथम का यह निष्कर्ष सही न हो और इसके सम्बन्ध में जो अकात्मक मूल्यांकन करने का सिद्धान्त उसने बताया है वह भी सत्य न हो, तथापि इसके बिना उसकी समूची उपयोगितावादी धारणा निर्मूल हो जाती है। बेंथम ने कहा कि समस्त सुखों का गुणात्मक स्वरूप एक-सा होता है। गुण की नाप-तोल नहीं की जा सकती। उसने कहा कि काव्य का आनन्द उतना ही उत्तम है जितना बच्चों के पुशपिन के खेल का (Pushpin is as good as poetry)। दोनों से प्राप्त होने वाले आनन्द के गुणात्मक रूप मे कोई अन्तर नहीं है। यदि एक व्यक्ति अपने राष्ट्र के सर्वोत्तम पद पर चुन लिया जाय तो उसके कारण उस जिस सुख का अनुभव होता है उस सुख का गुणात्मक स्वरूप दूसरे एक व्यक्ति द्वारा किसी खेल प्रतियोगिता में विजयी होने से उत्पन्न होने वाले सुख के ही समान है। यदि इन विविध प्रकार के सुखों में कोई अन्तर है तो वह मात्रा का अन्तर है। अत: 'अ' सुख तथा 'ब' सुख के मध्य गुणात्मक भेद नहीं है, परन्तु हो सकता है कि 'अ' सुख की मात्रा का अक 'ब' सुख की तुलना में कम या अधिक हो। इस आधार पर किसी वस्तु या कार्य की उपयोगिता का मापदण्ड उससे प्राप्त होने वाले सुख की मात्रा में अन्तर का ज्ञान करना है न कि गुणात्मक स्वरूप का।

सुख तथा दुःख की नाप-तौल सम्भव है—विभिन्न प्रकार के सुखों के मध्य मात्रात्मक अन्तर का ज्ञान करने के लिए बेंथम ने सुखों की गणना (felicific calculus) सुझायी हैं। इसके आधार पर विभिन्न प्रकार के कार्यों या वस्तुओं से

प्राप्त होने वाले सुखों का मूल्य ज्ञात किया जा सकता है। इसके निमित्त बेंथम ने उन कार्यों के सम्बन्ध में अनेक परिस्थितियों या तत्त्वों का उल्लेख किया है जिनके आधार पर उनसे प्राप्त होने वाले सुख या दुःख के कम या अधिक होने का ज्ञान किया जा सकता है। ये हैं—(1) प्रगाढ़ता (intensity), (2) अवधि (duration), (3) निश्चितता या अनिश्चितता (certainty or uncertainty), (4) सामीप्य या दूरी (propinquity or remoteness), (5) उर्वरता (fecundity), (6) शुद्धता (purity), तथा (7) सीमा (extent)। सुख जितना ही प्रगाढ़ होगा, या जितने अधिक समय तक रहेगा, या जितना ही निश्चित होगा उतनी ही उसकी मात्रा भी अधिक होगी। इसी प्रकार समीप का सुख दूर के सुख की अपेक्षा मात्रा में से अधिक होगा। उर्वरता का तात्पर्य यह है कि किसी सुख के कारण यदि सुख प्राप्त करने वाले व्यक्ति की तरह से ही अन्य लोगों की संवेदन शक्ति भी उसी तरह कार्य करने लगे तो उसका प्रभाव जितने ही अधिक लोगों पर पड़ेगा उतनी ही उसकी मात्रा भी अधिक होगी। शुद्धता का अर्थ यह है कि एक के सुख से दूसरे को दुःख न हो, अर्थात् वह सुख-जन्य कार्य वास्तव में पवित्र हो। सुख की सीमा का अभिप्राय यह है कि उसका क्षेत्र व्यापक हो, अर्थात् वह अधिक से अधिक लोगों को प्रभावित करने वाला हो। इसी प्रकार इन तत्त्वों के आधार पर दुःखों की भी नाप-तौल की जा सकती है। बेंथम ने सुझाव दिया है कि किसी कार्य की उत्तमता या उपादेयता की परख करने के लिए उसके परिणाम से होने वाले सुख तथा दुःख को दो भागों में अंकित किया जाये और उक्त तत्त्वों के आधार पर निकाले गये अंक उनके समक्ष अंकित किये जाएँ। दोनों ओर के अंकों के योग के आधार पर सुख या दुःख की मात्रा का ज्ञान किया जा सकता है। सार्वजनिक क्षेत्र में किसी कार्य की उपयोगिता का ज्ञान करने की कसौटी यह है कि उससे अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख प्राप्त हो।

सुखों तथा दुःखों के प्रकार—बेंथम ने विभिन्न प्रकार के सुखों तथा दुःखों की सारणी भी प्रस्तुत की है। उसके मत से सुख तथा दुःख दो प्रकार के होते हैं : सरल तथा मिश्रित। इसके उपरान्त उसने सरल सुखों को 14 तथा दुःखों को 12 भागों में विभक्त किया है। मिश्रित सुख या दुःख कई सुखों या कई दुःखों अथवा एक या अधिक सुखों अथवा दुःखों के मिश्रण का परिणाम होते हैं। चौदह प्रकार के सरल सुख निम्नांकित हैं :

(1) इन्द्रिय सुख, (2) धन या सम्पत्ति का सुख, (3) कौशल (skill) का का सुख, (4) मित्रता (amity) का सुख, (5) यश का सुख, (6) शक्ति का सुख, (7) पवित्रता (piety) अर्थात् दैवी या धार्मिक सुख, (8) सद्भावना (benevolence) का सुख, (9) असद्भावना (malevolume) का सुख, (10) स्मरण शक्ति का सुख, (11) कल्पना शक्ति का सुख, (12) आशा (expectations) का सुख, (13) सहचार का सुख (pleasures depending on association), तथा (14) कष्ट निवारण (relief) का सुख।

बारह प्रकार के दुःख निम्नांकित हैं :

(1) अभावग्रस्तता (privation) का दुःख, (2) इन्द्रिय दुःख, (3) फूहड़पन (awkwardness) का दुःख, (4) शत्रुता का दुःख, (5) अपयश का दुःख, (6) दैवी या धार्मिक अर्थात् पवित्रता का दुःख, (7) सद्भावना का दुःख,

(8) असद्भावना का दुःख, (9) स्मरण शक्ति का दुःख, (10) कल्पना शक्ति का दुःख, (11) आशाओं का दुःख, तथा (12) सहचार पर आधारित दुःख।

उक्त सुखों तथा दुःखों की सूचियों के अन्तर्गत कुछ प्रत्यक्ष (perception) सुख या दुःख दोनों के कारण बताये गए हैं। यथा दैवी, सद्भावना, असद्भावना, स्मरण शक्ति, कल्पना शक्ति, आशा, सहचार आदि। ये अप्रत्यक्षण अच्छा या बुरा दोनों प्रकार का प्रभाव डाल सकते हैं, जिनके कारण सुख या दुःख दोनों मे से किसी की भी उत्पत्ति हो सकती है। इनमें से अधिकांश सुख या दुःख व्यक्ति के स्व से सम्बन्ध रखने वाले हैं। इन्हें बेंथम ने आत्मपरक (self-regarding) कहा है। सद्भावना या असद्भावना जनित सुख या दुःखों को परात्मपरक (extra-regarding) कहा गया है। बेंथम का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति में संवेदनशीलता समान होती है। अतः विभिन्न प्रत्यक्षणों से सुख या दुःख समान रूप से उत्पन्न होते हैं। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति में विभिन्न सुखों या दुःखों की अनुभूति अधिक या कम हो सकती है। इसका कारण प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति क्षमता तथा परिस्थितियों में भिन्नता का होना है। बेंथम ने ऐसी विभिन्न परिस्थितियों की भी 31 नामों की सूची दी है जो विभिन्न व्यक्तियों में समान प्रत्यक्षणों से उत्पन्न होने वाले सुखों या दुःखों की मात्रा में भिन्नता लाती हैं। ये परिस्थितियाँ विभिन्न व्यक्तियों के मध्य शारीरिक अपूर्णता, बौद्धिक क्षमता, ज्ञान तथा अनुभय की मात्रा, मनःस्थिति, धार्मिक भावना, आर्थिक परिस्थितियाँ, नैतिक क्षमता, आयु, लिंग, सामाजिक स्थिति, शिक्षा, जलवायु आदि हैं। इनके मध्य वैविध्य होने से विभिन्न व्यक्तियों में एक ही स्रोत या प्रत्यक्षण से उत्पन्न होने वाले सुख या दुःख की मात्रा कम या अधिक हो जाती है।

सुख या दुःख के स्रोत—बेंथम ने सुख या दुःख के चार प्रमुख स्रोत बताये हैं। इन्हें उसने अनुशास्तियाँ (sanctions) कहा है :

(1) **भौतिक या प्राकृतिक**—मनुष्य जीवन में प्रकृतितः जो घटना-चक्र होते हैं और जिनके सम्बन्ध में न तो मानव कृतियों का प्रभाव रहता है और न किसी अदृश दैवी शक्ति या रहस्यमय शक्ति का हाथ होता, उनके कारण मानव को सुख या दुःख की अनुभूति होती है, यथा वर्षा, अवर्षा, बाढ़, तूफान आदि का होना।

(2) **राजनीतिक**—समाज की राजनीतिक सत्ता या उसके अधीनस्थ अधिकारियों, कर्मचारियों आदि के कार्यों तथा आचरणों का प्रभाव भी मनुष्य में सुख या दुःख की उत्पत्ति का कारण हो सकता है। विधायकों द्वारा बनाये गए कानून, अधिशासकों द्वारा कानूनों के कार्यान्वियन के आचरण, न्यायाधीशों द्वारा दिये गए निर्णय, प्रशासनिक अधिकारियों के दैनिक आचरण आदि से मनुष्य को जिन सुखों या दुःखों का आभास होता है उनके उद्गम स्रोत राजनीतिक कहलाते हैं।

(3) **नैतिक या लौकिक**—लोकमत के अनुकूल या प्रतिकूल किसी व्यवस्था के कार्यान्वियन से मनुष्य के लिए सुख या दुःख की उत्पत्ति हो सकती है। चूँकि लोकमत किसी समाज विशेष की नैतिकता की अभिव्यक्ति करता है, अतः उस पर आधारित सुख या दुःख का कारण नैतिक या लौकिक कहलाता है।

(4) **धार्मिक**—किसी धर्म को मानना, उसके सिद्धान्तों पर आचरण करना, धर्म के नियमों को दैवी शक्ति के रूप में मानना आदि के कारण जो सुख या दुःख उत्पन्न हो उसका स्रोत धर्म या दैविक है। धार्मिक अनुशास्ति पर आधारित सुख

या दुःख का सम्बन्ध मनुष्य के इस जन्म के साथ-साथ पारलौकिक जीवन से भी हो सकता है।[1]

कभी एक ही प्रकार के सुख या दुःख के लिए ये सभी स्रोत उत्तरदायी हो सकते हैं, किसी व्यक्ति के मकान में आग लग जाय और यदि वह स्वयं उसकी किसी असावधानी के कारण हो तो उसे प्राकृतिक स्रोत माना जायेगा; यदि यह कार्य किसी शासनाधिकारी की आज्ञा से हुआ हो तो राजनीतिक, यदि उसके पड़ोसियों की शरारत या दुर्भावना के कारण हो तो लौकिक तथा यदि किसी दैवी प्रकोप का फल हो तो धार्मिक होगा। प्रत्येक स्थिति में इससे होने वाला दुःख या दण्ड समान है, अन्तर केवल परिस्थिति का है जिसने इसे उत्पन्न किया था। उपर्युक्त सुख या दुःख के स्रोत सभी मनुष्यों पर समान रूप से कार्य नहीं करते और कभी-कभी तो ये चारों स्रोत मिलकर कार्य करते हैं, कभी पृथक् से या कभी एक-दूसरे के विरोधी के रूप में। जब वे सम्मिलित रूप से प्रभावी हों तो उनकी शक्ति अदम्य होती है। यदि वे एक-दूसरे के विरोधी के रूप में प्रभावी हों, तो भी वे मनुष्य को भ्रम से छुटकारा नहीं देते। इनके आधार पर बेंथम का सुझाव है कि इन चारों स्रोतों से संगति रखने वाली चार पृथक् निकाएँ या विधि संहिताएँ होनी चाहिए।

उपयोगिता का सिद्धान्त—सुखवाद पर आधारित उपयोगिता का सिद्धान्त यह है कि किसी कार्य की उत्तमता की परख उससे प्राप्त होने वाले अधिकाधिक सुख की मात्रा का ज्ञान करके हो सकती है। सी० एल० वेपर के शब्दों में, 'उपयोगिता का सिद्धान्त वह है जो हमें यह बताता है कि हम किस प्रकार अपने आचरण को विनियमित करें।'[2] इसके आधार पर एक अच्छे कार्य (good action) तथा एक उचित कार्य (right action) के मध्य भेद किया जा सकता है। अच्छा कार्य वह है जिससे अधिकतम सुख की प्राप्ति हो। एक उचित कार्य वह जिससे निवर्तमान परिस्थितियों में सम्भव किसी अन्य कार्य की तुलना में सुख का शेष अधिक तथा दुःख का शेष न्यूनतम हो। वह बात परिस्थितियों पर निर्भर करती है कि कोई बुरा कार्य उचित है, और कोई अच्छा कार्य अनुचित है। एक बुरा कार्य, जिससे सुख की अपेक्षा दुःख अधिक मिले, उचित हो सकता है बशर्ते कि उसके एकमात्र वैकल्पिक कार्य से और अधिक दुःख प्राप्त होता हो। अतः दो कार्यों में से ऐसे कार्य का चयन अनुचित है जिससे कम सुख मिले, यदि दूसरे से उसी परिस्थिति में अधिक सुख मिल सकता है।

सुखवादी उपयोगिता के सिद्धान्त के अन्तर्गत यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि सामाजिक जीवन के क्षेत्र में किसके सुख का उद्देश्य अन्तर्निहित है। हॉब्स की धारणा थी कि मानव की स्वार्थमयी प्रवृत्ति उसे अपने सुख के अतिरिक्त अन्य किसी बात की कामना करने की प्रेरणा नहीं देती। बेंथम भी सर्वप्रथम यही मानता है कि मनुष्य सदैव केवल अपने वैयक्तिक सुख का ही उद्देश्य रखता है। परन्तु साथ ही बेंथम का यह भी मत है कि मनुष्य को सामान्यतया प्रत्येक के सुख का ध्यान रखना चाहिए। इसके उपरान्त वह मनुष्य को सलाह देता है कि उसे अधिकतम लोगों के अधिक सुख की प्राप्ति का प्रयास करना चाहिए। अन्ततः उसने

[1] भारतीय दर्शन में भी तीन प्रकार के दुःखों—'दैहिक, दैविक, भौतिक' को माना जाता रहा है।

[2] C. L. Wavper, *op. cit.*, 92.

यह सलाह दी है कि मनुष्य को अधिकाधिक सम्भव सुख की खोज करनी चाहिए। वास्तव में उपयोगितावादी नैतिकता का अन्तिम उद्देश्य मानव मात्र का अधिकाधिक सुख ही है।

उपयोगिता का सिद्धान्त वस्तुपरक अथवा स्पष्ट है। यह भावात्मक धारणाओं को मान्य नहीं करता। बेंथम की दृष्टि मे यह सार्वभौम रूप से लागू होने वाला सिद्धान्त है। मानव के समस्त व्यापारों में यह लागू होता है। यहां तक कि तपस्वियों के सम्बन्ध में भी यह लागू होता है। तपस्वियों को जिस रूप में सुख की अनुभूति होती है वह सुख का ही विकृत रूप है, क्योंकि तपस्या भौतिक सुख भले ही नहीं दे सकती, तथापि उसका परिणाम भी तपस्वी के लिए सुख का ही द्योतक है जो आत्मिक सुख है। शासन का उद्देश्य अमरीकी फिडरेलिस्ट में 'न्याय' को बताया गया है।[1] इसके विरुद्ध बेंथम का तर्क था कि सरकार का उद्देश्य 'सुख' को नहीं बताया गया। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि सुख, आनन्द या दुःख क्या है, परन्तु न्याय क्या है इसका स्पष्ट उत्तर देने में प्रत्येक व्यक्ति समर्थ नहीं हो सकता। यह एक विषयपरक (subjective) धारणा है। इसी प्रकार दैवी कानून, प्राकृतिक कानून, प्राकृतिक न्याय, सत्विवेक आदि की धारणाओं से बेंथम को कोई सहानुभूति नहीं थी, क्योंकि वे सब भावनामूलक धारणाएँ थीं।

बेंथम का राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त

राज्य का स्वरूप—सुखवाद पर आधारित उपयोगिता का सिद्धान्त बेंथम की राज्य सम्बन्धी धारणा का प्रमुख तत्त्व है। बेंथम ने राज्य की व्याख्या या परिभाषा करने में न तो दार्शनिक तर्कों का सहारा लिया है और न भावना या कल्पनामूलक विवेकवाद का। प्रत्युत् राज्य की धारणा को वह उसके उद्देश्य (उपयोगिता) के आधार पर व्यक्त करता है। बेंथम के मत से 'यदि किसी जन-समूह में कुछ सदस्यों के अन्दर एक या अधिक अन्य सदस्यों की आज्ञा का पालन करने की आदत विद्यमान रहती है तो वह सम्पूर्ण जन-समूह एक राजनीतिक समाज (राज्य) का निर्माण करता है।' राज्य की यह धारणा उसके वैदिक स्वरूप का आभास कराती है। उद्देश्य के आधार पर राज्य को ऐसे व्यक्तियों का समूह बताया गया है जो उपयोगिता की अभिवृद्धि (अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख प्रदान) करने तथा उसे बनाए रखने के लिए संगठित हुए हैं। इस दृष्टि से बेंथम की दृष्टि में राज्य का उद्देश्य सीमित नहीं है, अपितु उसका मुख्य उद्देश्य अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख की अभिवृद्धि करना है। व्यक्ति राज्य की आज्ञा का पालन भी इसलिए करते हैं कि उसका उद्देश्य उपयोगिता (सुख) की अभिवृद्धि करना है।

बेंथम द्वारा प्रतिपादित राज्य की यह धारणा उसके पूर्ववर्ती संविदावादियों की धारणा से बिल्कुल भिन्न है। संविदावादियों ने राज्य का मर्यादित उद्देश्य बताया था, अर्थात् राज्य का कार्य-क्षेत्र संविदा की शर्तों तक सीमित था। बेंथम राज्य की उत्पत्ति के संविदा सिद्धान्त का उपहास करता है। उसके मत से यदि किसी समय हमारे पूर्वजों ने राज्य के निर्माण की संविदा पर हस्ताक्षर किये थे या नहीं किये थे तो इससे क्या अन्तर पड़ता है? मानव को एक राजनीतिक संगठन के रूप में संगठित करने का कारण संविदा नहीं हो सकता, अपितु उपयोगिता की धारणा उन्हें इस

[1] Justice is the end of the Government.

रूप में संगठित करती है और इसी के आधार पर वे राज्य की आज्ञा का पालन करते हैं। बेंथम की दृष्टि में राज्य साध्य नहीं है अपितु व्यक्तियों के लिए अधिकतम सुख की अभिवृद्धि करने का साधन है। साथ ही वह व्यक्ति से पूर्व भी नहीं है। यहाँ पर बेंथम अरस्तू के विपरीत व्यक्ति को राज्य से पूर्व मानता है। यद्यपि प्लेटो तथा अरस्तू की धारणा में भी राज्य का उद्देश्य उत्तम जीवन की प्राप्ति माना गया था, तथापि राज्य के स्वरूप के सम्बन्ध में बेंथम की धारणा उनसे नहीं मिलती। वह राज्य को एक नैसर्गिक समुदाय नहीं मानता। इस प्रकार बेंथम की धारणा का राज्य न तो दैवी है न संविदा द्वारा निर्मित और न ही व्यक्ति से पूर्व, अपितु वह उपयोगिता की दृष्टि से संगठित व्यक्तियों का समूह है। बेंथम ने राज्य को एक सावयव के रूप मे चित्रित करने का प्रयास भी नहीं किया है।

सम्प्रभुता—बेंथम ने सम्प्रभुता की धारणा की दार्शनिक या पारिभाषिक व्याख्या तो नहीं की है, परन्तु अपने उपयोगिता के सिद्धान्त के आधार पर उसने राज्य की सर्वोच्च सम्प्रभुसत्ता को स्वीकार किया है। राज्य का उद्देश्य अपने सदस्यों के अधिकतम सुख की अभिवृद्धि करना है। राज्य की सर्वोच्च सत्ता को बेंथम सुख के चार स्रोतों के आधार पर समझाता है। इन स्रोतों में से भौतिक स्रोत प्रकृति के सामान्य क्रम में कार्य करता है, नैतिक स्रोत समाज की सामान्य जनभावना के रूप में और धार्मिक स्रोत इहलौकिक या पारलौकिक जीवन में एक मानवेतर अदृश शक्ति के रूप में कार्य करता है। राजनीतिक स्रोत के कार्य का माध्यम शासन है। शासन-संचालन के लिए कानून की आवश्यकता होती है और यह कार्य राज्य करता है। इस प्रकार बेंथम राज्य और सरकार के मध्य भेद करता है। राज्य सम्पूर्ण जन-समुदाय है। राज्य की सत्ता कानून-निर्माण की अन्तिम शक्ति रखती है। सरकार राज्य के अन्तर्गत वह छोटा-सा संगठन है जो राज्य की इच्छा (कानून) तथा उद्देश्य (अधिकतम सुख) को कार्यान्वित करता है। राज्य के अन्दर अन्य संवास या संस्थाएँ कानून-निर्माण का कार्य नहीं करतीं। राज्य उनका भी नियमन करता है। इस प्रकार राज्य सम्प्रभु है।

कानून तथा स्वतन्त्रता—चूँकि राज्य ही एकमात्र कानून का निर्माता है अतः वह अपने सदस्यों के सुखी जीवन की प्राप्ति के लिए कानून के माध्यम से कार्य करता है। कानून का उद्देश्य आदेश देना तथा प्रतिबन्ध लगाना है। अतः कानून तथा स्वतन्त्रता में विरोध है। परन्तु सुख की अभिवृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि स्वतन्त्रता के ऊपर कानून का प्रतिबन्ध हो। यद्यपि बेंथम यह मानता है कि मनुष्य अपने ही सुख को महत्त्व देता है, तथापि उपयोगिता का सिद्धान्त केवल व्यक्तिगत सुख तक ही सीमित नहीं है। मनुष्य की स्वार्थी प्रवृत्ति अन्य लोगों के सुख में बाधक सिद्ध हो सकती है। अतः ऐसी स्वार्थमयी प्रवृत्ति को रोकना राज्य के लिए आवश्यक है। यह उपयोगिता के सिद्धान्त से संगति रखता है कि अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख की अभिवृद्धि के निमित्त राज्य को कानून द्वारा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर नियन्त्रण लगाना चाहिए। अतः राज्य विध्यात्मक तथा निषेधात्मक दोनों रूपों में विधि-निर्माण का कार्य करेगा। वह अपने उद्देश्य (सुख की अभिवृद्धि) के निमित्त विध्यात्मक आदेश जारी करेगा और उसके मार्ग में आने वाली बाधाओं को प्रति-बन्धित करने के लिए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का निषेध भी करेगा। परन्तु कानून का क्षेत्र सीमित होता है। वह निरपेक्ष नहीं है। कानून केवल कुछ ऐसे अपराधों की

मान्यता की व्यवस्था करेगा जो व्यक्तियों के सामान्य सुख के मार्ग में बाधक कृत्यों से उत्पन्न होते हैं और जिनके निमित्त दण्ड की व्यवस्था से सुख का शेष बढ़े और दुःख का कम हो। उदाहरणार्थ, राज्य का कानून मदिरापान सदृश कार्यों को नहीं रोकेगा, क्योंकि ऐसा करना व्यवस्था को जटिलतर बना देगा। बेंथम की धारणा में यह नैतिकता का विषय है। यद्यपि नैतिकता का उद्देश्य भी सुख की अभिवृद्धि करना होता है, तथापि उसका क्षेत्र व्यक्तिपरक कार्यों तक सीमित रहता है। यह कानून के क्षेत्र से बाहर की चीज है। बेंथम के शब्दों में, 'विधायन तथा नैतिकता दोनों का केन्द्र एक है परन्तु परिधि समान नहीं है।' वैयक्तिक स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में बेंथम का मत है कि राज्य स्वतन्त्रता की अपेक्षा व्यक्ति के सुख को अधिक महत्त्व देगा। राज्य का उद्देश्य अधिकतम सुख की अभिवृद्धि करना है न कि अधिकतम स्वतन्त्रता की।

कानून तथा नैतिकता के मध्य मुख्य अन्तर यह है कि नैतिकता का सम्बन्ध व्यक्ति से तथा कानून का समाज से होता है। नैतिकता बलपूर्वक नहीं लायी जा सकती, परन्तु कानून का पालन बल-प्रवृती शक्ति द्वारा कराया जा सकता है। बेंथम ने कानून के चार उद्देश्य बताये है: (1) सुरक्षा (security), (2) आजीविका (subsistence), (3) प्रचुरता (abundance) और (4) समानता (equality)। परन्तु बेंथम यह भी मानता है कि इन चारों उद्देश्यों के मध्य परस्पर टकराव भी हो सकता, यथा समानता और प्रचुरता एक-दूसरे के मार्ग में बाधक सिद्ध हो सकती हैं। इसी प्रकार सुरक्षा तथा प्रचुरता की उपलब्धि साथ-साथ नहीं हो सकती। बिना आजीविका के अन्य उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो सकती। अतः विधायक को विधि-निर्माण के समय इन परस्पर विरोधी उद्देश्यों के मध्य सामंजस्य बनाये रखने का ध्यान रखना पड़ेगा। कानून की उपयोगिता तभी है जबकि उसे लागू किया जाय। परन्तु यह भी सम्भव है कि कभी कोई कानून जिस उद्देश्य से निर्मित किया जाता है, उसे लागू करने में वह उद्देश्य ही समाप्त हो जाय। इस बात का विवेचन बेंथम ने अपनी रचना 'The Defence of Usury' में किया है। उसका मत है कि सूदखोरी (अत्यधिक ब्याज की दर पर रुपया उधार लगाना) यदि बुराई है, और कानून द्वारा इस प्रथा को बन्द किया जाय, तो यह सम्भव है कि इसके परिणामस्वरूप अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख प्राप्त न हो सके और सूद पर रुपया लेने वालों को कठिनाई का सामना करना पड़े। अतः इस प्रथा को समाप्त करने के लिए कानून बनाना उचित नहीं है। बेंथम का मत है कि कानून का समुचित रूप से परिपालन कराने के लिए यह आवश्यक है कि कानून जन-इच्छा को प्रतिबिम्बित करे। उत्तम कानून वही है जिसका पालन जनता स्वेच्छा से करती है। उत्तम कानून में स्थायित्व, कुशलता तथा जन-कल्याण की भावना होनी चाहिए। कानून सरल तथा स्पष्ट हो और कानून के साथ उसकी प्रस्तावना भी होनी चाहिए, जो कानून के उद्देश्य को व्यक्त करती है।

बेंथम ने प्राकृतिक कानून तथा प्राकृतिक अधिकारों की धारणाओं को भी निराधार बताकर उनका उपहास किया है। वह इनके अस्तित्व तक को स्वीकार नहीं करता और उन्हें मूर्खतापूर्ण विचार कहता है। प्राकृतिक स्वतन्त्रता तथा नागरिक स्वतन्त्रता के मध्य बेंथम ने भेद किया है। उसके मत से प्राकृतिक स्वतन्त्रता मनुष्य को स्वेच्छा से किसी भी कार्य को करने की प्रेरक है, जो किसी भी राजनीतिक

समाज में अवांछनीय है, इसके विपरीत नागरिक स्वतन्त्रता मनुष्य को उन कार्यों को करने की स्वतन्त्रता देने की प्रतीक है जो समाज के हितों से संगति रखते हों। अच्छे कानून नागरिक स्वतन्त्रता की अभिवृद्धि करने में सहायक सिद्ध होते हैं, भले ही उनके द्वारा प्राकृतिक स्वतन्त्रताओं का अतिक्रमण किया जाय। बेंथम इस धारणा को वांछनीय नहीं मानता कि प्रत्येक व्यक्ति अपने सुखों का निर्णायक स्वयं होता है। यह धारणा उपयोगिता के सिद्धान्त से असंगतिपूर्ण है क्योंकि उपयोगिता का सिद्धान्त सामान्य सुख का उद्देश्य रखता है। भले ही बेंथम के विचार व्यक्तिवादी हैं और वह व्यक्तिगत सुख को सामान्य सुख का पूर्वगामी मानता है, तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में वह व्यक्तिवादियों की यद्भाव्यम् की नीति का समर्थक नहीं है। वह सामान्य सुख की अभिवृद्धि तथा उपलब्धि के निमित्त राज्य की सुरक्षा को व्यक्ति की स्वतन्त्रता से अधिक महत्त्व देता है।

बेंथम की दृष्टि में राज्य व्यक्ति के लिए एक न्यासधारी के तुल्य है। बेंथम सुरक्षा को स्वतन्त्रता से भी अधिक महत्त्व देता है। वह राज्य को क़ानून का एकमात्र निर्माता तो मानता ही है, साथ ही अधिकारों का एकमात्र स्रोत भी वह राज्य को ही मानता है। उसके मत से स्वतन्त्रता साध्य नहीं है। सम्पत्ति के सम्बन्ध में उसके विचार लॉक से मिलते-जुलते हैं। व्यक्ति की सुरक्षा तथा सुख के लिए सम्पत्ति आवश्यक है। बेंथम के मत से सार्वजनिक हित में किसी व्यक्ति की सम्पत्ति का अधिग्रहण बिना प्रतिकर दिये नहीं किया जाना चाहिए। परन्तु वह सम्पत्ति को प्राकृतिक अधिकार के रूप में नहीं मानता। वह इसे भी क़ानून की उपज मानता है। परन्तु वह सम्पत्ति के सार्वजनिक स्वामित्व को उचित नहीं मानता। साथ ही सम्पत्ति के पुनर्वितरण सम्बन्धी क़ानूनों के अन्तर्गत यदि कुछ सम्पत्तिशाली लोगों की सम्पत्ति दीनों को दी जाय तो उसके आधार पर वह यह स्वीकार नहीं करता कि धनवानों निराशा गरीबों की प्रसन्नता को कम कर देगी। बेंथम व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार सीमित रूप में ही देता है, अर्थात् यदि राज्य का विरोध निरन्तर राज्य की आज्ञाकारिता की अपेक्षा कम दुःख देने वाला हो तो बेंथम ऐसे विरोध को मान्यता देता है। परन्तु वह व्यक्ति के ऐसे अधिकार को स्वीकृति नहीं देता, क्योंकि राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के किन्हीं अधिकारों की मान्यता बेंथम ने नहीं दी है।

लोकतन्त्र—बेंथम राज्य की लोकतन्त्री व्यवस्था का समर्थन करता है। वह यह मानता है कि राज्य की सत्ता जिन थोड़े से लोगों के हाथ में होती है, वे स्वभावतः स्वार्थी होते हैं, अतः वे निरन्तर अपने ही हित साधन में लगे रहेंगे तो सामान्य सुख की कल्पना नहीं की जा सकती। यदि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक के ऊपर नियन्त्रण रखेगा तो राज्य या शासन में किसी की भी प्रमुखता नहीं रह पायेगी। प्रत्येक व्यक्ति के स्वार्थी हितों को उस सीमा तक दबाया जा सकेगा जिस सीमा तक वे सबके हितों से साम्य नहीं रखेंगे, और जो भी निर्णय लिये जायेंगे वे सबकी सहमति से लिये जायेंगे। बेंथम ने 'एक व्यक्ति एक मत' (each to count for one and no one to count for more than one) के लोकतन्त्री सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। बेंथम इस तथ्य से अनभिज्ञ नहीं था कि आधुनिक राज्यों का लोकतन्त्री शासन प्रतिनिध्यात्मक ही हो सकता है। अतः उसके समक्ष यह प्रश्न था कि प्रतिनिधि भी अपने निजी स्वार्थों से प्रेरित होकर अपने ही हित में विधायन कार्य करेंगे तो ऐसी स्थिति में सामान्य सुख की धारणा समाप्त हो जावेगी। बेंथम ने सुझाव दिया है कि

प्रतिनिधियों के विश्वास को न्यूनतम करके तथा उनके ऊपर नियन्त्रण को अधिकतम करके और लोक-सेवकों को विविध सांविधानिक युक्तियों द्वारा बेचैन बनाये रखने से उन्हें जनता पर अधिकाधिक निर्भर बनाया जा सकता है। ये वैधानिक उपाय हैं—सार्वभौम वयस्क मताधिकार, संसद के वार्षिक चुनाव, गुप्त मतदान प्रणाली, प्रधान-मन्त्री का संसद द्वारा चयन, लोक सेवाओं मे प्रतियोगिता परीक्षा के आधार पर नियुक्तियाँ आदि। इस प्रकार जब शासकों पर निरन्तर जनता का अकुश बना रहेगा तो वे भी सद्गुण-सम्पन्न हो सकेंगे। बेंथम की दूसरी लोकतन्त्री धारणा समानता की है। वह सार्वजनिक नीतियों के सम्बन्ध में प्रत्येक व्यक्ति को समान अधिकार देने, कानून के समक्ष समानता तथा सम्पत्ति के समानीकरण के कार्य को राज्य का प्रमुख दायित्व मानता है। वह यह नहीं मानता कि प्रकृतितः सब मानव समान हैं, परन्तु वह यह स्वीकार करता है कि जिस समाज में सदस्यों के मध्य अत्यधिक असमानता बनी रहती है उस समाज में अधिकतम व्यक्तियों के लिए अधिकतम सुख की उपलब्धि सम्भव नहीं हो सकती।

बेंथम की सुधार योजना

आधुनिक राजनीतिक विचारधाराओं के अन्तर्गत उपयोगितावाद यद्यपि एक नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक तर्कों पर आधारित विचारधारा है, तथापि इसे केवल एक राजनीतिक विचारधारा ही नहीं मानना चाहिए प्रत्युत् यह मुख्यतया एक 'सुधारवादी' विचारधारा है। इसके प्रतिपादक बेंथम को एक राजनीतिक दार्शनिक मानने की अपेक्षा एक समाज-सुधारक मानना अधिक उपयुक्त होगा। बेंथम ने राज्य तथा सरकार की धारणाओं का दार्शनिक विवेचन करने की अपेक्षा तत्कालीन सामाजिक जीवन की बुराइयों को दूर करने के उद्देश्य से भौतिकवादी सुखवाद का अवलम्बन करके राज्य के उद्देश्य तथा कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध में एक व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया है। भले ही सुखवाद पर आधारित उसके उपयोगिता के सिद्धान्त में अनेक त्रुटियाँ रह गयी हों, जिनके आधार पर उनकी पर्याप्त आलोचना हुई है, तथापि इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के निमित्त उसने शासन के विभिन्न क्षेत्रों में जिन सुधारों की योजना रखी थी उनमें कोई त्रुटि ढूँढ़ना सरल नहीं है। बेंथम द्वारा सुझायी गयी सुधार योजनाओं को निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जा सकता है :

(1) **शासन-प्रणाली में सुधार**—यों तो बेंथम किसी भी शासन-प्रणाली को (चाहे वह राजतन्त्र हो, कुलीनतन्त्र हो या लोकतन्त्र) उचित मानता है, बशर्ते कि उसका उद्देश्य एवं व्यवहार दोनों रूपों में अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख प्रदान करना हो। परन्तु व्यवहार में उसने यह प्रतीत किया कि तत्कालीन समाजों के अन्तर्गत जो राजतन्त्री व्यवस्थाएँ कायम थीं, उनमें वर्गतन्त्र, सामन्तशाही, नौकरशाही आदि का प्रभुत्व बढ़ता जा रहा था जिसके कारण जनता को अधिकतम सुख की उपलब्धि सम्भव नहीं थी। अतः उसने प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र का समर्थन किया और प्रतिनिधियों तथा प्रशासकों के ऊपर समुचित नियन्त्रण की व्यवस्था सुझायी। बेंथम को तत्कालीन राजा जार्ज तृतीय के आचरण से बहुत घृणा हो गयी थी। अतः वह इंग्लैण्ड के लिए गणतन्त्री व्यवस्था का समर्थक हो गया था। उसने राजा का खुला विद्रोह किया। बेंथम ने गुप्त मतदान, सार्वभौम वयस्क मताधिकार, तथा

कॉमन सभा के वार्षिक चुनावों का भी सुझाव दिया है, जिससे प्रतिनिधियों में जनहित के निमित्त कार्य करने की प्रेरणा उत्पन्न हो। कुलीनतन्त्री लार्ड सभा को जो सार्वजनिक हितों के प्रति उदासीन रहती है, भंग कर देने का सुझाव भी बेंथम ने दिया था। सार्वजनिक सेवाओं में नियुक्तियों के लिए प्रतियोगिता परीक्षा करने का सुझाव भी उसने दिया है, ताकि लोक सेवाएँ दक्ष तथा जनहित में कार्य करने वाली सिद्ध हो सकें। प्रधानमन्त्री का चयन संसद द्वारा किये जाने की व्यवस्था मन्त्रिमण्डल के ऊपर लोक-प्रतिनिधियों के नियन्त्रण को प्रभावी बनाने की योजना थी। यद्यपि उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में बेंथम ने उपर्युक्त सुझावों को दिया था और तत्कालीन परिस्थितियों में उन्हें कार्यान्वित किये जा सकने की कल्पना नहीं की जा सकती थी, तथापि इंग्लैण्ड की शासन-व्यवस्था में संसद के वार्षिक चुनावों के अतिरिक्त उक्त सभी आधार आज तक हो चुके हैं और अधिकांश लोकतन्त्री देशों में भी वे लागू हो रहे हैं। लार्ड सभा का भले ही विघटन नहीं किया गया है, तथापि लार्ड सभा की शक्तियों को जिस रूप में समाप्त कर दिया गया है, उसके कारण अब उसे महत्त्वहीन ही माना जा सकता है। कॉमन सभा का कार्यकाल भी 7 वर्ष से घटाकर 5 वर्ष कर दिया गया है। इन सबके आधार पर यह कहना सर्वथा उपयुक्त है कि बेंथम की शासन-सुधार सम्बन्धी योजनाएँ व्यावहारिक थीं न कि स्वप्नलोकी।

(2) विधि-निर्माण के क्षेत्र में सुधार—बेंथम स्वयं एक विधिवेत्ता था। उसने शासन सम्बन्धी सुधारों के निमित्त विधि-निर्माण पर बल दिया और शासन प्रणाली के निमित्त जो उपर्युक्त सुधार उसने सुझाये हैं, उन्हें क्रान्ति द्वारा कार्यान्वित करने की बात उसने नहीं कही। प्रत्युत् विधि-निर्माण करके उन्हें लागू करने की व्यवस्था बतायी थी। उपर्युक्त के अतिरिक्त उसने शासन व्यवस्था के और अधिक लोकतन्त्रीकरण के निमित्त स्थानीय स्वशासन-संस्थाओं को और अधिक प्रभावशाली बनाने का भी सुझाव दिया था। बेंथम के समय में दण्ड तथा व्यवहार संहिताएँ उपयोगिता के सिद्धान्त की दृष्टि से दोषपूर्ण थीं। छोटे-छोटे अपराधों के लिए भी कठोर तथा अमानवीय दण्ड की व्यवस्था थी। साथ ही दण्ड का उद्देश्य भी उपयोगिता के सिद्धान्त से असंगतिपूर्ण था। दण्ड को प्रतिशोध या निवारक के रूप में आर्थिक महत्त्व दिया जाता था। अतः बेंथम का सुझाव था कि दण्ड संहिता में कानून द्वारा इस प्रकार सुधार किया जाये कि—

(क) दण्ड अपराध के अनुकूल हो, अर्थात् अपराध की गरिमा तथा सम्बन्धित दण्ड के मध्य साम्य रखना चाहिए।

(ख) दण्ड का उद्देश्य केवल अपराधी को यातना देना नहीं होना चाहिए, अपितु उसका उद्देश्य निवारक तथा सुधारक दोनों का सम्मिश्रण होना चाहिए।

(ग) दण्ड का स्वरूप अपराधी की आयु, लिंग, अपराध करने की परिस्थितियों आदि के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकार का होना चाहिए, न कि सबके लिए समान।

(घ) दण्ड देने से पूर्व अपराधी के उद्देश्य, परिस्थितियों, मानसिक स्थिति आदि बातों का भली-भाँति विचार कर लेना चाहिए और उसके आधार पर ही दण्ड को निर्धारित किया जाना चाहिए।

(ङ) दण्ड देकर अपराधी को नारकीय जीवन व्यतीत करने की स्थिति में नहीं रखा जाना चाहिए, प्रत्युत् दण्ड के कारण उसे अपने अपराध के बारे में पश्चाताप करने तथा भविष्य में अपने को एक अच्छा नागरिक सिद्ध कर सकने का अवसर

मिलना चाहिए।

बेंथम के अनुसार इंग्लैण्ड में प्रचलित तत्कालीन व्यवहार संहिता भी अनुपयोगी थी। ऋण लेने तथा सम्पत्ति के नियमन सम्बन्धी कानूनों का उद्देश्य थोड़े से सम्पन्न व्यक्तियों के हितों को सम्पन्न करना था। इसके कारण गरीब लोगों का शोषण होता था। बेंथम ने व्यवहार संहिता में इन बुराइयों को दूर करने के उद्देश्य से सुधार करने के सुझाव दिये हैं। इनके अतिरिक्त बेंथम ने दीन-गृहों, बचत बैंकों, राष्ट्रीय शिक्षा, जहाजरानी आदि विविध बातों के सम्बन्ध में विधि-निर्माण द्वारा सुधार करने की व्यवस्था पर बल दिया।

(3) **जेलों में सुधार**—बेंथम तत्कालीन अमानवीय प्रकृति की दण्ड-व्यवस्था को उपयोगिता की दृष्टि से अवांछनीय समझता था। अपराधियों को जेलों में नारकीय जीवन व्यतीत करना पड़ता था। बेंथम के मत से दण्ड का सुधारात्मक उद्देश्य पूर्ण करने के निमित्त जेलों की व्यवस्था मे भी सुधार आवश्यक था। जेलों में कैदियों को व्यावसायिक तथा औद्योगिक शिक्षा देने के साथ-साथ नैतिक शिक्षा देने की व्यवस्था भी उसने सुझायी थी। जेल के वातावरण को अनुकूल बनाने के लिए उसने सुझाव दिया था कि कैदियों के रहने वाली बैरकों को अर्द्ध वृत्ताकार इमारतों में बनाया जाय और कारागार के अधीक्षक का निवास-स्थान उनके सामने केन्द्र पर स्थित हो ताकि वह एक साथ सभी बैरकों पर दृष्टि रख सके। इस धारणा को साकार करने में बेंथम ने अपने भाई सेमुअल बेंथम से जो एक इन्जीनियर था, प्रेरणा लेकर इतना उत्साह दिखाता था कि उसने स्वयं ऐसी इमारतें निर्मित करने का जोखिम उठाने और स्वयं जेल का अधीक्षक बनने का प्रस्ताव किया। परन्तु बाद में संसद का उसे समर्थन नहीं मिला, परन्तु संसद ने बेंथम को 23,000 पौण्ड की धनराशि उसे प्रतिकर के रूप में प्रदान कर दी। उसकी इस योजना के मार्ग में सम्राट जार्ज तृतीय ने बाधा डाली, जो इसके लिए उत्सुक नहीं था।[1] बेंथम ने यह सुझाव भी दिया कि शासन को यह व्यवस्था करनी चाहिए कि कोई अपराधी जब कारागार से मुक्त होता है तो उसे तब तक रोजगार दिया जाय जब तक कि वह स्वयं आत्मनिर्भर जीवन व्यतीत करने में समर्थ नहीं हो जाता।

(4) **न्याय-प्रणाली में सुधार**—बेंथम ने कहा है कि 'हमारे कानून न्यायाधीशों द्वारा अपने ही नाम के लिए बनाये जाते हैं।' अतः न्यायिक कार्य जटिल हो गया है। बेंथम का निष्कर्ष था कि उसके युग में इंग्लैण्ड में न्याय बिकता था। वह जनसाधारण को सुलभ नहीं था, क्योंकि वह अत्यन्त व्ययशील था। न्यायिक प्रक्रिया इतनी जटिल थी कि कोई भी पक्ष न्यायिक विवादों में बिना वकीलों की सहायता के अपना पक्ष न्यायाधीशों के समक्ष प्रस्तुत नहीं कर पाता था। बेंथम के मत से न्यायालय न्यायाधीशों तथा वकीलों की एक संयुक्त व्यावसायिक कम्पनी' (The Judges and Co.) के सदृश थे। न्याय का लाभ सम्बद्ध पक्षों को इतना नहीं हो पाता था, जितना वकीलों को। अतः बेंथम ने न्यायिक संगठन तथा न्यायिक प्रक्रिया में सुधार करने का सुझाव दिया। उसने इस बात पर विशेष जोर दिया कि न्यायिक प्रक्रिया में ज्यूरी पद्धति काम में लायी जाय ताकि न्यायाधीशों की मनमानी पर कुछ अंकुश लग सके। न्यायालयों में एक न्यायाधीश की व्यवस्था की जाय। अधिक न्यायाधीशों के होने से उत्तरदायित्व बँट जाता है और न्याय की कुशलता नहीं रह पाती। न्यायाधीशों

[1] Davidson, *Political Thought in England*, 73-74.

की नियुक्ति योग्यता तथा प्रशिक्षण के आधार पर की जानी चाहिए।

(5) शिक्षा-सुधार—बेंथम के मत से उपयोगितावादी नैतिकता की उपलब्धि के लिए शिक्षा-प्रणाली में भी सुधार आवश्यक था। अतः उसने शिक्षा की एक राष्ट्रीय योजना के निर्माण की आवश्यकता को महत्त्वपूर्ण बताया। उसके अनुसार शिक्षा का पाठ्यक्रम उपयोगिता के सिद्धान्त पर आधारित होना चाहिए। शिक्षा का स्वरूप ऐसा हो कि उससे विद्यार्थी को सुखी तथा आत्मनिर्भर जीवन व्यतीत करने का अवसर मिल सके। शिक्षा का पाठ्यक्रम 'सरल से जटिल की ओर' चलने के सिद्धान्त पर निर्मित किया जाना चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य ज्ञान की वृद्धि तथा ज्ञान के प्रति अभिरुचि जागृत करना होना चाहिए, ताकि शिक्षार्थी एक उत्तम नागरिक जीवन व्यतीत करने में समर्थ हो सकें। इसीलिए उसने मताधिकार के लिए किंचित। स्तर की शैक्षिक अर्हता निर्धारित किया जाना आवश्यक माना था। बेंथम ने धनी तथा दीन दोनों वर्गों के बच्चों की शिक्षा की योजनाएँ प्रस्तुत की हैं। उसका मत था कि अत्यन्त गरीब लोगों के बच्चे भीख माँग कर या अन्य ऐसे साधनों से आजीविका चलाने का प्रयास करते हैं, जो अनुचित है। अतः ऐसे बच्चों की शिक्षा के लिए विद्यालयों में उनकी आदतों के सुधार, उन्हें कुछ व्यवसाय सिखाने तथा बौद्धिक ज्ञान की वृद्धि करने के पाठ्यक्रम होने चाहिए। धनी लोगों के बच्चों की शिक्षा में एकता तथा सहचार की भावना उत्पन्न करने की व्यवस्था होनी चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य बौद्धिक ज्ञान की अभिवृद्धि हो, न कि आवश्यक रूप से नैतिक या धार्मिक शिक्षा देना। स्कूलों में व्यावहारिक जीवन में सहचार अनुशासन आदि की शिक्षा भी देनी चाहिए। इसके लिए बेंथम ने मानीटर पद्धति को लागू करने का सुझाव दिया है। विद्यालय-प्रबन्ध, अध्यापकों के प्रशिक्षण तथा विद्यालयों में सहचार से कार्य करने की व्यावहारिक शिक्षा पर भी उसने बल दिया था। पाठ्यक्रमों के अन्तर्गत प्राकृतिक विज्ञान, जीव-विज्ञान तथा सामाजिक जीवन से सम्बद्ध विषयों की शिक्षा को उसने अधिक महत्त्व दिया था। वह ग्रीक, लैटिन आदि के शास्त्रीय अध्ययन को महत्त्वपूर्ण नहीं मानता था।

(6) अर्थव्यवस्था—बेंथम के आर्थिक विचार एडम स्मिथ के व्यक्तिवादी विचारों से प्रभावित थे। परन्तु स्मिथ के द्वारा सूदखोरी की समाप्ति का समर्थन करने में बेंथम ने इस आधार पर उसकी आलोचना की है कि यह बात एडम स्मिथ के विचारों से स्वयं असंगति रखती है। वह आर्थिक क्षेत्र में व्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता का समर्थन करते हुए भी इस प्रथा को समाप्त करना चाहता है। बेंथम के आर्थिक विचार व्यक्तिवादी हैं। वह उन्मुक्त व्यापार तथा उन्मुक्त प्रतियोगिता का समर्थक है। इन्हें वह राष्ट्रीय सम्पत्ति की अभिवृद्धि के लिए उचित मानता है। परन्तु वह उपनिवेशवाद का विरोधी है। वह इसे मातृभूमि की सम्पन्नता का उचित स्रोत नहीं मानता। उसका मत है कि पूँजी का विनियोजन करने के लिए उपनिवेश आवश्यक नहीं है और न ही उचित साधन है। पूँजी को मातृभूमि में ही अन्य व्यवसायों में लगाया जा सकता है। इसी प्रकार वह व्यवसाय तथा उद्योग के क्षेत्र में एकाधिकारवाद का भी विरोधी है, इसे वह कृत्रिम व्यवस्था मानता है। आर्थिक क्षेत्र में वह सरकारी नियन्त्रण को उसी सीमा तक उचित मानता है जहाँ तक कि वह उपयोगिता के सिद्धान्त से संगतिपूर्ण हो।

बेंथम के विचारों की समीक्षा

आलोचना—बेंथम अठारहवीं से उन्नीसवीं सदी के संक्रमण काल का विचारक था। संक्रमण काल के विचारों को सही-सही रूप मे प्रस्तुत कर सकना बहुत सरल कार्य नहीं होता। एक ओर पूर्व के काल की प्रवृत्तियों का प्रभाव चिन्तक पर बना रहता है तो दूसरी ओर उसे नये युग की आधारशिला रखने मे प्राचीन तथा वर्तमान के मध्य समुचित तारतम्य भी बनाये रखना पड़ता है। अठारहवीं सदी के अन्त तथा उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में बेंथम ने राजनीतिक समस्याओं के सम्बन्ध में जिस रूप की चिन्तन-प्रणाली अपनायी उसके कारण बेंथम को आधुनिक चिन्तन-धारा का सर्वप्रथम विचारक होने की स्थिति प्राप्त होती है। परन्तु जैसा डब्ल्यू० टी० जोन्स का कथन है, 'हम कई दृष्टियों से बेंथम से सामीप्य रखते है; अन्य दृष्टियों में हम मैकियाविली की तुलना में बेंथम से कहीं अधिक दूर हैं। कुछ दृष्टियों से बेंथम अपने जन्म की शताब्दी (अठारहवी) का चिन्तक है तो अन्य दृष्टियों से उसका राज-दर्शन उन्नीसवीं तथा बीसवी शताब्दियों का परिचायक सिद्ध होता है।'[1] बेंथम के उपयोगितावाद के स्रोत सत्रहवीं तथा अठारहवी सदी के बुद्धिवादी तथा विवेकवादी विचारक तथा स्वय उसके युग की परिवर्तित परिस्थितियों में व्यक्त की गयी उदारवादी विचारधाराएँ, एडम स्मिथ के विचार, आदि थे। यद्यपि बेंथम ने प्राकृतिक कानून, प्राकृतिक अधिकार तथा सविदावादी राजनीतिक विचारधाराओं का उपहास करके उन्हें त्यागा था, तथापि उसका सुखवादी मनोवैज्ञानिक दर्शन तथा उस पर आधारित उसके राजनीतिक विचार उसे पुनः सत्रहवीं तथा अठारहवी सदी की तार्किकता से मुक्त नहीं कर पाये। उदाहरणार्थ, उसने लॉक की भाँति व्यक्ति के सम्पत्ति के अधिकार को मान्य किया है, परन्तु इसके सम्बन्ध में उसका तर्क लॉक के विपरीत प्राकृतिक अधिकार न होकर उपयोगिता (अधिकतम सुख) तथा सुरक्षा है। बेंथम अपने सुखवादी दर्शन का प्रतिपादन करने में अपने को हॉब्स तथा लॉक की भाँति व्यक्तिवादी ही बनाये रखने में सहायक सिद्ध हुआ है। यद्यपि उसने जिन राजनीतिक, प्रशासनिक या सामाजिक सुधारों की योजना रखी थी, उसके आधार पर वह एक उग्रवादी सुधारक प्रतीत होता है तथापि इससे उसकी रूढ़िवादिता या टोरीपन दूर नहीं हुआ। फिर भी वह एक उग्रवादी विचारक है।

वेपर का मत है कि बेंथम 'एक महान् दार्शनिक था, यद्यपि यह एक विडम्बना है कि वह दर्शन के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रखता है।'[2] उसके दर्शन पर हॉब्स, लॉक, ह्यूम, हेल्वेशस, एडम स्मिथ आदि का पर्याप्त प्रभाव है। अतः उसमें मौलिकता नहीं रह पायी है। अपने विचारों के सम्बन्ध में उसके पक्षपाती रुख तथा आत्मतुष्टि के होते हुए भी वह भ्रमजाल में फंस गया है और उसके विचारों में भारी विरोधाभास है। बेंथम एक ओर व्यक्ति को स्वार्थी तथा निरन्तर अपने ही सुख की कामना करने वाला मानता है तो दूसरी ओर ऐसे व्यक्ति से वह सार्वजनिक कर्त्तव्यों की अपेक्षा भी करता है। स्वार्थहित तथा लौकिक कर्त्तव्य के मध्य कैसे सम्बन्ध स्थापित होगा, इसका कोई प्रमाण वह नहीं दे पाया। वह मानव को सुख तथा दुःख की सम्प्रभुसत्ता के अधीन मानता है, जो उसके समस्त कार्यकलापों का निदेशन तथा नियन्त्रण करते हैं। परन्तु बेंथम यह नहीं बताता कि ये सत्ताएँ उसे

[1] W. T. Jones, *Masters of Political Thought*, vol. 9, 380-81.
[2] C. L. Wayper, *op. cit.*, 99.

अपने ही आनन्द की खोज करने की प्रेरणा देती हैं या सार्वजनिक आनन्द की।

कार्लाइल ने बेंथम के सुखवादी दर्शन को 'सुअरों का दर्शन' कहा है, जिसका अभिप्राय यह है कि सुख तथा आनन्द के मध्य बेंथम स्पष्ट भेद नहीं कर पाया। जब बेंथम कहता है कि 'प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि सुख क्या है', तो इसका अभिप्राय यही हो सकता है कि हम भोजन इसलिए करते हैं कि भूख की तुष्टि से हमें आनन्द प्राप्त होता है, इसलिए नहीं कि हमें भूख लगी है। इसलिए केवल आनन्द की प्राप्ति के उद्देश्य से किसी कार्य को करने का अभिप्राय यह है कि हम सुख को इरादेतन प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। वेपर के मत से ऐसा सुख प्राप्त होना कठिन है। 'किसी अन्य वस्तु की प्राप्ति के उद्देश्य से तो मनुष्य सुख तथा अन्य वस्तु की प्राप्ति कर सकते हैं। इसके विपरीत सुख-प्राप्ति के उद्देश्य से मनुष्य अन्य वस्तुओं की प्राप्ति कर सकेंगे, परन्तु सुख की प्राप्ति नहीं होगी।'[1]

बेंथम ने विभिन्न सुखों तथा दुःखों के मध्य गुणात्मक भेद के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया है, यह धारणा भ्रान्त तथा असंगत है। उदाहरण के लिए, एक मनुष्य देश-प्रेम या राष्ट्र-प्रेम से प्रेरित होकर समस्त भौतिक कष्टों को सहन करने में सुख का अनुभव करता है क्या उसके इस सुख का गुणात्मक स्वरूप एक गद्दार के उस सुख के सदृश हो सकता है जो उसे देश तथा राष्ट्र-विरोधी कार्य करके अपने किसी निजी स्वार्थ की सिद्धि करने से प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त बेंथम ने सुखों तथा दुःखों के मध्य मात्रात्मक अन्तर को स्वीकार किया है और विभिन्न सुखों तथा दुःखों की नाप-तोल करने के सिद्धान्त (felicific calculus) का प्रतिपादन किया है। परन्तु सुख-दुःख के मध्य नाप-तोल का अंकात्मक सिद्धान्त भी दोषमुक्त नहीं है। विभिन्न सुखों तथा दुःखों के मध्य परिमाणगत अन्तर होने के जिन कारणों की उसने चर्चा की है उसका अंकात्मक ज्ञान कैसे हो सकेगा, इसका कोई सन्तोषजनक या व्यावहारिक समाधान वह नहीं दे पाया है। उदाहरणार्थ, प्रगाढ़ता (intursity), निश्चितता (certainty), शुद्धता (purity) आदि कारण विशुद्धतया विषयपरक (subjective) हैं, जबकि नाप-तौल का अंकात्मक सिद्धान्त वस्तुपरक (objective) है। किसी सुख की प्रगाढ़ता को कितने अंक दिये जायें, इसका कोई समाधान प्रस्तुत नहीं किया गया है। इनके सम्बन्ध में व्यक्ति-व्यक्ति की संवेदनशीलता, स्वास्थ्य, मनःस्थिति, अनुभव, आयु, लिंग आदि के भेद पर ध्यान देने की बात भी बेंथम बताता है। परन्तु ये सब भिन्नताएँ भी विषयपरक हैं; न कि वस्तुपरक। अतः अंकात्मक भेद करने में इनका ज्ञान कैसे किया जा सकेगा? यदि सुखों के मध्य ऐसा भेद करने का कोई सही समाधान नहीं है तो अधिकतम सुख अर्थात् बेंथमवादी उपयोगिता का सारा सिद्धान्त ही निराधार हो जायेगा।

बेंथम मानव को विवेकशील प्राणी मानता प्रतीत होता है, और वह मानव में संवेगों के अस्तित्व की उपेक्षा करता है। सुख-दुःख की उत्पत्ति में संवेगों को स्थान न देना उचित नहीं है और यदि उन्हें ऐसा स्थान दिया जाता है तो फिर सुख-दुःख की नाप-तौल सम्भव नहीं हो सकती। यदि नाप-तौल सम्भव नहीं है तो उपयोगिता का सिद्धान्त ही निराधार है। बेंथम ने व्यक्ति, समाज तथा सरकार को पृथक् इकाइयाँ माना है और इनके समूह को ही राज्य कहा है। परन्तु वह राज्य तथा व्यक्ति के मध्य सावयविक सम्बन्ध स्थापित करने में असफल रहा है। उसके

[1] *Ibid.*, 100.

विचारों से समाज के गुणात्मक स्वरूप का बोध नहीं होता। राजनीतिक संरचना का गणित के नियमों के आधार पर अंकेक्षण करना उचित नहीं है। समाज के निर्माण में बेंथम ने इतिहास, परम्पराओं, चेतना आदि के तत्त्वों की नितान्त उपेक्षा की है। अत: उसका समाज आणविक व्यक्तियों के ढेरमात्र से अधिक कुछ नहीं रह जाता। चूंकि बेंथम का दर्शन राज्य के सम्बन्ध में किसी निश्चित धारणा का प्रतिपादन करने में असफल रहा है, अत: उसका राज्य एवं सरकार के मध्य का भेद भी अस्पष्ट ही है। उसका उपयोगितावाद मूल रूप से शासन के कार्यकलापों का सिद्धान्तमात्र रह जाता है, न कि राज्य का सिद्धान्त।

बेंथम का उपयोगितावाद राज्य के प्रमुख उद्देश्य 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' की उपलब्धि का द्योतक है। 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' का सिद्धान्त स्वयं विरोधाभासी तथा अस्पष्ट है। उदाहरण के तौर पर दो कार्यों, क तथा ख को लें। माना कि क कार्य से 4 व्यक्तियों में से प्रत्येक को 25 इकाई सुख मिलता है, तो सुख की मात्रा $4 \times 25 = 100$ इकाई होगी और यदि ख कार्य से 25 व्यक्तियों में से प्रत्येक को 4 इकाई सुख मिलता है तो सुख की मात्रा $4 \times 25 = 100$ इकाई होगी। प्रश्न यह है कि इन दो कार्यों में से उपयोगिता की दृष्टि से किसे अपनाया जाये। क कार्य अधिकतम सुख का ख कार्य अधिकतम लोगों के सुख का द्योतक है।[1] यदि अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख की अभिवृद्धि को ही राज्य का प्रमुख उद्देश्य माना जाय तो भी यह एक हृदयहीन सिद्धान्त रह जायेगा। यह मानवीय नैतिकता के साथ अन्याय करना होगा। क्या समाज में 49% लोगों को 51% लोगों के सुख के समक्ष बलिदान कर देना उचित होगा? यदि उपयोगितावादी सिद्धान्त समस्त लोगों के अधिकतम सुख की कामना करता, जैसा कि भारत में सर्वोदय का सिद्धान्त मानता है तो उपयोगितावाद कम से कम अपने को हृदयहीनता से मुक्त कर लेता।

अन्तत:, बेंथम का सुखवादी मनोविज्ञान भी दोषपूर्ण है। यह मानना सर्वथा सही नहीं है कि मनुष्य केवल सुख ही चाहता है और वह अत्यधिक सुख चाहता है। यदि ऐसा हो तो मनुष्य में अनेक सामाजिक गुणों का विकास असम्भव हो जायेगा। बहुधा मनुष्य सामाजिक या नैतिक कर्तव्य की भावना से प्रेरित होकर भी अनेक ऐसे कार्यों को करते हैं जिनसे उन्हें व्यक्तिगत सुख की अपेक्षा अधिक कष्ट सहना पड़ता है। बेंथमवादी इसका सीधा-साधा उत्तर यह देते हैं कि मनुष्य ऐसे कार्यों के करने में कष्ट का अनुभव नहीं करते अपितु ऐसा करना उनके सुख या आनन्द की अभिवृद्धि करता है, इसलिए वे उन कार्यों को करते हैं। बेंथमवादियों की यह धारणा तथ्यों का अत्यधिक सरलीकरण कर देती है। यह धारणा अभिरुचि तथा कर्त्तव्य-पालन के मध्य भेद नहीं करती। बहुधा मनुष्य अपने कर्त्तव्य-पालन की भावना से निर्देशित होकर कष्ट सहन करके भी किसी कार्य को करता है। अत: बेंथम का यह मत सही सिद्ध नहीं होता कि मनुष्य प्रत्येक कार्य सुख-प्राप्ति के लिए ही करता है। बेंथम का मत है कि किसी कार्य की उपयोगिता का औचित्य उससे होने वाले परिणाम से ज्ञात किया जा सकता है, न कि केवल प्रयोजन से। वास्तव में किसी कार्य के प्रयोजन में सुख होते हुए भी परिणाम दु:ख-जन्य सिद्ध हो सकता है। अत: किसी कार्य की उपयोगिता के सम्बन्ध में पूर्वानुमान कैसे लगाया जा सकेगा? इस दृष्टि से भी

[1] Quoted by W. T. Jones, *op. cit.*, 373.

सुखवादी सिद्धान्त दोषपूर्ण है। संक्षेप में, बेंथम के राजनीतिक विचारों का दार्शनिक आधार अर्थात् सुखवादी मनोविज्ञान भ्रामक होने के कारण उसके अनेक विचारों में भी असंगठित का दोष उत्पन्न हो गया है।

मूल्यांकन—उपर्युक्त कमियों के बावजूद बेंथम के उपयोगितावादी राजनीतिक विचारों की महत्ता को निर्मूल कहना बेंथम के प्रति घोर अन्याय करना होगा। भले ही बेंथम को अनेक आलोचक एक दार्शनिक चिन्तक मानने में कठिनाई प्रतीत करते हैं, तथापि बेंथम की विद्वता का एक स्पष्ट प्रमाण यह है कि जितना उसने लिखा है, उतना सम्भवत: कोई अन्य चिन्तक नहीं लिख पाया। बेंथम एक कानूनवेत्ता तथा सुधारक था न कि एक राजनीतिक चिन्तक। उसके युग में राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्थाएँ सर्वत्र इतनी जटिल तथा दोषपूर्ण हो चुकी थीं कि यूरोप के लगभग सभी देशों में सुधार की माँगें बढ़ती जा रही थीं। औद्योगिक क्रान्ति के कारण मध्यम तथा निम्न मध्यमवर्गीय जन-समूह की स्थिति बहुत खराब होती जा रही थी। निरंकुश राजतन्त्रों के अन्तर्गत कुलीनतन्त्री तत्त्वों द्वारा जनसाधारण की उपेक्षा तथा शोषण किये जा रहे थे। फ्रांस में रूसो के विचारों ने 'मानव के अधिकारों' की बलवती माँग को उकसाकर महान् क्रान्ति का आह्वान किया था और क्रान्ति द्वारा सारी व्यवस्था परिवर्तित हो चुकी थी। संयुक्त राज्य अमरीका का स्वतन्त्रता-संग्राम भी इसी दिशा में एक कदम था। परन्तु इंग्लैण्ड की जनता की नैसर्गिक रूढ़िवादिता ऐसी क्रान्तियों का सहारा लेकर सामाजिक तथा राजनीतिक सुधार नहीं चाहती थी। बर्क ने फ्रांसीसी क्रान्ति की भर्त्सना की थी। वह भी एक सुधारवादी नेता था। स्वयं इंग्लैण्ड के औद्योगिक वर्ग भी सुधार चाहते थे, परन्तु वे क्रान्ति द्वारा ऐसे परिवर्तन के इच्छुक नहीं थे, अपितु कानून में सुधार करके कानून द्वारा ही सुधारों की कामना करते थे। अतएव बेंथम के विचारों ने जिन सुधारों का आह्वान किया, वे पूर्णतया ब्रिटिश परम्परा के अनुकूल थे।

बेंथम ने विधि के क्षेत्र में जिस प्रकार के सुधारों की योजना रखी थी, भले ही उन्हें वैसा स्वरूप प्राप्त नहीं हो सका है, उदाहरणार्थ, आज तक इंग्लैण्ड में कानून के संहिताकरण की दिशा में कोई कदम नहीं उठाया गया है, न लार्डसभा की समाप्ति हुई है, न कॉमन सभा के वार्षिक चुनावों की व्यवस्था की गयी है, आदि; तथापि बेंथम के विचारों को ही यह श्रेय प्राप्त होता है कि आज इंग्लैण्ड की संसद का प्रमुख कार्य संविधि-निर्माण का है और इस क्षेत्र में उसकी सत्ता प्रभुत्व-सम्पन्न है। इससे पूर्व संसद का विधायी कार्य-क्षेत्र सीमित था। कालान्तर में संसद की संविधियों द्वारा जो विविध प्रकार के सुधार किये गये, वे बेंथम की विधि के क्षेत्र में सुधार की योजना के अनुरूप हैं। डेविडसन ने कहा है कि 'यह बात उल्लेखनीय है कि बेंथम द्वारा समर्थित समस्त महान् कानूनी सुधार व्यवहार में कार्यान्वित कर लिये गये हैं।' यहाँ तक कि उसकी अभिरुचि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध में भी पर्याप्त स्पष्ट थी और इस सम्बन्ध में उसने महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। 'न्यायिक सुधारों के इतिहास में उसका स्थान पर्याप्त महत्त्व का है।'

हेनरी मेन ने उचित ही कहा है कि 'बेंथम के समय के बाद जितने भी कानून-सुधार किये गये हैं उनमें से कोई भी ऐसा नहीं है जिसमें बेंथम का प्रभाव न हो।' वेपर के मत से 'इस प्रभाव के अन्तर्गत समस्त नागरिकों के समान अधिकारों

के संरक्षण के लिए समुचित कानूनी संयन्त्र का सृजन भी शामिल है।'[1] दण्डात्मक कानून के सुधार के सम्बन्ध में बेंथम की योजना और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। अपराधों को रोकने के लिए जिस प्रकार की दण्ड-व्यवस्था का सुझाव बेंथम ने दिया था उनकी महत्ता को आज सभी राज्य व्यवस्थाएँ पर्याप्त महत्त्व देती हैं। शिक्षा में सुधार, प्रौढ़ शिक्षा की योजना, सार्वजनिक स्वास्थ्य, दीनों के सम्बन्ध में कानून की व्यवस्था आदि के निमित्त बेंथम ने जिन सुधारों को या सरकार के द्वारा किये जाने को योजना रखी थी उनके आधार पर बेंथम ने अपने युग की व्यक्तिवादी राज्य की धारणा को समष्टिवादी स्वरूप प्रदान करने तथा एक लोक-कल्याणकारी राज्य की धारणा को विकसित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। डेविडसन के शब्दों में, 'उनका (उपयोगितावादियों का) मूलमन्त्र प्रगति था और स्वतन्त्रता एवं लोक-कल्याण के प्रति उनका जो उत्साह था, वह उनकी चालक शक्ति थी।'[2] बेंथम के पश्चात् इंग्लैण्ड में जितने भी संसदीय सुधार हुए हैं, यथा वयस्क मताधिकार, महिला मताधिकार, लार्ड सभा की शक्ति को क्षीण कर देना, जनता की नागरिक स्वतन्त्रताओं में वृद्धि, आदि किसी में भी बेंथम के प्रभाव को अमान्य नहीं किया जा सकता।

बेंथम की योजनाओं ने उन्नीसवीं सदी की विचारधाराओं को बहुत अधिक प्रभावित किया। उसके अनुयायी उपयोगितावादियों के विचारों का प्रभाव यह हुआ कि उन्नीसवीं सदी के अधिकांश भाग में उनका पलड़ा भारी बना रहा और स्कूलों में मनोवैज्ञानिक शोधों तथा आचारिक वाद-विवादों में अत्यधिक जागृति होने लगी। साथ ही सक्रिय राजनीति, सामाजिक सुधार एव लाभकारी विधायन के क्षेत्र में लोगों की अभिरुचि इतनी बढ़ने लगी कि जिसकी कल्पना तक इससे पूर्व नहीं की जाती थी। 'आधुनिक काल की लोक-कल्याणकारी राज्य की धारणा के अन्तर्गत सामाजिक सुधार, न्याय-व्यवस्था में सुधार, जनसाधारण तथा विशेष रूप से दीन तथा पिछड़े वर्गों के उत्थान के निमित्त राजनीतिक, प्रशासनिक, आर्थिक एवं जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों में सुधार लाने की भावना के विकास में समस्त मानवता बेंथम की ऋणी है। समय तथा परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ बेंथमवादियों के विचारों में भी परिवर्तन आते गये, भूलों का सुधार होता रहा; परन्तु उपयोगितावादियों की आत्मा बनी रही। डेविडसन का निष्कर्ष है कि 'उनके विचारों में उनकी अपनी कमियाँ तथा असफलताएँ थीं, परन्तु उनकी दृष्टि हमेशा भविष्य को ओर थी।'[3]

लोकतन्त्र के प्रसार में बेंथम के योगदान का महत्त्व किसी भाँति कम नहीं है। 'एक व्यक्ति एक मत' का लोकतन्त्री सिद्धान्त नागरिको की समानता का पोषक है। प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र के अन्तर्गत प्रतिनिधियों को जन-नियन्त्रण में रखने का बेंथम का सिद्धान्त लोकतन्त्र को सफल बनाने का सर्वोत्तम साधन है। इस दृष्टि से बेंथम ने राजनीतिक लोकतन्त्र का मार्ग प्रशस्त किया और उसे प्रत्यायोजित लोकतन्त्र बनने से रोकने में मदद की। बेंथम की स्पष्ट धारणा यह थी कि राज्य व्यक्ति के लिए है न कि व्यक्ति राज्य के लिए और वही राज्य उत्तम है जिसके व्यक्ति सुखी हैं। भले ही बेंथम का सुखवादी मनोविज्ञान तर्कों की दृष्टि से सही न हो, तथापि

[1] C. L. Wayper, *op. cit.*, 103.

[2] 'Progress was their watchword, and their enthusiasm for liberty and public good supplied the driving power.' —Davidson, *op. cit.*, 173.

[3] *Ibid.*, 172–73.

उसका अधिकतम सुख का उपयोगितावादी सिद्धान्त मानवीय कल्याण से प्रेरित है। यही कारण है कि उसके अनुयायियों ने उसके उपयोगितावाद के सिद्धान्त को अपनाते हुए उसकी कमियों को दूर किया और उसे विशुद्ध भौतिकता के बन्धन से मुक्त करके अधिक मानवीय बनाकर बेंथमवाद को आगे बढ़ाया।

राजनीतिक चिन्तन के भारतीय विद्यार्थियों को स्मरण होगा कि बेंथम के समकालीन तथा अभिन्न मित्र राजा राम मोहन राय ने भारत के सम्बन्ध में वैसे ही विचार रखे हैं जैसे बेंथम ने इंग्लैण्ड के सम्बन्ध में रखे थे। यह युग सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन के क्षेत्र मे विश्वभर में एक प्रकार के पुनर्जागरण का युग था, जिसके अन्तर्गत सुधारवादी विचारक प्राचीन काल से चली आ रही विकृत परम्पराओं को नष्ट करके सुधार द्वारा नई परम्पराओं को स्थापित करने का उद्देश्य रखने लगे थे। अत: ऐसे संक्रमण के युग में बेंथम द्वारा प्रस्तुत सुधारों की योजना उसके राजनीतिक विचारों को महत्त्वपूर्ण सिद्ध करती है। जिस प्रकार आधुनिक भारतीय राजनीतिक विचारधाराओं का जनक राजा राम मोहन राय को माना जाता है, उसी प्रकार इग्लैण्ड में बेंथम के विचार भी आधुनिकता का आरम्भ करते है।

जॉन स्टुअर्ट मिल (1806–1873)

जीवन-परिचय—बेंथम के उपयोगितावाद के अनुयायी जेम्स मिल के पुत्र जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) का जन्म 1806 में हुआ था। जेम्स मिल ने अत्यन्त शैशवावस्था से ही अपने पुत्र की शिक्षा-दीक्षा प्रारम्भ करा दी और जब 1808 में जेम्स का सम्पर्क बेंथम से हुआ तो उसने बेंथम के समक्ष यह भविष्यवाणी की कि उसका पुत्र उनकी योजना (उपयोगितावाद) को आगे बढ़ायेगा। जॉन स्टुअर्ट ने शैशवावस्था मे ही ग्रीक भाषा सीख ली थी और ग्रीक के विद्वानों की रचनाओं को पढ़ने लगा था। बचपन से ही उसने अपनी मानसिक प्रतिभा का सुन्दर प्रदर्शन किया और अपने पिता के निर्देशन में अपनी बहिनों को भी शिक्षा देने लगा। अध्ययन-अध्यापन में उसकी अत्यधिक अभिरुचि होने से उसका शारीरिक स्वास्थ्य निर्बल रहा। किशोरावस्था में उसने ग्रीक साहित्य का व्यापक अध्ययन कर लिया। इसके बाद उसने रोमन कानून का अध्ययन किया और साथ ही बेंथम की रचनाएँ पढ़ने लगा। इन रचनाओं का उसके विचारों पर बहुत प्रभाव पड़ा।

सोलह वर्ष की अवस्था में उसने बेंथम के विचारों पर विचार-विनिमय करने के उद्देश्य से एक युवक संघ (उपयोगितावादी समाज) की स्थापना की। साथ ही राजनीतिक अर्थव्यवस्था क्लब (The Political Economy Club) की भी सदस्यता ग्रहण की। सत्रह वर्ष की अवस्था में उसे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कार्यालय में भारतीय पत्र-व्यवहार परीक्षक का पद प्राप्त हुआ। इस पद पर वह ईस्ट इण्डिया कम्पनी की समाप्ति (1858) तक बना रहा। इस पद पर कार्य करने से उसे व्यावहारिक राजनीति की अनेक समस्याओं का ज्ञान करने का अवसर मिला। इस अवधि में उसने अनेक प्रमुख पत्रिकाओं के लिए लेख लिखने प्रारम्भ किये और बेंथम की अनेक रचनाओं का प्रकाशन भी कराया। बेंथम की रचनाओं के अध्ययन से उसने बेंथम की सुखवादी विचारधारा की कमियों का ज्ञान किया। उसका निष्कर्ष था कि 'सुख की खोज करने से सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। अन्य चीजों की खोज करने से सुख प्राप्त हो सकेगा।' मिल ने यह निष्कर्ष भी निकाला कि बेंथमवाद

कोरा भौतिकवाद है जिसमें मानव के ऊपर संवेगों के प्रभाव की उपेक्षा की गयी है। सुख-प्राप्ति के निमित्त मनुष्य की भावनाओं, सहानुभूति, दृष्टिकोण आदि का भी बड़ा महत्त्व होता है। अत: मिल ने उपयोगिता के सिद्धान्त पर इन मानवीय आधारों पर विचार करना प्रारम्भ किया।

मिल की नयी विचारधारा को प्रभावित करने में उसकी एक प्रेयसी महिला का बड़ा हाथ था। वह थी श्रीमती टेलर, जिसने मिल से शादी न करके किसी अन्य व्यक्ति के साथ शादी कर ली थी। परन्तु मिल का प्रेम उसके प्रति बना रहा और 1851 में जब उस महिला के पति की मृत्यु हो गयी तो मिल ने उसके साथ शादी कर ली। यद्यपि मिल का दाम्पत्य जीवन केवल सात वर्ष तक चल पाया, क्योंकि 1858 में श्रीमती टेलर की मृत्यु हो गयी थी, तथापि इस अवधि में मिल ने अपनी पत्नी से अपने दार्शनिक विचारों के विकास में बड़ा लाभ प्राप्त किया। उसी के विचारों से मिल ने उपयोगितावाद के सिद्धान्त में परिवर्तन करके उसे मानवीय बनाने का प्रयास किया और बेंथमवादी विचारों की दुर्बलताओं को दूर किया।

मिल की रचनाएँ—प्रारम्भ मे मिल ने लन्दन रिव्यू तथा वेस्टमिन्स्टर रिव्यू में अनेक लेखों के द्वारा अपने विचार व्यक्त किये। 1843 में उसने अपनी रचनाएँ 'The System of Logic' तथा 'Ratiocinative and Inductive' प्रकाशित कीं। 1848 में 'Principles of Political Economy' प्रकाशित की। इनमें उसे बड़ी सफलता मिली। अपनी पत्नी की मृत्यु के उपरान्त 1859 में उसने अपनी सबसे महान् रचना 'Essay on Liberty' प्रकाशित की। 1861 में 'Utilitarianism' प्रकाशित हुआ। यद्यपि वृद्धावस्था में उसकी मानसिक प्रतिभा में कमी आने लग गयी थी। तथापि उसने लेखन कार्य कभी समाप्त नहीं किया। 1860 में उसका दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ 'The Considerations of Representative Government' प्रकाशित हुआ। बाद में 'The Examination of Sir William Hamilton's Philosophy' (1865) तथा 'The Subjection of Women' (1869) प्रकाशित हुए। उसकी 'The Autobiography' (1873) तथा 'Three Essays on Religion' (1874) उसकी मृत्यु (1873) के बाद प्रकाशित हुए।

1866 से 1868 तक वह संसद का प्रतिनिधि भी रहा। परन्तु एक संसद-सदस्य के रूप में वह सफल सिद्ध नहीं हो पाया। मिल एक लेखक तथा चिन्तक था न कि एक राजनेता। ससद में उसके विचारों की प्रशंसा एक सन्त द्वारा व्यक्त किये गये विचारों के रूप में होती थी। परन्तु उसके तर्कों को सक्रिय राजनीति में विशेष महत्त्व नहीं मिल पाया।

विचार-पद्धति—जॉन स्टुअर्ट मिल से पूर्व के उपयोगितावादी तथा उदारवादी चिन्तकों ने सामाजिक संरचना तथा सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में ऐसी अध्ययन-पद्धतियाँ अपनायी थीं जो सामाजिक संस्थाओं के संगठनात्मक तथा ऐतिहासिक विकास-क्रम की उपेक्षा करने वाली सिद्ध हुईं। उन्होंने समाज के नैतिक तथा आर्थिक आचरणों को कुछ सार्वभौम मनोवैज्ञानिक कारणों के आधार पर समझाने का प्रयास किया था, यथा स्वार्थ तथा आदतें, आदि। इसके कारण उनके विचारों में समाज तथा राज्य के सम्बन्ध में किसी ठोस विचारधारा का प्रतिपादन नहीं हो सका। अधिक से अधिक उनकी राजनीतिक विचारधाराएँ शासन के कार्यकलापों के सिद्धान्तों के रूप में प्रकट हो पायीं। रूसो के पश्चात् जर्मनी के सुप्रसिद्ध विचारक हीगल ने

द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त के द्वारा समाज तथा राज्य के ऐतिहासिक विकास तथा सावयव स्वरूप का चित्रण किया था। हीगल की चिन्तन प्रणाली कॉलरिज के माध्यम से इंग्लैण्ड में प्रविष्ट हुई और अगस्ट काम्टे से प्रभावित होकर जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपने विचारों में इसका समावेश किया।

सामाजिक विज्ञानों के सम्बन्ध में ऐतिहासिक पद्धति से अध्ययन करने के महत्त्व पर मिल ने अपनी आत्मकथा में कहा है कि 'राजनीति का कोई भी दर्शन या विचारधारा मानव प्रगति की किसी पूर्ववर्ती विचारधारा को मान्यता देती है और यही बात इतिहास के दर्शन के बारे में भी सत्य है।' उसके मत से मानव मस्तिष्क में सम्भावित प्रगति की कोई निश्चित व्यवस्था होती है, जिसमें कुछ बातें अन्यों की अपेक्षा पहले से विद्यमान रहती है, और राजनीतिक संस्थाओं से सम्बद्ध समस्त बातें सापेक्ष होती है न कि निरपेक्ष। शासन उन व्यवस्थाओं को कुछ सीमा तक परिवर्तित कर सकता है। ये विचार इस तथ्य के द्योतक हैं कि मिल राजनीतिक चिन्तन की ऐतिहासिक पद्धति पर विश्वास रखता था। उसने काम्टे द्वारा प्रतिपादित ऐतिहासिक सामान्यीकरण की तीन सीढ़ियों पर विचार किया : पहली सीढी धार्मिक थी जिसमें घटनाक्रम पर कुछ दैवी इच्छाओं का प्रभाव रहता था, दूसरी सीढ़ी नैतिक थी जिसमे ऐसे प्रभावों का कारण भावनामूलक नैतिक सिद्धान्त हुआ करते थे, और तीसरी सीढ़ी वैज्ञानिक थी, जिसमें तथ्यों तथा उनके सम्बन्धों का सामान्यीकरण करके निष्कर्ष निकालते थे। मिल का मत था कि सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में वैज्ञानिक प्रयोगात्मक पद्धतियाँ पूर्णतया सफल सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि परिस्थितियाँ इन पद्धतियों द्वारा निकाले गये सामान्य निष्कर्षों के मार्ग में बाधक होती हैं। उन्नीसवीं सदी मे समाजशास्त्र एवं मानवशास्त्र के क्षेत्र में ये पद्धतियाँ लागू की जाती रही थीं। परन्तु ये पद्धतियाँ वैज्ञानिक सिद्ध नहीं हो पायीं, क्योंकि प्रायोगिक प्रमाणों के आधार पर सत्य को सिद्ध करने में वे असफल थीं। मिल ने ऐतिहासिक विकास की उक्त तीनों पद्धतियों को अपनी चिन्तन-प्रणाली मे अपनाने का प्रयास किया है।

मिल ने सामाजिक अध्ययन के निमित्त प्रयोगात्मक (empirical) पद्धति को पूर्णतया नहीं अपनाया। उसने काम्टे की जीवशास्त्रीय पद्धति को त्यागकर इंग्लैण्ड मे प्रचलित मनोवैज्ञानिक पद्धति को सामाजिक व्यवहार का मूलभूत विज्ञान माना। उसने निगमन की पद्धति का भी परित्याग किया। निगमन की पद्धति के दोषों को दूर करने के उद्देश्य से उसने एक नयी पद्धति अपनायी जिसे 'प्रत्यक्ष निगमन पद्धति' (direct deductive method) कहा जाता है। काम्टे की पद्धति को उसने अप्रत्यक्ष निगमन पद्धति (indirect deductive method) कहा है। अप्रत्यक्ष निगमन पद्धति के अन्तर्गत मनोवैज्ञानिक नियमों के निगमनात्मक प्रयोग के द्वारा समाज में मानव आचरण को समझाया जाता था, साथ ही यथार्थ सामाजिक परिस्थितियों की जटिलता का भी ध्यान रखा जाता था और तथ्यों की तुलना के द्वारा स्थापित सिद्धान्तों की पुष्टि की जाती थी। इसके विपरीत अप्रत्यक्ष विधि के अन्तर्गत ऐतिहासिक विकास के सामान्य नियमों की ओर से बढ़कर मनोवैज्ञानिक कारणों की खोज की जाती थी।[1]

[1] Sabine, *op. cit.*, 563.

बेंथम का उपयोगितावादी सिद्धान्त उसकी सुखवादी मनोवैज्ञानिक धारणा पर आधारित था, जिसके अनुसार बेंथम विविध सुखों के मध्य गुणात्मक अन्तर नहीं मानता था। उसने सुखों के मध्य मात्रात्मक अन्तर मानकर सुखों की नाप-तौल किये जा सकने के सिद्धान्त को प्रतिपादित करके यह बताया था कि किसी वस्तु या कार्य की उपयोगिता उससे अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख प्राप्त होने से आँकी जा सकती है। मिल ने अपने को सदैव एक उपयोगितावादी माना, परन्तु उसके तथा बेंथम के उपयोगितावादी सिद्धान्त में काफी अन्तर है। मिल भी सुखवाद को उपयोगिता का आधार मानता है। परन्तु बेंथम तथा मिल के सुखवाद में सबसे मौलिक अन्तर यह है कि बेंथम के विपरीत मिल ने विभिन्न सुखों के मध्य गुणगत अन्तर को भी स्वीकार किया है। इस दृष्टि से यदि विभिन्न सुखों के मध्य गुणगत अन्तर हो तो गुणों की नाप-तौल नहीं की जा सकेगी। मिल का मत है कि कुछ सुख उच्च कोटि के तथा कुछ निम्न कोटि के होते है। इनका ज्ञान उन्हीं लोगों को होता है जिन्होंने इनका अनुभव किया है। इस दृष्टि से वे उच्चकोटि के सुखों की प्राप्ति करना अधिक पसन्द करते हैं। मिल ने कहा है, 'एक सन्तुष्ट सुअर की अपेक्षा एक असन्तुष्ट मानव होना अधिक अच्छा है, एक सन्तुष्ट मूर्ख की अपेक्षा असन्तुष्ट सुकरात होना श्रेष्ठतर है। यदि मूर्ख या सुअर की राय अलग हो तो इसका कारण यह है कि वे केवल अपने ही पक्ष को समझते हैं, जबकि दूसरे पक्ष (मानव तथा सुकरात) दोनों पक्षों को समझते हैं।'[1] अर्थात् एक मानव प्राणी या बुद्धिमान केवल अपने ही सुख को श्रेष्ठ नहीं समझता बल्कि वह यह भी देखता है कि सामान्य अर्थ में कौन-सा सुख श्रेष्ठतर है और उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है। ऐसा प्राणी सदैव श्रेष्ठतर सुख की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है।

इस प्रकार मिल ने बेंथम के सुखवादी उपयोगितावाद के सिद्धान्त को बदल दिया। यदि विभिन्न सुखों के मध्य गुणगत अन्तर होते हैं तो उनकी नाप-तौल असम्भव होगी, क्योंकि मात्रा की नाप-तौल की जा सकती है परन्तु गुण की नहीं, और यदि सुखों की नाप-तौल सम्भव नहीं है तो अधिकतम सुख का ज्ञान असम्भव होगा। यही उपयोगिता के सिद्धान्त का मूल आधार था। इस दृष्टि से मिल ने उपयोगिता के मूल सिद्धान्त से अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख में असंगति उत्पन्न कर दी। उसने विभिन्न सुखों को केवल भौतिकता के दृष्टिकोण से नहीं लिया और उनका अंकात्मक मूल्यांकन न करके मानवीय नैतिकता की दृष्टि से उनके महत्त्व को दर्शाया।' मिल ने बेंथमवादी नैतिकता के भद्देपन को अवश्य दूर किया, परन्तु ऐसा करने में उसने उपयोगितावाद में असंगति उत्पन्न कर दी और उसे अधिक मानवीय बना दिया।' मिल का उपयोगितावाद बेंथम की धारणा के सुखवाद पर आधारित नहीं है, क्योंकि सुखवादी धारणा तभी सही हो सकती है जबकि विभिन्न सुखों के मध्य मात्रा का अन्तर स्वीकार किया जाय। उसने बेंथम के सुख सम्बन्धी मूल्यांकन सिद्धान्त (felicific calculus) को मूर्खतापूर्ण बताया है।

[1] 'It is better to be a human being dissatisfied than a pig satisfied; better to be Socrates dissatisfied than a fool satisfied. And if the fool or the pig is of a different opinion, it is because they only know their side of the question. The other party to the comparison knows both sides.' —J. S. Mill.

मिल की धारणा यह थी कि सुख तथा दुःखों के मध्य गुणगत तथा मात्रागत दोनों प्रकार के अन्तर होते हैं, जिन्हें नापा नहीं जा सकता। मानव जीवन का लक्ष्य अधिकतम (मात्रात्मक) सुख की प्राप्ति करना नहीं होता अपितु मानवीय सम्मान (dignity of man) की प्राप्ति करना होता है। बेंथम की धारणा यह थी कि मानव जीवन का लक्ष्य सुख की प्राप्ति तथा दुःख से निवृत्ति होता है। इनके विपरीत जॉन स्टुअर्ट मिल का उद्देश्य यह बताना था कि एक सुख दूसरे की अपेक्षा तभी श्रेष्ठतर है जबकि वह मानव में सम्मान की भावना की अभिवृद्धि करे। वेपर के मत से मिल की यह धारणा इस तथ्य की परिचायक है कि 'मिल एक उत्तम जीवन की धारणा को आनन्दमय जीवन की प्राप्ति में लगाये गये जीवन से श्रेष्ठतर सिद्ध करने का आधार प्रस्तुत करता है।' इसीलिए मिल ने कहा था कि 'यदि हम आनन्द-प्राप्ति की आकांक्षा से कोई कार्य करेंगे तो हमे सुख की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। इसके विपरीत यदि हम किसी अन्य उद्देश्य से कार्य करेंगे तो हमें सुख की प्राप्ति स्वतः हो सकती है।' इस प्रकार मिल ने बेंथमवादियों की कोरी भौतिकतावादी सुख की धारणा को अमान्य करके उसे मानवीय नैतिकता में परिणत किया और उसने सुखों के निमित्त नैतिक लक्ष्य प्रस्तुत किया। उसने एक बार पुनः राज्य को नैतिक उद्देश्य से युक्त एक नैतिक संस्था बनाने का कार्य किया। यह धारणा प्राचीन ग्रीक विचारकों प्लेटो तथा अरस्तू से मिलती-जुलती थी। मिल भी यह मानता प्रतीत होता है कि राज्य का उद्देश्य उपयोगिता (अधिकतम सुख) की अभिवृद्धि करना नहीं है अपितु मनुष्य में सद्गुणों का विकास करना है।

मिल ने केवल व्यक्तिगत सुखों को नहीं, अपितु सामान्य सामाजिक सुखों की उपलब्धि को अधिक महत्त्व दिया है। उसके मत से 'उपयोगिता का मापदण्ड व्यक्ति का सर्वाधिक वैयक्तिक सुख नहीं अपितु समाज का सर्वाधिक सुख है।' उपयोगितावादी नैतिकता का मापदण्ड यह है कि मनुष्य को वही कार्य करने चाहिए जिन्हें वह अपने लिए अपेक्षित मानता है। साथ ही अपने पड़ोसी के साथ भी मनुष्य को वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा वह अपने लिए अन्यों के द्वारा किया जाना वाँछनीय समझता है। मिल ने कहा है कि यदि 'क' का सुख अच्छा है, 'ख' का सुख अच्छा है और 'ग' आदि का सुख अच्छा है तो इन सब अच्छाइयों का योगफल भी अवश्य अच्छा होगा। मिल ने कहा है कि 'जब मैं यह कहता हूँ कि समस्त व्यक्तियों के योग के लिए सामान्य सुख उत्तम है तो इसका यह अर्थ नही है कि प्रत्येक मानव का सुख प्रत्येक दूसरे मानव के लिए भलाई है, यद्यपि मेरा विचार है कि एक स्वस्थ तथा शिक्षित समाज में ऐसा हो सकता है।' इस पर मिल ने व्यक्तिगत सुख के स्थान पर व्यक्ति की उस नैतिक चेतना को महत्त्व दिया जिसके अनुसार उपयोगिता की परख सामाजिक नैतिकता के आधार पर की जा सके। मिल ने कहा है कि 'मैं समस्त नैतिक प्रश्नों के सम्बन्ध में उपयोगिता को सर्वोच्च स्थान देता हूँ, परन्तु यह उपयोगिता एक प्रगतिशील प्राणी के रूप में मानव के स्थायी हितों पर आधारित होनी चाहिए।'[1] मिल व्यक्ति को विशुद्धतया एक पृथक् तथा एकाकी प्राणी के रूप में नहीं लेता, अपितु वह उसे आवश्यक रूप से समाज के सदस्य के रूप

[1] 'I regard utility as the ultimate appeal on all ethical questions ; but it must be utility in the largest sense, grounded on the permanent interests of man as a progressive being.' —J. S. Mill, *On Liberty.*

में लेता है। उसका मत है कि प्रत्येक व्यक्ति को सामान्य हित की प्राप्ति तथा अभिवृद्धि की कामना करनी चाहिए।

मिल ने बेंथम के भौतिकतावादी दर्शन को नैतिक स्वरूप प्रदान करके मनुष्य जीवन के संकीर्ण स्वार्थमय उद्देश्य के स्थान पर परार्थ में व्यक्तिगत सुखों का परित्याग करने की भावना को अधिक महत्त्व दिया है। यद्यपि वह सदैव अपने को उपयोगितावादी मानता रहा तथापि उसका उपयोगितावाद उसके पूर्ववर्ती बेंथमवादियों से भिन्न प्रकृति का था। वह व्यापक अर्थ में मानवतावादी था, जिसमें मानव की सामाजिक नैतिकता को सर्वोच्च महत्त्व दिया गया है।

स्वतन्त्रता पर मिल के विचार

स्वतन्त्रता तथा सत्ता के मध्य समन्वय—बेंथम तथा उसके अनुयायी उपयोगितावादियों की सुधार योजनाओं के अनुसार राज्य के उद्देश्यों तथा सरकार के कार्यकलापों में व्यापक विस्तार होना स्वाभाविक था। मिल के काल मे निरकुश राजतन्त्रों का अवसान होता जा रहा था और शासनों का स्वरूप लोकतन्त्र की दिशा मे विकसित हो रहा था। लोकतन्त्र के प्रसार मे मताधिकार, शिक्षा प्रसार, स्थानीय स्वायत्त शासन का विकास, अर्थव्यवस्था पर राज्य के अधिकाधिक नियन्त्रण आदि की प्रवृत्तियाँ बढ़ रही थीं। ऐसी स्थिति में यदि शासन का उद्देश्य अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख की अभिवृद्धि माना जाता तो एक ओर जहाँ सरकार का दायित्व बढ़ता जाता, वहाँ दूसरी ओर नागरिकों के दायित्वों में भी पर्याप्त वृद्धि वांछनीय थी। मिल व्यक्ति की वैयक्तिकता का महान् समर्थक था। उसका विश्वास था कि 'सामाजिक तथा राजनीतिक प्रगति व्यक्ति की मौलिकता तथा शक्ति पर बहुत अधिक मात्रा में निर्भर करती है।'[1] उसे यह भी भय था कि कहीं लोकतन्त्र व्यक्ति की वैयक्तिकता का अन्त करके उसे सामाजिकता मे विलीन न कर दें। उत्तम सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था तभी सम्भव हो सकती है जबकि उसका निर्माण करने वाले व्यक्तियों को स्वतन्त्र विकास का अवसर प्राप्त रहे और समाज तथा राजनीतिक संस्थाओं को व्यक्तियों की योग्यता का लाभ प्राप्त होता रहे। राज्य की सत्ता तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता दो ऐसी धारणाएँ हैं, जिनके मध्य सघर्ष मानव इतिहास के आरम्भ से ही चलता आया है। यदि राज्य की सत्ता निरंकुश रहे तो व्यक्ति मे जो जन्मजात शक्तियाँ हैं उनके विकास का अवसर व्यक्ति को प्राप्त नहीं हो सकता। वह अपनी पूर्णता प्राप्त करने में असमर्थ रहेगा। परिणाम यह होगा कि उसकी योग्यता तथा क्षमता का लाभ समाज को प्राप्त नहीं हो पायेगा। इसके विपरीत अप्रतिबन्धित वैयक्तिक स्वतन्त्रता से समाज में अराजकता फैल सकती है और व्यक्ति के स्वच्छन्द कार्य-कलाप समाज के अन्य व्यक्तियों की वैयक्तिकता के विकास में बाधक सिद्ध हो सकते हैं। लोकतन्त्र में बहुसंख्यकों की तानाशाही अल्पसंख्यकों को हानि पहुँचा सकती है। मिल ने 'स्वतन्त्रता' पर लिखे गये अपने निबन्ध में इन दोनों समस्याओं पर विचार करके जो धारणाएँ व्यक्त की हैं वे राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में मिल के महान् योगदान की परिचायक सिद्ध हुई हैं। स्वतन्त्रता की धारणा के सम्बन्ध में मिल की यह छोटी सी रचना एक अभूतपूर्व शास्त्रीय रचना सिद्ध हुई है। वेपर ने लिखा है कि 'विचार स्वातन्त्र्य के प्रतिरक्षण के निमित्त इससे

[1] Davidson, *op. cit.*, 148.

श्रेष्ठतर अन्य कोई रचना सिद्ध नहीं ही पायी है ।'[1] मिल के पूर्ववर्ती उपयोगितावादी स्वतन्त्रता को उपयोगिता (अधिकतम सुख) के सिद्धान्त के अधीन मानते थे। इसके विपरीत मिल स्वतन्त्रता को मौलिक मानता था । उसकी दृष्टि में उपयोगिता की अपेक्षा स्वतन्त्रता साध्य है ।

स्वतन्त्रता का स्वरूप—यद्यपि मिल व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का कट्टर समर्थक है, तथापि वह इसे स्वच्छन्दता के अर्थ में नहीं लेता । समाज की सत्ता तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता के मध्य समन्वय बनाये रखना उसका प्रमुख उद्देश्य रहा है। इस दृष्टि से वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता का उसी सीमा तक समर्थन करता है, जहाँ तक कि वह समाज के अन्य व्यक्तियों तथा समग्र रूप में समाज के अहित में प्रयुक्त न की जाये । परन्तु यदि समाज की सत्ता व्यक्ति की उन स्वतन्त्रताओं का दमन करने लगे जो व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए अत्यावश्यक हैं, तो मिल समाज ऐसी सत्ता का विरोध करता है। मिल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणाएँ उन्नीसवीं सदी के मध्य मे व्यक्त की गयी थीं, जबकि समाजवादी विचारधाराएँ अपने विकास की प्रथम मजिल में थीं और उदारवाद तथा व्यक्तिवाद अपनी चरम अवस्था मे थे । साथ ही प्रत्ययवाद के आधार पर निरंकुशतन्त्रों का समर्थन करने वाले विचारकों की भी कमी नहीं थी । राजनीतिक समस्याओं के सम्बन्ध में यूरोप के विभिन्न देशों के विचारक नये-नये वादों (प्रत्ययवाद, उदारवाद, समाजवाद, समष्टिवाद, व्यक्तिवाद आदि) का प्रतिपादन कर रहे थे। मिल इंग्लैण्ड का विचारक है और इंग्लैण्ड के विचारकों की भाँति उसके विचारों में भी जर्मनी, फ्रांस आदि देशों के विचारकों की सी क्रान्तिकारिता नहीं है। उसके ऊपर उदारवादियों तथा प्रगतिवादी उपयोगितावादियों का प्रभाव होते हुए भी उसने उनकी विचारधाराओं को एक नये दृष्टिकोण से अपनाया । व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के सम्बन्ध मे उसने मुख्यतः दो प्रकार की स्वतन्त्रताओं पर बल दिया है, जो व्यक्ति के स्वतन्त्र विकास के लिए अत्यावश्यक है। इनमें से प्रथम स्वतन्त्रता विचार-स्वातन्त्र्य तथा विचाराभिव्यक्ति की है और दूसरी कार्यगत स्वतन्त्रता है ।

(1) **विचाराभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता**—यद्यपि आधुनिक राज्य व्यक्ति की विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाते रहे हैं, तथापि लोकतन्त्र की यह एक सामान्य धारणा है कि उसके अन्तर्गत व्यक्ति को विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता (liberty of speech and of expression) प्राप्त रहनी चाहिए । अन्यथा वह अधिनायकतन्त्र में परिणत हो जायेगा । इस धारणा के लिए आधुनिक लोकतन्त्री राज्य मिल के ऋणी हैं। परन्तु मिल ने विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को अत्यधिक महत्त्व देकर उसे लगभग अप्रतिबन्धित बनाने की धारणा व्यक्त की है। 'इसके समर्थन में उसने अनेक तर्क दिये हैं। वह सनकियों तक को विचार अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता देना चाहता है। उसने कहा है, 'जहाँ दस सनकियों में से नौ हानि रहित मूर्ख हों, वहाँ दसवाँ मानव-जाति के लिए बहुत लाभदायक सिद्ध हो सकता है, अपेक्षाकृत उन समस्त सामान्य व्यक्तियों से जो उन सबको दबाना चाहते हैं ।'[2] मिल के मत से कभी-कभी किसी सनकी की बात भी समाज के

[1] 'No finer defence of liberty of thought and discussion has ever been written.'—Wayper, *op. cit.*, 113.

[2] 'While nine cranks out of ten are harmless idiots, the tenth is of great value to mankind than all the normal men who seek to suppress them.'

लिए बहुत लाभदायक सिद्ध हो सकती है और एक सनकी कभी आश्चर्यजनक प्रतिभा से सम्पन्न सिद्ध हो सकता है। अत: यदि समाज की सत्ता उसे अपने विचार व्यक्त करने से रोकती है, तो उससे समाज का बड़ा अहित होगा। यह बात सामाजिक नैतिकता के विरुद्ध होगी। मिल ने कहा है कि 'यदि एक व्यक्ति को छोड़कर शेष समस्त मानवों की राय एक हो और उस एक व्यक्ति की राय उनके विरुद्ध हो, तो भी सम्पूर्ण मानवता उस एक व्यक्ति को अपनी राय व्यक्त करने से रोकने में उतना ही अन्याय करेगी जितना कि यदि उस व्यक्ति की सामर्थ्य में हो तो वह उन समस्त मानवों की राय को रोकने में न्यायसंगत सिद्ध हो सकता है।'[1]

मिल का तर्क यह है कि यदि मानवता किसी व्यक्ति को बलात् अपने विचार व्यक्त करने से रोकती है तो इसका यही अर्थ होगा कि वह सत्य को प्रकट होने से रोकती है। क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि जिस राय को जन-समूह सामान्यतया रखते हैं, वही सत्य हो। किसी समस्या पर जन-समूह की सामान्य सहमति, या दीर्घकालीन परम्परागत विश्वास या नियम ही सत्य हों ऐसी धारणा सही नहीं है। बहुधा अनेक परम्पराएँ कालान्तर मे असत्य सिद्ध हो जाती हैं। अत: प्रत्येक व्यक्ति को उन्हीं के अनुसार आचरण करने के लिए विवश करना उसे इन परम्पराओं का दास बना देने के तुल्य है। यह बात सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं आचारिक सभी क्षेत्रो के सम्बन्ध में लागू होती है। इसलिए सत्य की अभिव्यक्ति को सुनिश्चित करने के निमित्त प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचार व्यक्त करने का अवसर प्राप्त रहना चाहिए।

मिल का दूसरा तर्क यह है कि वास्तविक सत्य सत्यासत्य के द्वन्द्व से ही प्रकट होता है। किसी समस्या पर एक व्यक्ति एक विचार रखे, दूसरा उसका विरोध करे और इस प्रकार खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया चलती रहे तो यथार्थ सत्य स्वत: हो जायेगा। सत्य कोई कोरा सिद्धान्त या लोकसम्मत राय मात्र नहीं है। ऐसे संघर्ष की प्रक्रिया में यदि कोई बात वास्तव में सत्य है, तो उसके विरोध को दबाना पड़ेगा। इससे सत्य की और अधिक पुष्टि होगी। यदि उस विचार में सत्य नहीं है तो विरोध के फलस्वरूप उसकी असत्यता स्वयमेव समाप्त हो जायेगी और वास्तविक सत्य खुलेगा। इसके परिणामस्वरूप विचार व्यक्त करने वालों को भी सत्य का ज्ञान करने में सहायता मिलेगी।

मिल का यह भी तर्क था कि किसी विषय पर मतभेद रखने वाले जन-समूहों के मध्य एक ही पक्ष यह दावा नहीं कर सकता कि उसी की बात सत्य है। वास्तविक सत्य के भागीदार दोनों पक्ष होते हैं। सत्य की कोई निश्चित सीमा नहीं होती। उसके अनेक पहलू होते है, जिन्हें संघर्षरत पक्ष धारण करते हैं। अत: संघर्षरत पक्षों के विचार स्वयं सत्य के विरोधी नहीं हैं, प्रत्युत् वे सत्य के पूरक हैं। इसलिए 'सही दृष्टिकोण तभी प्रकट होता है, जबकि इन पूरक पहलुओं को एक साथ मिला लिया जाय और उनके साथ पूर्ण न्याय किया जाय।'[2] यह तभी सम्भव है जबकि प्रत्येक व्यक्ति को विचार अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो। वेपर के मत से, 'मिल

[1] 'If all mankind minus one were of one opinion and only one person were of contrary opinion, mankind would be no more justified in silencing that one person than he if he had the power, would be justified in silencing mankind.'

[2] See Davidson, *op. cit.*, 151.

विचारों की दुनिया' में योग्यताओं के अस्तित्व के सिद्धान्त पर अगाध विश्वास रखता था और उसे यह विश्वास था कि सत्य अस्तित्व के लिए योग्यतम हैं।'[1]

विचार-अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में मिल के तर्क बहुत बलशाली है। उदाहरण के लिए किसी युग में कोई सामान्य धारणा सत्य समझी जाती है तो यह आवश्यक नहीं कि वह हर युग में सत्य सिद्ध हो। इसलिए किसी सामान्य धारणा को चिरन्तर सत्य नहीं माना जाना चाहिए। परम्पराओं तथा रीति-रिवाजों को सदैव सत्य नहीं माना जा सकता, प्रत्युत समय-समय पर उनके पक्ष या विपक्ष में विचारों की अभिव्यक्ति होती रहने से उनमें परिवर्तन आते रहते है और कोई बात जो एक युग में सत्य समझी जाती थी भविष्य में वह सत्य नहीं रह जाती। इसी प्रकार यदि किसी युग में किसी एक व्यक्ति के द्वारा व्यक्त किये गये विचारों को दबाया जाता है तो वह भी न्याय नहीं है। सुकरात तथा ईसा को अपने विचार व्यक्त करने पर तत्कालीन सत्ताधारियों ने उन्हें असत्य अथच जन-समूह को पथ-भ्रष्ट करने वाला बताकर उन्हें सूली पर चढ़ा दिया था। यदि उनके विचार असत्य होते तो आज 2,000 वर्ष की अवधि हो जाने पर भी उनके विचारों को लोग क्यों इतना महत्त्व देते रहते? इस दृष्टि से किसी व्यक्ति को अपने विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता से वंचित रखने का अर्थ न केवल उस व्यक्ति के स्वतन्त्र विकास को अवरुद्ध करना है, अपितु सम्पूर्ण मानवता को सत्य लाभ से वंचित करना है।

(2) **कार्यगत स्वतन्त्रता**—विचार-अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की ही भाँति मिल व्यक्ति को कार्य करने की स्वतन्त्रता भी केवल एक प्रतिबन्ध के साथ देना न्याय-संगत मानता है। मिल ने कार्यगत स्वतन्त्रता के दो रूप बताये हैं: (i) ऐसे कार्य जिनका सम्बन्ध व्यक्ति के स्व के साथ होता है। इन्हें वह self-regarding actions कहता है। (ii) वे कार्य जिनका प्रभाव अन्य लोगों पर पड़ता है। इन्हें वह other regarding actions कहता है। मिल ने पर्याप्त शक्तिशाली शब्दों में घोषणा की है कि जहाँ तक व्यक्ति के केवल 'स्व' से सम्बन्ध रखने वाले कार्यों का सम्बन्ध है, व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध लगाने की शक्ति अन्यों को या समाज को प्राप्त नहीं होनी चाहिए। उसी के शब्दों में, 'किसी व्यक्ति के आचरण का केवल वह भाग, जिसका सम्बन्ध दूसरों से होता है उसे समाज के प्रति उत्तरदायी बना सकता है। परन्तु जिस भाग का सम्बन्ध केवल उसके स्व के साथ होता है, उसके सम्बन्ध में व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार निरपेक्ष है। अपने स्व के ऊपर, अपने शरीर एवं मन के ऊपर व्यक्ति सम्प्रभु है।'[2] मिल के अनुसार यदि कोई मनुष्य दुनिया के विरुद्ध पूर्णतया एकाकी (solitary) रहकर कोई कार्य करता है, तो मानव जाति को उसे चुप करने का कोई अधिकार नहीं है; किसी राय को कार्यान्वित करने से रोकने का अभिप्राय मानव जाति को वर्तमान तथा भविष्य दोनों कालों के लिए और उस राय के विरोधियों तथा समर्थकों दोनों को उससे वंचित रखने के तुल्य होगा। यह धारणा भी विचार-अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता

[1] 'Mill is a firm believer in the survival of the fittest in the world of ideas, and that he is convinced that truth is fittest to service.' —*Ibid.*, 113.

[2] 'The only part of the conduct of any one, for which he is amenable to society is that which concerns others. In the part which merely concerns himself, his independence is, of right, absolute. Over himself, over his body and mind, the individual is sovereign.' —J. S. Mill.

पर प्रतिबन्ध लगाने के सदृश ही सत्य का निराकरण करने के समान होगी।

व्यक्ति की कार्यगत स्वतन्त्रता का समर्थन करने में मिल उपयोगिता (अधिकतम सुख की धारणा) को प्रमुखता नहीं देता अपितु व्यक्तित्व के विकास को प्रमुखता देता है। व्यक्तित्व के विकास के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य बिना दूसरों को किसी प्रकार की हानि पहुँचाये जो भी कार्य करना उचित समझे उसे करने की उसको पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। व्यक्तित्व के विकास के लिए व्यक्ति की अपनी निजी प्रकृति तथा उसका विकास, न कि जनता के रीति-रिवाजों तथा परम्पराएँ, निर्धारक तत्त्व हैं। चूँकि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की परिस्थितियों तथा स्वभाव भिन्न-भिन्न रूप के होते हैं, अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वभावानुकूल कार्य करने की स्वतन्त्रता प्राप्त रहने से वह आत्मविकास कर सकता है। समाज की सत्ता समरूप ढंग से या अपने ही ढंग से व्यक्ति को उसके स्वभाव के प्रतिकूल कार्य करने को कहे तो उसे उससे व्यक्ति का आत्मविकास रुक जायेगा और उसका लाभ स्वयं समाज को भी नहीं हो सकेगा। मिल ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का यहाँ तक समर्थन किया था कि वह राज्य के शिक्षा की व्यवस्था करने के अधिकार तक को उचित नहीं ठहराता है। उसके अनुसार, 'राज्य द्वारा सामान्य शिक्षा की व्यवस्था करना ऐसा प्रयास होगा जिसके द्वारा सब व्यक्तियों को पूर्णतया एक-दूसरे के समान ढाल दिया जायेगा।'[1] इससे व्यक्तियों के मध्य प्राकृतिक वैविध्य को नैसर्गिक विकास का अवसर नहीं मिल पायेगा। इस प्रकार मिल के विचार से वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय यह है कि 'मनुष्य जैसा चाहे कर सकता है। बशर्ते कि उसके ऐसे आचरण से दूसरों का किसी प्रकार से अहित न हो।

जहाँ तक व्यक्ति के दूसरों से सम्बन्ध रखने वाले कार्यों का प्रश्न है, मिल यह स्वीकार करता है कि एक सामाजिक प्राणी होने के नाते समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपना-अपना कर्त्तव्य करना चाहिए। यदि किसी व्यक्ति के कार्य दूसरे व्यक्ति या समाज के लिए प्रतिकूल सिद्ध हों तो समाज ऐसे कार्यों पर प्रतिबन्ध लगा सकता है। मिल यह मानता है कि प्रत्येक मानव वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों प्रकार का है। अतः व्यक्ति तथा समाज दोनों के अपने-अपने न्यायसंगत अधिकार होते हैं, जिनका पूर्ण सम्मान किया जाना चाहिए। आवश्यकता केवल इस बात की है कि केवल समाज को ही सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त न रहें। डेविडसन ने मिल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा के बारे में तीन निष्कर्ष निकाले हैं: (1) मनुष्य में संवेगों तथा इच्छाओं के अस्तित्व को स्वीकार करके उन्हें यथोचित स्थान देना और मानव प्रकृति के सक्रिय पक्ष को मान्यता देना, (2) मानव सुख तथा कल्याण के निमित्त वैयक्तिकता को उसका एक अभिन्न अंग मानना, और (3) सामाजिक परम्पराओं की स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध विरोध, जहाँ तक कि वे वैयक्तिकता के विकास के मार्ग में बाधक प्रतीत हों।[2]

लोकतन्त्र पर मिल के विचार

स्वतन्त्रता पर लिखी गयी मिल की रचना का जितना महत्त्व राजनीतिक

[1] 'A general State education is a mere contrivance for moulding people to be exactly like one another.' —J. S. Mill.

[2] Davidson, *op. cit.*, 154.

चिन्तन के इतिहास में है उतना मिल की दूसरी 'रचना प्रतिनिध्यात्मक शासन' का प्राप्त नहीं हो पाया। परन्तु इसके अनेक विचार पर्याप्त महत्त्व के हैं। मिल ने यह रचना उस समय लिखी थी जब लोकतन्त्र का व्यापक प्रसार नहीं हो पाया था, परन्तु वह विकास की दिशा में उन्मुख था। बेंथम ने लोकतन्त्र तथा विविध लोकतन्त्री धारणाओं का समर्थन किया था। लोकतन्त्र का आज के युग में पर्याप्त विकास हो जाने के बावजूद उसकी कमियों तथा दोषों पर अपने विचार व्यक्त करने वालों की कमी नहीं है। साथ ही इन दोषों के होते हुए भी लोकतन्त्र के प्रशंसकों की कमी नहीं है। मिल ने अपनी रचना 'प्रतिनिध्यात्मक शासन' में जो आज से लगभग सवा सौ वर्ष पूर्व लिखी गयी थी, लोकतन्त्र के प्रति जहाँ अपनी आस्था व्यक्त की थी, वहाँ यह भी दर्शाया था कि यह व्यवस्था सभी जन-समूहों के निमित्त उत्तम सिद्ध नहीं हो सकती, साथ ही यह भी कि जहाँ यह सम्भव है वहाँ इससे श्रेष्ठतर अन्य कोई व्यवस्था नहीं हो सकती। मिल के विचारों का केन्द्र वैयक्तिक स्वतन्त्रता था, अतः मिल व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए लोकतन्त्र को सर्वोत्तम व्यवस्था मानता है। बेंथमवादी उपयोगिता लोकतन्त्र को इसलिए उत्तम मानती थी कि वह व्यक्तियों को अधिकतम सुख प्रदान करने का साधन सिद्ध हो सकती है। परन्तु मिल उपयोगितावादियों से भिन्न दृष्टिकोण रखता है। लोकतन्त्र के समर्थन में उसका उद्देश्य 'शक्ति' का 'सुधार' करना था। उसके मत से लोकतन्त्र ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति के सुख की अभिवृद्धि नहीं भी होगी तो कम से कम व्यक्ति को अपना जीवन उत्तमतर बनाने का अवसर मिल सकेगा। मिल की यह धारणा थी कि लोकतन्त्र में लोगों को अपने निजी हितों को सम्पन्न करने की स्वतन्त्रता प्राप्त रहती है। यदि वे बुद्धिमान हों तो वे यह अनुभव करेंगे कि उनके व्यक्तिगत हित समाज के सामान्य हितों से भिन्न नहीं हैं। यह भावना उनमें ऐसी प्रेरणा लायेगी जिसके अनुसार वे अपने व्यक्तिगत लाभों के माध्यम से समाज के सामान्य हितों को सम्पन्न करने की दिशा में उद्यत रहेंगे।

मिल को लोकतन्त्र के अन्तर्गत सबसे बड़ा भय यह था कि उसमें भाग लेने वाले बहुसंख्यक अल्पसंख्यकों के हितों की उपेक्षा करते हैं। उसने इसे बहुसंख्यकों का अत्याचारीतन्त्र (tyranny of majority) कहा है। मानवों में सामाजिक हित के अन्तर्गत ही व्यक्तिगत हित को सम्पन्न करने की भावना का संचार करने के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें सच्चा नागरिक बनाया जाय। सच्ची नागरिकता की शिक्षा एक यथार्थ नागरिक बनना है। मिल ने कहा है कि 'उत्तरदायी बनना, ज्यूरी में कार्य करना, अपने मताधिकार का समुचित प्रयोग करना आदि एक राजनीतिक प्राणी के लिए उतने ही आवश्यक हैं जितना किसी जीवधारी के लिए हवा में सांस लेना आवश्यक है।' मिल के युग का लोकतन्त्र प्रत्यक्ष नहीं था, बल्कि प्रतिनिध्यात्मक था। अतः लोकतन्त्र में व्यक्ति का महत्त्वपूर्ण कार्य भाग अपने प्रतिनिधियों के निर्वाचन में मतदान करने के रूप में ही मुख्यतया सम्पन्न हो सकता था। उस समय इंग्लैण्ड में मताधिकार अत्यन्त सीमित था। यद्यपि मिल ने सार्वभौम वयस्क मताधिकार की धारणा का समर्थन नहीं किया है, तथापि वह मताधिकार का विस्तार करना उचित मानता है। महिला मताधिकार का समर्थन करने वाला वह सबसे पहला विचारक था, जिसने संसद में इसके लिए आवाज

उठायी थी। महिला मताधिकार सोसाइटी की लन्दन समिति के साथ उसका निकट सम्पर्क था। मतदाताओं के नैतिक तथा नागरिक दायित्व के सम्बन्ध में उसने जो तर्क तथा सुझाव दिये थे, उनके आधार पर वेपर ने लिखा है कि 'समूचे राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में मतदान की धारणा के सम्बन्ध में इससे अधिक सुन्दर और कोई विवरण नहीं मिल सकता।' मिल मतदान को नागरिक का कर्त्तव्य मानता है, न कि स्वेच्छा। इस दायित्व को वह एक सार्वजनिक कर्त्तव्य कहता है जिसका पालन नागरिक को एक ज्यूरी की भाँति करना चाहिए।

प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र के अन्तर्गत प्रतिनिधियों के स्वरूप के सम्बन्ध में मिल को जो आशंकाएँ थीं, उनके बारे में डेविडसन ने कहा है कि मिल अल्पसंख्यकों के अपर्याप्त प्रतिनिधित्व से भयभीत था; दूसरे, उसे यह भय था कि बहुसंख्यकों को अल्पसंख्यकों के ऊपर अत्याचार करने की लालसा बनी रहती है; और अन्ततः वर्गगत प्रभावों, के कारण एकतरफा विधायन से अन्यायपूर्ण निर्णय लिये जा सकते हैं।[1] मिल की धारणा यह थी कि तत्कालीन निर्वाचन पद्धतियों के अन्तर्गत संसद में अल्पसंख्यक मतदाताओं का प्रतिनिधित्व सुनिश्चित नहीं रह पाता। उदाहरणार्थ, मिल की इस धारणा की पुष्टि निम्नांकित आँकड़ों से की जा सकती है:

किसी क्षेत्र से संसद के लिए 40 सदस्य चुने जाने हों, और आम निर्वाचन में 'अ' दल के प्रत्याशियों को कुल 3 लाख और 'ब' दल के प्रत्याशियों को कुल 2 लाख मत प्राप्त हों, तो यह सम्भव है कि 'ब' दल का एक भी प्रत्याशी न चुना जाय, जबकि 'अ' तथा 'ब' दलों के समर्थक 3 : 2 के अनुपात में थे। एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों से ऐसे प्रत्याशी बहुधा चुने जाते रहते हैं जिन्हें सम्पूर्ण मतदान करने वाले नागरिकों के केवल अल्संख्यक भाग का समर्थन प्राप्त रहता है। ऐसे दृष्टान्त एक नहीं, अनेक हैं। इस दृष्टि से अल्पसंख्यकों का संसद में समुचित प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता और उन्हें सदैव बहुसंख्यकों की स्वेच्छाचारिता की दासता में रहना पड़ता है। इस कमी को दूर करने के लिए मिल ने समानुपाती प्रतिनिधित्व द्वारा प्रतिनिधियों का निर्वाचन करने की दलील दी थी। मिल की इस धारणा के सम्बन्ध में टॉमस हेयर ने समानुपाती प्रतिनिधित्व की एकल संक्रमणीय नियम प्रणाली का आविष्कार किया था जो आज भी अनेक देशों में प्रचलित है। स्विट्जरलैण्ड में प्रचलित सूत्री-प्रथा इस प्रकार के प्रतिनिधित्व को सुनिश्चित करने का दूसरा रूप है।

प्रतिनिधित्व के स्वरूप के सम्बन्ध में मिल ने संख्यात्मक बहुमत के साथ-साथ गुणात्मक बहुमत का भी समर्थन किया है। मिल की धारणा यह थी कि मतदान के लिए शैक्षिक योग्यता आवश्यक है। बेंथम ने मतदान के लिए पढ़ सकने की न्यूनतम अर्हता मान्य की थी। मिल ने पढ़ना, लिखना तथा अकगणित (three Rs) का ज्ञान आवश्यक माना है। विधायकों के सम्बन्ध में भी वह ऐसे बुद्धिमान, शिक्षित एवं प्रबुद्ध व्यक्तियों की आवश्यकता पर बल देता है जिन्हें राजनीति का विशिष्ट ज्ञान हो, जो विधायन का अर्थ जानते हों और जिनकी राय निष्पक्ष तथा स्वतन्त्र हो। संक्षेप में, मिल की धारणा के लोकतन्त्र में विधायक तथा मतदाता दोनों में उन सब गुणों का होना स्वीकार किया गया है जो एक आदर्श राज्य-व्यवस्था के सचालन के लिए आवश्यक है। इस दृष्टि से मिल ने ऐसे लोकतन्त्र की कल्पना नहीं की है जो

[1] *Ibid*, 156,

समानता के सिद्धान्त पर आधारित होता है। बेंथम ने, 'एक व्यक्ति एक मत' के सिद्धान्त का समर्थन किया था, परन्तु मिल ने इसका उपहास किया है। उसके विचार से बुद्धि, शिक्षा तथा श्रेष्ठ सद्गुण को अज्ञान, मूर्खता तथा अन्यमनस्क आचरण की तुलना में उच्चतर स्थिति प्राप्त होनी चाहिए। इसलिए उसने योग्य तथा शिक्षितों के बहुल मतदान के अधिकार को स्वीकृति दी थी। मिल का मत था कि बहुल मतदान करने वाले नागरिकों को उनकी योग्यता तथा व्यवसाय आदि के आधार पर पृथक् गुटों में वर्गीकृत किया जाना चाहिए। मिल का विश्वास था कि उच्चतर शिक्षा तथा ज्ञान को लोकतन्त्र में गुरुत्व प्रदान करने से ही लोकतन्त्र की रक्षा हो सकती है और लोकतन्त्री शासन में ऐसे तत्त्वों की बहुलता राज्य तथा नागरिकों के सामान्य हितों का सम्पादन करने में सहायक सिद्ध होगी।

मिल द्वारा प्रतिपादित लोकतन्त्री शासन के अन्तर्गत शासकों के ऊपर जन-नियन्त्रण के तत्त्व को सुनिश्चित करने के लिए त्रिस्तरीय शासन संगठन का समर्थन किया गया है।[1] सबसे निम्न स्तर पर मतदाता (निर्वाचक समूह) होंगे जो संसद के प्रतिनिधियों का निर्वाचन समय-समय पर करेंगे और आम निर्वाचन संसद-सदस्यों के कार्यकलापों पर नियन्त्रण रखने का उपचार सिद्ध होगा। संसद के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त मिल एक नीति-निर्माणकारी संस्था के संगठन का भी सुझाव देता है। यह निकाय विधायन कार्य नहीं करेगा, बल्कि शासन की नीतियों का निर्माण करेगा, विधायन के प्रस्ताव तैयार करेगा और इन्हें स्वीकृति हेतु प्रतिनिध्यात्मक संसद के समक्ष रखेगा। मिल का विचार है कि लोकतन्त्र में जनता का भाग सुनिश्चित करने के लिए वाद-विवाद, आलोचना-प्रत्यालोचना, विचार-विनिमय, आदि आवश्यक हैं, और निर्वाचन-प्रक्रिया में इन सबको समुचित अवसर प्राप्त होता है। इनके आधार पर निर्वाचकगण अपने विवेक से अपना मत व्यक्त करते हैं। प्रतिनिध्यात्मक संस्था भी विधायन कार्य में इसी प्रक्रिया को अपनाती है। मिल के मत से संसद-सदस्य साधारण निर्वाचकों की तुलना में उच्चतर ज्ञान तथा विवेक रखते हैं। अतः उनका निर्णय अधिक लाभकारी होना स्वाभाविक है। परन्तु जटिल सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में विधायकों का ज्ञान भी अपर्याप्त होता है। अतः नीति निर्माणकारी संस्था उन पर विचार करके उन्हें संसद के समक्ष रखेगी। इस संस्था में विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ होंगे। उनके प्रस्तावों पर संसद विचार करेगी, उनसे प्रश्न पूछेगी और उन्हें पदच्युत करने का भी अधिकार रखेगी। मिल यह तो मानता है कि मतदाता तथा संसद-सदस्य अपने प्रतिनिधियों को पदच्युत करने के अधिकार का दुरुपयोग कर सकते हैं परन्तु उसका मत है कि प्रतिनिधियों के उत्तरदायित्व को सुनिश्चित बनाये रखने के लिए यह आवश्यक भी है, अन्यथा लोकतन्त्र का सिद्धान्त ही नष्ट हो जायेगा।

यद्यपि मिल लोकतन्त्र का समर्थक है तथापि उसका लोकतन्त्र का समर्थन अनिच्छा तथा अविश्वासिता का है।[2] उसने लोकतन्त्रों के अन्तर्गत आधुनिक काल में प्रचलित अनेक धारणाओं तथा प्रथाओं का विरोध किया है। उदाहरणार्थ, मिल संसद के प्रतिनिधियों को किसी भी प्रकार का वेतन या पारिश्रमिक नहीं देना चाहता

[1] M. J. Harmon, *Political Thought from Plato to the Present*, 581.

[2] 'He is a reluctant democrat and he shows himself very distrustful of democracy.'—Wayper, *op. cit.*, 117-25.

था। बेंथम ने प्रतिनिधियों के निर्वाचन के लिए गुप्त मत-पत्र प्रथा का समर्थन किया था; परन्तु मिल इस प्रथा का भी घोर विरोधी है। वह गुप्त मतदान-प्रणाली को सिद्धान्ततः अनुचित मानता है। उसका कथन था कि गुप्त मतदान-प्रणाली मतदाता को अपने व्यक्तिगत स्वार्थ से प्रेरित होकर मतदान करने की द्योतक है। मतदाता इसे अपना ऐसा अधिकार समझ लेता है जिसका प्रयोग वह स्वेच्छा से कर सकता है और ऐसा करने में वह सामान्य सार्वजनिक हित की उपेक्षा करता है। वह अपने नैतिक दायित्व को भूलकर स्वार्थमय इच्छा से मतदान करता है। मिल का मत था कि घूसखोरी तथा दबाव से मतदान न करने का जो तर्क गुप्त मत-प्रणाली के समर्थन में दिया जाता है, वह निर्मूल है। ये बुराइयाँ स्वतः समाप्त हो जायेंगी। जैसा पहले बताया जा चुका है, मिल सार्वभौम वयस्क मताधिकार का समर्थक नहीं है।

शासनों का वर्गीकरण करने में मिल ने राजतन्त्र के प्रश्न पर विचार नहीं किया है। बेंथम ने लार्ड सभा को समाप्त करने की धारणा व्यक्त की थी, परन्तु मिल लार्ड सभा सदृश द्वितीय सदन की आवश्यकता पर जोर देता है। साथ ही ऐसे सदन में सुधार भी लाना चाहता है। वह इस सदन को ऐसे प्रतिनिधियों की संस्था के रूप में रखना चाहता है, जिसमें श्रेष्ठतर योग्यता तथा अनुभव रखने वाले व्यक्ति हों, जिनका निर्वाचन गुरुत्वपूर्ण मतों के आधार पर हुआ हो। इसका कार्य कॉमन सभा द्वारा पारित विधायन में सुधार लाना, उनका पुनरवलोकन करना, तथा विधेयकों का प्रारूप तैयार करना होना चाहिए, क्योंकि कॉमन सभा के सदस्य ऐसी क्षमता नहीं रखते। मिल ने कुलीनतन्त्री लोकतन्त्र (aristo-democracy) के प्रति अपना रुझान दर्शाया है। उसका विश्वास था कि लोकतन्त्र कुलीनों की उत्पत्ति कर सकता है, जिसके लिए समुचित ढंग की शिक्षा आवश्यक है। परन्तु ऐसी शिक्षा पुस्तकीय या शैक्षणिक नहीं है, अपितु वह मानवों के स्वभावोचित कार्यों की शिक्षा होनी चाहिए, अर्थात् वह सामाजिक तथा राजनीतिक प्रकृति की होनी चाहिए। इसका निर्देशन प्राकृतिक नेताओं के द्वारा किया जा सकता है। मिल झूठे तथा वास्तविक लोकतन्त्र (false and true democracy) के मध्य भेद करता है। वह संख्यात्मक लोकतन्त्र को तथा एक व्यक्ति एक मत (each to count for one, and no one to count for more than one) के सिद्धान्त पर आधारित लोकतन्त्र को झूठा लोकतन्त्र कहता है। इसी प्रकार वह पूर्णतया एक वर्ग की सरकार को भी झूठा लोकतन्त्र कहता है। सच्चे लोकतन्त्र से मिल का अभिप्राय ऐसी शासन-व्यवस्था से है, जिसमें समाज के विविध तत्त्वों को उनकी संख्या तथा गुण दोनों के आधार पर समुचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो, जिसमें समानुपाती प्रतिनिधित्व के आधार पर प्रतिनिधि चुने जायें; मतदाता तथा प्रतिनिधि वर्गगत तथा व्यक्तिगत स्वार्थों से प्रेरित होकर कार्य न करें। वह बहुसंख्यकों के अल्पसंख्यकों पर अत्याचार का द्योतक न हो। संसद के द्वितीय सदन में गुरुत्वपूर्ण ढंग से निर्वाचित प्रतिनिधि कुलीनतन्त्री तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करें। संसद प्रशासनिक कार्य न करे, बल्कि प्रशासन का अधीक्षण करे। नौकरशाही की मनमानी के ऊपर प्रतिबन्ध लगा रहे। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सुनिश्चित रहे। व्यक्ति के आत्म-विकास के मार्ग में अनावश्यक प्रतिबन्ध न लगाये जायें, और लोकतन्त्र न केवल राजनीतिक हो अपितु आर्थिक भी हो। वेपर का निष्कर्ष है कि प्रतिनिध्यात्मक सिद्धान्त के सम्बन्ध में मिल की धारणाएँ अठारहवीं शताब्दी के लोकतन्त्री विचारकों के तुल्य थीं। फिर भी यह एक विरोधा-

भासी निष्कर्ष है कि प्रतिनिधित्व के इस प्राचीन दृष्टिकोण के निमित्त सुधार अधिनियमों का समर्थन करने में मिल ने उन्हें सक्रिय रूप से समाप्त करने की बात कही थी। मिल के इस दृष्टिकोण ने उसे लोकतन्त्र के साथ संगतिपूर्ण रवैया अपनाने में बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान किया। अन्यथा उसे कदापि एक लोकतन्त्री बनने का श्रेय नहीं मिलता। एक सच्चे तथा एक झूठे लोकतन्त्र के मध्य उसने जो भेद दर्शाया था उसके सन्दर्भ में भी मिल को एक लोकतन्त्रवादी कहने में कोई संकोच नहीं हो सकता। निस्सन्देह बीसवीं सदी के लिए वह एक अनिच्छुक लोकतन्त्रवादी सिद्ध होता है।[1]

राज्य तथा समाज के सम्बन्ध में मिल के विचार

सामाजिक संस्थाओं के स्वरूप तथा उत्पत्ति के सम्बन्ध में मिल के विचारों पर उपयोगितावादी धारणाओं का प्रभाव था। परन्तु उसने इन धारणाओं को भी उसी परिवर्तित रूप में व्यक्त किया है जिस रूप में उसने उपयोगितावाद में संशोधन किया था। समाज की विभिन्न संस्थाओं की भाँति राज्य को भी वह एक सामाजिक संस्था के रूप में मानता है। परन्तु मिल ने राज्य की धारणा के सम्बन्ध में ऐसा दार्शनिक चिन्तन नहीं किया है जैसा कि प्लेटो, अरस्तू, हॉब्स, लॉक, रूसो आदि दार्शनिकों ने किया था। बेंथम की भाँति मिल भी राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धान्त को अमान्य करता है। इसे वह एक यान्त्रिक धारणा मानता है, जिसके अन्तर्गत मानव की इच्छा तथा व्यक्तित्व के महत्त्व की उपेक्षा होती है। मिल के मत से राज्य मानवों की इच्छा की उपज है, न कि किसी हित-विशेष की। मिल राज्य की उत्पत्ति को इस अर्थ में नैसर्गिक नहीं मानता कि उसे मानव चेतना के नूतन प्रयासों से सुधारा नहीं जा सकता हो। साथ ही वह राज्य की उत्पत्ति की इस धारणा को भी अमान्य करता है कि राज्य की उत्पत्ति मानवों के सक्रिय प्रयासों के द्वारा हुई है, जैसा कि संविदावादी मानते थे। प्रत्युत् मिल ने उक्त दोनों धारणाओं के मध्य का मार्ग अपनाया है। उसका मत है कि यद्यपि राजनीतिक संस्थाएँ नैसर्गिक विकास का फल हैं, तथापि उनका नैसर्गिक विकास पेड़-पौधों की भाँति नहीं होता है कि एक बार लगा देने पर वे अचेतन रूप से प्रकृति के नियमों के अनुसार स्वयं विकसित होते रहते हैं। इसके विपरीत मानव संस्थाओं का विकास चेतना-युक्त है। वे मानव की इच्छा तथा प्रयत्नों के परिणामस्वरूप निर्मित, विकसित तथा परिवर्तित होती हैं। इस दृष्टि से मिल राज्य की उत्पत्ति को मानवों की आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त मानव इच्छा के परिणामस्वरूप हुई मानता है, जिसके विकास-क्रम में मानव की चेतना, इच्छा, व्यक्तित्व एवं परिस्थितियाँ प्रभाव डालती रहती हैं।

राज्य के स्वरूप के सम्बन्ध में मिल राज्य के सावयव स्वरूप की कल्पना नहीं करता। प्रत्युत् उसकी राज्य की धारणा भी यान्त्रिक है। परन्तु मिल का राज्य रूपी यन्त्र सचेतन है, जिसमें मानवों की इच्छाएँ, चेतनाएँ आदि उसे जड़वत् नहीं रखतीं, अपितु राज्य का स्वरूप विकसित होता रहता है। मिल की दृष्टि में राज्य एक नैतिक संस्था है। अन्य व्यक्तिवादियों की भाँति मिल राज्य के केवल निषेधात्मक उद्देश्य को स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार, राज्य का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति के

[1] *Ibid.*, 125.

सम्मान तथा व्यक्तित्व का विकास करना है। अतः राज्य व्यक्ति को उसके व्यक्तित्व विकास के कार्य में सहायता पहुँचाने के लिए किसी न किसी रूप में हस्तक्षेप करने का अधिकार रखता है। चूँकि शासन का उद्देश्य मानव के व्यक्तित्व का विकास करना है, अतः राज्य का ऐसा दायित्व नैतिक है। इसलिए राज्य की शासन व्यवस्था का नियमन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि उसके द्वारा नागरिकों की बौद्धिक तथा नैतिक क्षमताओं का उपयोग सम्पूर्ण समाज के हित के कार्यों में किया जा सके।

मिल के आर्थिक विचार

मिल के आर्थिक विचार उसके नैतिकतावादी उपयोगितावाद पर आधारित हैं। उसके मत से यद्यपि राजनीतिक अर्थव्यवस्था (अर्थशास्त्र) का उद्देश्य नैतिकता की अभिवृद्धि करना नहीं है, क्योंकि यह विज्ञान मुख्यतया धन के उत्पादन, वितरण तथा उपभोग से सम्बन्ध रखता है, तथापि धन सम्बन्धी धारणाओं को मानव की प्रकृति, भावनाओं तथा सामाजिक आचरणों से असम्बद्ध रखते हुए नहीं समझा जा सकता। यद्यपि मनुष्य जो भी कार्य करता है वह स्वार्थ की भावना से प्रेरित होकर करता है, तथापि उसके कार्यों का उद्देश्य समाज का हित भी होता है। मिल के आर्थिक विचार यह दर्शाते हैं कि अर्थशास्त्र का अन्य सामाजिक शास्त्रों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।

मिल व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थक है। परन्तु उसने अपने युग में प्रचलित व्यक्तिगत सम्पत्ति, उसके संक्रमण, भूसम्पत्ति के स्वामित्व आदि की प्रथाओं पर पुनर्विचार किया था। वह यह मानता था कि व्यक्ति सम्पत्ति को धारण कर सकता है और उससे होने वाले उत्पादन का उपभोग कर सकता है। उसे अपनी सम्पत्ति के हस्तान्तरण करने की सुविधाएँ भी प्राप्त रहती हैं। सम्पत्ति एक सामाजिक संस्था है, जिसका उद्देश्य मानव कल्याण है। इसका वितरण इस रूप में नहीं होना चाहिए कि कुछ धनी लोग अन्यों का शोषण करें। मिल समाजवादियों की इस शिक्षा से सहमत नहीं था कि सम्पत्ति का समान वितरण हो। वह सम्पत्ति को सामाजिक संस्था मानता है, इसलिए समाज के हित में इस अधिकार पर अनेक मर्यादाएँ भी लगाता है, यथा, सम्पत्तिशाली व्यक्तियों के बच्चों को पैतृक सम्पत्ति का अधिकार मिलना चाहिए, भू-सम्पत्ति का उपयोग काश्तकारी करके उसकी उत्पादन-क्षमता बनाये रखने में किया जाय, इस कार्य के लिए मालिक को पूँजी लगानी पड़ती है और फल की प्राप्ति में लम्बा समय लग सकता है, अतः सम्पत्ति धारण का अधिकार स्थायी होना चाहिए। पैतृक सम्पत्ति का ज्येष्ठता के नियम पर संक्रमण किये जाने तथा सम्पत्ति के हस्तान्तरण सम्बन्धी तत्कालीन प्रचलित प्रथा को समाप्त करने की धारणाएँ मिल ने व्यक्त की हैं।

प्रारम्भ में मिल समाजवाद का विरोधी था और इसकी उसने तीव्र आलोचना की थी। कालान्तर में उसकी अभिरुचि मजदूर वर्ग के कष्टों का निवारण करने की ओर बढ़ने लगी। पहले मिल की धारणा यह थी कि मजदूर वर्ग का शिक्षा-दीक्षा के द्वारा उत्थान किया जा सकता है। उन्हें न्याय की तथा उद्योग के क्षेत्र में कुछ स्वायत्तता की आवश्यकता है। शिक्षा द्वारा उनके बौद्धिक स्तर को विकसित किया जा सकता है और उनकी आदतों जीवन के ढंग तथा उत्पादन क्षमता के अनुरूप सन्तानोत्पादन करने आदि की शिक्षा दी जानी चाहिए। लेकिन अपने जीवन के

उत्तरार्द्ध में उसने अनुभव किया कि समाज की अर्थव्यवस्था का संचालन-नियमन इस रूप में हो रहा है कि उसके द्वारा समाज का एक विशाल वर्ग गरीबी तथा शोषण का शिकार हो रहा है और केवल थोड़े से लोग धनी हैं, जो गरीबों को सताते हैं। इसलिए जीवन के अन्तिम वर्षों मे उसे समाजवाद के प्रति निष्ठा होने लगी। परन्तु फिर भी उसे उग्र समाजवादी विचारों तथा कार्यक्रमों के प्रति कोई सहानुभूति नहीं रही। उदाहरणार्थ, उसने भू-सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण की बात सोची तक नहीं। साथ ही वह ऐसे समाजवाद का समर्थक नहीं था जिसके अन्तर्गत व्यक्ति की वैयक्तिकता का अन्त हो जाय, या समाज में प्रतियोगिता को कोई स्थान न दिया जाय। उसने व्यावसायिक संघवाद का तथा ऐच्छिक समुदायों के निर्माण का समर्थन किया। वह मजदूर वर्ग में सहयोग तथा सहचार से कार्य करने तथा पूंजीपतियों के साथ सहयोग करने की भावना का विकास करना चाहता था।

डेविडसन का निष्कर्ष है कि इस प्रकार 'जहाँ मिल स्पष्टतया समाजवादी है, वहाँ वह व्यक्तिवाद से भी चिपटा हुआ है।'[1] वह आर्थिक तथा औद्योगिक क्षेत्रों में सरकार के हस्तक्षेप का विरोधी और यद्भाव्यम् (laissez faire) की नीति का समर्थक है। वह व्यक्ति के आर्थिक कार्यकलापों मे सरकार के हस्तक्षेप को वहीं पर स्वीकृति देता है जहाँ पर कि सामान्य रूप में समाज का हित अन्तर्निहित हो।

मिल की सुधार योजनाएँ

बेंथम की भाँति जे० एस० मिल भी एक उपयोगितावादी विचारक था। यद्यपि उसने पूर्ववर्ती उपयोगितावादी सिद्धान्त को नये दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है और उसे एक विशुद्ध भौतिकवादी दर्शन न बनाकर मानवीय नैतिकता के आधार पर व्यक्त किया है, तथापि उसके द्वारा प्रतिपादित उपयोगितावाद की उपलब्धि के लिए भी सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्र में अनेक सुधार आवश्यक थे। मिल द्वारा समर्थित सुधार योजना निम्नांकित विषयों को समाविष्ट करती हैं—

(1) **महिलाओं के अधिकार**—मिल ने अनुभव किया कि सामाजिक एवं कानूनी दृष्टि से महिलाओं को समाज में अत्यन्त हीनावस्था में रखा गया है। उनका एकमात्र अधिकार वैवाहिक जीवन, घर की देख-रेख, बच्चों का प्रजनन तथा पालन-पोषण है। उनकी सामाजिक स्थिति पुरुषों के दासत्व में रहने भर से अधिक कुछ नहीं है। उन्हें शिक्षा प्राप्त करने, सार्वजनिक जीवन के क्षेत्र में कार्य करने, आत्म-निर्भर जीवन व्यतीत कर सकने, आदि के निमित्त कोई कानूनी अधिकार या सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं। मिल के मत से इंग्लैण्ड में राजपद के अतिरिक्त अन्य कहीं भी महिलाओं को स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है। राज्य के अन्तर्गत उच्च पदों, संसद की सदस्यता आदि की प्राप्ति तो दूर रही, महिलाओं को मताधिकार तक प्राप्त नहीं था, न वे राजनीतिक क्षेत्र में अपने विचारों को स्वतन्त्रतापूर्वक व्यक्त करने की क्षमता में थीं।

महिलाओं की ऐसी सामाजिक स्थिति का एक कारण मिल की दृष्टि में पुरुषों तथा महिलाओं के मध्य लिंगगत भेद है। मिल के मत से ऐसे भेद को आसानी से दूर किया जा सकता है। केवल शारीरिक भेद के कारण पुरुषों तथा महिलाओं के मध्य सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में भेद करना न्याय नहीं है। अतः यदि

[1] *Ibid.*, 134.

महिलाओं को राजनीतिक तथा सार्वजनिक जीवन के क्षेत्रों में पुरुषों के समान अधिकार प्रदान कर दिये जायें, तो कालान्तर में बाह्य परिस्थितियों तथा शक्ति पर आधारित लिंगगत भेद शनैः शनैः समाप्त हो जावेंगे। मिल की धारणा थी कि समाज में महिलाओं को हीनतर स्थिति में रखना प्राकृतिक नहीं है, अपितु परम्परागत है, वह न्याय या विवेक पर आधारित नहीं है। लिंगगत भेद मानवों के मध्य किसी कार्य, व्यवसाय, व्यापार आदि की दक्षता के प्रमाण नहीं हो सकते।

मिल ने सामाजिक जीवन में महिलाओं की मुक्ति तथा उनके अधिकारों के समर्थन में अनेक तर्कपूर्ण विचार व्यक्त करके यह दर्शाया है कि महिलाओं को ऐसे अधिकार प्रदान करने से न केवल महिला वर्ग को ही अपने व्यक्तित्व के विकास का अवसर प्राप्त करने तथा अपने जीवन को सुखी बनाने का अवसर मिलेगा, प्रत्युत् इससे सम्पूर्ण समाज लाभान्वित होगा। समाज को महिला वर्ग के अन्तर्गत योग्यतमों की सेवाओं का लाभ प्राप्त करने का अवसर मिलेगा। साथ ही महिलाओं में जो विशिष्ट मानसिक क्षमताएँ होती हैं, उनका लाभ भी समाज को प्राप्त हो सकेगा।

मिल ने महिलाओं के अधिकारों के समर्थन में अनेक सक्रिय कदम भी उठाये। संसद में महिलाओं को मताधिकार प्रदान करने की आवाज सबसे पहले मिल ने ही उठायी थी। साथ ही उसने इसके समर्थन में आन्दोलन भी छेड़ा। महिला मताधिकार से सम्बद्ध समाज की लन्दन समिति के साथ मिल का घनिष्ठ सम्बन्ध था।

(2) **लोकतन्त्र के लिए निर्वाचन पद्धति**—मिल यह तो मानता है कि लोकतन्त्र सर्वोत्तम शासन-प्रणाली है और यह समानता के सिद्धान्त पर आधारित है। परन्तु न तो वह निरपेक्ष समानता का समर्थक है और न समानता को नैसर्गिक मानता है। उसका विश्वास था कि असमानता नैसर्गिक है और आवश्यक भी। उसके द्वारा प्रतिपादित विचार-अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता लोकतन्त्र को प्रभावशाली बनाने की आधारभूत धारणा है। मिल के मत से समाज का निर्माण करने वाले विभिन्न वर्गों को शासन में जब तक समुचित प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं होगा, तब तक उनकी विचार-अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की गारण्टी न रहने से उनके हितों की सुरक्षा नहीं हो सकती। बहुमत पर आधारित निर्वाचन-प्रणाली के अन्तर्गत केवल बहुसख्यक वर्ग को प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। इस प्रकार शासन का स्वरूप बहुसंख्यकों का अत्याचारी तन्त्र बन सकता है। अल्पसंख्यकों को वांछित प्रतिनिधित्व प्राप्त न होने के कारण विधायन कार्य में उनके हितों तथा विचारों की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। इसलिए मिल ने निर्वाचन-पद्धति में समानुपाती प्रतिनिधित्व की प्रथा का समर्थन किया था। इसकी प्रक्रिया को टॉमस हेयर ने संसद के समक्ष प्रस्तुत किया। मिल यह मानता है कि ऐसी पद्धति के द्वारा भी संसद या अन्य प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं में बाहुल्य बहुसंख्यक वर्ग का ही रहेगा, परन्तु अल्पसंख्यकों को अपनी जनसंख्या के अनुपात से प्रतिनिधित्व प्राप्त होने से उनके हितों की शासन के कार्य-कलापों में पूर्णतया उपेक्षा नहीं हो सकेगी। उन्हें अपने विचार व्यक्त करने का अवसर मिल जायेगा। यह धारणा लोकतन्त्र के संचालन में आपेक्षिक या अनुपाती समानता लाने के लिए आवश्यक है। इसके बिना लोकतन्त्र की धारणा महत्त्वहीन हो जायेगी, क्योंकि लोकतन्त्र का आधारभूत सिद्धान्त समानता है, जो अनुपाती ही हो सकती है। मिल ने देखा कि लोकतन्त्र के संचालन में द्विदल पद्धति भी बहुत अधिक उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इसके अन्तर्गत दो में से एक दल शासन सत्ताधारी बन जाता है और उसकी

मनमानी को रोकने का कोई समुचित समाधान नहीं रहता । अतः मिल एक तीसरे दल की उपादेयता को स्वीकार करता है जो कि दोनों दलों के मध्य शक्ति सन्तुलन को बनाये रखने का कार्य करेगा और किसी एक दल की मनमानी पर अंकुश लगा सकेगा ।

(3) **मताधिकार**—लोकतन्त्र को अधिक व्यापक बनाने के लिए मिल मताधिकार का विस्तार करना आवश्यक मानता है । परन्तु वह सार्वभौम वयस्क मताधिकार का समर्थक नहीं है । मताधिकार के सम्बन्ध में वह नागरिकों की दो प्रकार की अर्हताओं पर बल देता है : पहली, शैक्षिक योग्यता तथा दूसरी, सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यता । शैक्षिक योग्यता के अन्तर्गत वह पढ़ना, लिखना तथा गणित का ज्ञान आवश्यक मानता है । उसकी यह धारणा है कि इस प्रकार की शैक्षिक योग्यता का निर्धारण करने से नागरिक अपने मताधिकार को प्राप्त करने के उद्देश्य से पढ़ना-लिखना व गणित का सरल ज्ञान करने की दिशा में प्रवृत्त रहेंगे । उत्तम नागरिकता तथा वैयक्तिक विकास के लिए भी ये बातें आवश्यक हैं । इस प्रकार जब मताधिकारी शिक्षित होंगे तो प्रतिनिधियों का गुणात्मक स्वरूप भी उत्तम होगा । मिल सम्पत्ति का धारण करना भी मताधिकार के लिए आवश्यक शर्त मानता है । उसका तर्क है कि विधायिका कर-प्रस्ताव पारित करती है । अतः विधायकों का निर्वाचन ऐसे व्यक्तियों के द्वारा किया जाना चाहिए जो सम्पत्ति धारण करते हों तथा सरकार को अपनी सम्पत्ति पर लगे कर देते हों ।

(4) **बहुल मतदान**—लोकतन्त्र तथा नागरिक स्वतन्त्रता का समर्थक होते हुए भी मिल न तो सार्वभौम वयस्क मताधिकार का समर्थक है और न ही एक व्यक्ति एक मत के लोकतन्त्री सिद्धान्त का, जिसे बेंथम ने बहुत महत्त्वपूर्ण माना था । मिल प्रतिनिधियों के निर्वाचन में प्रत्येक व्यक्ति के मत को समान महत्त्व का नहीं मानता था । उसके मत से एक बुद्धिमान, शिक्षित तथा गुणवान व्यक्ति के मत का मूल्य एक अज्ञान, अशिक्षित तथा मूर्ख के मत से उच्चतर होता है । इसलिए उसने शिक्षित व्यक्तियों को बहुल मतदान का अधिकार दिये जाने की दलील दी । उसने यह सुझाव भी दिया कि योग्यता के आधार पर नागरिकों को विभिन्न श्रेणियों में वर्गीकृत किया जाना चाहिए और योग्यतमों के मतों को गुरुत्व प्रदान किया जाना चाहिए । गुप्त मतदान प्रथा का भी मिल ने विरोध किया है ।

(5) **संसद का कार्य भाग**—मिल के मत से नागरिक जिन प्रतिनिधियों को संसद के लिए चुनकर भेजते हैं उनका कार्य शासन तथा प्रशासन का संचालन करना नहीं होना चाहिए, अपितु वे केवल शासनाधिकारियों के ऊपर नियन्त्रण रखने तथा उनका अधीक्षण करने का कार्य करें । उनके कार्यों की समालोचना करें, उनके द्वारा की जाने वाली गलतियों के बारे में उनसे प्रश्न करें और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें पदच्युत करने की भी शक्ति रखें । प्रशासनिक कार्य सिविल सेवकों के ऊपर छोड़ दिया जाना चाहिए जो कि शासन की विभिन्न शाखाओं के सम्बन्ध में विशिष्ट जानकारी, अनुभव तथा तकनीकी ज्ञान रखते हैं । संसद-सदस्यों का कार्य जनमत की अभिव्यक्ति करना, जनता के कष्टों का ज्ञान शासन को कराना, सार्वजनिक समस्याओं के सम्बन्ध में विचार-विनिमय करना, तथा जन-इच्छा के अनुरूप शासन का मार्ग-दर्शन करना होना चाहिए । यहाँ तक कि विधि-निर्माण का कार्यजिसके लिए विशिष्ट तकनीकी ज्ञान आवश्यक है संसद को नहीं करना चाहिए । विधेयकों का प्रारूप

तैयार करने का कार्य विशेषज्ञों के आयोग को करना चाहिए, जिसमें थोड़े से व्यक्ति हों। संसद उनके बनाये विधेयकों पर विचार-विनिमय करके उन्हें स्वीकृति प्रदान करें। बेंथम के विपरीत मिल् संसद के वार्षिक चुनावों का समर्थक नहीं था, न सदस्यों को वेतन दिये जाने की नीति का।

मिल के राजनीतिक विचारों का मूल्यांकन

जॉन स्टुअर्ट मिल उन्नीसवीं शताब्दी का इंग्लैण्ड का एक प्रमुख राजनीतिक चिन्तक सिद्ध हुआ है। उसने तत्कालीन उदारवादी विचारधाराओं को विशुद्ध भौतिकवाद से मुक्त करके उन्हें मानवीय नैतिकता का रूप देने का प्रयास किया। यद्यपि वह अपने को सदैव एक उपयोगितावादी चिन्तक मानता रहा, तथापि उसने पूर्व के उपयोगितावादी दर्शन को मौलिक रूप से संशोधित कर दिया है। उसके सिद्धान्त में राज्य का उद्देश्य उपयोगिता (अधिकतम सुख) की अभिवृद्धि करना न होकर व्यक्ति एवं सम्पूर्ण समाज की सामाजिक नैतिकता की अभिवृद्धि करना हो गया। अत: मिल को उपयोगितावादी विचारकों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। साथ ही उसे न तो सच्चे अर्थ में व्यक्तिवादी विचारक कहा जा सकता और न ही एक समाजवादी विचारक। यदि उसे लोकतन्त्रवादी कहें तो बीसवीं सदी के लोकतन्त्रवाद के साथ उसके विचार असंगतिपूर्ण ही सिद्ध होते हैं। इस दृष्टि से राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में मिल को विशुद्धतया किसी निश्चित विचारधारा के प्रतिपादकों या समर्थकों की श्रेणी में रखना संगत नहीं होगा। वह एक ऐसा उपयोगितावादी चिन्तक था जिसने उपयोगितावाद के सुखवादी सिद्धान्त को ही निर्मूल कर दिया। वह एक ऐसा व्यक्तिवादी चिन्तक था जिसने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पुरजोर समर्थन करते हुए भी सामाजिक हित में उसके ऊपर अनेक प्रतिबन्ध लगाने की बात कही। वह एक ऐसा समाजवादी चिन्तक था जिसने समाजवाद की कई मूलभूत धारणाओं को पूर्णतया अस्वीकार किया। और, वह एक ऐसा लोकतन्त्रवादी था जिसने लोकतन्त्र के अनेक मौलिक सिद्धान्तों की उपेक्षा करके अनिच्छापूर्ण ढंग से लोकतन्त्र को स्वीकार किया।

राजनीतिक चिन्तन को मिल की महत्त्वपूर्ण देन उसका स्वतन्त्रता सम्बन्धी सिद्धान्त है। उन्नीसवीं सदी में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के ऊपर लिखी गयी उसकी सूक्ष्म रचना राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में एक अनुपम रचना सिद्ध हुई है। बार्कर ने कहा है कि इस रचना में मिल ने 'स्वतन्त्रता की धारणा की अधिक गहन तथा अधिक आध्यात्मिक व्याख्या की है।' यह वह युग था जबकि सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में जो बुराइयाँ समाज के अन्तर्गत आ गयी थीं उन्हें दूर करने के उपायों पर चिन्तन किया जाने लगा था और औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप इन क्षेत्रों में न केवल व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की कामना की जा रही थी, अपितु सामाजिक हित तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता के मध्य सामंजस्य स्थापित करने की आवश्यकता प्रतीत की जा रही थी। बेंथम द्वारा प्रतिपादित सुधार योजनाओं तथा लोकतन्त्री धारणाओं को केवल भौतिक सुख की दृष्टि से लेना समुचित नहीं जान पड़ता था। मिल ने अपनी रचनाओं द्वारा इन समस्याओं पर मानवीय दृष्टिकोण से विचार किया। उसने धनी, व्यापारी, उद्योगों के मालिकों, श्रमिकों, आदि सभी वर्गों के निमित्त व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की धारणा को व्यक्त किया। साथ ही व्यापार संघों

तथा अन्य ऐच्छिक संघों की स्वतन्त्रता तथा आर्थिक क्षेत्र में कानूनों के सामाजिक नियमन की सम्भावना को भी समर्थन दिया था। इतना होते हुए भी बार्कर का मत है कि 'मिल एक खोखली स्वतन्त्रता तथा एक भावात्मक व्यक्ति का पैगम्बर था। उसके विचारों मे अधिकारों का कोई स्पष्ट दर्शन नहीं था और बिना इसके स्वतन्त्रता के कोई ठोस माने नहीं निकल सकते। उसे एक ऐसे समूचे समाज की धारणा का ज्ञान नहीं था जिसके कारण ही राज्य-व्यक्ति के सम्बन्धों का झूठा प्रतिवाद समाप्त हो सकता है।'[1] बेंथम की भाँति जे० एस० मिल भी समाज के सावयविक स्वरूप की कल्पना नहीं कर सका। अत: राज्य तथा व्यक्ति के मध्य सम्बन्धों का समुचित निरूपण न कर सकने के कारण उसकी वैयक्तिक स्वतन्त्रता की धारणा खोखली रह गयी। वास्तव में मिल का दर्शन राज्य की किसी विशिष्ट या तात्विक विचारधारा का विवेचन नहीं कर पाया है, जिसके कारण उसकी स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा दोषपूर्ण रह गयी है।

वेपर का कथन है कि 'बहुत कम लोग इस बात से इनकार करेंगे कि मिल का स्वतन्त्रता सम्बन्धी यह दृष्टिकोण कि वह प्रतिबन्धों का अभाव है, अपर्याप्त है।'[2] एक औद्योगिक सभ्यता के युग में स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में ऐसी निषधात्मक धारणा अनुपयुक्त थी। आज के युग में मिल की धारणा का मानव समाज मे न केवल एकाकोपन का अनुभव करता, अपितु वह एक अवास्तविक मूर्ति रह जाता। मिल ने स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में सहचारपूर्ण जीवन के महत्त्व को नहीं समझा। यद्यपि वह व्यावसायिक संघों को विशुद्धतया ऐच्छिक आधार पर मान्यता देता है, तथापि उसने इस तथ्य की उपेक्षा की है कि सामुदायिक जीवन में व्यक्ति की स्वतन्त्रता के ऊपर अनेक सामाजिक प्रतिबन्ध आवश्यक होते हैं और व्यक्ति की स्वतन्त्रता विध्यात्मक भी होती है। विचार-अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर मिल ने यहाँ तक कह दिया कि सनकियों को भी अपने विचार व्यक्त करने से रोकना अनुचित है। इसी प्रकार सम्पूर्ण समाज की धारणा से असहमति रखने वाले एक व्यक्ति को अपने विचार व्यक्त करने से रोकना समाज के लिए मना किया गया है। यद्यपि मिल की यह धारणा जैसा प्रो० सेबाइन का मत है, 'व्यक्ति को ज्ञान, चिन्तन तथा अनुशोध करने और एक विवेकशील प्राणी के रूप में अपनी प्रतिष्ठा से अभिन्न नैतिक तत्त्वों की अभिव्यक्ति के अधिकार को देने का दावा करती है।'[3] तथापि ऐसी स्वतन्त्रता उपयोगितावाद के सिद्धान्त से संगति नहीं रखती और न ही व्यवहार में यह उपादेय सिद्ध हुई है। किसी युग की सामाजिक व्यवस्था के संचालन में समाज के विचारों से असहमति रखने वाले व्यक्ति के विचार समाज की व्यवस्था के लिए घातक सिद्ध हो सकते हैं। अत: अपनी रक्षा के लिए तथा स्वय उस व्यक्ति की सुरक्षा के लिए भी समाज की सत्ता उसके ऊपर प्रतिबन्ध लगा सकती है।

जहाँ तक व्यक्ति की कार्यगत स्वतन्त्रता का सम्बन्ध है मिल की व्यक्ति के कार्यों को स्वगत तथा पर-सम्बन्धी दो भागों में बाँटने की धारणा भी भ्रामक सिद्ध

[1] 'Mill was the prophet of empty liberty and an abstract individual. He had no clear philosophy of rights, through which alone the conception of liberty attains a concrete meaning; he had no clear ideas of that social whole in whose realization the false antithesis of 'State' and individual disappears.' —Barker, *Political Thought in England*, 1848–1914, 4.

[2] Wayper, *op. cit.*, 127.

[3] Sabine, *op. cit.*, 560.

होती है। इस विभाजन की कसौटी का निर्धारण करना बहुत कठिन कार्य होगा। बहुधा व्यक्ति के अनेक तथा कथित उसके 'स्व' से ही सम्बन्ध रखने वाले कार्यों का सम्बन्ध समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ किसी न किसी रूप में होता ही है। मिल व्यक्तित्व विकास को सर्वाधिक महत्त्व देता है। परन्तु यह धारणा भ्रामक है कि व्यक्तित्व विकास अप्रतिबन्धित व्यक्तिगत स्वतन्त्रता द्वारा ही सम्भव हो सकेगा। अपने भाग्य का निर्माता व्यक्ति को ही मानना उचित नहीं है। यह सम्भव है कि व्यक्ति कोई ऐसा कार्य करे जिसका सम्बन्ध केवल उसके स्व के साथ हो, परन्तु उसका कार्य स्वयं उसके व्यक्तित्व विकास के लिए बाधक सिद्ध हो तो क्या समाज की सत्ता को उसके ऐसे कार्य पर प्रतिबन्ध लगाना नैतिकता नहीं होगी ?

वेपर ने मिल के गुप्त मतदान प्रथा का विरोध करने के विचारों के बारे में कहा है कि 'मिल अपने दर्शन को स्वतन्त्र व्यक्ति पर आधारित करने के औचित्य को प्रकट करने में असमर्थ रहा है।'[1] मिल का मत था कि निर्वाचनों में किया जाने वाला प्रचार कार्य व्यक्ति को स्वार्थ के वशीभूत होकर मतदान करने से रोकेगा। गुप्त मतदान मे व्यक्ति स्वार्थ से प्रेरित होकर मतदान करेगा। यदि ऐसी बात थी तो मिल को व्यक्ति की अपेक्षा समाज को श्रेष्ठ स्थिति प्रदान करनी चाहिए थी।

यद्यपि मिल की शिक्षा-दीक्षा उस उपयोगितावादी विचारधारा का विकास तथा प्रसार करने के उद्देश्य से की गयी थी जिसका प्रतिपादन बेंथम तथा जेम्स मिल ने किया था, तथापि जे० एस० मिल ने उपयोगितावाद के उक्त सिद्धान्त को पूर्णतया असंगतिपूर्ण बना दिया। मिल की यह धारणा कि सुखों तथा दुःखों में गुणात्मक अन्तर भी होता है और कुछ सुख अन्यों की तुलना में उच्चतर होते हैं, यह दर्शाती है कि सुखों की नाप-तौल सम्भव नहीं है। यदि ऐसा है तो अधिकतम सुख का उपयोगितावादी सिद्धान्त ही निर्मूल हो गया। सैबाइन ने कहा है कि 'उसने (मिल ने) उपयोगितावाद को व्यक्तिगत नैतिकता के आचारशास्त्र में परिणत कर दिया, जिसमें बेंथम तथा जेम्स मिल की शायद ही कोई अभिरुचि रही थी, परन्तु उसने विधायन के मार्ग-दर्शक के रूप में अपने इस सिद्धान्त का कोई समरूप महत्त्वपूर्ण प्रयोग नहीं किया।'[2] बेंथम तथा जेम्स मिल ने सम्पूर्ण सुधार योजनाओं का मूलभूत आधार उपयोगितावादी (अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख) सिद्धान्त को बनाया था। परन्तु जे० एस० मिल ने उपयोगितावाद के सम्बन्ध में संशोधन के निमित्त जो तर्क दिये थे उनके आधार पर वह उपयोगितावाद की ओर अधिक स्पष्ट व्याख्या करने में न केवल असफल रहा, अपितु उसने इसमें और जटिलताएँ उत्पन्न कर दीं।

मिल की लोकतन्त्री धारणाएँ भी दोषपूर्ण सिद्ध होती हैं। लोकतन्त्र का एक आधारभूत सिद्धान्त 'समानता' है, परन्तु मिल समानता के सिद्धान्त पर विश्वास नहीं रखता। बेंथम ने सुख-दुःखों की नाप के सम्बन्ध में 'एक व्यक्ति एक मत' के सिद्धान्त को महत्त्वपूर्ण मानकर लोकतन्त्र का मार्ग प्रशस्त किया था। परन्तु मिल के मत से जिन व्यक्तियों का ज्ञान अधिक विकसित है उनके आनन्दों का मूल्य ज्ञान के क्षेत्र में अल्पविकसित व्यक्तियों के आनन्दों में उच्चतर है। इस प्रकार 'मानवों के मध्य मौलिक समानता के अधिकार के सिद्धान्त का प्रतिरक्षण करने में मिल की असफलता उसके लोकतन्त्र के प्रतिरक्षण की वास्तविक दुर्बलता है।'[3] मिल ने बेंथम के ऊपर यह

[1] Wayper, *op. cit.*
[2] Sabine, *op. cit.*, 559.
[3] Wayper, *op. cit.*, 127.

सुधार तो किया कि महिलाओं को राजनीतिक अधिकार प्राप्त होना चाहिए, परन्तु वह सार्वभौम वयस्क मताधिकार का समर्थन नहीं कर पाया। उसने शिक्षितों तथा धनिकों के मतों को गुरुत्व प्रदान करने तथा उन्हें बहुल मतदान करने का अधिकार देने की धारणा व्यक्त करके लोकतन्त्री समानता के सिद्धान्त को अमान्य किया। मिल का स्वतन्त्रता पर लिखा गया निबन्ध लोकतन्त्र का प्रतिरक्षण न करके व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का प्रतिरक्षण करता है। मिल का लोकतन्त्र कुलीनतन्त्रात्मक अधिक है।

मिल के आर्थिक विचार भी अन्य विचारों की भाँति मिश्रित प्रकृति के हैं। सैबाइन के मत से मिल सम्पत्ति के वितरण के सम्बन्ध में समाजवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए पुरानी विचारधाराओं की आलोचना करने मे सही दृष्टिकोण अपनाता है। परन्तु उसकी एक कमी यह है कि 'वह उत्पादन तथा वितरण के मध्य एक सामंजस्यपूर्ण रेखा खींचने में भ्रम में पड़ गया', क्योंकि वह उत्पादन के सम्बन्ध में पूँजीवादी धारणा का समर्थक है। समाजवादी वितरण तथा पूँजीवादी उत्पादन की अर्थव्यवस्था अव्यावहारिक है। मिल के लगभग सभी विचार असंगतिपूर्ण लगते हैं। वह जिस धारणा को लेता है उस पर विचार करते-करते भ्रमजाल में फँस जाता है। परिणामस्वरूप उस धारणा के मूलभूत तत्त्वों को भुलाकर उसे जटिल बना देता है। वेपर ने कहा है कि मिल के सम्बन्ध में यह आलोचना की जाती है कि 'वह ऐसा विश्वास करने में रत था कि वह केवल किसी पद्धति में सुधार लाना चाहता है, परन्तु वास्तव में वह उस पद्धति को ही नष्ट देता है।'[1] इन सब कमियों तथा असंगतियों के बावजूद राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में वह उन्नीसवीं सदी के इंग्लैण्ड के विचारों के मध्य एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

[1] *Ibid.*, 125.

उन्नीसवाँ अध्याय

प्रत्यक्षवाद : ऑगस्ट काम्टे

राजनीतिक चिन्तन में प्रत्यक्षवाद का अभिप्राय सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं का अध्ययन भौतिकतावादी दृष्टिकोण से करना है। धर्म, आध्यात्मिक तथा तत्त्व मीमांसा के आधार पर राजनीतिक विषयों का अध्ययन अप्रत्यक्ष है। इनके द्वारा निकाले गये निष्कर्ष अमूर्त विश्वास तथा अव्यक्त धारणाओं पर आधारित होने के कारण यथार्थ का प्रतिनिधित्व नहीं करते। विज्ञान के द्वारा निकाले गये निष्कर्ष तथा सिद्धान्त प्रत्यक्ष तथ्यों के ऊपर प्रयोग करके यथार्थ सत्य के प्रतीक होते हैं जिन पर अविश्वास या भ्रम करने का कोई कारण नहीं रह जाता। वैज्ञानिक खोजों के कारण समाज के औद्योगिक, व्यावसायिक एवं सामाजिक जीवन के विविध क्षेत्रों में बड़ी द्रुत गति से परिवर्तन होने लगे थे। अतएव प्रकृति तथा भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में हो रही इन प्रगतियों ने उन्नीसवीं शताब्दी के अनेक चिन्तकों को यह प्रेरणा दी कि जिस प्रकार भौतिक तथा प्रकृति विज्ञान के कुछ विशिष्ट नियम होते हैं और यथार्थ तथ्यों पर प्रयोग करके उनकी सत्यता का ज्ञान किया जा सकता है और उन्हें यथार्थ जगत के विविध क्षेत्रों में लागू करके नई खोजें की जा सकती हैं, उसी प्रकार सामाजिक जीवन के भी कुछ आधारभूत नियम होते हैं जिनकी खोज प्रत्यक्ष या यथार्थ तत्त्वों के आधार पर की जा सकती है और वही नियम मानव जीवन के विविध क्षेत्रों, व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि में लागू किये जाएँ तो मानव की विविध समस्याओं का समाधान प्रत्यक्ष या यथार्थ के आधार पर किया जा सकता है। यह वैज्ञानिक सत्य है। अतएव उन्नीसवीं शताब्दी के जिन चिन्तकों ने राजनीतिक समस्याओं के अध्ययन में इस पद्धति को अपनाया उन्हें प्रत्यक्षवादी (positivists) कहा जाने लगा। इस श्रेणी में ऑगस्ट काम्टे प्रमुख हैं।

ऑगस्ट काम्टे (1798–1857)

ऑगस्ट काम्टे (Auguste Comte) का जन्म फ्रांस के मॉटपिलर नामक स्थान में हुआ था। वह एक प्रतिभाशाली छात्र था। गणित में उसे विशेष दक्षता प्राप्त थी। वह प्रावैधिक (polytechnique) संस्था का छात्र रहा था और बाद में उस संस्था में कभी-कभी उसे अध्यापन या परीक्षक का कार्य भी मिला। परन्तु स्वभाव से वह उग्र तथा अहंकारवादी था। अतः उसे जीवन में स्थायित्व नहीं मिल पाया। ज्ञान के क्षेत्र में वह अपने विचारों के सम्बन्ध में इतना आश्वस्त था कि अन्यों के साथ समझौता नहीं कर सकता था। साइमन के साथ उसका सम्पर्क इसीलिए अधिक नहीं रह पाया। स्वयं साइमन भी कुछ ऐसी ही प्रकृति का था। काम्टे का युग द्रुत वैज्ञानिक प्रगति का युग था। औद्योगिक तथा व्यावसायिक क्षेत्रों में विज्ञान

की प्रगति ने बडा भारी परिवर्तन कर दिया था, जिसके कारण सामाजिक जीवन भी प्रभावित हो रहा था। साइमन तथा काम्टे दोनों ने अनुभव किया कि जहाँ विज्ञान तथा उद्योग गतिशील स्वरूप धारण कर रहे हैं, वहाँ राजनीति स्थिर है। वह बड़े-बड़े वक्ताओं, वकीलों, पत्रकारों तथा राजनीतिज्ञों के हाथ में बँधी हुई है, जो प्रगति तथा विज्ञान के समक्ष समयोचित नहीं रह गये हैं। काम्टे 1824 से 1842 की दीर्घ अवधि तक समाज के वैज्ञानिक आधार की खोज करता रहा और अपनी प्रसिद्ध रचना 'The Course of Positive Philosophy' में उसने इन विचारों का विशद विवेचन किया। इस रचना में उसने मानव समाज के आधारभूत नियमों की शोध का प्रयास किया है। उसके विचार से इस रचना में समस्त विज्ञान की क्रम-बद्धता तथा मानव इतिहास का पुनरवलोकन किया गया है। अपनी दूसरी रचना 'The System of Positive Polity' (1851) में काम्टे ने एक प्रत्यक्षवादी राज्य का विवरण प्रस्तुत किया है, जिसे वह नेपोलियन तृतीय के द्वितीय साम्राज्य का अनुगमन करने वाला मानता था।

काम्टे ने अपनी रचनाओं में उन यथार्थ समस्याओं का विवेचन किया है, जो मानव के समक्ष प्रत्यक्षत: आती हैं, यथा, समाज में सत्ता तथा राय की समस्या, वैज्ञानिकों तथा व्यवसायियों एवं अविशेषज्ञ राजनयिकों के तरीकों के मध्य भेद, तथा समाज में एक औचित्यपूर्ण अन्ध श्रद्धा की आवश्यकता (necessity of a legitimizing myth in society)। उसने सामाजिक नियोजन, सामाजिक अभियन्त्रण एवं शासन और प्रशासन की समस्याओं, शिक्षा, महिलाओं की स्थिति, धार्मिक संस्थाओं आदि का विवेचन भी अपने प्रत्यक्षवादी दर्शन के आधार पर किया है। इस प्रकार काम्टे का प्रत्यक्षवाद समाज तथा राजनीति की समस्याओं को वैज्ञानिक आधार पर लेता है और इसीलिए राजनीतिक चिन्तन में प्रत्यक्षवाद काम्टे के नाम से जुड़ गया है। वास्तव में प्रत्यक्षवाद वैज्ञानिक समाजशास्त्रीय विधि से राजनीतिक चिन्तन करने की पद्धति है।

काम्टे का प्रत्यक्षवाद—काम्टे के मत से ज्ञान का महत्त्व तभी है जबकि उसे जीवन के व्यावहारिक व्यापारों में लागू किया जाय। जिस सत्य या ज्ञान का यथार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है, वह निरर्थक है। काम्टे तत्कालीन विश्वविद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा का इसी आधार पर विरोध करता था कि उसका मानव जीवन की वास्तविकताओं से कोई सम्बन्ध नहीं था। काम्टे का दावा था कि उसने मानव समाज का नियमन करने वाले वैज्ञानिक नियमों की खोज की है और उन्हें समाज में लागू किया जा सकता है। काम्टे कोरे बुद्धिमूलक विचारों को अवैज्ञानिक कहता है, क्योंकि वे प्रत्यक्ष या यथार्थ से दूर हैं। धार्मिक या आधिभौतिक पद्धतियों पर आधारित राजनीतिक या सामाजिक सिद्धान्त तथ्यों द्वारा प्रमाणित नहीं होते। अत: वे प्रगति के मार्ग में बाधक हैं। काम्टे का विश्वास था कि तथ्यों की सही प्रकृति के आधार पर विज्ञान तथा समाज-विज्ञान के नियमों का प्रतिपादन सम्भव है। वैज्ञानिक पद्धति किसी प्रक्रिया या वस्तु की सत्यता का ज्ञान, उसके होने का कारण ज्ञात करने के उद्देश्य से नहीं करती बल्कि यह ज्ञात करती है कि वह कैसे हुई।[1] काम्टे के मत से 'विज्ञान से पूर्व दृष्टि की उत्पत्ति होती है और पूर्व दृष्टि से कार्यवाही की'

[1] The scientist *as scientist* can be legitimately interested only in the 'How' of things, not the 'Why'. —Quoted in Lancaster, *op. cit.*, 76.

(From science comes prevision, from prevision comes action) । मानव समाज का नियमन तथा संचालन करने वाले नियमों की वैज्ञानिक ढंग से खोज की जानी चाहिए और उनके आधार पर सामाजिक जीवन से सम्बद्ध समस्याओं का समाधान किया जाना चाहिए। इस पद्धति को काम्टे प्रत्यक्षवाद (Positivism) कहता है और इस विधि को वह यथार्थ विधि कहता है।

काम्टे के मत से यदि विचार विश्व का नियमन करते हैं तो मानव-मस्तिष्क को विकासशील माना जाना चाहिए। मानव-मस्तिष्क का विकास तीन चरणों में हुआ है। यह 'तीन चरणों का नियम' काम्टे के प्रत्यक्षवाद का मूलभूत तत्त्व है। इस नियम के अनुसार ज्ञान की प्रत्येक शाखा का विकास तीन क्रमागत चरणों से होकर गुजरता है—(1) धार्मिक, (2) आधिभौतिक, और (3) वैज्ञानिक या प्रत्यक्षवादी। काम्टे समाज के ऐतिहासिक विकासक्रम में राज्य-व्यवस्थाओं तथा चिन्तन के उक्त तीन चरणों के क्रम को मानता है। धार्मिक (theological) चरण में मानव-मस्तिष्क सम्पूर्ण प्रक्रिया या निरपेक्ष ज्ञान को अलौकिक (supernatural) सत्ता पर विश्वास के आधार पर हुई मानता है। आधिभौतिक (metaphysical) चरण में वह समस्त प्रक्रियाओं को भावनामूलक शक्तियों पर आधारित मानता है; और वैज्ञानिक या प्रत्यक्षवादी (positive) चरण में इन सत्यताओं की खोज तर्क, प्रयोग, प्रत्यक्ष अनुभव तथा पर्यवेक्षण के आधार पर की जाती है। काम्टे 'तीन चरणों के नियम' को राजनीतिक चिन्तन तथा राज्य-व्यवस्थाओं के क्षेत्र में लागू करते हुए दर्शाता है कि मध्य युग तक राजनीतिक चिन्तन का स्वरूप धार्मिक (theological) था और राजनीतिक समाजों की सत्ता धर्मगुरुओं के हाथ में या योद्धाओं के हाथ में थी, जो दैवी सत्ता का दावा करके समाज के शासक बने रहे। विवेकवाद के युग में प्राकृतिक अधिकार, स्वतन्त्रता, लोक प्रभुसत्ता सदृश धारणाएँ भावनामूलक तर्कों के आधार पर व्यक्त की जाने लगीं और वे लोग सत्ताधारी बन गये जो इन तर्कों को प्रस्तुत करने में चतुर थे, यथा पत्रकार, वकील, वक्ता, राजनयिक आदि। काम्टे के मत से यह द्वितीय चरण प्रथम के ऊपर एक सुधार था। परन्तु इस युग को वह 'अराजकता' कहता है, क्योंकि इस युग में समानता, लोक प्रभुसत्ता, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता सदृश भावनामूलक धारणाओं की मान्यता के कारण यथार्थ माने में सरकारों का अस्तित्व सम्भव नहीं था। फिर भी वह यह मानता है कि ऐसा युग समाप्ति की दिशा में बढ़ रहा है। इस 'तीन चरणों के नियम' को काम्टे ज्ञान की प्रत्येक शाखा गणित, जीव विज्ञान, भौतिक विज्ञान यहाँ तक कि समाज विज्ञान आदि सभी में लागू मानता है। परन्तु उनके मत से प्रकृति विज्ञानों के अन्तर्गत तृतीय चरण अर्थात् प्रत्यक्षवाद का पर्याप्त विकास हो चुका है। अतः समाजविज्ञान में भी इसका विकास उसी रूप में होना है, ताकि उसके आधार पर सामाजिक संगठन वैज्ञानिक ढंग से निर्मित हो सके और समाज की राजनीतिक व्यवस्था भी वैज्ञानिक ढंग से संचालित हो सके। काम्टे का दावा था कि उसने ऐसे वैज्ञानिक नियमों की खोज की है। तदनुसार उसने राजनीतिक समाज से सम्बद्ध विविध संस्थाओं के स्वरूप, कार्यप्रणाली आदि को अपने समाज विज्ञानवादी विचारों के आधार पर व्यक्त किया है।

सरकार तथा सामाजिक संरचना—काम्टे के अनुसार प्रत्यक्षवादी दर्शन पर आधारित राज्य-व्यवस्था में समाज का संचालन एक मानव धर्म (religion of

humanity) के आधार पर होगा, जिसमें धर्मगुरुओं का स्थान ऐसे समाजशास्त्री लेंगे जो समाज के कानून का ज्ञान रखते हों। प्रत्येक मनुष्य उसका सदस्य होगा। ऐसे समाज में महिलाओं की स्थिति सामाजिक नैतिकता में प्रभावपूर्ण होगी। ऐसे समाज की शासन-व्यवस्था के लिए छोटे-छोटे राजनीतिक समाज होंगे जिनकी संख्या 10 से 30 लाख के मध्य होगी। काम्टे यह कल्पना करता है कि प्रत्यक्षवादी व्यवस्था के अन्तर्गत विश्व में लगभग 500 राज्य होंगे। समाज में दो वर्ग होंगे : कुलीन (Bankers and Patricians) तथा श्रमिक (Proleteries)। कुलीन वर्ग कृषि, उद्योग तथा व्यवसाय के कार्यों का संचालन करेंगे। साहूकारों के हाथ में शासन-सत्ता रहेगी। यह कुलीन वर्ग सम्पूर्ण जनता का तीसवाँ भाग होगा। श्रमिक उनकी 16 गुनी संख्या में होंगे। काम्टे ने कृषि, व्यवसाय, उद्योग आदि में लगे कुलीन तथा श्रमिकों की संख्या उनके पारस्परिक अनुपात आदि का भी विशद विवरण दिया है। शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में काम्टे कुलीनतन्त्री नौकरशाही का समर्थन करता है और संसदीय संस्थाओं का आलोचक है, क्योंकि उसके मत से वे कभी समाप्त न होने वाले वाद-विवादों तथा निश्चित कार्यवाही के सिद्धान्तों का अनुगमन करती हैं और यथार्थ की उपेक्षा करती हैं। प्लेटो की भाँति काम्टे भी यह मानता है कि 'जानकार लोगों को ही शासन करने का अधिकार होना चाहिए।' साथ ही वह यह भी मानता है कि ज्ञान थोड़े-से लोगों का हित होता है, शेष केवल 'रायों' के आधार पर ज्ञान रखने का दावा करते हैं। काम्टे को लोकतन्त्र से कोई सहानुभूति नहीं थी। इसे वह आधिभौतिक युग की उपज मानता है। वैज्ञानिक युग के यथार्थवादी राज्य में वह लोकतन्त्र को एक असंगतिपूर्ण व्यवस्था कहता है, क्योंकि वह केवल भावात्मक सिद्धान्तों यथा प्राकृतिक अधिकार, संविदा, शक्ति-पृथक्करण, संविधानवाद, आदि पर आधारित है। काम्टे के प्रत्यक्षवादी राज्य में अधिकारों की अपेक्षा कर्त्तव्य को अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। कर्त्तव्य से उसका अभिप्राय यथार्थ के सन्दर्भ में प्रत्येक व्यक्ति तथा संस्था के सम्पूर्ण सामाजिक जीवन में वास्तविक कार्यभाग तथा योगदान से है।

काम्टे ने समाज विज्ञान के नियमों को सम्पूर्ण राज्य-व्यवस्था में लागू करने पर जोर दिया है। उसके अनुसार ये नियम दो प्रकार के हैं—(1) वे नियम जो सामाजिक सम्बन्धों के लिए आधारभूत स्थितियों से सम्बद्ध हैं। इन्हें वह सामाजिक स्थैर्य (social statics) के नियम कहता है। ये सामाजिक व्यवस्था के सूचक हैं। (2) वे नियम जो सामाजिक सम्बन्धों के विकास से सम्बद्ध हैं, ये सामाजिक गति (social dynamics) के नियम हैं। ये सामाजिक प्रगति के द्योतक हैं। इन दोनों का सामूहिक नाम समाज विज्ञान है। एक सभ्य समाज की जीवन व्यवस्था तथा प्रगति की अपेक्षा करता है। यद्यपि काम्टे ने राज्य तथा सरकार का दार्शनिक विवेचन करने में कोई अभिरुचि नहीं दर्शायी है, और उसकी अभिरुचि समाज का विवेचन करने में अधिक थी, तथापि वह सरकार तथा समाज को एक-दूसरे के लिए आवश्यक मानता है। सरकार समाज में व्यवस्था बनाये रखने के लिए आवश्यक है। काम्टे शक्ति को सरकार का आधार मानता है, क्योंकि 'प्रत्येक मानव समाज का आधार भौतिक शक्ति है।' परन्तु साथ ही वह समाज के निर्माण तथा विकास में बौद्धिक, नैतिक तथा धार्मिक शक्तियों के योगदान की भी उपेक्षा नहीं करता। इसके निमित्त

उसने नये मानव धर्म की कल्पना की है, जिसमें समाजशास्त्री धर्मगुरु होंगे, महिलाएँ समाज को नैतिक शक्ति प्रदान करेंगी और कुलीन वर्ग शासक होंगे। वे श्रमिक वर्ग का निदेशन करते हुए समाज की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का भी कार्य करेंगे, यथा कृषि, उद्योग, व्यापार, व्यवसाय आदि।

यद्यपि काम्टे श्रमिक वर्ग के अधिकारों तथा शासन में उनके भाग की उपेक्षा करता है, तथापि उसकी धारणा के प्रत्यक्षवादी राज्य में जहाँ उनसे समाज-सेवा की अपेक्षा की गई है, वहाँ उनके लिए समुचित वेतन तथा उत्पादन में से एक अनुपाती भाग की गारण्टी की व्यवस्था भी बतायी गई है। उसके जीवन-स्तर को उच्च करने की बात भी काम्टे करता है। समुचित योग्यता रखने वाले श्रमिकों को समाज के धर्मगुरुओं तथा कुलीनों की स्थिति में लाने तथा उनके द्वारा शासकों के कार्यों की आलोचना किये जा सकने की धारणा भी सुझाई गई है। परन्तु इसे काम्टे लोक प्रभुसत्ता की धारणा मानने को तैयार नहीं है। काम्टे प्रेस की स्वतन्त्रता सदृश धारणा का भी विरोधी है। वह इन्हें 'अराजकता की संस्थाएँ' कहता है। उसके विचार से समाचार-पत्रों का स्थान Placard की व्यवस्था लें और उनमें लेखक के नाम अंकित रहें। यथावसर पेम्फलेट भी प्रयुक्त किये जा सकते हैं। जनमत को जागृत करने के निमित्त इनके अतिरिक्त काम्टे सैलोन (salons) की व्यवस्था का भी समर्थन करता है। सैलोन में धर्मगुरु, साहूकार, श्रमिक आदि क्रमशः एक साथ बैठें और विचार-विनिमय करें। इन बैठकों की अध्यक्षता महिलाएँ करेंगी। सामाजिक गतिविधियों में काम्टे महिलाओं की विनम्रता की बहुत सराहना करता है।

शिक्षा—काम्टे के समाज व्यवस्था-सम्बन्धी विचारों का उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण यह दर्शाता है कि वह वास्तव में एक राजनीतिक चिन्तक की अपेक्षा एक समाजशास्त्री तथा समाज-सुधारक है। उसकी प्रत्यक्षवादी राज्य या समाज व्यवस्था निवर्तमान व्यवस्था मे ऐसे मौलिक परिवर्तन लाना चाहती है जो यथार्थ पर आधारित हों, न कि परम्परागत धार्मिक विश्वासों या भावनामूलक सिद्धान्तों पर। ऐसी व्यवस्था के लिए काम्टे ने शिक्षा-पद्धति में परिवर्तन को बहुत महत्त्व दिया है। उसके मत से शिक्षा का स्वरूप भी समाजशास्त्रीय होना चाहिए जो नये मानव-धर्म के प्रति विद्यार्थियों में अभिरुचि उत्पन्न करे और जिसमें स्वार्थ की भावना समाज-सेवा की भावना में परिणत हो सके। अतः काम्टे ने शिक्षा की विशद योजना भी प्रस्तुत की है। शिक्षा जन्म से लेकर 21 वर्ष की अवस्था तक चलेगी। 14 वर्ष की अवस्था तक बच्चा माता की देखरेख में शिक्षा ग्रहण करेगा। इसके बाद उसके मानसिक तथा बौद्धिक उत्थान का कार्य धर्मगुरु करेंगे। धर्मगुरु से काम्टे का अभिप्राय समाजशास्त्रवेत्ताओं से है, न कि परम्परागत रहस्यमय धर्म के पुजारियों से। इस योजना के अन्तर्गत काम्टे मानव-धर्म पर आधारित समाज-व्यवस्था में महिलाओं को बहुत उच्च स्थिति देता है क्योंकि उसके विचार से महिला सार्वभौम प्रेम की देवी है। 14 वर्ष की आयु तक के बच्चों में वह अपने स्वभाव से प्रेम की भावना जागृत कर सकती है। 14 वर्ष के उपरान्त बच्चा समाज-विज्ञान के आधारभूत तत्त्वों को समझने की क्षमता रख सकता है। इस अवस्था में बच्चों को गणित, नक्षत्र विद्या, भौतिकविज्ञान, रसायनविज्ञान, जीवविज्ञान एवं समाज-विज्ञान की शिक्षा के साथ-साथ सामाजिक नैतिकता का ज्ञान भी कराया जायेगा। 'ज्ञान के लिए ज्ञान' की धारणा को वह प्रत्यक्षवादी राज्य के लिए असंगतिपूर्ण मानता है। उसकी शिक्षा

योजना एक यथार्थवादी समाज में उत्तम नागरिकों के निर्माण का उद्देश्य रखती है और वह ऐसी सम्पूर्ण रचनाओं को समाप्त कर देना चाहता है जो इस उद्देश्य से असंगतिपूर्ण हों।

समाज व्यवस्था—काम्टे ने प्रत्यक्षवादी समाज के निमित्त शिक्षा तथा शासन-व्यवस्था की अपनी योजनाएँ प्रस्तुत करने के साथ-साथ अनेक नयी व्यवस्थाएँ भी बतायी हैं। उसने एक वर्ष की अवधि को 13 महीनों में बाँटने का सुझाव दिया है। ये महीने समाज के विकास में योगदान करने वाले महापुरुषों के नाम से (यथा होमर, सन्तपाल, सीजर, शार्लमेन, शेक्सपियर आदि) सम्बोधित होंगे। काम्टे ने वर्ष में 81 सामाजिक त्यौहार गिनाये हैं। उसने कुछ संस्कारों को भी आवश्यक बताया है जो परम्परागत ईसाई धर्म-संस्कारों से सम्बद्ध नहीं होंगे। उनका उद्देश्य ईश्वर के साथ मिलन नहीं होगा, अपितु 'मानवता' के साथ मिलन होगा। ये संस्कार प्रौढ़ता, विवाह, व्यवसाय का चयन, सेवा-निवृत्ति, मृत्यु आदि से सम्बद्ध होंगे और इन अवसरों पर औपचारिक संस्कार किये जायेंगे। इस प्रकार काम्टे का प्रत्यक्षवादी समाज यथार्थ के युग में परम्परागत रहस्यमय धार्मिक विश्वासों तथा आधिभौतिक युग के भावात्मक सिद्धान्तों के आधार पर व्यवस्थित तथा संचालित नहीं होगा, अपितु उसका धर्म मानवतावादी होगा, जो सामाजिक जीवन की वैज्ञानिक यथार्थता से सम्बद्ध रहेगा। इसमें जीवन का लक्ष्य मानव-प्रेम तथा मानवता की सेवा करना होगा। जीवन कोरी आध्यात्मिक भावनाओं पर आधारित न होकर यथार्थ भौतिक मानवता पर आधारित होगा। यही काम्टे का वैज्ञानिक समाजशास्त्रीय राजनीतिक चिन्तन है।

मूल्यांकन—यद्यपि मानव समस्याओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन काम्टे से पूर्व भी अनेक राजनीतिक चिन्तक करते रहे थे, तथापि विज्ञान के युग में समाजशास्त्र के वैज्ञानिक नियमों की खोज करने का श्रेय काम्टे ने लिया है। प्लेटो से लेकर रूसो तक अनेक महान् विचारकों ने राज्य की समस्याओं को समाज के साथ सम्बद्ध किया था। परन्तु काम्टे ने उन्हें धार्मिक, आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक युग की भावनामूलक धारणाएँ कहकर तिरस्कृत किया और उनमें यथार्थ से दूर होने का आरोप लगाया। काम्टे ने अपने विचारों को भले ही विज्ञान तथा प्रत्यक्ष या यथार्थ पर आधारित मानकर यह दावा किया है कि उसने समाज विज्ञान के आधारभूत नियमों की खोज की है, तथापि उसने समाज-व्यवस्था की जो योजनाएँ रखी हैं वे प्लेटो के रिपब्लिक में चित्रित व्यवस्था के सदृश ही स्वप्नलोकी लगती हैं। फिर भी काम्टे ने उन्हें तर्कपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है और उसने समाज की संरचना के निमित्त जो वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत किया है, उसका प्रभाव भविष्य के चिन्तकों पर पड़े बिना नहीं रहा। मिल, स्पेंसर, मार्क्स आदि अनेक विचारकों ने काम्टे के विचारों को लेकर अपने समाज तथा राज्य-सम्बन्धी विचारों को विकसित किया। इसलिए काम्टे को राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में समाजशास्त्रीय पद्धति से राजनीतिक चिन्तक की परम्परा डालने वाले वैज्ञानिक विचारकों की श्रेणी में सर्वप्रथम स्थान दिया जाता है। भले ही वह एक क्रमबद्ध राजनीतिक चिन्तक नहीं बन पाया, तथापि समाजविज्ञान को उसकी महत्त्वपूर्ण देन है। लेंकास्टर के अनुसार, 'काम्टे में एक सही तथा निष्काम भावना से कार्य करने वाले व्यक्ति के दर्शन होते हैं जिसने एक ऐसे समाज के निर्माण की तीव्र इच्छा व्यक्त की जिसमें लोग उद्यमी, उद्योगी, सुखी,

दयालु और शान्तिप्रिय बनें ।'[1]

आलोचना—यद्यपि काम्टे के विचार उन्नीसवीं शताब्दी के विज्ञानवाद के युग में राजनीतिक चिन्तन में समाजविज्ञानवाद तथा जीवविज्ञानवाद की प्रत्यक्षवादी परम्परा लाने में सहायक सिद्ध हुए थे और उन्होंने भविष्य के अनेक चिन्तकों को प्रभावित भी किया था, तथापि काम्टे के विचार पूर्णतया दोष रहित नहीं हैं। वे केवल इस प्रकार की एक चिन्तन परम्परा का आरम्भ करने वाले थे। सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से उनमें अनेक कमियाँ हैं। काम्टे ने सामाजिक विकास के तीन चरणों के सिद्धान्त को सार्वभौम समाजशास्त्रीय सत्य माना था और इसे ज्ञान की प्रत्येक शाखा में लागू भी किया। परन्तु उसका निष्कर्ष यूरोपीय समाज के सम्बन्ध में भले ही सत्य सिद्ध हो, परन्तु वह विश्व के उन सब समाजों में लागू नहीं हो सकता जिनकी सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक परम्पराएँ भिन्न प्रकृति की रही हैं। इन तीन चरणों के विकास की प्रक्रिया, परिवर्तन तथा स्वरूप के बारे में भी विद्वानों में मतभेद हैं। उदाहरण के लिए हीगल ने सामाजिक विकास को द्वन्द्वात्मक बताया था, जिसमें आध्यात्मिक तत्त्व को प्रमुख माना गया है। मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त अपनाया और स्पेंसर ने इसे जीवशास्त्रीय ढंग चित्रित किया। काम्टे ने विज्ञान के युग में पूर्णतया भौतिकवादी दृष्टिकोण अपनाकर सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में धार्मिक, नैतिक तथा आधिभौतिक तत्त्वों की उपेक्षा की है, जो सत्य नहीं है। विज्ञान धर्म का विरोधी नहीं है और न ही नैतिकता का। काम्टे के शासन व्यवस्था-सम्बन्धी विचार लोकतन्त्री तत्त्वों की पूर्ण उपेक्षा करते हैं, जो बीसवीं शताब्दी की एक प्रमुख विचारधारा है। काम्टे का सामाजिक व्यवस्था-सम्बन्धी काल्पनिक विवरण केवल स्वप्नलोकी लगता है और वह पूर्णतया यान्त्रिक है। सामाजिक वर्गों का कठोर नियमन, परिवार के सदस्यों की संख्या का निर्धारण, राज्य की जनसंख्या का निर्धारण आदि राष्ट्रीयता के तत्त्वों की उपेक्षा करते हैं और ऐसा कठोर निर्धारण सामाजिक विकास की गतिशीलता का द्योतक नहीं है। महिलाओं की स्थिति के बारे में काम्टे का सुझाव भी अव्यावहारिक तथा अवांछनीय है। मिल के शब्दों में, 'काम्टे का प्रत्यक्षवाद राजनीतिक और आध्यात्मिक दोनों की निरंकुशता का चिन्तन है।'

[1] Lancaster, *op. cit.*, 100.

बीसवाँ अध्याय

जीव विज्ञानवाद : हरबर्ट स्पेंसर
(1820—1903)

यूरोपीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में जितनी भिन्न-भिन्न प्रकार की राजनीतिक विचारधाराओं का प्रतिपादन उन्नीसवीं शताब्दी मे हुआ है उतना सम्भवत: किसी युग या शताब्दी में नहीं हुआ होगा। यह शताब्दी उदारवाद, उपयोगितावाद, व्यक्तिवाद, प्रत्ययवाद तथा विविध रूपों के समाजवादी विचारधाराओं का युग होने के साथ-साथ राजनीतिक परिचर्या का भी युग रही है। इस युग में अनेक ऐसे चिन्तक भी हुए हैं, जिन्होंने राजनीतिक समस्याओं का अध्ययन करने में भौतिक-विज्ञान, जीवविज्ञान, समाजशास्त्र, न्यायशास्त्र, आचारशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान आदि के सिद्धान्तों को अपनाया। इंग्लैण्ड ने इसी युग में एक ऐसे दार्शनिक को जन्म दिया जिसे प्रो० मैक्सी ने 'विक्टोरियन इंग्लैण्ड तथा विक्टोरियन अमरीका का अरस्तू, कहा है। यह था हरबर्ट स्पेंसर।

जीवन-परिचय—हरबर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer 1820--1903) का जन्म एक साधारण अध्यापक के घर हुआ था, जो अपनी दुर्बल आर्थिक स्थिति के कारण हरबर्ट को उच्च शिक्षा के लिए किसी कालेज या विश्वविद्यालय में नहीं भेज सका और घर ही में उसे हरबर्ट की शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था करनी पड़ी, परन्तु हरबर्ट ने अपनी प्रतिभा का पूर्ण प्रयोग अध्ययन में किया। सत्रह वर्ष की उम्र में वह रेलवे में एक इन्जीनियर के काम पर लग गया। 10 वर्ष तक इस कार्य में रहते हुए वह कुछ न कुछ लिखता रहता था और अपने लेखों का प्रकाशित भी कराता रहता था। इससे उसे लेखन कला में प्रोत्साहन मिला। 1848 में वह Economist नामक पत्रिका का उप-सम्पादक बना। पाँच वर्ष तक इस क्षमता में कार्य करने के बाद स्पेंसर ने स्वतन्त्र रूप से अपने ग्रन्थों की रचना प्रारम्भ की। उसने बीसियों रचनाएँ लिखी हैं, जिनके अन्तर्गत जीवशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि विविध क्षेत्रों में उसके गहन अध्ययन की झलक मिलती है। इन्हीं विविध शास्त्रों पर स्पेंसर की रचनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त उसने अनेक प्रकीर्ण लेख भी लिखे। जहाँ तक स्पेंसर के राजनीतिक विचारों का सम्बन्ध है वे उसकी इस विषय पर लिखी रचनाओं The Man versus the State (1884), The Proper Sphere of Government (1842), Political Institutions, Specialised Administration (1861), Social Statics (1851) एवं अन्य विषयों पर लिखी रचनाओं यथा Principles of Psychology, Principles of Sociology, Principles of Ethics, Principles of Biology आदि सभी में मिलते हैं।

स्पेंसर का सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं का अध्ययन वैज्ञानिक है। सत्रहवीं शताब्दी में जिस प्रकार हॉब्स ने वैज्ञानिक भौतिकवाद के आधार पर सामाजिक समस्याओं तथा राज्यों का विवेचन किया था, उसी प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी में स्पेंसर ने वैज्ञानिक विकासवाद को अपने समाजशास्त्रीय अध्ययन का केन्द्र बनाया। उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकांश चिन्तक विकास की विविध रूपों में व्याख्या करते रहे थे। हीगल ने भी इसे आध्यात्मिक तथा ऐतिहासिक रूप से समझाया तो मार्क्स ने भौतिक तथा आर्थिक सन्दर्भ में अपनाया। स्पेंसर ने प्रकृति विज्ञान का अवलम्बन किया। उसने विकास में ही सम्पूर्ण ज्ञान ने अस्तित्व को पाया। विकास के प्राथमिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके और फिर उनका समायोजन तथा वर्गीकरण करके सामान्य निष्कर्ष निकालकर उसने एक क्रमबद्ध सामाजिक एवं राजनीतिक दर्शन का प्रतिपादन किया। इस प्रकार विकासवाद के युग में उसने अपने को सर्वश्रेष्ठ संश्लेषणात्मक दार्शनिक होने की स्थिति प्राप्त की। उस युग में उसकी रचनाएँ अत्यधिक लोकप्रिय सिद्ध हुई, यद्यपि आज उनकी लोकप्रियता लुप्त हो गयी है। उसने जीवविज्ञान के सिद्धान्तों का नीतिशास्त्र, राजनीति तथा समाजशास्त्र के नियमों में इतना अधिक प्रयोग किया है कि आज अनेक दृष्टियों से उसके सिद्धान्त असंगत तथा भ्रामक सिद्ध होते हैं। बार्कर ने उचित ही कहा है कि 'प्रकृति विज्ञान का सहारा लेकर राज्य की सावयविक तथा विकासवादी धारणा को व्यक्ति के अधिकारों की मूलभूत धारणा के साथ संयुक्त करके वह एक मौलिक भ्रम में फँस गया। नतीजा यह हुआ कि उसके दर्शन का आरम्भ तथा अन्त 'प्राकृतिक अधिकारों तथा शरीर-विज्ञान के रूपक के एक बेमेल सम्मिश्रण' के रूप में हुआ।'[1] इतना होते हुए भी वह अपने युग का महान् दार्शनिक सिद्ध हुआ है। सैबाइन के मत से, 'स्पेंसर का संश्लेषणात्मक दर्शन उन्नीसवीं शताब्दी के विवेकवाद की एक आश्चर्यजनक पद्धति है।'[2] किन्तु ब्रिटन का निष्कर्ष है कि अब स्पेंसर का अध्ययन कोई नहीं करता है क्योंकि वह एक विज्ञानवेत्ता न होकर विचारों का विक्रेता था, परन्तु आज हम उसके माल को पसन्द नहीं कर रहे हैं।[3]

स्पेंसर आजन्म लिखता रहा। प्रारम्भ में गरीबी के कारण उसने शादी नहीं की। जब वह आर्थिक स्थिति से कुछ सम्भला तो उसकी अवस्था विवाह करने योग्य नहीं रह गयी थी, अतः वह आजन्म अविवाहित रहा। जीवन के अन्तिम वर्षों में उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहा। वह अनेक रोगों से पीड़ित हो गया था। 83 वर्ष की उम्र में उसका देहान्त हो गया। स्पेंसर के विचारों का ज्ञान करने के लिए उसके विचार-स्रोतों का ज्ञान करना आवश्यक है क्योंकि उन्हीं स्रोतों से उसके विचारों का विकास हुआ था। उसके विचार किसी निश्चित विचारधारा का प्रतिपादन नहीं करते, यद्यपि उसे बहुधा व्यक्तिवादी माना जाता है, तथापि उसे राजनीतिक चिन्तन की जीवविज्ञानवादी या विकासवादी या राज्य सावयववादी परम्परा का चिन्तक भी माना जाता है। वह एक समाज विज्ञानवादी चिन्तक भी है।

[1] Barker, *op. cit.*, 71.

[2] 'Spencer's synthetic philosophy was an astonishing system of nineteenth century rationalism.' —Sabine, *op. cit.*

[3] 'No body reads Spencer now because he was not a scientist but a salesman of ideas and we no longer like his goods.' —C. Brinton, *English Political Thought in Nineteenth Century*, 239.

स्पेंसर के विचार-स्रोत

स्पेंसर के राजनीतिक विचारों के स्रोतों को निश्चित रूप से बता सकना कठिन है। फिर भी उन्हें हम चार मुख्य श्रेणियों में वर्गीकृत कर सकते हैं। (1) उसका प्रारम्भिक वातावरण तथा पारिवारिक परिस्थितियाँ; (2) उसके युग में विकसित ब्रिटिश मौलिकतावाद; (3) उसके ऊपर उस जर्मन आदर्शवाद का प्रभाव जिसके प्रतिपादक स्केलिंग तथा स्केलिगल थे; और (4) स्पेंसर का प्रकृतिविज्ञान का अध्ययन।

स्पेंसर का जन्म तथा आरम्भिक शिक्षा-दीक्षा ऐसे परिवार में हुई थी जो स्थापित चर्च पर विश्वास नहीं करते थे। ये लोग non-conformist कहलाते थे। ये लोग मानवीय चर्च की शिक्षाओं के विरुद्ध प्रकृति के विधान पर विश्वास करते थे। इनका विश्वास था कि मानव सत्ता की अपेक्षा प्रकृति के नियमो की व्यवस्था अधिक वैज्ञानिक है। इसमें कार्य-कारण सम्बन्ध विद्यमान रहता है। अतएव कोई भी मानवीय सत्ता, चाहे वह स्थापित चर्च हो या राज्य की सरकार, वैज्ञानिक आधार पर निर्मित नहीं होती। स्पेंसर पर ऐसे विचारों का बहुत प्रभाव पड़ा, जिसके कारण वह स्वतन्त्र चिन्तन करने लगा। उसने Non-Conformist नामक पत्रिका में अनेक लेख दिये। उसने अपने चाचा थॉमस स्पेंसर जो इस Non-Conformist आन्दोलन का एक मुख्य नेता था, के विचारों को ग्रहण किया। टॉमस का मत था कि चर्च को प्रकृति की बाह्य परिस्थितियों के अनुकूल अपने को ढालना चाहिए और धार्मिक व्यवस्था में रूढ़िवादी सिद्धान्तों की अपेक्षा विकास के प्राकृतिक नियमों को समाविष्ट किया जाना चाहिए। स्पेंसर स्वयं एक गरीब परिवार में पैदा हुआ था, अतः उसे उच्च तथा धनी वर्ग के प्रति कोई श्रद्धा नहीं थी। इस प्रकार वह परम्परावादी साहित्य, धार्मिक साम्प्रदायिकता तथा औपचारिकता से भी घृणा करता था। उसने प्राकृतिक विकास के सार्वभौम सिद्धान्तों की खोज में अपना मन लगाया और समाज तथा राज्य का अध्ययन उन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार किया। उसकी रचना On Proper Sphere of Government में इन विचारों की झलक है। ये विचार उसके दार्शनिक मौलिकतावाद को दर्शाते हैं।

जब वह Economist का उप-सम्पादक बना, तो उसका सम्पर्क हॉजस्किन (Hodgskin) के साथ हुआ। हॉजस्किन अपने युग का एक ब्रिटिश मौलिकतावादी (radical) था। वह बेंथम की नैतिकतावादी विचारधारा का विरोधी था। अतः वह प्राकृतिक अधिकारों की सत्ता पर विश्वास रखता था। बेंथम ने संसद की सम्प्रभुसत्ता का समर्थन किया था। इसके विपरीत हॉजस्किन की धारणा यह थी कि प्राकृतिक कानून सर्वोच्च है। मानव को उन्हीं के अधीन अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए। जब इन कानूनों की व्यवस्था पूर्ण रूप से स्थापित हो जायेगी, तो मानव इन्हीं से अपने अधिकारों को प्राप्त करेंगे और उनका उपभोग करेंगे। ऐसी स्थिति में फिर किसी मानवीय सत्ता की समाज को आवश्यकता नहीं रह जायेगी। स्पेंसर ने इन विचारों को अपनाया और उसकी रचना Social Statics में हॉजस्किन के विचारों का पर्याप्त प्रभाव है। स्पेंसर बेंथम की भाँति यह तो मानता है कि व्यक्तिगत सुख की प्राप्ति मानव-जीवन का लक्ष्य है। परन्तु ऐसा सुख तभी प्राप्त हो सकता है जब व्यक्ति के कार्य-कलापों में कोई मानवीय सत्ता हस्तक्षेप न करे। अतः

स्पेंसर राज्य के क्षेत्र में अहस्तक्षेप अथवा यद्भाव्यम् (Laissez faire) की नीति का समर्थक है। वह यह मानता है कि समाज एक प्राकृतिक विधान का फल है। राज्य के कार्य-कलाप निषेधात्मक प्रकृति के हो सकते हैं। यदि राज्य विध्यात्मक रूप से व्यक्ति को सुख की प्राप्ति करना चाहता है तो वह प्राकृतिक विकास के मूलभूत सिद्धान्तों के विरुद्ध होगा। अतएव स्पेंसर का व्यक्तिवाद इन्हीं ब्रिटिश मौलिकतावादी परम्पराओं से प्रभावित था। वह राज्य की सरकार के औचित्य में कोई नैतिकता नहीं देखता।

स्पेंसर के विचारों पर तीसरा प्रभाव जर्मनी के आदर्शवादी विचारों का था, जिनका प्रतिपादन शैलिंग (Schelling) तथा शैलिगल (Schlegal) ने किया था और जिन्हें कॉलरिज (Coleridge) की रचनाओं से स्पेंसर ने प्राप्त किया। इन आदर्शवादी विचारों के अन्तर्गत स्पेंसर को प्रभावित करने वाली धारणा 'जीवन का विचार' (Idea of Life) था। अपनी रचना Social Statics में इस धारणा को व्यक्त करते हुए स्पेंसर ने दर्शाया है कि 'जीवन एक ऐसा तत्त्व नहीं है जिसका अध्ययन किसी विध्यात्मक विज्ञान के द्वारा किया जा सके, प्रत्युत् यह एक अनुभवातीत (transcendental) सिद्धान्त है, जिसके आधार पर समूचे रूप में प्रकृति, तथा प्रकृति के एक अंग के रूप में समाज का विकास आन्तरिक क्षेत्र से बाहर को एक अन्तिम 'वैयक्तीकरण' (individuation) की दिशा में होता है। जीवन सार्वभौम विकास का कारण है; सचमुच में यही सार्वभौम विकास है।'[1] स्पेंसर सौर-मण्डल की पद्धति तक को 'जीवन के विचार' के सिद्धान्त के आधार पर समझाना चाहता था। इस सार्वभौम विकास के सिद्धान्त के आधार पर स्पेंसर ने यह तर्क दिया है कि 'सम्पूर्ण प्रकृति में, अतः मानव समाज में भी, जीवन की एक अनुभवातीत तथा दैवी शक्ति काम करती है। इसलिए प्रकृति तथा समाज जीव सावयव हैं; चूँकि उनमें जीवन है, इसलिए उनका विकास होता है। यही विकास वैयक्तीकरण या अनेकीकरण (individuation or differentiation) की प्रक्रिया है। इसके अन्तर्गत अनेकीकृत तत्त्वों के सामंजस्य की प्रक्रिया भी शामिल है।'[2] इस प्रक्रिया में जितना ही अधिक वैयक्तीकरण होता है, उतना ही अधिक उसका मूल्य है।

प्राकृतिक कानून की महत्ता तथा जीवन के विचार के उपर्युक्त सिद्धान्त स्पेंसर के दार्शनिक विचारों के मुख्य तत्त्व थे। परन्तु बाद में उसने भौतिकशास्त्र तथा जीवशास्त्र के अध्ययन से प्राप्त अनुभवों को भी अपने दार्शनिक विचारों में समाविष्ट किया। बार्कर का मत है कि 'स्पेंसर ने न तो जीवशास्त्र से प्रारम्भ किया और न उसने अपने विकासवादी विचारों को जीवशास्त्र से उधार लिया, प्रत्युत् उसने सार्वभौम विकास के सिद्धान्त से आरम्भ करके उसमें जीवशास्त्रीय विकास के नियमों को शामिल किया।'[3] बचपन से ही उसे भौतिकशास्त्र में विशेष रुचि थी। वह

[1] 'Life is not a fact of nature to be studied by a positive science, but a transcendental principle in virtue of which nature as a whole, and society as a part of nature, evolves from within outwards towards a final 'individuation'. Life is the cause of a universal evolution, in fact it is universal evolution.'

—Barker, *op. cit.*, 73–74.

[2] 'In all nature, and therefore in human society, there is a transcendental and divine force of life. Hence it follows that nature and society are living organisms, ...virtue of their immanent life they develop, and the development may be regarded as a process of individuation or differentiation, which is combined with coordination of the differentiated element.' —*Ibid.*

[3] *Ibid.*

प्रारम्भ में इन्जीनियरी के कार्य में लगा रहा। उसने साहित्य तथा भाषा का अध्ययन नहीं किया, न उसे परम्पराओं तथा परिपाटियों से रुचि थी। उसने सामाजिक संरचना तथा आचरणों को प्रकृति विज्ञान के कार्य-कारण सिद्धान्तों के आधार पर समझने का प्रयास किया। इस दिशा में उसके ऊपर ऑगस्ट काम्टे का प्रभाव था। भौतिकविज्ञान के सिद्धान्तों से वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि 'सम्पूर्ण प्रकृति तथा उसके एक अंग के रूप में मानव समाज एक सार्वभौम सम्पूर्ण के रूप में बँधा है, जिसमें विकास तथा परिवर्तन की एक ऐसी प्रक्रिया कार्यरत रहती है, जो शक्तियों के सन्तुलन के एक सार्वभौम नियम का परिणाम है और परिवर्तन तथा उसका स्रोत उसी निरन्तर शक्ति (persistent force) के निष्कर्ष हैं। इस प्रकार स्पेंसर का सार्वभौम विकास का सिद्धान्त उसके भौतिकविज्ञान के ज्ञान पर आधारित है।' परन्तु जैसा बार्कर ने लिखा है, 'जीवशास्त्र का स्पेंसर के समाजशास्त्र पर एक अनोखा प्रभाव था, यह मानना एक भूल है कि उसने अपने समाजशास्त्र को जीवशास्त्र पर आधारित किया।' फिर भी उसके विचारों में इन दोनों के मध्य घनिष्ट सम्बन्ध देखने को मिलता है। स्पेंसर के विचारों में जीवशास्त्र का प्रभाव स्पेंसर द्वारा प्रसिद्ध जीवशास्त्री लेमार्क (Lamerck) के सिद्धान्तों को अपनाने के कारण है। लेमार्क की धारणा यह थी कि 'जीवित प्राणियों में बाह्य वातावरण का प्रभाव पड़ता है। वे अपने कार्यों तथा सरचना को उसी बाह्य वातावरण के अनुकूल बनाने का प्रयास करते हैं और इस प्रकार बाह्य वातावरण के अनुकूल अपने को ढालने की प्रवृत्ति जीवधारी पीढ़ी-दर-पीढ़ी अनुसंक्रमित करते रहते हैं।' इस सिद्धान्त को स्पेंसर ने अपने भौतिकशास्त्र से प्राप्त 'निरन्तर शक्ति' के सिद्धान्त से जोड़ा। उसने बताया कि जीवधारी में उक्त प्रवृत्ति के कारण 'जीवधारी की अपनी शक्ति का वातावरण की शक्ति के साथ समायोजन' है। लेमार्क के सिद्धान्त से स्पेंसर ने यह निष्कर्ष निकाला कि 'मन बाह्य वातावरण के साथ स्वयं अपने को अनुकूलित करके समायोजित या सन्तुलित करता है, यह उसकी परम्परा की आनुवंशिक उत्तक (tissue) बन जाती है। पुनः, व्यक्ति अनुकूलन की प्रक्रिया तथा इसके वंशानुसंक्रमण के द्वारा अपने को अपने सामाजिक वातावरण के साथ समायोजित कर लेता है। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक कि वह एक पूर्ण सन्तुलन कायम नहीं कर लेता जो कि अन्तिम अराजकता का वरदान है।'[1]

बहुधा यह माना जाता है कि स्पेंसर डार्विनवादी है, अर्थात् उसके सामाजिक विकास का सिद्धान्त डार्विन के 'जीवन-संघर्ष' तथा 'योग्यतमों के अस्तित्व' के सिद्धान्तों पर आधारित है। लेकिन जैसा बार्कर का मत है 'स्पेंसर कभी भी डार्विनवादी नहीं रहा, क्योंकि डार्विन की रचना के निकलने से बहुत पहले ही स्पेंसर अपने सिद्धान्तों का निर्माण कर चुका था।' इस दृष्टि से वह लेमार्कवादी है।

स्पेंसर का विकासवाद

स्पेंसर के राजनीतिक विचारों का आधार उसका विकासवाद का सिद्धान्त है।

[1] 'Mind adjusts or equilibrates itself with external environment by an adaptation of itself which becomes its inherited tissue of tradition. The individual again, equilibrates himself with his social environment by adaptation, and by inheritance of that adaptation, until he attains in a perfect equilibrium the blessedness of final anarchy.' —Barker, *op. cit.*, 77.

'Social Statics' जिसका शाब्दिक अर्थ 'सामाजिक स्थिरता' होता है, हरबर्ट स्पेंसर द्वारा ऐसे समय में लिखी गयी थी, जबकि उसके विचारों में न तो परिपक्वता आयी थी और न ही उसका अध्ययन सुस्पष्ट हो पाया था। विविध स्रोतों से प्राप्त ज्ञान के आधार पर वह अपनी इस रचना में सामाजिक विकास की उस अवस्था को चित्रित करने का प्रयास करता है जबकि वह अपने विकास की अन्तिम मंजिल में पहुँच जाय। उस स्थिति में सामाजिक नियन्त्रण के लिए राज्य या सरकार सदृश किसी शक्ति की आवश्यकता नहीं रह जाएगी। यह विकास प्रकृति के नियमों के अनुसार होता है। इस प्रक्रिया को समझाने में स्पेंसर अपने विभिन्न विचार-स्रोतों के मध्य सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करता है। उन्नीसवीं शताब्दी में अधिकांश वैज्ञानिक विचारक सामाजिक विकास के क्रम में ईश्वर की सत्ता पर विश्वास न करके जीवन-शक्ति के कार्यभाग को महत्त्वपूर्ण समझने की प्रवृत्ति अपना रहे थे। इनमें बहुत से डार्विनवादी थे। डार्विन ने प्रकृतिविज्ञान के आधार पर यह सिद्ध किया था कि प्रकृति में एक ही जाति के विभिन्न सदस्यों तथा विभिन्न जातियों के प्राणियों के मध्य निरन्तर जीवन-संघर्ष चलता रहता है। प्रकृति में पैदा होने वाले सभी प्राणियों के लिए जीवित रहने के निमित्त पर्याप्त साधन उपलब्ध नहीं हैं। अतः जो उपलब्ध हैं उन्हें प्राप्त करने के लिए ऐसा संघर्ष जारी रहता है। इस संघर्ष में वही प्राणी जीवित रहते हैं, जो योग्यतम हैं और जो अयोग्य हैं वे नष्ट हो जाते हैं। प्रकृति में योग्यों तथा अयोग्यों के होने का कारण क्या है, इस विषय पर डार्विन का मत था कि जीवधारियों में अकस्मात् ऐसे भेद हो जाते हैं। इन आकस्मिक विभेदों (chance variations) का परिणाम यह होता है कि ये गुण उनकी भावी पीढ़ियों में संक्रमित होते हैं। जो जातियाँ तथा सदस्य योग्य सिद्ध होते हैं, वे अपने को बाह्य परिस्थितियों के साथ समायोजित कर लेते हैं और जीवन-संघर्ष में विजयी होकर जीवित रहते हैं। अयोग्य नष्ट हो जाते हैं। ये गुण पुनः भावी पीढ़ियों में संक्रमित होते हैं। डार्विन के जीवन-संघर्ष तथा योग्यतमों के अस्तित्व के सिद्धान्तों से स्पेंसर भी सहमत था। परन्तु वह डार्विन से एक बात में मौलिक भेद रखता है। डार्विन योग्यों तथा अयोग्यों के होने का कारण आकस्मिक विभेदों का होना मानता है। परन्तु स्पेंसर के मत से जीवन-संघर्ष में योग्यता अथवा अयोग्यता के तत्त्व विविध प्राणियों में आकस्मिक न होकर निश्चित उद्देश्य से आते हैं और उनकी इन विशेषताओं का भावी पीढ़ियों में संक्रमण होता रहता है।

स्पेंसर ने 'जीवन-संघर्ष', 'योग्यतमों के अस्तित्व' तथा 'प्राकृतिक चयन' के इन सिद्धान्तों को मानव समाज के विकास में भी लागू किया। उसके सिद्धान्तों के बारे में मैक्सी का निष्कर्ष है कि 'चूँकि स्पेंसर आकस्मिक विभेद के स्थान पर सोद्देश्य विभेद की धारणा को मानता है, अतः वह इस बात पर जोर देता है कि राज्य के लिए जीवन-संघर्ष के नियम को अवरुद्ध करना या उसमें हस्तक्षेप करना विज्ञान के नियमों के विरुद्ध है। चूँकि वह अर्जित विशेषताओं के भावी पीढ़ियों में संक्रमित होने के सिद्धान्त पर विश्वास करता है, अतः उसकी मान्यता थी कि प्राकृतिक चयन के द्वारा अर्जित विशेषताओं के संक्रमण का परिणाम कृत्रिम ढंग से सुधार किये जाने की अपेक्षा उत्तमतर समाज के निर्माण में सहायक सिद्ध होगा।'[1] इस सीमा तक

[1] 'Because he believed in purposive rather than accidental variation, he was stoutly of opinion that it was unscientific for the state to interfere with or

तो स्पेंसर डार्विनवादी है। परन्तु जैसा बार्कर ने कहा है, 'यह स्मरणीय है कि स्पेंसर ने डार्विन के विचारों के प्रकट होने से पूर्व ही अपनी रचना Social Statics में 'प्रकृति के कठोर अनुशासन' (stern discipline of nature) की धारणा व्यक्त कर दी थी, जिसके अन्तर्गत वह अयोग्यो को कम करने के प्राकृतिक विधान को स्वीकार कर चुका था और ऐसे समाज के निर्माण की धारणा बना चुका था, जिसमें समाज के सदस्य बाह्य वातावरण से अपना अनुकूलन करते है। इसी आधार पर उसने गरीबी निवारण (poor relief) की प्रथा का विरोध किया था।' यह स्पेंसर के सामाजिक विकास की धारणा पर प्रकृतिविज्ञान का प्रभाव है।

जर्मन आदर्शवाद तथा लेमार्क के सिद्धान्तों के आधार पर उसने जीवन की शक्ति (life force) तथा मन के अपने को बाह्य वातावरण के साथ समायोजित तथा सन्तुलित करने की धारणाओं को भी 'अस्पष्ट' शब्दावली मे अपने सामाजिक विकास के सिद्धान्त के साथ लागू किया। स्पेंसर समाज को एक जैविक सावयव मानता है, जो एकता का प्रतीक है। दूसरी ओर वह सामाजिक विकास मे जीवन की अनुभवातीत शक्ति (transcendental force) की प्रवृत्ति को अनेकीकरण की दिशा मे विकसित होने की बात को मानता है। इस प्रकार वह सावयववाद की एकत्व तथा अनेकत्ववाद की व्यक्तिवादी धारणाओं के मध्य सामंजस्य स्थापित नहीं कर सका। इसके निमित्त वह प्राचीन-युगीन सैनिक तथा निवर्तमान औद्योगिक समाजों के मध्य भेद दर्शाने की युक्ति का अवलम्बन करता है। सैनिक समाज अपने निम्नतर अविकसित रूप में थे, जो एकत्व से युक्त सावयव थे। आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था सामाजिक विकास की उच्चतर स्थिति में पहुँचने के कारण अनेकत्व से युक्त सावयव हैं। यह विकास-क्रम पुनः अन्तिम समायोजन तथा सन्तुलन की दिशा मे बढ़ता जा रहा है। 'विकास को चाहे वैयक्तीकरण के निमित्त जीवन की प्रवृत्ति के रूप में माना जाय, अथवा सन्तुलन की शक्तियों के रूप में, दोनों स्थितियों में उसे अन्ततः पूर्ण सन्तुलन की प्राप्ति की ओर ही अग्रसर माना जाना चाहिए।'[1] स्पेंसर के अनुसार, सामाजिक विकास की अन्तिम मंजिल में समाज के विभिन्न अंगों के मध्य प्रकृति तथा जीवन शक्ति के नियमों के अनुसार पूर्ण सामंजस्य या समन्वय स्थापित हो जायेगा। उसमें व्यक्ति प्राकृतिक नियमों के अनुसार प्राकृतिक अधिकारों का उपभोग करेंगे। यह स्थिति अराजकता की होगी जिसमें राज्य या सरकार की कोई आवश्यकता नहीं होगी। जब एक बार ऐसे पूर्ण सामंजस्य से युक्त समाज का निर्माण हो जायेगा, तो उसमें व्यक्ति स्वयमेव अपने लिए उन कार्यों को करने लगेगा, जिन्हें उसे करना चाहिए। ऐसे समाज के निर्माण के निमित्त स्पेंसर का सुझाव था कि राज्य या सरकार सदृश किसी कृत्रिम सत्ता को सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास नहीं करना चाहिए, अपितु मानव को अपने प्राकृतिक अधिकारों का प्रयोग करने की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए।

स्पेंसर उपयोगितावादियों की इस धारणा से सहमत था कि मानव जीवन का लक्ष्य सुख (happiness) की प्राप्ति है, क्योंकि जीवन-शक्ति इस उद्देश्य की

---

endeavour to mitigate in any way the struggle for existence. Because he believed in the inheritance of acquired characters, he held that the transmission of qualities acquired through natural selection would produce a better society than the transmission of those resulting from artificial modification.'

—C. Maxey, *Political Philosophies*, 558.

[1] Barker, *op. cit.*, 79.

कामना करती है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के निमित्त मनुष्य निरन्तर अपने को अपने बाह्य वातावरण के साथ समायोजित करता रहता है। उसके इस कार्य के लिए कुछ स्वतन्त्रताओं की आवश्यकता पड़ती है। 'सरकार का कार्य अधिक से अधिक यही हो सकता है कि वह व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता तथा सुख-प्राप्ति की चाह को संरक्षण प्रदान करे।' इसी में उसका औचित्य तथा न्यायसंगतता है। राज्य का अपना जीवन तथा व्यक्तित्व नहीं होता जैसा कि प्रत्ययवादी मानते हैं।

आलोचना—बार्कर का मत है कि आदर्श समाज के सम्बन्ध में स्पेंसर की ऐसी कल्पना की दो दृष्टियों से आलोचना की जा सकती है। पहली, मानव आचरण का विकास कभी भी ऐसे स्थैर्य की स्थिति में नहीं पहुँच सकता है। यदि कभी एक रूप का सामंजस्य स्थापित हो भी जाय तो फिर नई समस्याएँ उपस्थित होती रहेंगी, जिनके अन्तर्गत सामंजस्यीकरण की प्रक्रिया बढ़ती रहेगी। दूसरी, अपने स्वप्न के आदर्श समाज तथा वर्तमान के मध्य सम्बन्धों का समुचित निरूपण न कर सकने का भ्रम स्पेंसर के विचारों में बना रहा। उसने किसी युग-विशेष की सामाजिक स्थितियों को समयोचित न बताकर उन्हें अनुचित बताया और उनकी कटु आलोचना की। उसने निवर्तमान सरकार को भी अन्यायपूर्ण तथा बुराई ही सिद्ध किया है और इस प्रकार अपने सामाजिक आदर्श का अपनी मौलिकतावादी राजनीति के साथ समन्वय करने का प्रयास किया है। लेकिन उसके ऐसे प्रयास का फल यह हुआ कि उसकी समूची राजनीतिक विचारधारा ही असंगत हो जाती है, क्योंकि उसने किसी भी रूप में सामाजिक संस्थाओं तथा सरकार के औचित्य को स्वीकार नहीं किया। इसी प्रकार उसके सामाजिक जीव सावयव की धारणा जिसे उसने जर्मन आदर्शवादियों से ग्रहण किया था; उसके मौलिकतावादी व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की धारणा से असंगतिपूर्ण सिद्ध हो गयी।

राज्य तथा सरकार का कार्य-क्षेत्र

उन्नीसवीं शताब्दी की विविध विचारधाराओं के अन्तर्गत राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में विविध दृष्टिकोण व्यक्त किये गये हैं। प्रत्ययवादियों ने राज्य को न केवल एक आवश्यक संस्था माना बल्कि उसे सर्वोच्च संस्था स्वीकार करके उसे दैवी स्वरूप प्रदान किया। दूसरी ओर मार्क्स ने राज्य को एक वर्ग-संगठन मानकर उसे शोषण की संस्था कहा और अपना अन्तिम उद्देश्य राज्यविहीन समाज की स्थापना माना। राज्य समाजवादी राज्य के माध्यम से समाजवाद की स्थापना करना चाहते थे। इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति, स्वरूप, कार्य-क्षेत्र आदि के बारे में विविध दृष्टिकोण रखे जाते रहे। स्पेंसर का राज्य के प्रति निषेधात्मक दृष्टिकोण था। वह न तो इसे वांछनीय सस्था मानता है और न ही इसकी तुरन्त समाप्ति का आह्वान करता है। मार्क्स ने राज्य को पूँजीवाद से साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना के सक्रमण काल तक सर्वहारावर्गीय अधिनायकवाद के निमित्त आवश्यक मानकर साम्यवाद की उपलब्धि हो जाने पर इसकी आवश्यकता स्वयमेव समाप्त हो जाने की कल्पना की थी, तो बहुत कुछ ऐसा ही दृष्टिकोण किन्तु एक भिन्न प्रकार से स्पेंसर ने भी अपनाया। उसने अपनी कल्पना के सामाजिक आदर्श की उपलब्धि के काल तक, जबकि समाज में पूर्णतया सामंजस्यीकरण नहीं हो जाता, राज्य को आवश्यक माना। मार्क्स ने पूँजीवाद तथा पूँजीवादी तत्त्वों के विनाश के लिए राज्य को संक्रमण काल

के लिए रखना चाहा तो स्पेंसर ने आदर्श समाज की स्थापना में मानवों को सामाजिक व्यवस्था के साथ अपना सामंजस्य स्थापित करने में सहायता देने तथा विरोधियों का निराकरण करने के लिए राज्य को आवश्यक माना। मार्क्स का अन्तिम स्वप्न राज्य-विहीन तथा वर्ग-विहीन समाज था, तो स्पेंसर का अन्तिम लक्ष्य एक सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था थी, जो अराजक व्यवस्था ही होती। अतएव जब स्पेंसर अन्ततः राज्य या उसकी सरकार को अनावश्यक मानता है तो उससे यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वह राज्य की उत्पत्ति, उसके स्वरूप, कार्य-क्षेत्र आदि का दार्शनिक विवेचन करता। उसने अपने स्वप्न के आदर्श-समाज के विकास का दार्शनिक विवेचन अवश्य किया है, जो राज्य-विहीन है।

राज्य एक आवश्यक बुराई है—इस दृष्टि से जैसा बार्कर ने कहा है, स्पेंसर का राज्य के कार्यों सम्बन्धी विवरण यही है कि राज्य को क्या नहीं करना चाहिए, यह नहीं कि राज्य का क्या औचित्य है। स्पेंसर के मत से सरकार विनाशकारी (predatory) राज्य का अवशेष है, अतः इसका कोई नैतिक औचित्य नहीं है, क्योंकि इसका कार्य व्यक्ति की शक्तियों के स्वतन्त्र संचालन में बाधा पहुँचाना है। सरकार ही नहीं, अपितु अन्य संस्थाएँ भी ऐसे राज्य की अवशेष हैं, अतः उन्हें ठीक करने के लिए सरकार आवश्यक है। अधिक से अधिक राज्य एक ऐसी आवश्यकता है जिसे बहुत संयत (modest) होना चाहिए; जिसे स्वयं अपने को समाप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए जिसे अपने अस्तित्व का औचित्य यथासम्भव अपने न्यूनातिन्यून अस्तित्व को प्रदर्शित करके करना चाहिए। स्पेंसर के अनुसार राज्य का मुख्य कार्य यह है कि वह समान स्वतन्त्रता के कानून (law of equal freedom) को बनाए रखने के लिए स्वयं अपने को ही मिटा दे। यह व्यक्ति को ऐसा अधिकार प्रदान करे कि वह 'राज्य की उपेक्षा' कर सके और नागरिकता के बोझ एवं राज्य के लाभों का तिरस्कार कर सके। वह प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा अधिकार प्रदान करे कि वे समता के आधार पर उन सब प्रतिबन्धों को राज्य पर लगा सकें, जिन्हें वह स्वयं व्यक्तियों पर लगाता है। अन्यथा वर्गगत पक्षपात की वृद्धि होने से एक वर्गीय सरकार बन सकती है। राज्य को अपने कार्यों का परिसीमन करना चाहिए। राज्य का प्रमुख दायित्व सुरक्षा है। अतः उसे समान स्वतन्त्रता के कानून की रक्षा तथा प्राकृतिक अधिकारों को बनाये रखने की व्यवस्था करनी चाहिए। स्पेंसर का यह दृष्टिकोण उस व्यक्तिवादी धारणा की पुष्टि करता है जिसके अन्तर्गत राज्य को एक आवश्यक बुराई माना जाता रहा।

विधायी कार्यों में सरकार की अक्षमता—स्पेंसर राज्य के विध्यात्मक कार्यों की धारणा का कठोर विरोधी है, क्योंकि वे व्यक्ति के स्वतन्त्रता, समानता तथा संविदागत प्राकृतिक अधिकारों के मार्ग में बाधक सिद्ध होते हैं। राज्य तथा सरकार की आवश्यकता इसीलिए है कि वे निषेधात्मक रूप से नियमनकारी कृत्यों को करें। शासन का कार्य उन बुराइयों को रोकना है जो अतीत में व्यक्ति की प्राकृतिक स्वतन्त्रता के उपभोग के मार्ग में हुई हैं, परन्तु उन बुराइयों के पुनः प्रकट होने के मार्ग में रुकावट डालने के नाम पर वह व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों तथा संविदागत स्वतन्त्रता के ऊपर कोई हस्तक्षेप न करे। स्पेंसर को सरकार द्वारा विधायी अथवा अधिशासनिक किन्हीं भी विध्यात्मक कार्यों को सम्पन्न कर सकने की क्षमता पर सन्देह था। अपनी रचना The Man versus the State में उसने विधायकों के पाप

(sins of legislators) शीर्षक के अन्तर्गत यह दर्शाया है कि अतीत में कभी-भी विधि-निर्माण का कार्य सन्तोषजनक नहीं रहा। विधि-निर्माण का कार्य चाहे स्वेच्छाचारी राजाओं ने किया हो अथवा जन-प्रतिनिधियों की संसदों ने, प्रत्येक देश की विधि-संहिताएँ इसी तथ्य की द्योतक हैं कि नये कानून या तो पुराने कानूनों को निरस्त करने वाले थे, या उनमें संशोधन करने वाले थे। यह तथ्य इस बात का प्रमाण है कि कभी भी विधि-निर्माण पूर्णतया कुशलता के साथ नहीं हो सका है। ऐसी स्थिति में संसद को सम्प्रभु मानना नितान्त भूल है। स्पेंसर ने लिखा है 'अतीत का महान् राजनीतिक अन्धविश्वास राजाओं के दैवी अधिकार का सिद्धान्त था। वर्तमान का महान् राजनीतिक अन्धविश्वास संसदों के दैवी अधिकार का सिद्धान्त है।'[1] यह परिवर्तन व्यक्ति के नैसर्गिक विकास को सुनिश्चित नहीं कर सकता। अतएव यदि अतीत में उदारवादी आन्दोलन का उद्देश्य राजाओं की निरंकुशता को समाप्त करना रहा था तो भविष्य में उदारवाद का उद्देश्य संसदों की निरंकुशता का अन्त करना होना चाहिए।

सरकार की अधिशासनिक क्षेत्र में अकुशलता—जहाँ तक सरकार के अधिशासनिक कार्यकलापों का सम्बन्ध है, स्पेंसर इनकी और अधिक कठोर आलोचना करता है। उसके मत से राज्य अपने कार्यों का सम्पादन अपने अधिकारियों की निश्चित बौद्धिक क्षमता पर विश्वास करके करता है। व्यक्ति को स्वयं अपनी बौद्धिक क्षमता की तुलना में ऐसे अधिकारियों की बुद्धिमत्ता से अधिक आशा नहीं करनी चाहिए। इसके विपरीत 'हमें राज्य या उसके अधिकारियों की बुद्धिमत्ता की अपेक्षा व्यक्ति की बुद्धिमत्ता पर अधिक विश्वास करना चाहिए।' यदि सरकार के कार्य-क्षेत्र का विस्तार किया जायेगा तो इसका फल यह होगा कि उसके अधिकारियों की संख्या में भी विस्तार होगा। परिणामस्वरूप समूचे अधिकारियों के सगठन (सरकार) की शक्तियों में वृद्धि होती जाएगी। 'इसका अन्तिम परिणाम स्वेच्छाचारितावाद का पुनरुद्भव होगा। नागरिक अधिकारियों की एक अनुशासित सेना, जो कि सैनिक अधिकारियों की सेना के तुल्य होगी, के अन्तर्गत शीर्षस्थ अधिकारी के हाथ में सर्वोच्च सत्ता आ जाएगी और यह सत्ता ऐसी ही होगी जो बहुधा आक्रामक रही है।'[2]

राज्य के विध्यात्मक कार्यों का विरोध—राज्य को न तो उद्योगों का नियमन करना चाहिए, न चर्च की व्यवस्था, न उपनिवेशों की व्यवस्था, न गरीबी निवारण का कार्य, न जन-स्वास्थ्य की व्यवस्था, न शिक्षा की व्यवस्था, न मुद्रा या सिक्कों की व्यवस्था, न डाक व्यवस्था आदि। यदि राज्य इन कार्यों को अपने हाथ में लेता है तो वह प्राकृतिक चयन के नैसर्गिक सिद्धान्त के विरुद्ध है और ऐसा करना व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों का निषेध है। स्पेंसर के मत से राज्य द्वारा शिक्षा की व्यवस्था करने का भी कोई औचित्य नहीं है। बच्चों का यह प्राकृतिक अधिकार नहीं है। वे राज्य द्वारा व्यवस्थित शिक्षा के अभाव में भी शिक्षा प्राप्त कर सकते

[1] 'The great political superstition of the past was the divine right of kings. The great political superstition of the present is the divine right of parliament.'

[2] 'The final result would be a revival of despotism. A disciplined army of civil officials, like an army of military officials, gives supreme power to its head—a power which has often led to usurpation.' —*Ibid*,, 51.

हैं। राज्य द्वारा शिक्षा की व्यवस्था करने का अर्थ यह होगा कि अभिभावकों को बच्चों के लिए शिक्षा का क्रय करना पड़ेगा, उसी प्रकार जैसे कि वे उनके लिए अन्य आवश्यक वस्तुओं का क्रय करते हैं। उन्हें शिक्षा के निमित्त कर देना पड़ेगा चाहे उनके बच्चे शिक्षा प्राप्त करते हों या नहीं। यह उनकी नैतिक स्वतन्त्रता पर कुठाराघात है। पुनश्च, राज्य द्वारा की गयी शिक्षा की व्यवस्था रूढ़िवादिता की द्योतक होगी। अपराध निवारण से शिक्षा का कोई सम्बन्ध नहीं होता। राज्यों के द्वारा विविध प्रकार के कार्यों के सम्पादन के निमित्त ऐसे ही तर्क देकर स्पेंसर ने उनकी निरर्थकता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। राज्य द्वारा की गयी व्यवस्थाओं के अन्तर्गत स्वयं अपने में कोई औचित्य नहीं होता। यदि उनमें कोई न्यायसंगतता है तो नैतिक अनुशास्ति के कारण है। यदि उनमें नैतिकता नहीं रहती, तो वे अनुशासन से रहित हो जाते हैं। स्पेंसर को लोकतन्त्री सरकारों से भी कोई सहानुभूति नहीं है। वह मिल की भाषा में उन्हें भी बहुसंख्यकों के अल्पसंख्यकों के ऊपर निरंकुश शासन के रूप में मानता है।

अधिकार सम्बन्धी धारणा

स्पेंसर का राज्य विरोध यह दर्शाता है कि वह प्राकृतिक अधिकारों की धारणा में विश्वास रखता है। सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी के प्राकृतिक कानूनों तथा प्राकृतिक अधिकारों की धारणा पर विश्वास रखने वाले चिन्तकों ने प्राकृतिक अधिकारों की धारणा को लेकर संविदा द्वारा राज्य के निर्माण की धारणाएँ व्यक्त की थीं। परन्तु स्पेंसर समाज की उत्पत्ति को संविदागत न मानकर विकासवादी मानता है। राज्य को वह आवश्यक बुराई के रूप में ही मानता है। स्पेंसर के मत से इस दुनिया में सबसे मूलभूत वस्तु 'व्यक्ति की शक्तियों का स्वतन्त्र प्रयोग' (free exercise of individual capacity) है। इसी पर व्यक्ति का सुख निर्भर करता है। सामाजिक स्थिरता का प्राथमिक सिद्धान्त समान स्वतन्त्रता का नियम (law of equal freedom) है। परन्तु स्पेंसर ऐसी स्वतन्त्रता को मर्यादित भी मानता है जिसका अभिप्राय 'अन्यों की ऐसी ही स्वतन्त्रता की मान्यता' से है। जन समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपनी नैसर्गिक शक्तियों का प्रयोग करते हुए दूसरों की ऐसी ही स्वतन्त्रता को मान्यता देगा तभी समान स्वतन्त्रता का नियम लागू हो सकता है। इस अर्थ में स्पेंसर एक प्रकार के सामाजिक अनुबन्ध के अस्तित्व को स्वीकार करता प्रतीत होता है। व्यक्ति के अपने शक्तियों के स्वतन्त्र प्रयोग को वह प्राकृतिक अधिकार के रूप में मानता है। उसमें एकमात्र मर्यादा अन्य व्यक्तियों की ऐसी ही स्वतन्त्रता की है। राज्य की आवश्यकता इसीलिए है कि वह व्यक्तियों के समान स्वतन्त्रता के नियम के मार्ग में आने वाली बाधाओं को रोके। सामाजिक जीवन में ऐसी व्यवस्था एक प्रकार के समझौते की धारणा पर आधारित होती है।

प्राकृतिक अधिकारों की प्रकृति—बार्कर के अनुसार, 'स्पेंसर की धारणा का व्यक्ति तत्त्वत: असम्बद्ध, अथच, अवास्तविक व्यक्ति है। परन्तु स्पेंसर का सारा राजनीतिक दर्शन ऐसे ही व्यक्ति पर निर्मित है।'[1] एक सामाजिक व्यक्ति के रूप में उसके बाह्य तथा आन्तरिक दो पहलू होते हैं। पहले के अन्तर्गत वह एक प्राणी है जिसमें उसे अपने पूर्णत्व को प्राप्त करने के लिए अपने को समायोजित करने की

[1] Barker, *op. cit.*, 83.

स्वतन्त्रता की शक्ति वांछनीय होती है; दूसरे के अन्तर्गत वह एक चेतना है जिसमें न्याय की भावना है जो उसे अन्यों के समान स्वतन्त्रता की शक्ति के प्रति सहानुभूति रखने की प्रेरणा देती है। ऐसे ही दो पहलुओं से युक्त व्यक्तियों के योग से जिस समाज का निर्माण होता है। उसके अन्तर्गत यह धारणा विद्यमान रहती है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्तियों का प्रयोग करने के लिए स्वतन्त्र है, परन्तु साथ ही वह दूसरों की ऐसी ही स्वतन्त्रता को भी स्वीकार करता है। इन्हें स्पेंसर प्राकृतिक अधिकार कहता है। 'अधिकार शक्तियों के प्रयोग के सामान्य दावों के कृत्रिम विभाजन के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। ये प्राकृतिक इसलिए हैं कि ये समाज निर्माण से पूर्व अपना अस्तित्व रखते थे और ये मानव विधान की मूलभूत आवश्यकताएँ हैं। इनके अन्तर्गत जीवन, स्वतन्त्रता तथा सुख की प्राप्ति के अधिकार शामिल हैं।

अन्य अधिकार (सम्पत्ति तथा परिवार)—इनके अतिरिक्त स्पेंसर कुछ अन्य अधिकारों का भी उल्लेख करता है जिन्हें वह सार्वजनिक तथा वैयक्तिक के अन्तर्गत वर्गीकृत करता है। वैयक्तिक अधिकारों की श्रेणी में सम्पत्ति तथा परिवार के अधिकार आते हैं। स्पेंसर की वैयक्तिक सम्पत्ति के अधिकार की धारणा अस्पष्ट तथा विचित्र है। वह भूमि के ऊपर व्यक्ति के निजी अधिकार को समान स्वतन्त्रता के नियम के विरुद्ध मानता है, क्योंकि ऐसा अधिकार समानता का द्योतक नहीं है। वह व्यक्ति के लिए सम्पत्ति की कामना को 'मानव प्रकृति के एक तत्त्व' के रूप में मानता है। इस दृष्टि से वह सम्पत्ति के अधिकार को प्राकृतिक मानता है। परन्तु साथ ही इसे वह सामाजिक भी प्रदर्शित करता है। बार्कर के अनुसार, 'समान स्वतन्त्रता का कानून भूमि के सार्वजनिक या राष्ट्रीय स्वामित्व की माँग करता है; यदि एक बार भूमि के निजी स्वामित्व की स्वीकृति प्रदान कर दी जाय तो उसके उत्पादन में भी निजी स्वामित्व आ जायेगा, क्योंकि उत्पादक ने भूमि में अपना श्रम लगाया है और समाज से भूमि को किराये पर लिया है। इस प्रकार जिस अधिकार को उसने प्राप्त किया है उसकी वैधता इस आधार पर है कि अपना श्रम व्यय करने से पूर्व उसने समाज की राय प्राप्त कर ली थी। यह शब्दावली स्पेंसर के प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त को नष्ट करती प्रतीत होती है। यदि सम्पत्ति सदृश एक मूलभूत अधिकार को सामाजिक स्वीकृति की आवश्यकता पड़ती है तो यह बताना कठिन है कि किस प्रकार अधिकार अपनी प्रकृति में सामाजिक स्वीकृति से स्वतन्त्र रह सकते हैं।'[1] बार्कर की आपत्ति यह है कि स्पेंसर व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार को एक ओर तो प्राकृतिक अधिकार के रूप में लेता है, दूसरी ओर उसे सामाजिक स्वीकृति पर आधारित मानता है। इस दृष्टि से कोई भी तथाकथित प्राकृतिक अधिकार सामाजिक स्वीकृति के बिना वैध नहीं रह पायेगा।

परिवार के व्यक्तिगत अधिकार के बारे में स्पेंसर के विचार बहुत क्रान्तिकारी हैं। वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का इतना अधिक समर्थक है कि वह सभ्य मानव के ऊपर किसी भी प्रकार के बाह्य नियन्त्रण को अवांछनीय मानता है। अतएव वह महिलाओं को पूर्ण स्वतन्त्रता देना चाहता है। उन्हें मताधिकार ही नहीं, अपितु इतनी स्वतन्त्रता देना चाहता है कि सामाजिक स्थिरता के नाम पर वह परिवार की प्रथा का ही अन्त कर देना वांछनीय समझता है। इसी प्रकार वह बच्चों को भी समान स्वतन्त्रता के कानून के नाम पर माता-पिताओं के दमनकारी नियन्त्रण से

[1] *Ibid.*, 84–85.

पूर्णतया मुक्त रखना उचित समझता है ।

सार्वजनिक अधिकार—सार्वजनिक अधिकारों से स्पेंसर का तात्पर्य व्यक्ति तथा राजा के मध्य सम्बन्धों का निर्धारण करने वाली सुविधाओं से है । स्पेंसर यह मानकर चलता है कि सरकार एक अनैतिक तथा दमनकारी संस्था है, वह सदैव व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर हस्तक्षेप करती है । अतः व्यक्ति का सबसे प्रथम सार्वजनिक अधिकार यह है कि वह 'राज्य की उपेक्षा करे' । राज्य की नागरिकता सदृश धारणा का लोप हो जाना चाहिए । राज्य का अस्तित्व व्यक्ति को सुरक्षा प्रदान करना मात्र होना चाहिए । शेष बातों में व्यक्ति प्रकृति के विधान का अनुसरण करते हुए अपना हित कहीं अधिक उत्तमता के साथ सम्पन्न कर सकता है, अपेक्षाकृत इससे कि वह राज्य या सरकार पर निर्भर रहे । स्पेंसर का राज्य तथा सरकार विरोध यह स्पष्ट करता कि वह सामाजिक जीवन के क्षेत्र में आधुनिक राज्यों द्वारा मान्य विविध प्रकार के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, आदि अधिकारों की धारणा को पूर्णतया अमान्य करता है ।

समाज का सावयव स्वरूप

स्पेंसर की सामाजिक संरचना की धारणा समाज को एक जीव सावयव के तुल्य मानने की है । इसके साथ ही वह एक कट्टर व्यक्तिवादी भी है । इस प्रकार उसने व्यक्तिवाद तथा सावयववाद के मध्य सामंजस्य स्थापित करने का न केवल असफल प्रयास किया है, अपितु उसकी सामाजिक संरचना सम्बन्धी धारणा ही असंगति पूर्ण सिद्ध हो जाती है । स्पेंसर से पूर्व के सावयववादियों ने भी राज्य तथा समाज के मध्य भेद नहीं किया था । उनका मुख्य उद्देश्य समाज सावयव तथा जीव सावयव के मध्य सादृश्य दर्शाकर समाज तथा राज्य की एकता को चित्रित करके व्यक्ति के राज्य तथा समाज के साथ घनिष्ठ सम्बन्धों को दर्शाना रहा था । प्लेटो ने राज्य को व्यक्ति का ही विशाल रूप कहकर व्यक्ति की आत्मा के तीन तत्वों—विवेक, उत्साह तथा तृष्णा का अस्तित्व राज्य में बताया था । मध्य युग में सैलिसबरी के जॉन तथा उसके बाद क्यूसा के निकोलस ने भी जीवधारी के अंगों की तुलना राज्य के अंगों से की थी । हॉब्स का 'लेवाइथन' स्वयं एक महामानव था जिसे वह राज्य कहता है । रूसो ने सामान्य 'इच्छा' को कार्यपालिका की गत्यात्मक शक्ति तथा 'शक्ति' (force) को व्यवस्थापिका की गत्यात्मक शक्ति से समीकृत करके राज्य को एक सावयविक स्वरूप प्रदान किया था । प्रत्ययवादी जर्मन विचारकों ने राज्य को स्वयं अपनी इच्छा तथा व्यक्तित्व से युक्त सर्वोच्च संस्था बताया था । प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तक राज्य के 'सप्तांग' सिद्धान्त को मानते थे और शुक्र ने राज्य के सात अंगों की तुलना मानव जीवधारी तथा वृक्ष के अंगों से की थी ।[1] इस प्रकार राज्य को एक जीव-सावयव (biological organism) के सदृश मानने की परम्परा अतीत काल में अनेक विचारकों ने अपनायी थी । इस दृष्टि से स्पेंसर का

[1] स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, दण्ड तथा मित्र सात अंग राज्य के माने जाते थे । शुक्र ने कहा है अमात्य राज्य की आँखें मित्र कान, कोष मुख, दण्ड (बल) मन, राष्ट्र तथा दुर्ग हाथ-पैर हैं; स्वामी उसका मस्तिष्क है । आगे उनका मत है राज्य रूपी वृक्ष की जड़ राजा (स्वामी) ; तना अमात्य (मन्त्री); शाखायें सेनापति; पल्लव सैनिक; फूल प्रजाजन तथा फल भूभाग है ।

सावयववाद कोई मौलिक धारणा नहीं थी। परन्तु उसने इस सिद्धान्त में यह नवीनता दर्शायी कि उन्नीसवीं शताब्दी की औद्योगिक व्यवस्था के सन्दर्भ में उसने समाज-सावयव के सिद्धान्त का निरूपण करने का प्रयास किया। परन्तु समाज को सावयविक स्वरूप प्रदान करके उसने अपनी व्यक्तिवादी धारणा की पुष्टि करने में वही गलती की, जो हॉब्स ने निरंकुश प्रभुसत्ता की धारणा का प्रतिपादन करने में प्रभुसत्ता का स्रोत संविदा को मानकर किया। स्पेंसर अपने मौलिकतावादी (radical) व्यक्तिवाद के औचित्य को दर्शाने के निमित्त वैश्व विकास तथा सामाजिक सावयववाद का आश्रय लेता है। वह यह मानकर चलता है कि समाज, राज्य या राष्ट्र प्रकृति के अंग हैं। जिस प्रकार अनुभवातीत (transcendental) जीवन-शक्ति प्रकृति के विकास में कार्यरत रहती है, उसी प्रकार वह सामाजिक विकास क्रम में भी कार्य करती है। इस प्रक्रिया में विकास की प्रवृत्ति वैयक्तीकरण या अनेकीकरण की दिशा में अग्रसर रहती है और अनेकीकृत तत्त्वों के मध्य सामंजस्यीकरण होता है। इस सिद्धान्त के द्वारा स्पेंसर यह दर्शाता है कि विकास की दैवी या नैसर्गिक प्रक्रिया में किसी मानवीय सत्ता को कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए और जीवन-संघर्ष के नियम तथा योग्यतमों के अस्तित्व की धारणा को बने रहने देना चाहिए। परन्तु स्पेंसर इतने से ही सन्तुष्ट नहीं था। वह वैयक्तीकरण की धारणा को व्यक्ति के अधिकारों के साथ संयुक्त करता है और इसी के साथ सामाजिक वैयक्तीकरण की धारणा को भी लेता है। इसके निमित्त वह व्यक्ति सावयव (individual organism) तथा समाज सावयव (social organism) के मध्य सादृश दर्शाते हुए दोनों की समानताओं को चित्रित करता है।

एक जीव सावयव (भौतिक सावयव) तथा समाज सावयव (निर्माणगत सादृश) के मध्य सादृश—स्पेंसर का कहना है कि जिस प्रकार जीव सावयव एक जीवाणु से आरम्भ होते-होते अत्यन्त जटिल जीव बन जाता है, उसी प्रकार समाज भी प्रारम्भ में साधारण शिकारियों तथा योद्धाओं के झुण्ड से विकसित होते-होते एक जटिल संगठन बन जाता है। जिस प्रकार जीव सावयव के विभिन्न अंग परस्पर एक-दूसरे पर निर्भर रहते हुए प्रत्येक के हित में तथा सम्पूर्ण को बनाये रखने के लिए सामंजस्यपूर्ण ढंग से कार्य करते हैं, उसी प्रकार समाज सावयव के अंगों को भी सामंजस्यपूर्ण ढंग से कार्य करना चाहिए। जिस प्रकार जीव-सावयव के कोष तथा कोशिकाएँ नष्ट होती रहती हैं और उनके स्थान पर नयों का निर्माण होता रहता है, उसी प्रकार समाज सावयव के अन्तर्गत भी उसके अंग (व्यक्ति या व्यक्ति-समूह) भी नष्ट होते रहते हैं और उनके स्थान पर नयों की सृष्टि होती रहती है। जीव-सावयव की भाँति समाज सावयव का भी जीवन बना रहता है।

कार्यगत सदृश—स्पेंसर ने जीव सावयव तथा समाज सावयव के अंगों की कार्य प्रणालियों के मध्य भी सदृश दर्शाया है। जीव सावयव के अन्दर पाचन-प्रणाली, रक्त-संचार-प्रणाली तथा सुषुम्ना-प्रणाली क्रमशः आहार (sustaining), परिसंचरण (distributing), तथा नियामक (regulating) प्रणालियाँ हैं। इन्हीं के सदृश समाज सावयव के अन्दर भी समस्त उत्पादक शक्तियाँ आहार-तन्त्र (sustaining system) की, परिवहन तथा यातायात व्यवस्था परिसंचरण-तन्त्र (distributive system) की, और सरकार, सेना तथा प्रशासनतन्त्र नियामक प्रणाली (regulatory system) की द्योतक हैं। स्पेंसर इन मुख्य प्रणालियों की

सहायक प्रणालियों का भी उल्लेख करता है। कृषक, श्रमिक, खनिक, फैक्ट्रियाँ आदि आहार-तन्त्र (alimentary system) की हैं, थोक तथा खुदरा व्यापारी, बैंक, रेलें, जहाज आदि परिसंचरण-तन्त्र (vascular system) की और विभिन्न व्यावसायिक वर्ग यथा डाक्टर, वकील, प्रशासक, इंजीनियर, तथा संचार व्यवस्था आदि स्नायु प्रणाली (nervous system) की सहायक प्रणालियों के सदृश हैं।

स्पेंसर ने समाज सावयव की धारणा को अपनी प्रारम्भिक रचनाओं Social Statics तथा Descriptive Sociology में अपनाया था और बाद की रचना Principles of Sociology में वह जीव सावयव तथा समाज सावयव (राज्य के सावयव स्वरूप) के मध्य सादृश को दर्शाते हुए अपने व्यक्तिवाद के समर्थन में जिन सादृशों को उचित समझता है उन्हें अपनाता है, और जिन्हें उचित नहीं समझता उन्हे उपेक्षित छोड़ देता है। स्पेंसर की धारणा है कि जीव सावयव के अन्दर जो प्रणालियाँ हैं उन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है : पहली, स्नायु-प्रणाली है, जिसके अंगों का नियमन बाह्य कार्यवाही चाहता है। ये अंग पूर्णतया मस्तिष्क के निरंकुश नियन्त्रण में रहते हैं, ताकि वे जीवधारी की बाह्य आवश्यकताओं की पूर्ति कुशलता-पूर्वक कर सकें। दूसरी, वितरण तथा आहार प्रणालियाँ हैं, जो स्वतन्त्रतापूर्वक बिना किसी बाह्य नियामक शक्ति की सहायता के परन्तु विभिन्न अंगों के पारस्परिक सहयोग तथा सहानुभूतिपूर्ण स्नेह से अपना कार्य करती रहती हैं। ये अंग न केवल अपनी प्रणालियों के अन्दर ही स्वतन्त्र हैं, अपितु स्नायु-प्रणाली से भी स्वतन्त्र है। अतः वे मस्तिष्क से स्वतन्त्र रहकर अपना कार्य सम्पादित करते रहते हैं। इसी प्रकार समाज सावयव के अन्तर्गत भी स्नायु-प्रणाली का प्रतिनिधित्व करने वाला शासन-तन्त्र बाह्य कार्यवाही करता है। दूसरी ओर औद्योगिक प्रणाली समाज के आन्तरिक जीवन की आवश्यकताओं को पूर्ण करती है। शासन का कार्य युद्ध सदृश बाहरी बाधाओं से समाज की रक्षा करना है जिसके निमित्त वह निरंकुश नियन्त्रण रखता है। इसके विपरीत औद्योगिक व्यवस्था आत्म-नियन्त्रित तथा सहचारपूर्ण पद्धति है। इसके ऊपर शासन का कोई नियन्त्रण नहीं रहता। सरकार को अधिक से अधिक इतना ही नियन्त्रण रखना चाहिए कि वह औद्योगिक व्यवस्था में लगे प्रत्येक अंग को काम करने के लिए बाध्य करे। यह सरकार का 'निषेधात्मक नियमन' का कार्य है। ऐसा करने में वह भोजन तथा काम के मध्य संविदागत धारणा को बनाये रखता है। इन दो कार्यों के अतिरिक्त सरकार का अन्य कोई कार्य नहीं होना चाहिए।

जीव सावयव तथा समाज सावयव के मध्य अन्तर—जीव सावयव तथा समाज सावयव के मध्य अन्तर के सम्बन्ध में स्पेंसर के तर्क बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। परन्तु इनके आधार पर उसके सम्पूर्ण सावयववादी सिद्धान्त में भारी विरोधाभास उत्पन्न हो गया है। स्पेंसर के अनुसार जीव सावयव का निर्माण करने वाली इकाइयाँ या अंग एक दूसरे से घनिष्टतया ठोस रूप में संलग्न हैं। बिना सम्पूर्ण के किसी एक की कल्पना नहीं की जा सकती। उनमें से प्रत्येक सम्पूर्ण का साध्य नहीं है। इसके विपरीत समाज सावयव का प्रत्येक अंग सम्पूर्ण का साध्य है। दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि जीव सावयव में प्रत्येक अंग की पृथक् चेतना नहीं होती, बल्कि चेतना केन्द्र एक स्थान (मस्तिष्क) पर होता है। यदि वह कार्य करना बन्द कर देता है तो सम्पूर्ण अग निरर्थक हो जाते हैं। परन्तु समाज सावयव में

प्रत्येक अंग की अपनी पृथक् चेतना होती है, अर्थात् चेतना स्थल बिखरे रहते हैं। अतः प्रत्येक अंग (समाज के प्रत्येक सदस्य तथा समुदायों) में सोचने की शक्ति होती है। इस दृष्टि से समाज सावयव के अन्तर्गत सम्पूर्ण का सुख साध्य नहीं होता, प्रत्युत् प्रत्येक अंग साध्य है। स्पेंसर की धारणा यह थी कि जिन समाजों में सम्पूर्ण को साध्य माना जाता रहा, वे समाज के 'निम्नतम' रूप थे, क्योंकि उनकी उत्पत्ति सैनिक समाजों के रूप में हुई थी, जिनका आधार युद्ध था। इसलिए उनके अन्तर्गत युद्ध-विजय के निमित्त प्रत्येक व्यक्ति के ऊपर शासन का स्वेच्छाचारी नियन्त्रण रहता था। परन्तु एक औद्योगिक समाज का आधार युद्ध नहीं बल्कि इसकी उत्पत्ति का आधार प्रत्येक व्यक्तिगत सदस्य की समृद्धि तथा शान्तिपूर्ण ढंग से सुख की उपलब्धि करना है। अतः यह समाज का 'उच्च' रूप है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति साध्य है और शासन संगठन उसका साधन है। इस दृष्टि से जीव सावयव के अन्तर्गत स्नायु-मण्डल (नियामक-तन्त्र) की सर्वोच्चता को तथा समाज सावयव के अन्तर्गत आहार-तन्त्र की सर्वोच्चता को महत्त्व दिया गया है।

स्पेंसर का व्यक्तिवाद

उन्नीसवीं शताब्दी के इंग्लैण्ड के प्रमुख परम्परागत व्यक्तिवादियों (traditional individualists) में जे० एस० मिल के बाद हरबर्ट स्पेंसर का नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि स्पेंसर राज्य के सावयव स्वरूप को मानता है और अन्य सावयववादियों की भाँति उसे राज्यवादी होना चाहिए था, तथापि उसने अपने समाज सावयव की धारणा से जो निष्कर्ष निकाले हैं वे उसे एक व्यक्तिवादी विचारक माने जाने की धारणा को पुष्ट करते हैं। इसके आधार पर वह व्यक्ति को न तो राज्य में बिलीन कर देने का पक्ष लेता है और न ही राज्य को साध्य तथा व्यक्ति को उसका साधन मात्र मानता है। प्रत्युत् उसके निष्कर्ष पूर्णतया इसके विपरीत हैं। वह प्राकृतिक अधिकारों की धारणा को मानता है। उनके आधार पर आर्थिक क्षेत्र में भी राज्य को पूर्णतया अहस्तक्षेप की नीति अपनाने को कहता है। वह राज्य को आवश्यक तो मानता है, परन्तु एक बुराई के रूप में। उसके मत से राज्य की उत्पत्ति बुराई से हुई है जबकि समाज का रूप सैनिकशाही तथा उसका आधार युद्ध था। औद्योगिक युग में जबकि समाज का उद्देश्य सम्पूर्ण सदस्यों की सुख-समृद्धि को शान्तिपूर्ण ढग से सुनिश्चित करना होता है, तो राज्य की आवश्यकता केवल इसीलिए रह जाती है कि वह व्यक्ति को स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकृति के नियमों के अनुसार चलने की सुविधा प्रदान करे और व्यक्ति के ऐसे आचरण के मार्ग में जो रुकावटें आती हैं उन्हें दूर करे। साथ ही समाज के ऊपर बाहरी आक्रमण होने की स्थिति में उसके सदस्यों को सुरक्षा प्रदान करे। ये कुछ ऐसी बुराइयाँ हैं जिनका निराकरण करने के लिए राज्य या सरकार आवश्यक है, अतः वह 'एक आवश्यक बुराई' है।

स्पेंसर के मत से जब सामाजिक विकास का स्तर प्रकृति के कानून के अनुसार उस स्थिति में पहुँच जायेगा, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने को सामाजिक वातावरण के साथ पूर्णतया समायोजित कर ले, तो फिर राज्य की आवश्यकता भी समाप्त हो जायेगी। तब तक बाह्य आक्रमण से रक्षा, आन्तरिक शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखने और संविदा की सुरक्षा के निमित्त न्यायिक कार्यों के लिए राज्य आवश्यक है। इन तीन कार्यों के अतिरिक्त राज्य को अन्य कोई विध्यात्मक कार्य

समाज या व्यक्ति के लिए नहीं करने चाहिए। उसने कहा है, 'यह बात सत्य या असत्य हो सकती है कि मानव अन्यायी तथा पापमय है, परन्तु यह बात निर्बाध रूप से सत्य है कि सरकार की उत्पत्ति का प्रत्येक आधार आक्रमण है।'[1] इसलिए ऐसी सरकार के बने रहने का कोई औचित्य नहीं है। एक सामंजस्यपूर्ण समाज मे सरकार को कोई स्थान प्राप्त नहीं होना चाहिए।

व्यक्तिवादी विचारक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को सर्वोच्च स्थान देते हैं। इसलिए वे राज्य के लोक कल्याणकारी स्वरूप का विरोध करते हैं। उनकी धारणा का राज्य 'पुलिस राज्य' है, जो एक प्रहरी का काम करता है, ताकि वह सामाजिक व्यवस्था के प्राकृतिक नियमों के अनुसार संचालन के मार्ग में रुकावट डालने वालों को रोक सके। स्पेंसर इस धारणा का प्रबल समर्थक है। वह राज्य को शिक्षा, स्वास्थ्य, गरीबी-निवारण, मुद्रा तथा सिक्के की व्यवस्था, अपाहिजों की सुरक्षा, आदि किसी भी प्रकार के जनहित के कार्यों को करने से मना करता है। आर्थिक क्षेत्र में भी वह राज्य को किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने से मना करता है। जीवन-संघर्ष मे प्राकृतिक चयन के नियम के अनुसार योग्यतमों के अस्तित्व के सिद्धान्त का जोरदार समर्थन करना तथा अयोग्यों के स्वयमेव समाप्त होते रहने की धारणा को व्यक्त करना, स्पेंसर के उग्र व्यक्तिवादी होने की बात को पुष्ट करती है।

इस प्रकार स्पेंसर उन्नीसवीं शताब्दी की परम्परागत व्यक्तिवादी विचारधारा का उग्रतम समर्थक हुआ है। बहुधा उसे अराजकतावादी भी कहा जाता है, क्योंकि उसने एक सामंजस्यपूर्ण आदर्श समाज की कल्पना करते हुए उसे अराजकता का वरदान कहा था। वह यह भी मानता है कि आदर्श समाज में राज्य या सरकार की आवश्यकता नहीं रहेगी। परन्तु स्पेंसर को अराजकतावादी कहना उचित नहीं है। अराजकतावादी विचारक राज्य, पूँजीवाद तथा धर्म तीनों का विरोध करते हैं और इनकी समाप्ति करने के लिए हिंसात्मक क्रान्ति का समर्थन करते हैं। वे राज्य को 'अनावश्यक बुराई' मानते है। इसके विपरीत स्पेंसर की कल्पना का आदर्श समाज अराजक नहीं है। उसमें सरकार तथा राज्य के अस्तित्व को सीमित उद्देश्य हेतु स्वीकार किया गया है। भले ही वह बुराई है तथापि वह 'आवश्यक' है। स्पेंसर ने पूँजीवाद, व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा धर्म का विरोध करने की प्रवृत्ति नहीं दर्शायी है। उसकी कल्पना की व्यवस्था में व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार आर्थिक प्रतियोगिता कर सकेंगे, तो पूँजीपति भी बन सकेंगे। स्पेंसर किसी न किसी रूप में व्यक्तिगत सम्पत्ति को एक प्राकृतिक अधिकार के रूप में स्वीकार करता है, जबकि अराजकतावाद व्यक्तिगत सम्पत्ति को महान् बुराई मानता है। निस्सन्देह उसका राज्य तथा सरकार का विरोध तथा अन्ततः राज्य की आवश्यकता के न रह जाने की धारणा, एवं वैयक्तिक स्वतन्त्रता के प्रति उसकी अतीव निष्ठा उसे अराजकतावाद के काफी नजदीक ले आती है। परन्तु उसका राज्य-विरोध उसे समाजवाद एवं लोक-कल्याणकारी राज्य की धारणा से विमुख कर देता है। स्पेंसर की ऐसी व्यक्तिवादी धारणाएँ मानवीय नैतिकता की उपेक्षा करने वाली सिद्ध होती हैं।

[1] 'Be it or be it not true that man is shapen in inequity and conceived in sin, it is unquestionably true that government is begotten in aggression and by aggression.' —Spencer, *Man versus the State*, 54.

स्पेंसर के विचारों का मूल्यांकन

उन्नीसवीं शताब्दी के इंग्लैण्ड के राजनीतिक चिन्तकों के मध्य स्पेंसर का स्थान उच्चतम विचारकों की श्रेणी में आता है। वह तत्कालीन व्यक्तिवादी विचारकों में सर्वश्रेष्ठ विचारक था। यदि जे० एस० मिल ने मानवीय नैतिकता के आधार पर व्यक्तिवाद का विवेचन किया, तो स्पेंसर वैज्ञानिक व्यक्तिवाद का प्रतिपादक सिद्ध होता है। उन्नीसवीं शताब्दी का सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन विकासवादी सिद्धान्तों का अनुगमन करता है। स्पेंसर भी विकासवादी चिन्तन का एक प्रमुख प्रतिपादक है। एक राजनीतिक चिन्तक के रूप में स्पेंसर की महत्ता केवल इसलिए नहीं है कि वह विकासवाद तथा व्यक्तिवाद का महान् प्रणेता था, बल्कि इसलिए है कि वह एक निगमनात्मक तथा संश्लेषणात्मक चिन्तक था। उसने अपने युग की विविध विचार-पद्धतियों का संश्लेषण किया राजनीतिक समस्याओं के अध्ययन में उसने विकासवाद, मौलिकतावाद, जीवशास्त्र, भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि विविध शास्त्रों के अन्तर्गत अपने युग मे विकसित नई-नई धारणाओं को लिया और उनके मध्य संश्लेषण की क्रिया द्वारा सम्बन्ध स्थापित करके सामान्यीकरण किया।

यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी की प्रमुख राजनीतिक विचारधाराओं के अन्तर्गत स्पेंसर को व्यक्तिवाद का समर्थक माना जाता है तथापि उसके विचारों ने रूढ़िवाद, समाजवाद, अराजकतावाद तथा उदारवाद के निमित्त भी पर्याप्त सामग्री प्रदान की।

रूढ़िवादी—बार्कर ने कहा है कि 'चूंकि स्पेंसर बहुत अधिक मौलिकतावादी था और प्राथमिक सिद्धान्तों को बहुत महत्त्व देता था, अतः वह अन्त मे रूढ़िवादी खेमे में चला जाता है।'[1] स्पेंसर द्वारा इस बात पर बहुत बल दिया जाना कि राज्य को अमुक-अमुक कार्य नहीं करने चाहिए अथवा अमुक कार्यों को करने से अपने को रोकना चाहिए, स्पेंसर की रूढ़िवादिता तथा प्रतिक्रियावादिता को दर्शाते हैं। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के प्रति स्पेंसर का तीव्र मोह ब्रिटिश जनता की इस रूढ़िवादी कामना का समर्थन करता है कि 'प्रत्येक व्यक्ति को कार्यगत स्वतन्त्रता प्राप्त रहनी चाहिए तथा उसे अपने श्रम, सम्पत्ति, तथा क्षमता के अनुसार जैसा चाहे वैसा कार्य करने की स्वतन्त्रता प्राप्त रहनी चाहिए।' इससे उसकी रूढ़िवादिता प्रकट होती है।

समाजवादी—स्पेंसर राज्य या समाज को एक सावयव के रूप में मानता है और उसके विकास को भी सावयविक मानता है। यद्यपि इस विकास-क्रम का निर्वचन वह व्यक्तिवाद के औचित्य को दर्शाने के लिए करता है तथापि, जैसा बार्कर का मत है, 'स्पेंसर सावयविक एकता की धारणा में इसे समाप्त करता है जो समाजवाद के औचित्य को दर्शाने की द्योतक धारणा है।' भूमि को समाज की सम्पत्ति मानना तथा उसमें प्रत्येक कृषक के समान अधिकार की धारणा भी स्पेंसर को समाजवाद का समर्थक बनाती है। ओवन (Owen) के अनुसार, 'जो लोग उसे (स्पेंसर को) हमारी निवर्तमान व्यवस्था का समर्थक मानते है, उन्हें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि उसने साम्यवादी भूमि व्यवस्था के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, जिसे उसने कभी वापिस नहीं लिया····जो लोग उसे प्रतिक्रियावादी तथा प्रगति का शत्रु मानते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि एक विकासवादी के रूप में उसने सामान्यतया चिन्तन के क्षेत्र में और विशेष रूप से समाजवाद के समर्थन में अमूल्य योगदान

[1] Barker, *op. cit.*, 108.

किया है ।'[1]

अराजकतावादी—यद्यपि स्पेंसर को सही अर्थ में अराजकतावादी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह सरकार को तुरन्त समाप्त कर देने की धारणा नहीं रखता, तथापि स्पेंसर का स्वप्नलोकी आदर्श समाज अराजक व्यवस्था ही है, अत: अराजकतावादियों को भी स्पेंसर के विचारों से प्रेरणा मिली है। प्राकृतिक विधान के अनुसार एक सामंजस्यपूर्ण तथा सहकारिता पर आधारित सामाजिक व्यवस्था स्पेंसर तथा अराजकतावादियों दोनों का स्वप्न था ।

उदारवादी—अपने युग में विकसित उदारवाद के निमित्त स्पेंसर का योगदान बहुत अधिक था । सैबाइन के अनुसार, 'उसने उदारवाद को एक ऐसा नया दर्शन प्रदान किया जो कि वैज्ञानिक अनुसन्धान पर आधारित होने का दावा रखता है और जिसका ज्ञान उसके पूर्व किसी भी पीढ़ी को नहीं था ।'[2] उससे पूर्व उदारवाद का यह अर्थ लिया जाता था कि शासन की नियन्त्रणकारी शक्ति पर कुछ प्रतिबन्ध लगे हों, व्यक्तिगत उद्योगों को प्रोत्साहन मिले और लोगों को संविदा की अधिकाधिक स्वतन्त्रता प्राप्त रहे । स्पेंसर ने उदारवाद की इन संकीर्णताओं को दूर किया और जीवविज्ञान तथा समाजशास्त्र एवं जैविक तथा सामाजिक विकास के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित किया । उसने तत्कालीन इंग्लैण्ड के उदारवादी दल को नया टोरी दल कहा, क्योंकि वह उदारवादी नीतियों से मुकरने लगा था और आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप की नीति को छोड़ने लगा था ।

उपयोगितावादी—यद्यपि स्पेंसर बेंथम के उपयोगितावाद का विरोधी था, क्योंकि उसके अन्तर्गत व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की उपेक्षा की गयी थी, तथापि स्पेंसर स्वयं भी उपयोगितावादियों की श्रेणी में आता है। उनकी तरह वह भी मानता है कि व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य सुख की प्राप्ति करना है । परन्तु सुख-प्राप्ति के उद्देश्य की पूर्ति के साधनों के बारे में वह उपयोगितावादियों से सर्वथा भिन्न दृष्टिकोण रखता है । उसे बेंथम के लोकतन्त्री, अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख, तथा सुख-दु:ख की नाप-तौल के सिद्धान्तों से कोई रुचि नहीं थी । वह बेंथम के उपयोगितावाद को अवसरवादी मानता है। वह स्वयं राज्य-विरोधी है, अत: राज्य के माध्यम से व्यक्तिगत या अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख प्राप्त करने के उपयोगितावादी सिद्धान्त को वह नहीं मान सकता था ।

सावयववादी—स्पेंसर के विचारों का महत्त्वपूर्ण अंश उसका समाज-सावयव का सिद्धान्त है। यद्यपि इस सिद्धान्त में उसने अनेक असंगतियाँ उत्पन्न कर दी हैं (इनका विवेचन आगे किया जायेगा) तथापि इसके द्वारा उसने यह दर्शाया है कि समाज एक यान्त्रिक संरचना मात्र नहीं है। उसका विकास शनै: शनै: सरल से जटिल की ओर होता रहता है, जैसा कि जीवधारी में होता है। जीवधारी तथा समाज सावयव के मध्य जो सादृश उसने दिखाये हैं वे समाज संचालन के कार्यों में बहुत सहायक सिद्ध हो सकते हैं । मुख्यतया उसकी यह धारणा कि विधायी कार्य-कलापों के द्वारा समाज के स्वरूप तथा उसके विकास की नैसर्गिक प्रक्रिया को बदलने का प्रयास लाभकारी नहीं हो सकता, बहुत महत्त्वपूर्ण है। आर्थिक क्षेत्र में

[1] W. C. Owen, *The Economics of Herbert Spencer*, 238.

[2] 'He had given to Liberalism a new philosophy that purported to depend upon a scientific discovery unknown to any generation before his own.' —Sabine, *op. cit.*

उसने उन्मुक्त प्रयासों (Free Trade) को समर्थन दिया।

स्पेंसर ने स्वतन्त्रता, समानता तथा सामाजिक सहचार की धारणाओं को मानव-जीवन के विकास में बहुत महत्त्वपूर्ण माना और इन धारणाओं का विकास उसने वैज्ञानिक ढंग से किया। वह काम्टे के वैज्ञानिक यथार्थवाद तथा सर्वसत्तावाद का विरोध करता है और उसके स्थान पर वह अपने बुद्धिवाद-विरोधी विकासवाद के आधार पर अहस्तक्षेप की नीति का समर्थन करता है। इस दृष्टि से बीसवीं शताब्दी के उदारवाद के निमित्त उसका महत्त्वपूर्ण योगदान है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि स्पेंसर के राजनीतिक विचारों का महत्त्व बीसवीं शताब्दी के लिए कम होता जा रहा है, क्योंकि आज के युग की बदलती हुई सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में उसकी विचारधारा महत्त्वहीन हो गयी है। फिर भी उन्नीसवीं शताब्दी के परम्परागत व्यक्तिवाद का प्रतिनिधित्व जितनी उत्तमता से उसके विचारों में मिलता है, उतना अन्य किसी तत्कालीन चिन्तकों की विचारधाराओं में नहीं मिलता।

आलोचना

स्पेंसर के विचार देश-काल की दृष्टि से सीमित हैं—यद्यपि स्पेंसर अपने युग का महान् दार्शनिक होने की स्थिति रखता है, तथापि उसकी विचारधारा में अनेक दोष तथा असंगतियाँ हैं। वह अपने युग की ही प्रवृत्तियों के साथ चला और एक भविष्य-द्रष्टा नहीं बन पाया। साथ ही उसके विचार अत्यधिक स्थानीयतावादी हैं। उसके विचारों में इंग्लैण्ड के सामाजिक तथा राष्ट्रीय तत्त्वों को ही समझने की सर्वाधिक प्रवृत्ति रही है। वहीं के सन्दर्भ में उसने विविध सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। उसका स्वतन्त्रता प्रेम इंगलिश जाति के स्वतन्त्रता प्रेम की अभिव्यक्ति है। बार्कर के अनुसार स्पेंसर के विचारों में प्यूरिटनवाद का बहुत अंश है, इसीलिए उसे इंग्लैण्ड में पर्याप्त प्रशंसा प्राप्त हुई। बार्कर का निष्कर्ष है कि 'समूचे रूप में, स्पेंसर इंग्लैण्ड के लिए उपयुक्त था; और इस धारणा पर कि किसी राष्ट्र को जो राजनीतिक विचारधारा प्राप्त होती है वह उसकी पात्रता रखता है, हम यह कह सकते हैं कि इंग्लैण्ड स्पेंसर की पात्रता रखता था।'[1] राजनीतिक संकीर्णता के कारण स्पेंसर के विचार अन्य देशों में बहुत लोकप्रिय नहीं हुए। अन्य देशों में उसी के युग में अन्य विचारधाराएँ विकसित होने लगी थीं।

विविध विचारों में असंगति दोष हैं—स्पेंसर के विचारों में अनेक असंगति दोष भी हैं। इसके कारण उनकी महत्ता बहुत अधिक नहीं रही है। इसका प्रमुख कारण यह था कि उसके दर्शन के स्रोत बहुत अधिक थे। वह उन विविध स्रोतों के मध्य सामंजस्य स्थापित करने में असफल रहा। उसके प्रेरणा-स्रोत ब्रिटिश मौलिकतावाद, जर्मन आदर्शवाद, उसका अपना पारिवारिक वातावरण तथा जीवशास्त्र और भौतिकशास्त्र का अध्ययन थे, इन सबको मिलाकर उसने अपने व्यक्तिवादी विचारों को अपना लक्ष्य बनाया। परन्तु व्यक्तिवाद के समर्थन में समाज सावयव की धारणा को प्रमुखता दी। परिणाम यह हुआ कि वह इन परस्पर विरोधी धारणाओं के मध्य

[1] 'On the whole. Spencer suited England ; and on the assumption that a nation deserve the political theory which it gets, we may say that England deserved Spencer.' —Barker, *op. cit.*, 112.

समन्वय स्थापित नहीं कर पाया। जिससे उसके तर्क तथा निष्कर्ष भारी असंगतियों से भर गये। वह एक कुशल सामान्यीकरण कर्त्ता है, परन्तु उसका सामान्यीकरण अपूर्ण तथ्यों पर आधारित है। बार्कर के अनुसार उसके तर्क निस्सार (bare) तथा यान्त्रिक (mechanical) हैं।

प्राकृतिक अधिकारों की धारणा भ्रामक है—स्पेंसर प्राकृतिक अधिकारों की धारणा लेकर अपने विचारों का विकास करता है। परन्तु उसकी प्राकृतिक अधिकारों की धारणा में भी अनेक असंगतियाँ हैं। वह उन्हें निरपेक्ष मानता है, साथ ही मर्यादित भी। प्राकृतिक अधिकारों की धारणा उसके व्यक्तिवाद के समर्थन में व्यक्त की गयी है। वे विध्यात्मक होने के साथ-साथ निषेधात्मक भी हैं। इस अर्थ में वे विध्यात्मक हैं कि मानव में जीवन, स्वतन्त्रता तथा सुख की चाह प्राकृतिक होती हैं। अतः वे नैतिक अधिकार हैं। जीवन-संघर्ष में व्यक्ति उन्हीं को लेकर चलता है। किसी बाहरी सत्ता को इसके विरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिए। अतः वे निरपेक्ष है। परन्तु दूसरी ओर स्पेंसर यह भी कहता है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। इसलिए उसके अधिकारों का आधार केवल आत्म-तुष्टि नहीं है, बल्कि उन पर समाज के अन्य व्यक्तियों के ऐसे ही अधिकारों की मर्यादा भी लगी है। कोई व्यक्ति दूसरों के ऐसे ही अधिकारों के विरुद्ध अपने अधिकारों का प्रयोग नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में वे निषेधात्मक होने के साथ-साथ जीवन-संघर्ष के सिद्धान्त से असंगतिपूर्ण हो जाते हैं। बार्कर ने स्पेंसर के प्राकृतिक अधिकारों की धारणा में असंगति को व्यक्त करते हुए कहा है कि 'स्पेंसर कभी तो कहता है कि प्राकृतिक अधिकार व्यक्ति में अन्तर्निहित हैं, कभी वह कहता है कि उन्हें समाज की स्वीकृति की आवश्यकता है; एक बार वह कहता है कि व्यक्ति के अधिकार जीवन के नियमों के अधीन हैं; दूसरे अवसर पर वह मानता है कि नैतिक होने के कारण वे अन्य अधिकारों से भिन्न हैं।' इस असंगति का एक मुख्य कारण यह है कि उसके प्राकृतिक अधिकारों की धारणा उसके समाज सावयव की धारणा से मेल नहीं खाती। बार्कर ने उचित ही कहा है कि 'एक समाज सावयव के अन्तर्गत व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की धारणा उसी प्रकार है जैसे कि एक ठोस पदार्थ के अन्दर शून्य (vacuum) की कल्पना करना।'[1] यदि वह अधिकारों के बारे में स्पष्ट होता, तो वह जीव सावयविक उपमाओं के बारे में और अधिक स्पष्ट हो जाता। उसकी प्राकृतिक अधिकारों की धारणा इसलिए भी अस्पष्ट तथा असंगतिपूर्ण है कि स्पेंसर ने प्राकृतिक कानूनों की धारणा व्यक्त नहीं की है जिनके आधार पर वह प्राकृतिक अधिकारों की सृष्टि को व्यक्त करता। वह 'समान स्वतन्त्रता के कानून' शब्दों का प्रयोग करता है, परन्तु यह प्राकृतिक कानून न होकर प्राकृतिक अधिकार ही है। स्पेंसर ने प्राकृतिक अधिकारों की धारणा को अत्यधिक महत्त्व दिया है, परन्तु उनकी रक्षा के निमित्त सामाजिक समझौते द्वारा राज्य की उत्पत्ति तथा राज्य की सत्ता को मर्यादित करने की धारणा स्वीकार नहीं की है। वह सामाजिक समझौते की धारणा को अमान्य भी नहीं कर सका। यद्यपि उसका समाज सावयव भौतिक सावयव की भाँति प्रकृति के नियमों के अनुसार ही विकसित होता है, तथापि स्पेंसर सामाजिक मानव के प्राकृतिक अधिकारों के सम्बन्ध में एक-दूसरे के द्वारा उन्हें सम्मान प्रदान किये जाने की धारणा में एक प्रकार की संविदा को अन्तर्निहित

[1] 'Natural rights in a social organism are as much in place as a vacuum in a solid.' —*Ibid.*, 110.

मानता है।

विकासवाद के सम्बन्ध में उसके निष्कर्ष अशुद्ध हैं—स्पेंसर का विकासवादी सिद्धान्त भी असंगतियों से अछूता नहीं है। वह यह मानकर चलता है कि विकास-क्रम अन्तिम तथा पूर्ण समायोजन (final and complete adjustment) की ओर बढ़ता है। इसका अभिप्राय यह है कि जब समायोजन की प्रक्रिया अन्तिम तथा पूर्ण स्थिति में पहुँच जायेगी तो विकास-क्रम पूरा हो जायेगा। परन्तु यह धारणा तथ्यों के विपरीत लगती है। मैक्सी ने कहा है कि 'अब विज्ञान हमें यह शिक्षा देता है कि विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत एक समायोजन अन्य नये समायोजनों की समस्याएँ उत्पन्न कर देगा। अतः विकास-क्रम का अनन्त है। पुनः स्पेंसर का मत है कि विकास-क्रम अनेकीकरण की दिशा में बढ़ता है। परन्तु साथ ही वह समाज सावयव की धारणा के अन्तर्गत एकीकरण की धारणा भी बताता है। इस दृष्टि से जहाँ वह व्यक्तिवाद की ओर उन्मुख हुआ है वहाँ स्पष्टीकरण की दिशा में भी प्रवृत्त है। इस प्रकार उसने अपने सामाजिक दर्शन के अन्तर्गत एक उग्र रूप के समष्टिवाद के साथ एक उग्र रूप के व्यक्तिवाद (laissez faire) पर अपने विश्वास को जोड़ने का असफल प्रयास किया है।

स्पेंसर का सावयववाद असंगतियों से भरा है—उसकी सामाजिक सावयव की धारणा भी अत्यधिक असंगतिपूर्ण सिद्ध हुई है। वह जीव-सावयव तथा समाज-सावयव दोनों में वैयक्तीकरण की प्रक्रिया को मानकर दोनों के मध्य समान्तरता (parallel) दर्शाने का प्रयास करता है। परन्तु ऐसी समानताओं के द्वारा वह व्यक्ति तथा समाज के मध्य सम्बन्धों का समुचित निरूपण करने में सफल नहीं हो सका। बार्कर के अनुसार, 'वह जीव सावयव के बारे में तो स्पष्ट है क्योंकि वह एक भौतिक सावयव है, परन्तु समाज सावयव जो एक मानसिक पद्धति है क्योंकि समाज कुछ सामूहिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अनेक मनों का योग है, के बारे में वह स्पष्ट नहीं है।' सावयव विभिन्न प्रकार के अंगों से निर्मित एक जीव संरचना होती है; उसके अंग परस्पर अन्योन्याश्रित रहते हैं। अतएव सम्पूर्ण की स्वस्थता इस बात पर निर्भर रहती है कि उसका प्रत्येक अंग समुचित ढंग से अपना ही कार्य करे। इसका विकास अन्दर से होता है जिसमें साथ-साथ अंगों का भी विकास होता है। बार्कर के अनुसार स्पेंसर के सावयव, सावयविक एकता तथा सावयविक विकास शब्दों को राज्य के सन्दर्भ में केवल उपमा-मूलक (metaphor) रूप में लिया जाना चाहिए। 'राज्य एक सावयव नहीं है; बल्कि यह सावयव के समान है। यह इसलिए एक सावयव है, क्योंकि यह एक भौतिक संरचना नहीं है। यह एक मानसिक संरचना है—जो कि एक सामूहिक उद्देश्य के लिए विभिन्न मनों का संयोग है। परन्तु यह मानसिक संरचना एक सावयव के सदृश है, क्योंकि उस सामूहिक उद्देश्य की प्राप्ति विभिन्न अंगों द्वारा अपने कार्यों के समुचित सम्पादन पर निर्भर करती है और सम्पूर्ण की एकता को 'सावयव' कहा जाता है। ऐसा इसलिए भी है कि इस संरचना में जो परिवर्तन आयेंगे वे आन्तरिक विकास के द्वारा आयेंगे जो कि समस्त अंगों को भी प्रभावित करेंगे।'[1] परन्तु स्पेंसर द्वारा व्यक्त सादृश राज्य तथा व्यक्ति के मध्य सम्बन्धों का सही निराकरण नहीं कर पाये।

[1] *Ibid.*, 91.

स्पेंसर का व्यक्तिवाद उसके समाज सावयववाद से संगति नहीं रखता—स्पेंसर राज्य को कभी तो एक संयुक्त सुरक्षा कम्पनी (joint stock protection company) कहता है और फिर उसे एक सावयव भी कहता है। विकास की प्रक्रिया के अन्तर्गत वह कभी तो कहता है कि मानव विकास अधिकाधिक पारस्परिक आश्रितता की ओर विकसित होता है, और कभी कहता है कि यह विकास-क्रम अधिकाधिक वैयक्तीकरण की ओर बढ़ता है। इन परस्पर विरोधी धारणाओं के मध्य वह समन्वय स्थापित नहीं कर सका। वह सावयव सिद्धान्त के द्वारा अपने व्यक्तिवाद की पुष्टि करना चाहता था, जो एक कठिन कार्य था। उसे या तो समाज सावयव की धारणा का परित्याग करना चाहिए था, अथवा यदि वह इसे सही मानता था तो उसे व्यक्तिवाद का परित्याग करना चाहिए था। बार्कर ने उचित ही कहा है कि 'सैंकड़ों पृष्ठों में जीव सावयव तथा समाज सावयव के मध्य सादृश्य दर्शाने के बावजूद स्पेंसर समाज सावयव को दरवाजे के बाहर झुकने को बाध्य कर देता है। वह इसके टुकड़े-टुकड़े कर देने भर से सन्तुष्ट नहीं था। प्रत्युत् उसने इसका देश निकाला ही कर दिया।'[1] स्पेंसर का मुख्य उद्देश्य व्यक्तिवाद का समर्थन करना था। परन्तु एक एकाकी तथा असम्बद्ध व्यक्ति से प्रारम्भ करने के बाद वह समाज सावयव के साथ अपनी विचारधारा को समाप्त करता है। उसकी विचारधारा का उद्देश्य वैयक्तिक सुख है, अर्थात् उसका साध्य व्यक्ति है परन्तु समाज सावयव का एक अंग होने के नाते व्यक्ति को साध्य सिद्ध कर सकना सम्भव नहीं था। यह एक भारी असगति स्पेंसर ने की है। परिणामस्वरूप, जैसा सैबाइन ने कहा है, 'उसने सामाजिक विचारधाराओं को जीवशास्त्रीय विकास से सम्बद्ध किया परन्तु व्यावहारिक निष्कर्षों को वहीं छोड़ दिया जहाँ वे पहले से थे।'[2]

स्पेंसर समाज, राज्य तथा सरकार के मध्य भेद स्पष्ट नहीं कर पाया—स्पेंसर के विचारों का एक महान् दोष यह है कि उसने समाज, राज्य तथा सरकार के मध्य स्पष्ट भेद नहीं किया। वह न तो समाज तथा राज्य के मध्य है और न ही राज्य तथा सरकार के मध्य भेद करता है। डनिंग के अनुसार, 'वह समाज को एक सावयव के रूप में लेता है, परन्तु राज्य को नहीं। राज्य को वह एक नैतिक संस्था के रूप में नहीं मानता। उसके मत से राज्य के केवल कुछ दायित्व हैं।' बार्कर ने भी कहा है कि 'उसका राज्य तथा समाज को एक-दूसरे के स्थान पर लेना स्थिर नहीं रह सकता' (His bifurcation of State and Society cannot stand)। यदि वह राज्य के स्थान पर 'सरकार' शब्द का प्रयोग करता तो कुछ भ्रम दूर हो जाते। उसे इन्हें समाज के साथ समीकृत नहीं करना चाहिए था। वास्तव में इन तीनों धारणाओं को स्पष्ट करने की उसने पूर्णतया उपेक्षा की है। 'स्पेंसर ने आरम्भ से अन्त तक राजनीति का जीवशास्त्र के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की असफल चेष्टा की है।'

[1] 'Inspite of a hundred pages of analogy, Spencer ultimately bows the social organism out of doors. He is not content with cutting it in pieces; he sends it into exile.' —*Ibid.*, 101.

[2] 'He brought social theories into relation to biological evolution, but he left the practical conclusions almost where they had been.' —Sabine, *op. cit.*, 564.

इक्कीसवाँ अध्याय

आदर्शवाद : हीगल तथा ग्रीन

जार्ज विल्हेम फ्रेड्रिक हीगल (1770–1831)

जीवन-परिचय

उन्नीसवीं शताब्दी में उग्र राजनीतिक आदर्शवाद एवं उग्र राष्ट्रवाद का प्रतिपादक तथा राजनीति के अध्ययन में इतिहास की दार्शनिक व्याख्या करने वाला सुप्रसिद्ध चिन्तक हीगल (George Wilhelm Friedrich Hegel) जर्मनी के वर्टमबर्ग के स्टटगार्ट नामक स्थान में एक साधारण सिविल सेवक के घर में पैदा हुआ था। वेपर का कथन है कि 'हीगल राज्य के सावयव सिद्धान्त का सबसे महान् समर्थक तथा आधुनिक इतिहास के व्याख्याताओं में से एक महत्त्वपूर्ण तथा प्रभावशाली चिन्तक था।'[1] सैबाइन का मत है कि 'हीगल के दर्शन का उद्देश्य आधुनिक चिन्तन का पूर्ण तथा क्रमबद्ध पुनर्निर्माण करने से कम और कुछ नहीं था।' उसके दर्शन में जितनी प्रमुखता धर्म तथा तत्त्व मीमांसा को दी गयी है उतनी राजनीतिक विचारधारा को नहीं दी गयी है। हीगल की शिक्षा-दीक्षा उत्तम ढंग से हुई थी। उसने अपने युवा जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में प्रसिद्ध फ्रांसीसी क्रान्ति को देखा था और प्रारम्भ मे उसे इसके प्रति पर्याप्त सहानुभूति रही। हीगल के विचारों में रूसो के क्रान्तिकारी दर्शन का प्रभाव है। उसी दर्शन ने फ्रांसीसी क्रान्ति को बढ़ावा दिया था। कालान्तर में इंग्लैण्ड के राजनेता बर्क ने इस क्रान्ति का घोर विरोध किया था। हीगल के विचारों पर बर्क का प्रभाव भी इस तथ्य से प्रकट होता है कि बाद में हीगल भी फ्रांसीसी क्रान्ति के प्रति घृणा करने लगा था। रूसो के नैतिकता तथा धर्म के हित में विज्ञान के विरोध एवं बर्क के परम्परावादी राष्ट्रीयता के आधार पर साम्राज्यवाद के विरोध की धारणाओं को हीगल ने अपनी एकाकी विचारधारा के अन्तर्गत समन्वित किया। 'अतः हीगल के दर्शन का केन्द्र एक नया तर्क प्रस्तुत करना था जो एक नयी विवेकमूलक पद्धति का प्रतिपादन करता है। इसे वह द्वन्द्ववाद की संज्ञा देता है जो कि विवेक, तथ्य तथा मूल्यों के मध्य की खाई के ऊपर एक पुल का कार्य करता है।'[2]

विश्वविद्यालयीय शिक्षा प्राप्त कर लेने पर हीगल ने एक वैयक्तिक अध्यापक के रूप में अपना जीवन-क्रम प्रारम्भ किया। 31 वर्ष की उम्र में वह जेना के विश्वविद्यालय में एक प्रवक्ता के रूप में कार्य करने लगा। यहीं उसने अपनी दार्शनिक रचनाएँ लिखना प्रारम्भ किया। यह वह काल था जब नेपोलियन यूरोपीय देशों में अपने आक्रामक युद्धों में लीन था। 1806 में उसकी सेनाओं ने जेना पर अधिकार

[1] Wayper, *op. cit.*, 152.
[2] Sabine, *op. cit.*, 522.

कर लिया था। हीगल को जेना छोड़ना पड़ा। इसके बाद हीगल ने कुछ काल तक पत्र-सम्पादन तथा अध्यापन कार्य किया और साथ ही अन्य अपने ग्रन्थों का प्रकाशन भी किया। नेपोलियन के पतन के बाद 1817–18 में हीगल हीडलबर्ग के विश्वविद्यालय में दर्शन-शास्त्र का प्राध्यापक नियुक्त हुआ। कालान्तर में वह बर्लिन विश्वविद्यालय में एक प्रोफेसर बन गया। यहाँ उसकी दार्शनिक प्रतिभा ने उसे प्रशिया (तत्कालीन जर्मनी) का शाही दार्शनिक कहलाये जाने की स्थिति प्राप्त हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि हीगल के विचारों ने सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक राजनीति को बहुत प्रभावित किया।

बर्लिन में रहते हुए हीगल ने विश्वविद्यालय में तथा अन्यत्र समय-समय पर जो भाषण दिये, उनके द्वारा तत्कालीन प्रशिया के राजनीतिक दर्शन का शैक्षणिक आधार प्रस्तुत हुआ। वेपर के अनुसार, हीगल का यह प्रभाव वैसा ही था जैसा कि बिस्मार्क का राजनीति में; वॉन रून तथा वॉन मोल्टके का सैनिक व्यवस्था में।[1] मैकगवर्न ने लिखा है कि 'बिस्मार्क द्वारा शक्ति पर आधारित राष्ट्रीय राज्य को मानव कार्य-कलापों का सर्वोच्च उद्देश्य बताने पर जोर देना, राज्य को मात्र व्यक्तियों का समूह न मानकर एक सम्पूर्ण सावयव मानना, लोकतन्त्र के स्थान पर सर्व-शक्तिमान राजतन्त्र तथा नौकरशाहीतन्त्र का समर्थन करना, तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के बारे में उसकी धारणाएँ—सब हीगल के सिद्धान्तों पर आधारित थीं।' हीगल के बारे में वेपर का मत है कि जिस प्रकार अरस्तू तथा टॉमस ऐक्विना अपने युग के महान् दार्शनिक माने जाते हैं उसी प्रकार हीगल भी उन्नीसवीं शताब्दी का एक महानतम दार्शनिक सिद्ध हुआ है। हीगल की चार प्रमुख रचनाएँ हैं: (1) 'The Science of Logic', यह उसकी प्रारम्भिक रचना थी, (2) 'Encyclopaedia of Philosophical Sciences', इसे उसने हीडलबर्ग में लिखा था, (3) 'Philosophy of Right' (1821), (4) 'Philosophy of History', इसका प्रकाशन उसकी मृत्यु के छः वर्ष बाद उसके शिष्यों ने कराया था।

विचार-पद्धति

सैबाइन ने लिखा है कि 'हीगल के दर्शन का केन्द्र एक नया तर्क प्रस्तुत करना था जो एक नयी बौद्धिक पद्धति का प्रतिपादन करे यह द्वन्द्ववाद है।'[2] इस पद्धति का आधार इतिहास की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करना है। हीगल के मत से ऐतिहासिक विकास यह दर्शाता है कि व्यक्ति या व्यक्ति समूह जिस इकाई का निर्माण करते हैं वह राष्ट्र के नाम से जानी जाती है। सभ्यता का इतिहास राष्ट्रीय संस्कृतियों की एक शृंखला है जिसमें प्रत्येक राष्ट्र अपना विशिष्ट तथा सामयिक योगदान करते हुए सम्पूर्ण मानव उपलब्धियों को प्रदर्शित करता है। हीगल के मत से यह विकास-क्रम एक सीधी रेखा के रूप में नहीं बढ़ता बल्कि इसके विकास का मार्ग टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं के रूप में होता है। इसमें समय-समय पर जो व्यवस्थाएँ विद्यमान रहती हैं या जो घटनाएँ घटती हैं, उनमें स्वयं विरोधाभासी प्रवृत्तियों के कारण नयी व्यवस्थाओं या घटनाओं की सृष्टि होती रहती है। इन परिवर्तनों में किन्हीं सांसारिक तत्त्वों का

[1] Wayper, *op. cit.*, 153.
[2] Sabine, *op. cit.*, 522.

हाथ न होकर दैवी शक्ति का हाथ होता है जिसे हीगल अनेक नामों से सम्बोधित करता है, यथा दैवी आत्मा, दैवी विवेक, प्रत्यय आदि। सम्पूर्ण विकास-क्रम में यही सत्ता कार्यरत रहती है। विकास-क्रम की इस पद्धति को हीगल ने द्वन्द्ववाद (Dialectic) का नाम दिया है।

विचार-स्रोत—किसी महान् दार्शनिक के विचारों पर पड़ने वाले प्रभाव एक नहीं अनेक होते हैं। उसका व्यक्तिगत अध्ययन, तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियाँ, पूर्व के विचारकों की धारणाएँ तथा स्वयं विचारक की भावनाएँ आदि उसके दर्शन के स्रोत होते हैं। इन सबके मध्य समन्वय स्थापित करके दार्शनिक अपने सम्पूर्ण दर्शन का निर्माण करता है। हीगल का इतिहास का अध्ययन व्यापक था। ग्रीक दर्शन, ईसाई धर्म तथा संस्कृति, रूसो, ह्यूम, कांट, फिक्टे आदि के विचार, तत्कालीन जर्मनी की छिन्न-भिन्न हो गई राजनीतिक स्थिति, उस युग के विचारकों की व्यक्तिवादी राजनीतिक धारणाएँ, आदि हीगल के विचारों की पृष्ठभूमि हैं। हीगल ने इनमें से कुछ को अपनाया, तो कुछ में अनेक दोष तथा विरोधाभास पाये। उसका मुख्य उद्देश्य एक नये दर्शन का निर्माण करना था जो पूर्व के दर्शन की कमियों को दूर करे और जिसके आधार पर नवीन चिन्तन का पूर्ण तथा क्रमबद्ध निर्माण किया जा सके। सैबाइन का मत है कि 'युवावस्था में हीगल की अभिरुचि राजनीति पर इतनी अधिक नहीं थी जितनी धर्म पर थी।' उसकी यह धारणा थी कि पाश्चात्य सभ्यता को प्रभावित करने वाली दो महान् शक्तियाँ ग्रीकों की स्वतन्त्र बौद्धिकता तथा ईसाइयत की नैतिक गहनता थीं। उसका निष्कर्ष था कि धर्म किसी युग विशेष जन-समूह के सम्पूर्ण सामाजिक जीवन से उत्पन्न होता है और वह उसके सम्पूर्ण आदर्शों को प्रतिबिम्बित करता है। राष्ट्र का निर्माण करने में इसका महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है।

हीगल ने प्रारम्भ में अपने युग में हुई फ्रांसीसी क्रान्ति के प्रति जो सहानुभूति दर्शायी थी उसके सम्बन्ध में उसकी धारणा यह थी कि फ्रांसीसी जनता की आत्मा में उत्तमतर जीवन व्यतीत करने और अधिक स्वतन्त्रता का उपभोग करने की कामना थी, जो तत्कालीन राज्य व्यवस्था की बुराई का अन्त कर देगी। सम्भवतः हीगल क्रान्ति के पीछे राष्ट्रीय एकता की भावना की कल्पना कर रहा था। कालान्तर में बर्क की भाँति वह भी इस क्रान्ति का विरोधी हो गया। सैबाइन के अनुसार, 'हीगल कभी भी क्रान्तिकारी नहीं रहा—उसका यह दृढ़ विश्वास था कि जिन संस्थाओं में राष्ट्रीय जीवन स्वयं समाहित रहता है वे सचमुच में अपना औचित्य रखती हैं।' बाद में कदाचित हीगल को यह आभास हुआ कि क्रान्ति के द्वारा उत्पन्न होने वाली अराजक स्थिति राष्ट्र का निर्माण करने वाली संस्थाओं को ही जोखिम में डालने वाली सिद्ध हो सकती है। हीगल का मुख्य उद्देश्य अपने राजनीतिक दर्शन के द्वारा ऐसा समाधान प्रस्तुत करना था जिसके द्वारा जर्मनी जो उसकी दृष्टि में ऐतिहासिक दृष्टि से महान् राष्ट्र था, पुनः अपनी वास्तविक स्थिति प्राप्त करके एक महान् राष्ट्र बन सके।

हीगल की यह धारणा थी कि राजनीतिक चिन्तन में व्यक्तिवादी उदारवाद राज्य में व्यक्तियों की स्वतन्त्रता तथा अधिकारों को प्रोत्साहित करके राष्ट्र की एकता तथा सुदृढ़ता को सुनिश्चित नहीं कर सकता था। उसके मत से जर्मनी एक राष्ट्र था, परन्तु जर्मन जनता यह नहीं जानती थी कि एक राष्ट्रीय सरकार तथा

राजनीतिक स्वतन्त्रता के हित में अंगों को सम्पूर्ण की आधीनता में रहना आवश्यक होता है। इस प्रकार राष्ट्रीय राज्य के निर्माण में सावयववाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने में उसने रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त को अपनाया। परन्तु उसने राज्य के संविदा सिद्धान्त को अमान्य करके राज्य सावयव की धारणा को ऐतिहासिक विकास की द्वन्द्ववादी प्रक्रिया के आधार पर व्यक्त किया। उसने कांट के विचारों से भी प्रेरणा ली, परन्तु कांट की व्यक्तिवादिता का पूर्णतया परित्याग किया। वेपर के मत से 'उसने अपने विचारों में अपने काल की राजनीतिक वास्तविकताओं का महत्त्वपूर्ण प्रदर्शन किया है।'

इतिहास की दार्शनिक व्याख्या—हीगल से पूर्व अनेक चिन्तकों ने राजनीतिक समस्याओं के अध्ययन में ऐतिहासिक पद्धति अपनायी थी। अठारहवीं शताब्दी में मांटेस्क्यू, वाल्टेयर, गिबन आदि इतिहास के अच्छे ज्ञाता हो चुके थे और उनका राजनीतिक दर्शन भी ऐतिहासिक पद्धति पर आधारित था परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में हीगल ने अठारहवीं शताब्दी के उक्त विचारकों को अनैतिहासिक कहा। हीगल स्वयं इतिहास का महान् ज्ञाता था। उसका यह दावा था कि उसने अपने इतिहास के अध्ययन से यह खोज कर ली थी कि विश्व में इतिहास का वास्तविक उद्देश्य क्या है। हीगल के मत से 'प्रकृति में विकास का एक निश्चित नियम या रूप होता है जिसका प्रदर्शन विषय-वस्तु को समुचित ढंग से व्यवस्थित करके किया जा सकता है।' इसी नियम के द्वारा समाज या सभ्यता के विकास का ज्ञान किया जा सकता है। यही बात कानून, आर्थिक संस्थाओं, सरकारों, दार्शनिकों या वैज्ञानिक चिन्तन आदि के बारे में भी सत्य है।

हीगल के अनुसार विकास की प्रक्रिया संश्लेषणात्मक है, न कि विश्लेषणात्मक। अतः ऐतिहासिक विकास को समझने के लिए उच्चतर शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। विश्लेषण की पद्धति सूझ (understanding) तथा संश्लेषण की पद्धति विवेक (reason) कहलाती है। उसके मत से पहले के विचारकों ने इतिहास की व्याख्या में विश्लेषण की पद्धति अपनायी थी, जो निम्नतर है। वह स्वयं अपनी पद्धति को संश्लेषण की अथच उच्चतर स्तर की कहता है। उसकी यह धारणा थी कि विश्लेषण की पद्धति सम्पूर्ण को उसके अंगों में तोड़कर उसके सृजनात्मक रूप को नष्ट कर देती है। इसके विपरीत संश्लेषण की पद्धति जो विवेक पर आधारित है सम्पूर्ण के नियामक तथा सृजनात्मक अंगों में निहित शक्तियों की गहराई पर जाने का प्रयास करती है। इस पद्धति को वह अपने द्वन्द्ववाद के आधार पर समझाता है। हीगल की यह पद्धति 'स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलने' के सिद्धान्त पर आधारित है।

हीगल के विचार से सम्पूर्ण विश्व एक सावयविक एकता है, जो परमात्मा की सृष्टि में एक एकीकृत सम्पूर्ण इकाई है। इसका विकास-क्रम द्वन्द्वात्मक है। हीगल के अनुसार समस्त सावयविक प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक होती हैं। वास्तविकता एक सावयविक प्रक्रिया है। वास्तविकता आदर्श (प्रत्यय) में विद्यमान रहती है। इसका सही ज्ञान आत्मा (spirit) के द्वारा होता है। इस प्रकार विचार अथवा प्रत्यय (Idea), या विवेक (Reason), या आत्मा (Spirit) अथवा दैवी मन (Divine Mind) ही एकमात्र वास्तविकताएँ हैं। विश्व की सम्पूर्ण वस्तुएँ इसी विश्वात्मा की सृष्टि हैं। ऐतिहासिक विकास-क्रम में विविध घटना-चक्र इसी विश्वात्मा की इच्छा से सम्पन्न होते हैं। उन घटनाओं में किसी व्यक्ति या अन्य तत्त्वों का हाथ नहीं होता। यह

दैवी विवेक सम्पूर्ण संसार का नियन्ता तथा सम्प्रभु है। इसकी प्रकृति प्रत्येक बात को समझने की होती है। प्रारम्भ में यह कुछ नहीं जानती थी। इसके ज्ञान का विकास शनैः शनैः हुआ और अन्ततः इसने पूर्ण सत्य की खोज कर ली और यह वास्तविक स्वरूप में पहुँच गई। हीगल विश्वात्मा को ही एकमात्र सत्य मानता है और इसी को वास्तविकता कहता है, क्योंकि यह अपनी प्रकृति के पूर्ण रूप को प्राप्त कर चुकी है। हीगल की यह धारणा अरस्तू की प्रकृति सम्बन्धी धारणा के सदृश है। अरस्तू भी यह मानता था कि कोई भी वस्तु अपने वास्तविक स्वरूप में तभी पहुँचती है जबकि वह पूर्णतया विकसित हो जाती है। उसके मत से मनुष्य पूर्णता को तभी प्राप्त हो सकता है जब वह राज्य का सदस्य बनता है, क्योंकि अरस्तू की दृष्टि में राज्य ही पूर्णता-प्राप्त मानव संगठन था न कि उससे निम्न कोटि के अन्य कोई संवास, यथा परिवार या गाँव या अन्य; परन्तु हीगल का विश्वात्मा की पूर्णता सम्बन्धी तर्क उसके ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया से सम्बद्ध दार्शनिक व्याख्या का परिणाम है। हीगल के अनुसार, सृष्टि के सम्पूर्ण विकास-क्रम में दैवी चेतना कार्य करती है जो अपनी प्रकृति का उद्देश्य पूरा होने तक कार्य करती रहती है। संसार की समस्त घटनाओं में विश्व चेतना का निरन्तर विकास होता रहता है। इस विकास-क्रम में सूक्ष्म चेतना स्थूल चेतना के अन्दर छिपी रहती है और स्थूल चेतना सूक्ष्म चेतना की ओर स्थानान्तरित होती रहती है। हीगल के मत से आरम्भिक आदिम समाज स्थूल चेतना से युक्त थे। विश्व चेतना के विकास-क्रम में वह स्थूल चेतना उन्मुक्ति की दिशा में स्थानान्तरित होते-होते राज्य के रूप में मानव की सूक्ष्म चेतना में पहुँच गयी। यहाँ पहुँच कर वह पूर्णतया उन्मुक्त हो गयी। हीगल के मत से यही उसका अन्तिम लक्ष्य था।

विश्व इतिहास के विकास-क्रम में सभ्यता तथा संस्कृति के विकास को इतिहास की दार्शनिक व्याख्या के आधार पर व्यक्त करते हुए हीगल यह दर्शाता है कि सर्वप्रथम मानव सभ्यता का विकास चीन से प्रारम्भ हुआ। उस युग में विश्व-चेतना अपनी प्रकृति के प्रारम्भिक चरण में थी, अर्थात् वह अपने स्थूलतम रूप में थी और विकास की अपनी मंजिल अर्थात् सूक्ष्मतर रूप की ओर बढ़ने की दिशा में प्रवृत्त थी। उस युग में राजा की निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी सत्ता शक्ति के बल पर मानवों को अपने वशीभूत किये रहती थी। अतः स्वतन्त्रता जैसी कोई धारणा नहीं थी। इसके उपरान्त विश्व-चेतना का संक्रमण भारत में हुआ, जहाँ राजा तथा ब्राह्मणों के हाथ में ऐसी निरंकुश सत्ता आ गयी। इसके पश्चात् सभ्यता का संक्रमण ग्रीस तथा रोम की ओर हुआ। वहाँ निरंकुश सत्ता के विरुद्ध जनता ने संघर्ष किया तो सत्ता एक या दो के हाथ में न रह कर संयुक्त रूप से राजा, प्लीबियन तथा पैट्रिशियन वर्ग के हाथ में आयी। इससे जनता को किंचित स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। परन्तु यह स्वतन्त्रता कुछ अंश में राजनीतिक थी, न कि आत्मिक। हीगल के अनुसार अन्ततः यह चेतना जर्मनी में पहुँची और जर्मन राज्य या राष्ट्र के रूप में उसकी अभिव्यक्ति हुई। राज्य के रूप में जब इसका विकास हो गया तो उसके अन्तर्गत भावात्मक एकता तथा आत्मिक प्रेम की चेतना जनता में आ गयी और उसे वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। इस प्रकार आत्मा या चेतना को शनैः शनैः अपने स्थूल रूप से सूक्ष्म रूप में पहुँचने में एक दीर्घकाल की अवधि से गुजरना पड़ा। संक्षेप में, यह हीगल के इतिहास की दार्शनिक व्याख्या है, परन्तु इसके समुचित ज्ञान के लिए उसके द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त

का ज्ञान भी आवश्यक है ।

द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त—द्वन्द्ववाद हीगल का मौलिक विचार तो नहीं है, परन्तु उसने इसे जिन तर्कों के अनुसार व्यक्त किया है उनके कारण उसने इसे अधिक स्पष्टता देकर अपने सम्पूर्ण राजनीतिक विचारों का आधार बनाने का प्रयास किया है । हीगल ने द्वन्द्ववाद की पद्धति को ग्रीक दार्शनिकों सुकरात तथा प्लेटो से और प्रत्यक्षत: अपने पूर्ववर्ती जर्मन दार्शनिक फिक्टे से ग्रहण किया था । फिक्टे के अनुसार, प्रत्येक विचार विकास के तीन चरणों—वाद, प्रतिवाद तथा संवाद (thesis, antithesis and synthesis) से होकर गुजरता है । इनमें से 'वाद' मूल विचार है । उसकी कमियों के कारण कालान्तर में उसका प्रतिरोधी विचार प्रकट होता है, जिसे 'प्रतिवाद' कहा जाता है । इन दोनों में संघर्ष रहता है, परिणामस्वरूप दोनों में निहित अच्छाइयों को ग्रहण करते हुए और साथ ही दोनों की कमियों का परित्याग करते हुए कालान्तर में तीसरा विचार उत्पन्न होता है जिसे 'संवाद' कहा जाता है । संवाद न तो वाद का और न ही प्रतिवाद का विरोधी है, प्रत्युत् वह दोनों की अच्छाइयों का सम्मिश्रण है । हीगल के अनुसार, दैवी विवेक (rational mind) आत्मा (spirit) की ज्ञान-शून्यता से अपने पूर्ण ज्ञान की दिशा में विकसित होने की ऐतिहासिक प्रक्रिया है । अत: इतिहास का विकास एक विवेकशील प्रक्रिया (rational process) है । आत्मा को अपनी पूर्णता अर्थात् वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति करने में ऐतिहासिक प्रक्रिया के इन तीन चरणों से होकर गुजरना पड़ता है । इस प्रक्रिया में दैवी विवेक कार्य करता है । हीगल ने कहा है 'जो चीज वास्तविक है वह विवेकमय है और जो विवेकमय है वह वास्तविक है (The rational is the real and the real is the rational) । वेपर के मत से[1] इस सन्दर्भ में वास्तविक (real) से हीगल का अभिप्राय 'महत्त्वपूर्ण' या 'मौलिक' से है, अर्थात् वास्तविक जगत से हीगल का अभिप्राय है 'जैसा उसे होना चाहिए' । इस आधार पर वह यह निष्कर्ष भी निकालता है कि केवल प्रत्ययमूलक राज्य ही वास्तविक नहीं है, प्रत्युत् यथार्थ राज्य भी वास्तविक हो सकते हैं, बशर्ते कि वे दैवी विवेक की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया से विकसित होकर पूर्णत्व को प्राप्त हो जाएँ । इस प्रकार हीगल ने यथार्थ का आदर्शीकरण करके यह दर्शाने का प्रयास किया है कि संसार में जो कुछ होता है उसमें दैवी चेतना कार्य करती है, न कि कोई अन्य शक्ति और जो कुछ विश्वात्मा करती है वही सत्य या वास्तविकता है ।

हीगल का 'द्वन्द्ववाद' प्लेटो के 'डायलॉग' (Dialogue) का समानार्थवाची है, जिसका अभिप्राय वाद-विवाद या तर्क-वितर्क है । सुकरात की शिक्षा-पद्धति का आधार द्वन्द्ववाद ही था, जिसके अन्तर्गत प्रश्नोत्तरों द्वारा तर्क-वितर्क की प्रक्रिया से किसी तथ्य के प्रतिरोधी पक्षों का खण्डन-मण्डन करते हुए अन्तिम सत्य पर पहुँचा जा सकता था । प्लेटो ने अपने गुरु सुकरात की पद्धति को अपने डायलॉगों में प्रयुक्त किया था । हीगल इस प्रक्रिया को ऐतिहासिक विकास-क्रम का निर्वचन करने में लागू करते हुए यह निष्कर्ष निकालता है कि इतिहास विश्वात्मा के इस संसार में प्रयाण का अभिलेख है, जिसकी प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक है । हीगल के मत से ग्रीक-जन के विचार में द्वन्द्व की प्रक्रिया के दो ही चरण थे । उदाहरणार्थ, उनके विचार में निरंकुश

[1] Wayper, *op. cit*, 157.

राजतन्त्र का प्रतिवाद लोकतन्त्र था, परन्तु हीगल इस प्रक्रिया में तीन चरणों के अस्तित्व को मानता है। उनका कहना है कि संसार की किसी भी वस्तु की वास्तविकता का ज्ञान करने के लिए हमें केवल यही नहीं देखना चाहिए कि वह क्या है, प्रत्युत् यह भी देखना चाहिए कि वह क्या नहीं है। इस प्रकार किसी वस्तु की वास्तविकता की पहचान के तीन चरण होते हैं : (1) उसका होना (being), (2) प्रथम का प्रतिरोध अर्थात् वह क्या नहीं है (non-being), और (3) प्रथम दोनों का योग अर्थात् उसका बन जाना (becoming)। द्वन्द्ववाद की त्रयी इस प्रकार है :

Being — Thesis
Non-being — Anti-thesis
Becoming — Synthesis

इस प्रक्रिया के अन्तर्गत संसार की समस्त वस्तुओं, व्यवस्थाओं, संस्थाओं आदि के ऐतिहासिक विकास-क्रम को समझा जा सकता है। सामाजिक संगठनों के विकास-क्रम के सम्बन्ध में हीगल का मत है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। सामाजिक जीवन की प्राथमिक इकाई परिवार है जिसे द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया के अन्तर्गत हीगल 'वाद' (thesis) कहता है। परिवार की विशेषता सदस्यों के मध्य पारस्परिक प्रेम तथा एकता का होना है, परन्तु सामाजिक जीवन की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति परिवार नहीं कर सकता। अत: पारिवारिक व्यवस्था में स्वयं विरोध के लक्षण आ जाते हैं, वह वास्तविक समाज नहीं है। इसलिए उनके 'प्रतिवाद' के रूप में बुर्जुआ समाज का अभ्युदय होता है। इस समाज के अन्तर्गत पारस्परिक प्रेम तथा सहयोग के स्थान पर सदस्यों के मध्य पारस्परिक कटुता तथा सार्वभौम प्रतियोगिता की भावना उत्पन्न होती है, न कि एकता की। सामाजिक जीवन के लिए ये तत्त्व भी आवश्यक हैं। हीगल के मत से बुर्जुआ समाज का नियमन करने के लिए उसमें कानून भी बनते हैं, जो पूर्ण नहीं हैं। पुलिस या प्रशासन की अपूर्ण व्यवस्था भी की जाती है। चूँकि इन दोनों व्यवस्थाओं के विकास में विश्वात्मा (spirit) ही कार्य कर रही होती है, जिसकी प्रकृति पूर्णता की ओर अग्रसर होने की है, अत: वाद (परिवार) तथा प्रतिवाद (बुर्जुआ समाज) के अन्तर्गत जो कमियाँ हैं उनका निराकरण करते हुए तथा उनके अच्छे तत्त्वों को ग्रहण करते हुए जो नयी व्यवस्था बनती है, उसे राज्य कहा जाता है। यह व्यवस्था 'संवाद' है। हीगल के मत से सामाजिक विकास-क्रम में परिवार तथा बुर्जुआ समाज (वाद तथा प्रतिवाद) के रूप में विकास की प्रक्रिया से गुजरती हुई विश्वात्मा राज्य (संवाद) के रूप में अपने पूर्णत्व को प्राप्त कर लेती है। अत: राज्य का आधार एकता, प्रेम, सहयोग, प्रतियोगिता, व्यवस्था आदि हैं जो सामाजिक जीवन की मूल आवश्यकताएँ हैं और इनके द्वारा पूर्ण एकता का निर्माण होता है। राज्य का आधार मात्र परिवार तथा समाज के मध्य समन्वय नहीं है और न वह केवल समाज के ऊपर विजय का द्योतक है। प्रत्युत् संवाद में वाद तथा प्रतिवाद दोनों अपने पूर्ण रूप में विद्यमान रहते हैं न कि अस्थायी प्रतिरोधी तत्त्वों के रूप में, क्योंकि अब उनका समन्वय हो चुका होता है। इस दृष्टि से वास्तविकता संवाद में निहित रहती है, जो सत्य है, क्योंकि वह दैवी चेतना के पूर्ण विकास का परिचायक है। द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया में जो परस्पर विरोधी तत्त्व कार्य करते हैं (अर्थात् वाद, प्रतिवाद तथा संवाद), वे सत्य की खोज में बाधक नहीं होते बल्कि वे बहुत आवश्यक होते हैं। इन विरोधी तत्त्वों को समाप्त करने में मनुष्य का

हाथ नहीं रहता प्रत्युत् उसी दैवी विवेक का हाथ रहता है।

हीगल की यह धारणा थी कि वाद, प्रतिवाद तथा संवाद का क्रम ऐतिहासिक विकास में निरन्तर चलता रहता है। जब एक व्यवस्था वाद से प्रतिवाद मे तथा अन्ततः संवाद में परिणत हो जाती है तो कालान्तर में संवाद के अन्तर्गत पुनः विरोधी तत्त्व प्रकट होने लगते हैं। यह इस तथ्य का द्योतक है कि संवाद विश्वात्मा की पूर्णता को प्राप्त नहीं हो पाया, अतः वह पुनः वाद बन जाता है और फिर उसका प्रतिवाद तथा संवाद प्रकट होगा। परन्तु हीगल का उद्देश्य यह बताना था कि उसके युग तक सामाजिक विकास-क्रम में राज्य विश्वात्मा की पूर्णता की स्थिति में पहुँच चुका है। इस सम्बन्ध में उसका अभिप्राय जर्मन राज्य की श्रेष्ठता को दर्शाना था, जिसे वह यथार्थ राज्यों के मध्य दैवी विवेक की पूर्ण अभिव्यक्ति करने वाला मानता है। हीगल का द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त यह दर्शाता है कि राज्य, जो विकास क्रम में संवाद की स्थिति में पहुँच चुका है, पुनः वाद में परिणत हो जावेगा। अतएव फिर उसके प्रतिवाद की प्रक्रिया प्रारम्भ होगी और अन्ततः उसे संवाद में परिणत होना पड़ेगा। परन्तु हीगल ने राज्य को संवाद कहकर ही छोड़ दिया है। उसका उद्देश्य यह दर्शाना था कि राज्य के रूप में विश्वात्मा अपने अन्तिम रूप में प्रकट हो चुकी है। अतः इससे आगे फिर विकास का कोई क्रम बढ़ने को नहीं रह जाता। वह राज्य को विश्वात्मा की अन्तिम अभिव्यक्ति मानता है। इस दृष्टि से सामाजिक जीवन के क्षेत्र में जैसा वेयर ने कहा है, 'राज्य के परे फिर कोई आध्यात्मिक विकास उसी भाँति नहीं रह जाता जिस प्रकार कि भौतिक प्राणियों के विकास-क्रम में मानव के परे फिर कोई विकास नहीं हो सकता।'[1] यदि हीगल के द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त को ऐतिहासिक विकास-क्रम की व्याख्या करने की कसौटी मान लिया जाय और इस सिद्धान्त को सत्य माना जाय तो आधुनिक राष्ट्र-राज्य फिर 'वाद' बन जाएँगे। इनका 'प्रतिवाद' संयुक्त राष्ट्र संघ को माना जा सकता है और संवाद के रूप में विश्व राज्य प्रकट होगा। परन्तु हीगल ने अपने विचारों में ऐसी कोई धारणा व्यक्त नहीं की है।

हीगल ने द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त को राजनीतिक जीवन तथा राज्य की अन्य संस्थाओं के सम्बन्ध में भी लागू होने के दृष्टान्त दिये हैं। उसके अनुसार सामाजिक विधायन के क्षेत्र में कानून वाद है। इसका स्वरूप बाह्य है। इसका निर्माण करने वाले तत्त्व सम्पत्ति, संविदा तथा अपराध हैं। इन्हीं की व्यवस्था के लिए कानून बनता है। परन्तु कानून में भी विरोधाभास है। वह पूर्ण नहीं है। कानून का अभिप्राय, उसका लक्ष्य तथा उसकी भलाई या बुराई उसमें अन्तर्विरोध उत्पन्न करते हैं। इन अन्तर्विरोधी तत्त्वों का स्रोत नैतिकता है, जो आन्तरिक स्वरूप की अर्थात् प्रतिवाद है। कानून तथा नैतिकता के तत्त्वों के सम्मिश्रण से सामाजिक नीतिशास्त्र का अभ्युदय होता है। यह बाह्य तथा आन्तरिक दोनों तत्त्वों का सम्मिश्रण है। अतएव यह संवाद है। इसके विकास-क्रम में परिवार, समाज तथा राज्य के द्वन्द्ववादी विकास की त्रयी शामिल है। इस प्रकार हीगल के द्वन्द्ववादी दर्शन का सार स्थूल (बाह्य) चेतना का सूक्ष्म (आन्तरिक) चेतना के साथ सम्मिश्रण है। स्थूल या बाह्य चेतना वाद है, सूक्ष्म या आन्तरिक चेतना प्रतिवाद है और संवाद में ये दोनों परस्पर मिल जाती हैं और

[1] 'There can thus be no spiritual evolution beyond the state, any more than there can be any physical evolution beyond man.' —Wayper, *op. cit.*, 163.

सूक्ष्म चेतना, जो पहले स्थूल के बन्धन में छिपी रहती है, मुक्त हो जाती है। संवाद की स्थिति प्राप्त कर लेने पर विश्वात्मा या विश्वचेतना अपने पूर्ण विकास की श्रेणी में पहुँच जाती है। यह प्रक्रिया विवेकपूर्ण (rational) है, अतः संवाद वास्तविकता या सत्य है क्योंकि जो विवेकपूर्ण (rational) है, वही वास्तविक (real) है। इस समूची प्रक्रिया में दैवी विवेक का हाथ रहता है।

शासन-प्रणाली तथा सरकार के अंगों के सम्बन्ध में भी हीगल द्वन्द्ववाद की पद्धति को लागू करता है। उसके मत से शासन-प्रणालियों का प्रारम्भिक रूप स्वेच्छाचारीतन्त्र होता है, जो वाद है। इसमें स्वेच्छाचारी शासक व्यक्तियों की स्वतन्त्रता का दमन करते हैं, अतः इसके प्रतिवाद के रूप में लोकतन्त्र प्रकट होता है। उसमें व्यक्तियों को किंचित स्वतन्त्रता प्राप्त रहती है। परन्तु वह अपूर्ण है। अतः इसके पश्चात् संवाद के रूप में वैधानिक राजतन्त्र का अभ्युदय होता है, जिसमें स्वेच्छाचारीतन्त्र का तत्त्व राजतन्त्र में और लोकतन्त्र का तत्त्व वैधानिकता में विद्यमान रहता है और वाद तथा प्रतिवाद की बुराइयाँ समाप्त हो जाती हैं। सरकार के अंगों के सम्बन्ध में विधायी अंग को हीगल 'वाद', प्रशासनिक (जिसमें न्यायिक अंग भी शामिल है) को 'प्रतिवाद' तथा वैधानिक राजा को 'संवाद' के रूप में चित्रित करता है। राज्यों के विकास-क्रम में हीगल प्राचीन भारत तथा चीन की राजनीतिक व्यवस्थाओं तथा ग्रीक व रोम की व्यवस्थाओं को वाद तथा मध्ययुगीन संघर्ष को प्रतिवाद एवं अपने युग की जर्मनी में विद्यमान वैधानिक राजतन्त्र की व्यवस्था को सवाद मानता है। द्वन्द्ववादी त्रयी के उक्त दृष्टान्त निम्नांकित चार्ट में सुविधा के लिए संकलित किये गये हैं :

विकास की व्यवस्थाएँ	वाद	प्रतिवाद	संवाद
1. सामाजिक व्यवस्था	परिवार	बुर्जुआ समाज	राज्य
2. विधि व्यवस्था	कानून	नैतिकता	नीतिशास्त्र
3. शासन व्यवस्था	स्वेच्छाचारीतन्त्र	लोकतन्त्र	वैधानिक राजतन्त्र
4. शासनिक अंगों की व्यवस्था	विधायिका	प्रशासनिक अंग	वैधानिक राजा
5. राज्य व्यवस्था	प्राचीन युग में चीन, भारत, ग्रीस, रोम की शासन-व्यवस्थायें	मध्ययुगीन यूरोप में लोकतन्त्र के लिए संघर्ष का युग	हीगल द्वारा अभिलाषित जर्मनी का वैधानिक राजतन्त्र
6. हीगलवादी निष्कर्ष का सम्भाव्यभावी स्वरूप	आधुनिक राष्ट्रीय राज्य	संयुक्त राष्ट्र सघ	विश्व-राज्य

राज्य का सिद्धान्त

उत्पत्ति—हीगल की प्रत्ययवादी राज्य जी धारणा प्लेटो की भाँति ही स्वप्नलोकी है। उसका आदर्श राज्य उसकी कल्पना का वैधानिक राजतन्त्री व्यवस्था वाला जर्मन राज्य है। एक धारणा के रूप में हीगल ने राज्य का न केवल आदर्शीकरण या आध्यात्मिकरण किया है, अपितु उसे 'पृथ्वी में ईश्वर का प्रयाण' (the march of God on Earth) कहा है। उसकी द्वन्द्वात्मक धारणा के अन्तर्गत राज्य सर्वोच्च मानव संगठन है जिसमें विश्वात्मा (spirit) की पूर्ण अभिव्यक्ति हो चुकती है। हीगल

ने राज्य की परिभाषा इस प्रकार दी है : 'राज्य वह जन-समूह है जो सामूहिक रूप से अपनी सम्पत्ति की रक्षा करता है; इस उद्देश्य के निमित्त उसकी एकमात्र आवश्यक शक्ति नागरिक तथा सैनिक व्यवस्था है। दूसरे शब्दों में, राज्य स्वायत्त शासन के निमित्त राष्ट्रीय एकता तथा राष्ट्रीय आकांक्षाओं की यथार्थ शक्ति तथा अभिव्यंजना है, परन्तु मूल रूप से यह राष्ट्रीय इच्छा को आन्तरिक एवं बाह्य दृष्टियों से प्रभावी बनाने की शक्ति है।'[1] हीगल के अनुसार राज्य की उत्पत्ति द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया में क्रमिक विकास के फलस्वरूप हुई है। इस विकास-क्रम में दैवी चेतना कार्य करती है और राज्य के रूप में उस दैवी चेतना को पूर्णता प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति दैवी विकास का फल है। इसीलिए राज्य पृथ्वी में ईश्वर का प्रयाण है। इस प्रकार हीगल ने सोलहवीं शताब्दी के राज्य के दैवी-अधिकार-सिद्धान्त को पुनर्जीवित किया, भले ही उसकी यह धारणा सोलहवीं शताब्दी की धारणा से भिन्न थी। हीगल ने सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी में प्रचलित सामाजिक समझौता सिद्धान्त को पूर्णतया अमान्य किया है। वह यह नहीं मानता कि राज्य मानवों के पारस्परिक समझौतों के निर्मित यन्त्र है। संविदावादियों के इस तर्क से हीगल सहमत नहीं था कि प्राकृतिक स्थिति में मानव स्वतन्त्र तथा समान व्यक्तियों के रूप में रहते थे, उसके मत से तथाकथित प्राकृतिक स्थिति में मनुष्य समूहों में रहते थे। राज्य व्यक्तियों के ऐच्छिक संगठन का परिणाम नहीं है, क्योंकि प्राकृतिक स्थिति में भी बलवान लोग निर्बलों के ऊपर शासन करते थे। अत: जब व्यक्तियों के मध्य समानता विद्यमान नहीं थी, तो संविदा द्वारा राज्य का निर्माण करने की धारणा कल्पनातीत है क्योंकि संविदा समानों के मध्य ही हो सकती है। हीगल के मत से राज्य की उत्पत्ति दीर्घकालीन विकास की प्रक्रिया से होती है। यह निम्न कोटि के सामूहिक जीवन से उच्चतर प्रकृति के संगठनों के रूप में विकसित होते हुए जीवन की पूर्णता पर पहुँचने की प्रक्रिया का फल है, जिसमें दैवी चेतना निरन्तर कार्यरत रहती है। परिवार निम्नतम सामाजिक इकाई है, उससे उच्चतर इकाई समाज तथा उच्चतम इकाई राज्य है। इस विकास का क्रम द्वन्द्वात्मक है। हीगल के मत से 'राज्य पृथ्वी में दैवी चेतना का अन्तिम रूप है।'

राज्य का सावयव स्वरूप—हीगल की धारणा का राज्य एक पूर्ण सावयव है। अपने युग के अन्य सावयववादियों की भाँति हीगल जीव-सावयव तथा राज्य सावयव के मध्य केवल आंगिक समानता का चित्रण नहीं करता, अपितु वह राज्य को एक चेतन प्राणी के तुल्य बताता है। उसके मत से राज्य की स्वतः अपनी इच्छा तथा व्यक्तित्व होते हैं जिनमें उसके अंगों (व्यक्तियों तथा समुदायों) की इच्छा तथा व्यक्तित्व विलीन हो जाते हैं। इस दृष्टि से हीगल की राज्य के स्वरूप की धारणा व्यक्तित्ववादी सिद्धान्त (personality theory) की परिचायक है। इस धारणा को हीगल ने रूसो की सामान्य इच्छा की धारणा से ग्रहण किया है। हीगल राज्य को एक पूर्ण वास्तविकता मानता है जो सामान्य इच्छा का अवतरण है। सामान्य इच्छा

[1] 'Hegel defined the state as a group which collectively protects its property; its only essential powers are civil and military establishment sufficient to this end. In other words, a state is *de facto* power, the expression, certainly, of national unity and a national aspiration to self-government, but fundamentally the power to make the national will effective at home and abroad.' —Quoted in Sabine, *op. cit.*, 528.

उसका अभिप्राय समस्त लोगों की वास्तविक इच्छाओं का योगमात्र नहीं है, प्रत्युत् ाज्य विश्वात्मा की विद्यमानता के रूप में दैवी इच्छा है जो एक संगठित विश्व में पने यथार्थ रूप मे स्वयं प्रकट होती है।'[1] राज्य की इच्छा तथा उसका व्यक्तित्व ज्य का निर्माण करने वाले व्यक्तियों की इच्छाओं तथा व्यक्तियों का योग मात्र नहीं . प्रत्युत् राज्य की इच्छा तथा व्यक्तित्व उसके निर्माणकारी व्यक्तियों की इच्छा तथा ।क्तित्व से भिन्न तथा श्रेष्ठतम है। राज्य से परे या राज्य के विरुद्ध व्यक्ति की न ' पृथक् इच्छा हो सकती, न व्यक्तित्व, बल्कि व्यक्ति का वास्तविक स्वरूप राज्य के दस्यों के रूप में ही प्रकट हो सकता है। राज्य सार्वभौम तथा वैयक्तिक इच्छा की कता का प्रतिनिधित्व करता है। जोड के मत से हीगल का राज्य 'आत्मचेतना से क नैतिक इकाई है जो स्वय ज्ञाता तथा स्वयं सक्रिय व्यक्ति है।'[2]

राज्य सर्वसत्तावान है—हीगल की धारणा का राज्य पृथ्वी में परमात्मा का र होने के नाते सर्वसत्तावान (Omnipotent) है। राज्य स्वय साध्य है और व्यक्ति सका साधन। इसलिए व्यक्ति को पूर्णतया राज्य की आधीनता में रखा गया है। ाइन के शब्दों मे, 'राज्य स्वय ही शक्ति है, वह राष्ट्र की इच्छा का बाह्य स्वरूप यह व्यक्तिगत जीवन तथा नागरिक समाज की नैतिक तथा आर्थिक व्यवस्थाओं से क् तथा ऊपर है, यही एक ऐसा साध्य है जो व्यक्ति तथा समाज को सम्मान तथा हत्व प्रदान करता है।'[3]

स्वतन्त्रता तथा अधिकारों की धारणा को भी हीगल राज्य के सर्वसत्तावान ने की धारणा के आधार पर व्यक्त करता है। उसके मत से राज्य से पूर्व, परे या सके विरुद्ध व्यक्ति के कोई अधिकार या स्वतन्त्रताएँ नहीं हो सकतीं। राज्य स्वय ही की स्रष्टा है। व्यक्ति की वास्तविक स्वतन्त्रता राज्य के आदेशों तथा कानूनों का पालन रने में निहित है। 'राज्य मे रहकर मानव अपने बाह्य स्व को अपने विचारों के आन्तरिक ' के स्तर पर पूर्णतया विकसित कर लेता है।'[4] मानव-जीवन का प्रमुख उद्देश्य अपने न्हीं अलंघ्य अधिकारों या स्वतन्त्रताओं की उपलब्धि करना नहीं है, प्रत्युत् राज्य का ोगान करना है। यही राज्य का साध्य है। हीगल ने राज्य को भौतिक तथा ध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियों से सर्वश्रेष्ठ सस्था चित्रित करने का प्रयास किया है।

हीगल के इस राज्यवादी दृष्टिकोण के सम्बन्ध में वेपर ने लिखा है कि 'हर ष्ट से हीगल की राज्य सम्बन्धी धारणा एक पूर्ण आंगिक धारणा है। राज्य एक ांगिक विकास है। यह पूर्ण है जो अपने अंगों की अपेक्षा बृहत्तर है और जिसके । अभिन्न रूप से सम्पूर्ण के साथ जुड़े हैं और जो अपना अर्थ तभी रख सकते हैं ाकि सम्पूर्ण उन्हें अर्थ प्रदान करे। राज्य स्वय साध्य है। इसका विकास आन्तरिक जिसका रूप आत्मा के विवेकीकरण से प्रकट होता है, जिसमें नागरिकों का

[1] 'The state is the divine will as a present spirit which unfolds itself in e actual shape of an organised world.' —Hegel.

[2] 'A self-conscious ethical substance and a self-knowing and self-tualising individual.' —C. E. M. Joad, *op. cit.*, 13.

[3] 'Already the state is power, the outward embodiment of a nation's ll; already it stands above and distinct from the moral and economic rangements of private life and civil society, an end which alone gives dignity ,d ultimate worth to the latter.' —Sabine, *op. cit.*, 529.

[4] 'In the state man has fully raised his outward self to the level of ward self of thought.' —Hegel.

विकास, जिसे राज्य स्वयं सम्भव बनाता है, सहायक सिद्ध होता है। और यह बात यथार्थ राज्यों एवं एक प्रत्ययात्मक राज्य दोनों के बारे में सत्य है।'[1] मैकगवर्न के अनुसार, 'हीगल राज्य को एक अलौकिक संस्था (a supernatural entity) के रूप में लेता है जिसमें समस्त व्यक्ति समस्त व्यक्तियों के साथ एक रहस्यात्मक ढंग से संयुक्त हुए हैं; यह वह महान् सम्पूर्ण है जो सबको अपने में समाहित करता है, परन्तु जो स्वयं किसी एक या समस्त व्यक्तियों से महानतम है। इस सर्वोच्च वास्तविकता (राज्य) की तुलना में अन्य सब चीजें, चाहे वह व्यक्ति हो, चाहे परिवार, या निगम या सम्पूर्ण समाज, सभी महत्त्वहीन हैं।' बोसांके के शब्दों में, 'हीगल का राज्य उन संस्थाओं की सम्पूर्ण शृंखला को शामिल कर लेता है, जिनके द्वारा परिवार से व्यापार, व्यापार से चर्च तथा विश्वविद्यालय आदि सब जीवन-क्रम का निर्धारण करते हैं। राज्य में ये सब शामिल हैं, परन्तु इस रूप में नहीं कि वे देश के निर्माण में केवल ढेर मात्र हैं, अपितु एक ऐसी संरचना के रूप में जो सम्पूर्ण राज्य-व्यवस्था को जीवन तथा अर्थ प्रदान करते हैं।' हीगल की राज्य-सावयव की धारणा न केवल राज्य को ही आध्यात्मिक एवं दार्शनिक रूप से सर्वोच्चता की स्थिति प्रदान करती है, अपितु राज्य के एक अभिन्न अंग के रूप में नागरिकों को भी आध्यात्मिक दृष्टि से उच्चता प्रदान करती है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति से राज्य के प्रति जिस निष्ठा की कामना की गयी है, वह व्यक्ति को स्वार्थपरता तथा संकीर्ण भावनाओं से ऊपर उठाती है। इसलिए हीगल ने कहा है कि राज्य में रहकर मनुष्य अपने बाह्य स्व को विचारों के आन्तरिक स्व के स्तर में उठा लेता है। हीगल का राज्य विविधता में एकता लाने का प्रतीक है, जो राष्ट्रवाद का प्रमुख तत्त्व है।

स्वतन्त्रता तथा अधिकार—हीगल उस युग का विचारक है जबकि उसके अनेक पूर्ववर्ती तथा उसके पश्चात् के दार्शनिकों ने वैयक्तिक स्वतन्त्रता की धारणा का जोरदार समर्थन किया था। मिल्टन, लॉक, मांटेस्क्यू, मिल आदि ने वैयक्तिक स्वतन्त्रता का समर्थन करके राज्य की सत्ता पर व्यक्ति के अधिकारों की मर्यादा आरोपित करने की बात कही थी। रूसो तथा कांट भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के हिमायती थे और उन्होंने स्वतन्त्रता की धारणा को भावात्मक बनाने का प्रयास किया था। हीगल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणाओं पर उदारवादी निषेधात्मक स्वतन्त्रता की धारणा का प्रभाव नहीं है। वह यह नहीं मानता कि प्रतिबन्धों का अभाव ही स्वतन्त्रता है। निरंकुशता का समर्थक होने के नाते वह हॉब्स तथा रूसो से अधिक सामीप्य रखता है। प्रो० जोड के अनुसार, 'हीगल की दृष्टि में समाज के सदस्यों के रूप में मनुष्य एक ऐसी स्वतन्त्रता का उपभोग करते हैं जो उस स्वतन्त्रता की अपेक्षा अधिक वास्तविक है जिसका उन्होंने समाज में प्रविष्ट होने के निमित्त कानून-विहीन प्राकृतिक स्थिति को छोड़ने के साथ ही परित्याग कर दिया था।'[2] यद्यपि हीगल के ऊपर कांट की नैतिक स्वतन्त्रता की धारणा का प्रभाव भी था तथापि वह कांट की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा को निषेधात्मक स्वतन्त्रता ही कहता है। वह रूसो की इस धारणा से सहमत प्रतीत होता है कि 'उन कानूनों का पालन करना ही स्वतन्त्रता है जिन्हें हम स्वयं अपने लिए निर्धारित करते हैं।'[3] परन्तु रूसो

[1] Wayper, *op. cit.*, 169.
[2] Joad, *op. cit.*, 11.
[3] 'Obedience to laws which we prescribe to ourselves is liberty.'
—Rousseau.

तथा हीगल की ऐसी धारणा में कुछ अन्तर है। रूसो के अनुसार, सामान्य इच्छा ही सम्प्रभु अथच कानून की एकमात्र स्रोत है। यह लोकतन्त्र की परिचायक है। परन्तु हीगल के विचार से राज्य स्वयं सामान्य इच्छा का अभिवक्ता है। अतः राज्य के कानूनों का पालन करने में ही व्यक्ति वास्तविक स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है। हीगल के मत से 'Nothing short of State is the actualisation of freedom'। हीगल का यह निष्कर्ष उसके राज्य के व्यक्तित्ववादी सिद्धान्त पर आधारित है, क्योंकि उसके मत से राज्य की स्वयं अपनी वास्तविक इच्छा तथा व्यक्तित्व होते हैं। राज्य का सदस्य बन जाने पर व्यक्तियों की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व स्वयं राज्य करता है। राज्य की इच्छा व्यक्तियों की इच्छाओं का अंकात्मक योगमात्र नहीं है, प्रत्युत् यह उनसे उच्चतर है। इसी को हीगल 'सामान्य इच्छा' कहता है। इसी के कारण राज्य का उच्चतर व्यक्तित्व बनता है। राज्य की इच्छा तथा व्यक्तित्व में समस्त सदस्यों की इच्छाएं तथा व्यक्तित्व विलीन हो जाते हैं। अतः राज्य के आदेशों का पालन करने में व्यक्ति किसी अन्य बाह्य शक्ति के अधीन नहीं रहता। राज्य के कानून सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति करते हैं, जो व्यक्ति-विशेष के स्वार्थ का प्रतिनिधित्व अन्यों के हितों की कीमत पर न करके सामान्य हित का उद्देश्य रखते हैं। इसलिए सामान्य इच्छा से निदेशित होने वाले राज्य के कार्य सदैव निर्बाध रूप से उचित होते हैं क्योंकि वे व्यक्तिगत इच्छाओं की सर्वोत्तमता का प्रतिनिधित्व करते हैं।

स्वतन्त्रता की आध्यात्मिक व्याख्या—प्रो० जोड के अनुसार, 'वास्तविक स्वतन्त्रता जो समाज की उपज है और समाज में विद्यमान रहती है सदैव सक्रिय और विकसित होती रहती है। इसका प्रदर्शन पहले कानून में होता है; दूसरे, आन्तरिक नैतिकता के उन नियमों में होता है जिन्हें व्यक्ति समाज से ग्रहण करता है; और तीसरे, सामाजिक संस्थाओं तथा प्रभावों की उस समूची व्यवस्था में होता है जो व्यक्तित्व के विकास का निर्माण करती है।'[1] इस दृष्टि से हीगल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा वैयक्तिक न होकर सामाजिक नीतिशास्त्र पर आधारित है। परन्तु हीगल ने इसे राज्य की धारणा की ही भाँति आध्यात्मिक स्वरूप भी प्रदान किया है। उसके मत से स्वतन्त्रता का अभिप्राय ऐसी इच्छा है जो कि विवेकपूर्ण है, अर्थात् जिसे दैवात्मा चाहती है। चूंकि राज्य दैवात्मा की अभिव्यक्ति है, अतः जैसा राज्य चाहता है वैसा करने में ही व्यक्ति की वास्तविक स्वतन्त्रता निहित है। राज्य के आदेश व्यक्ति की वास्तविक इच्छा या स्वतन्त्र इच्छा की अभिव्यक्ति हैं। हीगल का कथन है कि 'विश्व का इतिहास स्वतन्त्रता की चेतना की प्रगति से भिन्न और कुछ नहीं है।' आत्मा स्वतन्त्र है, यह स्वयं परिपूर्ण है और यह आत्म-पूर्णता (self-containedness) स्वतन्त्रता का मूल तत्त्व है। इसके विपरीत पदार्थ जगत् गुरुत्वाकर्षण के नियमों के अधीन रहने से स्वतन्त्र नहीं है। आत्मा का विकास ही स्वतन्त्रता का विकास है और मानव इतिहास स्वतन्त्रता का इतिहास है। राज्य मानव विकास के इतिहास की अन्तिम मन्जिल है, जिसमें आत्मा अपनी पूर्णाभिव्यक्ति

[1] 'Real freedom which exists in and is the product of society is active and developing. It manifests itself first in law, secondly in the rule of inward morality which the individual receives from society, and thirdly in the whole system of institutions and influences that make for the development of personality.' —Joad, *op. cit.*, 12.

को प्राप्त हो जाती है। अतएव जो राज्य पूर्णता को प्राप्त हो चुका है, वही वास्तव में स्वतन्त्र राज्य है, और जो व्यक्ति एक पूर्णता प्राप्त राज्य के पूर्णता प्राप्त कानूनों का निष्ठापूर्वक आज्ञा-पालन करता है, वही व्यक्ति वास्तव में पूर्णतया स्वतन्त्र है। हीगल के मत से एक पूर्णता-प्राप्त राज्य के कानून व्यक्ति पर बाह्य रूप से लागू किये गये नहीं होते, प्रत्युत् वे उसी की वास्तविक इच्छा की अभिव्यक्ति होते हैं। व्यक्ति में विद्यमान आत्मा स्वतन्त्र होने की प्रवृत्ति रखती है। इसी के द्वारा व्यक्ति अपने को राज्य के साथ आत्मसात् करता है। बहुधा कोई व्यक्ति स्वार्थपूर्ण ढंग से कार्य कर सकता है। हीगल की धारणा में ऐसे अवसर पर व्यक्ति की आत्मा सुप्त अवस्था में रहती है। इसलिए ऐसा कार्य करते हुए व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं रहता क्योंकि उस समय वह अपनी वास्तविक या विवेकमय इच्छा से कार्य नहीं करता। इसलिए व्यक्ति को अपनी व्यक्तिगत या स्वार्थमयी इच्छा के वशीभूत होकर कार्य करके पथभ्रष्ट होने से बचाने के लिए राज्य उसका मार्गदर्शक रहता है। राज्य उसे आत्मा के वास्तविक स्वरूप का, अर्थात् पूर्ण विवेक का ज्ञान कराने के लिए एक शिक्षालय की भाँति है। अतः राज्य के आदेशों का पालन करने में वह अपनी वास्तविक इच्छा के अनुसार कार्य करता है। इसलिए वह स्वतन्त्रता का अनुभव करता है। यदि कोई व्यक्ति डर के वशीभूत होकर राज्य के आदेशों का पालन करने लगे तो उसे स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा करने में वह किसी बाह्य शक्ति द्वारा निदेशित होता है। इसलिए भी व्यक्ति को स्वतन्त्र रखने के लिए राज्य आवश्यक है। इसी प्रकार एक राज्य को पूर्णत्व प्रदान करने के लिए स्वतन्त्र व्यक्तियों की आवश्यकता है। व्यक्ति के लिए वास्तविक स्वतन्त्रता की एक प्रमुख आवश्यकता यही है कि वह स्वेच्छा से राज्य के प्रति अपनी आज्ञाकारिता बनाये रखे। इस प्रकार हीगल ने स्वतन्त्रता की धारणा का भी आध्यात्मीकरण किया है।

अधिकार—राज्यवादी तथा राज्य की निरंकुश सत्ता का पोषक होने के कारण हीगल व्यक्ति के प्राकृतिक तथा अलंघ्य अधिकारों की कल्पना नहीं करता। उसकी धारणा का राज्य स्वयं साध्य है, अतः राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के किन्हीं अधिकारों की सुरक्षा के लिए नहीं है। राज्य का स्वयं अपना व्यक्तित्व है जिसके विरुद्ध व्यक्ति का कोई पृथक् व्यक्तित्व नहीं हो सकता। व्यक्तित्व, सम्पत्ति, संविदा आदि राज्य की सत्ता को मर्यादित नहीं करते, प्रत्युत् वे स्वतन्त्र इच्छा की अभिव्यक्ति हैं। उनका निर्धारण राज्य के द्वारा ही हो सकता है। अतः हीगल ने व्यक्ति के किन्हीं ऐसे अधिकारों की, जो राज्य के अधिकारों से संघर्ष करते हों, कल्पना नहीं की है। हीगल यह मानकर चलता है कि व्यक्ति के वास्तविक अधिकार वे नहीं हो सकते हैं जिन्हें वे समाज-निर्माण से पूर्व की काल्पनिक प्राकृतिक स्थिति से लेकर आते हैं अथवा जिनकी रक्षा हेतु ही संविदा के आधार पर राजनीतिक समाज का निर्माण हुआ हो। वस्तुतः हीगल प्राकृतिक स्थिति या संविदा जैसी किसी धारणा को राज्य की उत्पत्ति का आधार मानता ही नहीं। उसकी धारणा में अधिकार का अभिप्राय व्यक्ति की ऐसी इच्छा से है जो किसी वास्तविक उद्देश्य की प्राप्ति के निमित्त उसकी पूर्ण विकसित प्रकृति के रूप में उसमें उत्पन्न होती है। समाज के सदस्य के रूप में तथा समाज की आधीनता में ही व्यक्ति की प्रकृति उसे इन उद्देश्यों की प्राप्ति की प्रेरणा देती है। इसलिए समाज ही व्यक्ति के ऐसे उद्देश्यों की प्राप्ति की प्रेरक सत्ता है। अतएव व्यक्ति अपने अधिकार राज्य से ही प्राप्त करता है। यही कारण है कि

राज्य के विरुद्ध उसके कोई निजी अधिकार नहीं हो सकते ।

कानून तथा नैतिकता—हीगल ने कानून, नैतिकता एवं सामाजिक नीतिशास्त्र के मध्य भी समन्वय स्थापित किया है । उसके मत से कानून विश्वात्मा का प्रतिनिधित्व करने वाले राज्य के आदेश हैं । इनका स्वरूप बाह्य प्रकृति का है । नैतिकता का अभिप्राय अन्य व्यक्तियों की चेतना का सम्मान करना है । यह आन्तरिक प्रकृति की है । परम्पराएँ सामाजिक नैतिकता की परिचायक हैं और ये स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति है । हीगल ने अपनी स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा के अन्तर्गत व्यक्ति को उस सामाजिक व्यवस्था के साथ अभिन्न रूप से जोड़ने का प्रयास किया है, जिसका वह सदस्य है । उसने यह दर्शाया है कि व्यक्तिगत निष्ठा के लिए समाज आवश्यक है; व्यक्ति की वैयक्तिकता समाज के माध्यम से ही प्राप्त हो सकती है; व्यक्ति को मानव बनने के लिए किसी न किसी रूप में समाज की आवश्यकता पड़ती है; और व्यक्ति के उत्थान के लिए शिक्षा, सभ्यता तथा संस्कृति आवश्यक हैं । सैबाइन के अनुसार, हीगल की विचारधारा में 'वैयक्तिक स्वतन्त्रता एक सामाजिक व्यवस्था है जिसकी उत्पत्ति जन-समूह के नैतिक विकास से होती है और जिसका संरक्षण उन कानूनी तथा नैतिक संस्थाओं के द्वारा होता है जिनकी व्यवस्था केवल जन-समूह ही कर सकता है ।'[1] हीगल का राजनीतिक दर्शन यह दर्शाता है कि व्यक्ति तथा समाज के मध्य, जिसका कि वह सदस्य है, किसी प्रकार का संघर्ष नहीं हो सकता, और राज्य निरन्तर उच्चतम सम्भव नैतिक मूल्यों का प्रतिनिधित्व करता है । राज्य के व्यक्तित्व, सामान्य इच्छा तथा अधिकारों से सम्बन्धित हीगल की धारणा के बारे में प्रो० जोड ने तीन विरोधाभासी निष्कर्ष निकाले हैं :[2]

(1) राज्य कभी अप्रतिनिध्यात्मक रूप से कार्य नहीं कर सकता । अर्थात् राज्य के अभिकर्ता जो भी कार्य करते हैं, उनमें व्यक्ति की इच्छा निहित रहती है । अतएव यदि किसी अपराधी को पुलिस बन्दी बनाती है और मजिस्ट्रेट दण्ड देता है तो राज्य के कर्मचारियों के रूप में पुलिस तथा मजिस्ट्रेट अपराधी की वास्तविक इच्छा की ही अभिव्यक्ति करते हैं । इसलिए जब अपराधी को जेल में ले जाया जाता है, तो उस समय वह पूर्ण स्वतन्त्रता का अनुभव करता है । इस प्रकार हीगल कानून तथा स्वतन्त्रता को पूर्णतया समीकृत करता है ।

(2) जो सम्बन्ध एक व्यक्ति को समाज के दूसरे व्यक्ति के साथ तथा सम्पूर्ण राज्य के साथ आबद्ध करते हैं वे व्यक्ति के व्यक्तित्व के अभिन्न अंग हैं । इसका यह निष्कर्ष है कि राज्य के व्यक्तित्व के साथ व्यक्ति का व्यक्तित्व अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है । व्यक्ति जो भी इच्छा करता है वह राज्य की इच्छा के एक अंग के रूप में ही कर सकता है । इसका परिणाम यह हो सकता है कि यदि कभी व्यक्ति राज्य के विरुद्ध विद्रोह करते हैं तो उनके ऐसे कृत्य में राज्य की इच्छा शामिल है । बोसांके के मत से विद्रोह की अवधि में राज्य स्वयं अपने विरुद्ध विभक्त हो जाता है ।

(3) राज्य स्वयं अपने समस्त नागरिकों की सामाजिक नैतिकता का प्रतिनिधित्व करता है और उसे धारण करता है । जिस प्रकार व्यक्तियों के व्यक्तित्व राज्य के व्यक्तित्व में विलीन रहते हैं उसी प्रकार व्यक्तियों के मध्य के नैतिक सम्बन्ध भी उस सामाजिक नैतिकता में विलीन हो जाते हैं जोकि राज्य में विहित

[1] Sabine, *op. cit.*, 536.
[2] Joad, *op. cit.*, 23-25.

है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि राज्य स्वयं नैतिक है, या अपने कार्यों मे नैतिक सम्बन्धों के द्वारा अनुबन्धित है, क्योंकि नैतिक सम्बन्ध दो पक्षों के मध्य होते हैं। राज्य तथा व्यक्ति दो पृथक् पक्ष नही हो सकते क्योंकि व्यक्ति राज्य सावयव के अभिन्न अंग हैं। बोसांके ने कहा है कि 'ऐसा विश्वास नही किया जा सकता कि राज्य चोरी या हत्या उस रूप में कर सकता है जिस रूप में इन्हें नैतिक अपराध माना जाता है।'

हीगल की दृष्टि में राज्य स्वयं नैतिकता का सृष्टा है। उसके ऊपर नैतिक कानून का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। राज्य स्वयं व्यक्तिगत नागरिकों के लिए नैतिकता के मानदण्ड निश्चित करता है। राज्य के विरुद्ध नागरिक अपनी अन्तरात्मा या नैतिक कानून का दावा नहीं कर सकते। हीगल का यह दृष्टिकोण कांट की धारणा से सहमति नहीं रखता, क्योंकि कांट व्यक्ति की नैतिक स्वतन्त्र इच्छा को महत्त्वपूर्ण मानता है। इसके विपरीत हीगल की धारणा यह है कि हमारी अन्तरात्मा हमें केवल यह निर्देश दे सकती है कि हम जो उचित है उसे करें, परन्तु वह हमें यह नहीं बताती कि उचित क्या है। नैतिकता तथा अन्तरात्मा को हीगल किसी जन-समूह की दीर्घकालीन परम्पराओं पर आधारित मानता है, क्योंकि वे अतीत काल के सामूहिक विवेक की अभिव्यक्ति हैं। परन्तु राज्य ही जनसमूह की परम्पराओं का सच्चा निर्वचक है। वही यह बताता है कि कौनसी चीज उत्तम है। अतः सामाजिक नैतिकता ही सर्वोच्च नैतिकता है, जो राज्य की आज्ञप्तियों के रूप में प्रकट होती है। निष्कर्ष यह है कि राज्य जो कुछ करता है सब उचित है चाहे वह इसे किसी भी कीमत पर करे। यह दूसरी बात है कि कभी राज्य के ऐसे आचरण से निरपराध व्यक्तियों को हानि पहुँचे। हीगल का तर्क है कि 'राज्य सदृश विशाल संकाय अपने मार्ग में आने वाले सैकड़ों व्यक्तियों को जो निरपराध हैं, कुचल सकता है।'[1]

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध तथा युद्ध—हीगल एक उग्र राष्ट्रवादी विचारक था। उसकी सम्पूर्ण राजनीतिक विचारधारा का केन्द्र जर्मन राष्ट्रवाद तथा जर्मनी को एक सुदृढ़ राष्ट्र-राज्य निर्मित करने की प्रेरणा देना था। राज्य की निरंकुशता तथा सर्वोच्चता का समर्थन करते हुए वह राज्य के ऊपर किसी प्रकार की आन्तरिक या बाह्य मर्यादा को स्वीकार नहीं करता। अतः अन्य राज्यों के साथ अपने सम्बन्धों का निर्धारण करने में राज्य अपने कल्याण तथा अपनी सुरक्षा का ध्यान रखने के अतिरिक्त अन्य किसी नैतिक या कानूनी दायित्व से अनुबन्धित नहीं रहता। यहाँ तक कि अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों को बनाये रखने में भी राज्य का अपना हित सर्वोपरि होता है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध उन सम्प्रभु राज्यों के मध्य के सम्बन्ध हैं जो यह विश्वास रखते हैं कि वही बात उचित है जो उनके हित की होती है और जानबूझ कर ऐसे हितों के विरुद्ध कार्य करना सबसे महान् पाप है।[2] हीगल का मत है कि यदि दो राज्यों की इच्छाओं के मध्य मतभेद होता हो तो उसे दूर करने का एकमात्र समाधान युद्ध है। युद्ध में विजयी राज्य की इच्छा श्रेष्ठतर मानी जावेगी।

हीगल यह नहीं मानता कि युद्ध एक बुराई है। उसके मत से सार्वभौम मानव प्रेम की धारणा एक मूर्खतापूर्ण आविष्कार है। राष्ट्रों के मध्य निरन्तर शान्ति उसी प्रकार सामाजिक वातावरण को दूषित कर देती है जिस प्रकार स्थिर जल वाले

[1] Waper, *op. cit.*, 164.
[2] *Ibid.*, 165.

तालाब का पानी दूषित होता रहता है। यदि आँधी के झोंके ऐसे तालाब के जल में उथल-पुथल मचाते हैं तो जल के दोष दूर हो जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय समाजों के मध्य युद्ध की भूमिका इसी भाँति की होती है। युद्ध किसी राष्ट्र की शक्ति का सही परिचायक होता है। वेपर के शब्दों में, यदि हम लार्ड ऐक्टन के शब्दों को दूसरे रूप में रखें तो हीगल की धारणा में 'शान्ति भ्रष्ट होती है और निरन्तर रहने वाली शान्ति निरन्तर भ्रष्ट होती है।'[1] हीगल के मत से बन्दूक तथा बारूद का आविष्कार अवसरवशात् नहीं हुआ था प्रत्युत् मानवता को इनकी आवश्यकता थी, इसलिए इनका द्रुत उत्पादन होता गया। सभ्यता इन्हें चाहती थी। राष्ट्रों के मध्य युद्धों की अपरिहार्यता तथा आवश्यकता को हीगल अपने इतिहास के दर्शन के आधार पर भी व्यक्त करता है। उसके विचार से विश्वात्मा जब राज्य के रूप में अपनी पूर्णता की प्राप्ति के निमित्त बढ़ती है तो विश्व के विभिन्न राज्यों में से कहाँ उसकी सही अभिव्यक्ति हो सकती है, इसकी चाह उसे रहती है। अतएव वह सभी राज्यों में निवास नहीं कर सकती। उसका स्थान-निर्धारण युद्धों के द्वारा ही हो सकता है। जो राज्य युद्ध में विजयी होता है वही विश्वात्मा की अभिव्यक्ति का स्थान ले सकता है।

उग्र राष्ट्रवाद, राज्यवाद तथा युद्धों के औचित्य को प्रदर्शित करने में हीगल मैकियाविलीवाद का समर्थन करता है। उसे जर्मन मैकियाविली या फ्रेंच रिशल्यू कहना असंगत नहीं होगा। जिस प्रकार अपने युग में इटली की राजनीतिक अस्त-व्यस्तता से दु:खी होकर मैकियाविली के दर्शन का एकमात्र उद्देश्य इटली को एक सशक्त राष्ट्र-राज्य बनने की प्रेरणा देना रहा था, उसी प्रकार नैपोलियन के युद्धों के कारण ध्वस्त हुए जर्मनी को एक सशक्त राष्ट्र-राज्य बनाना हीगल के दर्शन का भी मुख्य उद्देश्य था।

संविधान—हीगल की दृष्टि में राज्य का संविधान आन्तरिक लोक-विधि (internal public law) है। इसी के सन्दर्भ में वह शासनों की भी व्याख्या करता है। शासन के अंगों तथा रूपों को भी हीगल द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त के आधार पर समझाता है। उसके मत से सरकार के तीन अंग व्यवस्थापिका, प्रशासनिक संगठन (जिसमें न्यायपालिका भी शामिल है), तथा राजतन्त्र हैं। हीगल राजतन्त्र को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग मानता है। उसके द्वन्द्ववाद के अनुसार व्यवस्थापिका वाद, प्रशासनिक अंग प्रतिवाद तथा राजतन्त्र संवाद है जो प्रथम दोनों की अपेक्षा पूर्ण है। हीगल 'वैधानिक राजतन्त्र' शब्द का प्रयोग करता है। उसके मत से वैधानिक राजतन्त्र एक प्रकार की मिश्रित सरकार की व्यवस्था है। इसमें लोकतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा राजतन्त्र के तत्त्व विद्यमान रहते हैं। व्यवस्थापिका अंग लोकतन्त्र का, प्रशासनिक संगठन कुलीनतन्त्र का तथा वैधानिक राजतन्त्र, राजतन्त्र का द्योतक है। इस प्रकार जिस सरकार में उक्त तीन अंग हैं, वह हीगल की दृष्टि में वैधानिक राजतन्त्र है। उसमें राजतन्त्री अंग सर्वोच्चता की स्थिति में रहता है। वह विधायिका तथा प्रशासनिक अंग का अधीक्षण करता है, जो क्रमश: सार्वभौम तथा विशेष का प्रतिनिधित्व करते हैं, और राजतन्त्र उनके मध्य समरूपता बनाये रखने के लिए आवश्यक है। इसे हीगल दैवी विवेक का सर्वाधिक पूर्ण रूप मानता है। राज्यों का वर्गीकरण करने में

[1] Lord Acton's famous aphorism was 'Power corrupts, and absolute power corrupts absolutely.' Here to misquote him 'Peace corrupts and everlasting peace corrupts everlastingly.' —*Ibid.*

हीगल द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त का अनुगमन करते हुए स्वेच्छाचारीतन्त्र (despotism) को वाद, लोकतन्त्र को प्रतिवाद तथा वैधानिक राजतन्त्र को संवाद मानता है। इस दृष्टि से हीगल की धारणा में वैधानिक राजतन्त्र से युक्त सविधान सर्वोत्कृष्ट, विकसित तथा पूर्णता-प्राप्त संविधान है। अन्य संविधान अपने विकास-क्रम में अपूर्ण हैं।

प्रभुसत्ता—हीगल की धारणा का राज्य एक आंगिक इकाई अथवा एक पूर्ण सावयव है। इस सम्पूर्ण सावयव की प्रभुत्व शक्ति सम्पूर्ण राज्य में विहित है। वह राज्य के किसी अंग में निवास नहीं करती। एक धारणा के रूप में प्रभुसत्ता का निवास सम्पूर्ण जनता में माना जा सकता है। परन्तु हीगल को लोक प्रभुसत्ता की धारणा से कोई सहानुभूति नहीं थी। उसके अनुसार, राज्य की प्रभुसत्ता का निर्धारण किसी व्यक्ति के द्वारा होता है, जो हीगल की धारणा में राजा ही हो सकता है। राजा के बिना जनता एक असंगठित जन-समूह है, क्योंकि राज्य की सामूहिक सदस्यता के लिए राजा का होना आवश्यक है। इस दृष्टि से हीगल की धारणा में प्रभुत्व शक्ति राजा में निवास करती है चूंकि समूचे रूप मे राज्य सम्प्रभु है, अतः राज्य में विधायिका के अन्तर्गत लोक तत्त्व विविध हितों तथा वर्गों का प्रतिनिधि मात्र हो सकता है। इस दृष्टि से हीगल की व्यवस्था में राज्य या सरकार के लोकतन्त्री स्वरूप को मान्य नहीं किया गया है। उसकी धारणा के राज्य की सरकार राजतन्त्रात्मक होगी, जिसमें सत्ता निम्न स्तरो से उच्चतम स्तर को जाने की अपेक्षा उच्चतम स्तर से निम्नतर स्तरों को संक्रमित होगी। यह किसी न किसी रूप के अधिनायकवाद की परिचायक है। इसमें राजा ऐसा अधिनायक होगा जिसे हीगल दैवी विवेक से युक्त या देवता के तुल्य मानता है। संक्षेप में, हीगल के राज्य का अधिनायक प्लेटो के दार्शनिक राजा के तुल्य है। यह धारणा आस्टिन पंथी प्रभुसत्ता की धारणा से सहमति नहीं रखती, क्योंकि हीगल प्रभुसत्ता की धारणा का कानून या न्यायशास्त्र की दृष्टि से विवेचन नहीं करता।

हीगल के राजनीतिक विचारों का मूल्यांकन

विचारों के स्रोत तथा पृष्ठभूमि—राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में जितने महान् चिन्तक हुए हैं, उनके विचार तत्कालीन राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होते रहे हैं। उन्नीसवीं शताब्दी का राजनीतिक चिन्तन विभिन्न विद्वानों, दार्शनिकों, राजनेताओं आदि के हाथों में विविध प्रकार के वादों का प्रतिनिधित्व करता है। उदारवाद, व्यक्तिवाद, निरंकुशतावाद, समाजवाद, प्रत्ययवाद तथा अन्य विविध प्रकार की विचारधाराएँ राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि विविध समस्याओं के संदर्भ में व्यक्त की गई थीं। लोकतन्त्र तथा निरंकुशतन्त्र के मध्य समन्वय स्थापित करना भी इस युग की एक समस्या थी। यूरोपीय राजनीति साम्राज्यवाद के प्रभाव में थी। इंग्लैण्ड उस समय साम्राज्यवाद तथा पूँजीवाद की चरम सीमा पर पहुँच चुका था। नेपोलियन के नेतृत्व में फ्रांस युद्धों में लीन था। जर्मनी छिन्न-भिन्न राज्य हो चुका था। उसकी स्थिति वैसी ही थी जैसी पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में इटली की हो चुकी थी। अतः जिस प्रकार सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इटली में मैकियाविली ने देश-प्रेम से प्रेरित होकर अपने विचार रखे थे, उसी प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मनी में हीगल भी जर्मन

मैकियाविली के रूप में प्रकट हुआ। जर्मनी को विश्व के समस्त राज्यों का नेतृत्व करने वाले राष्ट्र-राज्य के रूप में देखना उसके चिन्तन का लक्ष्य था। वह एक महान् इतिहासवेत्ता होने के साथ-साथ अपने युग का महानतम तत्त्व-वेत्ता भी था। उसकी राजनीतिक विचारधारा दार्शनिक अधिक है, व्यावहारिक कम। हीगल को रूसो, कांट, फिक्टे आदि के दर्शन से प्रचुर सामग्री प्राप्त हुई थी, जिसमें से उसने कुछ विचारों को ग्रहण किया तो कुछ को त्यागा और राजनीतिक दर्शन को एक नया रूप प्रदान किया, जिसे हीगलवाद कहना असंगत नहीं होगा।

हीगल ने राज्य के जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, उन्हें प्रो० जोड ने राज्य का निरंकुशतावादी, आधिभौतिक, दार्शनिक, रहस्यवादी तथा प्रत्ययवादी सिद्धान्त नामों से सम्बोधित किया है। जोड के मत से, 'सैद्धान्तिक दृष्टि से यह विचारधारा अवांछनीय, तथ्यों की दृष्टि से असत्य तथा वैदेशिक नीति के क्षेत्र में निवर्तमान राज्यों को अविवेकपूर्ण कार्य करके भयावह स्वीकृति प्रदान करने की परिचायक सिद्ध होगी।'[1] जोड की यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई। बीसवीं शताब्दी में इटली में फासीवाद तथा जर्मनी में नाजीवाद का अभ्युदय हीगल की विचारधारा से ही प्रभावित थे। इन अधिनायकतन्त्रों के अन्तर्गत राज्य की सत्ता को चरम सीमा पर पहुँचाकर व्यक्ति को पूर्णतया राज्य का दास बना दिया गया था। हीगल की भाँति फासीवादी नेताओं की शिक्षा भी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को 'कायरों का स्वप्न' कहती थी। फासीवादी सर्वाधिकारवादी राज्य हीगल की विचारधारा का सर्वसत्तावान राज्य माना जाता था, जिसे हीगल ने 'पृथ्वी में ईश्वर का प्रयाण' कहा था। राज्य को पृथ्वी पर दैवात्मा का रूप प्रदान करके हीगल ने सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी के राजाओं के दैवी अधिकार के सिद्धान्त' के स्थान पर राज्य के दैवी अधिकार के सिद्धान्त को प्रतिष्ठापित किया।

प्रभाव—यद्यपि हीगल की राज्य सम्बन्धी धारणा को इंग्लैण्ड के विचारकों ब्रैडले तथा बोसांके ने बहुत कुछ अंश में ग्रहण किया था, तथापि ब्रिटिश राजनीतिक परम्परा आम तौर से ऐसे निरंकुशतावादी सिद्धान्त से सहानुभूति नहीं रखती। टी० एच० ग्रीन ने हीगल के प्रत्ययवादी सिद्धान्त से कुछ आधिभौतिक धारणाओं को ग्रहण करके राजनीतिक प्रत्ययवाद को पूर्णतया ब्रिटिश परम्परा के अनुकूल बनाया। उसके हाथों में उग्र आदर्शवाद उदार प्रत्ययवाद बन गया, जो कांट की परम्परा पर निर्मित है, न कि हीगल की परम्परा पर। यद्यपि हीगल की प्रत्ययवादी राजनीतिक विचारधारा की अनेक दृष्टियों से कटु आलोचना की जाती है, तथापि राजनीतिक चिन्तन को इसके अनेक योगदान हैं।

वेपर के मत से यह सिद्धान्त राज्य का गतिविहीन सिद्धान्त नहीं है। 'यह राज्य को एक ऐसा सापेक्ष संगठन चित्रित करता है जो इसके विकास की प्रत्येक मंजिल में मानव जाति के विकास की श्रेणी की अभिव्यंजना दर्शाता है।'[2] इस सिद्धान्त ने संविदावादी सिद्धान्त का खण्डन करके राज्य को केवल एक यन्त्रवत् संगठन या संरचनामात्र स्वीकार नहीं किया, अपितु राज्य की सावयविक संरचना को चित्रित किया है। यह सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति के विकासवादी सिद्धान्त का

[1] 'It is denounced as unsound in theory, untrue to fact, and liable to extend dangerous sanction to the more unscrupulous actions of the existing States in the sphere of foreign policy.' —Joad, *op. cit.*, 17.

[2] Wayper, *op. cit.*, 170.

परिचायक है। भले ही हीगल राज्य को दैवात्मा की अभिव्यक्ति या विश्वात्मा की पूर्णता का रूप प्रदान करता है, जिसके विकास-क्रम में विश्वात्मा की प्रकृति कार्य करती है, तथापि हीगल राज्य की उत्पत्ति के काल्पनिक दैवी सिद्धान्त को न मानकर ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त को मानता है। हीगल की दृष्टि का राज्य न तो व्यक्तिवादियों की विचारधारा का ऐसा मानव संगठन है जिसके अंग बिना पारस्परिक आंगिक एकता के एक समूह मात्र का निर्माण करते हों, और न ही वह कुछ तथाकथित प्राकृतिक अधिकारों के संरक्षण के निमित्त मानवों की पारस्परिक संविदा के आधार पर कृत्रिम रूप से निर्मित एक यान्त्रिक संरचना है। हीगल समाज को एक नैसर्गिक संवास मानता है जिसके ऊपर व्यक्ति को पूर्णतया निर्भर रहना पड़ता है। इस प्रकार हीगल की विचारधारा में व्यक्ति के सामुदायिक जीवन की महत्ता को स्वीकार किया गया है। हीगल ने व्यक्तिवादी नकारात्मक स्वतन्त्रता के स्थान पर सामुदायिक विध्यात्मक स्वतन्त्रता की धारणा को व्यक्त करके व्यक्ति एवं समाज या राज्य के मध्य सावयविक सम्बन्धों को दर्शाया है। वेपर के शब्दों में, 'उसने राजनीति को मात्र हितों के मध्य समझौते से कुछ अधिक बताया है। उसने कानून को भी मात्र एक आदेश से कुछ अधिक बताया है।'[1] हीगल की धारणा में राज्य मानव के नैतिक उद्देश्य का साधन है जिसे व्यक्तिवादी पुलिस राज्य की धारणा में समुचित मान्यता नहीं दी गयी है।

जहाँ तक दार्शनिक चिन्तन का प्रश्न है, सैबाइन के शब्दों में, 'हीगल के दर्शन का उद्देश्य आधुनिक चिन्तन के पूर्ण पुनर्निर्माण से कम कुछ नहीं था।'[2] भले ही हीगल के विचार अत्यधिक दार्शनिकता से भरे हैं और राज्य के सम्बन्ध में उसके अनेक निष्कर्ष भावनामूलक तर्कों से युक्त हैं, तथापि 'हीगल के अतिरिक्त बहुत कम राजनीतिक विचारधाराएँ ऐसी हैं जो राजनीतिक वास्तविकताओं से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती हैं।' प्लेटो तथा अरस्तू के बाद हीगल ही ऐसा विचारक हुआ है जिसने यह दर्शाया कि राज्य से पृथक् व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं है। उसके विचारों में एक बार पुनः राजनीति तथा नैतिकता को घनिष्ठतया सम्बद्ध किया गया है।

यदि हीगल को आधुनिक राष्ट्रवाद का जनक कहा जाय तो उसमें कोई असंगति नहीं होगी। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की धारणा ने आधुनिक उग्र-राष्ट्रवाद का विरोध किया है, तथापि राष्ट्रवाद का अन्त नहीं हुआ है और राष्ट्रवाद को धर्म की भाँति एक विश्वास तथा मत का रूप प्रदान करने में हीगल के विचारों ने भारी योगदान किया है। उसने राष्ट्रीय राज्य को दैवी स्वरूप प्रदान करके व्यक्ति को राष्ट्र के नाम पर बलिदान हो जाने की प्रेरणा दी है। आधुनिक राष्ट्रवाद में ये लक्षण विद्यमान हैं।

आलोचना—यद्यपि हीगल के विचारों का स्वयं पर्याप्त महत्त्व है तथापि वे अपने दोषों से भी मुक्त नहीं हैं। हीगल के राजनीतिक विचारों की अनेक दृष्टियों से कटु आलोचना की गयी है। प्रो० जोड ने सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से हीगल के प्रत्ययवादी राज्य सिद्धान्त की कटु आलोचना की है।

(1) **सैद्धान्तिक आधार**—जोड के मत से हीगल की राज्य को मानव समाज के योग से समीकृत करने की धारणा तथ्यों से मेल नहीं खाती। यदि राज्य को

[1] *Ibid.*, 170-71.
[2] Sabine, *op. cit.*, 522.

अपने निर्माणकारी नागरिकों के सम्बन्ध में सर्वसत्तावान् माना जाता है तो ऐसा इसी आधार पर है कि राज्य अपने समस्त नागरिकों की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करता है तथा उन्हें अपनी इच्छा में विलीन कर लेता है। परन्तु यह तर्क इस तथ्य का द्योतक नहीं है कि राज्य अन्य राज्यों के नागरिकों की इच्छाओं के सम्बन्ध में भी ऐसा करता है। अतः राज्य को सर्वसत्तावान् नहीं माना जा सकता। अन्य राज्यों के नागरिकों के सम्बन्ध में उसे नैतिक दायित्वों से मुक्त नहीं माना जा सकता।[1] हीगल का यह मत कि राज्य का सदस्य रहकर तथा उसके आदेशों का पालन करने में ही व्यक्ति स्वतन्त्रता का अनुभव कर सकता है, तर्क-सम्मत नहीं है। जैसा जोड ने कहा है, 'राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के लिए है, न कि व्यक्ति का राज्य के लिए। स्वतन्त्रता का अर्थ केवल व्यक्ति के लिए ही हो सकता है, और जब तक राज्य अपने साथ अपने निर्माणकारी व्यक्तियों के कल्याण को नहीं लेता, तब तक समाज या राज्य के कल्याण की बात का न तो कोई मूल्य है, न उसका कोई अर्थ है।'[2] इसलिए राज्य को साध्य मानना उचित नहीं है। व्यक्तियों के सुख के मूल्य पर या उससे परे राज्य के कल्याण की बात कहना 'गाड़ी को घोड़ों के आगे रखने के तुल्य है।' व्यक्ति की वास्तविक इच्छा को राज्य की सामान्य इच्छा में विलीन हुई मानना राज्य की निरंकुशता तथा स्वेच्छाचारिता का समर्थन करने के तुल्य है, क्योंकि यदि कभी व्यक्ति की इच्छा तथा राज्य की इच्छा में मतभेद हो तो राज्य की इच्छा को ही सही माना जायेगा।

(2) **व्यावहारिक आधार**—आधुनिक युग में राज्य के सर्व-सत्तावादी स्वरूप अथवा राज्य की सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न सत्ता के विरोध में प्रो० जोड की आलोचना का आधार बहुवादी है। उनका तर्क यह है कि आधुनिक युग में वैज्ञानिक विकास तथा सामाजिक जीवन की जटिलता का प्रभाव यह हुआ है कि राज्य के अन्तर्गत विविध प्रकार के आर्थिक तथा नैतिक समुदाय निर्मित हो चुके हैं। व्यक्ति के लिए इनकी सदस्यता ग्रहण करना न केवल आवश्यक ही है, अपितु इनके प्रति निष्ठा रखना भी उतना ही अनिवार्य है जितना कि राज्य के प्रति। बहुधा ऐसा भी होता है कि व्यक्ति राज्य के अन्तर्गत अपने पड़ोसियों के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध, सम्पर्क या जान-पहचान तक नहीं रखता, जबकि उसका हित किसी अन्य राज्य के आर्थिक कार्य-कलापों में अधिक रहता है जहाँ उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध अपने से सम्बद्ध आर्थिक समुदायों के साथ अधिक रहता है। ऐसी स्थिति में राज्य द्वारा व्यक्ति की निष्ठा प्राप्त करने की धारणा अर्थहीन रह जाती है। यही बात नैतिक समुदायों के बारे में भी सत्य है। इस दृष्टि से राज्य की सामान्य इच्छा की सर्वोपरिता की धारणा भ्रामक है। वर्तमान समय में समाज के अन्तर्गत सामुदायिक जीवन में नाना प्रकार के समुदायों की महत्ता व्यक्ति के लिए बढ़ती जा रही है। अतः समुदायों की इच्छा भी व्यक्ति की इच्छा को अपने में उसी प्रकार विलीन करती है, जैसी कि राज्य की इच्छा कर सकती है। अतः राज्य की सर्वोच्च सत्ता की धारणा भ्रामक है।

द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त की भ्रामकता—वेपर का मत है कि 'हीगल का यह दावा कि उसने प्रतिवाद के नियम (law of contradiction) को सशोधित करके

[1] Joad, *op. cit.*, 17–18.
[2] *Ibid.*

उसके स्थान पर द्वन्द्ववाद के एक नये तथा अधिक तर्कपूर्ण सिद्धान्त को स्थानापन्न किया है, विचित्र रूप का असन्तोष व्यक्त करता है।'[1] वेपर इसे तर्क की नयी विधि नहीं मानता। उसके मत से यह सिद्धान्त किसी वैज्ञानिक सत्य या स्पष्टता का द्योतक नहीं है। उदाहरणार्थ, द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया द्वारा जहाँ हीगल ने राज्य को दैवी स्वरूप प्रदान किया है, वहाँ कार्ल मार्क्स ने इसी सिद्धान्त को अपनाकर राज्य को एक दानव का रूप मानकर उसकी भर्त्सना कर दी। उन्नीसवीं शताब्दी में द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त के द्वारा विद्वानों ने ऐतिहासिक विकास का निर्वचन करके व्यक्ति तथा राज्य के मध्य सम्बन्धों का विवेचन करने के लिए ऐसे निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया जो उन्हें रुचिकर लगें। यह बात उसी प्रकार की है जैसी कि अठारहवीं शताब्दी में प्राकृतिक कानून की धारणा के सम्बन्ध में है जिसके अन्तर्गत विद्वानों ने प्रकृति से व्यक्ति तथा राज्य के मध्य सम्बन्धों के बारे में उन निष्कर्षों को निकाला, जो उन्हें रुचिकर लगे।

निरंकुशतावाद—हीगल ने स्वतन्त्रता, समानता तथा व्यक्तित्व की धारणाओं को जो स्वरूप प्रदान किया है, उसके अनुसार स्वतन्त्रता को आज्ञाकारिता के साथ तथा समानता को अनुशासन के साथ समीकृत किया है। इसी प्रकार व्यक्ति के व्यक्तित्व को पूर्णतया राज्य के व्यक्तित्व में विलीन करके इन धारणाओं को ही उलट दिया है। राज्य को ही इनका एकमात्र नियन्ता मानना, राज्य को ईश्वर का प्रतिनिधि बना देता है। यह एक ऐसी भयावह धारणा थी जिससे उग्र राष्ट्रवाद को बढ़ावा देकर बीसवीं शताब्दी में दो विश्व-युद्धों के लिए मार्ग प्रशस्त किया। हीगल के विचारों ने लोकतन्त्र तथा विश्वशान्ति दोनों का गला घोंट दिया, और राज्य की निरंकुशता को बढ़ावा देकर स्वस्थ समाज के निर्माण में विविध सामुदायिक संगठनों के महत्त्व को समाप्त कर देने की धारणा व्यक्त की। यद्यपि उसका द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त यह दर्शाता है कि ऐतिहासिक विकास-क्रम में प्रतिषेध के निमित्त आलोचना-प्रत्यालोचना को स्थान मिलना चाहिए, तथापि जब वह राज्य को दैवी गन की प्रक्रिया का फल मानता है तो वह राज्य की आलोचना करने का निषेध कर देता है। वेपर के मत से 'विवेक का एक प्रबल पैगम्बर होते हुए भी उसने अविवेक के उस युग का मार्ग प्रशस्त करने का पूर्ण प्रयास किया है, जिनमें कि हम रहते हैं।'[2] हीगल के विचारों से प्रभावित फासीवाद तथा नाजीवाद पूर्णतया अतर्कवादी, अबुद्धिवादी तथा अविवेकवादी विचारधाराएँ सिद्ध हुईं। सैबाइन के अनुसार, 'हीगल द्वारा राष्ट्र-राज्य के आदर्शीकरण के कारण वह रूढ़िवादी राष्ट्रवाद का प्रेरणा-स्रोत बन गया जो अन्ततः फासीवाद में अवतरित हुआ और जिसने मध्य उन्नीसवीं शताब्दी के उदार राष्ट्रवाद को निगल डाला।'[3]

[1] 'His claim to have revised the law of contradiction and to have substituted for it, in the Dialectic, a new and more fruitful logic, is singularly unconvincing.' —Wayper, *op. cit*, 171.

[2] 'An ardent apostle of Reason, he has done more than most to prepare the way for that age of unreason in which we live.' —*Ibid.*, 173.

[3] 'Through his idealization of national state he became a source for conservative nationalism, culminating in fascism, which has swallowed up the liberal nationalism of mid-nineteenth century.' —Sabine, *op. cit.*, 523.

ब्रिटिश आदर्शवादी राजनीतिक चिन्तक
टॉमस हिल ग्रीन (1836–1882)

जीवन-परिचय

टी० एच० ग्रीन (Thomas Hill Green) इंग्लैण्ड के एक क्लर्जी का लड़का था। उसे बचपन से ही समुचित वातावरण में शिक्षा मिली थी। बाद में वह आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के एक कालेज में प्रविष्ट हुआ। ग्रीन के बारे में कहा जाता है कि वह एक प्रतिभाशाली छात्र तो नहीं रहा, किन्तु उसका अध्ययन पर्याप्त व्यापक था। उसने अपना संक्षिप्त जीवन अध्ययन तथा अध्यापन में ही बिताया। यद्यपि कुछ समय तक वह सक्रिय राजनीति में भी प्रविष्ट हुआ और उदार दल का एक प्रवक्ता भी रहा, तथापि मूल रूप से वह एक दार्शनिक तथा दर्शनशास्त्र का अध्यापक था। उसकी अधिकांश रचनाएँ व्याख्यानों के रूप में हैं। इनमें उसके दार्शनिक तथा राजनीतिक विचार मिलते है। उसकी प्रमुख रचनाएँ—Lectures on the Principles of Political Obligation, Lectures on Liberal Legislation and Freedom of Contract, Prolegomena to Ethics, Lectures on English Revolution, आदि है। ग्रीन की 46 वर्ष की अल्प आयु मे ही मृत्यु हो गयी, किन्तु राजनीतिक चिन्तन के निमित्त उसकी रचनाओं का पर्याप्त योगदान है।

ग्रीन के काल में राजनीतिक चिन्तन का स्वरूप—टी० एच० ग्रीन से पूर्व उन्नीसवी शताब्दी में यूरोप के राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में अनेक विचारधाराएँ विकसित हो चुकी थीं। यह युग मुख्यतया राजनीतिक परिचर्या का काल था। इंग्लैण्ड के राजनीतिक दर्शन में उपयोगितावाद, व्यक्तिवाद, फैबियनवाद आदि का प्रादुर्भाव औद्योगिक विकास, साम्राज्यवाद, सुधारवाद आदि से प्रेरित था। राजनीतिक चिन्तन का मुख्य विषय राज्य के कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध में परिचर्या था। दूसरी ओर राजतन्त्र तथा लोकतन्त्र के मध्य का संघर्ष भी राजनीतिक चिन्तकों के विचारों को प्रभावित कर रहा था।

ग्रीन से पूर्व यूरोप के अन्य देशों में भी राजनीतिक चिन्तकों द्वारा विभिन्न प्रकार की विचारधाराएँ व्यक्त की जा चुकी थीं। जर्मनी में राजनीतिक चिन्तन के दो रूपों (उदार तथा उग्र आदर्शवाद) का प्रतिपादन हो चुका था। ये दोनों विचारधाराएँ राज्य के आधिभौतिक या प्रत्ययवादी विचारों का प्रतिनिधित्व करती हैं। दोनों का आधार नैतिकता था। कांट का दर्शन उदार आदर्शवाद तथा हीगल का उग्र आदर्शवाद का प्रेरक था। रूसो के विचारों ने इग्लैण्ड, फांस तथा जर्मनी के राजनीतिक चिन्तन एवं व्यवहार दोनों को प्रभावित किया था। दूसरी ओर कार्ल मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवादी दर्शन का भी प्रादुर्भाव हो चुका था। इग्लैण्ड का एक उदारवादी चिन्तक होने के नाते ग्रीन के राजनीतिक विचारों को उपर्युक्त सभी चिन्तकों तथा विचारधाराओं ने प्रभावित किया। परन्तु ग्रीन जर्मनी के क्रान्तिकारी विचारों का समर्थक सिद्ध नहीं हो पाया। उसने प्लेटो तथा अरस्तू एव मध्य युग के विचारों का भी अध्ययन किया था। ब्रिटिश राजनीतिक परम्परा का विचारक होने के कारण ग्रीन ने उपर्युक्त सभी विचारधाराओं में से ऐसे विचारों का परित्याग किया जो क्रान्ति, सर्वाधिकारवाद निरंकुशतावाद आदि के समर्थक थे। परन्तु उदार

नैतिकतावाद तथा लोकतन्त्र के समर्थकों से वह प्रेरित हुआ। अतएव ग्रीन के विचार मुख्य रूप से रूसो, कांट, बेंथम तथा मिल के विचारों से अधिक प्रेरित हुए। साथ ही उस पर प्लेटो तथा अरस्तू की नैतिकतावादी विचारधाराओ का भी प्रभाव है। उसने इन सभी विचारधाराओं के ब्रिटिश परम्परा तथा व्यवहार के अनुकूल ढालने का सफल प्रयास किया है।

ग्रीन के राजनीतिक दर्शन के स्रोत

किसी भी राजनीतिक चिन्तन के विचारों को प्रभावित करने वाली सबसे प्रमुख बातें उनके युग की राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियाँ तो होती ही हैं, साथ ही उसकी शिक्षा-दीक्षा तथा मनोवृत्ति भी उसके विचारों को प्रभावित करती हैं। यह बातें ग्रीन के विचारों के सम्बन्ध में भी सत्य हैं। ग्रीन के राजनीतिक चिन्तन पर निम्नांकित प्रभाव मुख्यतया विद्यमान हैं :

(1) **प्राचीन ग्रीक प्रभाव**—ग्रीन के जीवन का अधिकांश काल आक्सफोर्ड में अध्ययन-अध्यापन में व्यतीत हुआ था उस युग में आक्सफोर्ड में प्लेटो तथा अरस्तू की रचनाओं का अध्ययन विशेष रूप से कराया जाता था। उक्त दोनों दार्शनिकों के प्रत्ययवादी राजनीतिक दर्शन ने इंग्लैण्ड के प्रत्ययवादी चिन्तन को बहुत प्रभावित किया है। उन्नीसवीं शताब्दी में इग्लैण्ड के प्रत्ययवादी राजनीतिक चिन्तन की परम्परा में ग्रीन सबसे पहला तथा सबसे महत्त्वपूर्ण चिन्तक हुआ है। प्लेटो के 'रिपब्लिक' तथा अरस्तू के 'इथिक्स' नामक ग्रन्थ उसके चिन्तन के प्रमुख स्रोत थे। ग्रीन ने 'रिपब्लिक' में वर्णित साम्यवाद तथा अरस्तू के द्वारा वर्णित दास-प्रथा के समर्थन का विरोध किया था। परन्तु उसने प्लेटो तथा अरस्तू के इन सिद्धान्तों को स्वीकार किया है कि राज्य व्यक्ति के 'सद्‌गुण-युक्त जीवन का भागीदार है', 'राज्य एक नैतिक तथा नैसर्गिक संस्था है', और 'व्यक्ति को उत्तम तथा सद्‌गुण-युक्त जीवन की प्राप्ति राज्य का सदस्य बनकर ही हो सकती है।' ग्रीन के विचारों पर अरस्तू की यथार्थ-वादिता का प्रभाव अधिक है न कि प्लेटो की कल्पनावादिता का।

(2) **रूसो का प्रभाव**—ग्रीन के ऊपर दूसरा महान् प्रभाव रूसो का है। यद्यपि उसके विचारों में रूसो की क्रान्तिकारिता तथा कल्पनावादिता की झलक बहुत कम है, तथापि रूसो की भाँति वह व्यक्ति की नैतिक स्वतन्त्रता पर महत्त्व देता है। रूसो की भाँति ग्रीन भी सामान्य इच्छा को राज्य की प्रभुत्व शक्ति मानता है। उसने सामान्य इच्छा को सामूहिक हित की सामूहिक चेतना (common consciousness of common end) कहा है। इसका उद्देश्य सार्वजनिक हित होता है, न कि विशेष हित। इसे ग्रीन ने सार्वजनिक सदिच्छा (common goodwill) भी कहा है। रूसो की भाँति ग्रीन भी यह मानता है कि सामान्य इच्छा राज्य की एक ऐसी नैतिक चेतना है जिसकी आज्ञा का पालन करके ही व्यक्ति नैतिक स्वतन्त्रता की उपलब्धि कर सकता है।

(3) **जर्मन प्रत्ययवादियों का प्रभाव**—ग्रीन के पूर्ववर्ती जर्मन प्रत्ययवादी कांट तथा हीगल के विचारों का प्रत्यक्ष प्रभाव ग्रीन के ऊपर सर्वाधिक है। यद्यपि ग्रीन के दार्शनिक प्रत्ययवाद का स्रोत हीगल की विचारधारा है तथापि उसका नैतिकतावादी दर्शन कांट के विचारों से प्रभावित हुआ है। ग्रीन की व्यक्ति की 'स्वतन्त्र नैतिक इच्छा' की धारणा तथा राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में निषेधात्मक धारणा अर्थात्

राज्य को व्यक्ति के उत्तम जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं का बाधक बनने का कार्य देना, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का समर्थन, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का पक्ष लेना आदि धारणाओं पर कांट के विचारों का प्रभाव है। एक ब्रिटिश उदारवादी चिन्तक होने के नाते वह जर्मन प्रत्ययवादी विचारकों, कांट तथा हीगल दोनों से कई बातों में भिन्नता रखता है।

(4) **नॉन-कनफॉर्मिस्ट आन्दोलन का प्रभाव**—ग्रीन के ऊपर एक अन्य प्रभाव तत्कालीन इग्लैण्ड में प्रचलित नॉन-कनफॉर्मिस्ट (Non-conformist) आन्दोलन का भी था। इस आन्दोलन के समर्थक व्यक्ति के निजी जीवन में राज्य के अत्यधिक हस्तक्षेप को अनुचित कहते थे। परन्तु वैयक्तिक नैतिकता को ये बहुत महत्त्व देते थे। व्यक्ति के नैतिक जीवन को विकृत करने वाली बुराइयों को समाप्त करन के निमित्त ये सरकार से सक्रिय कदम उठाने की माँग करते थे, यथा शराब पीना, जुआ खेलना, ताश खेलना, नृत्य आदि। राज्य के कार्य-क्षेत्र को निर्दिष्ट करने में ग्रीन ने इन लोगों से बहुत कुछ ग्रहण किया। ग्रीन यह मानता है कि राज्य स्वयं नैतिकता का प्रतिपादन नही कर सकता। परन्तु उसे ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करना चाहिए जिनके द्वारा अनैतिकता को अवरुद्ध किया जा सके। ग्रीन के सम्पत्ति-सम्बन्धी विचारों मे भी उक्त आन्दोलन का प्रभाव था।

(5) **तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव**—उक्त बातों के अतिरिक्त ग्रीन के राजनीतिक विचारों में इग्लैण्ड की तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों और देश की परम्परागत उदारवादी प्रवृत्तियों के प्रभाव को भी अमान्य नहीं किया जा सकता। हीगल के विचारों पर आधारित प्रत्ययवादी चिन्तन करते हुए भी उसने राज्य की सर्वोपरिता के विचारों का समर्थन करके व्यक्तिवादी प्रवृत्ति अपनायी। उपयोगितावादी सुधारवाद का प्रभाव भी उस पर बना रहा। यहाँ तक कि वह समाजवादी चिन्तन की तत्कालीन ब्रिटिश परम्परा को भी पूर्णतया नहीं त्याग देता। इस दृष्टि से उसके विचारों मे व्यक्तिवाद, प्रत्ययवाद तथा समाजवाद का समन्वय बना रहा।

ग्रीन के विचारों में हीगलवाद

वेपर का मत है कि 'ग्रीन पूर्णरूपेण हीगल की भाँति दैवात्मा तथा दैवी विवेक के अस्तित्व पर विश्वास रखता है।'[1] हीगल की भाँति ग्रीन भी यह मानता है कि शाश्वत दैवी चेतना (eternal divine spirit or reason) निरन्तर अपने चरम लक्ष्य, 'पूर्ण-प्राप्ति' की दिशा में बढ़ती रहती है। अतः विश्वात्मा की अपनी इस लक्ष्य की प्राप्ति ही वास्तविकता है। वास्तविकता आदर्श में है न कि यथार्थ में, क्योंकि यथार्थ जब अपने पूर्णत्व को प्राप्त कर लेता है तभी वास्तविक एवं आदर्श है। संसार की समस्त संस्थाएँ, संवास, समाज आदि विश्वात्मा की समाविष्टि हैं। इस प्रकार ऐतिहासिक विकास-क्रम में पूर्व की अपेक्षा बाद में निर्मित होने वाली संस्था अधिक पूर्ण होती है। अर्थात् परिवार की अपेक्षा समुदाय तथा समुदाय की अपेक्षा राज्य अधिक वास्तविक है। वेपर का कथन है कि 'हीगल की भाँति ग्रीन भी यह स्वीकार करता है कि राज्य विश्वात्मा का सबसे पूर्ण तथा अन्तिम रूप है, क्योंकि वह व्यक्ति को विश्वात्मा के उस तत्त्व की अभिवृद्धि में सहायता प्रदान करता

[1] Wayper, *op. cit.*, 175.

है जो व्यक्ति में पहले से ही विद्यमान थीं।'[1] इस तर्क के आधार पर ग्रीन यह दर्शाता है कि राज्य के अभाव में व्यक्ति वास्तव में मानव नहीं बन सकता। राज्य में ही वह पूर्ण आत्माभिव्यक्ति कर सकता है और राज्य में रहकर ही उसकी प्रकृति अपनी पूर्ण विकास को प्राप्त कर सकती है।

हीगल की भांति ग्रीन भी राज्य को समुदायों का समुदाय (community of communities) अर्थात् सर्वोच्च समुदाय मानता है। उसका मत है कि राज्य का सदस्य रहकर ही व्यक्ति समुदायों की सदस्यता ग्रहण करता हुआ अपने अधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं की उपलब्धि कर सकता है। राज्य के विरुद्ध उसके कोई अधिकार नहीं हो सकते। अन्य समुदायों की तुलना में राज्य इसलिए सर्वोच्च है क्योंकि वही सामान्य इच्छा की पूर्ण अभिव्यक्ति है। स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में भी ग्रीन के विचार हीगल के विचारों से प्रभावित हैं। ग्रीन भी स्वतन्त्रता के विध्यात्मक स्वरूप को उचित मानता है। प्रतिबन्धों का अभाव स्वतन्त्रता नहीं है; वास्तविक स्वतन्त्रता इस बात में निहित है कि व्यक्ति अपने को विश्वात्मा से समीकृत करे। व्यक्ति तभी स्वतन्त्र है, जबकि वह अपने 'सही स्व' के आदेशों का अनुगमन करता है। सही उत्तमता सामाजिक उत्तमता में निहित है। अत: इसकी उपलब्धि तभी हो सकती है जबकि समाज के अन्य लोगों की भलाई का भी ध्यान रखा जाये। यह विश्वात्मा का नियम है। अतएव वास्तविक स्वतन्त्रता व्यक्ति द्वारा अपने को विश्वात्मा से समीकृत करने में ही प्राप्त हो सकती है। ग्रीन के शब्दों में, 'स्वतन्त्रता उन कार्यों को करने की विध्यात्मक शक्ति है जो करने योग्य हैं और उन वस्तुओं का उपयोग करने की शक्ति है जो उपभोग करने योग्य हैं।'[2] 'करने योग्य' तथा 'उपभोग करने योग्य' कार्य या वस्तुएँ वे हैं जिनका अन्यों के साथ सम्बन्ध होता है।

यद्यपि राज्य के सावयव स्वरूप को मानने, राज्य को विश्वात्मा का रूप प्रदान करने, स्वतन्त्रता के विध्यात्मक स्वरूप, आदि के सम्बन्ध में ग्रीन के ऊपर हीगल का पर्याप्त प्रभाव था, तथापि ग्रीन न तो राज्य की उत्पत्ति को द्वन्द्ववाद के आधार पर हुई मानता है और न वह हीगल की भाँति राष्ट्र-राज्य पूजक है। वह अरस्तू की भाँति राज्य को एक प्राकृतिक संवास मानता है।

राज्य सम्बन्धी विचार

ग्रीन के मत से राज्य की धारणा में एक शाश्वत आत्मचेतना विद्यमान है, जो मानव-चेतना को सामाजिक भलाई की प्रेरणा देती है और इसी की पूर्णता की प्राप्ति मानव-चेतना का चरम लक्ष्य है। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ग्रीन के विचारों को बार्कर ने इस प्रकार व्यक्त किया है: 'मानव-चेतना स्वतन्त्रता की चाह करती है, स्वतन्त्रता में अधिकार निहित रहते हैं और अधिकार राज्य की माँग करते हैं।'[3] इस प्रकार राज्य के स्वरूप तथा उसकी आवश्यकता के सम्बन्ध में ग्रीन मानव की स्वतन्त्रता तथा अधिकारों को प्रमुखता देता है।

[1] *Ibid.*, 176.

[2] 'Freedom is a positive power or capacity of doing or enjoying something worth doing or enjoying, and that too, something we do or enjoy in common with others.' —Green.

[3] 'Human consciousness postulates liberty, liberty involves rights, and the rights demand the state.' —Barker, *op. cit*, 23.

स्वतन्त्रता—ग्रीन की स्वतन्त्रता-सम्बन्धी धारणा उन व्यक्तिवादी धारणाओं की विरोधी है जिनके अन्तर्गत प्रतिबन्धों का अभाव ही स्वतन्त्रता माना जाता था। अर्थात् ग्रीन की धारणा में स्वतत्रन्ता का रूप नकारात्मक नहीं, प्रत्युत् विधेयात्मक है। ग्रीन इस अर्थ मे व्यक्तिवादी है कि वह कांट की उस 'स्वतन्त्र नैतिक इच्छा' की धारणा को कभी नहीं भूलता, जिसके आधार पर मानव सदैव अपने आपको साध्य मानता है। ग्रीन के विचार से सदिच्छा (goodwill) सबसे मूल्यवान् वस्तु है। सदिच्छा से ग्रीन का अभिप्राय व्यक्ति की उस वास्तविक इच्छा या चेतना से है जो सदैव सामान्य हित की कामना करती है। व्यक्ति की ऐसी इच्छा के सक्रिय रहने के लिए उसे स्वतन्त्रता चाहिए। अतएव राज्य को दमनकारी हस्तक्षेप के द्वारा या एक पितृवत् सरकार (paternal government) के रूप में भी व्यक्ति के आत्म-निर्णय के कार्यों पर प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिए। बार्कर का कथन है कि ग्रीन की धारणा में 'स्वतन्त्रता प्रतिबन्धों का निषेधात्मक अभाव उसी प्रकार नहीं है जिस प्रकार कि सौन्दर्य केवलमात्र भद्देपन का अभाव नहीं है।'[1] व्यक्ति वास्तव में स्वतन्त्र तभी है जबकि वह अपनी सदिच्छा के आदेशों के अनुसार कार्य करता है और सदिच्छा या वास्तविक भलाई सामाजिक भलाई से घनिष्टतया सम्बद्ध है क्योंकि व्यक्ति का हित तभी सम्भव है जबकि वह अन्यों के हित का भी ध्यान रखता है।

इस प्रकार ग्रीन की दृष्टि मे स्वतन्त्रता 'उन कार्यों को करने तथा उन वस्तुओं का उपभोग करने की विध्यात्मक शक्ति है जो करने योग्य या उपभोग करने योग्य हैं, अर्थात् ऐसे कार्यों का करना या उपभोग हम अन्यों के साथ सामूहिक रूप से करें।'[2] इस प्रकार ग्रीन जहाँ व्यक्ति की स्वतन्त्र नैतिक इच्छा या सदिच्छा के अनुसार कार्य करने की शक्ति को पूर्णतया बाह्य बन्धनों से मुक्त रखना वास्तविक स्वतन्त्रता मानता है, वहाँ वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता को पूर्णतया सामाजिक हित से सम्बद्ध करके उसे प्रतिबन्धित भी करता है। ग्रीन की स्वतन्त्रता-सम्बन्धी यह धारणा हीगल की धारणा से मिलती-जुलती है। वेपर के मत से, 'स्वतन्त्रता व्यक्ति के द्वारा अपने को दैवात्मा से समीकृत कर देने के तुल्य है। चूंकि ग्रीन इस बात से सहमत है कि दैवात्मा अपने सर्वोच्च रूप को राज्य में ही प्राप्त करती है, अतः ग्रीन का दृष्टिकोण हीगल की इस धारणा से मिलता-जुलता है कि वास्तविक स्वतन्त्रता राज्य मे ही प्राप्त हो सकती है।'[3] बार्कर के मत से ग्रीन की स्वतन्त्रता-सम्बन्धी धारणा उसमें दो गुणों का निरूपण करती है: प्रथम, स्वतन्त्रता विध्यात्मक (positive) है, अर्थात् स्वतन्त्रता का अभिप्राय व्यक्ति को कुछ करने की स्वतन्त्रता प्रदान करना है, न कि व्यक्ति के लिए कुछ किया जाना है। दूसरे, स्वतन्त्रता का रूप निश्चयात्मक (determinate) है, अर्थात् यह ऐसे कार्यों को करने की स्वतन्त्रता है जिनका रूप निश्चित है। इसका अर्थ है, ऐसे कार्यों को करना जो करने योग्य हैं, न कि हर एक या हर प्रकार के कार्यों को करने की स्वतन्त्रता। इस प्रकार ग्रीन ने व्यक्ति की आत्म-चेतना का मानवीय रूप चित्रित करके सामाजिक हित को सर्वोपरिता दी है।

[1] 'Liberty is therefore no negative absence of restraint any more than beauty is the absence of ugliness.' —*Ibid.*, 24.

[2] See footnote 2 on p. 608. According to Wayper this view more simply suggests that freedom is the liberation of all the powers of men for the social good.

[3] Wayper, *op. cit.*, 177.

उसके मत से मानव-चेतना शाश्वत आत्म-चेतना की पूर्णता को प्राप्त करने का लक्ष्य रखती है। जो समाज उच्च प्रकृति के हैं, उनमें यह उपलब्धि आंशिक रूप से हो चुकी है।

अधिकार—बार्कर की प्रस्थापना कि 'मानव-चेतना स्वतन्त्रता की माँग करती है, स्वतन्त्रता में अधिकार निहित रहते है', ग्रीन की इस धारणा पर आधारित है कि वह स्वतन्त्रता का समाजीकरण करता है, अर्थात् ग्रीन की धारणा में स्वतन्त्रता व्यक्तिगत नहीं, अपितु सामाजिक हित का उद्देश्य रखती है। मानव का 'स्व' केवल अपने ही हित की कामना नहीं करता, बल्कि अन्यों के हित की भी कामना करता है, अर्थात् व्यक्ति का 'स्व' भलाई की कामना दूसरो के साथ सम्बन्धों के सन्दर्भ में करता है, अर्थात् व्यक्ति का भला समाज की भलाई पर निर्भर है। इन सम्बन्धों के निमित्त अधिकारों की पद्धति आवश्यक है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता में निहित सामाजिक भलाई के उद्देश्यों के सम्पादन के लिए समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह जैसी स्वतन्त्रता अपने लिए चाहता है, अन्य व्यक्तियों की भी वैसी ही स्वतन्त्रता को मान्य करे। चूँकि समाज का निर्माण करने वाले प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति एक-सी है, अत: प्रत्येक व्यक्ति द्वारा वांछित स्वतन्त्रता को सम्पूर्ण समाज की मान्यता प्राप्त रहनी चाहिए। ग्रीन के विचारों में इसी धारणा को अधिकार कहा गया है। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार रखा जा सकता है—'अधिकार समाज के सामान्य हित में व्यक्तियों द्वारा विविध कार्यों को किये जाने की वे माँगें हैं जिन्हें समाज की स्वीकृति प्राप्त रहती है।' इस प्रकार ग्रीन की अधिकार-सम्बन्धी धारणा में अधिकार के तीन प्रमुख तत्त्व हैं : (1) अधिकार व्यक्ति की स्वतन्त्रतापूर्वक कुछ कार्यों को कर सकने की माँगें हैं; (2) ऐसे कार्यों का उद्देश्य केवल व्यक्ति का हित नही अपितु सम्पूर्ण समाज का हित होता है; (3) व्यक्ति की ऐसी माँग को समाज की स्वीकृति मिलनी आवश्यक है। इस दृष्टि से अधिकारों का अस्तित्व न तो शून्य में है, और न समाज से पृथक् एकाकी जीवन में, प्रत्युत् अधिकार सामाजिक जीवन की एक आवश्यकता है और उसे समाज द्वारा मान्यता प्राप्त होनी चाहिए। अत: अधिकार के पीछे समानता की धारणा विद्यमान रहती है, क्योंकि व्यक्तियों की ऐसी माँगें प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान सुविधा की अपेक्षा करती हैं।

अधिकार-सम्बन्धी ग्रीन की यह धारणा बेंथम की धारणा से भिन्न प्रकार की है। बेंथम अधिकारों को कानून की उपज तथा उन्हें कानूनी अनुशास्ति प्राप्त होना मानता है। इस धारणा के अन्तर्गत राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के अधिकारों से पूर्व होगा। अतएव इस धारणा में प्राकृतिक अधिकार तथा उनके नैतिक या मानवीय स्वरूप का बोध नहीं होता। इसके विपरीत ग्रीन की धारणा में अधिकारों का स्वरूप प्राकृतिक है, जो मानव-चेतना पर आधारित है। परन्तु ग्रीन प्राकृतिक अधिकारों को लॉक की भाँति नहीं लेता। लॉक आदि विचारकों ने उन प्राकृतिक अधिकारों की कल्पना की थी जो राजनीतिक समाज के निर्माण से पूर्व प्राकृतिक स्थिति में विद्यमान माने गये थे। ग्रीन की धारणा में प्राकृतिक या नैतिक अधिकार मानव की उस मूलभूत नैतिक प्रकृति में अन्तर्निहित हैं, जिसके अनुसार वह एक सामाजिक प्राणी के रूप में किसी न किसी रूप के सामाजिक जीवन में संगठित होकर रहता है, अर्थात् सामाजिक अथवा राजनीतिक जीवन से पूर्व अधिकारों का अस्तित्व नहीं हो सकता।

ग्रीन ने प्राकृतिक, नैतिक अथवा आदर्श अधिकारों का भी जिक्र किया है। परन्तु वह इनकी प्रकृति भी अन्य अधिकारों की भाँति ही चित्रित करता है। वह

कानूनी अधिकारों की धारणा को भी अमान्य नहीं करता। उसका मत था कि नैतिक अधिकार नैतिकता से सम्बन्ध रखते हैं, न कि कानून से। उनकी मान्यता राज्य की विधायी सत्ता द्वारा नहीं, बल्कि समाज की सामूहिक नैतिक चेतना द्वारा दी जाती है। चूँकि ऐसे अधिकारों का नैतिक उद्देश्य होता है, अतः वे नैतिकता से सम्बन्धित रहते हैं। नैतिक चेतना द्वारा उनकी स्वीकृति का अभिप्राय यह है कि मानव की नैतिक चेतना अपनी सन्तुष्टि के लिए उन्हें आवश्यक शर्तें मानती है। कानूनी अधिकारों का अभिप्राय यह है कि उनकी सृष्टि किसी निश्चित समय में किसी निश्चित राजनीतिक सत्ता द्वारा निर्मित कानून से की जाती है। उनके पीछे उसी कानून की शक्ति होती है। ऐसे कानूनों की अनुशास्ति बाह्य प्रकृति की होती है, न कि मानव की आत्म-चेतना द्वारा। उन्हें बाहरी शक्ति ही लागू भी करती है। इस प्रकार ऐसे कानूनों पर आधारित अधिकार नैतिकता को लागू नहीं कर सकते।

राज्य—अधिकार चाहे नैतिक हों या कानूनी, वे अधिकार तभी कहे जा सकते हैं जबकि उन्हें लागू किया जाय। इन्हें लागू करने के लिए एक सम्प्रभुसत्ता का होना आवश्यक है। समाज का निर्माण करने वाले विविध व्यक्ति सामूहिक हित की तथा सामूहिक रूप से एक-दूसरे के हितों की चेतना रखते हैं। मानवों की सदिच्छा अधिकारों को स्वीकृति प्रदान करती है, परन्तु यह भी सम्भव है कि व्यक्ति की यथार्थ इच्छा उन्हें अमान्य कर दे। इसलिए व्यक्ति की यथार्थ इच्छा, जो स्वार्थमयी होती है वह सदिच्छा द्वारा निदेशित तथा मान्य सामूहिक हित की सामूहिक चेतना के प्रतिकूल सिद्ध हो। उसका दमन करते हुए नैतिक अधिकारों को लागू करने के लिए भी सम्प्रभुसत्ता की आवश्यकता है। समाज में ऐसी प्रभुत्व शक्ति का प्रयोग राज्य ही कर सकता है। इस दृष्टि से राज्य समाज की वह सत्ता है जो व्यक्तियों की नैतिक स्वतन्त्रता को बनाये रखने के लिए आवश्यक है। इसी सत्ता को सम्प्रभुता भी कहा गया है।

राज्य का आधार इच्छा है न कि शक्ति (Will, not force, is the basis of state)—यद्यपि ग्रीन यह मानता है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए समाज की प्रभुत्व शक्ति (राज्य) बल-प्रयोग का अवलम्बन भी करती है, तथापि वह शक्ति या बल-प्रयोग को राज्य का आधार स्वीकार नहीं करता। उसका मत है कि समाज की सामान्य चेतना व्यक्ति के अधिकारों का सृजन करती है, अतः वही चेतना अधिकारों की रक्षा के लिए सम्प्रभुसत्ता की सृष्टि भी करती है। समाज का निर्माण सामूहिक हित की सामूहिक चेतना द्वारा होता है। इस चेतना को सामान्य इच्छा कहा जाय तो यही इच्छा समाज में सम्प्रभु कही जायेगी। ग्रीन सम्प्रभुता सम्बन्धी जॉन ऑस्टिन की धारणा को अमान्य नहीं करता। उसके मत से राज्य में 'एक निश्चित मानव श्रेष्ठ हो सकता है जिसके आदेशों का पालन जनता स्वभावतः करे।' परन्तु ऐसे राजनीतिक सम्प्रभु के पीछे उसकी इच्छा का निर्धारण करने तथा उसके कार्यों को प्रेरणा देने वाली सम्प्रभु शक्ति सामान्य इच्छा या समाज की सामूहिक चेतना होती है। कानूनी सम्प्रभु इस सामान्य इच्छा का अभिकर्ता होता है। उसका कार्य सामान्य इच्छा का ज्ञान करना तथा उसे कार्यान्वित करना होता है। व्यक्तियों के अधिकार, कानून तथा सम्प्रभु सभी का सृजन इसी सामान्य इच्छा के द्वारा होता है।

रूसो की भाँति ग्रीन भी व्यक्ति की यथार्थ इच्छा तथा सामान्य इच्छा के मध्य भेद करता है। वह सामान्य इच्छा को सार्वजनिक सदिच्छा के अर्थ में लेता है।

सामूहिक या सार्वजनिक हित की कामना करने वाली इच्छा व्यक्तियों की सदिच्छा है। चूँकि ऐसी सार्वजनिक सदिच्छा समाज का निर्माण करने वाले व्यक्तियों की अच्छी इच्छाओं का ही योग है, अत: ग्रीन के समक्ष यह समस्या थी कि क्या सार्वजनिक सदिच्छा, जो राज्य में सम्प्रभु होती है और जो सार्वजनिक हित का ध्यान रखती है, प्रत्येक व्यक्ति की इच्छाओं का योग है ? ग्रीन यह तो मानता है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति की यथार्थ इच्छा सदिच्छा नहीं हो सकती, परन्तु उसका तर्क है कि चेतन या अचेतन किसी न किसी रूप में सभी व्यक्तियों में सामान्य हित की धारणा विद्यमान रहती है। प्रत्येक व्यक्ति जो कुछ अपने लिए चाहता है, वही सब समाज के अन्य व्यक्ति भी अपने लिए चाहते हैं, ऐसी धारणा प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में विद्यमान रहती है। साथ ही प्रत्येक व्यक्ति यह भी मानता है कि राज्य के कानून सामान्य हित का ध्यान रखते हैं। व्यक्तियों की ऐसी चेतना या इच्छाओं का योग ही सामान्य इच्छा है।

यद्यपि राज्य में कानूनी सम्प्रभु के प्रति व्यक्ति स्वाभाविक आज्ञाकारिता रखते हैं, तथापि वे भय के कारण ऐसा नहीं करते। वे राज्य के आदेशों का पालन इसलिए नहीं करते कि आज्ञा का उल्लंघन करने पर राज्य की सम्प्रभुसत्ता उन्हें दण्ड देगी। प्रत्युत् वे इसलिए आज्ञा-पालन के अभ्यासी हैं कि वे जानते हैं कि कानून सामान्य इच्छा (सार्वजनिक हित) का प्रतिनिधित्व करते हैं। ग्रीन ने कहा है कि 'इस संसार में एक और महत्तर चीज है, यद्यपि यह राजा या संसद की अपेक्षा पर्दे में छिपी है। यह सामान्य इच्छा है जो राज्य की वास्तविक सम्प्रभु है।'[1] यह सामान्य इच्छा समाज का निर्माण करने वाले व्यक्तियों में सामान्य हितों को धारण करने की भावना तथा सामान्य जनता के मध्य सामान्य हित की कामना है। वेपर के मत से ग्रीन की धारणा में 'सामान्य इच्छा राज्य की इच्छा नहीं है, अपितु राज्य के लिए इच्छा है' है। इसका अभिप्राय यह है कि ग्रीन की धारणा में व्यक्तियों की इन इच्छाओं का योग जो जनसाधारण के सामान्य हित का ध्यान रखती है, सामान्य इच्छा कहलाती है। यह इच्छा राज्य में सम्प्रभु सत्ता धारण करने वाले व्यक्ति या व्यक्ति-समूह की इच्छा नहीं हैं, प्रत्युत् ऐसी इच्छा है, जो सम्प्रभु द्वारा व्यक्त की जाती हैं, परन्तु उसका आधार सामूहिक हित है। यही इच्छा राज्य का वास्तविक आधार है।

यद्यपि हीगल की भाँति ग्रीन भी ऐसा मानता है कि राज्य दैवात्मा की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है, तथापि वह इस तथ्य की भी उपेक्षा नहीं करता कि कुछ राज्यों का आधार शक्ति होता है, न कि इच्छा। इस दृष्टि से ऐसे यथार्थ राज्यों के बारे में उसका कहना है कि वे अपने आदर्श कृत्यों को आंशिक रूप में ही सम्पन्न करते हैं। यह धारणा यथार्थ तथा आदर्श राज्यों के मध्य भेद करती है। इस दृष्टि से ग्रीन रूसो के सन्निकट तथा हीगल से दूर है। ग्रीन की यह धारणा व्यक्तिवादी प्रवृत्ति दर्शाती है, जो व्यक्ति को दैवात्मा का पूर्ण रूप मानती है न कि राज्य को। अत: राज्य साध्य नहीं है बल्कि वह व्यक्ति के नैतिक उत्थान का साधन है। चूँकि ग्रीन राज्य का आधार शक्ति को नहीं बल्कि इच्छा को मानता है, अत: स्वतन्त्रता की

[1] 'There is on earth a yet auguster thing, veiled though it be than Parliament or King. It is the General will, the true Sovereign of the Community.'—Quoted in Wayper, *op. cit.*, 181.

धारणा के सम्बन्ध में वह हीगल से मतभेद रखता है। वेपर का निष्कर्ष है कि 'हीगल के लिए स्वतन्त्रता का अभिप्राय व्यक्ति द्वारा अपने को राज्य के कानूनों के साथ स्वेच्छा से समीकृत कर देना है। ग्रीन के लिए स्वतन्त्रता का अर्थ व्यक्ति का वह अधिकार है जिसके अन्तर्गत वह अपने 'स्व' का अधिकाधिक उपयोग करता है।'[1]

राज्य के कार्य—यद्यपि राज्य के स्वरूप के सम्बन्ध में ग्रीन के विचार रूसो तथा हीगल के विचारों से प्रभावित हुए हैं और वह भी राज्य को सामान्य इच्छा पर आधारित सर्वोच्च एवं नैतिक संस्था के रूप में मानता है, तथापि राज्य के कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध में ग्रीन हीगल के निरंकुशतावादी सिद्धान्त का अनुगमन न करके कांट की व्यक्तिवादी धारणा का समर्थक है। ग्रीन राज्य को एक नैसर्गिक संस्था मानता है और उसे व्यक्ति के नैतिक अधिकारों तथा उत्तम जीवन की उपलब्धि कराने के लिए आवश्यक भी मानता है। इन उद्देश्यों की पूर्ति के निमित्त उसकी दृष्टि से राज्य बल-प्रयोग तक कर सकता है। चूँकि राज्य सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है, जो सदैव सामान्य हित का उद्देश्य रखती है, अतः सामान्य हितों की रक्षा के लिए राज्य को बल-प्रयोग करके भी उनका संरक्षण करना पड़ेगा। परन्तु ग्रीन हीगल की इस धारणा से कि 'राज्य साध्य है' सहमत नहीं है। उसके अनुसार राज्य वह साधन है, जिसका साध्य राज्य का निर्माण करने वाले व्यक्तियों का पूर्ण नैतिक विकास है। ग्रीन के मत से, 'राष्ट्र के जीवन का वास्तविक अस्तित्व उसका निर्माण करने वाले व्यक्तियों के जीवन के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।'

राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में ग्रीन निषेधात्मक दृष्टिकोण अपनाता है। उसके मत से राज्य अपने विध्यात्मक कार्यों के द्वारा व्यक्ति को नैतिक नहीं बना सकता, क्योंकि नैतिकता व्यक्ति की अन्तरात्मा का विषय है और यह 'स्वार्थहीन ढंग से स्वयं अपने ऊपर आरोपित कर्त्तव्यों का सम्पादन (the disinterested performance of self-imposed duties) है।' राज्य का प्रमुख कार्य व्यक्ति के उत्तम या नैतिक जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं का बाधक बनना है।[2] 'बाधाओं का बाधक बनना' पदावली को ग्रीन ने कांट से ग्रहण किया है। कांट की भाँति ग्रीन के विचारों का केन्द्र भी व्यक्ति का स्वतन्त्र नैतिक उत्थान है। भले ही राज्य का प्रमुख कार्य व्यक्ति के उत्तम जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं का निराकरण करना राज्य के कार्य-क्षेत्र का निषेधात्मक रूप माना जाय, तथापि राज्य का ऐसा कार्य विध्यात्मक भी है।[3] उदाहरण के लिए, अशिक्षा, दरिद्रता, दासत्व, नशापान आदि बातें व्यक्ति के उत्तम तथा नैतिक जीवन के मार्ग की बाधाएँ हैं। इनके रहते हुए व्यक्ति की नैतिक स्वतन्त्रता या व्यक्तित्व विकास की कल्पना करना निरर्थक है। अतः राज्य को व्यक्ति के बौद्धिक विकास के लिए शिक्षालय खोलने चाहिए, दरिद्रता दूर करने के लिए ऐसा व्यवस्थापन करना चाहिए जिसके द्वारा श्रमजीवी व्यक्ति पर्याप्त रोजगार तथा जीवन-यापन के निमित्त उपयुक्त पारिश्रमिक प्राप्त कर सके, शराबबन्दी के लिए भी राज्य को व्यवस्था करनी चाहिए। ग्रीन ने कहा है कि 'एक एथेंस के दास

[1] 'For Hegel, freedom is the voluntary identification of self with the laws of the state. For Green, freedom is the right of a man to make the best of himself.'—Wayper, *op. cit.*, 181.

[2] The main function of the State is to hinder the hindrances against good life.

[3] Barker, *op. cit.*, 37.

के लिए जो कि अपने मालिक के सुख-ऐश्वर्य के निमित्त काम में लाया जाता था, राज्य को स्वतन्त्रता की उपलब्धि मानना मूर्खता की बात थी।' संक्षेप में, यदि राज्य व्यक्ति के बौद्धिक, शारीरिक तथा मानसिक विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं के निवारण के लिए शिक्षालयों, विधि-निर्माण, शराबबन्दी आदि की व्यवस्था करता है तो ये कार्य विध्यात्मक ही कहे जायेंगे न कि बाधाओं का बाधक बनने के कारण निषेधात्मक। ग्रीन की धारणा थी कि 'सरकार का एक मुख्य कार्य यह है कि वह दो पक्षों द्वारा की गयी संविदा को संरक्षण प्रदान करे। परन्तु सरकार का यह दायित्व भी किसी भाँति कम नहीं है कि वह ऐसी संविदाओं के विरुद्ध प्राविधान करे जिनके अन्तर्गत एक पक्ष कुछ मजबूरियों में फंसकर संविदा की सुरक्षा को स्वतन्त्रता के नाम पर शोषण का उपकरण बन जाय।'[1]

स्पष्ट है कि ग्रीन राज्य के निषेधात्मक कार्य-क्षेत्र को जो इतना महत्त्व देता है उसके पीछे ग्रीन की यह धारणा है कि जीवन में सबसे महत्त्वपूर्ण चीज मानव की नैतिक प्रकृति का विकास है जिसके बिना व्यक्ति मानव नहीं रह जाता। ग्रीन राज्य के कार्य-क्षेत्र के विकास के विरुद्ध नहीं है। उसका मुख्य उद्देश्य यह है कि राज्य उन सब कार्यों को करे जो व्यक्ति के नैतिक व्यक्तित्व का विकास करने में सहायक हों, परन्तु वह ऐसा कोई भी कार्य न करे जो ऐसे विकास के मार्ग में बाधक सिद्ध हो। ग्रीन एक पितृतुल्य सरकार (paternal government) का विरोध इसलिए नहीं करता है कि वह यद्भाव्यम् (laissez faire) के सिद्धान्त का अतिक्रमण करती है, प्रत्युत् इसलिए कि ऐसी सरकार नैतिकता की धारणा पर आधारित नहीं है।[2] स्पष्टत: ग्रीन ऐसा व्यक्तिवादी नहीं था, जो कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता के निमित्त राज्य के कार्य-क्षेत्र को अत्यधिक मर्यादित करके यद्भाव्यम् की नीति को समर्थन प्रदान करता हो। उसके मत से एक पितृतुल्य सरकार इसलिए नैतिकता का उल्लंघन करती है कि वह अपने विविध कार्य-कलापों के द्वारा व्यक्ति को 'स्वार्थहीन ढंग से स्वयं अपने ऊपर लगाये गये कर्त्तव्यों का पालन करने' का अवसर नहीं देती। ग्रीन इसी को नैतिकता मानता है। इसलिए सरकार का कार्य केवल ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करना होना चाहिए जो व्यक्ति को नि:स्वार्थ भाव से स्वयं अपने ऊपर कर्त्तव्यों को आरोपित करने का अवसर प्रदान करें।

राज्य के कार्य-क्षेत्र के बारे में ग्रीन की उपर्युक्त धारणाएँ इस तथ्य की द्योतक हैं कि वह राज्य को साध्य नहीं अपितु साधन मानने के साथ-साथ उसके कार्य-क्षेत्र को मर्यादित भी करता है। सभी मानव संस्थाओं के सम्बन्ध में उसकी यही धारणा है कि संस्थाएँ व्यक्ति के लिए होती हैं न कि व्यक्ति संस्थाओं के लिए। संस्थाओं की महत्ता की कसौटी यही है कि वे अपने सदस्यों के लिए कितने प्रभावकारी हैं।

राज्य का प्रमुख कार्य उत्तम जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं का निराकरण करना तथा उत्तम जीवन की प्राप्ति की परिस्थितियों का सृजन करना, राज्य को बल-प्रवर्ती शक्ति का प्रयोग करने को भी बाध्य करेगा। इस दृष्टि से भी

[1] 'To uphold the sanctity of contract is doubtless a prime business of government, but it is no less its business to provide against contracts being made which from the helplessness of one of the parties to them, instead of being a security for freedom, become an instrument of disguised oppression.'
—Green.

[2] Wayper, *op. cit.*, 180.

राज्य का कार्य-क्षेत्र विध्यात्मक होगा। 'राज्य को स्वतन्त्रता के विरुद्ध शक्तियों को हटाने के लिए बल-प्रयोग करना चाहिए।'[1] ग्रीन का दण्ड सम्बन्धी सिद्धान्त इस धारणा को स्पष्ट करता है। बार्कर के अनुसार, ग्रीन की दृष्टि में दण्ड का उद्देश्य किसी व्यक्ति द्वारा अतीत में किये गये किसी नैतिक अपराध के सन्दर्भ में उसे प्रत्यक्षत: दण्डित करना नहीं है, और न ही भविष्य में उसका नैतिक उत्थान करना है, क्योंकि नैतिक अपराध के लिए दण्डित करने हेतु अपराध की मात्रा का सही अनुमान लगाना पड़ेगा, जो सम्भव नहीं है। ऐसे अपराधों की नाप नहीं की जा सकती। साथ ही भविष्य के लिए नैतिक उत्थान का उद्देश्य भी भ्रामक है, क्योंकि इसके द्वारा अपराध-निवारण का उद्देश्य सम्पन्न नहीं होगा। इससे अपराधी अपनी इच्छा के पुनरुद्भव की सम्भावना से वंचित हो जायेगा। वास्तव में दण्ड का आधार विरोधी शक्ति के अनुपात में शक्ति का प्रयोग होना चाहिए (Its force has to be proportionate to the opposing force)। दण्ड स्वतन्त्र नैतिक कार्यों के लिए आवश्यक बाह्य परिस्थितियाँ है जो न केवल कृत अपराध को दण्डित करती हैं, प्रत्युत् ऐसे अपराधों की पुनरावृत्ति को भी रोकती हैं। संक्षेप में, ग्रीन दण्ड के निवारक सिद्धान्त का समर्थक है, न कि प्रतिशोधात्मक तथा सुधारात्मक सिद्धान्त का।

ग्रीन की धारणा में दण्ड का उद्देश्य नैतिक तथा विध्यात्मक कार्य करने के तुल्य है। यह समाज के प्रत्येक सदस्य की नैतिक इच्छा के लिए कार्य की स्वतन्त्रता को सुनिश्चित करने का उद्देश्य रखता है। साथ ही दण्ड का दुःख अपराधी के मानस में ऐसी चेतना उत्पन्न करना है, जिसके द्वारा वह यह आभास करता है कि उसके द्वारा किया गया कार्य अनुचित था। अतएव उसके अधिकारों के पीछे कोई बाह्य शक्ति कार्य नहीं करती, अपितु कोई उच्चतर तथा आन्तरिक अनुस्वीकृति भी आवश्यक है। इस प्रकार प्रत्यक्षत: दण्ड अधिकारों के विरुद्ध आने वाली शक्ति को रोकने वाली शक्ति का कार्य करता है, और अप्रत्यक्ष रूप से वह दण्डित अपराधी की स्वार्थमयी इच्छा का सुधार करता है। इस दृष्टि से अपराधियों को राज्य द्वारा दण्डित किया जाना एक प्रकार से बाधाओं का बाधक बनना ही है।

राज्य तथा अन्य समुदाय

हीगल की भाँति ग्रीन भी यह मानता है कि राज्य समुदायों का समुदाय है और वह सर्वोच्च समुदाय है। परन्तु दोनों विचारकों म इस धारणा के कारणों के सम्बन्ध में अन्तर है। हीगल के अनुसार समुदायों का महत्त्व इस कारण है कि वे राज्य की प्रवृत्ति अर्थात् सहकारिता के द्योतक है, न कि वे राज्य के प्रतियोगी हैं। वे व्यक्तियों में राज्य के प्रति आज्ञाकारिता की भावना जागृत करते हैं। ग्रीन यह मानता है कि समुदाय व्यक्ति को पूर्णता प्रदान करने में सहायक सिद्ध होते हैं। वे राज्य से पूर्व है, उनकी अपनी अधिकार-पद्धति है। राज्य उनसे उच्च इसलिए है कि वह उनके मध्य सामंजस्य स्थापित करता है। राज्य का दायित्व उनका संरक्षण करना है। इस प्रकार जैसा बेपर का मत है, 'हीगल के मत से यदि समुदाय अन्ततोगत्वा राज्य नहीं बनते तो वे समुदाय नहीं हो सकते, ग्रीन के मत से यदि

[1] 'It is a force used to prevent a force opposed to freedom.' —Barker, *op. cit*, 38.

राज्य समुदायों का संरक्षण नहीं करता तो वह सच्चा राज्य नहीं है।'[1] हीगल राज्य की सर्वोच्च सत्ता को अमर्यादित मानता है, इसके विपरीत ग्रीन राज्य की सत्ता को स्वयं अपनी प्रकृति तथा समुदायों की प्रकृति के द्वारा मर्यादित मानता है।

अन्तर्राष्ट्रीयता तथा युद्ध

जिस प्रकार ग्रीन राज्य के अन्तर्गत समुदायों के अधिकारों का संरक्षण करना राज्य का एक आवश्यक दायित्व समझता है, उसी प्रकार वह यह भी मानता है कि राज्य को अपने से बाहर के समुदायों के अधिकारों का भी सम्मान करना चाहिए। यदि राज्य का आधार उसमें रहने वाले व्यक्तियों की सामान्य इच्छा है तो सम्पूर्ण मानवता की भी एक सामूहिक सामान्य इच्छा होती है जिसे 'मानव जाति की सामूहिक चेतना' कहा जा सकता है। ग्रीन विश्व-बन्धुत्व की भावना का समर्थक है। उसकी यह धारणा उसके प्रत्ययवादी राजनीतिक चिन्तन की एक विशिष्ट धारणा है, जिसके कारण वह युद्धों को अनौचित्यपूर्ण सिद्ध करता है।

विश्व-बन्धुत्व की धारणा का समर्थन ग्रीन 'जीवन के अधिकार' से प्रारम्भ करता है। उसका मत है कि प्रारम्भ में व्यक्ति के जीवन के अधिकार को प्रत्येक समाज ने मान्य किया। उस युग में अन्य समाजों के व्यक्तियों के इस अधिकार को मान्य नहीं किया जाता था। कालान्तर में रोमन कानून तथा ईसाई धर्म के विकास और शिक्षाओं के आधार पर मानव जाति का प्रत्येक व्यक्ति अन्य समाजों के व्यक्तियों के इस अधिकार को सार्वभौम रूप से मान्य करने लगा। यह धारणा मानव भ्रातृत्व या विश्व-बन्धुत्व के रूप में अपनायी जाने लगी। इस प्रकार राज्यों के पारस्परिक युद्ध मानव के जीवन के अधिकार का अतिक्रमण करते हैं। यदि एक राष्ट्र अपनी एकता या स्वतन्त्रता के नाम पर दूसरे राज्य के ऊपर आक्रमण करता है तो ऐसे युद्धों में मानवों का संहार न केवल व्यक्ति के जीवन के अधिकार पर आघात है, अपितु युद्ध का तात्पर्य अतीत की एक भूल के निवारण के निमित्त दूसरी बड़ी भूल करना है। इस सन्दर्भ में उसने इटली द्वारा अपनी एकता के हित मे आस्ट्रिया के ऊपर युद्ध करने की नीति का विरोध किया था और कहा था कि आस्ट्रिया ने जो भूल अतीत में की थी, उस भूल को सुधारने के निमित्त इटली द्वारा युद्ध का आह्वान दूसरी बड़ी भूल थी। ग्रीन के मत से युद्ध कभी भी एक निरपेक्ष सत्य नहीं है, अधिक से अधिक इसका औचित्य आपेक्षिक ही हो सकता है, अथवा इसे एक 'निर्दय आवश्यकता' कहा जा सकता है। हीगल के विपरीत ग्रीन किसी राज्य द्वारा युद्ध का आह्वान किया जाना उस राज्य की अपूर्णता का प्रतीक मानता है। हीगल के मत से युद्ध राज्य की पूर्णता की अभिव्यक्ति का मुख्य तत्त्व था, और युद्ध में विजय विभिन्न राज्यों के मध्य कौन राज्य विश्वात्मा की वास्तविक अभिव्यक्ति है इसे सिद्ध करने का प्रमाण था; जब कि ग्रीन का मत है कि युद्धरत राष्ट्र अपनी अपूर्णता का परिचायक होता है।

ग्रीन का युद्ध-विरोधी दृष्टिकोण नैतिकता तथा मानवतावाद पर आधारित है। साथ ही इसके द्वारा ग्रीन अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का समर्थक सिद्ध होता है। उसकी

[1] 'Thus, while for Hegel if associations do not result in the State, they are no true associations; for Green if the State does not preserve associations, it is no true State.' —Wayper, *op. cit.*, 186.

यह धारणा कि राज्यों के मानव प्राणियों के सामूहिक हित की एक सामूहिक चेतना होती है, इस तथ्य की द्योतक है कि ऐसी सामूहिक सामान्य इच्छा पर ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून आधारित होता है। बार्कर ने कहा है कि 'इसके अनुसार स्वतन्त्र राज्यों की राय पर आधारित एक सत्ता से युक्त अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का स्वप्न सिद्ध किया जा सकता है।'[1] वेपर के अनुसार, ग्रीन हीगल की इन प्रस्थापनाओं का कि 'युद्ध एक बुराई नहीं है, यह राज्यों के अस्तित्व का आवश्यक प्रतिफल है, राज्य से उच्चतर किसी अन्य समाज की कल्पना नहीं की जा सकती, और यह कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून जैसी धारणा एक असंगति है', विरोध करता है।[2]

युद्ध के विरोध में ग्रीन का यह तर्क था कि यह धारणा गलत है कि युद्ध में जो लोग मारे जाते है उन्हें मारने का कार्य इरादतन नहीं किया जाता, अत: इसे जीवन के अधिकार का अतिक्रमण नहीं माना जाना चाहिए। ग्रीन कहता है कि 'यदि किसी व्यक्ति को जगली जानवर मार दे या बिजली के झटके से किसी की मृत्यु हो जाये तो ऐसी स्थिति मे व्यक्ति के जीवन के अधिकार का हनन नहीं माना जा सकता, क्योंकि व्यक्ति तथा जानवर के मध्य या व्यक्ति तथा प्राकृतिक शक्तियों के मध्य अधिकार की मान्यता का प्रश्न नहीं उठता। परन्तु युद्ध मानवीय शक्तियों के मध्य होते हैं और वे इरादतन किये जाते हैं, अत: उनमे नर-संहार अधिकार का हनन है।' इसी प्रकार ग्रीन युद्ध-समर्थकों के इस तर्क का भी खण्डन करता है कि सेना में व्यक्ति स्वेच्छा से प्रविष्ट होता है, अत: वह युद्ध में मरने का जोखिम स्वयं लेकर जाता है। ग्रीन ऐसे तर्क को आत्म-हत्या सदृश सर्वमान्य अपराध के तुल्य मानकर यह राय व्यक्त करता है कि सेना की भर्ती चाहे स्वेच्छा से हो, चाहे बलात् युद्धरत राज्य सेना को युद्ध में झोंककर कुछ सैनिकों की मृत्यु का जोखिम इरादेतन लेता है। अत: यह व्यक्ति के जीवन के अधिकार का हनन है। ग्रीन इस तर्क को भी अमान्य करता है कि कभी युद्ध एक नैतिक आवश्यकता हो जाती है। ऐसे अवसर पर लड़ने की अपेक्षा न लड़ना अनैतिक माना जाता है। ग्रीन का मत है कि यदि ऐसी स्थिति हो भी तो इसका दोष उन लोगों का है जो युद्ध की स्थिति का सृजन करते हैं। किसी भी रूप में युद्धों में जो मृत्यु होती हैं वे अतीत में किये गये किन्हीं गलत कार्यों के प्रतिफल हैं, अत: युद्ध अनैतिक है।

ग्रीन की धारणा है कि देशभक्ति तथा शौर्य के सद्‌गुणों की अभिव्यक्ति युद्धों में होती है, इस आधार पर युद्धों के औचित्य को बताया जा सकता है। परन्तु 'जब तक मानव की सेवा के निमित्त प्रकृति के ऊपर विजय में शान्तिपूर्ण देशभक्ति का क्षेत्र पूर्णतया समाप्त नहीं हो जाता, तब तक युद्ध का आश्रय लेने की कोई आवश्यकता नहीं रहनी चाहिए।'[3] इस प्रकार ग्रीन की दृष्टि में युद्ध राज्य की अपूर्णता के परिचायक हैं। अतएव जब राज्य समुचित रूप से संगठित रहेंगे तो उनके सदस्य अन्य राज्यों के सदस्यों के साथ अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक विचार-विनिमय कर सकेंगे। इस प्रकार मानवों के मध्य सामूहिक हितों की भावना बढ़ेगी। इसके परिणामस्वरूप 'ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का स्वप्न, जो कि स्वतन्त्र राष्ट्रों की सहमति से अपनी सत्ता प्राप्त करता है, साकार हो सकेगा।' इस दृष्टि से ग्रीन राज्य के सर्वसत्तावान तथा

[1] Barker, *op. cit.*, 35.
[2] Wayper, *op. cit.*, 187.
[3] Barker, *op. cit*, 55.

अनुत्तरदायित्वपूर्ण होने की हीगल की धारणा को अमान्य करता है।

क्रान्ति तथा विद्रोह

वेपर का मत है कि 'व्यक्ति के राज्य की अवज्ञा करने के औचित्य को दर्शाने में ग्रीन स्पष्टतया हीगल से सर्वाधिक विरोध रखता है।'[1] हीगल किसी भी दशा में व्यक्ति के ऐसे अधिकार को मान्य नहीं करता। परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि ग्रीन व्यक्ति के ऐसे अधिकार को पूर्णतया स्वीकार कर लेता है। राज्य की अवज्ञा करने के सम्बन्ध मे वह व्यक्ति या नागरिकों को पर्याप्त चेतावनी देता है। वह व्यक्ति को जितना ही ऐसा अधिकार देता है, उससे कही अधिक वह इस अधिकार को प्रतिबन्धित भी करता है। सच तो यह है कि उसके मत से व्यक्ति को राज्य की अवज्ञा करने का अधिकार कभी प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि राज्य ही केवल मात्र अधिकारों का स्रोत है। ग्रीन इस बात को मान्य नहीं करता कि व्यक्ति अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता का निर्णायक स्वयं है। यदि वह राज्य के किसी कानून या विनियम को अपनी स्वतन्त्रता के मार्ग में बाधक पाता हो तो भी व्यक्ति का यह अधिकार मान्य नहीं हो सकता कि वह ऐसे विनियमों की अवज्ञा कर सके। परिवर्तित परिस्थितियों के अन्तर्गत व्यक्ति राज्य के विनियमों या कानूनों को सामाजिक हित के विरुद्ध होने का दावा करके उनकी अवज्ञा नहीं कर सकते। ग्रीन का मत है कि ऐसा सम्भव है कि 'विरोध करने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति स्वयं गलती पर हों और राज्य सही हो, क्योंकि राज्य युग-युगों के विवेक तथा अनुभवों को प्रतिबिम्बित करने वाला है, जबकि व्यक्ति का विवेक तथा अनुभव संकुचित होगा। अत: उसके अवज्ञा करने के अधिकार को मान्य नहीं किया जा सकता।'

ग्रीन व्यक्तियों को चेतावनी देता है कि राज्य के विरुद्ध क्रान्ति या विद्रोह करने से पूर्व उन्हें यह ध्यानपूर्वक समझ लेना चाहिए कि विद्रोह का परिणाम भयंकर सिद्ध हो सकता है। जिस अव्यवस्था को वे दूर करना चाहते हैं, हो सकता है कि विद्रोह उससे भी अधिक अव्यवस्था का सृजन करने वाला सिद्ध हो जाये। अतएव ग्रीन की सलाह है कि विद्रोह का आह्वान करने से पूर्व वैधानिक तरीकों से ऐसे बुरे कानूनों को निरस्त करवाने का प्रयास करना चाहिए। राज्य में विद्रोह तभी किया जाना चाहिए जबकि यह समाधान हो जाये कि जिस कानून का विरोध किया जाना है वह सचमुच विधि-सम्मत नहीं है, और उसे निरस्त करवाने के अन्य वैधानिक प्रयास विफल हो चुके हैं, और सरकार के कार्य-कलाप सामाजिक हित में सम्पन्न न होकर व्यक्ति विशेष के हित में सम्पन्न हो रहे हैं, और यह भी समाधान हो जाये कि विद्रोह की अवधि में जो अस्थायी अराजकता की स्थिति आयेगी वह निवर्तमान अवस्था वाली चिरस्थायी अराजकता से उत्तमतर होगी, अथवा क्रान्ति के परिणामस्वरूप अराजक स्थिति आने की सम्भावना नहीं होगी।'[2]

ग्रीन का मत था कि राज्य का विरोध करने का व्यक्ति का अधिकार तो मान्य नहीं किया जा सकता, परन्तु उक्त परिस्थितियों का सही समाधान हो जाने पर जन-समूह द्वारा विद्रोह करने का औचित्य स्वीकार किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में विद्रोह करना व्यक्ति का अधिकार ही नहीं, अपितु कर्त्तव्य भी हो जायेगा। परन्तु

[1] Wayper, *op. cit.*, 182.
[2] *Ibid.*

औचित्य की कसौटी यही है कि इसके पीछे सामाजिक हित अन्तर्निहित हो। इसका निर्धारण एक व्यक्ति नहीं कर सकता। इसके पीछे पर्याप्त जनमत तथा जनबल होना चाहिए। यदि समाज में राज्य के कार्य-कलापों तथा नीतियों के विरुद्ध व्यापक असन्तोष ऐसी माँग करे तो तभी जनता को राज्य का विरोध करना चाहिए।

सम्पत्ति सम्बन्धी विचार

उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप के विभिन्न देशों के विचारक सम्पत्ति के सम्बन्ध में विविध प्रकार की धारणाएँ व्यक्त करते रहे थे। व्यक्तिवादी हर प्रकार की (चल या अचल) सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व के समर्थक होने के साथ-साथ व्यक्तियों द्वारा असमान मात्रा मे सम्पत्ति धारण करने के अधिकार को मानते थे। इसके विपरीत समाजवादी चिन्तक व्यक्तिगत सम्पत्ति को सामाजिक अन्याय तथा शोषण का साधन मानकर इसका विरोध करते थे और सम्पत्ति के समाजीकरण करने की नीति के समर्थक थे। भले ही सम्पत्ति के अधिकार के सम्बन्ध मे दो परस्पर विरोधी धारणाएँ रही हों, तथापि ग्रीन इन दोनो चरम सीमाओं में से किसी को नहीं अपनाता। वह सम्पत्ति को दो रूपों मे लेता है : पूंजीगत तथा भूमिगत।

पूंजीगत सम्पत्ति के सम्बन्ध में वह उसके व्यक्तिगत तथा असमान स्वरूप का समर्थन करता है। उसकी धारणा है कि जब पूँजीगत सम्पत्ति सामाजिक भलाई की दिशा में निदेशित इच्छा को साकार करने का साधन है तो वह आवश्यक है। ऐसी सम्पत्ति का उपयोग समाज में श्रमिकों को पारिश्रमिक देने तथा विनिमय प्रक्रिया में लगे लोगों को इसका लाभ देने में होता रहता है। ग्रीन यह नहीं मानता कि ऐसी सम्पत्ति का उपयोग केवल श्रमिकों को खरीदने के लिए किया जाये। उसकी धारणा है कि सामाजिक भलाई की माँग यह है कि समाज में भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न स्थितियाँ धारण करें। अतः समाज में पूँजीगत सम्पत्ति की असमानता होने में कोई बुराई नहीं है। सामाजिक भलाई की माँग यह भी है कि समाज में प्रत्येक इच्छा को स्वतन्त्रता प्राप्त रहनी चाहिए। केवल थोड़े से लोगों की निरपेक्ष स्वतन्त्रता अन्यों की स्वतन्त्रता के मार्ग मे बाधक नहीं होनी चाहिए। चूंकि स्वतन्त्र इच्छा के साकार होने के लिए सम्पत्ति आवश्यक है, अतः समाज के प्रत्येक सदस्य के पास सम्पत्ति होनी चाहिए। व्यक्तिगत सम्पत्ति के औचित्य का यही एक आधार हो सकता है। परन्तु ऐसी व्यक्तिगत सम्पत्ति अवांछनीय है जो केवल एक या थोड़े से व्यक्तियों की स्वतन्त्र इच्छा को साकार करने के नाम पर अन्यों की इच्छा को साकार करने में बाधक हो। स्वयं ग्रीन के शब्दों में, 'जब एक व्यक्ति की सम्पत्ति का आधिपत्य दूसरे की सम्पत्ति के आधिपत्य का अतिक्रमण करे, या जब कुछ लोग अपनी इच्छा को साकार करने के उद्देश्य से उपलब्ध साधनों को धारण करने की शक्ति इस प्रकार संरक्षित रखें कि अन्यों को ऐसी शक्ति से वंचित होना पड़े तो ऐसी स्थिति में सम्पत्ति का अधिकार असंगतिपूर्ण हो जाता है।' ऐसी सम्पत्ति चोरी मानी जायेगी और राज्य को इसके विरुद्ध कदम उठाना आवश्यक हो जायेगा। इस प्रकार ग्रीन व्यक्तिगत सम्पत्ति की असमानता का समर्थक होने के साथ-साथ समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए न्यूनतम आवश्यक सम्पत्ति को अपरिहार्य मानता है ताकि अधिक सम्पत्ति धारण करने वाले व्यक्ति अन्यों का शोषण न कर सकें।

जहाँ तक भूमिगत सम्पत्ति (property in land) का प्रश्न है, ग्रीन ऐसी

सम्पत्ति के सम्बन्ध में समकालीन इंग्लैण्ड की व्यवस्था का घोर विरोधी था। तत्कालीन इंग्लैण्ड की भूमि-व्यवस्था सामन्ती रूप की थी। भूमि के मालिक थोड़े-से लोग थे और सम्पत्ति का संक्रमण वंशानुक्रम से होता था। ग्रीन की धारणा थी कि ऐसी व्यवस्था के अन्तर्गत अधिकांश लोगों के पास केवल श्रम-शक्ति थी जिसे वे अपना पेट भरने के निमित्त भू-स्वामियों के पास बेचने मात्र का अधिकार रखते थे। यह वह वर्ग था जिसे सामन्तशाही व्यवस्था के अन्तर्गत अर्द्धदास (serf) की स्थिति प्राप्त थी। इस वर्ग का निरन्तर शोषण होता रहा। ग्रीन ने कहा है कि 'देहात के भूमिहीन व्यक्ति, जिनके पूर्वज अर्द्धदास थे, आज के शहरी क्षेत्रों में सर्वहारा वर्ग के माँ-बाप हैं।' ग्रीन समाज की संरचना तथा सामाजिक सम्बन्धों के समुचित निर्धारण हेतु भू-सम्पत्ति को एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानता है। उसका कहना था कि 'भूमि ही वह साधन है जिससे उद्योगों के संचालन के लिए आवश्यक सामग्री प्राप्त होती है इसी में मनुष्य अपने रहने के लिए आवास प्राप्त करते हैं, एक-दूसरे से सम्पर्क स्थापित करने के लिए वे इसी के ऊपर चलते हैं।' संक्षेप में, भूमि ही मानव की गतिविधियों, जीवन-क्रम आदि का एकमात्र साधन है। यदि समाज की व्यवस्था ऐसी हो जिसके अन्तर्गत थोड़े से व्यक्ति विशाल भू-खण्डों के मालिक हों और शेष उससे विहीन, तो ऐसी व्यवस्था नैतिक दृष्टि से मानवों के लिए एक अभिशाप सिद्ध होगी। इतिहास बताता है कि प्रारम्भ में थोड़े-से व्यक्तियों ने बलपूर्वक जमीन का स्वामित्व प्राप्त कर लिया। बाद में जो कानून बने उनके कारण पैतृक आधार पर भूमि का संक्रमण होने लगा। अत: थोड़े से व्यक्ति भू-स्वामी बने रहे, शेष सर्वहारा वर्ग की स्थिति में रह गये जिनके पास न तो भू-सम्पत्ति थी और न ही उसके अधिग्रहण करने के अवसर। अत: ग्रीन की अभिरुचि भू-सम्पत्ति-सम्बन्धी प्रचलित व्यवस्था का इस रूप में सुधार करवाने में थी जिसके अन्तर्गत पैतृक संक्रमण की प्रथा समाप्त हो जाये, सम्पूर्ण समाज को भू-सम्पत्ति के स्वामित्व तथा नियन्त्रण की शक्ति प्राप्त हो सके और कृषक वर्ग को जोत के लिए छोटे-छोटे भू-खण्ड प्राप्त हो सकें। ग्रीन की ऐसी भी धारणा थी कि राज्य को भू-सम्पत्ति से 'अनर्जित वृद्धि' (unearned increment) का विनियोजन करने का अधिकार नहीं होना चाहिए, अर्थात् छोटे-छोटे कृषकों पर भू-राजस्व न लगाया जाये, बल्कि इसे वे भूमि के सुधार कार्यों में लगा सकें। स्पष्टत: भूमि के सम्बन्ध में ग्रीन के विचारों में व्यक्तिवाद तथा समाजवाद का सुन्दर समन्वय पाया जाता है।

सरकार—अधिकांश आदर्शवादी राजनीतिक चिन्तकों ने समाज, राज्य तथा सरकार के मध्य स्पष्ट भेद नहीं किया है। वे राज्य के निरंकुशतावाद के समर्थक रहे हैं, चाहे वह राजा या शासक की निरंकुश सत्ता हो या सामान्य इच्छा सदृश एक भावात्मक धारणा की। इन चिन्तकों ने राज्य की सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार किया है। यद्यपि ग्रीन भी आदर्शवादी है और उसके विचारों में भी राज्य की सर्व-सत्तावादी धारणा को अमान्य नहीं किया जा सकता तथापि ग्रीन के विचारों में ब्रिटिश राजनीतिक परम्परा तथा राज्य-व्यवस्था और उदारवाद की प्रवृत्ति बनी रही। अतएव वह लोकतन्त्र तथा प्रतिनिधिक शासन-प्रणाली का समर्थक था। ग्रीन के विचार-क्रम में मानव की आत्म-चेतना स्वतन्त्रता चाहती है जिसके लिए अधिकारों की माँग की जाती है। अधिकारों का अस्तित्व तथा प्रभाव तभी है जबकि उन्हें लागू

किया जाये। इन्हें लागू करने का दायित्व राज्य के ऊपर है। इसी हेतु उसकी उत्पत्ति होती है। अधिकारों के लागू करने के लिए राज्य को बल-प्रवृत्ति शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। राज्य की यही बल-प्रवृत्ति शक्ति सम्प्रभुता कहलाती है। यद्यपि ग्रीन ऑस्टिन की भाँति इस सम्प्रभु शक्ति को प्रयुक्त करने के लिए एक निश्चयात्मक मानव श्रेष्ठ के अस्तित्व की धारणा को भी स्वीकार करता है, जो कि स्वभावतः समाज के अन्य व्यक्तियों से आज्ञाकारिता प्राप्त करता रहता है तथापि ग्रीन के मत से ऐसा मानव श्रेष्ठ मात्र कानूनी सम्प्रभु है। उसके पीछे एक नैतिक सम्प्रभु कार्य करता है और यह सम्प्रभु सामान्य इच्छा है, जो कानूनी सम्प्रभु को मर्यादित तथा निदेशित करती है। यही कानून का स्रोत है।

मानव श्रेष्ठ या मानव संस्था जो सामान्य इच्छा के अभिकर्ता के रूप में विधि-निर्माण, उसे लागू करने तथा उसका परिपालन करवाने का कार्य करती है, उसे ग्रीन कानूनी सम्प्रभु कहता है। यही संस्था या व्यक्ति सरकार है जो स्वयं सम्प्रभु तो नहीं है, परन्तु सम्प्रभु सामान्य इच्छा का अभिवक्ता तथा अभिकर्ता है। ग्रीन के मत से राज्य का शासन एक राजा के द्वारा भी चलाया जा सकता है बशर्ते कि वह सामान्य इच्छा के अनुसार सामान्य हित में शासन-कार्य सम्पन्न करे। ऐसा करते हुए यदि वह निरंकुश शक्ति से युक्त है, तो भी ग्रीन को कोई आपत्ति नहीं है। वेपर का कथन है कि 'यद्यपि ग्रीन शासन में जन-नियन्त्रण तथा जन-सहयोग को वरीयता देता है तथापि उसके विचारों में सर्वसत्तावाद के बीज भी विद्यमान हैं।' ग्रीन एक लोकप्रिय सरकार (popular government) को आवश्यक रूप से उत्तम ही नहीं कह देता। यदि एक अधिनायकतन्त्र सामूहिक हित के उद्देश्य से सामान्य इच्छा के अनुसार कार्य करे तो एक वैधानिक सरकार अनिवार्यतः आवश्यक नहीं है। जन-नियन्त्रण के अभाव में सार्वजनिक हित व्यक्तिगत हितों के द्वारा कुचल दिये जायेंगे अथवा एक उत्तम नागरिकता के विकास के लिए सरकार के कार्य-कलापों में जनता का भाग लेना आवश्यक है, ये बातें ग्रीन की धारणा में निरपेक्ष सत्य नहीं हैं, बल्कि परिस्थितियों पर निर्भर करती हैं।

स्वशासन या लोकतन्त्र का समर्थन ग्रीन इस आधार पर करता है कि इसके अन्तर्गत सभी व्यक्तियों को शासन के कार्यों में सक्रिय रूप से भाग लेने का अवसर मिलने के कारण उनमें 'प्रबुद्ध देशभक्ति' की भावना उत्पन्न होती है, जो व्यक्तियों को देशसेवा के लिए प्रेरित करती है। इसके विपरीत निरंकुशतन्त्र भले ही जनहित में शासन करें, वे व्यक्तियों में केवल प्रवृत्तिजन्य राजभक्ति (instinctive loyalty) उत्पन्न कर सकते हैं। व्यक्तियों में राज्य के प्रति सक्रिय अभिरुचि उत्पन्न करने के लिए उन्हें शासन में भाग का अवसर मिलना चाहिए। इसी से उनमें प्रबुद्ध देशभक्ति उत्पन्न हो सकती है। इसलिए ग्रीन यह स्वीकार करता है कि सर्वोत्तम शासन स्वशासन है। इंग्लैण्ड का चिन्तक होने तथा ब्रिटिश उदारवाद से प्रभावित होने के नाते भी ग्रीन प्रतिनिध्यात्मक शासन-प्रणाली का समर्थन करता है। इसलिए उसने मताधिकार के विस्तार का भी समर्थन किया है। वह एक सुधारवादी चिन्तक था। सक्रिय राजनीति में वह उदारवादी था।

ग्रीन के राजनीतिक विचारों का मूल्यांकन

यद्यपि ग्रीन के प्रत्ययवादी राजनीतिक विचार जर्मन प्रत्ययवादी विचारक

हीगल से प्रभावित हुए हैं, तथापि ग्रीन ने हीगल की राज्य-सम्बन्धी धारणाओं को आंशिक रूप में ही अपनाया है। उसके विचारों में अधिकांशत: कांट के विचारों का प्रभाव है। उसकी उदारवादी विचारधाराओं पर इंग्लैण्ड के उपयोगितावादी चिन्तकों, बेंथम तथा मिल का प्रभाव बहुत अधिक मात्रा में विद्यमान है। उसने कांट तथा मिल के विचारों से प्रभावित होकर, साथ ही हीगल के विचारों को भी अपनाकर प्रत्ययवाद तथा व्यक्तिवाद के मध्य समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की है। इस प्रकार दो परस्पर विरोधी धारणाओं को एक में समन्वित करने के प्रयास में वह बहुधा असंगत हो गया है। उसे प्रत्ययवादी या व्यक्तिवादी में से किस विचारधारा का माना जाए, इसमें अनेक विद्वान् मतभेद रखते हैं, परन्तु जैसा वेपर का मत है कि 'वह निस्सन्देह प्रत्ययवादी विचारधारा का दार्शनिक है।'[1] व्यक्तिवादियों की भाँति वह राज्य के यान्त्रिक स्वरूप तथा संविदागत उत्पत्ति के विचारों को स्वीकार नहीं करता प्रत्युत् राज्य को एक नैतिक तथा प्राकृतिक संस्था मानता है और उसके क्रमिक ऐतिहासिक विकास की धारणा का समर्थन करता है। प्राचीन ग्रीक विचारक अरस्तू की भाँति वह मानव को आवश्यक रूप से एक सामाजिक प्राणी मानकर राज्य को भी मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति का प्रतीक मानता है।

बार्कर का मत है कि यद्यपि ग्रीन ने सामाजिक नीतियों के सम्बन्ध में जो विवरणात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किये हैं और उन नीतियों के सम्बन्ध में जो सुझाव दिये हैं वे भले ही संगतिपूर्ण न हों, किन्तु जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन उसने किया है, वे सही हैं और उन्हें विभिन्न कालों तथा परिस्थितियों के अन्तर्गत समुचित रूप से निर्वचित करके लागू किया जा सकता है। उसने जर्मनी तथा ग्रीक दर्शन को ग्रहण करके उसे अंग्रेज जाति के लिए निर्वचित किया है।[2] ऐसा करने में उसने व्यक्ति की स्वतन्त्रता को महत्त्व दिया है और राज्य के विवेक की धारणा के प्रति विश्वास-हीनता दर्शायी है। परन्तु जहाँ वह व्यक्ति को महत्त्व देता है, वहाँ यह भी दर्शाता है कि व्यक्ति समाज के एक सदस्य के रूप में ही अपना वैयक्तिक तथा नैतिक उत्थान कर सकता है। व्यक्ति एक अवास्तविक अणु नहीं है, अपितु वह समाज का अभिन्न अंग है। ग्रीन का यह दृष्टिकोण उसकी राज्य को एक सावयव संस्था मानने की धारणा को व्यक्त करता है। 'व्यक्ति की स्वतन्त्र इच्छा का उपयोग मनचाहे ढंग की इच्छा करने में नहीं होना चाहिए और न ऐसे उद्देश्यों की चाह करने में होना चाहिए जिनका सम्बन्ध अन्यों के उद्देश्यों से न हो, प्रत्युत् आदर्श उद्देश्यों की चाह से होना चाहिए जो कि स्वयं व्यक्ति की तथा अन्यों की चाह दोनों के निमित्त आदर्श है।'[3] इतना होते हुए भी ग्रीन की विचारधारा का केन्द्र व्यक्ति है। वह राज्य की सर्वसत्ता का समर्थक नहीं है। बार्कर के मत से, 'वह प्लेटोवादी होने की अपेक्षा अरस्तूवादी अधिक है, हीगलवादी होने की अपेक्षा कांटवादी अधिक है।'[4]

व्यक्तिवाद तथा आदर्शवाद का समन्वय हीगल की भाँति ग्रीन भी विश्वात्मा

[1] Wayper, *op. cit.*, 189–90.

[2] Barker, *op. cit.*, 46.

[3] 'Green sees that the free will of the individual must be used not in willing any and every object, or in willing objects unrelated to the objects of others, but in willing ideal objects which, as such, are common to itself and all other wills.' —*Ibid.*

[4] *Ibid.*, 47.

या दैवी विवेक के अस्तित्व पर विश्वास रखता है और समस्त मानव-संस्थाओं को उसी का रूप मानता है। मानव अपना विकास राज्य का सदस्य रहकर ही कर सकता है। राज्य विविध समुदायों का समुदाय है और सर्वोच्च समुदाय है। राज्य ही व्यक्ति के अधिकारों का स्रोत तथा सृष्टा है। राज्य में ही सामान्य इच्छा साकार हो सकती है। व्यक्ति की वास्तविक स्वतन्त्रता दैवी आत्मा के साथ तादात्म रहकर ही प्राप्त हो सकती है। अतः राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता के मार्ग में बाधक नहीं है, बल्कि उसके निमित्त आवश्यक है। ये धारणाएँ हीगल की धारणाओं से मिलती-जुलती हैं, परन्तु अपने व्यक्तिवादी विचारों की अभिव्यक्ति में ग्रीन हीगल से बहुत दूर चला जाता है। यद्यपि वह राज्य को विश्वात्मा का रूप मानता है तथापि ग्रीन की धारणा में राज्य स्वयं साध्य नहीं है, प्रत्युत् वह व्यक्ति के नैतिक विकास का साधन है। ग्रीन ने स्पष्टतया कहा है कि 'संस्थाएँ व्यक्ति के लिए हैं, न कि व्यक्ति संस्थाओं के लिए।' इसीलिए ग्रीन ने राज्य के कार्यों को निषेधात्मक प्रकृति का बताया है और उनके ऊपर व्यक्ति के हित में अनेक प्रतिबन्ध लगाये हैं। कुछ परिस्थितियों में ग्रीन व्यक्तियों को राज्य की अवज्ञा करने का अधिकार भी देता है जो हीगल को कभी भी मान्य नहीं था। हीगल ने राष्ट्र-राज्य के लिए उग्र-राष्ट्रवाद का समर्थन करके व्यक्ति को उसके नाम पर बलिदान हो जाने की प्रेरणा दी थी। वह युद्धों को आवश्यक मानता था। इसके विपरीत ग्रीन का मत था कि 'राष्ट्र के जीवन का वास्तविक अस्तित्व राष्ट्र का निर्माण करने वाले व्यक्तियों के जीवन से पृथक् हो ही नहीं सकता।' ग्रीन ने राज्य की शक्तियों को व्यक्तियों की नैतिक स्वतन्त्रता तथा अन्य राज्यों के अधिकारों से मर्यादित माना है। व्यक्ति के जीवन तथा स्वतन्त्रता के अधिकारों को नैतिक अधिकार मानकर ग्रीन 'विश्व-बन्धुत्व की धारणा' का समर्थन करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों को अनैतिक तथा अवांछनीय मानता है। ग्रीन का व्यक्तिवाद मिल के व्यक्तिवाद से भिन्न स्वरूप का है। बार्कर ने लिखा है कि 'मिल आत्मपरक तथा परपरक कार्यों के मध्य भ्रामक भेद करता है। ग्रीन ने बाह्य कार्यों तथा आन्तरिक इच्छा से उत्पन्न होने वाले कार्यों के मध्य सच्चा भेद किया है। बाह्य कार्य व्यक्तियों के अधिकारों की सुरक्षा के लिए आवश्यक हैं, अतः उनका महत्त्व इसलिए है कि राज्य बाह्य शक्ति के प्रयोग द्वारा अधिकारों को बनाये रखता है। आन्तरिक इच्छा-जन्य कार्य इसलिए महत्त्व रखते हैं कि वे ऐसी इच्छा से उत्पन्न होते हैं। अतः उन्हें बाह्य शक्ति के द्वारा सुरक्षित नहीं किया जा सकता।'[1] राज्य नैतिक संस्था है। यद्यपि वह स्वयं व्यक्ति को नैतिक नहीं बना सकता, तथापि उसका उद्देश्य नैतिक है। बार्कर के अनुसार, 'यदि राज्य नैतिकता के मार्ग में हस्तक्षेप नहीं करता है तो इसलिए कि वह नैतिकता के हित में ही अपने को प्रतिबन्धित रखता है, यदि वह बाह्य कार्यों में हस्तक्षेप करता है तो भी नैतिकता के हित में ही ऐसा करता है।' इस प्रकार ग्रीन की राजनीतिक विचारधारा प्रत्ययवादी तथा व्यक्तिवादी दोनों का मिश्रण है।

व्यक्तिवाद तथा समाजवाद का समन्वय—यद्यपि ग्रीन को समाजवादी विचारकों के वर्ग में रखना उचित प्रतीत नहीं होता, तथापि उसके अनेक विचार समाजवाद की कई धारणाओं से मिलते-जुलते हैं। वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के निमित्त समाज के सामूहिक कल्याण को एक पूर्व शर्त मानता है, जो समाजवादी धारणा है।

[1] *Ibid.* Also see Wayper, *op. cit.*, 191.

कृषि-भूमि के सम्बन्ध में वह भूमि-खण्डों के समान वितरण तथा अनर्जित वृद्धि को रोकने की जिन धारणाओं को बताता है वे बहुत कुछ अंश में समाजवादी विचारधारा से मिलती-जुलती हैं। ग्रीन अपने युग के कृषक मजदूरों को समाजवादी धारणा के सर्वहारा वर्ग की-सी स्थिति में मानता था। आम जनता के आर्थिक कल्याण की ग्रीन की धारणा समाजवादी ही मानी जाती है। ग्रीन के विचारों ने इंग्लैण्ड के फेबियन समाजवादी विचारों को प्रभावित किया था। वेपर के मत से ग्रीन की सबसे महान् उपलब्धि यह है कि 'उसने अंग्रेज जाति को वह चीज प्रदान की, जो बेंथमवाद से अधिक सन्तोषजनक थी''''उसने उदारवाद को एक हित की वस्तु की अपेक्षा एक विश्वास के रूप में छोड़ा, उसने व्यक्तिवाद को नैतिक तथा सामाजिक और प्रत्ययवाद को सभ्य तथा सुरक्षित बनाया।'[1] इंग्लैण्ड के उन्नीसवीं शताब्दी के विचारों के मध्य ग्रीन का स्थान पर्याप्त महत्त्व का है। यद्यपि उसकी अल्प आयु में ही मृत्यु हो गयी थी, तथापि उसने तत्कालीन ब्रिटेन की राजनीतिक विचारधाराओं की कमियों और उनके भद्देपन को दूर करने का प्रयास किया। उसका नैतिकतावादी दर्शन भावी समाजों को विविध परिस्थितियों के सन्दर्भ में समुचित दिशा प्रदान करने में सहायक सिद्ध हो सकता है। स्पष्टतः ग्रीन के विचार प्रत्ययवाद, व्यक्तिवाद तथा समाजवाद की अनेक भलाइयों को ग्रहण करते हैं। उसके नैतिकतावादी विचार भले ही उसे आदर्शवादी चिन्तक सिद्ध करते हैं, तथापि समग्र रूप में उसका दर्शन प्रत्ययवाद, व्यक्तिवाद तथा समाजवाद का सम्मिश्रण प्रतीत होता है जिसके अन्तर्गत इन विचार-धाराओं की उदारवादी प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं, परन्तु उग्रवादिता का परित्याग किया गया है।

ग्रीन के विचारों की त्रुटियाँ—ग्रीन के राजनीतिक विचारों की उपर्युक्त अच्छाइयों के बावजूद उनमें अनेक त्रुटियाँ तथा असंगतियाँ भी हैं। उसका एक मुख्य कारण यह है कि उसने दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं (प्रत्ययवाद व व्यक्तिवाद) से प्रेरणा लेकर अपनी विचारधारा का निर्माण किया है। ग्रीन मानव संस्थाओं को विवेक का अवतार मानता है। यह धारणा उचित नहीं है, क्योंकि इसके अनुसार राज्य सर्वथा औचित्यपूर्ण संस्था बनी रहेगी। राज्य की प्रभुसत्ता सम्बन्धी ग्रीन की धारणा भी सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। एक ओर वह ऑस्टिन की कानूनी प्रभुसत्ता की धारणा को मानते हुए राज्य में किसी निश्चित मानव श्रेष्ठ को सम्प्रभु मानता है और दूसरी ओर ऐसे सम्प्रभु की सत्ता को सामान्य इच्छा के अधीन रखता है। उसकी धारणा में सामान्य इच्छा न केवल कानून का स्रोत है अपितु वह कानूनी सम्प्रभु को मर्यादित भी करती है। इस सम्बन्ध में ग्रीन रूसो की धारणा से प्रभावित है। अतएव कानूनी सम्प्रभु की सर्वोच्चता का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। इस सम्बन्ध में वेपर ने हॉबहाउस के इस तर्क का कि 'सामान्य इच्छा, जहाँ तक इच्छा है, वह सामान्य नहीं हो सकती और जहाँ तक वह सामान्य है, इच्छा नहीं हो सकती', समर्थन किया है।[2] इसका यह अभिप्राय हुआ कि सामान्य इच्छा सदृश भावनामूलक चीज की प्रभुसत्ता

[1] 'He gave Englishmen something more satisfying than Benthamism at a price they were prepared to pay, that he lifted Liberalism a faith instead of an interest, that he made Individualism moral and social and Idealism civilised and safe.'—Wayper, *op cit.*, 193.

[2] 'The General Will, in so far as it is will, it is not general; and in so far as it is general, it is not will.'—*Ibid.*, 190.

को स्वीकार करना ग्रीन के विश्लेषणात्मक राजनीतिक विचारों से संगति नहीं रखता। ग्रीन के विचार अत्यधिक विवेकमूलक है। वह संवेगों द्वारा प्रभावित कृत्यों की उपेक्षा करता है, जबकि व्यवहार में व्यक्ति सवेगों द्वारा भी निदेशित होकर अनेक कार्य करता है। ग्रीन का दण्ड-सिद्धान्त जो कि सुधारात्मक दण्ड सिद्धान्त की उपेक्षा करता है, इसी का प्रमाण है। वेपर के अनुसार, 'ग्रीन का मनुष्य को विशुद्ध रूप से चेतनायुक्त मानना उसी प्रकार अवास्तविक है जिस प्रकार उपयोगितावादियो का मानव को केवल आनन्द की चाह करने वाला मानना, या शास्त्रीय अथशास्त्रियों का मानव को आर्थिक प्राणी मानना है।' ग्रीन के आर्थिक विचार की अस्पष्ट हैं। एक ओर वह व्यक्तिगत पूँजी का समर्थक है, तो दूसरी ओर उसे भूमि-सुधारों की समाजवादी व्यवस्था की चिन्ता भी बनी रही थी। उसकी प्राकृतिक अधिकारों की धारणा भी अस्पष्ट है। एक ओर तो वह कहता है कि अधिकारों के लिए समाज की स्वीकृति आवश्यक है, दूसरी ओर वह उन्हें मानव की नैतिक चेतना की उपज मानता है। इस दृष्टि से अधिकार राज्य से पूर्व अस्तित्व रखते हैं। अत: समाज के लिए उन्हें मान्य करना आवश्यक हो जाएगा, बजाय इसके कि उनके लिए समाज की मान्यता पूर्व-शर्त होगी क्योंकि उनका निर्धारण मानव को नैतिक चेतना द्वारा होता है। परन्तु साथ ही ग्रीन यह भी मानता है कि समाज के विरुद्ध व्यक्ति का कोई अधिकार नहीं हो सकता। ऐसा तो केवल कर्त्तव्य होता है। इस प्रकार अधिकारों के सम्बन्ध में ग्रीन के विचार पर्याप्त अस्पष्ट तथा भ्रामक हैं। वेपर का निष्कर्ष है कि 'यदि व्यावहारिक दृष्टि से हम ग्रीन के विचारों को असन्तोषजनक न भी मानें, तो भी तर्क की दृष्टि से हम मुश्किल से ही उन्हें सन्तोषजनक मान सकते हैं।' इन तार्किक कमियों के बावजूद ग्रीन के राजनीतिक विचारों का न केवल इंग्लैण्ड की राजनीति के सन्दर्भ में, प्रत्युत् विश्व की राजनीति के निमित्त पर्याप्त महत्त्व है।

अनुदाय—राजनीतिक चिन्तन को ग्रीन के अनेक अनुदाय पर्याप्त महत्त्व के हैं। विश्व-बन्धुत्व की धारणा, अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों का विरोध, व्यक्ति की नैतिक स्वतन्त्रता की धारणा, राजनीति में सामाजिक नैतिकता को उसका यथोचित स्थान प्रदान करना, सामाजिक नैतिकता के विरुद्ध राज्य के कार्य-कलापों की नागरिकों द्वारा वैधानिक तरीकों से अवज्ञा करने का आह्वान, आदि ऐसी विचारधाराएँ हैं जिन्हें राजनीतिक समाज सदैव महत्त्व देते रहें तो मानव-कल्याण के लिए ग्रीन के विचारों को कोई नहीं भुला सकेगा। ग्रीन के विचारों में तार्किक दृष्टि से भले ही असंगतियाँ रहीं हैं, तथापि व्यावहारिक राजनीति के निमित्त उनका महान् योगदान है।

बाईसवाँ अध्याय

वैज्ञानिक समाजवाद : कार्ल मार्क्स

जीवन परिचय

कार्ल मार्क्स (Karl Marx : 1818–1883) को वैज्ञानिक समाजवाद का जनक माना जाता है। मार्क्स से पूर्व तथा पश्चात् समाजवादी चिन्तन अनेक रूपों में होता रहा है। इसके कारण समाजवाद की अनेक विचारधाराएँ बन गयी हैं। परन्तु मार्क्स के विचारों ने समाजवाद को एक ऐसे दर्शन, आन्दोलन तथा कार्यक्रम का रूप प्रदान किया जिसके आधार पर यह वैज्ञानिक विचारधारा मानी जाने लगी है। मार्क्स से पूर्व समाजवादी चिन्तन या तो स्वप्नलोकी था, या केवल शिक्षा-दीक्षा तथा वैधानिक तरीकों से समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने के विचार व्यक्त किये जाते रहे थे, अतएव जैसा लास्की ने कहा है, 'मार्क्स ने साम्यवाद को अव्यवस्थित रूप में पाया और उसे एक आन्दोलन रूप में छोड़ा।'[1] भले ही मार्क्स के सिद्धान्तों में अनेक कमियों तथा असंगतियों की खोज की जाती रही है, तथापि समाजवाद के सम्बन्ध में उसने एक क्रमिक ढंग से विविध सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके समाजवाद को एक समग्र दर्शन का रूप प्रदान किया है। आज विश्व का एक विशाल भाग मार्क्स के विचारों का अनुयायी है। मार्क्स के पश्चात् उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों में अनेक संशोधन भी किए जाते रहे हैं, परन्तु इन समस्त संशोधनों ने कार्ल मार्क्स के विचारों की आत्मा को बनाये रखा है। इस प्रकार मार्क्सवाद एक स्थायी, किन्तु गतिशील विचारधारा सिद्ध हुई है।

कार्ल मार्क्स का जन्म जर्मनी में निवास करने वाले एक यहूदी परिवार में 1818 में हुआ था। यह परिवार सामान्यतः समृद्ध था। जब मार्क्स 6 वर्ष का था तो उसके माता-पिता ने ईसाई धर्म अपना लिया। बचपन से ही मार्क्स एक प्रतिभाशाली व्यक्ति सिद्ध हुआ। अतः उसे समुचित शिक्षा भी दिलायी गयी। वह बोन तथा बर्लिन के विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करता रहा। उसकी अभिरुचि इतिहास तथा दर्शनशास्त्र में थी। इन विश्वविद्यालयों में उसने प्रसिद्ध आदर्शवादी चिन्तक हीगल के दर्शन का अध्ययन किया और उसके विचारों से अत्यधिक प्रभावित हुआ। जब वह 20 वर्ष का था तो उसके पिता की मृत्यु हो गयी। अतः अब मार्क्स को अपनी आजीविका का साधन भी ढूंढ़ना था। 23 वर्ष की आयु में मार्क्स को जेना विश्वविद्यालय से डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी की उपाधि मिली। उसके द्वारा प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का विषय था—'The Difference between the Democritean and Epicurean Natural Philosophy।' मार्क्स की अभिरुचि शिक्षण कार्य में थी। परन्तु उसके उग्र तथा क्रान्तिकारी विचारों के कारण उसे अध्यापन

[1] 'Marx found communism a chaos and left it a movement.'—Laski.

कार्य में नियुक्ति नहीं मिल पायी। इसलिए उसने पत्रकारिता का व्यवसाय अपनाया और प्रगतिशील लेख लिखना आरम्भ किया। उसने अनेक पत्रों का सम्पादन किया। 1844 में मार्क्स का सम्पर्क फ्रेडरिक ऐंजिल्स (Friedrich Engels) के साथ हुआ, जो एक जर्मन उग्रवादी था और जिसका बाप एक अच्छा उद्योगपति था। ऐन्जिल्स आजन्म मार्क्स की सहायता करता रहा। यह सहायता आर्थिक एवं शैक्षिक चिन्तन दोनों क्षेत्रों में थी, क्योंकि मार्क्स को अपने जीवन में अनेक अवसरों पर धनाभाव की परेशानी से ऐन्जिल्स ने ही बचाया था। साथ ही मार्क्स ने जिन विचारों का प्रतिपादन किया वे अत्यधिक सैद्धान्तिक थे। ऐन्जिल्स एक अच्छा प्रचारक तथा संगठनकर्त्ता था। ऐन्जिल्स के सहचार से मार्क्स के विचारों में उग्रता आने के साथ-साथ उनके प्रसार हेतु बहुत सहायता मिली। ऐन्जिल्स के सहयोग से मार्क्स ने 1848 में अपनी प्रसिद्ध रचना 'Communist Manifesto' तैयार की और साम्यवादी लीग के लिए इसमें एक ऐसा कार्यक्रम तैयार किया, जो साम्यवादियों के लिए बाइबिल के तुल्य सिद्ध हुई है। इसके उग्र विचारों के कारण उसे पेरिस से तो निकाल ही दिया गया था और जब उसकी 'कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो' प्रकाशित हुई और उसने कम्युनिस्ट लीग में सक्रिय भाग लिया, तो 1848 की फ्रांस तथा जर्मनी में हुई क्रान्तियों के कारण मार्क्स को जर्मनी से भी निकाल दिया गया। अत: वह इंग्लैण्ड चला गया और आजन्म (1883 तक) वहीं रहा। इंग्लैण्ड के अपने इस दीर्घ प्रवास की अवधि में उसने अनेक रचनाएँ कीं।

मार्क्स की अन्य प्रमुख रचनाएँ हैं—Das Kapital (1867); The Critique of Political Economy (1859); The Civil War in France (1871), Value, Price and Profit (1865) आदि।

विचार-स्रोत

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में विगत शताब्दियों को निम्नांकित तीन क्रमों से रखा जा सकता है—सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी राजनीतिक चिन्तन का, उन्नीसवीं शताब्दी राजनीतिक परिचर्या का तथा वर्तमान (बीसवीं) शताब्दी राजनीतिक व्यवहार का युग है। सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी के चिन्तकों ने भावी शताब्दी की राजनीतिक परिचर्या के निमित्त पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की है। उनके विचारों का अवलम्बन करके उन्नीसवीं शताब्दी के विचारकों ने जिन विचार-धाराओं का प्रतिपादन किया, वे स्वयं मौलिक विचारधाराएँ तो सिद्ध नहीं होतीं, परन्तु वे पूर्ववर्ती चिन्तकों के द्वारा प्रतिपादित दर्शन पर आधारित ऐसी परिचर्याएँ हैं जिनका राजनीतिक चिन्तन एवं व्यवहार में पर्याप्त महत्त्व है। उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप में वैज्ञानिक तथा औद्योगिक क्षेत्रों में भारी प्रगतियाँ हुई हैं। उनके फलस्वरूप समाज की आर्थिक संरचना, व्यक्तियों के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों, राज्य तथा व्यक्तियों के मध्य सम्बन्धों, विभिन्न राष्ट्रीय राज्यों के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों आदि विभिन्न सामाजिक समस्याओं के समाधान के निमित्त राजनीतिक चिन्तकों ने पूर्ववर्ती विचारकों की धारणाओं को अपने-अपने ढंग से व्यक्त करना आरम्भ कर दिया। हॉब्स तथा लॉक के विचारों ने उपयोगितावादियों, निरंकुशतावादियों तथा वैधानिकतावादियों के लिए सामग्री प्रदान की थी, तो रूसो के विचारों ने आदर्शवादियों (प्रत्ययवादियों), समाजवादियों तथा लोकतन्त्रवादियों के लिए आधार

प्रस्तुत किये। इंग्लैण्ड तथा फ्रांस में अनेक ऐसे प्रकृतिवादी अर्थशास्त्री हुए, जिनके विचारों ने व्यक्तिवादियों को प्रभावित किया। इस प्रकार उदारवाद, व्यक्तिवाद, उपयोगितावाद, समाजवाद, प्रत्ययवाद तथा समाजवाद के विभिन्न रूप, जो उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपीय राजनीतिक चिन्तन की विचारधाराएँ हैं, स्वयं मौलिक न होकर राजनीतिक परिचर्या के रूप में प्रस्तुत हुई हैं, जिनके स्रोत पूर्ववर्ती चिन्तकों के विचार अथवा तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याओं के समाधान के निमित्त उन्नीसवीं शताब्दी के विभिन्न चिन्तकों के विभिन्न दृष्टिकोण हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के विभिन्न वर्गों के चिन्तकों के विचार भी एक-दूसरे के विचारों के प्रसार या उनके विरुद्ध प्रतिक्रियाएँ हैं। उदाहरणार्थ, प्रत्ययवादी विचारक उग्र तथा उदार दो प्रकार के थे, तो समाजवादी भी क्रान्तिकारी तथा विकासवादी दो वर्गों में विभक्त थे। उदारवादी व्यक्तिवाद के विरुद्ध आदर्शवाद (प्रत्ययवाद) का अभ्युदय हुआ तो आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में समाजवादी विचारधाराएँ व्यक्त की जाने लगीं। बीसवीं शताब्दी में उन्नीसवीं शताब्दी की इन समस्त परिचर्याओं से उत्पन्न विचारधाराओं को राजनीतिक व्यवहार में कार्यान्वित किया जा रहा है और देश-काल की विभिन्न परिस्थितियों के सन्दर्भ में उन्हें नया रूप प्राप्त होता जा रहा है।

चूंकि मार्क्स को वैज्ञानिक समाजवाद का जनक होने का श्रेय प्राप्त हुआ है, अतएव उसकी विचारधारा, जो आज मार्क्सवाद के नाम से जानी जाती है, एक मौलिक विचारधारा मानी जाने लगी है। परन्तु यह भी स्मरणीय है कि मार्क्स ने अपनी विचारधारा के निर्माण में जिन भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है वे उसके मौलिक सिद्धान्त नहीं हैं। प्रत्युत् जैसा एलेक्जेण्डर ग्रे ने कहा है, 'यह बात निस्सन्देह सत्य है कि मार्क्स के विचारों का निर्माण करने वाले तत्त्व अनेक स्रोतों से लिये गये हैं। उसने अपनी ईंटों को कई भट्टों से एकत्र किया, परन्तु उसने उनका उपयोग एक ऐसी इमारत का निर्माण करने के लिए किया जो स्वयं अपने ही नमूने की है।'[1] मार्क्स का वैज्ञानिक समाजवाद उन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित है जिनका विचार स्वप्नलोकी समाजवादियों के मस्तिष्क में था, परन्तु मार्क्स ने समाजवाद को एक क्रमबद्ध दर्शन का रूप प्रदान करने में इतिहास के विकास तथा पूँजीवादी व्यवस्था का विश्लेषण करके समाजवाद की उपलब्धि के निमित्त एक कार्यक्रम प्रस्तुत किया। इस प्रकार उसका समाजवाद एक कोरी विचारधारा न रहकर एक आन्दोलन, कार्यक्रम तथा सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था बन गया है। इस विचारधारा के निर्माण में मार्क्स के विचारों के मुख्य स्रोत निम्नांकित हैं—

(1) **तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियाँ**—औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप यूरोप के देशों में उत्पादन का प्रचुर विस्तार होता जा रहा था। उत्पादन के साधनों का स्वामित्व थोड़े से उद्योगपतियों, पूँजीपतियों तथा प्राचीन सामन्तशाही का अवशेष बड़े-बड़े जमींदारों के हाथ में रह गया था। माल का उत्पादन करने वाले श्रमजीवियों के पास केवल अपनी श्रमशक्ति थी जिसे वे उत्पादन के साधनों के मालिकों के हाथ वेतन के रूप में बेच सकते थे, परन्तु उन्हें भर-पेट पारिश्रमिक नहीं मिल पाता था। इस वर्ग की आर्थिक स्थिति बिगड़ती जा रही थी। व्यक्तिवाद के समर्थकों द्वारा आर्थिक क्षेत्र में उन्मुक्त प्रतियोगिता का समर्थन करना श्रमिक वर्ग के अहित में था।

[1] Alexander Gray, *The Socialist Tradition*, 1963, 299.

इस नीति के फलस्वरूप राज्य के कार्य-क्षेत्र को सीमित करने का प्रभाव यह भी हुआ कि राज्य की सत्ता पर बड़े-बड़े पूँजीपतियों का प्रभाव बढ़ता गया। इस कुप्रभाव को रोकने के लिए जो समाजवादी विचार व्यक्त किये जा रहे थे, वे अप्रभावी थे। समाजवादी लीग या अन्य संगठन इतने सुदृढ़ नहीं थे कि वे किसी ठोस कार्यक्रम द्वारा इस पूँजीवादी प्रवृत्ति को रोक सकते। मार्क्स के विचार उग्रवादी तो थे ही, साथ ही इन परिस्थितियों ने उन्हें और अधिक उग्र बनाने में योगदान किया। ऐन्जिल्स सदृश प्रचारवादी तथा संगठनकर्त्ता के सहयोग से उसे समाजवाद की विचारधारा को आन्दोलनकारी बनाने में और अधिक प्रोत्साहन मिला। साथ ही लासले (Lassalle), जो स्वयं एक श्रमिक संगठनकर्त्ता था, के 'वेतन के लौह कानून' सिद्धान्त ने भी मार्क्स के विचारों को क्रान्तिकारी बनाने में योगदान किया। पत्रकारिता के व्यवसाय ने मार्क्स को श्रमिक एवं शोषित वर्ग के हित में उग्र प्रकृति के लेख लिखने का अवसर प्रदान किया। इसी प्रकार उसका फ्रांस तथा जर्मनी से निकाला जाना भी उसके क्रान्तिकारी समाजवाद की धारणा का सृजन करने का स्रोत सिद्ध हुआ।

(2) **जर्मन प्रत्ययवादी हीगल के विचार**—अपने विश्वविद्यालय के जीवन में मार्क्स ने हीगल के दर्शन का गहन अध्ययन किया था और हीगल के विचारों का मार्क्स पर प्रचुर प्रभाव पड़ा। मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त को अपनाया किन्तु उसका निर्वचन भौतिकवादी दृष्टि से किया न कि आध्यात्मिक दृष्टि से। हीगल की भाँति मार्क्स ने भी यह स्वीकार किया है कि ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक है, अर्थात् एक व्यवस्था से दूसरी व्यवस्था में परिवर्तित होने की प्रक्रिया का कारण प्रथम व्यवस्था में अन्तर्विरोध का होना तथा उसके प्रतिषेध के रूप में एक नयी विरोधी प्रवृत्ति का उत्पन्न होना है। उन्हें हीगल की भाँति मार्क्स भी वाद तथा प्रतिवाद के रूप में लेता है। हीगल की विचार परम्परा को अपनाते हुए मार्क्स भी मानता है कि प्रतिवाद के पश्चात् सामाजिक विकास-क्रम में संवाद की स्थिति आती है। परन्तु हीगल के विपरीत मार्क्स द्वन्द्ववाद की इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में भौतिक (आर्थिक) तत्त्व को परिवर्तन का कारण मानता है, न कि दैवी विवेक को। इस प्रकार जहाँ द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त का हीगल अध्यात्मीकरण करता है, वहाँ मार्क्स इसके लिए आत्मा के स्थान पर पदार्थ तत्त्व को महत्त्व देकर इसका भौतिकीकरण करता है। समाज के विकास में मानव-सम्बन्धों का निरूपण करने में मार्क्स हीगल के विचारों से प्रभावित होकर इतिहास की व्याख्या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त के द्वारा करता है। इस दृष्टि से मार्क्सवाद के दो प्रमुख सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा इतिहास की आर्थिक व्याख्या हीगल के विचारों से प्रभावित हैं। इन्हीं के आधार पर मार्क्स वर्ग-संघर्ष की धारणा को भी विकसित करता है।

(3) **ब्रिटिश राजनीतिक अर्थशास्त्री**—मार्क्स ने पूँजीवादी व्यवस्था का विश्लेषण करने तथा उसके फलस्वरूप सर्वहारा वर्ग की उत्पत्ति को व्यक्त करने में अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इस सिद्धान्त की आधारशिला मूल्य का श्रम-सिद्धान्त है। ब्रिटिश अर्थशास्त्रियों आदम स्मिथ, रिकार्डो, थॉम्पसन आदि ने मूल्य तथा अतिरिक्त अर्थ-सिद्धान्त (surplus value theory) का प्रतिपादन करने में पूँजीपतियों के कल्याण का उद्देश्य रखा था। मार्क्स ने इस सिद्धान्त को अपनाया और श्रमिकों के हित में इसका निर्वचन किया। इसके द्वारा उसने यह

दर्शाया है कि पूँजीपति तथा उद्योगपति किस प्रकार श्रमिक वर्ग का शोषण करते हैं।

(4) **फ्रांसीसी क्रान्तिकारी परम्परा**—मार्क्स के सिद्धान्तों का व्यावहारिक पक्ष वर्ग-संघर्ष तथा सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति है। इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने में मार्क्स फ्रांसीसी क्रान्तिकारी परम्परा से प्रेरित हुआ था। पूँजीवाद का विनाश वैधानिक तरीकों से सम्भव होगा, ऐसा मार्क्स का विश्वास नहीं है। उसकी इतिहास की आर्थिक व्याख्या वर्ग-संघर्ष की द्योतक है। पूँजीपति वर्ग तथा सर्वहारा वर्ग के मध्य का द्वन्द्व सर्वहारा वर्ग के संगठित होने तथा पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध क्रान्ति में परिणत होगा। मार्क्स की भविष्यवाणी थी कि इस संघर्ष में सर्वहारा वर्ग विजयी होगा और पूँजीवादी व्यवस्था के पूर्णतया समाप्त हो जाने तक की अवधि में विजयी सर्वहारा वर्ग का सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था तथा आर्थिक व्यवस्था के ऊपर अधिनायकत्व रहेगा। क्रान्ति तथा संघर्ष की ऐसी धारणा को मार्क्स फ्रांसीसी क्रान्तिवादी परम्परा से अपनाता है।

इस प्रकार मार्क्स का सम्पूर्ण राजनीतिक दर्शन विश्लेषण तथा संश्लेषण दोनों पद्धतियों पर निर्मित हुआ है, जिसके स्रोत विविध हैं।

मार्क्सवाद के विभिन्न सिद्धान्त

मार्क्सवाद या वैज्ञानिक समाजवाद कोई एक विशिष्ट विचारधारा नहीं है, प्रत्युत् अनेक सिद्धान्तों पर निर्मित एक व्यापक समाजवादी कार्यक्रम या आन्दोलन है। इसके सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दो पक्ष हैं। सम्पूर्ण मार्क्सवाद के निर्माणकारी सिद्धान्तों को निम्नांकित शीर्षकों में व्यक्त किया जा सकता है—

(1) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (dialectical materialism),

(2) इतिहास की आर्थिक व्याख्या (economic interpretation of history),

(3) अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (the theory of surplus value),

(4) वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त (the theory of class-struggle),

(5) सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व (dictatorship of the proletariat),

(6) राज्य तथा समाज का भावी स्वरूप (the theory of state and society)।

ये विभिन्न सिद्धान्त एक-दूसरे से पृथक् नहीं हैं, अपितु एक क्रमिक ढंग से एक-दूसरे के साथ सम्बद्ध हैं और उनके योग से एक सांगोपांग समाजवादी दर्शन का निर्माण होता है। मार्क्स ने समाजवाद को एक क्रमबद्ध दर्शन, विचारधारा तथा आन्दोलन का रूप प्रदान किया है।

(1) **द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद**—मार्क्स के समाजवादी दर्शन रूपी इमारत की आधार-शिला उसका द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त है। मार्क्स ने द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त को हीगल के दर्शन से अपनाया है, परन्तु इस सिद्धान्त की व्याख्या अपने भौतिकवादी विचारों के अनुरूप की है। उसने हीगल के द्वन्द्ववाद तथा इतिहास के दर्शन की कुछ मूलभूत धारणाओं को अमान्य कर दिया। हीगल के अनुसार विश्व का नियमन करने वाली सत्ता दैवी मन या विश्वात्मा या दैवी विवेक है जो विश्व की समस्त जड़ तथा चेतन प्रकृतियों की नियामक शक्ति है। ऐतिहासिक विकास इसी विश्वात्मा का रूप है जो कुछ निश्चित नियमों के अनुसार दैवी विवेक की अभिव्यक्ति

करता है। दैवी विवेक की ऐसी नियामक प्रकृति में मानव अचेतन रूप से एक गौण तत्त्व के रूप में कार्य करता है। हीगल के मत से इतिहास के विकास में 'विचार तत्त्व' (ideas) प्रमुख होते हैं और इन्हीं को वास्तविकता कहा जा सकता है, क्योंकि 'जो विवेकसंगत है वही वास्तविक है, और जो वास्तविक है वही विवेकमय है।' चूंकि ऐतिहासिक विकास-क्रम दैवी विवेक का परिणाम है, अतः वह वास्तविकता है। इसमें सांसारिक तत्त्व (मानव या पदार्थ) गौण स्थान रखते हैं। परन्तु हीगल यह मानता है कि ऐतिहासिक विकास-क्रम में विभिन्न धर्मों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। इसके विपरीत मार्क्स के मत से ऐतिहासिक विकास-क्रम में विचार तत्त्व (idea) वास्तविकता नहीं है, बल्कि पदार्थ तत्त्व (matter) प्रमुख होते हैं। मार्क्स के मत से भौतिक इन्द्रिय सापेक्ष जगत जिससे मानव का सम्बन्ध है, वास्तविकता है। ऐतिहासिक विकास-क्रम में विभिन्न धर्मों की भूमिका महत्त्वहीन रहती है। मार्क्स के अनुसार धर्म मानव के लिए अफीम के तुल्य हैं। इतिहास के विकास-क्रम मे धर्म अधिक से अधिक परिणाम हो सकते हैं, न कि उसके कारण।

हीगल के अनुसार, ऐतिहासिक विकास-क्रम का नियम द्वन्द्वात्मक है। इतिहास के प्रत्येक युग की अपनी विशेषता होती है जो उस युग की समस्त संस्थाओं, परिपाटियों आदि को समाविष्ट करती है। जब इसमें परिवर्तन होता है तो उसका कारण उस व्यवस्था में स्वयं अन्तर्विरोध का होना है। इस अन्तर्विरोध के कारण एक नई व्यवस्था की सृष्टि होती है, जो पहली व्यवस्था की बिल्कुल विपरीत विशिष्टताओं से युक्त होती है। इन दोनों व्यवस्थाओं को हीगल ने क्रमशः वाद तथा प्रतिवाद (thesis and anti-thesis) कहा है। कालान्तर में प्रतिवाद के अन्तर्गत भी अन्तर्विरोध उत्पन्न होते हैं और उनके परिणामस्वरूप एक नयी व्यवस्था का उदय होता है। जिसे संवाद (synthesis) कहा जाता है। वाद तथा प्रतिवाद दोनों के अन्तर्गत जो सत्य हैं उन्हें संवाद के अन्तर्गत समाविष्ट कर लिया जाता है और जो दोनों में असत्य हैं उन्हें छोड़ दिया जाता है। कालान्तर में संवाद के अन्तर्गत भी अन्तर्विरोध उत्पन्न होने से पुनः वाद, प्रतिवाद तथा संवाद की प्रक्रिया जारी होती है। यह क्रम तब तक चलता रहता है, जब तक कि विश्वात्मा जो इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में कार्य करती है, अपने पूर्णत्व को प्राप्त नहीं हो जाती। हीगल का निष्कर्ष है कि विश्वात्मा अपनी ऐसी प्रकृति के कारण पूर्णत्व की प्राप्ति करती है, और ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में कार्यरत रहती है। अतएव ऐतिहासिक विकास-क्रम के कुछ निश्चित नियम हैं। हीगल के अनुसार, इस विकास-क्रम में विश्वात्मा राज्य के रूप में अपने पूर्णत्व की स्थिति में आ जाती है। अतः आगे फिर वाद, प्रतिवाद तथा संवाद की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है। द्वन्द्ववाद के हीगलवादी सिद्धान्त को मार्क्स ने अपनाया, परन्तु उसने इसमें एक मौलिक अन्तर बताया। मार्क्स के अनुसार, 'मेरी द्वन्द्ववाद की पद्धति न केवल हीगल की पद्धति से भिन्न है, अपितु यह प्रत्यक्षतः उससे विपरीत है।' इसका प्रमुख कारण मार्क्स के अनुसार यह है कि हीगल ऐतिहासिक विकास-क्रम में विचार-तत्त्व को प्रमुख स्थिति प्रदान करता है जबकि मार्क्स ने इसमें पदार्थ तत्त्व को प्रमुख माना है।

मार्क्स की मान्यता यह है कि विश्व एक भौतिक जगत है। इसमें घटनाएँ तथा वस्तुएँ एक दूसरी से पृथक् नहीं, अपितु पूर्णतया सम्बद्ध रहती हैं। चूंकि भौतिक जगत में परिवर्तन निरन्तर होते रहते हैं, अतः सामाजिक जीवन में भी जो भौतिक

है, परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनों का कारण किसी दैवी सत्ता या दैवी विवेक का नियम नहीं है, प्रत्युत् भौतिक परिस्थितियाँ इन परिवर्तनों के लिए उत्तरदायी हैं। इन भौतिक परिस्थितियों से मार्क्स का अभिप्राय समाज में व्याप्त आर्थिक सम्बन्धों से है। मार्क्स के अनुसार, जिस प्रकार पानी को गरम करने पर उसका तापमान शनैः शनैः बढ़ता जाता है और एक स्थिति वह आती है जबकि तापमान 100° सेंटीग्रेड पर पहुँच जाता है तो पानी भाप बनने लगता है और उसमें गुणगत परिवर्तन हो जाता है। ऐसा परिवर्तन एकाएक होता है। यही बात सामाजिक व्यवस्था के बारे में भी सत्य है। किसी युग की सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन का कारण उस युग में प्रचलित आर्थिक सम्बन्ध हैं। आर्थिक उत्पादन मानव जीवन की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। उत्पादन-प्रक्रिया में लगे मानवों के मध्य जो आर्थिक सम्बन्ध होते है, उनका आधार उत्पादक शक्तियों का होना है। इतिहास के विभिन्न युगों में उत्पादक शक्तियों का स्वरूप बदलता रहता है। उनके कारण सामाजिक सम्बन्धों में भी परिवर्तन आता रहता है। एक व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादक शक्तियों के आधार पर सामाजिक सम्बन्धों के मध्य अन्तविरोध होने से एक स्थिति ऐसी आ जाती है जबकि सम्पूर्ण व्यवस्था परिवर्तित हो जाती है। यही परिवर्तन 'वाद', 'प्रतिवाद' तथा 'संवाद' के द्योतक हैं। ऐतिहासिक विकास का यह क्रम जारी रहता है। प्रत्येक व्यवस्था के अन्तर्गत द्वन्द्व का कारण उत्पादन सम्बन्धों का होना है। मार्क्स का निष्कर्ष था कि ऐतिहासिक विकास-क्रम में विभिन्न व्यवस्थाओं के अन्तर्गत द्वन्द्व का कारण उत्पादक शक्तियों तथा उत्पादन के साधनों के मालिकों के मध्य द्वन्द्व का होना था। जब भी उत्पादक शक्तियों का स्वरूप परिवर्तित हुआ, समाज में दो वर्गों का अस्तित्व बना रहा और उनके मध्य संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हुई। प्रत्येक व्यवस्था के अन्तर्गत द्वन्द्व का उद्देश्य आर्थिक वर्गों का निराकरण करके वर्गविहीन समाज का निर्माण करने की प्रवृत्ति का होना था, परन्तु परिवर्तित व्यवस्था संघर्षरत वर्गों का निराकरण नहीं कर सकी। अतः वाद, प्रतिवाद तथा संवाद का क्रम जारी रहा। मार्क्स के अनुसार, सामन्तवादी व्यवस्था वाद थी तो पूँजीवादी व्यवस्था प्रतिवाद थी। इस प्रतिवाद को समाप्त करके संवाद के रूप में वर्गविहीन समाज की स्थापना द्वन्द्ववादी विकास का लक्ष्य है।

इस प्रकार जहाँ हीगल का द्वन्द्ववाद परिवार को वाद; बुर्जुआ समाज को प्रतिवाद तथा राज्य को संवाद मानता है और हीगल की दृष्टि में जर्मन राष्ट्र-राज्य इस प्रक्रिया की अन्तिम स्थिति है, जहाँ पर कि विश्वात्मा अपने पूर्ण रूप से अवतरित हो जाती है, उसी प्रकार मार्क्स का द्वन्द्ववाद भी वर्गविहीन समाज की स्थापना को द्वन्द्ववाद की अन्तिम मंजिल (संवाद) के रूप में मानता है, जिसके अन्तर्गत आर्थिक संघर्षरत वर्गों के अभाव में फिर प्रतिवाद या संवाद की व्यवस्थाओं के आने का प्रश्न नहीं उठेगा। इस प्रकार द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया में मार्क्स आध्यात्मिक या विचार तत्त्व के स्थान पर भौतिक या पदार्थ तत्त्व के योगदान को मान्य करता है। इसलिए उसका सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहलाता है।

(2) **इतिहास की आर्थिक व्याख्या**—मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त के आधार पर इतिहास की आर्थिक व्याख्या की है। अतः इतिहास की भौतिक व्याख्या मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का ही निष्कर्ष है। हीगल ने ऐतिहासिक विकास-क्रम में दैवी तत्त्व को प्रधान मानकर द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया में

उसके एक निश्चित नियम की कल्पना की थी और भौतिक तत्वों को इस प्रक्रिया में गौण माना था। परन्तु मार्क्स ने भौतिक तत्वों को ही ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक विकास का कारण माना है। मार्क्स इतिहास के विभिन्न युगों तथा उनके परिवर्तन क्रम की व्याख्या भौतिक तत्वों के आधार पर करता है। उसके मत से ऐतिहासिक विकास-क्रम में प्रथम युग आदिम साम्यवादी युग था। उस युग में मानव का जीवन सरल था। मानव के पास किसी प्रकार की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं थी। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु पर सबका समान अधिकार था। प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति की प्रत्येक वस्तु से अपनी आवश्यकता के अनुसार लाभ प्राप्त करता था और प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करता था। यदि एक व्यक्ति ने भोजन के लिए एक जानवर को मारा तो प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकतानुसार उसमें से लाभ प्राप्त कर लेता था। ऐसी वस्तुओं के संचय का प्रश्न नहीं था। इसी प्रकार जंगलों से फल-मूल आदि को भी लोग अपनी आवश्यकता के अनुसार प्राप्त कर लेते थे। अतः वह समाज एक आदर्श साम्यवादी व्यवस्था का था। उसमें उत्पादन सम्बन्धों के आधार पर किसी प्रकार के संघर्षरत वर्गों का अस्तित्व नहीं था।

जब कृषि आजीविका का साधन बनने लगी तो उत्पादन-प्रणाली का रूप बदल गया। अब पशु-हत्या के स्थान पर पशु-पालन तथा कृषि आजीविका के साधन बन गये। कृषि द्वारा उत्पादित उपज का संचय किया जाने लगा। मानव अब आजीविका के लिए भ्रमण की अपेक्षा एक स्थान पर स्थायी रूप से बसने लगे और कृषि-भूमि के स्वामित्व की प्रथा का सृजन हुआ। अब जो समाज दूसरों से युद्ध करके विजयी होते थे, वे पराजित समाज के लोगों को मारने की अपेक्षा उन्हें पकड़कर दास बना लेते थे और दासों को कृषि कार्य में लगाते थे। इस व्यवस्था में मालिक तथा दास दो वर्ग बनने लगे। मालिक वर्ग दासों के श्रम का उपभोक्ता बन गया। ऐसे समाज का नियमन मालिक वर्ग के वे लोग करने लगे जो सर्वाधिक शक्तिशाली अर्थात् सर्वाधिक भू-सम्पत्ति के स्वामी थे। यह समाज दासमूलक समाज था। इसके अन्तर्गत दास वर्ग शोषित होने के कारण अपनी मुक्ति के लिए प्रयत्नशील रहने लगा।

जब कृषि अर्थव्यवस्था पर्याप्त विकसित हो गयी और कृषि-भूमि उत्पादन का प्रमुख साधन हो गयी तो समाज के नेता (राजा) सम्पूर्ण भूमि के स्वामी बन गये। वे कृषि-भूमि के खण्डों को संविदा के आधार पर सामन्तों को किराये पर देने लगे। ये सामन्त उप-सामन्तों को और उप-सामन्त छोटे-छोटे कृषकों को इसी प्रकार अपने स्वामित्व के अन्तर्गत भूमि के खण्डों का वितरण करने लगे। दास-मूलक समाज का दास वर्ग अब अर्ध-दास बन गया। कृषि में उतपदन का कार्य यही वर्ग करता था। उच्च स्तर के भू-स्वामी (land-lord) इस वर्ग के श्रम के उपभोक्ता हो गये। इस सामन्तशाही समाज (feudalist society) के अन्तर्गत अर्ध-दासों का शोषण होता था; उनसे बेगार ली जाती थी। जो उत्पादन उनके द्वारा किया जाता था, उसका अधिकांश भाग सामन्तों को प्राप्त होता था, जो स्वयं श्रम नहीं करते थे, प्रत्युत् उत्पादन के साधनों के मालिक थे। अर्ध-दासों ने अब दस्तकारी द्वारा कृषि के औजार तथा अन्य दैनिक उपयोग की वस्तुओं को बनाना प्रारम्भ किया। इन वस्तुओं का उत्पादन इतनी अधिक मात्रा में होने लगा कि अब वे केवल घरेलू उपयोग से कहीं अधिक मात्रा में बनने लगीं। अतः उनके व्यापार तथा विनिमय की

आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि समाज कृषि अर्थव्यवस्था तक सीमित न रहकर उद्योग तथा व्यापार-मूलक समाज में परिवर्तित होने लगा। इस समाज के अन्तर्गत भी व्यावसायिक माल के उत्पादन का कार्य श्रमिक वर्ग ही करता था, परन्तु उत्पादन के साधनों का स्वामित्व उसके पास नहीं था। जो वर्ग ऐसे साधनों का मालिक था, वही उद्योगपति तथा व्यापारी बन गया। व्यापार के लिए उत्पादन बढ़ाना आवश्यक समझा जाने लगा। अत: व्यापारी तथा औद्योगिक वर्ग ने श्रमिकों को वेतन-प्रथा के आधार पर उद्योगों के कार्य में लगाना आरम्भ किया। चूँकि श्रमिक वर्ग के पास उत्पादन के साधन नहीं थे, अत: उन्हें वेतन के रूप में मालिकों के हाथ अपने श्रम का विक्रय करने पर विवश होना पड़ा। यह वर्ग दासमूलक समाज का वह दास वर्ग था जो सामन्तशाही समाज के अन्तर्गत कुछ अंश में स्वतन्त्र हो गया अर्ध-दास था। अब उद्योगपतियों के द्वारा इस वर्ग के श्रम का शोषण होने लगा। उत्पादन की वृद्धि तथा व्यापार-व्यवसाय के विकास के कारण अब सम्पत्ति का संचय करने तथा विनिमय हेतु मुद्रा का आविष्कार हुआ। इस प्रकार व्यापारी तथा उद्योगपति वर्ग के पास पर्याप्त पूँजी का संचय होने लगा। पूँजी के बल पर इस वर्ग ने राज-सत्ता के ऊपर भी अपना प्रभाव बढ़ा लिया। अत: सामन्तशाही व्यवस्था का स्थान पूँजीवादी व्यवस्था ने ग्रहण कर लिया।

वैज्ञानिक विकास के कारण धीरे-धीरे इस व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादक शक्तियों का स्वरूप भी बदल गया। अब शारीरिक श्रम का महत्त्व घटने लगा और उसका स्थान मशीनों ने ले लिया। मशीनों के कारण उत्पादन में बहुत वृद्धि हुई। ऐसे मशीनी कारखानों की स्थापना बड़े-बड़े पूँजीपति ही कर सकते थे। मशीनों के कारण न केवल उत्पादन की मात्रा ही बढ़ी, अपितु उत्पादित माल का गुणात्मक स्वरूप भी बढ़ने लगा। इसके कारण हस्त-शिल्पियों को और भी अधिक संकट की स्थिति में रहना पड़ा। अब उन्हें कारखानों के मालिकों की शरण में रोजगार के लिए जाना पड़ा। मशीनों के कारण श्रमिकों की माँग कम हो गयी। इसलिए श्रमिकों को थोड़ी-सी मजदूरी पर अपनी आजीविका ढूँढ़नी पड़ी। माँग और आपूर्ति के नियमानुसार मालिक उनसे अधिक समय तक श्रम लेने और मजदूरी कम देने लगे। इसके कारण पूँजीपतियों को अतिरिक्त अर्घ प्राप्त होने लगा, जिसे वे अन्य मशीनी उपकरणों को क्रय करने में लगाते थे। परिणामस्वरूप श्रमिकों की माँग और कम होने लगी। उन्हें अपने श्रम से भरपेट मजदूरी मिलना तो कठिन था ही, साथ ही माँग की कमी के कारण उन्हें भारी बेरोजगारी का भी सामना करना पड़ा। उत्पादन के कोई साधन उनके पास न होने के कारण उस वर्ग की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गयी। इस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत शोषक तथा शोषित दो वर्गों का अभ्युदय उत्पादन-प्रणाली का ही परिणाम था।

मार्क्स ने ऐतिहासिक विकास-क्रम में उक्त विभिन्न युगों की व्याख्या करके यह दर्शाने का प्रयास किया है कि विभिन्न व्यवस्थाओं में परिवर्तन का मुख्य कारण उत्पादक शक्तियों में परिवर्तन का होना है। इन्हीं के कारण सामाजिक सम्बन्धों का निरूपण होता है। विभिन्न युगों में प्रचलित उत्पादन-प्रणालियों के अन्तर्गत इन सम्बन्धों के आधार पर दो वर्ग बनते आये हैं, जिनके मध्य संघर्ष होता रहा है और ऐसे संघर्षों के परिणामस्वरूप नयी सामाजिक व्यवस्थाओं का जन्म होता आया है। इस प्रकार उत्पादक शक्तियों में परिवर्तन होने से द्वन्द्ववाद के आधार पर नई व्यवस्थाएँ

बनती आयी हैं। मार्क्स पूँजीवाद के युग का विचारक था। अतः उस युग में उसने सर्वहारा वर्ग की कल्पना की थी, जो कि पूँजीवादी व्यवस्था का शोषित वर्ग था। मार्क्स का उद्देश्य यह दर्शाना था कि पूँजीवाद को संघर्षमय क्रांति द्वारा सर्वहारा वर्ग समाप्त करेगा, और उसके परिणामस्वरूप समाजवादी व्यवस्था का निर्माण होगा।

आलोचना—मार्क्स की द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की धारणा तथा इतिहास की आर्थिक व्याख्या एक दूसरे से सम्बद्ध सिद्धान्त हैं। द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने में मार्क्स ने वही भूल की है जो हीगल ने की थी। हीगल के द्वन्द्ववाद में ऐतिहासिक विकास के निमित्त दैवी शक्ति को ही एकमात्र कारण माना गया था और मानवी तथा भौतिक तत्त्वों की पूर्णतया उपेक्षा की गयी थी। इसी प्रकार मार्क्स ने इस विकास-क्रम की एकमात्र प्रेरक शक्ति भौतिक तत्त्व को माना है। एक ने पदार्थ की उपेक्षा की, तो दूसरे ने चेतना की उपेक्षा की है। यह मानना सही नहीं है कि ऐतिहासिक विकास-क्रम में केवल भौतिक तत्त्व ही प्रधान होता है। मार्क्स ने धर्म की भी उपेक्षा की है, जो सही नहीं है। ऐतिहासिक विकास-क्रम में धार्मिक आन्दोलनों ने सामाजिक व्यवस्थाओं को प्रभावित करने में बड़ा योगदान किया है। मार्क्स का यह दृष्टिकोण कि राजनीतिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक आदि विविध परिस्थितियाँ आर्थिक कारणों के ही फल हैं, पूर्ण सत्य नहीं है। बहुधा किसी युग के ऐतिहासिक परिवर्तन इन परिस्थितियों के कारण भी हुआ करते हैं।

वेपर के अनुसार, मार्क्स यह नहीं बताता कि भौतिकवाद से उसका क्या अभिप्राय है। वह केवल यही बताता है कि उसका भौतिकवाद यान्त्रिक नहीं, बल्कि द्वन्द्वात्मक है।[1] यान्त्रिक भौतिकवाद के अन्तर्गत विकास बाह्य परिस्थितियों के पदार्थों पर पड़ने वाले प्रभावों का परिणाम होता है, जबकि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में विकास पदार्थ का आन्तरिक विकास है। बाह्य परिस्थितियाँ केवल विकास को सहायता देती हैं या उसे अवरुद्ध करती हैं। इसका सम्बन्ध गति से है न कि पदार्थ से। इस प्रकार यद्यपि मार्क्स भौतिकवाद शब्द का निरन्तर प्रयोग करता है, तथापि मार्क्स या ऐंजिल्स ने भौतिकवाद के सम्बन्ध में अपने विचारों को स्पष्ट नहीं किया है। द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त के आधार पर पदार्थ स्वयं विकसित होने के नियम से उसके अन्तिम उद्देश्य वर्ग-विहीन समाज की स्थापना को बताना भी रहस्यमय तर्क है। द्वन्द्ववाद के आधार पर जो उपमाएँ दी गयी हैं वे भी तर्कसम्मत नहीं हैं। उदाहरणार्थ, ऐंजिल्स जौ के बीज को वाद, उससे उगे पौधे को प्रतिवाद तथा जौ की बाल को संवाद कहता है। द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त के अनुसार ऐसे परिवर्तनों को गुणगत परिवर्तन माना गया है। परन्तु जौ की बाल में जौ के दाने का लगाना गुणगत परिवर्तन नहीं है। इसी प्रकार भौतिकवादी यह भूल जाते हैं कि परिस्थितियाँ मानवों के द्वारा बदली जाती हैं, और यह भी कि ऐतिहासिक विकास पूर्व-निर्धारित नियमों का फल नहीं है। स्वयं ऐंजिल्स ने 1890 में स्वीकार किया था कि उसने तथा मार्क्स ने आर्थिक तत्त्व को आवश्यकता से अधिक प्रमुखता दी थी।[1] संक्षेप में, द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने में मार्क्स तथा ऐंजिल्स दोनों ने सामाजिक जीवन के जटिल तत्त्वों की उपेक्षा करके उसे अत्यन्त सरल मानकर उसमें केवल भौतिक तत्त्वों (उत्पादन प्रणाली तथा उत्पादन सम्बन्धों) को सामाजिक विकास का मुख्य कारण

[1] Quoted in Wayper, *op. cit.*, 202.

स्वीकार कर लिया। मार्क्स ने इस सिद्धान्त को अपने विचारों के अन्तिम उद्देश्य को सिद्ध करने तक ही अपनाया और इसलिए यह दोषपूर्ण हो गया है।

मार्क्स की इतिहास की आर्थिक व्याख्या जो उसके द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर आधारित है, अनेक दृष्टियों से तर्कहीन है। उसने द्वन्द्वात्मक की त्रयी के रूप में जिन व्यवस्थाओं की कल्पना की है, उनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक व्यवस्था का अपना अलग आरम्भ तथा अन्त है और प्रत्येक नयी व्यवस्था पूर्व की व्यवस्था का प्रतिवाद या संवाद होने के कारण उससे श्रेष्ठतर है। परन्तु ये धारणाएँ भ्रामक हैं। वास्तव में इतिहास घटनाओं की एक क्रमबद्ध शृंखला है, जिसके आरम्भ तथा अन्त का सही निर्धारण करना कठिन है। साथ ही यह भी नहीं माना जा सकता कि इतिहास का नया युग सदैव पूर्व के युग से उत्तमतर है। तथ्य तो यह है कि कभी-कभी नया युग पूर्व के युग की अपेक्षा अधिक बुरा या विनाशकारी भी सिद्ध होता है।

मार्क्स का यह निष्कर्ष कि ऐतिहासिक विकास का निश्चित नियम होता है, जिसका कारण भौतिक या आर्थिक है, और भी अधिक तर्कहीन है। मार्क्स ने ऐतिहासिक विकास-क्रम में योगदान करने वाले अन्य तत्त्वों यथा धर्म, मानव-चेतना, संवेग एवं मानव कार्य-कलापों की उपेक्षा की है। बर्ट्रेण्ड रसल के मत से मार्क्स-वादियों ने राष्ट्रवाद को ऐतिहासिक विकास-क्रम में उपेक्षित रखकर महान् भूल की है। राष्ट्र-राज्यों के निर्माण का कारण केवल आर्थिक ही नहीं होता। निःसन्देह ऐतिहासिक विकास में अन्य विविध तत्त्वों—जाति, धर्म, संस्कृति, भाषा, राजनीति, जन-परम्पराएँ, कानून-व्यवस्था आदि के साथ-साथ आर्थिक तत्त्व भी एक कारण हो सकता है, परन्तु यह एकमात्र तत्त्व नहीं है जैसा कि मार्क्स मानता है। वास्तविकता यह है कि सामाजिक सम्बन्ध अत्यन्त जटिल प्रकृति के होते हैं। उनमें केवल उत्पादन प्रणाली या उत्पादन सम्बन्धों को ही सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था का कारण मानना तथा उनके कारण ही उनमें परिवर्तन होकर नयी व्यवस्था का अभ्युदय मानना इतिहास का सही निर्वचन नहीं है। समय-समय पर महत्त्वाकांक्षी योद्धाओं के विजय अभियानों से जो सामाजिक तथा राजनीतिक परिवर्तन होते रहे हैं, उनमें आर्थिक तत्त्व या उत्पादन सम्बन्धों को ही परिवर्तन का कारण नहीं माना जा सकता। ग्रीक नगर-राज्य-व्यवस्था के अन्तर्गत दास-प्रथा प्रचलित थी, उसके बाद रोमन साम्राज्य की व्यवस्था आयी, मध्य युग में संघर्ष का कारण ईसाई धर्म-प्रचार के फलस्वरूप राज्यसत्ता तथा धर्मसत्ता के मध्य संघर्ष रहा। इसी बीच सामन्तशाही का अभ्युदय हुआ। इसके बाद राष्ट्रीय राज्यों का युग आया और निरंकुश राजतन्त्र कायम हुए। यूरोप के इतिहास में इन परिवर्तनों का कारण मार्क्स की इतिहास की भौतिक व्याख्या के आधार पर नहीं खोजा जा सकता। भारत में हिन्दू साम्राज्यशाही के पश्चात् मुसलमानों के आक्रमण हुए और एक के बाद दूसरे वंश का शासन होता रहा। इन सबके पीछे आर्थिक कारणों का कोई अस्तित्व नहीं था। पाकिस्तान का उदय किसी भी रूप में आर्थिक कारणों से हुआ नहीं माना जा सकता। साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के विरुद्ध जो स्वतन्त्रता संग्राम वर्तमान शताब्दी में हुए हैं उनके प्रेरणा-स्रोत भी केवल आर्थिक सम्बन्ध नहीं थे, अपितु इनके पीछे राजनीतिक चेतना का विकास राष्ट्रवाद की प्रबल भावनाएँ कार्य करती रही हैं। मानव के समस्त कार्य-कलापों के प्रेरणा-स्रोत आर्थिक कारणों को ही मानना अनुचित है।

मार्क्स का सिद्धान्त इतिहास को केवल आर्थिक वर्गों के मध्य संघर्ष की कहानी तथा इसी वर्ग-संघर्ष के परिणामस्वरूप नये युगों का अभ्युदय होना मानता है। यह भी इतिहास की सही व्याख्या नहीं है। स्वयं एँजिल्स ने मार्क्स की मृत्यु के कुछ ही काल पश्चात् स्वीकार किया था कि इतिहास की आर्थिक व्याख्या का अभिप्राय यह मानना था कि आर्थिक कारण आधारस्वरूप होते हैं अन्य कारण ऐतिहासिक संघर्ष के विकास को प्रभावित करते हैं और अनेक अवसरों पर तो वे उनके स्वरूप का भी निर्धारण करते हैं।[1] यह सही है कि किसी युग विशेष में आर्थिक तत्त्व प्रमुख निर्धारक कारण रहे हों, परन्तु यह भी सही है कि अनेक युगों में अन्य तत्त्व अधिक निर्धारक सिद्ध होते रहे हैं। वास्तव में अधिक उपयुक्त तथ्य यह है कि ऐतिहासिक विकास-क्रम में समय-समय पर विभिन्न तत्त्व अपना-अपना योगदान करते रहते हैं, और उनमें से किसी एक ही तत्त्व को परिवर्तन का सार्वभौम कारण नहीं माना जा सकता।

मार्क्स के पक्ष में इतना कहा जा सकता है कि उसने इतिहास की व्याख्या करने में वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया है और वह यह नहीं मानता कि इतिहास केवल अतीत के राजा-महाराजाओं तथा योद्धाओं की वीरता तथा युद्धों की कहानी मात्र नहीं है। प्रत्युत् इतिहास को समझने के लिए हमें सम्बन्धित युग के सामाजिक सम्बन्धों का ज्ञान आर्थिक स्थितियों के सन्दर्भ में भी करना चाहिए। दूसरी बात यह भी है कि मार्क्स का मुख्य उद्देश्य पूंजीवादी युग के शोषित सर्वहारा वर्ग को शोषक पूंजीपतियों के विरुद्ध क्रान्ति करने के लिए प्रोत्साहित करना था। इस समाजवादी क्रान्ति के कार्यक्रम के औचित्य को व्यक्त करने के उद्देश्य से उसने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा इतिहास की आर्थिक व्याख्या के सिद्धान्तों को आधार बनाने का प्रयास किया था। साथ ही समाजवादी व्यवस्था को एक क्रमबद्ध ढंग से प्रस्तुत करने के प्रयास में उसने इन सिद्धान्तों के आधार पर अन्य सिद्धान्तों का विवेचन किया है। अतएव उसके इतिहास की आर्थिक व्याख्या की धारणा को बहुत गम्भीरतापूर्वक नहीं लिया जाना चाहिए।

(3) **अतिरिक्त अर्घ (मूल्य) का सिद्धान्त**—मार्क्स मूल रूप से एक दार्शनिक तथा क्रान्तिकारी विचारों वाला व्यक्ति था। उसे अपने युग की पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत शोषित सर्वहारावर्ग के प्रति महान् सहानुभूति थी। समाजवादी विचारों का प्रतिपादन करने के निमित्त उसने जिन विभिन्न सिद्धान्तों को व्यक्त किया है उनमें से उसका अतिरिक्त अर्घ का सिद्धान्त भी एक है। समाजवाद मूल रूप से एक आर्थिक विचारधारा है। मार्क्स ने सामाजिक व्यवस्थाओं का विवेचन करने में आर्थिक तत्त्वों को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। उसका मत था कि आर्थिक सत्ता राजनीतिक सत्ता से पूर्व विद्यमान रहती है (Economic power precedes the political power)। समाजवादी-राज्य-व्यवस्था का सही विवेचन तथा विश्लेषण करने के लिए अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का ज्ञान आवश्यक है। मार्क्स स्वयं एक अर्थशास्त्री नहीं था। परन्तु उसके ऊपर ब्रिटिश राजनीतिक अर्थशास्त्रियों के विचारों का प्रभाव पड़ा था। उनके विचारों को मार्क्स ने पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत पूंजीपति तथा सर्वहारा वर्ग की उत्पत्ति एवं उनके मध्य वर्ग-संघर्ष के सन्दर्भ में समझाने का प्रयास किया है।

मार्क्स का अतिरिक्त अर्घ का सिद्धान्त 'मूल्य के श्रम सिद्धान्त' (labour theory of value) पर आधारित है, जिसका प्रतिपादन ब्रिटिश अर्थशास्त्री विलियम

[1] Lancaster, *Masters of Political Thought : Hegel to Dewey*, 171.

पैटी, रिकार्डो तथा एडम स्मिथ ने किया था। कोकर के अनुसार इस सिद्धान्त की मान्यता यह है कि 'अन्ततः किसी उत्पादित माल की विनिमय दर उस माल के उत्पादन में व्यय किये गये श्रम पर निर्भर करती है, और मार्क्स से पूर्व अनुदार तथा प्रगतिवादी दोनों प्रकार के अर्थशास्त्री इस सिद्धान्त को स्वीकार करते थे।'[1] इस सिद्धान्त की मान्यता यह है कि 'श्रम मूल्य का सृजन करता है' (labour creates the value)। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक ये अर्थशास्त्री यह मानते रहे कि वस्तुओं का विनिमय मूल्य निर्धारित होने में उनमें लगे श्रम के साथ-साथ पूँजी, उपकरण, कच्चा माल, श्रम आदि सभी तत्त्व शामिल रहते हैं। साथ ही वस्तु की माँग तथा विभिन्न परिस्थितियों पर आधारित वस्तुओं के गुणात्मक स्वरूप भी उनके विनिमय मूल्यों को परिवर्तित करते रहते हैं। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के चतुर्थांश के कुछ लेखकों ने यह तर्क दिया कि चूँकि 'श्रम ही सम्पूर्ण सम्पत्ति का उत्पादन करता है; अतः श्रम द्वारा समस्त उत्पादन पर श्रमिकों का अधिकार है।' मार्क्स ने श्रम के मूल्य सिद्धान्त के समर्थक इन लेखकों को निर्बाध रूप से उद्धृत किया है।[2] पूर्व के अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त का निर्वचन पूँजीपतियों के समर्थन में किया था।

अर्थशास्त्री वस्तुओं के मूल्य (value) तथा दाम (price) के मध्य भेद करते हैं। मूल्य वस्तु की उपयोगिता के मानदण्ड का द्योतक है और दाम का अभिप्राय वस्तु की विनिमय दर (exchange value) है, अर्थात् एक वस्तु के बदले में दूसरी वस्तु के विनिमय की राशि का निर्धारण उन वस्तुओं के दाम का द्योतक है। वस्तुओं के मूल्य तथा दाम का निर्धारण करने की कसौटी उन वस्तुओं के उत्पादन में व्यय हुए श्रम का मूल्यांकन करना है। मार्क्स की धारणा थी कि 'किसी वस्तु की उपयोगिता का मूल्य (use value) उसमें लगे श्रम की राशि से मुक्त भी होता है।' उदाहरणार्थ, हवा तथा पानी बहुत उपयोगी है, यद्यपि उनमें कोई श्रम व्यय नहीं होता। मार्क्स के मूल्य-सिद्धान्त को प्रो० जोड ने इस प्रकार दर्शाया है, 'पूँजीवादी समाज की सम्पत्ति अन्ततः माल का विशाल संग्रह होती है। इस (माल का मूल्य मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति करने की उसकी क्षमता का समानुपाती होता है) जो उसकी उपयोगिता पर आधारित है। किसी वस्तु की उपयोगिता की मात्रा का ज्ञान इस आधार पर किया जाता है कि उसके द्वारा किस वस्तु का विनिमय किया जा सकता है। अतः मार्क्स 'विनिमय मूल्य' पद का प्रयोग एक वस्तु की तुलना में दूसरी वस्तु की कीमत के सम्बन्ध को दर्शाने के लिए करता है। यह विनिमय मूल्य जिसे वस्तु का 'दाम' कहा जाता है बाजार की परिस्थितियों के अनुसार भिन्न होता रहता है, जो अस्थायी है और अपने वास्तविक प्रभाव से विमुख नहीं होता। यही वास्तविक प्रभाव या तत्त्व वस्तु के मूल्य तथा दाम दोनों को निर्धारित करता है। यह वास्तविक प्रभाव उस वस्तु के उत्पादन में व्यय किये गये श्रम का औसत समय है।'[3] वस्तुओं का विनिमय मूल्य इसीलिए होता है कि उनमें श्रम व्यय करना पड़ता है ताकि उन्हें उपयोगी बनाया जा सके। इसीलिए विनिमय दर वस्तुओं के उत्पादन में लगाये गये श्रम की मात्रा पर निर्भर करती है। विभिन्न प्रकार की वस्तुओं में कुछ तत्त्व समान होते हैं, यथा उनके रासायनिक तत्त्व या अन्य नैसर्गिक तत्त्व जो उनकी विनिमय दर के

[1] F. W. Coker, *Recent Political Thought*, 41–42.
[2] *Ibid.*, 43.
[3] C. E. M. Joad, *Modern Political Theory*, 42–43.

निमित्त प्रभावी नहीं होते। प्रत्युत् उनके निर्माण में लगाये गये मानव श्रम की मात्रा ही प्रभावी होती है। उदाहरण के लिए, माना किसी स्थान पर एक व्यक्ति प्यासा है, उसे जल की आवश्यकता है। एक अन्य व्यक्ति 2 मील दूर से पानी भरकर लाया था। वह प्यासे व्यक्ति को एक लोटा जल पिलाकर उससे 25 पैसे माँगता है, तो 1 लोटे जल की विनिमय दर 25 पैसा इसलिए है कि उसे उस स्थान पर उपलब्ध कराने में उस व्यक्ति ने श्रम व्यय किया था, न कि उस जल की कीमत है जो कि प्राकृतिक रूप से उपलब्ध होता है। यदि वही एक लोटा जल जलाशय के पास उपलब्ध रहता तो उसका दाम कुछ भी नहीं होता।

इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उठता है कि विविध वस्तुओं के उत्पादन में लगे श्रम की मात्रा का निर्धारण कैसे किया जायेगा? वस्तुओं के दाम कम या अधिक क्यों होते हैं। मार्क्स के अनुसार श्रम की मात्रा की माप श्रम में लगे समय के अनुसार की जाती है जिसका निर्धारण सप्ताहों, दिनों या घण्टों तक लगाये गये श्रम से किया जाता है। सभी श्रमिकों में श्रम-क्षमता भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। एक श्रमिक किसी कार्य को 2 घण्टे में पूरा करता है तो दूसरा उसी को 4 घण्टे में। ऐसी स्थिति में मूल्य का निर्धारण वस्तु में लगे श्रम-समय के अनुसार करने में कठिनाई उत्पन्न हो सकती है। मार्क्स का तर्क है कि 'किसी वस्तु के मूल्य का निर्धारण उसमे लगे 'सामाजिक दृष्टि से आवश्यक' श्रम की मात्रा से किया जाता है, अर्थात् वस्तु के उत्पादन में लगाया जाने वाला सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम-समय उस वस्तु का मूल्य निर्धारण करने की कसौटी होगा।' अत: विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन में लगाये जाने वाले श्रम-समय का औसत मान सामाजिक आवश्यकता को ध्यान में रखकर लगाया जायेगा, अर्थात् किसी वस्तु के उत्पादन में कितना श्रम-समय सामाजिक दृष्टि से आवश्यक है, उसी को औसत मानकर वस्तु का मूल्य निर्धारित होता है।

मार्क्स ने श्रम के मूल्य सिद्धान्त को ब्रिटिश अर्थशास्त्रियों से ग्रहण किया। परन्तु उसकी व्याख्या उसने अपने सैद्धान्तिक तर्कों के अनुसार की है। रिकार्डो की धारणा थी कि उद्योग से होने वाला लाभ मुख्यतया उस अतिरिक्त उत्पादन पर निर्भर करता है जो कि श्रमिक को दिये गये पारिश्रमिक से अधिक होता है। इसी प्रकार एक जर्मन अर्थशास्त्री[1] का मत था कि श्रमिक को उस मूल्य की तुलना में जिसके सृजन में उसका श्रम सहायक होता है, अपने समुचित भाग से कम पारिश्रमिक मिलता है।'[2] इस प्रकार इन अर्थशास्त्रियों के निष्कर्ष यह थे कि वस्तुओं के उत्पादन में लगे श्रम के आधार पर वस्तुओं का जो मूल्य निर्धारित किया जाता था, उसका समुचित भाग श्रमिक को न मिलकर पूंजीपति को प्राप्त होता था। मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (Theory of surplus value) आजीविका-गत वेतन की धारणा (Conception of subsistence wages) पर आधारित है। इस धारणा का अभिप्राय यह है कि श्रमिक को उतना मूल्य मिलना चाहिए जो कि उसकी तथा उसके परिवार की आजीविका के निमित्त न्यूनतम आवश्यकताएँ उपलब्ध करा सके।

मार्क्स ने अतिरिक्ति अर्घ के सिद्धान्त को पर्याप्त विस्तार के साथ व्यक्त किया

[1] J. H. Von Thunen, quoted by Coker, *op. cit.*, 45.
[2] *Ibid.*

है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक वैज्ञानिक आविष्कारों के परिणामस्वरूप उत्पादन के साधनों में नये-नये यन्त्रों का काफी अधिक आविष्कार हो चुका था। वस्तुओं के मूल्य के सृजन में उपयोग किये जाने वाले यन्त्रों तथा उपकरणों का स्वामित्व एक छोटे के पूँजीपति वर्ग को प्राप्त था। श्रमिकों को इन यन्त्रों तथा उपकरणों को क्रियाशील बनाये रखने का कार्य करना पड़ता था। पूँजीपति या उद्योगपति श्रमिकों से श्रम-शक्ति का क्रय करके उसे इन उपकरणों पर लगाता था। कच्चे माल के उत्पादन के साधनों का स्वामित्व भी पूँजीपति वर्ग के ही पास था। इस प्रकार पूँजीपति वस्तुओं के जिस विनिमय मूल्य का उत्पादन करता था वह मजदूरों को दिये गये वेतन तथा कारखाने के रख-रखाव (upkeep) में व्यय होने वाली धनराशि से कहीं अधिक होता था। यही वृद्धि अतिरिक्त अर्घ कहलाती थी। इसका सृजन श्रमिकों के श्रम के शोषण से होता था, जो पूँजीपति की जेब में जाता था। इस दृष्टि से यह अतिरिक्त अर्घ मूल्य न चुकाये गये श्रम की उपज था। मार्क्स का यह तर्क था कि वस्तुओं के मूल्य का निर्धारण उनके उत्पादन में लगे उस श्रम-समय के आधार पर किया जाता है, जो औसत में सामाजिक दृष्टि से आवश्यक है। पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत उद्योगपति श्रमिक से उक्त औसत समय से अधिक समय तक श्रम लेता था परन्तु उसे वेतन औसत समय की दर से देता था। श्रमिक के पास केवल अपना श्रम ही उसकी सम्पत्ति था, जिसे वह उद्योग के मालिकों को उनके द्वारा निर्धारित दर पर बेचने के लिए विवश था, क्योंकि अन्यथा उसकी आजीविका का और कोई साधन न रह जाता। श्रमिक से औसत से अधिक समय तक काम लेने के कारण वस्तु की विनिमय दर में जो वृद्धि होती थी, वह उसका अतिरिक्त अर्घ कहलाता था। इस अतिरिक्त अर्घ को पूँजीपति कारखाने के लिए अन्य उपकरणों के संचय में व्यय करता था। इन उपकरणों के कारण उत्पादन में वृद्धि होती थी और श्रमिकों की माँग कम होती जाती थी। इससे मालिकों के अतिरिक्त अर्घ में और भी अधिक वृद्धि होती थी, क्योंकि अब माँग और पूर्ति के नियम के अनुसार श्रमिकों को आजीविका के लिए न्यूनतम वेतन पर अधिक समय तक कार्य करने को विवश होना पड़ता था। यह सामाजिक अन्याय की पराकाष्ठा थी, जिसे खुली लूट कहा जाना चाहिए। इस प्रकार मार्क्स का मत है कि वस्तुओं का विनिमय मूल्य निर्धारित करने का एकमात्र साधन उनके उत्पादन में लगा मानव-श्रम है। अन्य तत्त्व, यथा पूँजी, उपकरण, कच्चा माल आदि सब गौण हैं। उत्पादन के साधनों के मालिक श्रमिकों को उनके श्रम की तुलना के न्यायोचित वेतन न देकर अतिरिक्त मूल्य की सृष्टि करते हैं और उस अतिरिक्त मूल्य का विनियोजन स्वयं अपने ही लाभ के लिए करते हैं।

आलोचना—मार्क्स के पूर्व-वर्णित अन्य सिद्धान्तों की ही भाँति अतिरिक्त अर्घ के सिद्धान्त में भी अनेक कमियाँ हैं। आज के अर्थशास्त्री मूल्य के 'श्रम सिद्धान्त' को अस्वीकार करते हैं और अब यह धारणा कि 'श्रम ही मूल्य का सृजन करता है' अमान्य हो चुकी है। वास्तव में उत्पादित वस्तुओं के मूल्य का निर्धारण उत्पादन-क्रिया में लगी पूँजी, उपकरण, यातायात का व्यय, राज्य द्वारा लगाये जाने वाले उत्पादन कर, शुल्क, श्रम की कुशलता, उद्योग के संगठन आदि अनेक आधारों पर किया जाता है। निस्सन्देह, श्रम भी एक तत्त्व है; परन्तु वह एकमात्र तत्त्व नहीं है। उत्पादन-प्रक्रिया की जटिलता तथा वैज्ञानिक विकास के कारण मानव श्रम की मात्रा का ज्ञान केवल श्रम के आधार पर ही नहीं किया जा सकता। मानव-श्रम का रूप

भी अनेक प्रकार का होता है। एक साधारण अविशेषज्ञ श्रमिक से लेकर कुशल इन्जीनियर तथा व्यापार विनिमय के निमित्त कुशल नीति का निर्माण करने का ज्ञान तथा अनुभव आदि सभी श्रम के अन्तर्गत आते है। ऐसी स्थिति मे यह अनुमान लगाना असम्भव है कि वस्तु का मूल्य निर्धारित करने में किस श्रेणी के श्रमिक द्वारा लगाये गये श्रम-समय को आधार माना जाये।

आधुनिक युग की परिस्थितियों के सन्दर्भ में मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त असंगत प्रतीत होता है। वेपर का तर्क है, 'यह धारणा दोषपूर्ण लगती है कि श्रम-शक्ति के उपयोग से अतिरिक्त अर्घ की उत्पत्ति होती है। यदि ऐसा होता तो जिस उद्योग में पूँजी को श्रम मे लगाया जाता वह उस उद्योग से अधिक लाभकारी होता जिसमें पूँजी को यन्त्रों के रूप में लगाया जाता है। परन्तु ऐसा होता नहीं है।'[1] मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त अर्थशास्त्र की दृष्टि से भी गलत है। अधिक से अधिक इसे 'श्रमिकों के शोषण का सिद्धान्त' कहा जा सकता है। मार्क्स के विश्लेषण का उद्देश्य राजनीतिक था न कि अर्थशास्त्रीय। वह श्रमिक वर्ग को पूँजी-पतियों के विरुद्ध क्रान्ति के लिए तैयार रहने का आह्वान करता प्रतीत होता है। मार्क्स ने इस सिद्धान्त को अत्यन्त सरल बनाने का प्रयास किया, जिसके कारण यह एक कोरा सिद्धान्त रह गया है और औद्योगिक संगठन की जटिलताओं की उपेक्षा करता है जो कि उत्पादित वस्तुओं के मूल्य-निर्धारण, विनिमय, श्रमिकों के वेतन आदि के सम्बन्ध में आवश्यक है। आधुनिक युग मे विविध प्रकार के संगठन, लोक-कल्याणकारी राज्य की धारणा, उद्योग का प्रबन्धक वर्ग, आदि की जटिलताओं के सन्दर्भ में मार्क्स का अतिरिक्त अर्घ का सिद्धान्त निर्मूल हो जाता है। मार्क्स के पक्ष में यही कहा जा सकता है कि वह श्रमिकों के पूँजीपतियों द्वारा शोषण किये जाने की धारणा को प्रकाश में लाया और उसने उन्हें सगठित होकर पूँजीवाद के विरुद्ध क्रान्ति करने की प्रेरणा दी, ताकि वे उद्योगपतियों तथा पूँजीपतियों के अन्यायपूर्ण शोषण से मुक्ति पा सकें।

(4) **वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त**—मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त भी उसके द्वारा प्रतिपादित पूर्वोक्त सिद्धान्तों का ही एक निष्कर्ष है। इतिहास की आर्थिक व्याख्या करते हुए मार्क्स ने यह दर्शाया था कि आज तक का सामाजिक इतिहास यही दर्शाता है कि समाज सदैव वर्ग-संघर्ष का इतिहास रहा है। इतिहास के विभिन्न युगों में सदैव दो आर्थिक वर्गों का अस्तित्व रहता आया है। स्वतन्त्र मालिक तथा दास, रोमन काल में पैट्रिसियन तथा प्लीबियन, सामन्तशाही युग में सामन्त तथा अर्ध-दास, उसके पश्चात् श्रेणी-मालिक तथा जर्नीमैन (guildmaster and journeyman), औद्योगिक युग में पूँजीपति तथा श्रमिक, सदैव दो ऐसे वर्गों के रूप में विद्यमान रहे जिनमें से एक वर्ग समस्त भौतिक उत्पादन के साधनों का मालिक था और वह दूसरे वर्ग के श्रम का उपभोक्ता था क्योंकि वही दूसरा वर्ग अपने श्रम से उत्पादन-कार्य करता था। इस प्रकार समाज में निरन्तर एक वर्ग शोषकों का तथा दूसरा शोषितों का था। ये दोनों वर्ग निरन्तर संघर्षरत रहे। इन्हीं के संघर्षों से नये समाजों का निर्माण होता आया है।

मार्क्स के वर्ग-सघर्ष के सिद्धान्त का उद्देश्य अपने युग की पूँजीवादी व्यवस्था का विश्लेषण करना था जिसके अन्तर्गत पूँजीपति तथा उद्योगपति वर्ग के द्वारा श्रमिक

[1] Wayper, *op. cit.*, 210.

वर्ग का शोषण किया जा रहा था। अतएव उसने पूँजीपति तथा सर्वहारा दो संघर्ष-रत वर्गों के अस्तित्व को दर्शाकर सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति का कार्यक्रम प्रस्तुत किया। मार्क्स का तर्क यह था कि पूँजीवादी या औद्योगिक युग से पूर्व की सामन्त-शाही के अन्तर्गत भूमिगत अभिजात्य वर्ग (landed aristocracy) तथा बुर्जुआ वर्ग के मध्य का संघर्ष बुर्जुआ वर्ग की विजय में समाप्त हुआ था, जो एक प्रकार की लोकतन्त्री क्रान्ति थी। इसके परिणामस्वरूप जिस समाज की स्थापना हुई है वह बुर्जुआ समाज है। इसकी विशेषताएँ हैं मशीनों से संचालित उद्योग, कारखाना पद्धति तथा इन साधनों के मालिकों और श्रमिकों के मध्य पृथक्करण, नगरों में जनसंख्या की भीड़, अत्यधिक मात्रा में उत्पादन तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि, सरकारों की आन्तरिक नीतियों में यद्भाव्यम् का सिद्धान्त तथा बाह्य मामलों में साम्राज्यवादी प्रवृत्ति, आदि। इन सबके कारण बुर्जुआ तथा सर्वहारा दो परस्पर विरोधी वर्ग बन गये है। पहला वर्ग उत्पादन के साधनों तथा कच्चे माल का मालिक है और दूसरा वर्ग इन साधनों को कार्यरत रखकर अपने श्रम द्वारा उत्पादन का कार्य करता है परन्तु अपनी आजीविका के लिए वह पहले वर्ग के अधीन वेतनभोगी श्रमिक है। एक वर्ग सम्पत्ति का मालिक है तो दूसरा सम्पत्ति-विहीन है। अतिरिक्त अर्घ के सिद्धान्त का विवेचन करते हुए मार्क्स ने यह दर्शाया था कि उत्पादन के साधनों के मालिक श्रमिकों का शोषण करके अतिरिक्त अर्घ अर्जित करते हैं और उसे ऐसे मशीनी उपकरणों के क्रय में लगाते हैं जिसमें मानव श्रम की आवश्यकता कम होती जाय और उत्पादन की मात्रा तथा गुण दोनों में वृद्धि हो। परिणामस्वरूप एक ओर तो उद्योगों के मालिकों को अधिकाधिक धनी बनाने का अवसर मिलता जाता है और दूसरी ओर श्रमिक वर्ग गरीब होता जाता है। मशीन के विकास से मानव-श्रम का महत्त्व तथा मात्रा कम होती जाती है। इससे श्रमिकों में बेरोजगारी बढ़ती है और उन्हें आजीविका के लिए कम वेतन पर भी मालिकों के पास अपना श्रम बेचना पड़ता है।

इसके परिणामों के बारे में मार्क्स का कथन था कि पूँजीवाद के अन्तर्गत अधिकाधिक उत्पादन तथा उद्योगों के एकाधिकार की प्रवृत्ति बनी रहती है। इसके कारण साझे, निगम, संयुक्त व्यापार कम्पनी आदि की भाँति सम्पत्ति का केन्द्रीकरण थोड़े से लोगों के हाथ में होता जाता है। इन उद्योगपतियों के मध्य प्रतियोगिता में छोटे-छोटे पूँजीपति विनष्ट होते जाते हैं जो कालान्तर में विवश होकर सर्वहारा वर्ग की स्थिति में आ जाते हैं। इस प्रकार पूँजीपति वर्ग सख्या में कम तथा सर्वहारा वर्ग विशाल होता जाता है। दूसरे, उद्योगों का एक स्थान पर केन्द्रीकरण होता है। वहाँ उद्योग में लगे भारी संख्या के श्रमिकों को एक साथ एकत्र होने का अवसर मिलता है। चूँकि उन सभी के कष्ट एक समान होते हैं, इसलिए उन लोगों में वर्ग-चेतना जागृत होती है और वे परस्पर संगठित होकर अपना रोष व्यक्त करने को उद्यत होते हैं। तीसरे, पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादन की वृद्धि के कारण माल के व्यापार तथा विनिमय के लिए विशाल बाजारों की आवश्यकता पड़ती है। इसके लिए यातायात के साधनों का विकास करना पड़ता है। इस विकास का लाभ श्रमिक वर्ग को भी होता है क्योंकि ये लोग अन्य स्थानों के श्रमिकों से सम्पर्क बनाने में सफल हो जाते हैं। चौथे, ऐसी व्यवस्था में राज्य की सत्ता के ऊपर पूँजीपतियों का प्रभाव बढ़ने से राज्य उन्हीं के हित में शासन के कार्य-कलाप चलाता है। बड़े-बड़े

उद्योगपतियों को उद्योग को चलाने के लिए विदेशों से कच्चे माल की आवश्यकता पड़ती है। उत्पादित माल को बेचने के लिए विदेशों में बाजार ढूँढ़ना पड़ता है। अत्यधिक पूँजी संचय हो जाने से उसे व्यवसाय तथा उद्योग में लगाने के लिए भी वैदेशिक क्षेत्रो में एकाधिकार की आवश्यकता पड़ती है। यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि राज्य का सहयोग उन्हें प्राप्त हो। इसलिए ऐसी व्यवस्था उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति को बढ़ाती है। जब राज्य के पूँजीपति उपनिवेशों में अपने उद्योग स्थापित कर लेते है तो वहाँ भी उनकी शोषण-क्रिया जारी रहती है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र के सर्वहारा वर्ग में वर्ग-चेतना जागृत होती है। पाँचवे, पूँजी-व्यवस्था के अन्तर्गत आर्थिक सकट भी आते रहते हैं। आवश्यकता से अधिक उत्पादन हो जाने के कारण यदि उसकी बिक्री की गुँजाइश नही रहती तो कारखाने बन्द करने की स्थिति आ जाती है या उत्पादित माल बरबाद होने लगता है। ऐसी स्थित में श्रमिकों को बेकार हो जाना पड़ता है। जिस माल को श्रमिकों के श्रम से उत्पादित किया गया था उसका उपभोक्ता भी श्रमिकों को ही बनना पड़ता है परन्तु माल का मूल्य इतना अधिक होता है कि श्रमिको को दिया गया अल्प-वेतन उनकी क्रय-शक्ति को न्यूनातिन्यून बना देता है। इससे आर्थिक सकट और अधिक बढ़ता है। अन्तत., पूँजीवादी व्यवस्था श्रमिकों को सदैव अज्ञानता तथा कष्टों में फँसे रहने की स्थिति मे रखना चाहती है, ताकि वे आत्म-निर्भर न होने पायें। इसके कारण श्रमिकों का रोष और अधिक बढ़ता है।

इन सब पूँजीवादी प्रवृत्तियों का परिणाम यह होता है कि पूँजीवादी व्यवस्था पूँजीपतियों का हित करने के उद्देश्य से जिन हथकण्डों तथा प्रवृत्तियो को अपनाती है, वे अन्ततोगत्वा स्वयं पूँजीवाद का विनाश करने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। इस व्यवस्था के द्वारा दो ऐसे परस्पर विरोधी वर्गों का अभ्युदय होता है जिनमें से शोषक वर्ग की संख्या निरन्तर कम होती जाती है और शोषितों की अधिक। शोषित सर्व-हारा-वर्ग को संगठित करने का अवसर मिलता है। उनकी वर्ग-चेतना तथा उनका शोषकों के प्रति रोष बढ़ता जाता है। मार्क्स यह भविष्यवाणी करता है कि पूँजीवादी व्यवस्था का यह अन्तर्विरोध अन्ततः वर्ग-संघर्ष का रूप धारण करेगा। एक स्थान-विशेष के नहीं अपितु राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में शोषित सर्वहारा वर्ग क्रान्ति के द्वारा पूँजीपतियों का विनाश कर देगा। संघर्ष की अवधि में उसका उद्देश्य उत्पादन के समस्त साधनो पर सर्वहारा वर्ग का सामूहिक स्वामित्व स्थापित करना तथा पूँजीवाद का विनाश करना होगा।

आलोचना—मार्क्स का प्रतिपादित वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त उसके द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा इतिहास की आर्थिक व्याख्या की ही भाँति भ्रामक व दोषपूर्ण है। मार्क्स ने औद्योगिक तथा पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत केवल बुर्जुआ तथा सर्वहारा वर्ग के निर्मित होने की धारणा दर्शायी है। समाज के अन्तर्गत इस तरह के केवल दो ही परस्पर विरोधी आर्थिक वर्गों के अस्तित्व को मानना और अन्ततः उनके मध्य संघर्ष होने की तथा संघर्ष में सर्वहारा वर्ग की विजय की भविष्यवाणी करना व्यावहारिक दृष्टि से सर्वसत्य नहीं माना जा सकता। मार्क्स के इस सिद्धान्त को एक प्रचार मात्र कहा जा सकता है, जोकि सर्वहारा वर्ग को संगठित होने तथा उन्हें पूँजीपतियों के विरुद्ध क्रान्ति के लिए प्रेरित करने का द्योतक है। सैद्धान्तिक दृष्टि से औद्योगिक व्यवस्था के अन्तर्गत बुर्जुआ तथा सर्वहारा वर्ग का वर्गीकरण सम्भव नहीं

है। कारखानों में कार्य करने वाले उत्तम वेतनभोगी इन्जीनियर, मैनेजर, निदेशक आदि को सर्वहारा वर्ग कहना कहाँ उचित नहीं है ? उद्योगों नें वेतनभोगी श्रमिकों के रूप में कार्य करने वाले अनेक व्यक्ति कारखानों में साझेदार तक हैं। उन्हें किस वर्ग में रखा जाये, इसका कोई समाधान मार्क्स नहीं करता ! इस दृष्टि से मार्क्स का सामाजिक वर्गों का कठोरतापूर्वक निर्धारण करना दोषपूर्ण है।

इस बात को भी पूर्ण सत्य नहीं माना जा सकता कि औद्योगिक अर्थव्यवस्था वाले समाज में मालिक तथा श्रमिक वर्ग के मध्य निरन्तर संघर्ष की स्थिति बनी रहती है। मालिक अपना लाभ बढ़ाना अवश्य चाहता है, परन्तु कारखानों में रोजगार पर लगाये गये श्रमिकों का शोषण करके या उन्हें कष्टकारी परिस्थितियों में रखकर ही अपना लाभ बढ़ाने का उद्देश्य नहीं रखता। बहुधा विभिन्न उद्योगों के मालिकों द्वारा रोजगार पर लगाये गये श्रमिकों के मध्य एक से दूसरे मालिक के यहाँ अधिक या कम सुविधाएँ प्राप्त करने की चर्चाएँ रहती है और एक मालिक अपने श्रमिकों को अन्य मालिकों की तुलना में अधिक सुविधा देने का लालच भी दिलाता रहता है। आधुनिक राज्यों में अनेक राष्ट्रीयकृत उद्योगों में लगे श्रमिकों की तुलना मे अनेक निजी उद्योग में लगे श्रमिक अधिक सुविधाओं का उपभोग करते है। इस दृष्टि से श्रमिक वर्ग तथा मालिक वर्ग के मध्य निरन्तर संघर्ष या शोषण की धारणा बना लेना सत्य नहीं है। श्रमिकों के मध्य परस्पर अन्य प्रकार के हितों में टक्कर हो सकती है, यथा कुशल तथा अकुशल श्रमिकों के मध्य भेद, पुरुष तथा महिला श्रमिकों के मध्य भेद, विभिन्न जातियों के श्रमिकों के मध्य भेद तथा विभिन्न देशों से प्राप्त श्रमिकों के मध्य भेद। एक लेखक ने उचित ही कहा है कि किसी एक देश के श्रमिकों को कष्ट पहुँचाने वाली शक्तियाँ दूसरे देश के श्रमिकों के लिए लाभदायक सिद्ध हो सकती हैं, परन्तु किसी भी विकसित देश के श्रमिक सस्ता विदेशी श्रम स्वीकार नहीं करते। पुनश्च, आज तक का अनुभव यही बताता है कि जब कभी देश का अस्तित्व खतरे में होता है तो देश में आन्तरिक वर्ग-संघर्ष की धारणा न रहकर देश की सुरक्षा का हित सभी वर्गों को समान रूप से मान्य होता है।'[1] इस दृष्टि से मार्क्स की वर्ग-संघर्ष की धारणा सैद्धान्तिक सत्य नहीं है।

मार्क्स का वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त इस कठोर सत्य को सिद्ध करने का असफल तथा गलत प्रयास है कि ऐतिहासिक विकास वर्ग-संघर्ष की कहानी है। इतिहास के विभिन्न युगों में केवल दो आर्थिक वर्गों को शोपक तथा शोषित मानना और उनके मध्य संघर्ष द्वारा नये सामाजिक युग का अभ्युदय मानना इतिहास की गलत व्याख्या है। धनी तथा गरीब वर्ग निरन्तर रहे हैं। परन्तु उनके धनी या गरीब होने का एकमात्र कारण एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का आर्थिक शोषण मानना और इनके मध्य संघर्ष को मानना एक भारी ऐतिहासिक भूल है। यह दूसरी बात है कि उद्योगों का नियन्त्रण थोड़े से लोगों के हाथ में हो गया हो, परन्तु उनका स्वामित्व थोड़े से लोगों के हाथ में रहता है इस तथ्य की सच्चाई संदिग्ध है। आज के पूंजीवादी देशों के श्रमिकों की दशा इतनी शोचनीय नहीं है जितनी मार्क्स ने बताने की चेष्टा की है। उद्योगों के संचालन के लिए जिन उपकरणों, कच्चे माल, संगठन की व्यवस्था, आदि की आवश्यकता पड़ती है उनका स्वामित्व केवल पूंजीपति वर्ग के ही पास मानना सही नहीं है। उदाहरण के लिए चीनी उद्योग में गन्ने का उत्पादन श्रमिक कृषक

[1] R. N. Carew Hunt, *The Theory and Practice of Communism*, 40-41.

करते हैं। क्या वे उद्योगपतियों को अपने दबाव में नहीं रख सकते ? वास्तविकता यह है कि उद्योगों के नियमन तथा संचालन में संघर्ष नहीं अपितु सहयोग अधिक आवश्यक होता है। श्रमिक तथा पूंजीपति वर्ग दोनों इसे समझते हैं और इसी में दोनों का हित है। इस दृष्टि से वर्ग-संघर्ष की धारणा भ्रामक है।

(5) **सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति तथा अधिनायकवाद**—मार्क्स का विश्वास था कि पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत श्रमिक वर्ग का शोषण इस सीमा तक पहुँच चुका है कि उसे वैधानिक तरीकों से समाप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि राजसत्ता पर पूँजीपतियों का ही प्रभाव है। स्वयं पूँजीवाद ने अपने विनाश का मार्ग प्रशस्त कर लिया है और शोषित वर्ग की चेतना इतनी बढ़ चुकी है कि वह अब संगठित होकर अपने शोषकों के विरुद्ध क्रान्ति करके उन्हें नष्ट करेगा। मार्क्स ने इस क्रान्ति का कार्यक्रम भी प्रस्तुत किया है। यह क्रान्ति केवल पूंजीपति वर्ग के ही विरुद्ध नहीं होगी, बल्कि पूंजीवाद द्वारा पोषित सम्पूर्ण राज्य-व्यवस्था तथा सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध भी होगी। मार्क्स की धारणा थी कि क्रान्ति शनैः शनैः तथा कई चरणों में होगी। क्रान्ति का उद्देश्य समाजवादी व्यवस्था की स्थापना होगा। 'यद्यपि पूँजीवाद स्वयं अपने विनाश की ओर बढ़ रहा है तथापि उसका विनाश स्वमेव समाजवाद की स्थापना नहीं कर सकता। इसके लिए एक निश्चित कार्यक्रम आवश्यक होगा।'[1]

मार्क्स की धारणा में ऐतिहासिक विकास-क्रम यही दर्शाता है कि आदिम समाज से लेकर अब तक विभिन्न युगों में जो परिवर्तन होते रहे उन सबमें उत्पादन के साधनों के मालिक वर्ग ने समाज में अपनी आर्थिक सत्ता बनाये रखने के लिए राज्य का निर्माण किया और वे स्वयं राजसत्ता के भी मालिक बने रहे। इस प्रकार राज्य का मुख्य कार्य एक वर्ग को दूसरे वर्ग का शोषण करने की सुविधा प्रदान करना रहा है।' राज्य का संचालन तथा नियमन करने का कार्य समाज के एक छोटे-से जन-समूह के हाथ में रहता है जिसे सरकार कहा जाता है। यह वर्ग सम्पूर्ण समाज से सर्वथा अपने को पृथक् मानता है। मार्क्स के अनुसार, 'राज्य एक ऐसे संगठन से अधिक कुछ नहीं है जिसे बुर्जुआ वर्ग के लोग परस्पर अपनी सम्पत्ति तथा अपने हितों की प्रत्याभूति के लिए आन्तरिक तथा बाह्य उद्देश्यों को सम्पन्न करने के निमित्त बनाते हैं।' इस प्रकार राज्य एक वर्ग-संगठन है जो बुर्जुआ वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करता है और उसी के विचारों को प्रतिबिम्बित करता है। राज्य की सरकार 'बुर्जुआ वर्ग की कार्यकारिणी समिति' के सदृश्य है। राज्य या सरकार द्वारा स्थापित सेना, पुलिस, न्याय, कानून-व्यवस्था तथा अन्य अभिकरण सभी पूंजीपति वर्ग के हित में आर्थिक व्यवस्था का संरक्षण करने का कार्य करते हैं। ऐसी स्थिति में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था वाला राज्य, जिसे लोकतन्त्र कहा जाता है, स्वयं में एक विरोधाभास है। ऐसे समाज में लोकतन्त्र का अस्तित्व नहीं रह सकता, क्योंकि ऐसी व्यवस्था के अन्तर्गत जनता शोषक तथा शोषित दो ऐसे वर्गों में विभाजित रहती है जिनके हितों में भारी अन्तर्विरोध होता है।

मार्क्स के अनुसार, पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था में बुराइयों के आने का कारण निवर्तमान उत्पादन तथा वितरण प्रणालियाँ हैं। अतः इस व्यवस्था को

[1] 'Capitalism inevitably prepares the way for, but does not inevitably lead to socialism. Deliberate, intelligent, and informed action is needed for the achievement of socialism.' —Coker, *op. cit.*, 52-53.

परिवर्तित करने के लिए यह आवश्यक है कि उत्पादन के साधनों का समाजीकरण करना पड़ेगा, ताकि पूंजी के व्यक्तिगत स्वामियों को ही उत्पादन का लाभ न हो, क्योंकि उत्पादन श्रमिकों के श्रम से होता है। उत्पादन में उपकरणों का नियन्त्रण भी व्यक्तिगत पूंजीपतियों के हाथ मे न रहकर उन उपकरणों को कार्यरत रखने वाले श्रमिक वर्ग के हाथ में रहना चाहिए। ऐसा परिवर्तन लाने के लिए मार्क्स ने विकासवादी तथा क्रान्तिकारी दोनों प्रकार के कार्यक्रमों को प्रस्तुत किया है। विकासवादी या लोकतन्त्री कार्यक्रम से मार्क्स का अभिप्राय यह था कि विभिन्न देशों के श्रमिक जोकि शोषित वर्ग का निर्माण करते हैं, संगठित हों और अपनी राजनीतिक शक्ति को सुदृढ़ करें, अर्थात् वे राजनीतिक दलों के रूप मे संगठित हों और निर्वाचनों द्वारा राज्य की सर्वोच्च संसदों में अपना बहुमत बनायें। इस प्रकार जब वे अपनी सर्वोच्च शक्ति को सुदृढ़ बना लेंगे तो विविध लोकतन्त्री संस्थाओं में अपनी शक्ति द्वारा वैधानिक तरीकों से पूंजी का समाजीकरण करने के लिए कदम उठायेंगे।

मार्क्स के मत से पूंजीवाद का विनाश एक ही चरण में नहीं हो सकता। अतः राज्य की सत्ता पर सर्वहारा वर्ग द्वारा लोकतन्त्री तथा वैधानिक तरीकों से अपना प्रभुत्व स्थापित करना पूंजीवाद से समाजवाद की स्थापना के मार्ग मे पहला कदम होगा। इस संक्रमण की अवधि में पूंजीपति अपनी शक्ति पुनः अर्जित करने का प्रयास करेंगे। अतः सर्वहारा वर्ग को अपनी प्रभुत्व शक्ति के द्वारा उत्पादन के साधनों को व्यक्तिगत स्वामित्व से छुड़ाकर राज्य के स्वामित्व में लाने की व्यवस्था करनी पड़ेगी। इसके अन्तर्गत भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त करना; यातायात तथा संचार के साधनों का राज्य के हाथ में केन्द्रीयकरण करना; जमा तथा बैंकों पर राज्य का एकाधिकार स्थापित करना; उत्तराधिकारी के अधिकारों को समाप्त करना; उच्चोच्च दरों पर आयकर लगाना; कारखानों में बच्चों के श्रम पर पाबन्दी लगाना; सब लोगों का काम करने का समान दायित्व निर्धारित करना; शामिल होंगे।[1] अन्य समाजवादी विचारक समाजवाद का लक्ष्य केवल उत्पादन के साधनों का समाजीकरण करना ही नहीं मानते थे, अपितु उत्पादित माल के वितरण की व्यवस्था को भी सुधारना चाहते थे। मार्क्स के मत से वितरण को उत्पादन से पृथक् माना जाना उचित नहीं है। उसका मत था कि जब उत्पादन के साधन श्रमिकों की सामूहिक सम्पत्ति बन जायेंगे तो उत्पादित माल के वितरण की पद्धति भी स्वयमेव वर्तमान पद्धति से भिन्न हो जायेगी। समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन का कुछ भाग प्रशासनिक व्यय, उत्पादन के साधनों के विकास, प्राकृतिक प्रकोपों के विरुद्ध बचाव, अपंग श्रमिकों की सहायता तथा समाज के सांस्कृतिक तथा भौतिक विकास सम्बन्धी कार्यों के लिए रखा जायेगा। शेष को श्रमिकों के मध्य उनके कार्य के अनुसार वितरित किया जायेगा।

बुर्जुआ अर्थव्यवस्थामूलक समाज से समाजवादी अर्थव्यवस्था वाले समाज में प्रत्यावर्तन के निमित्त मार्क्स ने उपर्युक्त विकासवादी कार्यक्रम प्रस्तुत किया है। मार्क्स का मत था कि समाजवादी समाज की स्थापना पूंजीवादी समाज की अन्त-विरोधी प्रवृत्तियों के पश्चात् शनैः शनैः होती है। परन्तु मार्क्स ऐसे प्रत्यावर्तन के निमित्त विद्रोही क्रान्ति की धारणा को भी अमान्य नहीं करता। ऐसी क्रान्तियों का समर्थन करने में उसके ऊपर फ्रांस तथा जर्मनी में उसके युग में हुई क्रान्तियों का

[1] Quoted in Coker, *op. cit.*, 54-55, from '*Communist Manifesto*'.

प्रभाव था। 'कम्युनिस्ट मैनिफैस्टो' में मार्क्स तथा ऐंजिल्स लिखते हैं कि 'साम्यवादी खुले शब्दों में घोषणा करते हैं कि उनके उद्देश्यों की प्राप्ति निवर्तमान परिस्थितियों को समाप्त करने में बल-प्रयोग के द्वारा ही हो सकती है। साम्यवादी क्रान्ति के सम्मुख शासक वर्ग को कम्पायमान रहना चाहिए।'[1] कोकर का मत है कि मार्क्स की प्रारम्भिक रचनाओं में उसकी क्रान्ति पर पर्याप्त आस्था रही है, यद्यपि उसकी बाद की रचनाएँ उसके विकासवादी पद्धति द्वारा समाजवाद की उपलब्धि के दृष्टिकोण को दर्शाती हैं। उक्त लेखक के अनुसार मार्क्स का 'समाजवाद इस अर्थ में क्रान्तिकारी है कि इसके अन्तर्गत पूँजी तथा श्रम के मध्य ऐसा विरोधाभास माना गया है जिसे मिटाया नहीं जा सकता। इसमें उन निहित स्वार्थों के प्रति कोई श्रद्धा नहीं है जो इसके आदर्श से असंगति रखते है, और जब परिस्थितियाँ अनुकूल हों तो वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति के निमित्त कोई भी कदम उठाने को तत्पर है।' मार्क्स के विचार व्यवहारवादी थे। अतः वह क्रान्ति के निमित्त किन्हीं कोरी सैद्धान्तिक बातों का प्रतिपादन न करके यह स्पष्ट करता है कि क्रान्ति के निमित्त समय, परिस्थिति तथा देश-विदेश की विभिन्न परिस्थितियों का ध्यान रखना आवश्यक है। उसका विश्वास था कि राजनीतिक सर्वोच्च सत्ता प्राप्त करने के निमित्त ये परिस्थितियाँ समय-समय पर तथा विभिन्न देशों में विविध प्रकार की हो सकती हैं। मार्क्स ने यह स्वीकार किया था कि संयुक्त राज्य अमरीका, इंग्लैण्ड तथा हालैण्ड सदृश देशों में समाजवादी क्रान्ति शान्तिपूर्ण तथा विकासवादी तरीकों से लायी जा सकती है।[2]

कोकर के मत से मार्क्स ने सर्वहारा वर्ग द्वारा राज्य की सत्ता पर अपनी सर्वोच्च सत्ता स्थापित करने के तरीकों पर अस्पष्ट विवरण दिये हैं। उसके विचार भी प्रारम्भ में अधिक क्रान्तिकारी थे और बाद में कुछ नरम हो गये। परन्तु मार्क्स हिंसात्मक क्रान्ति की आवश्यकता से बिलग नहीं हुआ। उसकी यह धारणा बनी रही थी कि आवश्यकता पड़ने पर यदि परिस्थितियाँ ऐसी माँग करें तो क्रान्ति हिंसात्मक तरीकों से भी की जायेगी। परन्तु मार्क्स हत्या, लूट-पाट आदि को 'क्रान्ति' तथा 'बल-प्रयोग' द्वारा निवर्तमान व्यवस्था को नष्ट करने के निमित्त समर्थन नहीं देता प्रतीत होता है। वह अपरिपक्व समय में क्रान्ति का विरोध करता है। साथ ही यह भी कहता है कि ऐसी स्थिति में वैधानिक तरीकों से भी समाजवादी व्यवस्था की स्थापना उचित नहीं है। उसके मत से एक समाजवादी क्रान्ति उन्हीं कालों में की जा सकती है जबकि आधुनिक उत्पादन-शक्तियों तथा बुर्जुआ उत्पादन शक्तियों के मध्य बहुसंख्यक सर्वहारा वर्ग के कष्टों से उत्पन्न विरोध की स्थिति आ जाये।

पूँजीवाद से समाजवाद में प्रत्यावर्तन की अवधि संक्रमणकालीन व्यवस्था होगी। यह काल सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद का काल होगा। इसमें समाज को वर्ग-विहीन बनाने का प्रयास जारी रहेगा, अतः राज्य का अस्तित्व बना रहेगा।

[1] 'Communists openly declare that their ends can be attained only by the forcible overthrow of all existing conditions. Let the ruling class tremble at a Communistic revolution!' —Quoted in Coker, *op. cit.*, 58 from *Communist Manifesto*.

[2] 'We know that we must take into consideration the institutions, the habits and customs of different regions, and we do not deny that there are countries like America, England and—if I knew your institutions better I would perhaps add Holland—where the workers can attain their objective by peaceful means. But such is not the case in all other countries.' —Marx in a Speech following the Congress of the International, 1864.

मार्क्स का मत है कि क्रान्ति के पश्चात् राज्य की सत्ता पर विजयी सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवादी शासन कायम रहेगा। यह राज्य-व्यवस्था अपनी पूर्वगामी व्यवस्था के ही तुल्य होगी। सभी सरकारें अधिनायकवादी होती हैं। क्रान्ति के पूर्व बुर्जुआ वर्ग का अधिनायकवाद था, उसके बाद सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद विद्यमान रहेगा। परन्तु इन दोनों में भारी अन्तर है। पूर्व की व्यवस्था में अल्पसंख्यकों का बहुसंख्यकों के ऊपर शोषण तथा दमनकारी शासन था, किन्तु नयी व्यवस्था में बहु-संख्यकों का दमनकारी शासन शोषण करने वाले अल्पसंख्यकों के ऊपर होगा। यह इसलिए आवश्यक है कि पूर्वकालीन पूंजीपति पुनः अपनी शक्ति अर्जित करने का प्रयास करेंगे। अतः उनके पूर्णतया विनष्ट हो जाने की अवधि तक सर्वहारा वर्ग को अपनी शासन-सत्ता के द्वारा बल-प्रयोग करना पड़ सकता है। यह व्यवस्था लोकतन्त्री होगी। इसे मार्क्स ने 'सर्वहारा वर्ग का लोकतन्त्र' कहा है, क्योंकि पहले की अपेक्षा यह अधिक व्यापक अर्थ में जन-प्रतिनिध्यात्मक होगी। इसका उद्देश्य दूसरे वर्ग का शोषण करना न होकर शोषक तथा शोषित वर्गों के अस्तित्व को मिटाना होगा, ताकि समाज वर्ग-विहीन बन जाय। 'इस संक्रमण काल में जो कि सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद कहलाता है, जब पूंजीवाद के अवशेषों से एक नये समाज का अभ्युदय होता है, तो श्रम का लाभ सबको समान न पहुँच सकने की सम्भावना हो सकती है, क्योंकि पुराने विचार पूर्णतया समाप्त नहीं हो चुकेंगे।'[1] इस अवधि के आरम्भ में श्रम 'जीवन का साधन' ही बना रह सकता है, जैसा कि पूंजीवादी व्यवस्था में था, जबकि श्रम-विभाजन कठोर था और श्रमिक को श्रम में आनन्द का अनुभव नहीं हो सकता था। वह तो उत्पादन की एक कला थी जिसे पूंजीपति प्रयुक्त करते थे। श्रमिक को श्रम का वास्तविक मानसिक सन्तोष नहीं होता था और उसे निरन्तर एक ही प्रकार का तथा अर्थहीन कार्य करना पड़ता था। अतः संक्रान्ति काल में सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद का उद्देश्य ऐसी उत्पादन-प्रणाली की व्यवस्था करना होगा जिसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छा तथा योग्यता के अनुसार श्रम करने तथा उसका भौतिक और मानसिक सन्तोष प्राप्त करने का अवसर मिले एवं कठोर श्रम-विभाजन की व्यवस्था समाप्त की जा सके। ऐसी व्यवस्था में व्यक्ति के लिए श्रम आजीविका का साधनमात्र नहीं रहेगा, अपितु व्यक्ति श्रम में वास्तविक आनन्द का अनुभव करेगा और श्रम 'जीवन तथा समाज की एक आवश्यकता' बन जायेगा। मनुष्य श्रम इसलिए नहीं करेंगे कि उन्हें इसके लिए विवश होना पड़ता था, अपितु इस भावना से करेंगे कि वे श्रम करना चाहते हैं। चूँकि उत्पादन-प्रणाली व्यक्तिगत लाभ के उद्देश्य से संचालित न होकर सामाजिक आवश्यकता के उद्देश्य से संचालित होगी और श्रम का महत्त्व बढ़ने से उत्पादन की मात्रा भी बढ़ जायेगी, अतएव आर्थिक शोषण का अन्त हो जायेगा। अन्ततः उस समाज के झण्डे पर यह नारा लिख दिया जायेगा कि इस समाज में 'प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करता है और प्रत्येक को अपनी आवश्यकता के अनुसार पारिश्रमिक प्राप्त होता है।'[2]

ऐसी व्यवस्था के अन्तर्गत सर्वहारा वर्ग के हाथ में ही पूर्णतया उत्पादन के समस्त साधनों का स्वामित्व तथा नियन्त्रण रहेगा। मार्क्स के शब्दों में, 'उत्पादन की

[1] Harmon, *Political Thought from Plato to the Present*, 402.
[2] 'From each according to his ability to each according to his need.'

सामाजिक प्रक्रिया का सबसे अन्तिम विरोधी रूप उत्पादन के बुर्जुआ-वर्गीय सम्बन्ध होते हैं।' उत्पादन-प्रणाली से पूँजीपति वर्ग का सम्बन्ध समाप्त हो जाने पर वह वर्ग शनैः शनैः समाप्त हो जायेगा। इस प्रकार समाज में केवल एक ही सर्वहारा वर्ग रह जायेगा। चूँकि मार्क्स की दृष्टि में राज्य की सत्ता एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग को सताने के लिए प्रयुक्त होती है, अतः पूँजीपति वर्ग का अन्त हो जाने से नयी व्यवस्था में परस्पर विरोधी वर्गों का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा। इसलिए राज्य की आवश्यकता नहीं रह जायेगी, वह स्वयं समाप्त हो जायेगा। मार्क्स की दृष्टि में राज्य को समाप्त नहीं किया जाता बल्कि वह विलुप्त हो जाता है।[1] मार्क्सवाद के विभिन्न सिद्धान्तों का यह अन्तिम निष्कर्ष है कि वर्गविहीन तथा राज्यविहीन समाज की स्थापना ही इतिहास की द्वन्द्ववादी शक्तियों का अन्तिम लक्ष्य है। द्वन्द्ववाद की धारणा के वाद, प्रतिवाद तथा संवाद का चक्र फिर इससे आगे नहीं बढ़ेगा, क्योंकि वर्गविहीन समाज ऐतिहासिक विकास की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का अन्तिम तथा पूर्ण विकास है। जहाँ हीगल ने द्वन्द्ववाद की धारणा के अन्तर्गत राज्य को विकास की अन्तिम मन्जिल माना था, वहाँ मार्क्स ने राज्य-विहीन तथा वर्ग-विहीन समाज की स्थापना को ऐसी स्थिति प्रदान की है।

(6) **साम्यवादी समाज**—मार्क्स की विचारधारा 'वैज्ञानिक समाजवाद' के नाम से जानी जाती है। मार्क्स ने अपने युग की पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत समाज के एक विशाल अंग—श्रमिक वर्ग—की यातनाओं से प्रभावित होकर समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के सम्बन्ध में जो विश्लेषण प्रस्तुत किये हैं, उन्हें उसने एक क्रमबद्ध विचारधारा के रूप में व्यक्त किया है। मार्क्स ने पूँजीवाद के अन्त हो जाने पर जिस समाजवादी व्यवस्था की स्थापना की कल्पना की है, वह साम्यवादी समाज है। वह समाज वर्ग-विहीन तथा राज्य-विहीन होगा। इसमें समस्त व्यक्तियों को समान समझा जायेगा। इसमें मानवों को साध्य समझा जायेगा, न कि उन्हें किसी वर्ग-विशेष के हित का साधन। ऐसे समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति का अस्तित्व नहीं रहेगा, क्योंकि व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा शोषण को जन्म देती है। इस व्यवस्था में उत्पादित माल के संग्रह तथा स्वामित्व की प्रथा भी समाप्त हो जायेगी, क्योंकि यह प्रथा पूँजीवादी व्यवस्था की चीज थी। वस्तुओं का महत्त्व उनकी सामाजिक उपयोगिता पर निर्भर करेगा। साम्यवादी व्यवस्था व्यापक औद्योगीकरण को महत्त्व देगी। उत्पादन के यन्त्र तथा उपकरण भी बढ़ाये जायेंगे, ताकि मानव-श्रम की बचत होने से मानवों को सांस्कृतिक कार्यों के लिए अधिक समय मिल सके और मानव-सभ्यता का विकास हो सके। इस समाज में सभी मानवों को पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त रहेगी। समाज का संचालन सहकारिता के आधार पर होगा, न कि प्रतियोगिता के आधार पर। मानव अपने वैविध्यपूर्ण व्यक्तित्व का विकास करने का अवसर प्राप्त कर सकेंगे।

मार्क्सवाद का मूल्यांकन

किसी महान् चिन्तक के विचारों का जितना ही अधिक महत्त्व होता है उतनी ही अधिक उसके विचारों की आलोचना भी की जाती है। यह बात मार्क्स के बारे

[1] In Marx's view the state is 'not abolished' but it 'withers away', as it becomes superfluous.

में भी सत्य है। वेपर ने लिखा है कि 'अत्यधिक दरिद्रता के वर्षों में मार्क्स ने अपने को वैज्ञानिक समाजवाद के निर्माण-कार्य में लगाया, और उसकी उपलब्धि की महानता को उसके साथ सहानुभूति न रखने वाले आलोचक तक अस्वीकार नहीं कर सकते।'[1] मार्क्स न तो अर्थशास्त्र का विशेषज्ञ था और न ही एक इतिहासवेत्ता, परन्तु वैज्ञानिक समाजवाद रूपी विशाल भवन के निर्माण में उसने हीगल-सदृश इतिहासवेत्ता तथा अपने युग के प्रमुख अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को अपनाया और उनका निर्वचन अपने ही ढंग से किया। उसकी विचार-पद्धति में विश्लेषण तथा संश्लेषण दोनों पद्धतियों का समावेश है। उसका लक्ष्य एक साम्यवादी समाज की स्थापना के निमित्त एक व्यावहारिक कार्यक्रम प्रस्तुत करना तथा समाजवाद की शास्त्रीय व्याख्या करना था। उसके निमित्त मार्क्स ने विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने में विश्लेषण की पद्धति का अनुगमन करके समाजवादी चिन्तन को अपने या अपने से पूर्व के युगों के स्वप्नलोकी समाजवादी चिन्तकों के चंगुल से मुक्त करके एक वैज्ञानिक विचारधारा में परिणत करने की चेष्टा की। यही कारण है कि मार्क्स को वैज्ञानिक समाजवाद का जनक कहा जाता है।

मार्क्स की महत्ता केवल इस तथ्य पर आधारित नहीं है कि उसने समाजवाद पर शास्त्रीय ढंग से विचार करके उसे एक क्रमबद्ध विचारधारा का रूप दिया, प्रत्युत् इस बात पर है कि उसके विचारों ने समाजवाद को एक व्यावहारिक कार्यक्रम बनाने में सफलता प्राप्त की है। लास्की ने उचित ही कहा है कि 'मार्क्स ने समाजवाद को एक षड्यन्त्र के रूप में पाया और उसे एक आन्दोलन के रूप में छोड़ा।' आज विश्व की एक-तिहाई से भी अधिक जनता मार्क्स के प्रभाव में है। मार्क्स के विचारों को कार्य रूप प्रदान करने का अभियान रूस से प्रारम्भ हुआ। पहले तथा दूसरे विश्व-युद्धों के बीच की लगभग 20 वर्ष की अवधि में रूस ने समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के कार्य में पर्याप्त प्रगति कर ली थी। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद पूर्वी यूरोप के अनेक देश एवं उसके तुरन्त बाद चीन तथा कालान्तर में एशिया, अफ्रीका तथा दक्षिण अमरीका के अनेक देशों में मार्क्सवादी समाजवादी कार्यक्रम का अनुगमन करके समाजवादी व्यवस्थाएँ स्थापित करने का प्रयास होता आ रहा है। निःसन्देह मार्क्सवादी कार्यक्रम एक कठोर सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि इसको कार्यान्वित करने में समय-समय पर नेताओं ने परिवर्तन तथा परिवर्धन किये हैं। लेनिन, स्टॉलिन, उसके पश्चात् माओ तथा यूगोस्लाविया में मार्शल टीटो ने अपने-अपने युगों की तथा देशों की परिस्थितियों के सन्दर्भ में अनेक परिवर्तन किये हैं। स्वयं मार्क्स ने भी ऐसे परिवर्तनों की सम्भावना को अमान्य नहीं किया था। इन सभी आन्दोलनों तथा कार्यक्रमों के अन्दर मार्क्स की आत्मा बनी रही है। यही बात अन्य समाजवादी देशों के सम्बन्ध में भी सत्य है।

मशीनी उद्योग के युग में सामाजिक अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही थीं, उनके दुष्परिणामों का विश्लेषण करते हुए मार्क्स ने यह दर्शाया कि सामाजिक सम्बन्धों में भी परिवर्तन आवश्यक है। वेपर के मत से, 'यह दर्शाने में कि इतिहासकारों ने आर्थिक तत्त्वों के प्रभावों की उपेक्षा की है, मार्क्स ने ऐतिहासिक लेखों के निमित्त नई सम्भावनाओं का द्वार खोला। निश्चय ही इस तथ्य से कोई असहमत नहीं हो सकता कि उसकी यह धारणा कि राजनीतिक तथा कानूनी संस्थाएँ

[1] Wayper, *op. cit.*, 213.

निम्नवर्तमान आर्थिक पद्धति से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध रखती हैं, उन्नीसवीं शताब्दी के विचारों की सर्वाधिक बलवती धारणा है।'[1] इसीलिए मार्क्स उन्नीसवीं शताब्दी का सबसे महत्त्वपूर्ण समाजशास्त्री चिन्तक सिद्ध हुआ है। मार्क्स के अनुयायी उसे अपना आराध्य देवता मानते हैं, तो दूसरी ओर पूंजीवादी उसे एक प्रबल शैतान की संज्ञा भी देते हैं। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि मार्क्स ने पूंजीपति तथा श्रमिक वर्ग के मध्य भारी अन्तर्विरोध बताकर श्रमिकों द्वारा पूंजीपतियों के विनाश का कार्यक्रम रखा था। किसी भी विचारक की महत्ता इस बात से स्पष्ट नहीं होती कि उसके विचार कितने क्रमबद्ध तथा तर्कसंगत हैं, बल्कि इस बात से होती है कि उसके विचार कितने व्यावहारिक तथा प्रभावशाली हैं। मार्क्स की महत्ता इसी बात पर आधारित है कि उसके विचारों को कार्यरूप में परिणत करने की दिशा में व्यापक प्रगति हुई है। समाज में एक अल्पसंख्यक जनसमूह के हाथ में सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था तथा राजनीतिक सत्ता का बना रहना और जिस विशाल जनसमूह के श्रम से वह अल्पसंख्यक वर्ग सत्ताधारी बना, उसी का शोषण उसके द्वारा किया जाना मार्क्स से नहीं देखा गया। उसे इस शोषित वर्ग के साथ सहानुभूति ही नहीं थी, अपितु उसने इस वर्ग को क्रान्ति की प्रेरणा दी और शोषण से मुक्त होने तथा सत्ता अपने हाथ में लेने के लिए उसका आह्वान किया।

मार्क्स द्वारा प्रतिपादित विभिन्न सिद्धान्तों की पर्याप्त आलोचना हुई है।[2] कहा जाता है कि मार्क्स ने इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने में अत्यधिक सामान्यीकरण किया है। इसके कारण उनमें अनेक असंगतियाँ तथा विरोधाभास उत्पन्न हो गये हैं, परन्तु इनके बावजूद जैसा हारमॉन का कहना है, 'मार्क्स के सिद्धान्त में ये कमियाँ उसे अपंग नहीं कर देतीं, विशेषतः जब हम विश्व में इसके प्रभाव पर विचार करें।'[3]

मार्क्सवाद की आलोचना के कुछ आधार

(1) **धर्म तथा नैतिकता**—मार्क्सवाद पूर्णतया एक भौतिकवादी दर्शन है। मार्क्स धर्म को 'जनता की अफीम' कहता है। यद्यपि उसने हीगल के द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त को अपनाया था तथापि द्वन्द्वात्मक विकास में वह दैवी चेतना सदृश आध्यात्मिक तत्त्वों के अस्तित्व को अमान्य करता है। उसके लिए पदार्थ जगत ही सम्पूर्ण ऐतिहासिक विकास की नियामक सत्ता है। मार्क्स यह नहीं मानता कि सामाजिक जीवन के कुछ निरपेक्ष नैतिक तथा सार्वभौम सिद्धान्त उचित-अनुचित का ज्ञान कराने वाले होते हैं। अतः निरपेक्ष नैतिकता जैसी कोई चीज नहीं होती। अच्छाई तथा बुराई समाज सावयव की आर्थिक संरचना पर निर्भर करती हैं। इसलिए मार्क्स ईश्वर की सत्ता तथा उसके आदेशों से उत्पन्न होने वाली नैतिकता की धारणाओं पर विश्वास नहीं करता। इन्हें वह भावनामूलक धारणाएँ मानकर उपेक्षित रखता है। परन्तु भले ही मार्क्स देवी-देवताओं पर विश्वास को अन्धविश्वास मानता है, तथापि उसकी शिक्षाओं ने स्वयं एक धर्म का रूप धारण कर लिया है। विश्वभर के मार्क्सवादी मार्क्स को ईश्वर या किसी धार्मिक पैगम्बर के तुल्य मानते हैं। यहाँ

[1] *Ibid.*
[2] इनका उल्लेख प्रत्येक सिद्धान्त के साथ ऊपर किया जा चुका है।
[3] Harmon, *op. cit.*, 404.

तक कि चीन में माओ के कट्टर अनुयायियों के लिए स्वयं माओ भी एक देवता से किसी भाँति कम अन्धविश्वासिता का व्यक्तित्व नहीं रहा है। जहाँ तक सामाजिक नैतिकता का प्रश्न है, मार्क्स के बारे में माना जाता है कि वह मैकियाविली के इस सिद्धान्त को मानता है कि 'साध्य ही साधन का औचित्य प्रकट करता है।' निस्सन्देह गांधीवादी विचारक इस उक्ति की घोर आलोचना करते हैं। मार्क्स का उद्देश्य एक वर्ग-विहीन समाज की स्थापना करने का कार्यक्रम प्रस्तुत करना था। इसके लिए वह अहिंसात्मक तथा हिंसात्मक दोनों प्रकार के साधनों को समय तथा परिस्थिति के अनुसार मान्य करता है। मार्क्स व्यवहारवादी था। उसका आचार-सिद्धान्त व्यावहारिक नैतिकता का था। वह जमींदारों, पूँजीपतियों, उद्योगपतियों आदि को शोषकों के रूप में अन्यायी तथा अत्याचारी मानता था और उनके द्वारा पोषित राज्य को भी अन्यायी मानता था। अतः उन्हें नष्ट करके वह ऐसे समाज की स्थापना करना चाहता था जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अधिक स्वतन्त्रता, अधिक समानता, अधिक न्याय, अधिक सुरक्षा और उच्चतर जीवन स्तर निर्मित करने के अवसर प्राप्त हों। इस दृष्टि से मार्क्सवादी दर्शन को अनैतिक मानना उचित नहीं लगता। पॉपर (Popper) के मत से, 'मार्क्स ऐसे नैतिकवादियों पर विश्वास नहीं रखता जो स्वयं शराब पियें और अन्यों को जल पीने का उपदेश दें। मार्क्स के लिए मानवता तथा उत्तमता के सिद्धान्त ऐसी बातें थीं, जिन पर कोई विवाद नहीं किया जा सकता और जो निश्चित हैं।' संक्षेप में, मार्क्स अपना उद्देश्य नैतिकतापूर्ण मानता है। अतः उसकी प्राप्ति के निमित्त अपनाये जाने वाले साधन सब नैतिक हैं। हैलोवेल का कहना है कि 'भले ही मार्क्स धर्म को अस्वीकार करता है तथापि वह ईश्वर के स्थान पर ऐतिहासिक आवश्यकता को, देवदूतों के स्थान पर सर्वहारा वर्ग, को तथा दैवी राज्य के स्थान पर स्वतन्त्रता के राज्य को स्थापित करता है।' हारमॉन का कहना है कि 'साम्यवादी स्वप्नलोकी धारणा सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद को पृथ्वी पर साम्यवादियों के स्वर्ग की स्थापना करने के तुल्य है।'

(2) **मार्क्स तथा लोकतन्त्र**—उन्नीसवीं शताब्दी के पश्चात् के उदारवादी लोकतन्त्रों की मार्क्स तथा उसके अनुयायी निन्दा करते हुए पूँजीवादी तथा बुर्जुआ लोकतन्त्र कहते हैं। उसके अन्तर्गत नागरिकों को मताधिकार द्वारा प्रतिनिधियों को चुनने, विचार-अभिव्यक्ति, विश्वास आदि की स्वतन्त्रता दी जाती रही थी। मार्क्स तथा उसके अनुयायी ऐसी व्यवस्था का उपहास करते हुए कहते हैं कि 'उनके अन्तर्गत हर चौथे या पाँचवें वर्ष श्रमिकों को एकमात्र अपने नये शोषकों को छाँटने की स्वतन्त्रता रहती है।' मार्क्स के मत से ऐसी व्यवस्था के अन्तर्गत यदि राजनीतिक लोकतन्त्र की कल्पना कर ली जाये तो यह एक असंगतिपूर्ण बात होगी, क्योंकि आर्थिक लोकतन्त्र के अभाव में राजनीतिक लोकतन्त्र की कल्पना नहीं की जा सकती। औद्योगिक युग में यद्भाव्यम् की नीति को आर्थिक क्षेत्र में लागू करना समाज की लोकतान्त्रिक व्यवस्था से कोई संगति नहीं रख सकता। मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद की व्यवस्था प्रचलित परम्परागत लोकतन्त्र की तुलना में अधिक लोकतन्त्री व्यवस्था सिद्ध हो सकती है। यह व्यवस्था बहुसंख्यकों की सरकार होगी, न कि बुर्जुआ लोकतन्त्रों की भाँति अल्पसंख्यक वर्ग का बहुसंख्यकों के ऊपर शासन। लोकतन्त्र के आधारभूत तत्त्व स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृत्व,

सामाजिक न्याय तथा सुरक्षा हैं। मार्क्स की कल्पना के साम्यवादी समाज में व्यक्ति की स्वतन्त्रता वास्तविक होगी। एक वर्ग-विहीन समाज ही व्यक्तियों के मध्य वास्तविक समानता तथा भ्रातृत्व की प्रत्याभूति कर सकता है। शोषण-विहीन समाज में व्यक्ति को सामाजिक न्याय तथा सुरक्षा की उपलब्धि हो सकती है। इस दृष्टि से मार्क्स द्वारा समर्थित व्यवस्था अधिक लोकतन्त्री होगी, जिसे वह 'सर्वहारावर्गीय लोकतन्त्र' मानता है। यदि उसकी कल्पना के साम्यवादी समाज में श्रम का महत्त्व बढ़ने के साथ-साथ उत्पादन में मानव-श्रम-समय में कमी आती है और अवकाश के समय का सदुपयोग मानव अपने सांस्कृतिक विकास के कार्यों में करे तो इससे उत्तम अन्य कौन-सी लोकतन्त्री व्यवस्था हो सकती है ?

(3) **मार्क्सवाद का व्यावहारिक रूप**—मार्क्स के सिद्धान्तों पर अमल करने के फलस्वरूप संसार के भिन्न-भिन्न देशों में जो साम्यवादी अधिनायक व्यवस्थाएँ कायम की गयी हैं, वे मार्क्सवाद पर संशोधनों के परिणामस्वरूप स्थापित हुई हैं। मार्क्स के अनुयायियों ने मार्क्स के सिद्धान्तों की व्यावहारिकता को संदिग्ध समझ कर ऐसा किया ; परन्तु वे मार्क्स से बिल्कुल पृथक् नहीं हो गये। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मार्क्सवाद एक कट्टरपंथी या अपरिवर्तनीय विचारधारा न होकर एक गतिशील विचारधारा है। परन्तु जिस रूप में उसे कार्यान्वित किया गया है, वह मार्क्स की कल्पना से काफी दूर चली जाती है। साम्यवादी अधिनायकतन्त्रों के अन्तर्गत राज्य-विहीन समाज की स्थापना स्वप्नवत् लगती है। इसी प्रकार इन व्यवस्थाओं के अन्तर्गत वर्ग-विहीन समाज के अस्तित्व को मानना भी भ्रामक है। भले ही वहाँ पूँजीवाद का अन्त हो चुका है, तथापि वहाँ एक नये मध्यम वर्ग के अस्तित्व से इनकार नहीं किया जा सकता। यह वर्ग सर्वहारा वर्ग से मिलता-जुलता नहीं है, अपितु इसके अन्तर्गत एक प्रकार की नौकरशाही शामिल है। इन अधिनायक तन्त्रों के अन्तर्गत व्यक्ति की स्वतन्त्रता की कल्पना नहीं की जा सकती। यह व्यवस्था मार्क्स की कल्पना की सर्वहारावर्गीय अधिनायकवाद न रहकर साम्यवादी दल के अधिनायकवादी शासन की है। यह लेनिन द्वारा मार्क्सवाद में परिवर्तन करने के फलस्वरूप स्थापित हुई है। साम्यवादी दल सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व करने का दावा करता है, परन्तु वास्तव में वह सर्वहारा वर्ग से निर्मित दल नहीं है। इन व्यवस्थाओं के अन्तर्गत शासन का उद्देश्य जनता की स्वतन्त्रता बनाये रखना न होकर साम्यवादियों से असहमति रखने वालों का दमन करने का द्योतक सिद्ध हुआ है।

(4) **भविष्यवाणी व भ्रान्तियाँ**—मार्क्स ने पूँजीवादी-व्यवस्था का जो विश्लेपण प्रस्तुत किया है, वह भ्रान्तिपूर्ण है। इसी के साथ-साथ क्रान्ति के बारे में मार्क्स की भविष्यवाणी भी सत्य सिद्ध नहीं हुई। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा इतिहास की आर्थिक व्याख्या के सिद्धान्त यह मानते हैं कि साम्यवादी समाज की स्थापना का कार्यक्रम तभी सफ[illegible] जब पूँजीवाद अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है और उसके द्वारा [illegible]था भी सीमा लांघ जाती है। पूँजीवादी व्यवस्था तभी निर्मित होती है जबकि समाज में व्यापक औद्योगिक अर्थव्यवस्था कायम हो जाती है। साथ ही मार्क्स यह भी मानकर चलता है कि पूँजीवाद से पूर्व सामान्तवादी व्यवस्था विद्यमान रहती है। अतएव पहले बुर्जुआ वर्ग सामन्तवादी भूमिगत कुलीनतन्त्र का नाश करता है। कालान्तर में यही बुर्जुआ वर्ग पूँजीपति वर्ग बनता है। पूँजीवाद की पराकाष्ठा हो जाने पर बुर्जुआ वर्ग सर्वहारा वर्ग का सहचर बन जाता है। अतः

सर्वहारा वर्ग को पहले इस बुर्जुआ वर्ग के साथ मिलकर पूंजीपतियों के विरुद्ध क्रान्ति करके उन्हें नष्ट करना चाहिए। इसके पश्चात् फिर बुर्जुआ वर्ग का अन्त किया जाना चाहिए। परन्तु मार्क्स का यह विश्लेषण वास्तविकता से दूर हो चुका है। उसके सिद्धान्तों को रूस तथा चीन सदृश ऐसे देशों में प्रयुक्त किया गया था, जहाँ वास्तव में पूँजीपति वर्ग जैसी संस्था थी ही नहीं, क्योंकि इन देशों में औद्योगीकरण नहीं हुआ था। इसके विपरीत ये दोनों देश कृषि अर्थव्यवस्था वाले देश थे जहाँ सामन्तशाही तथा नौकरशाही जैसी व्यवस्थाएँ थीं। परन्तु वहाँ क्रान्ति द्वारा सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद कायम किया गया है। अमरीका सदृश अत्यन्त औद्योगिक तथा पूँजीवादी देशों में सर्वहारा वर्ग की स्थिति कभी ऐसी नहीं रही जैसी मार्क्स ने कल्पना की है। मार्क्स की यह धारणा भी भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध हुई है कि पूँजीवादी देशों में सर्वहारा वर्ग का शोषण होता जा रहा है। वास्तविकता तो यह है कि अमरीका का हर श्रमिक एक प्रकार का पूँजीपति ही है। यह भी सत्य नहीं कि श्रमिकों की स्थिति में सुधार के वैधानिक तरीके सफल नहीं हो सकते। सत्य तो यह है कि पूँजीवादी देशों में वैधानिक तरीकों से श्रमिकों की कठिनाइयों को दूर करने के उपाय सरलतापूर्वक अपनाये जाते रहे हैं।

इन सब बातों को देखते हुए यही कहा जा सकता है कि मार्क्स ने साम्यवादी समाज के स्वप्न में भटक कर उसकी स्थापना के निमित्त क्रान्ति का आह्वान करने में ही अधिक अभिरुचि दर्शायी है। अतएव इस कार्यक्रम के निमित्त उसने जो क्रमबद्ध सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं, उनमें अनेक भ्रान्तियाँ, असंगतियाँ तथा विरोधाभास भी आ गये हैं। इन अनेक कमियों को उसके अनुयायियों ने दूर करके मार्क्स के सिद्धान्तों को कार्यरूप में परिणत किया और मार्क्स के दर्शन में उन्हें पर्याप्त परिवर्तन तथा संशोधन करने पड़े। मार्क्स ने सामाजिक विकास के क्रम में अनेक तत्वों के अस्तित्व को न मानने की भारी भूल की थी, यथा धर्म, राष्ट्रवाद, मनोवैज्ञानिक धारणाएँ आदि। फिर भी जैसा वेपर ने कहा है, 'उसके सन्देश, उसकी शिक्षाओं की प्रेरणा तथा भावी विकास-क्रम में उसके प्रभाव के कारण, मार्क्स निश्चित रूप से विश्व के महानतम राजनीतिक चिन्तकों की श्रेणी में आता है।'